आत्मानुशासन

कृतिकार : आचार्य गुणभद्रस्वामी
पद्यानुवाद : आचार्य विद्यासागर महाराज
स्वस्ति टीका
एवं अनुवाद : मुनि प्रणम्यसागर
संस्करण : २८ जून, २०१७ (आषाढ़ सुदी पंचमी, वीर निर्वाण संवत्
आवृत्ति : २५४३) ११००
वेबसाइट : www.vidyasagar.guru

प्रकाशक एवं प्राप्तिस्थान
जैन विद्यापीठ
भाग्योदय तीर्थ, सागर (म० प्र०) चलित दूरभाष ७५८२-९८६-२२२
ईमेल : jainvidyapeeth@gmail.com

मुद्रक
विकास ऑफसेट प्रिंटर्स एण्ड पब्लिसर्स
प्लाट नं. ४५, सेक्टर एफ, इन्डस्ट्रीयल एरिया गोविन्दपुरा, भोपाल (म० प्र०) ९४२५००५६२४

आद्य वक्तव्य

युग बीतते हैं, सृष्टियाँ बदलती हैं, दृष्टियों में भी परिवर्तन आता है। कई युगदृष्टा जन्म लेते हैं। अनेकों की सिर्फ स्मृतियाँ शेष रहती हैं, लेकिन कुछ व्यक्तित्व अपनी अमर गाथाओं को चिरस्थाई बना देते हैं। उन्हीं महापुरुषों का जीवन स्वर्णिम अक्षरों में लिखा जाता है, जो असंख्य जनमानस के जीवन को घने तिमिर से निकालकर उज्ज्वल प्रकाश से प्रकाशित कर देते हैं। ऐसे ही निरीह, निर्लिप्त, निरपेक्ष, अनियत विहारी एवं स्वावलम्बी जीवन जीने वाले युगपुरुषों की सर्वोच्च श्रेणी में नाम आता है दिगम्बर जैनाचार्य श्री विद्यासागरजी महाराज का, जिन्होंने स्वेच्छा से अपने जीवन को पूर्ण वीतरागमय बनाया। त्याग और तपस्या से स्वयं को श्रृंगारित किया। स्वयं के रूप को संयम के ढाँचे में ढाला। अनुशासन को अपनी ढाल बनाया और तैयार कर दी हजारों संयमी युवाओं की सुगठित धर्मसेना। सैकड़ों मुनिराज, आर्यिकाएँ, ब्रह्मचारी भाई-बहिनें। जो उनकी छवि मात्र को निहार-निहार कर चल पड़े घर-द्वार छोड़ उनके जैसा बनने के लिए। स्वयं चिद्रूप, चिन्मय स्वरूप बने और अनेक चैतन्य कृतियों का सृजन करते चले गए जो आज भी अनवरत जारी है। इतना ही नहीं अनेक भव्य श्रावकों की सल्लेखना कराकर हमेशा-हमेशा के लिए भव-भ्रमण से मुक्ति का सोपान भी प्रदान किया है।

महामनीषी, प्रज्ञासम्पन्न गुरुवर की कलम से अनेक भाषाओं में अनुदित मूकमाटी जैसे क्रान्तिकारी-आध्यात्मिक-महाकाव्य का सृजन हुआ। जिस पर अनेक साहित्यकारों ने अपनी कलम चलायी परिणामतः मूकमाटी मीमांसा के तीन खण्ड प्रकाशित हुए। आपके व्यक्तित्व और कर्तृत्व पर लगभग ५० शोधार्थियों ने डी॰ लिट्॰, पी-एच॰ डी॰ की उपाधि प्राप्त की।

अनेक भाषाओं के ज्ञाता आचार्य भगवन् की कलम से जहाँ अनेक ग्रन्थों के पद्यानुवाद किए गए तो वहीं नवीन संस्कृत और हिन्दी भाषा में छन्दोबद्ध रचनायें भी सृजित की गई। सम्पूर्ण विद्वत्जगत् आपके साहित्य का वाचन कर अचंभित हो जाता है। एक ओर अत्यन्त निस्पृही, वीतरागी छवि तो दूसरी ओर मुख से निर्झरित होती अमृतध्वनि को शब्दों की बजाय हृदय से ही समझना श्रेयस्कर होता है।

प्राचीन जीर्ण-शीर्ण पड़े उपेक्षित तीर्थक्षेत्रों पर वर्षायोग, शीतकाल एवं ग्रीष्मकाल में प्रवास करने से समस्त तीर्थक्षेत्र पुनर्जागृत हो गए। श्रावकवृन्द अब आये दिन तीर्थों की वंदनार्थ घरों से निकलने लगे और प्रारम्भ हो गई जीर्णोद्धार की महती परम्परा। प्रतिभास्थलियों जैसे शैक्षणिक संस्थान, भाग्योदय तीर्थ जैसा चिकित्सा सेवा संस्थान, मूकप्राणियों के संरक्षणार्थ सैकड़ों गौशालाएँ,

भारत को इण्डिया नहीं 'भारत' ही कहो का नारा, स्वरोजगार के तहत 'पूरी मैत्री' और 'हथकरघा' जैसे वस्त्रोद्योग की प्रेरणा देने वाले सम्पूर्ण जगत् के आप इकलौते और अलबेले संत हैं।

कितना लिखा जाये आपके बारे में शब्द बौने और कलम पंगु हो जाती है, लेकिन भाव विश्राम लेने का नाम ही नहीं लेते।

यह वर्ष आपका मुनि दीक्षा का स्वर्णिम पचासवाँ वर्ष है। भारतीय समुदाय का स्वर्णिम काल है यह। आपके स्वर्णिम आभामण्डल तले यह वसुधा भी स्वयं को स्वर्णमयी बना लेना चाहती है। आपकी एक-एक पदचाप उसे धन्य कर रही है। आपका एक-एक शब्द कृतकृत्य कर रहा है। एक नई रोशनी और ऊर्जा से भर गया है हर वह व्यक्ति जिसने क्षणभर को भी आपकी पावन निश्रा में श्वांसें ली हैं।

आपकी प्रज्ञा से प्रस्फुटित साहित्य आचार्य परम्परा की महान् धरोहर है। आचार्य धरसेनस्वामी, समन्तभद्र स्वामी, आचार्य अकलंकदेव, स्वामी विद्यानंदीजी, आचार्य पूज्यपाद महाराज जैसे श्रुतपारगी मुनियों की शृंखला को ही गुरुनाम गुरु आचार्य ज्ञानसागरजी महाराज, तदुपरांत आचार्य श्री विद्यासागरजी महाराज ने यथावत् प्रतिपादित करते हुए श्रमण संस्कृति की इस पावन धरोहर को चिरस्थायी बना दिया है।

यही कारण है कि आज भारतवर्षीय विद्वतवर्ग, श्रेष्ठीवर्ग एवं श्रावकसमूह आचार्यप्रवर की साहित्यिक कृतियों को प्रकाशित कर श्रावकों के हाथों में पहुँचाने का संकल्प ले चुका है। केवल आचार्य भगवन् द्वारा सृजित कृतियाँ ही नहीं बल्कि संयम स्वर्ण महोत्सव २०१७-१८ के इस पावन निमित्त को पाकर प्राचीन आचार्यों द्वारा प्रणीत अनेक ग्रन्थों का भी प्रकाशन जैन विद्यापीठ द्वारा किया जा रहा है।

प्रस्तुत ग्रन्थ

'आत्मानुशासन' आचार्य गुणभद्रदेव का अध्यात्म और वैराग्य प्रधान ग्रन्थ है। इस ग्रन्थ पर आचार्य प्रभाचन्द्रजी की एक संक्षिप्त टीका संस्कृत में उपलब्ध है। यह टीका अत्यन्त संक्षिप्त है। इसमें शब्दों की निरुक्तियाँ क्रियापदों का पृथक् अर्थ एवं ग्रन्थ के हार्द का खुलासा नहीं हो पाता है। किसी भी ग्रन्थ का हार्द टीका के माध्यम से ही स्पष्ट होता है। इसी भावना को ध्यान में रखकर शायद मुनि प्रणम्यसागर ने आत्मानुशासन पर एक पृथक् टीका संस्कृत में लिखी है। इस टीका का नाम 'स्वस्ति' टीका है। जो सभी भव्य जनों के लिए मंगलकारी है। इस ग्रन्थ में २७० श्लोक हैं। अनेक छन्दों के प्रयोग इसमें उपलब्ध होते हैं। बड़ी रोचकता के साथ इस ग्रन्थ की विषय वस्तु निबद्ध की गई है। धर्म की प्रेरणा, व्यसनों से मुक्ति, सम्यग्दर्शन की महनीयता से ग्रन्थ प्रारम्भ हुआ है। मध्य में यह ग्रन्थ श्रमण संस्कृति की प्रधानता वाला बन गया है। श्रमणों के निर्दोष आचरण पर जोर भी

डाला है और कलिकाल में मुनि के उपवन, ग्राम में निवास करने को कलिकाल का दोष माना है। स्त्री से विरक्ति, स्त्री के दोषों का भी इसमें बहुत वर्णन है। बीच-बीच में श्रावक के विषय सुख की लिप्सा और धन की लिप्सा के भी दृष्टान्त सहित अद्‌भुत वर्णन हैं।

इस ग्रन्थ की स्वस्ति टीका में प्रत्येक शब्द की निरुक्ति परक व्याख्या, समास प्रयोग, क्रियापदों की धातु का कथन, अन्त में छन्द का नाम सभी कुछ उपलब्ध होता है। जो संस्कृत भाषा के प्रारम्भिक पाठक हैं और भाषा सीखने के साथ प्रयोग विधि जानने के इच्छुक रहते हैं उनके लिए यह टीका बहुत उपयोगी है। टीका में वर्तमान में प्रचलित साधु, श्रावकों के मनोभाव और उनके आचरण परिलक्षित होते हैं। टीकाकार ने कहीं-कहीं विषय का अत्यधिक स्पष्टीकरण करते हुए एक-एक श्लोक की विस्तृत व्याख्यायें की हैं। जहाँ अध्यात्म का विषय आता है वहाँ भी प्राचीन अध्यात्म ग्रन्थों समयसार, प्रवचनसार आदि गाथाओं का सन्दर्भ देते हुए अति विशद और उपयोगी वर्णन किया है। क्रोध, मान, माया, लोभ इन चार कषायों के दृष्टान्त के साथ भगवान् आदिनाथ आदि के जैन दृष्टान्त भी उपलब्ध हैं तो कहीं हिन्दूधर्म में प्रचलित दृष्टान्तों का सहारा लेकर भी मूलग्रन्थकार ने वर्णन किया है। ग्रन्थ की महनीयता पर 'स्वस्ति' टीका की विशद व्याख्या रत्न को तराश कर उसे अत्यन्त कीमती एवं सर्वग्राह्य बनाने के समान अति उत्तम है।

उक्त समस्त ग्रन्थों का शुद्ध रीति से प्रकाशन अत्यन्त दुरूह कार्य है। इस संशोधन आदि के कार्य को पूर्ण करने में संघस्थ मुनिराज, आर्यिका माताजी, ब्रह्मचारी भाई-बहिनों ने अपना अमूल्य सहयोग दिया। उन्हें जिनवाणी माँ की सेवा का अपूर्व अवसर मिला, जो सातिशय पुण्यार्जन तथा कर्मनिर्जरा का साधन बना।

जैन विद्यापीठ आप सभी के प्रति कृतज्ञता से ओतप्रोत है और आभार व्यक्त करने के लिए उपयुक्त शब्द खोजने में असमर्थ है।

गुरुचरणचंचरीक

श्रीगुणभद्राचार्य

प्रतिभामूर्ति गुणभद्राचार्य संस्कृतभाषा के श्रेष्ठ कवि हैं। ये योग्य गुरु के योग्यतम शिष्य हैं। सरसता और सरलता के साथ प्रसादगुण भी इनकी रचनाओं में समाहित है। गुणभद्र का समस्त जीवन साहित्य-साधना में ही व्यतीत हुआ। ये उत्कृष्ट ज्ञानी और महान् तपस्वी थे।

गुणभद्राचार्य का निवास स्थान दक्षिण आरकट जिले का 'तिरुमरुङकुण्डम' नगर माना जाता है। इनके गृहस्थ-जीवन के सम्बन्ध में तथ्य अज्ञात हैं। इनके ग्रन्थों की प्रशस्तियों से स्पष्ट है कि ये सेनसंघ के आचार्य थे। इनके गुरु का नाम आचार्य जिनसेन द्वितीय और दादा गुरु का नाम वीरसेन है। गुणभद्र ने आचार्य दशरथ को भी अपना गुरु लिखा है। सम्भवतः ये दशरथ इनके विद्यागुरु रहे होंगे।

आचार्य जिनसेन प्रथम या द्वितीय के समान गुणभद्र की भी साधना-भूमि कर्नाटक और महाराष्ट्र की भूमि रही है। इन्हीं प्रान्तों में रहकर इन्होंने अपने ग्रन्थों का प्रणयन किया है।

स्थिति-काल

गुणभद्राचार्य जिनसेन द्वितीय के शिष्य थे तथा उनके अपूर्ण महापुराण (आदिपुराण) को इन्होंने पूर्ण किया था। अतः इनका समय आचार्य जिनसेन द्वितीय के कुछ वर्ष बाद ही होना चाहिए। उत्तरपुराण की प्रशस्ति में ४२ पद्य हैं, जिनमें से आरम्भ के २७ पद्य गुणभद्र द्वारा विरचित और अवशेष १५ पद्य उनके शिष्य लोकसेन द्वारा विरचित माने जाते हैं। गुणभद्र स्वयं उत्तरपुराण के रचना काल के सम्बन्ध में मौन हैं, पर ३२वें से ३६वें पद्य तक बताया है कि राष्ट्रकूट अकालवर्ष के सामन्त लोकादित्य बंकापुर राजधानी में रहकर समस्त वनवास देश का शासन करते थे। उस समय शक संवत् ८२० में श्रावण कृष्णा पञ्चमी गुरुवार के दिन यह उत्तरपुराण पूर्ण हुआ और जनता ने इसकी पूजा की। अतः गुणभद्र का समय शक संवत् ८२० ई० सन् ८९८ अर्थात् ई० सन् की नवम शती का अन्तिम चरण सिद्ध होता है।

रचनाएँ

(१) आदिपुराण (२) उत्तरपुराण (३) आत्मानुशासन (४) जिनदत्तचरित-काव्य।

आत्मानुशासन

इस महत्त्वपूर्ण धर्म एवं नीति-ग्रन्थ में २६९पद्य हैं। आत्मा के यथार्थ स्वरूप की शिक्षा देने के लिए इसका प्रणयन किया गया है। इस पर प्रभाचन्द्राचार्य ने संस्कृत-टीका और पण्डित टोडरमल्ल ने हिन्दी-टीका लिखी हैं। ग्रन्थ के अन्तिम पद्य में आचार्य ने स्वयं स्पष्ट कर दिया है कि वे

जिनसेनाचार्य द्वितीय के शिष्य हैं।

उत्थानिका के अनन्तर सुभाषितरूप में सुख-दुःख विवेक, सम्यग्दर्शन, दैव की प्रबलता, सत्साधु-प्रशंसा, मृत्यु की अनिवार्यता, तपाराधना, ज्ञानाराधना, स्त्रीनिन्दा, समीचीन गुरु, साधुओं की असाधुता, मनोनिग्रह, कषायविजय, यथार्थतपस्वी, प्रभृति विषयों पर पद्य-रचना प्रस्तुत की गयी है। इस ग्रन्थ की शैली भर्तृहरि के शतकत्रय के समान है। कवि ने इस सूक्ति-काव्य में अन्योक्तियों का आधार ग्रहण कर विषय को सरस बनाया है–

हे चन्द्रमः किमिति लाञ्छनवानभूस्त्वं तद्वान् भवेः किमिति तन्मय एव नाभूः।
किं ज्योत्स्नया मलमलं तव घोषयन्त्या स्वर्भानुवन्ननु तथा सति नासि लक्ष्यः॥[1]

हे चन्द्रमा! तू मलिनतारूप दोष से सहित क्यों हुआ ? यदि तुझे मलिन ही होना था, तो पूर्णरूप से उस मलिन स्वरूप को क्यों नहीं प्राप्त हुआ ? तेरी उस मलिनता के अतिशय को प्रकट करने वाली चाँदनी से क्या लाभ ? यदि तू सर्वथा मलिन हुआ होता, तो वैसी अवस्था में राहु के समान सदोष तो दिखलाई पड़ता।

इस पद्य में चन्द्रमा को लक्ष्य बनाकर ऐसे साधु की निन्दा की गयी है, जो साधुवेश में रहकर साधुत्व को मलिन करता है। यदि व्रत-संयमादि से युक्त दम्भी साधु न होता, तो किसी का ध्यान ही उस ओर न जाता।

सत्यं वदात्र यदि जन्मनि बन्धुकृत्यमाप्तं त्वया किमपि बन्धुजनाद्धितार्थम्।
एतावदेव परमस्ति मृतस्य पश्चात् संभूय कायमहितं तव भस्मयन्ति॥[2]

हे प्राण! यदि तूने संसार में भाई-बन्धु आदि कुटुम्बी जनों से कुछ भी हितकर बन्धुत्व का कार्य प्राप्त किया है, तो उसे सत्य बतला। उनका इतना ही कार्य है कि मर जाने के पश्चात् वे एकत्र होकर तेरे अहितकारक शरीर को जला देते हैं।

इस पद्य में अन्योक्ति द्वारा यह बतलाया गया है कि बन्धुजन राग-द्वेष के कारण ही बनते हैं। अतएव बन्धुजनों में अनुरक्त रहकर आत्म-कल्याण से वञ्चित रहना उचित नहीं।

सुख-दुःख विवेक के अन्तर्गत बताया गया है कि सातावेदनीय कर्म के उदय से प्राणी को कुछ काल के लिये जो सुख का अनुभव होता है, वह यथार्थ सुख नहीं है, किन्तु सुख का आभास है। इन्द्रियजन्य विषयसुख विद्युत् के प्रकाश के समान विनश्वर है। विषय-तृष्णा के कारण ही प्राणी संतप्त रहता है और इस संताप को दूर करने के लिये विषयों की ओर अनुधावित होता है। अतएव इन्द्रिजन्य विषयसुख दुःख ही है। अतः परद्रव्यों की अपेक्षा रहने के कारण पराधीन, अनेक प्रकार की बाधाओं से सहित, प्रतिपक्षभूत, असातावेदनीय आदि के उदय से संयुक्त, अतएव विनश्वर है। संसार के प्राणी

---

१. आत्मानुशासन, श्लोक १४०

२. आत्मानुशासन, श्लोक ८३

दु:ख से डरते हैं और सुख चाहते हैं, पर अविनश्वर सुख का कार्य नहीं करते। यथा–

दु:खाद्बिभेषि नितरामभिवाञ्छसि सुखमतोऽहमप्यात्मन्।
दु:खापहारि सुखकरमनुशास्मि तवानुमतमेव॥[1]

संसार में सुख का कारण सम्यग्दर्शन है, अपने स्वरूप को पहचानना है। जो आत्मानुभूति कर लेता है उसी को समता और शान्ति की प्राप्ति होती है। सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र और सम्यक्तप इन चारों आराधनाओं का सेवन करने से जन्म, जरा और मरण रोग का विनाश होता है। श्रद्धागुण जब तक स्वानुभूति से संयुक्त नहीं होता, तब-तक सम्यक्त्वरूप परिणमन नहीं होता। स्वानुभूति के बिना जो श्रुतमात्र के आलम्बन से श्रद्धा होती है, वह तत्त्वार्थ से सम्बद्ध होने पर भी यथार्थ श्रद्धा नहीं है, क्योंकि वहाँ तत्त्वार्थ की उपलब्धि नहीं है। जिस प्रकार बीज के बिना वृक्ष न उत्पन्न होता है, न अवस्थित रहता है, न बढ़ता है और न फलों को उत्पन्न कर सकता है, उसी प्रकार सम्यग्दर्शन के बिना ज्ञान और चारित्र भी यथार्थ स्वरूप में न उत्पन्न हो सकते हैं, न अवस्थित रह सकते हैं और न मोक्षरूप फल की प्राप्ति ही हो सकती है। अतएव चारों आराधनाओं में सम्यग्दर्शन की आराधना प्रधान है।

दैव की प्रबलता का विश्लेषण करते हुए इन्द्र और ऋषभदेव तीर्थंकर का उदाहरण दिया गया है। बताया है कि इन्द्र का बृहस्पति मन्त्री है, शस्त्र वज्र है, सैनिक देव हैं, ऐरावत हाथी वाहन है और साक्षात् विष्णु का अनुग्रह भी है, तो भी इन्द्र शत्रुओं द्वारा पराजित होता है, यह अदृष्ट की ही क्रीड़ा है। यदि पूर्वोपार्जित पुण्य शेष है, तो प्राणी के लिये आयु, धन-सम्पत्ति एवं शरीरादि सभी अनुकूल सामग्री प्राप्त हो जाती है। और यदि पुण्य शेष नहीं है, तो प्राणी उसकी प्राप्ति के लिये कितना भी परिश्रम क्यों न करें, उसे कुछ भी प्राप्त नहीं होता। बताया है–

नेता यत्र बृहस्पतिः प्रहरणं वज्रं सुराः सैनिकाः,
स्वर्गो दुर्गमनुग्रहः खलु हरैरावणो वारणः।
इत्याश्चर्यबलान्वितोऽपि बलभिद्भग्नः परैः संगरे,
तद्व्यक्तं ननु दैवमेव शरणं धिग्धिग्वृथा पौरुषम्॥[2]

दुष्ट दैव की प्रबलता बतलाते हुए ग्रन्थकार ने आदि तीर्थंकर का उदाहरण प्रस्तुत किया है और बतलाया है कि जिन ऋषभजिनेन्द्र ने समस्त साम्राज्य को तृण के समान तुच्छ समझ कर छोड़ दिया था और तपस्या को स्वीकार किया था। वे ही भगवान् क्षुधित होकर दीन की तरह दूसरों के घरों पर घूमे, पर उन्हें भोजन प्राप्त नहीं हुआ, जब आदिदेव गर्भ में आये थे, तब उसके छह महीने पूर्व से ही इन्द्र हाथ जोड़कर दास के समान सेवा में संलग्न रहा। इधर इनका पुत्र भरत चक्रवर्ती चौदह रत्न और

१. आत्मानुशासन, पद्य २
२. आत्मानुशासन, पद्य ३२

नौ निधियों का स्वामी था। युग के आदि में स्वयं सृष्टि के स्रष्टा थे, फिर भी उन्हें क्षुधा के वश में होकर छह महीने तक पृथ्वी पर घूमना पड़ा। यह उस दैव की प्रबलता नहीं तो और क्या है–

समस्तं साम्राज्यं तृणमिव परित्यज्य भगवान्
तपस्यन् निर्माणः क्षुधित इव दीनः परगृहान्।
किलाटद्भिक्षार्थी स्वयमलभमानोऽपि सुचिरं
न सोढव्यं किं वा परमिह परैः कार्यवशातः॥[1]

मरण-सम्बन्धी पद्यों में जन्म और मरण का अविनाभाव सम्बन्ध बतलाते हुए मृत्यु की अनिवार्यता सिद्ध की गयी है। स्त्रीनिन्दा-प्रसंग में प्रकारान्तर से विषय-वासना की ही निन्दा की गयी है। जो नारी विषय-वासना को जागृत करती है, आध्यात्मिक दृष्टि से वह त्याज्य है। समीचीन गुरु का स्वरूप बतलाते हुए संयम, त्याग और तपस्या का महत्त्व बतलाया है। संयमरूप राज्य के संरक्षणार्थ जिस प्रकार बाह्य शत्रुओं का जीतना आवश्यक है, उसी प्रकार अन्तरंग शत्रुओं का भी। मन बन्दर के समान चपल है, अतएव उसे आत्मनियन्त्रण में रखने के लिये श्रुतरूप वृक्ष के ऊपर विचरण कराना चाहिये। मन को वश में करने का एकमात्र साधन श्रुतज्ञान है। इसी प्रकार कषायविजय, संसार की अनित्यता, ज्ञानाराधना, तपाराधना, चारित्राराधना आदि का विश्लेषण किया है।

गुणभद्राचार्य ने अनुप्रास अलंकार का भी सुन्दर नियोजन किया है। अन्य अलंकारों में उपमा (पद्य ८१), अतिशयोक्ति (पद्य ७५), रूपक (पद्य ७८), अपह्नुति (पद्य ८६), अप्रस्तुतप्रशंसा (पद्य १३९), श्लेष (पद्य ९६), विभावना (पद्य १०९) आदि अलंकारों का संयोजन पाया जाता है। अनुप्रास की छटा दर्शनीय है–

प्राज्ञः प्राप्तसमस्तशास्त्रहृदयः प्रव्यक्तलोकस्थितिः
प्रास्ताशः प्रतिभा परः प्रशमवान् प्रागेव दृष्टोत्तरः।
प्रायः प्रश्नसहः प्रभुः परमनोहारी परानिन्दया
ब्रूयाद्धर्मकथां गणी गुणनिधिः प्रस्पष्टमिष्टाक्षरः॥

१. आत्मानुशासन, पद्य ११८

अनुक्रमणिका

टीकान्तर्गत व्याकरण संकेत सूची

वा	प्रथमा विभक्ति
इप्	द्वितीया विभक्ति
भा	तृतीया विभक्ति
अप्	चतुर्थी विभक्ति
का	पंचमी विभक्ति
ता	षष्ठी विभक्ति
ईप्	सप्तमी विभक्ति
स	समास
ष स	तत्पुरुष समास
ब	बहुव्रीही
य	कर्मधारय
र	द्विगु
द्वन्द्व	द्वन्द्व
ह	अव्ययीभाव
त्य	प्रत्यय
द्यु	उत्तरपद
खु	संज्ञा
गि	उपसर्ग
द	आत्मनेपद
म	परस्मैपद
धु	धातु

आचार्य गुणभद्रस्वामी विरचित

आत्मानुशासन

स्वस्तिटीकोपेतमात्मानुशासनम्

टीकाकारस्य मंगलाचरणम्

प्रणम्यतेऽरिहन्सु - सिद्धसाधुसंघपादयोः,
सुदुस्तरार्त्तभाववार्धितारणे समर्थयोः।
मयाऽतिभक्तिनिर्भराशयेन मुक्तिगामिना,
विनेच्छया समीहितार्थदायकश्च सद्रजः ॥१॥

तव प्रसादादवनौ हि मुक्ति-
प्रासादचूलस्य सहायपङ्क्तिः।
दीक्षाऽर्चिता कामितदायिकाप्ता
विद्यागुरोऽवेत् किल मा कलौ सा ॥२॥

श्रीगुणभद्रदेवस्य कृतिरात्मानुशासनं वै जीयात्।
तस्याः संक्षेपवृत्तिरियं स्वस्त्याख्यकावसेया ॥३॥

मंगलाचरण

जो बिना इच्छा ही (भक्ति को) अभीष्ट देने वाली है (ऐसी) अति दुस्तर दुःख रूप समुद्र से तारने में समर्थ, अरिहन्त-सिद्ध और साधु समुदाय के चरणों की श्रेष्ठरज अत्यन्त भक्तिभावपूर्वक मुझ मुक्तिगामी द्वारा प्रणम्य है अर्थात् मैं अरिहन्त, सिद्ध और साधुसंघ के चरणों में सभक्ति प्रणाम करता हूँ ॥१॥

हे विद्यागुरो! मैंने आपकी कृपा से इस पृथ्वीतल पर मोक्षमहल के शिखर की सहायक पंक्ति स्वरूप पूजित और मनोरथों को देने वाली (जैनेश्वरी) दीक्षा प्राप्त की है, वह (दीक्षा) इस कलि-काल में मेरी अवश्य रक्षा करे ॥२॥

श्री गुणभद्रदेव की कृति आत्मानुशान सदैव जयवन्त रहे। जिस कृति की यह संक्षेपवृत्ति स्वस्ति टीका के नाम से जानने योग्य है ॥३॥

अथ सम्प्रतिकालशासननायकभट्टारकस्य केवलज्ञानसमाश्लिष्टस्य देवाधिदेवस्य श्रीवर्द्धमान-तीर्थकरस्य सकलकर्ममलपटलोत्पाटनसमर्थनिर्मलप्रशान्तागाधतीर्थेऽनवरतप्रवाहिते सुष्ठु संस्नानं संविधाय श्रीगुणभद्रदेवः कविकुलतिलकायितवैभवः खलु विशदशरच्चन्द्र इव स्वभावेनैव परोपकारवासितहृदयो भव्यपुण्डरीकजनमनःप्रबोधनाय भगवद्गुणस्मरणपुरस्सरं प्रतिज्ञानिबद्धं मंगलाचरणं प्रकुर्वन्नाह–

(आर्या)

लक्ष्मीनिवासनिलयं विलीनविलयं निधाय हृदि वीरम्।
आत्मानुशासनमहं वक्ष्ये मोक्षाय भव्यानाम् ॥१॥

अन्वयः—वीरं लक्ष्मीनिवासनिलयं विलीनविलयं हृदि निधाय भव्यानां मोक्षाय आत्मानुशासनं अहं वक्ष्ये।

लक्ष्मीत्यादि—वीरं अन्तिमतीर्थंकरदेवम्। 'अंकानां वामतो गतिः' इति सूत्रविधानेन चतुर्विंशति-संख्या प्राप्नोति। तेन चतुर्विंशतीर्थकराणां स्मृतमिति। यद्वा भूतभविष्यद्वर्त्तमानसम्बन्धिसकलतीर्थकराणां

उत्थानिका—अथ वर्तमानकाल के शासननायक भट्टारक, केवलज्ञान से युक्त, देवाधिदेव श्री वर्धमान तीर्थंकर के समस्त कर्ममल समूह को उखाड़ने में समर्थ, निर्मल, प्रशान्त, निरन्तर प्रवाहित, अगाध तीर्थ में अच्छी तरह स्नान करके श्रीगुणभद्र आचार्य निकट भव्य मनुष्यों के मन को समझाने के लिए भगवान् के गुणों के स्मरणपूर्वक प्रतिज्ञा से निबद्ध मंगलाचरण कर रहे हैं। गुणभद्रदेव का वैभव कविसमूह में तिलक की तरह सर्वोत्कृष्ट है, वे निर्मल शरद्ऋतु के चन्द्रमा की तरह स्वभाव से ही परोपकार से युक्त हृदय वाले हैं। ऐसे आचार्य गुणभद्र कहते हैं–

अन्वयार्थ—(वीरं) वीर भगवान **(लक्ष्मी-निवास-निलयं)** लक्ष्मी के निवास स्थान हैं तथा **(विलीन-विलयं)** विलय से रहित हैं उनको **(हृदि)** हृदय में **(निधाय)** धारण करके **(भव्यानां)** भव्यों के **(मोक्षाय)** मोक्ष के लिए **(आत्मानुशासनं)** आत्मानुशासन ग्रन्थ को **(अहं)** मैं **(वक्ष्ये)** कहूँगा।

अर्थ—लक्ष्मी के निवासस्थान और विनाश रहित वीर भगवान को हृदय में धारण करके भव्यजीवों के मोक्ष के लिए मैं आत्मानुशासन ग्रन्थ कहूँगा।

टीकार्थ—'वीर' का प्रथम अर्थ—'वीर' अर्थात् अन्तिम तीर्थंकर भगवान महावीर। 'अंकानां वामतो गतिः' इस सूत्र से २४ संख्या बन जाती है। इसलिए 'वीर' कहने से न केवल वीर भगवान को अपितु चौबीस तीर्थंकरों को ही स्मरण किया गया है। अथवा यह समझना चाहिए कि चौबीस

सादर उर में बिठा वीर को जिनके विधि सब विलय हुए।
समवसरण की श्री शोभा से शोभित, गुणगण निलय हुए॥
आतम दर्शक आतमशासन नामक आगम की रचना।
भविकजनों को मोक्ष मिले बस करूँ प्रयोजन औ कुछ ना ॥१॥

ग्रहणं कृतं संख्येयं सार्वकालिकत्वात्। यद्वा 'ईर गतिप्रेरणयोः' इत्यस्य विपूर्वस्याजन्तस्य विशेषेण गमयति प्रापयति लक्ष्मी-निवासनिलयमिति वीरस्तम्। अथवा विलीनविलयं परमात्मानं प्रति प्रेरयति स वीरस्तम्। यद्वा विशिष्टां बाह्यान्तरङ्गाम् ईं लक्ष्मीं राति लाति। तं । लक्ष्मीनिवासनिलयं। लक्ष्मीः सौन्दर्यमैश्वर्यं वा। सा द्विविधा देहदेहिनोर्भेदात्। तत्र देहलक्ष्मीः त्रिदशेन्द्रकामदेवादिसौन्दर्यसौरूप्यदीर्घतादिगुणातिशायिनी समवसरणगगनगमनकाललोकत्रयविक्षोभकरविभूतिसन्दर्शिनी। यदुक्तम्–

''कान्त्यैव स्नपयन्ति ये दशदिशो धाम्ना निरुन्धन्ति ये,
धामोद्दाममहस्विनां जनमनो मुष्णन्ति रूपेण ये।
दिव्येन ध्वनिना सुखं श्रवणयोः साक्षात्क्षरन्तोऽमृतं,
वन्द्यास्तेऽष्टसहस्रलक्षणधरास्तीर्थेश्वराः सूरयः॥''
''प्राकारकवलितां वरमुपवनराजीनिगीर्णभूमितलं,
पिबतीव हि नगरमिदं परिखावलयेन पातालं।
नित्यमविकारसुस्थितसर्वांगमपूर्वसहजलावण्यं,
अक्षोभमिव समुद्रं जिनेन्द्ररूपं परं जयति॥
देहिनोर्लक्ष्मीः केवलज्ञानानन्तसुखादिगुणोदयिनी।''

यदुक्तम्–

''क्षयाच्च रतिरागमोहभयकारिणां कर्मणां,
कषायरिपुनिर्जयः सकलतत्त्वविद्योदयः।
अनन्यसदृशं सुखं त्रिभुवनाधिपत्यं च ते,
सुनिश्चितमिदं विभो! सुमुनिसम्प्रदायादिभिः॥''

संख्या से भूत, भविष्यत् और वर्तमान सम्बन्धी समस्त तीर्थंकरों का ही ग्रहण कर लिया है क्योंकि यह चौबीस संख्या सार्वकालिक है, अर्थात् तीनों कालों में पाई जाती है।

'वीर' का द्वितीय अर्थ—जो लक्ष्मी के निवास स्थान को विशेष रूप से प्राप्त करा देते हैं या वहाँ तक ले जाते हैं वे वीर हैं।

'वीर' का तृतीय अर्थ—नाश रहित परमात्मा के लिए प्रेरित करता है वह वीर है।

'वीर' का चतुर्थ अर्थ—जो बाह्य और अन्तरंग विशिष्ट लक्ष्मी को देता है वह वीर है।

इन वीर भगवान का प्रथम विशेषण है–लक्ष्मीनिवासनिलयम्। सौन्दर्य अथवा ऐश्वर्य को लक्ष्मी कहते हैं। वह लक्ष्मी देह और आत्मा के भेद से दो प्रकार की है।

देह लक्ष्मी का वर्णन—इन्द्र, कामदेव आदि के सौन्दर्य, सुन्दररूप की अधिकता आदि गुणों को भी तिरस्कृत करने वाली तथा समवसरण, आकाशगमन से तीन कालों और तीन लोक में विक्षोभ उत्पन्न करने वाली विभूति को दर्शाने वाली देह लक्ष्मी है। कहा भी है–

''जो अपनी देह की कान्ति से दसों दिशाओं को नहला देते हैं तथा दिशाओं के विभाजन को

एतस्या निवासाय निलयो गृहं यत्र विद्यते स लक्ष्मीनिवासनिलयस्तमिति। विलीनविलयं विलीनो विनष्टो विलयोऽन्तो मृत्युर्वा तत्तथोक्तस्तमिति। सम्प्राप्त-स्वरूपसिद्धेः पुनर्जन्माभाव इत्यर्थः। हृदि हृदये। निधाय धृत्वा। अर्थान्तरेणान्यदेवान् व्यावर्तयन्नाह-वीरो महेशः लोकसंहारकत्वादत्र न ग्राह्यः। लक्ष्मी-निवासनिलयं-लक्ष्म्या निवासो रक्तोत्पलं तदेव निलयो यस्य स ब्रह्म कमले समुत्पादनात्। सोऽपि नात्र लोकस्य सर्गत्वेनाहार्यः। तथैव विलीन विलयं विलयः संसृतेर्विनाशो येन विलीनोऽन्तर्हितो विनष्टो वा स विष्णुर्विश्वरक्षकोऽपि नात्र वक्तव्यो देवदेवस्याकार्यत्वात्। भव्यानां सम्यग्दर्शनादिनिर्वाणान्तं भवितुं योग्या

रोक देते हैं, जो उत्कृष्ट तेज पुंज मनुष्यों के मन को भी अपने रूप से चुरा लेते हैं। जिनकी दिव्यध्वनि कानों को सुख देने वाली तथा साक्षात् अमृत को झराने वाली है ऐसे वे एक हजार आठ लक्षणों को धारण करने वाले तीर्थेश्वर सूरि वन्दनीय है।''

आत्मलक्ष्मी का वर्णन—केवलज्ञान, अनन्त सुख आदि गुणों का उदय होना आत्मलक्ष्मी है। कहा भी है-''रति, राग, मोह और भय उत्पन्न करने वाले कर्मों का क्षय हो जाने से, कषाय रूपी शत्रु को जीत लेने वाले तथा समस्त तत्त्वविद्या को प्राप्त करने वाले हे विभो! आपका सुख तीन लोक में अपना आधिपत्य रखने वाला है तथा किसी के सदृश नहीं है, अनुपम है। श्रेष्ठ मुनि सम्प्रदाय से आपका यह अनन्त चतुष्टय अच्छी तरह निश्चित हो चुका है।'' इस आत्म लक्ष्मी के रहने का घर वीर भगवान हैं।

वीर भगवान का द्वितीय विशेषण—विलीनविलयम्। अन्त अथवा मृत्यु को विलय कहते हैं। वह विलय जिनका विनष्ट हुआ है ऐसे नाश रहित वीर भगवान हैं। उन्हें अपने स्वरूप की सिद्धि प्राप्त हुई है, इस कारण से उनके पुनर्जन्म का अभाव हुआ है, यह तात्पर्य है।

'वीर' शब्द से अर्थान्तर से अन्य देवों का निराकरण भी किया है।

वीर—लौकिक जगत् में महेश को कहते हैं। महेश लोक संहारक है, अतः उनका यहाँ ग्रहण नहीं है।

लक्ष्मीनिवासनिलय—लाल कमल में लक्ष्मी का निवास माना जाता है, वह ब्रह्मा है। ब्रह्मा कमल में उत्पन्न होता है। यह लौकिक ब्रह्म भी यहाँ लोक का सृजन करने वाला होने से ग्राह्य नहीं है।

विलीन विलय—संसार का नाश होना विलय है। जिनके संसार का नाश छिपा है अर्थात् हुआ नहीं है ऐसे विष्णु जो जगत् के रक्षक माने जाते हैं, वे भी यहाँ ग्राह्य नहीं हैं क्योंकि देवाधिदेव भगवान का यह कार्य नहीं है।

इन लौकिक वीर देवों को छोड़कर ऊपर कहे विशेषणों से सहित वीर को हृदय में धारण करके मैं गुणभद्र भव्यों के मोक्ष के लिए आत्मानुशासन ग्रन्थ कहूँगा।

भव्य—सम्यग्दर्शन को प्रारम्भ करके अन्तिम निर्वाण प्राप्ति के योग्य जो होते हैं, वे भव्य हैं।

अर्थात्-सम्यग्दर्शन जिस जीव को एक बार भी हो जाता है वह नियम से भव्य है। इसलिए सम्यग्दर्शन का प्रकट होना भव्यत्व गुण का प्रकट होना है तथा यह भव्यत्व गुण निर्वाण प्राप्ति तक

भव्या भवन्ति तेषाम्। मोक्षाय मुक्तिगमनाय। 'तादर्थ्ये' इति चतुर्थी। किं तत्? आत्मानुशासनं शासनमाज्ञा। ''अववादस्तु निर्देशो निदेशः शासनं च सः। शिष्टिश्चाज्ञा च।'' इत्यमरः। तीर्थकृतो दिव्यध्वनेर्निर्झरणं हि शासनम्। तदनु आत्मनः प्रवर्तनमात्मानुशासनमिति। अनेनान्यकृतक्षुद्रशासनप्रशासनं प्रतिषिद्धमनात्म-नीनत्वात्। अहं श्रीगुणभद्रदेवः। वक्ष्ये कथयिष्यामि। 'ब्रूञ् व्यक्तायां वाचि' इति धातोर्लृट्। इदं मंगलाचरणं शिष्यप्रशिष्य-परम्पराप्रामाण्यार्थं शिष्टाचारपरिपालनार्थं नास्तिकत्वपरिहारार्थं निर्विघ्नतया शास्त्र-समाप्त्यर्थं क्रियते। मंगलशब्दस्य देशामर्शकत्वात् 'तालप्रलम्बन्यायेन' निमित्तहेतु-शास्त्रपरिमाणनाम कर्तृणां व्याख्यानमपि युक्तं भाति। यदुक्तं–

मंगलकारणहेदू सत्थं सपमाणणामकत्तारा।
पढमं चि य कहिदव्वा एसा आइरिय परिभासा॥

तत्र मलं पापं गालयतीति मङ्गलम्। यद्वा मंङ्गं सुखं तल्लाति दत्त इति वा मङ्गलम्। परमार्थतस्तु तीर्थकरगुणस्तवनमुक्तमेव मङ्गलम्। व्यवहारतस्तु मङ्गलं वीरमिति शब्देनादौ भणितम्। कारणं निमित्तमित्येकार्थम्। तत्र परमार्थतो निमित्तं 'भव्यानां' इति पदेन प्रतिनिर्दिष्टम्। व्यवहारतस्तु लोकसेनो

रहता है। मोक्ष अवस्था में यह गुण नहीं रहता। मोक्ष में जीव भव्य, अभव्य इन दोनों संज्ञाओं से ऊपर उठ जाता है। इसलिए निर्वाण जब तक न हो तब तक वह जीव भव्य है, ऐसा कहो।

आत्मानुशासन–शासन का अर्थ आज्ञा है। अमर कोश में–अववाद, निर्देश, निदेश, शासन, शिष्टि और आज्ञा ये एकार्थवाचक नाम कहे हैं।

तीर्थंकर की दिव्यध्वनि का प्रवाहित होना ही **शासन** है। दिव्यध्वनि के अनुरूप आत्मा की प्रवृत्ति होना **आत्मानुशासन** है।

इस आत्मानुशासन से अन्य प्रणीत शासन और प्रशासन का प्रतिषेध कर दिया गया है क्योंकि उनसे आत्मा का हित नहीं होता है।

मङ्गलाचरण–यह मङ्गलाचरण शिष्य-प्रशिष्य परम्परा की प्रामाणिकता, शिष्टाचार के परिपालन, नास्तिकत्व के परिहार और निर्विघ्न रूप से शास्त्र की समाप्ति हेतु किया जाता है।

मंगल शब्द देशामर्शक है। 'तालप्रलम्ब न्याय' से निमित्त, हेतु, शास्त्र का परिमाण, शास्त्र का नाम, शास्त्र कर्त्ता का व्याख्यान करना भी उचित है। कहा भी है–

'मंगल, कारण, हेतु, शास्त्र का प्रमाण, नाम, कर्ता इन सबको पहले कहना चाहिए, यही आचार्यों का कथन है।'

मंगल–मल यानि पाप। उस मल को नष्ट करता है इसलिए मंगल सुख को कहते हैं।

परमार्थ से–तीर्थंकर के गुणों का स्तवन किया है, वही मंगल है।

व्यवहार से–'वीर' शब्द मंगल है।

कारण–कारण को निमित्त भी कहते हैं। 'भव्यों को' कहूँगा, यहाँ भव्य जीव परमार्थ से निमित्त हैं। व्यवहार से लोकसेन नामके धर्मभ्राता निमित्त कहे गये हैं।

गदितः। हेतुर्द्विविधः प्रत्यक्षः आनुषङ्गिको वा। प्रत्यक्षतः सम्यगनुशासनदर्शनम्। आनुषङ्गिक-हेतुरभ्युदय-पूर्वक-निःश्रेयआनुषङ्गिकहेतुरभ्युदयपूर्वकनिःश्रेय प्राप्तिः। प्रमाणं तु एकोनसप्तत्यधिकद्विशतकं पद्यम्। नाम 'आत्मानुशासनं' प्रागेवोक्तम्। कर्त्ता त्वर्थतो श्रीमहावीरोऽस्ति। ग्रन्थतः प्रामाणिकाचार्य-परम्परा-गतो भगवज्जिनसेनाचार्यस्य शिष्यः श्रीगुणभद्राचार्यः पद्यच्छन्दनिर्मापकः 'अहं' इत्यनेन प्रोक्तः। 'वक्तृप्रामाण्याद् वचनप्रामाण्यम्' इति न्यायात् कर्तृनामोपदेशः कृतः। अस्य शास्त्रस्य समीचीनधर्मस्वरूपवैराग्य-स्थिरता-तपस्वीज्जनलक्षणादिप्रतिपाद्यविषयेऽभिधानाभिधेयलक्षणरूपसंबन्धः स्पष्टो भवति। अत्रार्याच्छन्दः। तल्लक्षणं यथा-

''यस्याः पादे प्रथमे द्वादशमात्रास्तथा तृतीयेऽपि।
अष्टादशद्वितीये चतुर्थके पञ्चदश सार्या''॥१॥

अथ 'धर्मः' इति श्रुत्वा सर्वसामान्यजनो बिभेति, तथा दुष्करो धर्मः फलं चास्यास्थामात्रविषयि एवमवधार्य विरमति। तस्य भयमपहर्तुकामोऽन्तर्दयाद्रहृदयः कृतप्रतिज्ञां निर्वहन्नाह-

---

हेतु—हेतु दो प्रकार का है। प्रत्यक्ष और आनुषंगिक। समीचीन रूप से अनुशासन को दिखाना प्रत्यक्ष हेतु है तथा अभ्युदय (स्वर्गीय आदि) सुखों की प्राप्ति के साथ निर्वाण की प्राप्ति होना आनुषंगिक सुख है।

प्रमाण—यह ग्रन्थ २६९ श्लोक (पद्य) प्रमाण है।

नाम—'आत्मानुशासन' यह नाम है जो मंगलाचरण में ही कहा है।

कर्त्ता—अर्थकर्त्ता तो महावीर भगवान हैं। ग्रन्थकर्ता-प्रामाणिक आचार्यों की परम्परा से आए भगवज्जिनसेन आचार्य के शिष्य श्री गुणभद्र आचार्य हैं। पद्य छन्दों के निर्माण करने वाले हैं इसलिए वे ग्रन्थकर्त्ता कहे जाते हैं। इस बात की सूचना इस श्लोक गत पद 'अहम्' से होती है।

'वक्ता की प्रमाणता से वचनों की प्रमाणता होती है' इस न्याय के अनुसार कर्त्ता का नाम कहा जाता है।

अभिधान अभिधेय सम्बन्ध—इस शास्त्र में समीचीन धर्म का स्वरूप, वैराग्य की स्थिरता, तपस्वी जन का लक्षण आदि प्रतिपादित किया गया है। इसलिए इस शास्त्र का अभिधान अभिधेय रूप सम्बन्ध स्पष्ट होता है।

आर्या छन्द का लक्षण—'जिसके प्रथम चरण में बारह मात्रा तथा तीसरे चरण में बारह मात्रा हो, और द्वितीय चरण में अठारह तथा चतुर्थ चरण में पन्द्रह मात्रा होती है, वह आर्या छन्द होता है।' मङ्गलाचरण आर्या छन्द में है ॥१॥

उत्थानिका—अब 'धर्म' यह सुनकर ही सर्व सामान्य लोग डर जाते हैं तथा धर्म बड़ा कठिन है और इसका फल आस्था मात्र का विषय है, ऐसा मन में सोचकर लोग धर्म से दूर हो जाते हैं। उनके भय को दूर करने की इच्छा से भीतर से दया से भीगते हुए और अपनी की हुई प्रतिज्ञा का निर्वाह करते

(आर्या)

दुःखाद्विभेषि नितरामभिवाञ्छसि सुखमतोऽहमप्यात्मन्।
दुःखापहारि सुखकरमनुशास्मि तवानुमतेव ॥२॥

अन्वयः—दुःखात् नितरां विभेषि सुखं अभिवाञ्छसि अतः अहं अपि आत्मन् तव अनुमतं एव दुःखापहारि सुखकरं अनुशास्मि।

दुःखेत्यादि—दुःखात् कष्टात्। नितरामत्यर्थेऽव्ययपदम्। बिभेषि भीतिं यासि। 'भी भये' इति धातोर्लट् म० पु०। सुखमनः? 'यतोऽपैति भयमादत्ते तदपादानम्' इति सूत्रेण पञ्चमीप्रयोगः सुष्ठु। नितरामित्युभयत्र योज्यम्। 'काकाक्षिगोलकन्यायेन' इति। अभिवाञ्छसि अभिलषसि। 'वाछि इच्छायाम्' इति धोर्लट्। अतः अस्मात् कारणात्। अहमुपदेष्टा अपि। आत्मन् स्वपरात्मनः सम्बोधनम्। हे भव्य इत्यर्थः। तव युष्मत् पदस्य षष्ठिरूपः। 'तव मम ङसि' इति सूत्रात्। भवतः इत्यर्थः। अनुमतं अभीष्टमिति। एव निश्चयार्थे। दुःखापहारि दुःखमपहरतीत्येवं शीलमस्य तत्तथोक्तम्। 'शीलेऽजातौ णिन्' इति शीलार्थे णिन्। सुखकरं सुखं करोतीति सुखकरस्तमिति। यद्वा ''कृञो हेतुताच्छील्यानुलोम्येष्व–'' इति सूत्रेण

हुए आचार्यदेव कहते हैं–

अन्वयार्थ—(दुःखात्) तुम दुःख से **(नितराम्)** अत्यधिक **(विभेषि)** डरते हो **(सुखम्)** सुख की **(अभिवाञ्छसि)** चाह रखते हो **(अतः)** इसलिए **(अहम् अपि)** मैं भी **(आत्मन्)** हे आत्मन् **(तव अनुमतम् एव)** तुम्हारे लिए अभीष्ट **(दुःखापहारि)** दुःख को दूर कर **(सुखकरम्)** सुख करने वाला **(अनुशास्मि)** आत्मानुशासन कहता हूँ।

अर्थ—हे आत्मन्! तुम दुःख से बहुत डरते हो और सुख की इच्छा रखते हो इसलिए मैं भी तुमको मान्य उसी तथ्य को कहता हूँ जो दुःख का नाशक और सुख का करने वाला है ॥२॥

टीकार्थ—यह आत्मानुशासन सुखकर है क्योंकि सुख के हेतु, सुख का स्वभाव और सुख का प्रतिपादन करने वाले वचन इसमें कहे हैं।

शंका—कोई कहता है कि आपको इस श्लोक में इतना ही कहना पर्याप्त होता कि–यह आत्मानुशासन दुःख दूर करने वाला है, पुनः यह क्यों कहा कि यह सुखकर है, क्योंकि दुःखनिवृत्ति ही सुख है अथवा सुख की प्राप्ति ही दुःख की निवृत्ति है, इसलिए किसी एक को ही कहना चाहिए?

समाधान—इसमें कोई दोष नहीं है। क्योंकि यहाँ पर दोनों नयों में रुचि रखने वाले भव्यों को

सुख की आशा करते-करते युग-युग अब तक बीत गये।
भव-भव, भव-दुख सहते-सहते भव-दुख से अति भीत हुए ॥
मनवांछित फल मिले तुम्हें बस यहीं भावना भाकर मैं।
दुख का हारक सुख का कारक पथ्य कहूँ जिन चाकर मैं ॥२॥

सुखकरमात्मानुशासनमिदं सुखस्य हेतुत्वात् सुखस्वभावत्वात् सुखप्रतिपादनानुरूपवचनाच्चेति। अनुशास्मि प्रतिपादयामि। ''शासु अनुशिष्टौ'' इत्येतस्माद्धोर्लट्। ननु च दुःखापहारीत्यलं भाति किमत्र सुखकरमिति पुनरुक्तेन, यतो दुःखनिवृत्तिरेव सुखमथवा सुखप्राप्तिरेव दुःखनिवृत्तिरेवमेकतरं वक्तव्यम्? नैष दोषः उभयनयरुचिकानां भव्यानां प्रबोधनार्थत्वात्। किञ्च केचिदन्ये सुखाभावरूपं मोक्षं परिकल्पयन्ति तन्निराकरणार्थमेवमुक्तम्। तद्यथा–''बुद्धिसुखदुःखेच्छाद्वेषप्रयत्नधर्माधर्म-संस्कारनवात्मगुणात्यन्तोच्छेदो मोक्षः'' इति वैशेषिकाः। ''गुणपुरुषान्तरोपलब्धौ प्रतिस्वप्नलुप्तविवेकज्ञानवत् अनभिव्यक्त-चैतन्य-स्वरूपावस्था मोक्षः'' इति सांख्याः। तन्मते मोक्षे सुखं नास्ति चैतन्यावस्थाया अनभिव्यक्तेः। न च चैतन्यमन्तरेण सुखमन्यत्र वर्त्तते। ततस्तन्निरासः। तथैव रूपवेदनासंज्ञा-संस्कारविज्ञानपञ्चस्कन्धनिरोधात् प्रदीपनिर्वाणमिवाभावो मोक्षो बौद्धैर्मन्यते। तत्र सुखदुःखरूपवेदनाऽभावो मोक्षे स्वीकृतः। ततस्तन्निरासः। इत्येवमादि। यस्माद् दुःखान्निवृत्तिः सुखे च प्रवृत्ति र्जायते स एव धर्मस्तमेव प्रतिपादयामीति भावः।

समझाया गया है।

विशेष—पर्यायार्थिक नय वाले शिष्य को दुःख दूर करने वाले और सुखकर उपायों को अलग-अलग समझाना पड़ता है किन्तु द्रव्यार्थिकनय वाले शिष्य को एक ही बात कहने से समझ में आ जाता है। इसलिए दोनों नयों में रुचि रखने वाले एक ही शिष्य को या अलग-अलग शिष्यों को समझाने का उद्देश्य है।

दूसरी बात यह है कि–कितने ही लोग सुख के अभावरूप मोक्ष की कल्पना करते हैं इसलिए उनके मत का निराकरण करने के लिए कहा है कि मोक्ष सुखकर है। जैसे कि वैशेषिक मत वाले कहते हैं कि बुद्धि, सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, धर्म, अधर्म, संस्कार आत्मा के इन नौ गुणों का अत्यन्त उच्छेद (अभाव) होना ही मोक्ष है।

सांख्यमत वाले कहते हैं कि अन्य गुण पुरुष की विवेक ज्ञान लुप्त हो जाता है वैसे ही चैतन्य रूप अवस्था की अभिव्यक्ति नहीं होना मोक्ष है।

इन सांख्यों के मत में तो मोक्ष में सुख ही नहीं है। क्योंकि वहाँ पर चैतन्य अवस्था की प्राप्ति ही नहीं है। चूँकि चैतन्य आत्मा के बिना सुख अन्यत्र नहीं रहता है इसलिए इस सांख्य मत का खण्डन भी 'सुखकर' कहने से हो जाता है।

इसी प्रकार बौद्ध मत वाले मानते हैं कि रूप, वेदना, संज्ञा, संस्कार, विज्ञान इन पञ्च स्कन्धों के निरोध से प्रदीप के बुझ जाने की तरह अभाव ही मोक्ष है। उन बौद्धों ने मोक्ष में सुख दुःख रूप वेदना का अभाव माना है। इसलिए मोक्ष सुखकर है, यह कहकर उन बौद्धों का निराकरण भी कर दिया है।

इसी प्रकार और मत के विषय में भी जानना। इसलिए आचार्य देव का यहाँ कहना है कि मैं उसी का प्रतिपादन करूँगा जिससे दुःख की निवृत्ति हो और सुख में प्रवृत्ति हो।

सर्वेषामस्ति दुःखमत्र सम्यग्दृष्टिर्भवेद् मिथ्यादृष्टिर्वा। वर्त्तते च महान् भेदस्तयोः। संसृतौ जातिजरा-मरणवशाः सर्वेऽज्ञानात् संसरन्तीति विचिन्त्य दुःखी एकः। परस्तु मृतिर्न भवेत्, देहे जरता नाविर्भवेदिति प्रयाससहस्रैः सीदति। बहुशो मया शरीरं सर्वोत्कृष्टसंस्थानसंहननगुणलक्षणसम्पन्नमापितं, न तथापि पोषणसंस्कारादिना सुखलवः सर्वानर्थमूलकारणत्वादित्येकः। अपरस्तु न भवेद् व्याधिर्हानिर्वाऽस्मिन्निति तेनान्यान् पीडयति वञ्चयति, हिनस्ति च रक्षति एवं स्वकीयान् वेति भावनया संततदुःखितोऽस्ति। कटुकविषकल्पान् भोगान् भुञ्जानोऽपि क्षिप्रं निष्ठीवति निन्दति चात्मानमिति क्लेशात् क्लिष्टः कश्चित् अन्यस्तु तान् मधुरामृतान् मत्वा भूरि सेवतेऽसेव्यमानो विषीदति। एवमुभयेषां दुःखापहरणार्थमत्रोपायो विद्यत इति ॥२॥ आर्याच्छन्दः॥२॥

वस्तुतः दुःख से मुक्त कराने वाला और सुख में प्रवृत्ति कराने वाला जो पदार्थ है वही धर्म है।

सम्यग्दृष्टि और मिथ्यादृष्टि के दुःख में अन्तर—सम्यग्दृष्टि हो या मिथ्यादृष्टि जीव, दुःख की अनुभूति सभी को होती है। किन्तु इन दोनों के दुःख में बहुत अन्तर है। इस संसार में सभी जीव अज्ञान से जन्म, बुढ़ापा और मरण के वशीभूत होकर भ्रमण कर रहे हैं, यह सोचकर एक (सम्यग्दृष्टि) दुःखी होता है तो दूसरी ओर मिथ्यादृष्टि यह सोचता है कि मेरी मृत्यु न होवे, इस देह में बुढ़ापा न आवे इसके लिए ही हजारों प्रयास करता हुआ वह दुःखी रहता है।

सम्यग्दृष्टि जीव सोचता है कि मैंने उत्कृष्ट संस्थान, उत्कृष्ट संहनन और उत्कृष्ट गुण, लक्षणों से सम्पन्न शरीर बहुत बार प्राप्त किया है फिर भी इस शरीर के पोषण, इस शरीर के संस्कार (नहाना, सजाना, क्रीम पाउडर लगाना) आदि के द्वारा थोड़ा भी सुख प्राप्त नहीं हुआ इसलिए यह शरीर समस्त अनर्थों का मूल कारण है। दूसरी ओर मिथ्यादृष्टि जीव सोचता है कि इस शरीर को कभी रोग न हो या इस शरीर में कभी कोई हानि न हो, इसके लिए वह कभी अन्य जीवों को पीड़ा देता है, उन्हें ठगता है, उनकी हिंसा करता है तो कभी दूसरे जीवों की रक्षा करता है अथवा अपने सगे सम्बन्धियों की रक्षा करता हैं, इस प्रकार की भावना से वह निरन्तर दुःखी रहता है।

विशेष—मिथ्यादृष्टि जीव अन्य जीवों को पीड़ा देकर भी अपने शरीर को संस्कारित करता है। वह जीव जानता है कि शरीर पर लगाने वाले साबुनों में जानवरों की चर्बी है जो उन्हें मारकर प्राप्त होती है, शैम्पू को बनाने से पहले कई निरीह मूक बिल्ली, खरगोश,बन्दर आदि की आँखों में वह केमिकल डालकर परीक्षण किया जाता है फिर भी अपने शरीर की सौन्दर्य वृद्धि हेतु, उन पदार्थों के उपयोग से रोग होने के बावजूद वह दूसरे जीवों की पीड़ा को कुछ नहीं समझता है। अपने शरीर की हानि न हो इस वास्ते दूसरे को नियोजित कर उसकी की गई रक्षा भी रक्षा नहीं है। साँप से अपनी रक्षा के लिए नेवले को पालना, चूहों से रक्षा के लिए बिल्ली को पालना या अपने सगे सम्बन्धी ऐसे बलवान को रखना जिससे अपनी रक्षा होवे, सो वह भी उस मिथ्यादृष्टि के लिए दुःख का कारण

अथैवंविधधर्मात् क्वापि काले न भेतव्यमिति दृष्टान्तद्वारेण विश्वासयन्नाह–

(आर्या)

यद्यपि कदाचिदस्मिन् विपाकमधुरं तदात्वकटु किञ्चित्।
त्वं तस्मान् मा भैषी-र्यथातुरो भेषजादुग्रात् ॥३॥

अन्वयः—यद्यपि अस्मिन् कदाचित् किंचित् तदात्वकटु (तथापि) विपाकमधुरं तस्मात् त्वं मा भैषीः यथा उग्रात् भेषजात् आतुरः।

यद्यपीत्यादि। यद्यपि यदि अपि सम्भावनायामव्ययपदम्। अस्मिन् ग्रन्थे समीचीनधर्मव्यावर्णने तदनुष्ठाने वा। कदाचित् क्वापि क्षणे। किञ्चित् तदात्वकटु तात्कालिकं कष्टं समनुभवेत् तस्मात् कटु इति

ही है। उस जीव की स्वरक्षा की यह सोच विपरीत ही है।]

सम्यग्दृष्टि जीव कटुक विष सदृश भोगों को भोगता हुआ भी शीघ्र उन्हें छोड़ देता है तथा आत्मनिन्दा करता है। इस तरह भोगसेवन के क्लेश से दुःखी होता है, किन्तु मिथ्यादृष्टि जीव उन विषय-भोगों को मधुर अमृत के समान मानकर आसक्ति पूर्वक उनका खूब सेवन करता है और यदि उनका सेवन नहीं कर पाता है तो दुःखी होता है, खेद-खिन्न होता है। सम्यग्दृष्टि और मिथ्यादृष्टि इन दोनों जीवों के दुःखों को दूर करने का उपाय इस ग्रन्थ में बताया है। यह भी आर्याछन्द है ॥२॥

उत्थानिका—इस प्रकार के सुखकर धर्म से कभी नहीं डरना चाहिए, यह दृष्टान्त देकर विश्वास दिलाते हुए कहते हैं–

अन्वयार्थ—(यद्यपि) यद्यपि **(अस्मिन्)** इस 'आत्मानुशासन' ग्रन्थ में कथित धर्म **(कदाचित्)** कभी **(किञ्चित्)** थोड़ा सा **(तदात्वकटु)** सेवन करते समय कटु कष्टदायक हो सकता है **(तथापि)** फिर भी **(विपाक-मधुरम्)** परिणाम में मधुर है। **(तस्मात्)** इसलिए **(त्वम्)** तुम **(मा भैषीः)** मत डरो **(यथा)** जैसे **(उग्रात्)** तीक्ष्णकटुक **(भेषजात्)** औषधि से **(आतुरः)** रोगी नहीं डरता है ॥३॥

अर्थ—यद्यपि इस धर्म में सेवन करते समय तात्कालिक कुछ कटुता लग सकती है, कष्ट हो सकता है किन्तु विपाक(फल देने के) समय में यह मधुर है इसलिए जिस प्रकार उग्र औषधि से रोगी नहीं डरता है उसी तरह धर्म सेवन से मत डरो।

टीकार्थ—यद्यपि सम्भावना है कि ग्रन्थ में जिस समीचीन धर्म का कथन किया गया है उसमें अथवा उसके अनुसार अनुष्ठान (आचरण) करने में तात्कालिक कष्ट हो फिर भी उस धर्म को सुनने

इसका सेवन करते आता यदि कुछ-कुछ कटु स्वाद मनो।
किन्तु अन्त में मधुर-मधुरतम मुख बनता निर्बाध बनो ॥
स्वल्प मात्र भी इसीलिए मत इससे मन में भय लाना।
रोग मिटाने रोगी चखता जिस विधि कटु औषध नाना ॥३॥

गदितम्। तथापि। विपाकमधुरं विपाके तद्धर्मश्रवणानुष्ठानार्जितपुण्यपरिपाककाले मधुरं गुडखण्डसितामृत-स्थानीयपुण्यैरात्म-प्रदेशानामाह्लादकारणं सातादिपुण्यप्रकृतेरनुभवनमिति तथोक्तम्। धर्ममुमवाप्य जीवा दुःखं जयन्ति, न च बिभ्यति। यतश्च प्रोक्तं स्वामिना-''येन प्रणीतं पृथुधर्मतीर्थं ज्येष्ठं जनाः प्राप्य जयन्ति दुःखम्।'' इति वचनात्। अन्येऽपि एवमेवानुभवन्ति। मुद्राराक्षसनाटके यथाऽऽह क्षपणकः-

''सासणमलिहन्ताणं प्पडिवज्जह मोहबाहिबेज्जाणं।
जे पढममेत्तकडुअं पच्छा पत्थं उवदिसन्ति॥''

तस्मात् कारणात्। त्वं हे भव्य!। मा भैषीः 'माङ्' निषेधार्थकमव्ययपदम्। 'माङि लुङ्' इति सूत्रात् माङ् योगे उपपदे सति 'भी भये' इत्येतस्माद्धोर्लुङ्। यथा इव। 'व वा यथा तथैवेवं' इत्यमरः। उग्रात् रौद्रात् कटुकादित्यर्थः। भेषजात् औषधात् आतुरो रोगी। यथा रोगी कटुकौषधात् न बिभेति प्रत्युत सेवत एव रोगापोहनार्थं तथा त्वं मा बिभीतात्। अथवा यथाऽसौ रोगी बिभेति तथा त्वं मा भैषीर्भिन्नविषयत्वात्।

से, उसका आचरण करने से, अर्जित पुण्य का जब फल मिलने का समय आता है तब वह फल मधुर लगता है। उस समय वह गुड़, खाण्ड, शर्करा, अमृत स्थानीय पुण्य से आत्मप्रदेशों को आह्लाद कारण सातादि पुण्य प्रकृति का अनुभव कराता है।

विशेष-कर्म दो प्रकार के होते हैं। घाति कर्म और अघाति कर्म। उनमें अघातिकर्म भी दो प्रकार के होते हैं। पापकर्म और पुण्य कर्म। पुण्य कर्मों के अनुभाग की तुलना गुड, खाण्ड, शर्करा और अमृत से की जाती है। इसी को क्रमशः एक स्थानीय, द्विस्थानीय, त्रिस्थानीय और चतुःस्थानीय अनुभाग कहते हैं। यही चार स्थान पाप प्रकृति में भी होते हैं, उनकी तुलना नीम, कांजीर, विष और हलाहल से की जाती है। घातिकर्म सभी पापरूप ही होते हैं। इनके अनुभाग की तुलना लता, दारु, अस्थि और शैल से की जाती है।

इस धर्म को प्राप्त करके जीव दुःख को जीतते हैं, डरते नहीं हैं। जैसा कि **समन्तभद्र स्वामी** ने कहा है-''भगवान अजितनाथ ने श्रेष्ठ, महान् धर्म तीर्थ को कहा है। जिस तीर्थ को प्राप्त करके जीव दुःखों को जीत लेते हैं।''

केवल जैन ही नहीं अन्य धर्म वाले भी इस सत्य का अनुभव करते हैं। 'मुद्राराक्षस' नाटक में हिन्दू विद्वान् ने क्षपणक से कहलवाया है-

''अरिहन्तों का शासन प्राप्त करो, जो मोह रूपी रोग को दूर करने के लिए उत्कृष्ट औषधि के समान है। जो प्रारम्भ मात्र में कटुक है, किन्तु बाद में पथ्य का उपदेश देता है।''

इसलिए हे भव्य! तुम डरो मत। जैसे रोगी कड़वी औषधि से डरता नहीं है, प्रत्युत् रोग दूर करने के लिए उसका सेवन करता है उसी प्रकार तुम मत डरो।

अर्थात् कड़वी औषधि होने से जैसे रोगी भले ही थोड़ा डरता हो, फिर भी उसको पीता है, उसी प्रकार तुम डरकर भी इस धर्म का पालन करो।

आर्याच्छन्दः ॥३॥

अथ कलिकाले सम्यग्धर्मस्योपदेष्टारो दुर्लभा इति प्रतिपादयन्नाह–

(अनुष्टुप्)

जना घनाश्च वाचालाः सुलभाः स्युर्वृथोत्थिताः।
दुर्लभा ह्यन्तरार्द्रास्ते जगदभ्युज्जिहीर्षवः ॥४॥

अन्वयः–जना घनाः च वाचालाः वृथा उत्थिताः सुलभाः स्युः जगदभ्युज्जिहीर्षवः ते अन्तरार्द्राः हि दुर्लभाः।

जना इत्यादि। जनाः सम्यक् सूत्रार्थोपदेशकाः। घना मेघाः। 'घनो मेघे ...' इत्यमरः। च समुच्चये। वाचालाः वाक्पटवः पक्षे गर्जिताः। वृथा व्यर्थं विफलैव। उत्थिता प्रोद्यताः मेघपक्षे उत्पन्नास्तथोक्ताः। सुलभाः सुखेन लभ्यन्त इति सुलभाः उपपदतत्पु० सु०। स्युः भवेयुः सन्तीत्यर्थः। 'अस् भुवि' इति धातोर्विं० लि०। शरदि घनान्तदिवसे यथा कालिमानं दधानाः कृष्णकरिशिरीराकारसदृश्यमाना भयङ्करप्रलय-कालानुध्वनिं कुर्वाणाः

अथवा जैसे रोगी डरता है वैसे तुम मत डरो क्योंकि दोनों का विषय भिन्न है। रोगी औषधि से भले ही डर जावे किन्तु तुम धर्म पालन से मत डरना, यह तात्पर्य है। यह भी आर्या छन्द है ॥३॥

उत्थानिका–कलिकाल में समीचीन धर्म का उपदेश देने वाले उपदेशक दुर्लभ हैं, यह प्रतिपादन करते हैं–

अन्वयार्थ–(जनाः) मनुष्य **(घनाः च)** और बादल **(वाचालाः)** वाचाल प्रकृति के **(वृथा)** तथा व्यर्थ में **(उत्थिताः)** उठे हुए **(सुलभाः स्युः)** सुलभ होंगे। **(जगत्-अभ्युज्जिहीर्षवः)** जगत् के उद्धार की इच्छा करने वाले **(ते)** वे दोनों **(अन्तरार्द्राः)** भीतर से द्रवित यानी करुणासिक हुए **(हि)** निश्चित ही **(दुर्लभाः)** दुर्लभ हैं।

अर्थ–बिना मतलब उठे हुए (क्रियाशील-सक्रिय) वाचाल मनुष्य और बादल दोनों सुलभ हैं। किन्तु भीतर से गीले और जगत के उद्धार की इच्छा करने वाले मनुष्य और बादल दोनों ही दुर्लभ हैं।

टीकार्थ–ऐसे मेघ भी सुलभ हैं, जो आकाश में तुरन्त ही खूब छा जाते हैं और बिना बरसे विफल होकर चले जाते हैं, मात्र आवाज, शोर ही करते रहते हैं। ऐसे उपदेशक भी सुलभ हैं, जो खूब ऊँचे उठे हुए मान प्रतिष्ठा में दिखाई देते हैं और व्यर्थ की बातें करने में बड़े वाक्पटु होते हैं। शरद्काल में, वर्षा के अन्त समय में कालिमा को धारण करने वाले काले-काले हाथियों के आकार की तरह दिखने वाले, भयंकर प्रलयकाल की ध्वनि को करने वाले, प्रत्येक दिशा में उद्धत, उद्दण्ड होकर, घोर

करुणा रस पूरित उर वाले जग-हित में नित निरत रहें।
दुर्लभ जग में, सुलभ अदयजन वाचाली बस फिरत रहें॥
ढुलमुल- ढुलमुल-नभ में डोले बिन जल बादल बहुत बके।
सजल जलद हैं जल वर्षाते कम मिलते मन मुदित भले॥४॥

प्रतिदिशमुद्धतीभूय घोरान्धकारकवलिताकाशाध्वानाः चकचकायमानविद्युदुद्यौतैर्हास्यमानाः सुनिश्चिता-सम्भवद्बाधकप्रमाणरूपानुमानप्रमाणेण लोकस्य प्रत्ययतामुत्पद्यमाना मेघा गर्जितवन्तोऽपि सद्य एव वर्षणं विना विलीना भवन्ति तथा हि दुष्षमायां महाप्रभावं दधाना मोक्षमार्गं प्रतिपाद्यमाना उच्चैर्मञ्चासीना उच्चावचव्याख्यानानाख्यमाना मोघप्रलापिनो बहवो दृश्यन्ते। जगदभ्युज्जिहीर्षवः जगदुद्धरितुमिच्छवः। 'तुमीच्छायां धोर्वोप्' 'सनन्तांशसिभिक्षामुः' इतीच्छायां सनि तुम उपि च उः। ते 'तदिति परोक्षायां' तच्छब्दस्य प्रु० वि० बहुवचनं। जना घनाश्चेत्यर्थः। किं विशिष्टाः? अन्तरार्द्राः अन्तर् अव्ययपद-मत्रान्तरार्थेऽन्तरङ्गे इत्यर्थे योज्यः। अन्तर् आर्द्रा सजला सकरुणा वा तथोक्ताः। यथा शरदि प्राग्वर्षित-प्रावृड्कालमेघोघैः पुष्टानि ब्रीहीप्रभृति-सस्यानि प्रत्यग्रकोपलानि च फलपुष्पादिना समृद्धिमुन्नेतुञ्चाभिनव-गोधूमादिधान्यानि समुत्पन्नाय क्षेत्रं सजलं कर्तुं मेघा दुर्लभा भवन्ति तथा हि पूर्वाचार्याणां सदुपदेशैर्व्युत्पन्न-भूतानि शिष्याणि समधिकध्यानाध्यात्मसूत्रभावनाविशेषैर्गृहीतवृत्तानां दृढीकरणार्थमगृहीतवृत्तानां व्रती-करणार्थञ्चाभिनवसद्धर्मचारिणां समुत्पत्तये कारुण्यवन्तो निरापेक्षा निसर्गेण सत्सूत्रार्थदेशका दुर्लभा भवन्तीत्यर्थः। अनुष्टुप्छन्दोऽत्र॥४॥

अन्धकार से आकाश मार्ग को रोक देने वाले, चकचकायमान बिजली की चमक से हँसते हुए, अच्छी तरह अपनी बात का निश्चय कराने वाले, हमारे दिए प्रमाण में कोई बाधा संभव नहीं है, ऐसे अनुमान ज्ञान से लोक को विश्वास उत्पन्न कराके अर्थात् जिनको देखकर लगे कि ये अवश्य ही बरसेंगे ऐसा विश्वास कराने वाले मेघ शीघ्र ही बिना बरसे विलीन हो जाते हैं, ठीक उसी तरह इस दुष्षम काल में महा प्रभाव को धारण करने वाले, मोक्षमार्ग का प्रतिपादन करने वाले, ऊँचे मंचों पर आसीन हुए, उतार-चढ़ाव वाले व्याख्यानों को करने वाले व्यर्थ प्रलापी लोग बहुत दिखते हैं। किन्तु शरद ऋतु में, पहले वर्षाकालीन मेघ समूह से सिंचित ब्रीही आदि धान्य, फसलों को तथा नई-नई कोपलों को पुष्ट करने वाले, फल-पुष्प आदि से समृद्धि को बढ़ाने वाले और नए-नए चावल आदि धान्य को उत्पन्न करने के लिए क्षेत्र को सजल करते हुए बरसने वाले मेघ दुर्लभ होते हैं। ठीक इसी तरह पूर्वाचार्यों के सदुपदेशों से शिष्यों को व्युत्पन्न (कुशल) बुद्धि करने वाले, पहले से व्रत ग्रहण किए हुए व्रती शिष्यों को और अधिक ध्यान, अध्यात्म भावना, सूत्र भावना की विशेषता से उनको चारित्र में दृढ़ करने वाले, जिन्होंने व्रत ग्रहण नहीं किए हैं उनको व्रती बनाने के लिए तथा समीचीन धर्म का आचरण करने वाले नए-नए शिष्यों की उत्पत्ति के लिए करुणावान, निरापेक्ष और सहज स्वभाव से समीचीन सूत्र और अर्थ का उपदेश देने वाले उपदेशक दुर्लभ होते हैं। यहाँ अनुष्टुप् छन्द है।

विशेष—आचार्य गुणभद्रदेव का यह उदाहरण उपदेशकों के अन्तःपरीक्षण के लिए बहुत सटीक है। हे आत्मन्! केवल उपदेशक बन जाना ही पर्याप्त नहीं है किन्तु कारुणिक भी होना चाहिए। जोर-शोर से चिल्लाना और बाढ़ की तरह अपने आगे भीड़ को देखकर अपनी सफलता समझने वाले वस्तुतः श्रेष्ठ वक्ता की श्रेणी में नहीं आते। वक्ता केवल बकता नहीं है, वह तपता भी है। कोरे 'बकता'

अथ सदुपदेष्टुः सद्‌गुणान् व्याख्यातुकाम आह–

(शार्दूलविक्रीडित)

प्राज्ञः प्राप्तसमस्तशास्त्रहृदयः प्रव्यक्तलोकस्थितिः,
प्रास्ताशः प्रतिभापरः प्रशमवान् प्रागेव दृष्टोत्तरः।
प्रायः प्रश्नसहः प्रभुः परमनोहारी परानिन्दया,
ब्रूयाद्धर्मकथां गणी गुणनिधिः प्रस्पष्टमिष्टाक्षरः ॥५॥

किसी के भी हितंकर नहीं होते हैं। यह बात उस समय पर भी थी जब आचार्यदेव ने यह ग्रन्थ लिखा था और आज भी है।

टी॰ वी॰ में आने वाला हर आदमी वक्ता (सच्चा उपदेष्टा) नहीं होता है। जो व्यक्ति आग्रहवश धर्म को तोड़मरोड़ कर प्रस्तुत कर रहा है उसकी वाणी पानी में दलदल मचाती है। जब मन में छल होता है तो दलदल मचता है। आज के उपदेशों में समीचीन धर्म की गर्जना कम दिखती है जबकि मिथ्या आडम्बरों को बढ़ाने की और उकसाने की ज्यादा।

हे साधो! स्वयं को साधे बिना धर्म की आराधना क्या ? थोड़ी सी करुणा यदि वास्तव में किसी भी आत्मा के उद्धार की हो तो इससे बढ़कर धर्म और क्या हो सकता है ? तीर्थंकरत्व इसी करुणा का फल है। मिथ्या देवी-देवताओं और धर्मविहीन थोथी मान्यताओं और रूढ़ियों को बढ़ावा देने वाले उपदेश क्या स्व-पर हितकारक हो सकते हैं ? क्या यह तीर्थंकर का उपदेश है कि हमारे पास तक लाने के लिए भव्य जीवों को देवी-देवताओं से जोड़ दो ? आचार्य '**कुन्दकुन्ददेव**' ने '**प्रवचनसार**' ग्रन्थ में कहा है-हे श्रमण! तुम जिनेन्द्र भगवान की पूजा-अर्चा का उपदेश देकर अपने शुभोपयोग को बनाए रख सकते हो।

दूसरों के हाथ में पट्टा, चेन, घड़ी, ब्रासलेट बाँधकर अपना भक्त बनाने के सिवाय आपका ध्येय और क्या हो सकता है ? इस ध्येय में लगा उपयोग क्या शुभोपयोग हो सकता है ? अहो आश्चर्य है विषय कषायों में आसक्त पुरुष, स्त्री को अपना ध्येय बनाकर क्या तुम्हारा उपयोग शुभोपयोग रह सकता है ? जब तुम्हारा उपयोग ही शुभोपयोग नहीं तो उन श्रोताओं को कैसे शुभोपयोग होगा? अन्तरार्द्र आत्मा ही आत्म उद्धार की सीढ़ी पर दूसरों को चढ़ाता है और खुद भी चढ़ता है। यह विश्व का सबसे बड़ा आश्चर्य है कि आज आत्म उद्धारक बने बिना सब जगत् उद्धारक बने हुए हैं॥४॥

जन-मन हारक पर निंदक नहिं विविध प्रश्न भी सहन करें।
उत्तर मुख में रखते प्रतिभा, निधि गुणगण को ग्रहण करें॥
शमी दमी व्यवहार चतुर हैं शास्त्र ज्ञान के सही धनी।
हित मित मिश्री मिश्रित प्रकटित बोल बोलते सुधी गणी॥५॥

अन्वयः—प्राज्ञः, प्राप्तसमस्तशास्त्रहृदयः, प्रव्यक्तलोकस्थितिः, प्रास्ताशः, प्रतिभापरः, प्रशमवान्, प्रागेव दृष्टोत्तरः, प्रायः प्रश्नसहः, प्रभुः, परमनोहारी, गणी, गुणनिधिः, प्रस्पष्टमिष्टाक्षरः परानिन्दया धर्मकथां ब्रूयात्।

प्राज्ञ इत्यादि। प्राज्ञः इति शब्दो विपश्चिदर्थे सामान्येन वर्तते। 'प्राज्ञमेधाविनौ विद्वान्' इति धनंजयः। तथापि प्राज्ञशब्देन हिताहितज्ञतेष्यते। यथा चोक्तम् प्राज्ञो हि जल्पतां पुंसां श्रुत्वा वाचः शुभाशुभाः। गुणवद्वाक्यमादत्ते हंसः क्षीरमिवाम्भसः। प्रज्ञ एव प्राज्ञः। 'प्रज्ञाश्रद्धार्चाभ्यो णः' इति सूत्रादण् प्रत्ययः। प्रज्ञा चानेकार्थे वर्तते। क्वचित् सा रक्षणार्थं महाशस्त्रम्—प्रज्ञागुप्तशरीरस्य किं करिष्यन्ति संहताः। गृहीत-हस्तच्छत्रस्य वारिधारा इवारयः। प्रज्ञा ह्याधिदुःखं निवारणायालम्। यदुक्तम्—प्रज्ञया मानसं दुःखं हन्याच्छारीरमौषधैः। एतद्धि ज्ञानसामर्थ्यं न बालैः समतामियात्। प्रज्ञावान् पुरुष एव साम्यधनस्य पात्रं स्यात्।

उत्थानिका—अब सदुपदेशक के समीचीन गुणों का कथन करने की इच्छा से कहते हैं–

अन्वयार्थ—(प्राज्ञः) प्राज्ञ **(प्राप्तसमस्त-शास्त्र-हृदयः)** समस्त शास्त्रों के भावों को जानने वाले **(प्रव्यक्त-लोक-स्थितिः)** लोकस्थिति जिन्हें स्पष्ट है **(प्रास्ताशः)** आशा शून्य **(प्रतिभापरः)** प्रतिभावान् **(प्रशमवान्)** प्रशम भाव वाले **(प्रागेव दृष्टोत्तरः)** पहले ही उत्तर समझने वाले **(प्रायः)** प्रायः करके **(प्रश्नसहः)** प्रश्न सहन करने वाले **(प्रभुः)** प्रभु **(परमनोहारी)** दूसरे को मनोहारी **(गणी)** गणों के प्रधान **(गुणनिधिः)** गुणों के भण्डार **(प्रस्पष्ट-मिष्टाक्षरः)** स्पष्ट मीठे अक्षरों वाले **(परानिन्दया)** दूसरे की निन्दा नहीं करते हुए **(धर्मकथाम्)** धर्म कथा को **(ब्रूयात्)** कहें।

अर्थ—जो प्राज्ञ है, जिन्होंने समस्त शास्त्रों के हार्द को जान लिया है, जो लोक की स्थिति से परिचित हैं, आशा रहित हैं, प्रतिभाशाली हैं, प्रशम भावों से युक्त हैं, उत्तर को पहले ही समझने वाले हैं, प्रायः प्रश्नसह हैं, प्रभु हैं, लोगों को मनोहारी हैं, ऐसे गुणों की निधि, स्पष्ट मिष्ट अक्षरों से गणी, परनिंदा से रहित होकर धर्मकथा को कहें।

टीकार्थ—प्राज्ञ—यह शब्द सामान्य से विपश्चित्, विद्वान् के अर्थ में रहता है। धनंजय कवि ने कहा है–प्राज्ञ और मेधावी विद्वान् कहलाते है। फिर भी यहाँ पर प्राज्ञ शब्द से हित-अहित को जानने वाला लेना चाहिए। जैसा कि कहा है–''कहने वाले पुरुष (वक्ता) के शुभ, अशुभ वचनों को सुनकर जो गुण युक्त वचनों को, जल छोड़कर दूध को ग्रहण करने वाले हंस की तरह ग्रहण कर लेता है, वह प्राज्ञ हैं।'' प्रज्ञ ही प्राज्ञ होता है।

प्रज्ञा शब्द से अण् प्रत्यय होकर प्राज्ञ शब्द बनता है। चूँकि प्रज्ञा शब्द से प्राज्ञ शब्द बना है तो जो प्रज्ञा का अर्थ होगा वही प्राज्ञ का होगा। प्रज्ञा शब्द के अनेक अर्थ हैं।

❑ **प्रज्ञा रक्षा करने के लिए महान् शस्त्र है**—कहा हैं–''प्रज्ञा से जिसका शरीर रक्षित है उसके लिए सभी शत्रु मिलकर भी कुछ नहीं कर सकते हैं जैसे अपने हाथ में छाता लिये व्यक्ति को जलधारा कुछ नहीं कर सकती है।''

यदुक्तम्–प्रज्ञावांस्त्वेव पुरुषः संयुक्तः परया धिया। उदयास्तमनज्ञो हि हृष्यति न शोचति॥ क्वचित् प्रज्ञा त्रिकालसम्बन्धिनी। यथा हि–मतिरप्राप्तविषया बुद्धिः साम्प्रतदर्शिनी। अतीतार्था स्मृतिर्ज्ञेया प्रज्ञा कालत्रयार्थगा॥ क्वचित् प्रज्ञा विवेकविज्ञानं स्वहितोन्मुखं कथ्यते–यथा हि–यस्य नास्ति स्वयं प्रज्ञा शास्त्रं तस्य करोति किम्। लोचनाभ्यां विहीनस्य दर्पणः किं करिष्यति॥ क्वचित्तु भगवत्स्मरणमेव प्रज्ञा। यथा च–"प्रज्ञा सा स्मरतीति..." इति स्तुतिविद्या। क्वचित् प्रज्ञा भेदविज्ञानहेतिरिष्यते। "प्रज्ञाच्छेत्री शितेयं कथमपि निपुणैः पातिता सावधानैः" इति। क्वचित् कालस्य सदुपयोग एव प्रज्ञा। यथा च–न हि कालकलैकापि विवेकविकलाशयैः। अहो प्रज्ञाधनैर्नेया नृजन्मन्यतिदुर्लभे॥

इत्येवमादि। प्राप्तसमस्तशास्त्रहृदयः। शास्त्रस्य सूत्रस्यागमस्य वा हृदयं सारं गूढतत्त्वं शास्त्रहृदयम्। समस्तं सम्पूर्णं च तत् शास्त्रहृदयं प्राप्तं येन स तथोक्तः। विज्ञातसम्पूर्णशास्त्रसार इत्यर्थः। प्रव्यक्तलोक-स्थितिः। लोकस्य जगतः वर्णाश्रमस्य वा स्थितिर्व्यवहारो येन यस्य वा प्रव्यक्ता सुस्पष्टा स तथोक्तः।

❑ प्रज्ञा ही मानसिक दुःखों को दूर करने में समर्थ है। कहा है–"मानसिक दुःखों को प्रज्ञा से, शारीरिक दुःखों को औषध से नष्ट कर दो। यही ज्ञान की सामर्थ्य है, अज्ञानियों के सदृश मत बनो।"

❑ **प्रज्ञावान् पुरुष ही साम्यधन का पात्र होता है**–कहा है–"प्रज्ञावान मनुष्य ही ऐसी उत्कृष्ट बुद्धि से संयुक्त होता है कि अभ्युदय के उदय में वह हर्षित नहीं होता है और उसके अस्त या विनाश हो जाने पर वह शोक नहीं करता है, क्योंकि वह उदय और अस्त दोनों का जानकार होता है।"

❑ **कहीं प्रज्ञा को तीन काल से सम्बन्धित कहा है**–जैसे कि अप्राप्त को विषय करने वाली मति है, वर्तमान को विषय करने वाली बुद्धि होती है, अतीत को जानने वाली स्मृति होती है और भूत, भविष्य, वर्तमान की बातों को जानने वाली प्रज्ञा होती है।

❑ कहीं पर स्वहित के उन्मुख विवेक विज्ञान को प्रज्ञा कहते हैं। "जिसके पास स्वयं की प्रज्ञा नहीं है उसके लिए शास्त्र क्या करें ? जैसे नेत्र विहीन पुरुष के लिए दर्पण क्या करेगा ?"

❑ कहीं पर भगवान का स्मरण ही प्रज्ञा कहा गया है–जैसे कि "स्तुति विद्या' में कहा है–"प्रज्ञा वहीं है जो आपका (प्रभु का) स्मरण करती है।"

❑ कहीं पर भेदविज्ञान की छैनी को प्रज्ञा कहा है। जैसा कि **समयसार कलश** में कहा है–"निपुण सावधान आत्माओं को यह तीक्ष्ण प्रज्ञा रूपी छैनी किसी भी तरह गिराना चाहिए।"

❑ कहीं पर समय का सदुपयोग ही प्रज्ञा कहा गया है–जैसा कि **ज्ञानार्णव** में कहा है–"अहो! प्रज्ञाधनों को इस अत्यन्त दुर्लभ मनुष्य जन्म में काल की एक कला भी विवेक बुद्धि से रहित होकर नहीं बितानी चाहिए।"

२. प्राप्तसमस्तशास्त्रहृदयः–शास्त्र, सूत्र अथवा आगम का हृदय, सार तत्त्व है जो गूढ़ है। शास्त्रों के सार को जिन्होंने जान लिया है वे सम्पूर्ण शास्त्रों के ज्ञाता होते हैं।

३. प्रव्यक्त लोक स्थितिः–लोक यानी संसार अथवा वर्णाश्रम व्यवस्था। इसकी स्थिति,

प्रास्ताशः प्रकर्षेण अस्ता निरस्ता आशा लोभपूजादिवाञ्छा येन यस्य वा स तथोक्तो निरीह इत्यर्थः। प्रतिभापरः। नवनवोन्मेषशालिनी प्रतिभा। प्रत्युत्पन्नमतिर्वा प्रतिभा। आशु उत्तरप्रतिपत्तिर्वा प्रतिभा। प्रतिभायां परः उत्तमः श्रेष्ठो वा यः स तथोक्तः। यद्वा प्रतिभा परा उत्कृष्टा यस्य स्यात् स तथोक्तः। यद्वा प्रतिभा परा विद्वेषिणी यत्र न स्यात् स प्रतिभापरा। ''अभिधाति परारातिं प्रत्यर्थिपरिपंथिनः'' इत्यमरः। यद्वा प्रतिभायां परः तत्परो निष्ठो वा तथोक्तः। प्रशमवान् प्रकर्षेण शमः क्रोधाद्युपशमः प्रशमः। स अस्यास्तीति तथोक्तः। ''तदस्यास्तीति मन्त्वन्त्वीन्'' इति सूत्रात् वन्तु प्रत्ययः। अक्षुब्धः इत्यर्थः। प्रागेव दृष्टोत्तरः। परस्याशङ्कापूर्वादेव विज्ञातोत्तरः प्रश्नारब्धक्षणे ह्यवधारितोत्तर इत्यर्थः। प्रायः प्रश्नसहः। प्रायो बाहुल्यार्थे। ''प्रायो भूमोपमा-'' इति धनंजयः। ''स्वरादिनिपातमव्ययम्'' इत्यनेन अव्ययपदम्। प्रश्नं सहत इति प्रश्न-सहः। ''नाम्नि तृभृवृजिधारितपिदमिसहां संज्ञायाम्'' इत्यनेन अण् च भवतीति पूर्वसूत्रेण योज्यम्। परैः कृते बहुप्रश्नेऽपि न खिद्यत इत्यर्थः। प्रभुः समर्थः सर्वैरादेयो वा। परमनोहारी परस्य मनो हरतीत्येवंशीलः तथोक्तः। परमनसि रागोपजनकोऽधिगतपरमनोभावो वा। गणी यत्यार्यिकाश्रावकश्राविकारूपश्चतुर्विधो गणः।

व्यवहार का जिन्हें स्पष्ट ज्ञान है वे व्यवहार को जानने वाले हैं।

४. **प्रास्ताशः**—जिनकी सभी आशाएँ अर्थात् लोभ, पूजा आदि की इच्छा भी निरस्त हो गयी है वे आशा रहित निरीह कहलाते हैं।

५. **प्रतिभापरः**—नए, नए कार्य करने की क्षमता या बुद्धि प्रतिभा है। अथवा प्रत्युत्पन्नमति प्रतिभा है। शास्त्र अध्ययन से जिसकी बुद्धि निपुण हो गई है वह प्रत्युत्पन्न मति है। अथवा शीघ्र ही उत्तर का ज्ञान होना या उत्तर देने की क्षमता प्रतिभा है। जो इस प्रकार की प्रतिभा में श्रेष्ठ है वह प्रतिभापर है। या जो इस प्रकार की उत्कृष्ट प्रतिभा को रखता है वह प्रतिभापर है। या जिसमें विद्वेष के साथ ऐसी प्रतिभा न हो वह प्रतिभापर है। या जो इस प्रकार की प्रतिभा में लीन है वह प्रतिभापर है।

६. **प्रशमवान्**—बहुत अच्छी तरह से जिसके क्रोध आदि का शमन हो गया है वह प्रशमवान् है। वह कभी क्षुब्ध नहीं होता है।

७. **प्रागेव दृष्टोत्तरः**—जिसको दूसरे के द्वारा शङ्का (प्रश्न) करने से पहले ही उत्तर ज्ञात हो जाता है। अर्थात् जो प्रश्न प्रारम्भ करने के समय ही उत्तर का निश्चय कर लेता है वह पहले ही उत्तर जानने वाला है।

८. **प्रायः प्रश्नसहः**—प्रायः बहुलता अर्थ में है। जो खूब प्रश्नों को सहन कर लेता हो। दूसरों के द्वारा बहुत प्रश्न किए जानेपर भी खेद-खिन्न नहीं होता हो, वह प्रश्नसह है।

९. **प्रभुः**—जो समर्थ है या जो सभी को स्वीकृत है, ग्राह्य है, वह प्रभु है।

१०. **परमनोहारी**—जो दूसरों के मन को हरण कर लेता है अर्थात् दूसरे के मन में वीतरागता से राग उत्पन्न कराता है या जिसने दूसरे के मनोभावों को जान लिया है वह परमनोहारी है।

११. **गुणनिधिः**—जिनसे सामान्य लोगों के समुदाय से अलग पहचान बनती है वह गुण है।

तदस्यास्तीति गणी आचार्य इत्यर्थः। गुणनिधिः गुण्यन्ते पृथक्क्रियन्ते जना यैस्ते धृतिसुजनतासौम्यादिगुणाः कथ्यन्ते। निधिः आकरः। ''उपसर्गे दः किः'' इत्यनेन धाधातोः किर्भवतीति गुणानां निधिर्गुणनिधिः। प्रस्पष्टमिष्टाक्षरः प्रकर्षेण स्पष्टानि व्यक्तानि च मिष्टानि हृद्यानि च तानि अक्षराणि शब्दा यस्य स तथोक्तो मितमिष्टशब्द-प्रदायीत्यर्थः। परानिन्दया परस्य उपदेशकस्य मतस्य वा निन्दा दोषोद्भावनमति र्न स्यात् यस्य स तथोक्तः। तयाऽनसूययेत्यर्थः। अथवा परेण लोकेनानिन्द्यः सः। धर्मकथां धर्मस्य कथा वार्ता तथोक्ता तामिति। ब्रूयात् प्रतिपादये-दिति। 'ब्रूञ् व्यक्तायां वाचि' इत्येतस्माद्धो र्वि० लि०। शार्दूलविक्रीडितवृत्तम्॥५॥

धैर्य, उदारता, सौम्य आदि गुण हैं। ऐसे गुणों का जो भण्डार हो वह गुणनिधि है।

१२. प्रस्पष्टमिष्टाक्षरः—बहुत अच्छी तरह जिसके अक्षर स्पष्ट होते हैं और मधुर लगते हैं वह परिमित, मिष्ट शब्दों को प्रदान करने वाला प्रस्पष्ट मिष्टाक्षर है।

१३. गणी—यति, आर्यिका, श्रावक, श्राविका, यह चार प्रकार का गण है, यह गण जिनके होता है वे गणी हैं। आचार्य हैं।

इतने गुणों के साथ-साथ जो दूसरे उपदेशक अथवा मत की निन्दा न करते हुए बोलता है वह ईर्ष्यारहित सच्चा उपदेशक गणी है। अथवा जो आचार्य दूसरों के निंद्य न हो वह आचार्य धर्मकथा कहे। यहाँ शार्दूलविक्रीडित छन्द है।

विशेष—यदि ये उपर्युक्त गुण नहीं होंगे तो कोई उपदेशक सफल वक्ता नहीं हो सकता है। खास तौर से ये गुण गणनायक आचार्य में अवश्य होने चाहिए। चूँकि आचार्य शिष्यों का संग्रह, अनुग्रह करते हैं। साथ में वे समाज के उद्धार की हितकर भावना रखते हैं और अपने शुद्धोपयोग की परिणति को भी प्राप्त करने में लालायित रहते हैं। अतः इतने उत्तरदायित्वों का वहन तभी हो सकता है जब उन आचार्य में उपरिकथित गुण हों। ऊपर कहे गुणों में से एक भी गुण की कमी आचार्य जैसे महान् पद की, परमेष्ठी पद की प्रतिष्ठा में कमी ला देगा या उसे कलंकित कर देगा।

विचार करें, यदि गणी में प्रज्ञा नहीं है, विवेक बुद्धि की कमी है तो धर्मकथा करते समय कुछ का कुछ बोल जाएंगे, जो नहीं बोलना, कहना चाहिए वह भी प्रज्ञा के अभाव में कह देंगे जिससे सभासदों को वह गणी अयोग्य लगेगा।

यदि वह गणी सभी शास्त्रों और अनुयोगों के मर्म को नहीं जानेगा तो कैसे अपने प्रवचनों में चारों अनुयोगों का बहुमान कर पाएगा ? सभी शास्त्रों को जाने बिना कैसे आगम अनुकूल अनुवीचि भाषण कर पाएगा ? ऐसा वक्ता एकांगी दृष्टिकोण रखकर एकान्त मत का समर्थन ही करेगा। वह कभी भी चारों अनुयोगों का सामंजस्य नहीं बिठा पाएगा जिससे शास्त्र के रहस्य से अनभिज्ञ कभी कुछ तो, कभी कुछ कहकर स्वयं भी संशय में झूलेगा और श्रोताओं को भी झुलाएगा।

यदि वह उपदेशक लोकमर्यादाओं को नहीं जानेगा, समाज में प्रचलित पन्थ, परम्परा आदि का जानकार नहीं होगा तो अपने उपदेशों से रोज नया बखेड़ा खड़ा करेगा, समाज में विघटन करेगा

और धीरे-धीरे वह लोकविरुद्ध हो जाएगा।

यदि वह गणी इच्छा रहित नहीं होगा, ख्याति-पूजा-लाभ से निरपेक्ष नहीं होगा तो वह उपस्थित श्रावकों की, उनके मत की प्रशंसा अपने पुजने के लिए करेगा। मिथ्या मत का भी समर्थन करेगा। ऐसा गणी अपने सम्यक्त्व को कैसे सुरक्षित रखेगा ? निरीह सम्यग्दृष्टि वक्ता उनके सामने ऐसे उपदेश भी नहीं देता जिससे कि वह श्रोता अपने मत को और दृढ़ता से पाले जिससे वह अपने सम्यग्दर्शन में दूषण लगावे। वह ऐसा उपदेश भी नहीं देता कि जिसमें पर मत की निन्दा हो और अपने सम्यक्त्व के विषयों की प्रशंसा करके अपनी दृढ़ता बताए। प्रज्ञावान् उपदेशक ऐसे समय पर करुणा, मैत्री, विनय आदि गुणों पर सामान्य उपदेश देकर कुशलता से धर्म प्रभावना करता है।

यदि गणी प्रतिभावान् नहीं होगा तो भिन्न-भिन्न क्षेत्रों में, प्रदेशों में, ग्राम-नगरों में प्रभावना की भिन्न संभावनाओं को खोज नहीं पायेगा। जिससे उसके उपदेश सदैव एक जैसे रट्टू तोता वाले हो जायेंगे और वह वक्ता की श्रेणी से हट जायेगा। नवीन उदाहरणों, घटनाओं और युक्तियों से अपनी प्रस्तुति करना प्रतिभाशाली व्यक्ति का ही कार्य है।

जो वक्ता क्रोध आदि परिणामों को जीत नहीं पाता, वह उपदेश के समय अपनी इच्छानुसार प्रवृत्ति न देखकर किसी श्रावक या साधु पर कुपित होकर बोलेगा, जिससे वह सभी को अनिष्टकर हो जाएगा। ऐसा वक्ता थोड़ी-सी प्रतिकूलताओं का बखान भी सभा में कर देता है और समाज तथा श्रावक की आलोचना करके क्रोध से उसे नीचा दिखाता है, जिससे उस वक्ता की अपनी ही प्रतिष्ठा की हानि होती है। क्रोध के अनेक प्रसंग होने पर भी उपदेश के समय वह शान्त भावों से शान्ति बढ़ाने वाले ही शब्द बोले तभी वह सभ्य वक्ता कहलायेगा और सभ्य समाज उससे प्रसन्न होगी।

दूसरे के प्रश्न करने के बाद बहुत देर उत्तर सोचता रहे या उसका उत्तर न जाने तो वह हंसी का पात्र होगा। लोगों के मन में क्या प्रश्न चल रहे हैं ? उन्हें समझकर स्वयं अपनी तरफ से प्रश्न बनाकर उत्तर देने वाला वक्ता सर्वग्राह्य होता है। इसलिए वक्ता सभी तरह के प्रश्नों का उचित समाधान सन्तोषकर शैली में करना जानता हो तभी वह कुशल वक्ता है।

कभी-कभी ऐसे भी प्रसंग प्रवचनकार के समक्ष आते हैं जब अन्य समाज, अन्य मतीय, अन्य धर्म को मानने वाले सीधे-सीधे प्रश्नों के माध्यम से व्यंग्य कसते हैं या कटाक्ष करते हैं तो उस समय भी वक्ता में उद्विग्न न होकर शान्त भाव से उत्तर देने का सामर्थ्य होना चाहिए। प्रश्न को सहन ही न कर पाना मन की प्रथम पराजय है। जिसका मन पराजित होगा उसके वचन कैसे अजेय होंगे ? ऐसे लोग पत्रकार, साधु आदि के रूप में मिलते ही रहते हैं। इसलिए आचार्यदेव कहते हैं कि कुशल प्रवचनकार प्रश्न सुनने की सहनशीलता रखने वाला हो। हड़बड़ाहट में यद्वा-तद्वा उत्तर देगा तो भी हास्य और निन्दा का पात्र होगा।

इसके अतिरिक्त यदि कोई जिज्ञासु अपनी जिज्ञासा की शान्ति के लिए प्रश्न करता है और वक्ता उसका उत्तर न देवे तो वह उस प्रश्नकर्त्ता का अपमान होगा और उसका संदेह दूर न होगा तो वह और अधिक खिन्न होगा। यदि श्रोता को यह ज्ञात होवे कि यह वक्ता प्रश्न करने से गुस्सा करता है और सही समाधान नहीं करता है या क्रोध से सभा में अपमान कर देता है तो भी उसका संदेह दूर नहीं हो पाएगा जिससे वह श्रोता, तत्त्व श्रद्धान में दृढ़ नहीं हो पायेगा।

उपदेशक समर्थ होना चाहिए। श्रोता उसे यदि अपना स्वामी मानेंगे, अपने से समर्थ समझेंगे तभी वे वक्ता की बात को मान पायेंगे। चूँकि उपदेशक भिन्न-भिन्न विषयों के जानकार, भिन्न-भिन्न रुचि के श्रोताओं के मध्य भी बैठता है और सभी के प्रश्नों का उत्तर देने में समर्थ न होगा तो भी सभा उसे मान्यता नहीं देगी इसलिए उपदेशक सबका प्रभु हो, मान्य हो, यह आवश्यक है।

उपदेशक मनोहारी हो। मनोहारी से मतलब यह नहीं लेना कि वह तरह-तरह के सेंट, फीते आदि रखकर लोगों को बहलावे। या वह गीत, नृत्य, संगीत आदि के करतब दिखाकर लोगों को आकर्षित करे। या फिर वह हास्य, व्यंग्य, चुटकुलों से लोगों का मनोरंजन करे। इन सब में तो पापबन्ध ही होगा। उपदेशक की चेष्टाएँ इतनी संयमित और सभ्य हो कि वह लोगों को आकर्षक लगे। अशोभनीय वार्तालाप और चेष्टाओं से रहित उपदेशक मनोहारी होता है। यदि वक्ता शोभनीय नहीं होगा तो उसका उपदेश कोई नहीं सुनेगा और न उसकी सीख कोई मानेगा।

इसके अतिरिक्त उपदेशक में निरहंकारिता, मृदुभाषिता आदि अनेक गुण और होने चाहिए। यदि इन गुणों का समावेश नहीं होगा तो उपदेशक के वचन सर्वग्राह्य नहीं होंगे और इन गुणों के अभाव में वह आचार्य शोभा को प्राप्त नहीं होगा।

उस वक्ता के वचन स्पष्ट हों। जो बोलते समय अक्षरों का कुछ का कुछ उच्चारण करता है, जिसकी बोली सभी को समझ में नहीं आती है, जो आधे अक्षर मुख में रहकर आधे बोलता है और जिसकी वाणी में मधुरता नहीं है। कर्कश, कर्ण कटु वचनों को बोलने वाले की वाणी तत्त्व का कथन भी क्यों न करे परन्तु श्रोताओं का मन-मुग्ध नहीं कर पाती है। भला जो उपदेश समझ में न आए और रुचिकर न हो उसे कौन सुनेगा ?

इन गुणों से युक्त गणी, संघनायक दूसरों की निन्दा न करते हुए बोले। दूसरों की निन्दा करने से अपनी महत्ता बढ़ती है या दूसरे को लोग स्वीकारना कम कर देंगे, ऐसा सोचकर दूसरों की निन्दा की जाती है। वस्तुतः यह सोच पूर्णतः गलत है। जो ऐसा सोचकर अपने उपदेशों में अपने भक्तों की वाह-वाही लूटता है वह धीरे-धीरे स्वयं निन्दित हो जाता है।

साथ ही वक्ता गणी (आचार्य) दूसरों से निन्दा प्राप्त न हो। कलंकित न हो। लोगों में उसके दुश्चरित्र की चर्चा न होती हो, वही गणी सफल मोक्षमार्ग उपदेशक होता है॥५॥

अथ प्रकारान्तरेण तानाह–

(हरिणी)

श्रुतमविकलं शुद्धा वृत्तिः परप्रतिबोधने,
परिणतिरुरूद्योगो मार्गप्रवर्तनसद्विधौ।
बुधनुतिरनुत्सेको लोकज्ञता मृदुतास्पृहा,
यतिपतिगुणा यस्मिन्नन्ये च सोऽस्तु गुरुः सताम् ॥६॥

अन्वयः—यस्मिन् अविकलं श्रुतं, शुद्धा वृत्तिः, परप्रतिबोधने परिणतिः, मार्गप्रवर्तनसद्विधौ उरु उद्योगः, बुधनुतिः, अनुत्सेकः, लोकज्ञता, मृदुता, अस्पृहा, (एते) यतिपतिगुणाः अन्ये च (सन्ति) स सतां गुरुः अस्तु।

श्रुतमित्यादि–यस्मिन् गुरौ उपदेशके वा। अविकलं विकलं असम्पूर्णं न विकलमिति अविकलं सम्पूर्णमित्यर्थः। किं तत्? श्रुतं अविस्पष्टतर्कणम्। सम्पूर्णं श्रुतं यस्मिन् सः। यद्वा अविकलं सम्पूर्णावयव-रूपम्। श्रुतं श्रुतज्ञानमिति पृथक् पृथक् विशेषणम्। श्रुतमस्यास्तीति श्रुतं श्रुतयुक्तमित्यर्थः। 'ओऽभ्रादिभ्यः'

उत्थानिका—अब प्रकारान्तर से इन गुणों को और कहते हैं–

अन्वयार्थ—**(यस्मिन्)** जिसमें **(अविकलं श्रुतम)** श्रुत पूर्ण हो, **(शुद्धावृत्तिः)** आचरण शुद्ध हो **(पर-प्रतिबोधने)** दूसरे को समझाने में **(परिणतिः)** परिणति हो **(मार्ग-प्रवर्तन-सद्विधौ)** मार्ग पर प्रवर्तन की समीचीन विधि में **(उरुः)** महान् **(उद्योगः)** उद्योग हो, **(बुधनुतिः)** बुद्धिमानों से नमस्कृति हो **(अनुत्सेकः)** उद्वेग न हो, **(लोकज्ञता)** लोक-व्यवहार का ज्ञान हो **(मृदुता)** कोमलपना हो **(अस्पृहा)** इच्छा न हो **(एते)** ऐसे **(यति पति-गुणाः)** यतिनायकों के गुण **(अन्ये च)** और अन्य भी गुण हों **(सः)** वह **(सताम्)** सज्जनों का **(गुरुः)** गुरु **(अस्तु)** होवे।

अर्थ—सम्पूर्ण श्रुत का ज्ञाता, शुद्ध आचरण वाला, दूसरों को समझाने में परिणत, मार्ग पर चलाने की उत्तम विधि में उत्कृष्ट उद्योग करने वाला, विद्वानों से नमस्कृत, उत्सेक रहित, लोकज्ञ, मृदु, निस्पृह और अन्य भी यतिनायक के गुण जिसमें हों वह सत्पुरुषों का गुरु होवे।

टीकार्थ—जिन गुरु अथवा उपदेशक में श्रुत पूर्ण हो अथवा जो सम्पूर्ण अवयव रूप शरीर वाले हों तथा श्रुतज्ञान से सहित हों ऐसे पृथक्-पृथक् विशेषण से भी सहित हो। नाना पदार्थों का निश्चय करने वाला अस्पष्ट ज्ञान श्रुतज्ञान कहलाता है।

शिवपथ पथिकों को पथदर्शित करने रत बोधित भवि को।
दोष रहित श्रुत पूरण धरते धरते शुचि चारित छवि को॥
निरीह निर्मद लोक विज्ञ मृदु बुधजन से भी वंदित हैं।
यति-पति गुण ये जिनमें वह 'गुरु' और गुणों से मंडित हैं॥६॥

इत्यः मत्वर्थीयः। तथैवाविकलयुक्तमित्यर्थः। शुद्धा वृत्तिः। शुद्धा निर्दोषा वृत्तिः चर्या यस्य सः। गुरोः सान्निध्ये निवसन् यस्य निरवद्या प्रवृत्तिः शुद्धोपयोगवृत्तिर्वा जाता स तथोक्तः। परप्रतिबोधने परिणतिः। परस्य अव्युत्पन्नस्य संशयानस्य वा जनस्य प्रतिबोधने प्रतिपादने परिणतिः परिणामः प्रवीणता वा सः। मार्गप्रवर्तनसद्विधौ। मार्गः रत्नत्रयात्मकः तत्र प्रवर्तनं प्रवृत्तिः तं प्रवर्तयतीति वा मार्गप्रवर्तनः। स चासौ सद् समीचीनः शोभनो मायाजालरहितो विधिः क्रियानुष्ठानं यस्य तस्मिन्। उरु उद्योगः। उरु र्महान् स चासौ उद्योगः प्रयासः स तथोक्तोमिथ्याडम्बररहितशुद्धयोगेनाचरति आचारयति चेत्यर्थः। बुधनुतिः बुधानां विदुषां नुतिः प्रणमनं यत्र सः। अनुत्सेको। उत्सेको ह्युद्धतता। न उत्सेकोऽनुत्सेकः। लोकज्ञता लोकं जानातीति लोकज्ञः। "आतोऽनुपसर्गात्कः" इत्यनेन कः। तस्य भावो लोकज्ञता। "तत्त्वौ भावे" इति सूत्रात्। देशकालाचारवर्णव्यवस्थादिपरिज्ञातेत्यर्थः। मृदुता। मृदो र्भावो मृदुता अनिष्ठुरता निर्भीकतया सेव्येत्यर्थः। अस्पृहा। स्पृहा दृष्टश्रुतफलेच्छा। न स्पृहा अस्पृहा लोकैषणा-रहित इत्यर्थः। यतिपतिगुणाः। यतीनां मुनीनां पतिः स्वामी यतिपतिराचार्यवर्यः। तेषां गुणाः तथोक्ताः। चानुक्तसमुच्चयार्थम्। अन्ये चाचारत्वादिगुणाः। यथा चोक्तम्-

"आयारवमादीया अट्ठगुणा दसविधो य ठिदिकप्पो।
बारसतवछावासय छत्तीसगुणा मुणेयव्वा॥"

स एवंविधगुणविशिष्टः। सतां भव्यानां। गुरुः शिक्षादीक्षाप्रदायकः। अस्तु भवतु। 'अस् भुवि' इति धातोर्लोट् ॥हरिणीवृत्तम् ॥६॥

जिनकी चर्या निर्दोष है, अथवा जिनकी प्रवृत्ति गुरु के सान्निध्य में रहने से निर्दोष हुई है या जो शुद्धोपयोग में प्रवृत्ति करने वाले हैं, वे शुद्धवृत्ति वाले हैं।

जो जानकार नहीं है या जो संशय में पड़े हैं, ऐसे पुरुषों को समझाने में जिनकी मनःपरिणति बनी रहती है या जो दूसरों को समझाने में प्रवीण है।

रत्नत्रय मार्ग है। जो मायाजाल से रहित समीचीन रीति से इस मार्ग में प्रवर्तन करना / कराना करते हैं और उसी में उनका अत्यधिक प्रयास रहता है। वे मिथ्या आडम्बरों से रहित शुद्ध मन वचन काय के योगों से आचरण करने वाले तथा आचरण कराने वाले होते हैं।

विद्वान् पुरुष जिन्हें प्रणाम करते हैं। उत्सेक उद्धतपने को कहते हैं। वह उत्सेक जिनमें न हो, ऐसे अनुत्सेक सहित गुरु होते हैं। वह लोकज्ञ हों अर्थात् देश, काल के अनुसार आचरण और वर्ण व्यवस्था के परिज्ञाता वह होते हैं। वे निष्ठुरता से रहित होते हैं और लोग निडर होकर उनकी सेवा करते हैं। वे मृदुता सहित होते हैं। देखे, सुने फल की इच्छा जिन्हें न हो वे लोकैषणा से रहित गुरु होते हैं।

मुनि समूह के नायक आचार्यवर्य ऐसे तथा अन्य आचारत्व आदि गुणों के भी धारक होते हैं। जैसा कि कहा है-"आचारत्व आदि आठ गुण, दस प्रकार का स्थिति कल्प, बारह तप और छह आवश्यक ये छत्तीस गुण आचार्यों के जानने चाहिए। वे ही सत्पुरुषों के शिक्षा, दीक्षा प्रदायक गुरु होते हैं।" यहाँ हरिणी छन्द हैं ॥६॥

अथोपदेष्टु र्गुणान् व्याख्याय शिष्यस्य गुणकीर्तनार्थमाह–

(शार्दूलविक्रीडित)

भव्यः किं कुशलं ममेति विमृशन् दुःखाद् भृशं भीतिमान्,
सौख्येषी श्रवणादिबुद्धिविभवः श्रुत्वा विचार्य स्फुटम्।
धर्मं शर्मकरं दयागुणमयं युक्त्यागमाभ्यां स्थितं
गृह्णन् धर्मकथां श्रुतावधिकृतः शास्यो निरस्ताग्रहः ॥७॥

अन्वयः—भव्यः, किं कुशलं मम इति विमृशन्, दुःखाद् भृशं भीतिमान्, सौख्येषी श्रवणादि-बुद्धिविभवः, श्रुत्वा धर्मं, स्फुटं विचार्य, युक्त्यागमाभ्यां स्थितं (तं) शर्मकरं दयागुणमयं गृह्णन्, निरस्ताग्रहः, शास्यः, धर्मकथां श्रुतौ अधिकृतः।

भव्य इत्यादि। भव्यो रत्नत्रयेण विभूषितं भवितुं योग्यः। किं कुशलं मम। किं नु खलु आत्मने हितमित्यर्थः। अत्र कुशलशब्दः कुशं लातीति कुशल इति रुढिं परित्यज्य श्रेयोऽर्थे वर्तते। इति विमृशन्।

उत्थानिका—उपदेशक के गुणों को कहकर अब शिष्य के गुणों का कीर्तन करने के लिए कहते हैं–

अन्वयार्थ—(भव्यः) जो भव्य है **(किं कुशलं मम)** मुझे क्या कुशल हैं? **(इति विमृशन्)** इस प्रकार विचार करने वाला है, **(दुःखाद्)** दुःख से **(भृशम्)** बहुत **(भीतिमान्)** भयभीत है, **(सौख्येषी)** सुख अभिलाषी है **(श्रवणादि-बुद्धि-विभवः)** श्रवण आदि बुद्धि विभव वाला है, **(श्रुत्वा धर्मं)** धर्म सुनकर **(स्फुटं विचार्य)** अच्छी तरह विचार करके **(युक्त्यागमाभ्याम्)** युक्ति, आगम से **(स्थितम्)** सिद्ध **(शर्मकरम्)** उस सुख कारक **(दयागुणमयम्)** दया गुण मय धर्म को **(गृह्णन्)** ग्रहण करता है **(निरस्ताग्रहः)** हठ से रहित **(शास्यः)** वह समझाने योग्य है **(धर्मकथां)** धर्म कथा को **(श्रुतौ)** सुनने में **(अधिकृतः)** अधिकृत है।

अर्थ—जो भव्य हैं, मेरे लिए क्या कल्याणप्रद है? इस प्रकार विचार करने वाला है, दुःख से बहुत डरा है, सुख की इच्छा रखता है, श्रवण आदि बुद्धि वैभव से सहित है, धर्म सुनकर अच्छी तरह विचार करके युक्ति, आगम से स्थित हो, सुख कर, दयागुणमय धर्म को ग्रहण करता है। आग्रह रहित उस शिष्य को ही धर्म कहना चाहिए। वही धर्मकथा सुनने का अधिकारी है।

टीकार्थ—जो रत्नत्रय से विभूषित होने योग्य है, वह भव्य है। मेरी आत्मा का हित किसमें है, इस प्रकार विचार विमर्श करने वाला है। जो कुशलता है वह कुशल है इस प्रकार के रूढ़ि अर्थ को

मम हित किसमें निहित रहा यों चिंतित दुःखित प्रति श्वासा।
धर्म-श्रवण, निर्णय, धारण बल रखे भव्य, शिव-सुख आशा ॥
प्रमाण नय से सिद्ध, दयामय धर्म श्रवण का अधिकारी।
दूर दुराग्रह से हो सुनकर धर्म धारता सुखकारी ॥७॥

विमृश्यते इति विमृशन् ''मृश आमर्शने'' इत्येतस्माद्धोः शतृन् प्रत्ययः। दुःखाद् भोजं भोजं दुःखं संसारे पर्यटनादिति। भृशमत्यर्थमव्ययपदम्। भीतिमान् भीतिर्भयः सा यस्यास्तीति मन्तु प्रत्ययात् भयभीत इत्यर्थः। सौख्येषी सुखमेव सौख्यं, तमिच्छतीति सः। श्रवणादिबुद्धिविभवः श्रवणमादिः प्रधानं येषां शुश्रूषादीनां तेषां त एव बुद्धेर्विभवो वैभवो गुणो वा यस्य स तथोक्तः। तद्यथा–सदैव भगवदुपदिष्टवचनं श्रोतुमिच्छा शुश्रूषा सेवा वोच्यते। प्रोक्तस्य समादरेणाकर्णनं श्रवणम्। समाकर्ण्य प्रयत्नेनार्थस्य निश्चितं ग्रहणम्। निश्चितस्य चार्थस्य स्वार्जितवस्तुवद्धारणं धारणा। तद्विद्यैः सह संवदन् संशयादिनिरसनं–विज्ञानम्। विज्ञाता-विज्ञातार्थस्य तर्कणमूहापोहः। उक्तियुक्तिभ्यां हेयोपादेयविसर्जनग्रहणरूपव्यवसायः तत्त्वाभिनिवेशः। यदुक्तम्–

''शुश्रूषा श्रवणं चैव ग्रहणं धारणं तथा।
स्मृत्यूहापोहनिर्णीतिः श्रोतुरष्टौ गुणान् विदुः॥''

श्रुत्वा आकर्ण्य। धर्मं समीचीनोपदेशम्। स्फुटं खलु। विचार्य सम्प्रतर्क्य। युक्त्यागमाभ्यां स्थितम्। युक्तिः प्रमाणनयात्मिका। आगमः सर्वज्ञोपज्ञः। युक्तिश्चागमश्च युक्त्यागमौ ताभ्यां स्थितं निर्णीतं तथोक्तम्। किं तत्? धर्मम्। किं विशिष्टम्? शर्मकरं शर्म सुखं करोतीति तत्। 'शर्मशातसुखानि च' इत्यमरः। दयागुणमयं दयागुणेन निर्वृत्तं 'मयड्भक्ष्याच्छादने' इति विकारे मयट्। गृह्णन्। गृह्णातीति गृह्णन्। 'ग्रह उपादाने' इत्येतस्माद्धोः शतृन्। निरस्ताग्रहः। निरस्तो व्यतीतो विनष्टो वा आग्रहो हठवादिता यस्य स तथा। शास्यः शासितुं योग्यः। 'शास् अनुशिष्टौ' ण्यत्। धर्मकथां श्रुतौ अधिकृतः धर्मस्य कथां श्रवणेऽधिकारोऽस्ति। यदुक्तम्–न कुत्राप्याग्रहस्तत्त्वे विधातव्यो मुमुक्षुभिः। निर्वाणं साध्यते यस्मात् समस्ताग्रहवर्जितैः॥ शार्दूलविक्रीडितवृत्तम्॥७॥

छोड़कर श्रेय, कल्याण अर्थ में कुशल प्रयुक्त हुआ है।

जो दुःख भोग-भोग करके, संसार में भ्रमण करके भयभीत हुआ है। जो सुख की इच्छा रखता है। सदैव सर्वज्ञ भगवान् के द्वारा उपदिष्ट वचनों को सुनने की इच्छा रखना **शुश्रूषा** है। इसे ही सेवा कहते हैं। कहे हुए तत्त्व को आदर के साथ सुनना **श्रवण** है। सुनकर प्रयत्न के साथ अर्थ का निश्चय करना **ग्रहण** है। निश्चित किए अर्थ का स्वयं अर्जित वस्तु की तरह हृदय में धारण करना **धारणा** है। जो उस अर्थ को जानने वाले हैं उनके साथ अच्छी तरह वार्तालाप करके संशय आदि को दूर करना **विज्ञान** है। विज्ञात और अविज्ञात पदार्थ के विषय में तर्क करना **ऊहापोह** है। उक्ति (आगम) और युक्ति(हेतु) के द्वारा हेय को छोड़ देना और उपादेय को ग्रहण कर लेना रूप निश्चय परिणति ही तत्त्व का **निर्णय** है। अन्यत्र कहा भी है–''शुश्रूषा, श्रवण, ग्रहण, धारणा, स्मृति, ऊहा-पोह और निर्णीति श्रोता के ये आठ गुण कहे हैं।'' प्रमाण और नय से वस्तु का कथन करना **युक्ति** है। सर्वज्ञ के कहे वचन **आगम** हैं। समीचीन उपदेश को **धर्म** कहते हैं।

वह युक्ति और आगम से उस धर्म का निर्णय करने वाला हो जो धर्म सुखकर है और दयागुणमय है। जिस शिष्य में हठवादिता नहीं है वह शिष्य सिखाने योग्य है। उसी को धर्मकथा सुनने का अधिकार है। कहा भी है–''मुमुक्षु को किसी भी तत्त्व में आग्रह नहीं करना चाहिए, क्योंकि समस्त आग्रह से रहित पुरुष ही निर्वाण को साधते हैं।'' यहाँ शार्दूलविक्रीडित छन्द है।

अथ सुखार्थिना धर्मे प्रवर्तितव्यमिति प्रतिपादयन्नाह–

(आर्या)

पापाद् दुःखं धर्मात् सुखमिति सर्वजनसुप्रसिद्धमिदम्।
तस्माद्विहाय पापं चरतु सुखार्थी सदा धर्मम्॥८॥

विशेष–जैसे वक्ता के गुणों को पहले कहा है उसी प्रकार श्रोता की योग्यता और उसके गुणों को यहाँ बताया है। पुराण आदि ग्रन्थों में श्रोता के चौदह भेद बताए हैं। हंस के समान, सूप के समान और तोता के समान स्वभाव वाले श्रोता अच्छे माने हैं। इसके अलावा मिट्टी, चलनी, भैंसा, बिल्ली, मच्छर, जौंक, उल्लू, फूटा घट, पशु, बगुला और पाषाण ये ग्यारह प्रकार के श्रोता भी होते हैं। अपने परिणामों के अनुसार शुभ–अशुभ फलों को ये श्रोता प्राप्त करते हैं। इन ग्यारह में भी मिट्टी के समान श्रोता तो ठीक है, शेष श्रोता उपदेश के अयोग्य हैं। जिस प्रकार पानी सींचने से मिट्टी गीली हो जाती है तो उसे बाद में घट आदि के रूप परिणत किया जा सकता है उसी तरह उपदेश को आत्मसात् करने वाला भव्य ही होता है। इसलिए सर्वप्रथम विशेषण 'भव्य' दिया है। मिट्टी में भी कुछ मिट्टी ऐसी होती है जो तात्कालिक थोड़ी देर को गीली हो जाती है और पुनः हवा लगने से वैसी ही कठोर हो जाती है। ऐसी मिट्टी की तरह काला श्रोता उपदेश योग्य नहीं है। फिर भी ऐसे श्रोताओं की उपेक्षा नहीं करनी चाहिए। इनको भी निरन्तर सींचने से उपदेश ग्रहण की योग्यता बढ़ती जाती है। अधिकतर ऐसे ही श्रोता पंचमकाल में देखने में आते हैं। उपदेशक को श्रोताओं की योग्यता अनुसार विषय ही सिखाना चाहिए। अयोग्य को योग्य बनाना ही उपदेशक की सफलता है।

जो भव्य है वही अपने हित का विचार–विमर्श करता है। संसार, शरीर, भोगों के दुःखों को जानकर वह उनसे डरता है और आत्मसुख की इच्छा करता है। ऐसा भव्य जीव ही आचार्य आदि के उपदेश को अच्छी तरह श्रवण, ग्रहण आदि करके अपनी बुद्धि के वैभव को बढ़ाता है। सदैव निराग्रही, विनयी होकर वह धर्मकथा को सुनता है। और अपनी शक्ति के अनुसार युक्ति, आगम से तत्त्व को समझकर निरन्तर दृढ़ होता जाता है। इसलिए ऐसे भव्य को धर्म अवश्य सुनाना चाहिए॥७॥

उत्थानिका–सुख चाहने वाले को धर्म में प्रवृत्ति करना चाहिए, यह कहते हैं–

अन्वयार्थ–(पापात्) पाप से **(दुःखम्)** दुःख **(धर्मात्)** धर्म से **(सुखम्)** सुख है, **(इति)** इस प्रकार **(इदम्)** यह उक्ति **(सर्वजनसुप्रसिद्धम्)** सभी के बीच अच्छी तरह प्रसिद्ध है। **(तस्मात्)** इसलिए

हिंसादिक इन पाप कर्म कर, प्राणी पल-पल दुख पाता।
लोक-मान्य यह सूक्ति रही है धर्म कर्म कर सुख पाता॥
सुर-सुख या शिव-सुख चाहो यदि पूर्ण पाप का त्याग करो।
चर्म-राग तज, धर्म भाव में भाग्य मान अनुराग करो॥८॥

अन्वयः—पापात् दुःखं, धर्मात् सुखं, इति इदं सर्वजनसुप्रसिद्धम्, तस्मात् पापं विहाय धर्मं सदा सुखार्थी चरतु।

पापादित्यादि। पापात् अशुभमनोवाक्कायव्यापारात्। दुःखं जन्मजरामृत्यु-कष्टम्। धर्मात् सदाचरणात्। सुखं निराकुलता। इति एवं। इदमेतत्। सर्वजनसुप्रसिद्धम्। सर्वैर्जनैर्लौकिरलौकिकैर्वा सुष्ठु प्रसिद्धं ख्यातं तत्तथोक्तम्। तस्मात् कारणादिति शेषः। पापमधर्मम्। विहाय त्यक्त्वा। धर्मं पूर्वोदितम्। सदा सर्वकालम्। स्वरादि-निपातमव्ययम्। कोऽसौ? सुखार्थी सुखमर्थयत इति सः। चरतु आचरतु अनुष्ठानं करोत्वित्यर्थः। आर्यावृत्तम्॥९॥

(पापम्) पाप को **(विहाय)** छोड़कर **(धर्मम्)** धर्म को **(सदा)** हमेशा **(सुखार्थी)** सुख चाहने वाला **(चरतु)** करे।

अर्थ—पाप से दुःख होता है, धर्म से सुख होता है, यह बात सभी लोगो में प्रसिद्ध है। इसलिए पाप को छोड़कर सुखार्थी सदा धर्म का आचरण करे।

टीकार्थ—अशुभ मन, वचन, काय का व्यापार पाप है। इस पाप से जन्म लेना, बुढ़ापा आना और मरण होना ये कष्ट होते हैं। सदाचरण ही धर्म है। इस धर्म से निराकुल सुख होता है। इस तथ्य की प्रसिद्धि लौकिक, अलौकिक सभी मनुष्यों को है। इसी कारण से अधर्म, पाप को छोड़कर पहले कहे हुए दयामय, सुखकर धर्म का आचरण सुख की इच्छा करने वाले को सदैव करना चाहिए। यह आर्या छन्द है।

विशेष—हे आत्मन्! तुझे मालूम है कि जो व्यक्ति किसी की हत्या कर देता है, किसी को हाथ से, बन्दूक से, चाकू से मारता है वह जब पकड़ा जाता है तो उसे दण्ड दिया जाता है। लोग उसको बुरा कहते हैं। जब कोई झूठ बोलता है तो उसका लोग विश्वास नहीं करते हैं। जब कोई चोरी करता है तो उसे लोग और न्यायप्रिय बन्धु घर से बाहर निकाल देते हैं। उसे सभी पाप की दृष्टि से देखते हैं। धीरे-धीरे सभी को ज्ञात हो जाता है कि यह चोर है तो उसका सर्वत्र अपमान होता है। जब कोई व्यक्ति कुशील करता है, किसी की बहू, बेटी, बहिन पर पापदृष्टि से उसका संयोग चाहता है तो उसकी बदनामी होती है, पकड़े जाने पर सभी लोग उसे मार देना चाहते हैं। अत्यधिक धन, वस्तुओं का संग्रह करने वाले के घर जब छापा पड़ता है या उसका धन चोर-डकैत हरण कर लेते हैं, तब वह पछताता है और लोग कहते हैं कि 'जैसे आता है, वैसे ही चला जाता है।' बस, ये पाँच चीजें ही पाप हैं, यही अधर्म है। इस अधर्म से तू बच जा। इन पापों को यदि त्याग दे तो धर्म अपने आप आ जायेगा और तू सदा सुखी रहेगा। जैन-अजैन सभी इन पाँचों को पाप समझते हैं किन्तु चोरी-छिपे इन पापों को करने की इच्छा सभी रखते हैं। इसीलिए आचार्य कहते हैं कि तू यदि सदा सुख की इच्छा करता है तो पापों का त्याग करके मन, वचन, काय से धर्म का अनुष्ठान कर। बुरा सोचने से मन अशुभ होता है सो पाप है, बुरा बोलने से वचन अशुभ होते हैं, सो वह भी पाप है। इन अशुभ को छोड़ने से ही

अथ तत्सुखस्य परम्परामूलकारणानि व्याचष्टे–

(शार्दूलविक्रीडित)

सर्वः प्रेप्सति सत्सुखाप्तिमचिरात् सा सर्वकर्मक्षयात्,
सद्वृत्तात्स च तच्च बोधनियतं सोऽप्यागमात्स श्रुतेः।
सा चाप्तात् स च सर्वदोषरहितो रागादयस्तेऽप्यत-
स्तं युक्त्या सुविचार्य सर्वसुखदं सन्तः श्रयन्तु श्रियै ॥९॥

अन्वयः—सर्वः सत्सुखाप्तिं अचिरात् प्रेप्सति, सा सर्वकर्मक्षयात्, स च सद्वृत्तात्, तच्च बोधनियतं, स अपि आगमात्, स श्रुतेः, सा च आप्तात्, स च सर्वदोषरहितः, ते अपि रागादयः, अतः तं सर्वसुखदं युक्त्या सुविचार्य सन्तः श्रियै श्रयन्तु।

शुभ होगा, मंगल होगा। घर के बाहर दरवाजे पर शुभ-लाभ लिखने मात्र से शुभ नहीं होगा। शुभ हुए बिना लाभ कैसे होगा ?॥८॥

उत्थानिका—उस सुख का परम्परा कारण और मूल कारण कहते हैं–

अन्वयार्थ—(सर्वः) सभी जीव **(सत्सुख-आप्तिम्)** समीचीन सुख की प्राप्ति **(अचिरात्)** शीघ्र ही **(प्रेप्सति)** चाहते हैं। **(सा)** उस सुख की प्राप्ति **(सर्व-कर्म-क्षयात्)** सभी कर्मों के क्षय से होती है। **(स च)** और कर्मक्षय **(सद्वृत्तात्)** समीचीन चारित्र से होता है **(तत् च)** और वह चारित्र **(बोध-नियतम्)** सम्यग्ज्ञान से नियत है। **(सः)** वह सम्यग्ज्ञान **(अपि आगमात्)** आगम **(श्रुतेः)** सुनने से होता है **(सा च)** वह सुनना **(आप्तात्)** आप्त से होता है। **(स च)** वह आप्त **(सर्व-दोष-रहितः)** सर्व दोष रहित है। **(ते अपि)** वे दोष भी **(रागादयः)** राग आदि हैं **(अतः)** इसलिए **(तं)** उन **(सर्वसुखदम्)** सर्व सुख को देने वाले आप्त को **(युक्त्या)** युक्ति से **(सुविचार्य)** सुविचार करके **(सन्तः)** सन्त पुरुष **(श्रियै)** कल्याण के लिए **(श्रयन्तु)** आश्रय लें।

अर्थ—सभी जन शीघ्र ही समीचीन सुख चाहते हैं। उस सुख की प्राप्ति समस्त कर्मों के क्षय से होती है। उन कर्मों का क्षय सच्चारित्र से होता है। सम्यक्चारित्र, सम्यग्ज्ञान से निश्चित होता है। सम्यग्ज्ञान भी आगम से होता है। आगम भी श्रुत से होता है। श्रुतज्ञान आप्त से होता है। वह आप्त समस्त दोषों से रहित होता है। दोष, राग आदि होते हैं। अतः समस्त सुख को देने वाले उस आप्त का युक्ति से अच्छी तरह विचार करके सज्जन पुरुष आत्मकल्याण के लिए आश्रय लें।

सभी चाहते शिव-सुख पाना मिले शीघ्र शिव करम नशे।
वह शुचि व्रत से, व्रत धी से, धी आगम से, श्रुति परम वशे ॥
श्रुति जिन से जिन दोष रहित हो, दोष सहित जिन आप्त नहीं।
सही समझ शिव-सुखद आप्त को भजो तजो अघ व्याप्त मही ॥९॥

सर्व इत्यादि–सर्वः सकलजनः।''सर्वादीनि सर्वनामानि'' इत्यनेन सर्वनाम-पदम्। सत्सुखाप्तिं सत् समीचीनं च तत् सुखं तस्याप्तिः प्राप्तिस्ताम्। अचिरात्। चिरं बहुतरकालं। न चिरं अचिरं शीघ्रमित्यर्थः। तस्मादिति क्रियाविशेषणम्। प्रेप्सति प्रकर्षेण वाञ्छति। सा सत् सुखाप्तिः। सर्वकर्मक्षयात् सर्वं च तत् कर्म ज्ञानावरणादि तेषां क्षयो विनाशस्तथोक्तः तस्मात् अष्टकर्मविनाशादित्यर्थः। स कर्मक्षयः। च पूर्वोक्तानुकर्षणात्। सद्वृत्तात् सत् शोभनं च तद्वृत्तं चारित्रं तथोक्तं तस्मात् सम्यक् चारित्रादित्यर्थः। तत् सद्वृत्तं। च पूर्वोक्ताकर्षणे। बोधनियतं बोधः सम्यग्ज्ञानं तेन नियतं निश्चितमाश्रितं वा तथोक्तं सम्यग्ज्ञानाधीनमित्यर्थः। स बोधः। अपि एवमिति। आगमात् ''आप्तवचनादिनिबन्धनमर्थज्ञानमागमः'' इति निर्वचनात् तस्मा-दिति। स आगमः। श्रुतेः श्रवणादाकर्णनाद्वा। ''आकर्ण्यमानो हि आगमः कार्यकारी भवति सद्व्यवहारं च भजते।'' इति श्रीप्रभेन्दुः। सा श्रुतिः। चाकर्षणे। आप्तात् वीतरागसर्वज्ञहितोपदेशि-पुरुषात्। न च श्रुतिरपौरुषेयकृतेति प्रोक्तमनुपलब्धेः। स आप्तः। च पूर्वोक्तानुकर्षणे। सर्वदोषरहितः सर्वे च ते दोषा अग्रे कथिताः तैः रहितो विमुक्तस्तथोक्तः। यदुक्तम्–''आप्तेनोच्छन्नदोषेण सर्वज्ञेनागमेशिना। भवितव्यं नियोगेन नान्यथा ह्याप्तता भवेत्।'' ते दोषाः। अपि निश्चितार्थे। रागादयः रागः आदि येषां क्षुधाद्यष्टादश-संख्यानां तेषां ते तथोक्ताः। तद्यथा–

''छुहतण्हभीरुरोसो रागो मोहो चिंता जरा रुजामिच्चू।
सेदं खेद मदो रइ विम्हिय णिद्दा जणुव्वेगो॥''

एतेऽष्टादशदोषाः कथ्यन्ते। अतः अस्मात् कारणात्। तं सर्वदोषरहिताप्तम्। सर्वसुखदं सर्वं निःश्रेयसाभ्युदयात्मकं च तत् सुखं तथोक्तं तं ददाति तमिति। तदाश्रयेण जीवाः सुखं स्वयमेव लभन्त इत्यर्थः।

टीकार्थ–समस्त जन समीचीन सुख की प्राप्ति प्रकर्ष रूप से शीघ्र करना चाहते हैं। वह सुख उन्हें ज्ञानावरण आदि कर्मों के विनाश से मिलेगा। उन कर्मों का नाश सम्यक्चारित्र से होता है। सम्यक्चारित्र सम्यग्ज्ञान के आश्रित है या अधीन है। वह सम्यग्बोध भी आगम से होता है। **परीक्षामुख** में कहा है–''आप्त के वचन आदि कारण से होने वाला अर्थज्ञान आगम हैं।''

वह आगम भी जिनवाणी सुनने से होता है। श्री **प्रभाचन्द्रजी** ने कहा भी है कि ''सुना हुआ आगम ही कार्यकारी होता है और सद्व्यवहार करता है।' वह श्रुति (सुनना) वीतराग, सर्वज्ञ, हितोपदेशी आप्त पुरुष से होती है। वे आप्त पुरुष समस्त दोषों से रहित होते हैं। कहा भी है–''आप्त दोषमुक्त, सर्वज्ञ और आगमेश होना चाहिए। अन्य प्रकार से आप्तता नहीं है।'' वे दोष राग आदि हैं। क्षुधा आदि अठारह दोष हैं। जैसा कि श्री **नियमसार** ग्रन्थराज में कहा है–

''क्षुधा, तृषा, भय, रोष, राग, मोह, चिन्ता, जरा, रुजा, मृत्यु, स्वेद (पसीना), खेद, मद, रति, विस्मय, निद्रा, जन्म और उद्वेग।''

ये अठारह दोष कहे हैं। इन दोषों से रहित आप्त से निःश्रेयस् और अभ्युदय सुख होता है। ऐसे निर्दोष आप्त के आश्रय से प्राणीगण सुख स्वयं ही प्राप्त कर लेते हैं। रागादि से रहित वीतराग भगवान

रागादिरहितस्य दानादानव्यापृतेरभावादुपचारेणैव तथोक्तिः। युक्त्या श्रवणादिबुद्धिविभवरीत्या। सुविचार्य सुष्ठु प्रतर्क्येति। सन्तः सज्जनाः भव्याः। श्रियै बाह्याभ्यन्तरात्मलक्ष्मीः श्रीरुच्यते तस्यै। श्रयन्तु आश्रयं कुर्वन्तु। ''श्रीङ् सेवायाम्'' लोट्। शार्दूलविक्रीडितवृत्तम्॥९॥

तत्सुखस्य सिद्धये प्रथमोपायं प्रदर्शयन्नाह–

(शार्दूलविक्रीडित)

श्रद्धानं द्विविधं त्रिधा दशविधं मौढ्याद्यपोढं सदा,
संवेगादिविवर्धितं भवहरं त्र्यज्ञानशुद्धिप्रदम्।
निश्चिन्वन् नवसप्ततत्त्वमचलप्रासादमारोहतां,
सोपानं प्रथमं विनेयविदुषामाद्येयमाराधना ॥१०॥

अन्वयः—श्रद्धानं सदा मौढ्याद्यपोढं संवेगादिविवर्धितं भवहरं त्र्यज्ञानशुद्धिप्रदं नवसप्ततत्त्वं निश्चिन्वन् द्विविधं त्रिधा दशविधं अचलप्रासादं आरोहतां विनेयविदुषां प्रथमं सोपानं (अतः) आद्या इयं आराधना (अस्ति)।

दान–आदान के व्यापार से रहित होते हैं। फिर भी उपचार से इस प्रकार कहा जाता है कि भगवान सुख देने वाले हैं। श्रवण, ग्रहण आदि बुद्धि के वैभव की रीति ही युक्ति है। उस युक्ति से भव्य सत्पुरुष अच्छी तरह विचार करके बाह्य और अभ्यन्तर आत्मलक्ष्मी की प्राप्ति के लिए उन आप्त का आश्रय लेते हैं। यहाँ शार्दूलविक्रीडित छन्द है।

विशेष—मोक्षसुख निश्रेयस् सुख कहलाता है तथा इन्द्र, चक्रवर्ती आदि के सुख अभ्युदय सुख होते हैं। इन सभी प्रकार के सुखों का मूल कारण कर्मों का क्षय है तथा कर्म क्षय से लेकर आप्त का आश्रय लेने तक जितने भी कारण हैं वे सभी परम्परा कारण हैं। इन सभी कारणों के मिलाप से ही कार्य का सम्पादन होता है। इसलिए प्रत्येक कारण का महत्त्व बराबर है। सार यह है कि सुख की प्राप्ति के लिए आप्त का निश्चय करके उनके द्वारा कथित श्रुत को श्रद्धा से स्वीकार कर तदनुसार आचरण करना चाहिए॥९॥

उत्थानिका—उस सुख की सिद्धि के लिए प्रथम उपाय दिखाते हुए कहते हैं–

अन्वयार्थ–(श्रद्धानम्) श्रद्धान **(सदा)** सदा **(मौढ्याद्यपोढम्)** मूढ़ता आदि से रहित **(संवेगादि-विवर्धितम्)** संवेग आदि से वृद्धिंगत **(भवहरम्)** भवनाशक **(त्र्यज्ञान-शुद्धि-प्रदम्)**

द्विविध त्रिविध दशविध समदर्शन मदादि बिन भव काम हने।
संवेगादिक से वर्धित, त्रय वितथ बोध शुचि-धाम बने॥
मोक्ष महल सोपान प्रथम जो शिव पथ के सब पथिकों को।
तत्त्वों अर्थों का विषयक है सेव्य सदा बुधपतियों को ॥१०॥

श्रद्धानमित्यादि। श्रद्धानं श्रद्धा आस्था विश्वासः प्रत्यय इति यावत्। सदा अनवरतम्। किं विशिष्टम्? मौढ्याद्यपोढं मूढस्य भावो मौढ्यं तदादौ येषां मदाष्टानां तैरपोढं रहितं तथोक्तम्। पुनश्च कथंभूतम्? संवेगादिविवर्धितः संवेगः आदिः प्रमुखो येषां प्रशमादीनां तै र्विवर्धितं वृद्धिं नीतं तत् प्रशमसंवेगानुकम्पास्तिक्यैरभिवृद्धिगतमित्यर्थः। यद्वा संवेगादयो विवर्धिता वृद्धिंगता येन तत् श्रद्धानं संवेगादिवृद्धिकर-मित्यर्थः। यद्वा संवेगः आदौ येषां निर्वेगाद्यष्टगुणानां तेषां तै र्विवर्धितं यत्तत्तथोक्तम्। तान्निर्वेगादिगुणानाह–

''संवेगो णिव्वेगो णिंदा गरुहा य उवसमो भत्ती।
वच्छल्लं अणुकंपा अट्ठगुणा हुंति सम्मत्ते॥''

पुनश्च कथंभूतम्? भवहरं भवं संसारं हरतीति भवहरः संसारविनाशकः। 'हृञोऽच् वयोऽनुद्यमनयोः इत्यनेन अच् भवति तं तथाभूतम्। पुनश्च किम्? त्र्यज्ञानशुद्धिप्रदं त्रीणि च तानि अज्ञानानि तेषां शुद्धिं समीचीनतां प्रकर्षेण ददातीति तथोक्तम्। कुमतिश्रुतविभङ्गज्ञानानि श्रद्धानस्य समीचीनतायां स्वयमेव

तीन अज्ञानों को शुद्ध करने वाला **(नव-सप्त-तत्त्वं)** नौ, सात तत्त्वों का **(निश्चिन्वन्)** निश्चय करने वाला **(द्विविधम्)** दो प्रकार का **(त्रिधा)** तीन प्रकार का **(दशविधम्)** दस प्रकार का तथा **(अचल प्रासादम्)** निश्चल महल पर **(आरोहताम्)** चढ़ने वाले **(विनेय विदुषाम्)** शिष्य विद्वानों को **(प्रथमं)** पहली **(सोपानम्)** सीढ़ी है **(अतः)** इसलिए **(आद्या)** प्रथम **(इयं)** यह **(आराधना)** आराधना **(अस्ति)** है।

अर्थ–श्रद्धान दो प्रकार का है, तीन प्रकार का है, दस प्रकार का है, मूढ़ता आदि से रहित है, संवेग आदि से बढ़ा हुआ है, संसार का नाशक है, तीन अज्ञानों की शुद्धि करने वाला है। नौ और सात तत्त्वों का निश्चय करते हुए अचल मोक्ष महल पर आरोहण करने वाले बुद्धिमान शिष्यों के लिए यह श्रद्धान प्रथम सोपान है तथा यह प्रथम आराधना है।

टीकार्थ–श्रद्धान, श्रद्धा, आस्था, विश्वास, प्रत्यय ये सभी एकार्थवाची हैं।

१. वह श्रद्धान मूढ़ता, अष्ट मद आदि दोषों से रहित होता है।

विशेष–तीन मूढ़ताएँ, आठ मद, छह अनायतन, शंकादि आठ दोष इन पच्चीस दोषों से रहित वह श्रद्धान जानना।

२. प्रशम, संवेग, अनुकम्पा, आस्तिक्य इन गुणों से वह श्रद्धान बढ़ता है। अथवा वह श्रद्धान संवेग आदि गुणों की वृद्धि करने वाला है। अथवा ''संवेग, निर्वेग, निंदा, गर्हा, उपशम, भक्ति, वात्सल्य, अनुकम्पा ये आठ गुण सम्यक्त्व में होते हैं।''

३. वह श्रद्धान संसार का विनाश करने वाला है।

४. वह श्रद्धान तीन अज्ञानों को शुद्ध कर देता है। कुमति, कुश्रुत, विभङ्ग ज्ञान (कु-अवधिज्ञान) ये तीनों ज्ञान, श्रद्धान के समीचीन होने पर स्वयं ही मतिज्ञान, श्रुतज्ञान और अवधिज्ञान

मतिश्रुतावधिज्ञानरूपेण परिणमय्य समीचीनानि भवन्तीत्यर्थः। नव सप्ततत्त्वं। जीवाजीवास्रवबन्ध-संवरनिर्जरामोक्षाः सप्त तत्त्वम्। तदेव पुण्यपापाधिकं नव तत्त्वं स्यात्। क्वचित् प्राथमिकदशायां सप्तविधं तत्त्वं नवविधा पदार्था इत्यभिधीयन्ते। निश्चिवन् निश्चीयत इति निःपूर्वकं 'चिञ् चयने' इत्येतस्माद्धोः शतृन् प्रत्ययः। निश्चितं कुर्वन्नित्यर्थः। तत् कतिविधमित्याह-द्विविधं द्वौ विधौ प्रकारौ यस्य तत्। सरागवीतराग-भेदेन निसर्गाधिगमभेदेन व्यवहारनिश्चयभेदेन वा तद् द्विधा भिद्यते। त्रिधा त्रयः प्रकारा यस्येति। 'संख्यायाः प्रकारे धा' इत्यनेन प्रकारार्थे धा। तदुपशमक्षय-क्षयोपशमभेदात् त्रिविधम्। दशविधं दशप्रकारम्। तत्र प्रशमसंवेगानुकम्पा-स्तिक्याद्यभिव्यक्तलक्षणं आ सूक्ष्मसाम्परायपर्यन्तं सरागसम्यग्दर्शनमभिहितं सूक्ष्मराग-सद्भावात्। तदनन्तरमात्मविशुद्धिमात्रं वीतरागसम्यग्दर्शनम्। सम्यक्त्वग्रहणक्षणे बाह्योपदेशेन विना यदुत्पद्यते तन्निसर्गजसम्यग्दर्शनम्। निसर्गः स्वभावः परोपदेशनिरपेक्ष इति यावत्। यथा सिंहो निसर्गात् क्रूरः, मर्कटो निसर्गात् चपल इत्यादि। ततो नैसर्गिकं सम्यक्त्वं विना केनापि कारणेन स्वभावतो हि प्रादुर्भवतीति नाभ्युपगम्यं तत्त्वार्थपरिज्ञानशून्यस्य तदुत्पत्तेरभावादागमाभावाच्च।

रूप से परिणमन करके समीचीन हो जाते हैं, यह अर्थ है।

५. वह श्रद्धान नौ और सात तत्त्वों का निश्चय करने वाला है। जीव, अजीव, आस्रव, बन्ध, संवर, निर्जरा और मोक्ष ये सात तत्त्व हैं। ये ही पुण्य, पाप से संयुक्त होकर नौ तत्त्व होते हैं। कहीं पर प्राथमिक दशा में सात प्रकार के तत्त्व और नौ प्रकार के पदार्थ कहे जाते हैं।

६. वह श्रद्धान दो प्रकार का है-सराग, वीतराग भेदवाला या निसर्ग, अधिगम भेदवाला या व्यवहार, निश्चय भेद वाला है।

७. वह श्रद्धान तीन प्रकार का है-उपशम, क्षय,क्षयोपशम के भेद से वह तीन प्रकार का है।

८. वह श्रद्धान दस प्रकार का है।

सराग सम्यग्दर्शन-इस सम्यग्दर्शन का लक्षण प्रशम, संवेग, अनुकम्पा और आस्तिक्य आदि गुणों की अभिव्यक्ति होना है। सराग सम्यग्दर्शन सूक्ष्म साम्पराय गुणस्थान पर्यन्त रहता है क्योंकि दसवें गुणस्थान तक सूक्ष्म राग का सद्भाव पाया जाता है। **वीतराग सम्यग्दर्शन**-दसवें गुणस्थान के आगे आत्मविशुद्धि मात्र होना वीतराग सम्यग्दर्शन है। **निसर्गज सम्यग्दर्शन**-सम्यग्दर्शन ग्रहण करने के समय बाह्य उपदेश के बिना जो सम्यग्दर्शन उत्पन्न होता है वह निसर्गज सम्यग्दर्शन है।

निसर्ग का अर्थ स्वभाव से अर्थात् परोपदेश के बिना होना है। जैसे सिंह स्वभाव से क्रूर होता है। बन्दर स्वभाव से चपल होता है, इसलिए यह नहीं समझना कि नैसर्गिक सम्यग्दर्शन किसी कारण के बिना स्वभाव से ही उत्पन्न हो जाता है। तत्त्वार्थ ज्ञान से शून्य जीव को निसर्गज सम्यग्दर्शन उत्पन्न नहीं होता है तथा आगम में भी ऐसा नहीं कहा कि वह बिना किसी कारण के उत्पन्न हो जाता है। इसलिए स्वभाव से उत्पन्न होने का अर्थ इतना ही है कि वह पर उपदेश के बिना होता है। जैसे कि सिंह किसी के उपदेश दिए बिना ही स्वभाव से क्रूर है,ऐसा कहा जाता है।

यदुक्तम्–''विना परोपदेशेन तत्त्वार्थ-प्रतिभासनम्। निसर्गोऽधिगमस्तेन कुलं तदिति निश्चयः॥''

येन केनापि पूर्वाश्रुता श्रुतिर्देशनालब्धिः सोऽपि निसर्गसम्यग्दर्शनायात्र भवति योग्योऽन्य-निमित्तवशादिति गुरोरभिप्रायः। तस्मात् सर्वत्र जातिस्मरणेन तु जिनबिम्बदर्शनेन वा जिनमहिमदर्शनेन वा नृषु पशुषु च महर्द्धिप्राप्ताचार्यमुनिदर्शनेन तन्माहात्म्यविभवश्रवणेन वा नाकिषु देवर्द्धिदर्शनेन वा नारकेषु वेदनाभिभवेन वा निसर्गजसम्यग्दर्शनं भवतीति स्थितम्। यत्तु परोपदेशपूर्वकेण तत्त्वार्थाधिगमनिमित्तेन भवति तदधिगमजसम्यग्दर्शनमभिहितम्। षड्द्रव्य-पञ्चास्तिकायसप्ततत्त्वनवपदार्थेषु रुचिर्व्यवहारसम्यग्दर्शनम्। तथा तेनैव व्यवहारसम्यक्त्वेन पारम्पर्येण साध्यभूतं शुद्धोपयोगाविनाभाविलक्षणाभेदरत्नत्रयं निर्विकल्प-वीतरागस्वसंवेदनकाले निश्चयसम्यग्दर्शनं भण्यते। यतश्च व्यवहार-सम्यक्त्वेन निश्चयसम्यक्त्वं साध्यते ततः कारणकार्यभावो द्वयोर्मध्ये ज्ञातव्य इति।

अथ त्रिविधसम्यक्त्वं किंचिदुच्यते–अनन्तानुबन्धिक्रोधमानमायालोभेन सह दर्शनमोहनीयत्रयाणा-मुपशमादौपशमिकं सम्यक्त्वम्। आसां सप्तप्रकृतीनां कृत्स्नक्षयात् क्षायिकसम्यक्त्वम्।

कहा भी है–''परोपदेश के बिना तत्त्वार्थ का श्रद्धान होना निसर्ग है तथा परोपदेश से तत्त्वार्थ का निश्चय होना अधिगम है।''

जिस-किसी आत्मा ने पहले देशनालब्धि नहीं सुनी है वह भी निसर्ग सम्यग्दर्शन के योग्य होता है क्योंकि अन्य निमित्त उसे सम्यग्दर्शन के लिए हेतु बन जाते हैं, ऐसा गुरु का अभिप्राय है।

इसलिए जातिस्मरण से तो सामान्य से सभी गतियों में तथा मनुष्य और तिर्यंच गति में जातिस्मरण के साथ जिनबिम्ब-दर्शन से, महान् ऋद्धि प्राप्त आचार्य मुनि के दर्शन से, उनकी महिमा और सामर्थ्य के सुनने से तथा देवों में जातिस्मरण, देवऋद्धिदर्शन, जिनमहिमादर्शन से तथा नारकियों में जातिस्मरण, वेदनानुभव से निसर्गज सम्यग्दर्शन होता है, यह सिद्ध हुआ।

अधिगमज सम्यग्दर्शन–जो परोपदेशपूर्वक तत्त्वार्थज्ञान के निमित्त से होता है वह अधिगमज सम्यग्दर्शन है। **व्यवहार सम्यग्दर्शन**–छह द्रव्य, पंच अस्तिकाय, सप्त तत्त्व और नौ पदार्थों में रुचि रूप व्यवहार सम्यग्दर्शन होता है। **निश्चय सम्यग्दर्शन**–इसी व्यवहारसम्यक्त्व को परम्परा से साध्यभूत शुद्धोपयोग के अविनाभावी लक्षण वाले अभेद रत्नत्रय को निर्विकल्प वीतराग स्वसंवेदन के काल में निश्चय सम्यग्दर्शन कहा जाता है।

चूँकि व्यवहारसम्यग्दर्शन से निश्चय सम्यग्दर्शन साधा जाता है इसलिए इन दोनों में कारण-कार्य भाव जानना चाहिए। अर्थात् व्यवहार सम्यग्दर्शन कारण और निश्चय सम्यग्दर्शन उसका कार्य है।

अब थोड़ा तीन प्रकार के सम्यग्दर्शन को कहते हैं। **औपशमिक सम्यग्दर्शन**–अनन्तानुबंधी क्रोध, मान, माया, लोभ के साथ दर्शनमोहनीय कर्म की तीन (सम्यक्त्व, मिथ्यात्व, सम्यग्मिथ्यात्व) प्रकृतियों के उपशम से औपशमिक सम्यक्त्व होता है। **क्षायिक सम्यग्दर्शन**–इन्हीं अनन्तानुबंधी क्रोध, मान, माया, लोभ (४) तथा दर्शन मोहनीय की (३) ऐसे सात प्रकृतियों के पूर्ण रूपेण क्षय से क्षायिक सम्यग्दर्शन होता है।

तथाऽनन्तानुबन्धि-कषायचतुष्टयस्य मिथ्यात्वसम्यङ्मिथ्यात्वयोश्चोदयाभावक्षयस्तेषामेव सदवस्थारूपोपशमाच्च सम्यक्त्वस्य देशघातिस्पर्द्धकस्योदये सति तत्त्वार्थश्रद्धानं क्षायोपशमिकसम्यक्त्वं भवति। तच्च चलमलिनागाढदोषयुक्तं स्यात्। तेषां विवर्णनं कादम्बिनीटीकातो विज्ञेयम्। अत्र विस्तरभयेन न प्रोक्तम्। दशभेदान् स्वयमेव ग्रन्थकारोऽग्रे वक्ष्यति। अचलप्रासादं अचलं निश्चलं स्थिरं वा तत्प्रासादं तमिति। आरोहतां आरोहणं कुर्वतामिति। आरोहतीति आरोहन्। ''रुह बीजजन्मनि प्रादुर्भावे चेति'' शतृन् प्रत्ययात् तेषाम्। विनेयविदुषां विनेयेषु शिष्येषु विदुषां कार्याकार्यविचारकुशलानामिति। प्रथमं आद्यः। सोपानं श्रेणिः। आद्या प्रथमा। इयं प्ररूपिता। आराधना आराध्यते मोक्षाय या सा। शार्दूलविक्रीडित-वृत्तम्॥१०॥

अधुना दशविधसम्यक्त्वं निरूपयन्नाह–

(आर्या)

आज्ञामार्गसमुद्भवमुपदेशात्सूत्रबीजसंक्षेपात् ।
विस्तारार्थाभ्यां भवमवपरमावादिगाढं च ॥११॥

क्षायोपशमिक सम्यग्दर्शन–अनन्तानुबंधी कषाय चतुष्टय, मिथ्यात्व और सम्यग्मिथ्यात्व के उदयाभाव रूप क्षय से, इन्हीं प्रकृतियों के सदवस्थारूप उपशम से तथा सम्यक्त्व प्रकृति के देशघाति स्पर्धकों के उदय होने पर जो तत्त्वार्थ श्रद्धान होता है वह क्षायोपशमिक सम्यग्दर्शन है।

यह चल, मलिन, अगाढ़ दोषों से सहित होता है। इनका वर्णन कादम्बिनी टीका से जानना। विस्तारभय से यहाँ नहीं कहा है।

सम्यग्दर्शन के दस भेदों को स्वयं ही ग्रन्थकार आगे कहेंगे। कार्य-अकार्य का विचार करने में कुशल शिष्यों को यह तत्त्वार्थ श्रद्धान रूप सम्यक्त्व अचल मोक्ष महल तक पहुँचाने के लिए प्रथम सोपान है तथा पहली आराधना है। मोक्ष के लिए जिसकी सेवा की जाती है वह आराधना है। यहाँ शार्दूलविक्रीडित छन्द है॥१०॥

उत्थानिका–अब दस प्रकार के सम्यक्त्व का निरूपण करते हुए कहते हैं–

अन्वयार्थ–(आज्ञा-मार्ग-समुद्भवम्) आज्ञा और मार्ग से उत्पन्न हुआ **(उपदेशात्)** उपदेश से हुआ **(सूत्र-बीज-संक्षेपात्)** सूत्र, बीज और संक्षेप से हुआ **(विस्तारार्थाभ्याम्)** विस्तार और अर्थ से **(भवम्)** होने वाला **(अव-परमावादि-गाढे च)** अवगाढ़ और परमावगाढ़ सम्यग्दर्शन हैं।

आज्ञा उद्भव मार्ग समुद्भव सदुपदेश-भव, यथा रहा।
सूत्र समुद्भव, बीज समुद्भव, समास उद्भव तथा रहा॥
विस्तृत उद्भव अर्थ समुद्भव इस विध दश विध दर्शन है।
अवगाढ़, परमावगाढ़ है गाता यह जिन-दर्शन है॥११॥

अन्वयः—आज्ञामार्गसमुद्भवं उपदेशात् सूत्रबीजसंक्षेपात् विस्तारार्थाभ्यां भवं च अवपरमावादि-गाढम्।

आज्ञेत्यादि। आज्ञामार्गसमुद्भवं। आज्ञया समुद्भवं समुत्पन्नं यत् सम्यक्त्वं तदाज्ञासमुद्भवं प्रथमम्। मार्गसमुद्भवं मार्गेण समुत्पन्नं द्वितीयम्। उपदेशात् उपदिश्यते प्ररूप्यत इत्युपदेशस्तस्मादिति तृतीयम्। सूत्रबीजसंक्षेपात् तत्र सूत्रादिति चतुर्थम्। बीजादिति पञ्चमम्। संक्षेपादिति षष्ठम्। विस्तारार्थाभ्यां भवं च। तत्र विस्तारेण भवं समुत्पन्नं विस्तारभवमिति सप्तमम्। अर्थेन भवमर्थभवमिति अष्टमम्। अवपरमा-वादिगाढम् अवपरमावपूर्वकं गाढं तेन अवगाढमिति नवमम्। परमावगाढमिति नाम्ना दशमम्। इत्यनेन दशविधसम्यक्त्वस्य नाममात्रनिर्देशोऽत्र कृतः। आर्यावृत्तम्॥११॥

अथ तेषां स्वरूपप्रपञ्चनार्थमाह–

(स्रग्धरा)

आज्ञासम्यक्त्वमुक्तं यदुत विरुचितं वीतरागाज्ञयैव,
त्यक्तग्रन्थप्रपञ्चं शिवममृतपथं श्रद्दधन्मोहशान्तेः।
मार्गश्रद्धानमाहुः पुरुषवरपुराणोपदेशोपजाता,
या संज्ञानागमाब्धिप्रसृतिभिरुपदेशादिरादेशि दृष्टिः ॥१२॥

अर्थ—आज्ञा समुद्भव, मार्ग समुद्भव, उपदेश समुद्भव, सूत्र समुद्भव, बीज समुद्भव, संक्षेप समुद्भव, विस्तार समुद्भव, अर्थ समुद्भव, अवगाढ़ और परमावगाढ़ यह दस प्रकार का सम्यग्दर्शन है।

टीकार्थ—आज्ञा से उत्पन्न हुआ सम्यग्दर्शन आज्ञा सम्यक्त्व नाम का प्रथम है। दूसरा मार्ग से उत्पन्न होने वाला सम्यक्त्व है। उपदेश करना, प्ररूपण करना उपदेश है। उपदेश से उत्पन्न हुआ सम्यक्त्व तीसरा है। चौथा सूत्र से होने वाला, पाँचवाँ बीज से होने वाला, छठा संक्षेप से होने वाला, विस्तार से उत्पन्न हुआ सातवाँ, अर्थ से उत्पन्न हुआ आठवाँ, अवगाढ़ नवमा और परमावगाढ़ दसवाँ सम्यग्दर्शन है। यहाँ इन दस प्रकार के सम्यक्त्व का मात्र नाम निर्देश किया है। यहाँ आर्या छन्द है॥११॥

उत्थानिका—अब इन्हीं सम्यग्दर्शनों का स्वरूप बताने के लिए कहते हैं–

अन्वयार्थ—**(उत)** अहो! **(यत्)** जो **(मोहशान्तेः)** मोह के शान्त होने से **(वीतरागाज्ञया एव)** वीतराग की आज्ञा से ही **(विरुचितम्)** रुचि होना है उसे **(आज्ञासम्यक्त्वम्)** आज्ञा सम्यक्त्व

मोह नाश से जिन की आज्ञा पालन आज्ञा दर्शन है।
ग्रन्थ-श्रवण बिन शिव सुख पथ में रुचि हो मारग दर्शन है॥
परम पूततम पुरुष कथा सुन परम दृष्टि जो पाना है।
ग्रन्थ स्रजक गणधर ने उसको सदुपदेश-भव माना है॥१२॥

अन्वयः—उत् यत् मोहशान्तेः वीतरागाज्ञया एव विरुचितं आज्ञासम्यक्त्वं उक्तं, शिवं अमृतपथं त्यक्तग्रन्थप्रपञ्चं श्रद्दधन् मार्गश्रद्धानं आहुः, या पुरुषवरपुराणोप-देशोपजाता (सा) उपदेशादिः दृष्टिः संज्ञानागमाब्धिप्रसृतिभिः आदेशि।

आज्ञेत्यादि। उत विकल्पार्थेऽव्ययपदम्। ''दुताप्यर्थ-विकल्पयोः'' इत्यमरः। यत्किंचिदिति। मोहशान्तेः मोहस्य मौख्येन दर्शनमोहत्रिकस्य शान्तिरुपशमादिः तस्मात् उपशमक्षयक्षयोपशमादित्यर्थः। इत्यत्रान्तरङ्गहेतुः सम्यक्त्वस्योत्पत्तेः कथितः। अयं तु अत्र प्रत्येकमभिसम्बध्यते। वीतरागाज्ञया वीतरागः पूर्वकथिताप्तः तस्याज्ञा देशना निर्देशः शासनमिति यावत्। तया आप्तवचनोपदेशमात्रेणेत्यर्थः। एव अव-धारणे। विरुचितं विशेषेण स्मयमूढतारहिताष्टगुणयुक्तेन रुचितं श्रद्धां गतं यस्य यत्र वेत्यभेदविवक्षायां तथोक्तम्। आज्ञासम्यक्त्वं आज्ञया उत्पन्नं सम्यक्त्वमिति। उक्तं कथितं। गणधरादिदेवैरिति शेषः। यदुक्तम्–

''सूक्ष्मं जिनोदितं तत्त्वं, हेतुभिर्नैव हन्यते।
आज्ञासिद्धं तु तद्ग्राह्यं नान्यथावादिनो जिनाः॥''

शिवं निर्वाणमनन्तसुखं वा। यदुक्तम्–''शिवं परमकल्याणं निर्वाणं ज्ञानमक्षयम्। प्राप्तं मुक्तिपदं येन स शिवः परिकीर्तितः॥'' किं विशिष्टम्? अमृतपथं न मृतमित्यमृतमविनाशीत्यर्थः। तदेव पथो मार्गस्तमिति।

(उक्तं) कहा है। **(शिवम्)** मोक्ष रूप **(अमृतपथम्)** अमृत मार्ग का **(त्यक्त-ग्रन्थ-प्रपञ्चम्)** जिसमें परिग्रह का प्रपञ्च छोड़ा जाता है **(श्रद्दधन्)** श्रद्धान करना **(मार्गश्रद्धानम्)** उसे मार्गश्रद्धान **(आहुः)** कहते हैं। **(या)** जो **(पुरुष-वर-पुराणोपदेशो-पजाता)** पुरुष श्रेष्ठों के पुराणों के उपदेश से उत्पन्न हुआ है **(सा)** वह **(उपदेशादिः)** उपदेश **(दृष्टिः)** सम्यग्दर्शन है, ऐसा **(संज्ञाना-गमना-ब्धि-प्रसृतिभिः)** सम्यग्ज्ञान रूप आगम समुद्र में निष्णातों ने **(आदेशि)** कहा है।

अर्थ—वीतराग की आज्ञा से होने वाली रुचि को आज्ञा सम्यक्त्व कहा है। मोह के शान्त हो जाने से परिग्रह रहित, कल्याण स्वरूप अमृत का श्रद्धान होना मार्गश्रद्धान है। श्रेष्ठ पुरुषों के पुराण के उपदेश से जो सम्यक्त्व होता है उसे सम्यग्ज्ञान रूप आगम समुद्र में प्रवीण पुरुषों ने उपदेश से होने वाला सम्यक्त्व कहा है।

टीकार्थ—दर्शनमोह की तीनों प्रकृतियों के उपशम, क्षय, क्षयोपशम से सम्यक्त्व की उत्पत्ति होती है, यह अन्तरंग हेतु का कथन है। इस हेतु को प्रत्येक सम्यग्दर्शन के साथ जोड़ लेना चाहिए।

१. आज्ञासम्यग्दर्शन—जो पहले आप्त का स्वरूप कहा है, उन वीतराग आप्त की आज्ञा से, उनके उपदेश मात्र को सुनने से जो मद, मूढ़ता रहित, अष्ट गुणों से सहित श्रद्धा होती है, उसे गणधरादि देवों ने आज्ञा सम्यक्त्व कहा है।

कहा भी है–''जिनेन्द्र भगवान् के द्वारा कहा तत्त्व सूक्ष्म है, उसे हेतुओं से खण्डित नहीं किया जा सकता है। वह तो आज्ञा से ही ग्रहण योग्य है क्योंकि जिनदेव अन्यथा कथन नहीं करते हैं।''

२. मार्ग सम्यग्दर्शन—निर्वाण अथवा अनन्तसुख को शिव कहते हैं। कहा भी है–

रत्नत्रयात्मकमित्यर्थः। यद्वा अमृतं पीयूषं तद्रूपं पथस्तम् जन्मजराविषहरणमित्यर्थः। अथवा अमृतपथं मोक्षपथम्। तस्य विशेषणं शिवं कल्याणं शुभमित्यर्थः। ''श्वः श्रेयसं शिवं भद्रं कल्याणं मंगलं शुभम्'' इत्यमरः। कथम्भूतं तत्? त्यक्तग्रन्थप्रपञ्चं त्यक्तो मुञ्चितो ग्रन्थस्य सङ्गस्य प्रपञ्चो विस्तारो यत्र तत्तथोक्तम्। श्रद्दधन् श्रद्धत्त इति श्रद्पूर्वकं 'धा धारणे' इत्येतस्माद्धोः शतृन् प्रत्ययः। श्रद्धानं कुर्वन्नित्यर्थः। मार्गश्रद्धानं मार्गसम्यग्दर्शनम्। आहुः कथयन्ति। गणधरदेवादयः इति शेषः। दर्शनमोहस्योपशमादेः शास्त्रश्रवणं विना मोक्षमार्गे रुचिर्मार्गसम्यग्दर्शनं भवति। अथवा निर्ग्रन्थलक्षणं मोक्षमार्गमिति रुच्या मार्गसम्यग्दर्शनं भवति। या काचिदिति। पुरुषवरपुराणोपदेशोपजाता। पुरुषेषु साधारणजनेषु वराः श्रेष्ठाः पुरुषवराः त्रिषष्ठि-शलाकापुरुषाः तेषां पुराणानि कथाः तदुपदेशात् तत्कथाश्रवणात् उपजाताः समुत्पन्ना सा तथोक्ता प्रथमानुयोगग्रन्थोपदेशलब्धपदार्थपरिज्ञाना इत्यर्थः। उपदेशादिः उपदेशः आदौ यस्याः सा। दृष्टिः सम्यग्दर्शनम्। संज्ञानागमाब्धिप्रसृतिभिः सं सम्यक् च तद् ज्ञानं संज्ञानं तदेवागमः स एव अब्धिः समुद्रस्तस्य प्रसृतिः पाणिर्विकुब्जः गोष्पदसमानज्ञानं यस्य ताभिः केवलज्ञानसमुद्रस्याञ्जलिप्रमाणज्ञानैर्गणधरदेवाः। यद्वा संज्ञानागमाब्धौ प्रसृतिभिः प्रवीणैर्निष्णातैर्गणधरदेवादिभिः। अथवा संज्ञानागमाब्धेः प्रसृतिः प्रसरणं येभ्यस्ते तीर्थकरगणधरादयस्तैरिति। आदेशि 'दिश अतिसर्जने' कर्मणि लुङ् । प्रथमानुयोगद्वारेणोपदेशसम्यक्त्वं भवतीत्यर्थः। स्रग्धरावृत्तम् ॥१२॥

''परमकल्याण, निर्वाण और अक्षय ज्ञान शिव है। जिन्होंने मुक्तिपद प्राप्त किया है वे शिव कहलाते हैं।''

यह निर्वाण अमृत, अविनाशी पथ है, रत्नत्रयात्मक है। अथवा यह अमृत पथ है क्योंकि जन्म, जरा विष का हरण करने के लिए यही अमृत है। अथवा अमृत पथ मोक्षपथ को कहते हैं। इस मोक्ष पथ का विशेषण शिव है, ऐसा समझना। यह शिव ही कल्याणरूप, शुभ रूप है। इस मार्ग में परिग्रह के प्रपंच, फैलाव को छोड़ दिया जाता है। ऐसे मार्ग का श्रद्धान करना मार्ग सम्यग्दर्शन है। गणधरदेव आदि ऐसा कहते हैं। अतः दर्शन मोह का उपशम आदि होने से शास्त्रश्रवण के बिना मोक्षमार्ग में रुचि होना मार्ग सम्यग्दर्शन है। अथवा मोक्षमार्ग निर्ग्रन्थ लक्षण वाला है, ऐसी रुचि से मार्ग सम्यग्दर्शन होता है।

३. उपदेश सम्यग्दर्शन—यह सम्यग्दर्शन त्रिषष्टि शलाका पुरुषों की कथाओं के सुनने से उत्पन्न होता है। यानी कि प्रथमानुयोग के ग्रन्थों के उपदेश से प्राप्त हुए पदार्थज्ञान से उपदेश सम्यग्दर्शन होता है। ऐसा गणधर देव कहते हैं।

सम्यग्ज्ञान रूप आगम ही समुद्र है। उस समुद्र का थोड़ा सा गोखुर के समान ज्ञान जिनका होता है, वे केवलज्ञान रूपी समुद्र में अंजलि प्रमाण ज्ञान धारण करने वाले गणधरादि देव हैं। अथवा सम्यग्ज्ञान रूपी समुद्र में निष्णात गणधर देवादि ने ऐसा कहा है। अथवा सम्यग्ज्ञान रूपी समुद्र में जिनका फैलाव है ऐसे तीर्थंकर, गणधर आदि ने उपदेश सम्यग्दर्शन का स्वरूप कहा है। तात्पर्य यह है कि प्रथमानुयोग के माध्यम से उपदेश सम्यक्त्व होता है ॥१२॥

अवशिष्टसम्यक्त्वस्वरूपमाह–

(स्रग्धरा)

आकर्ण्याचारसूत्रं मुनिचरणविधेः सूचनं श्रद्दधानः,
सूक्तासौ सूत्रदृष्टिर्दुरधिगमगतेरर्थसार्थस्य बीजैः।
कैश्चिज्जातोपलब्धेरसमशमवशाद् बीजदृष्टिः पदार्थान्,
संक्षेपेणैव बुद्ध्वा रुचिमुपगतवान् साधु संक्षेपदृष्टिः ॥१३॥

अन्वयः—मुनिचरणविधेः सूचनं आचारसूत्रं आकर्ण्य (यः) श्रद्दधानः असौ सूत्रदृष्टिः सूक्ता, असमशमवशात् कैश्चित् बीजैः अर्थसार्थस्य दुरधिगमगतेः जातोपलब्धेः बीजदृष्टिः (अस्ति), संक्षेपेणैव पदार्थान् बुद्ध्वा रुचिं उपगतवान् साधु संक्षेपदृष्टिः (स्यात्)।

उत्थानिका—शेष बचे सम्यक्त्वों का स्वरूप कहते हैं–

अन्वयार्थ—(मुनिचरण-विधेः) मुनि के आचरण की विधि की **(सूचनम्)** सूचना वाले **(आचार सूत्रम्)** आचार सूत्र को **(आकर्ण्य)** सुनकर **(यः)** जो **(श्रद्दधानः)** श्रद्धान करता है **(असौ)** वह **(सूत्रदृष्टिः)** सूत्र सम्यग्दृष्टि **(सूक्ता)** कहा गया है। **(असम-शम-वशात्)** असाधारण उपशम के कारण **(कैश्चित् बीजैः)** कितने ही बीज पदों के द्वारा **(अर्थसार्थस्य)** पदार्थ समूह का **(दुरधिगम-गतेः)** बड़े कष्ट से ज्ञान होने से **(जातोपलब्धेः)** सम्यक्त्व प्राप्त करने वाले की **(बीजदृष्टिः)** बीज दृष्टि **(अस्ति)** होती है। **(संक्षेपेण एव)** संक्षेप से ही **(पदार्थान्)** पदार्थों को **(बुद्ध्वा)** जानकर **(रुचिम्)** रुचि को **(उपगतवान्)** प्राप्त हुआ जीव **(साधु)** अच्छा **(संक्षेपदृष्टि)** संक्षेप सम्यग्दृष्टि है।

अर्थ—मुनि के चारित्र की विधि को सूचित करने वाले आचार सूत्र को सुनकर जो श्रद्धान करने वाला है वह सूत्र सम्यग्दृष्टि है। असाधारण उपशम के कारण किन्हीं बीजपदों के द्वारा पदार्थ समूह के कष्टप्राप्त ज्ञान समूह की उपलब्धि से उत्पन्न होने वाला सम्यग्दृष्टि है। संक्षेप रूप से ही पदार्थों को जानकर जो समीचीन रुचि को प्राप्त हुआ है वह संक्षेप सम्यग्दृष्टि है।

टीकार्थ—४. सूत्र सम्यग्दर्शन—मुनि चारित्र का अभिमानी होता है अर्थात् वह सब कुछ छोड़ सकता है किन्तु चारित्र नहीं छोड़ता है। मुनियों के चारित्र का प्रतिपादन करने वाले प्रथम अङ्ग रूप आचारांग शास्त्र हैं। इन शास्त्रों को सुनकर जिसे सम्यग्दर्शन उत्पन्न होता है वह सूत्र सम्यग्दृष्टि कहा गया है।

पदार्थ दल को अल्प जान रुचि हो समासभव वही भला।
शास्त्र अर्थ जो अगम ज्ञात हो किसी बीज पद सही खुला॥
मोह कर्म के वर उपशम से बीज समुद्भव दृष्टि खिली॥
मुनि-व्रतविधि-सूचक सूतर सुन सूत्र दृष्टि वह दृष्टि मिली॥१३॥

आकर्ण्येत्यादि। मुनिचरणविधेः मुनिश्चारित्राभिमानी तेषां चरणविधि-राचरणप्रक्रमः तस्य। सूचनं प्रतिपादकम्। आचारसूत्रं प्रथममाचाराङ्गाङ्गम्। आकर्ण्य श्रुत्वा। श्रद्दधानः श्रद्धानं कुर्वाणः गुणगुणिनोरभेद-विवक्षायामत्र कर्तृ। असौ सा। सूत्रदृष्टिः सूत्रेण संजाता दृष्टिः सम्यक्त्वं यस्यासौ सूत्रसम्यग्दृष्टिः इत्यर्थः। सूक्ता सुष्ठु उक्ता कथिता। असमशमवशात् असमः अद्वितीयोऽसाधारणो वाऽसौ शमश्च असमशमः तस्य वशात् कारणात् असाधारणदर्शनमोहोपशमवशादिति। शमः कषायोपशमः इत्यर्थे सति असाधारण-कषायोपशमवशात् मुनेरेवेदं सम्यक्त्वमिति श्रीगुरोरुपदेशः। कैश्चित् बीजैः बीजपदैः। बीजमिव बीजम्। यथा बीजं मूलाङ्कुर-स्कन्धशाखापत्रपुष्प-कुसुमगन्धादीनामाधारो भवति तथा ह्येकपदमक्षरं वाश्रित्या-शेषाङ्गज्ञानजनकाय बीजमलं भवति। अत्र बीजपदेन करणसूत्राणि मात्राणि विज्ञेयानि सम्यक्त्वप्रसङ्गात्। अर्थसार्थस्य अर्थाः पदार्थाः तेषां सार्थः समूहस्तस्य। कथंभूतस्य? दुरधिगमगतेः दुःखेन महता कष्टेन अधिगम्यते ज्ञायत इति दुरधिगमः। ''स्वीषददुसि कृच्छ्राकृच्छ्रे खः'' इति खः। तस्य गतिः शरणं प्रतिपत्तिर्वा यस्य तस्यातिकष्टतया पदार्थसमूहविज्ञातस्यातिसूक्ष्मतया प्रतिपत्तुर्वेति। जातोपलब्धेः जाता उपलब्धिः विज्ञप्ति र्यस्य तस्य। न्यायसूत्रे ''बुद्धिरूपलब्धिर्ज्ञानमित्यनर्थान्तरम्''। बीजदृष्टिः बीजसम्यक्त्वं भण्यते। संक्षेपेण समासेन। एव अवधारणार्थे। पदार्थान् आप्तागमव्रतश्रुतार्थान्। रुचिं श्रद्धाम्। उपगतवान् प्राप्तवानित्यर्थः। साधु सुष्ठु अव्ययपदम्। संक्षेपदृष्टिः संक्षेपसम्यग्दृष्टिरित्यभेदविवक्षायामात्मैव कथ्यते। चरणानुयोगस्य ज्ञानेन सूत्रसम्यक्त्वं, करणानुयोगेन बीजसम्यक्त्वं द्रव्यानुयोगेन संक्षेपसम्यक्त्वं भवतीति संक्षेपार्थः। स्रग्धरावृत्तम्॥१३॥

यह सम्यग्दर्शन दर्शन मोह के असाधारण उपशम से होता है। श्रीगुरु का उपदेश है कि यहाँ शम से कषायों का उपशम लेना जिससे यह सम्यक्त्व मुनि को ही होता है।

५. बीज सम्यग्दर्शन—बीज के समान बीज है। जैसे बीज मूल, अंकुर, स्कन्ध, शाखा, पत्र, पुष्प, कुसुम, गन्ध आदि का आधार होता है उसी तरह एक पद या एक अक्षर का आश्रय लेकर शेष अङ्गों के ज्ञान को उत्पन्न करने में समर्थ बीज होता है। इस बीज-पद से करण (गणित) सूत्र लेना चाहिए क्योंकि सम्यक्त्व का प्रसङ्ग है।

बीज पद से पदार्थों का समूह बहुत कष्ट से जाना जाता है। इन कुछ बीज पदों से पदार्थ समूह को जानने वाले ज्ञाता को अतिसूक्ष्म रूप से यह ज्ञान उत्पन्न होता है जिससे होने वाला सम्यक्त्व बीज सम्यग्दर्शन कहलाता है।

६. संक्षेप सम्यग्दर्शन—आप्त, आगम, व्रत, श्रुत आदि पदार्थों में जिसने श्रद्धा को प्राप्त किया है वह संक्षेप सम्यग्दृष्टि है। अभेद विवक्षा से सम्यग्दर्शन धारण करने वाली आत्मा ही सम्यग्दृष्टि कहलाती है।

निष्कर्ष—चरणानुयोग के ज्ञान से सूत्र सम्यक्त्व होता है, करणानुयोग के ज्ञान से बीज सम्यक्त्व होता है तथा द्रव्यानुयोग के ज्ञान से संक्षेप सम्यक्त्व होता है। यह संक्षेप से अर्थ है। यहाँ स्रग्धरा छन्द है॥१३॥

तथा च–

(स्रग्धरा)

यः श्रुत्वा द्वादशाङ्गीं कृतरुचिरथ तं विद्धि विस्तारदृष्टिं
संजातार्थात्कुतश्चित्प्रवचनवचनान्यतरेणार्थदृष्टिः ।
दृष्टिः साङ्गाङ्गबाह्यप्रवचनमवगाह्योत्थिता यावगाढा
कैवल्यालोकितार्थे रुचिरिह परमावादिगाढेति रुढा ॥१४॥

अन्वयः–अथ यः द्वादशाङ्गीं श्रुत्वा कृतरुचिः तं विस्तारदृष्टिं विद्धि, प्रवचनवचनानि अन्तरेण कुतश्चित् संजातार्थात् अर्थदृष्टिः, या दृष्टिः साङ्गाङ्गबाह्यप्रवचनं अवगाह्य उत्थिता (सा) अवगाढा, कैवल्यालोकितार्थे रुचिः परमावादिगाढा इति इह रूढा।

य इत्यादि। अथ पुनश्चाहो वा। अव्ययानामनेकार्थत्वात्। यः कश्चिद् भव्यः। द्वादशाङ्गीं द्वादशाङ्गानां समाहारो द्वादशाङ्गी ताम्। श्रुत्वा आकर्ण्य। कृतरुचिः कृता जाता रुचिः श्रद्धा यस्य सः।

उत्थानिका–और अब विस्तार, अर्थ, अवगाढ़ और परमावगाढ़ सम्यक्त्व–

अन्वयार्थ–(अथ) और **(यः)** जो **(द्वादशाङ्गीम्)** द्वादशांग को **(श्रुत्वा)** सुनकर **(कृत-रुचिः)** रुचि करने वाला है **(तम्)** उस आत्मा को **(विस्तारदृष्टिम्)** विस्तार सम्यग्दृष्टि **(विद्धि)** जानो, **(प्रवचन-वचनानि)** प्रवचन के उपदेश के **(अन्तरेण)** बिना **(कुतश्चित्)** किसी **(संजातार्थात्)** पदार्थ से उत्पन्न हुआ **(अर्थदृष्टिः)** अर्थ सम्यग्दर्शन है **(साङ्गाङ्ग-बाह्यप्रवचनम्)** अंग और अंग बाह्य रूप सहित आगम में **(अवगाह्य)** अवगाहन करके **(या दृष्टिः उत्थिता)** जो रुचि उत्पन्न हुई है। **(सा)** वह **(अवगाढा)** अवगाढ़ सम्यग्दर्शन है। **(कैवल्यालोकितार्थे)** कैवल्य से देखे गए पदार्थ में **(रुचिः)** श्रद्धा होना **(परमावादिगाढा)** परमावगाढ़ सम्यग्दर्शन है **(इति)** इस प्रकार **(इह रूढा)** इस प्रसंग में प्रसिद्धि है।

अर्थ–जो द्वादशांग को सुनकर श्रद्धान करता है उसे विस्तार सम्यग्दृष्टि जानो। प्रवचन के वचनों के बिना ही किसी पदार्थ के निमित्त से उत्पन्न रुचिवाला अर्थ सम्यग्दृष्टि है। जो सम्यग्दर्शन अंगों और अंग बाह्य प्रवचन में अवगाहन करके उत्पन्न होता है वह अवगाढ़ सम्यक्त्व है तथा केवलज्ञान से प्रकाशित पदार्थ में रुचि परमावगाढ़ सम्यक्त्व है। इस प्रकार प्रसिद्धि है।

टीकार्थ–७. विस्तार सम्यग्दर्शन–जो कोई भव्य द्वादशांग शास्त्रों को सुनकर श्रद्धा उत्पन्न करना है उसे विस्तार सम्यग्दृष्टि जानो। बारह अंग, आगम श्रुत का विस्तार सुनकर जो सम्यक्त्व

द्वादशांग सुन श्रद्धा करना वह है विस्तृत दृष्टि रही।
अंग बाह्य बिन सुन तदंश में रुचि हो सार्थक दृष्टि वही॥
मथन अंग का अंग बाह्य का दृष्टि वही 'अवगाढ़' रही।
पूर्ण ज्ञान में आगत में रुचि दृष्टि 'परम-अवगाढ़' वही॥१४॥

तमात्मानमित्यभेदविवक्षायां गुणो हि गुणीति। विस्तारदृष्टिं विस्तारेण जाता दृष्टिः सम्यक्त्वं यस्य स विस्तारदृष्टिस्तां विस्तारसम्यग्दृष्टिमित्यर्थः। विद्धि जानीहि हे भव्य!। 'विद ज्ञाने' इति लोट्। द्वादशाङ्ग-श्रुतविस्तरं श्रुत्वा यत्सम्यक्त्वं भवति तद्विस्तारं सम्यक्त्वं गीयत इत्यर्थः। प्रवचनवचनानि प्रवचनं द्वादशाङ्गं तस्य वचनं तथोक्तं तानि। अन्तरेण विनेत्यर्थः। कुतश्चित् संजातार्थात् कर्मविशिष्ट- ज्ञानावरणक्षयोपशमात् कस्मादप्यर्थज्ञानादित्यर्थः। अर्थदृष्टिः अर्थेन संजाता दृष्टि अर्थसम्यग्दृष्टि-रुच्यतेऽभेदविवक्षायामात्मैवेति। या काचित्। दृष्टिः श्रद्धा सम्यग्दर्शनं वा। साङ्गाङ्गबाह्यप्रवचनं अङ्गप्रविष्टाङ्गबाह्यप्रवचनेन सहितमिति। 'वा नीचः' इति सहस्य सः। अवगाह्य अवगाहनं कृत्वा सम्यग्विज्ञाय। उत्थिता उत्पन्ना। सा अवगाढा। द्वादशाङ्गधारिभिः श्रुतकेवलिभिःपूर्वाङ्गप्रकीर्णकानि निःशेषपरिज्ञातानि भवन्ति तेषां सम्यक्त्वमवगाढ-मित्युच्यते। अथवा सकलमोहनीयकर्मनाशादुत्पन्नं सम्यक्त्वमवगाढमुच्यते ज्ञानदृगावरणहतेरुत्पन्नं तु परमावगाढम्। यदुक्तं-''**देवावगाढमभवत्तव मोहघाताच्छ्रद्धानमावृतिहतेः परमावगाढम्। आद्ये चरित्रपरिपूर्तिरथोत्तरत्र विश्वावबोधविभुतासि ततोऽभिवंद्यः॥**'' उ० पु० ७६/५६४ कैवल्या-लोकितार्थे कैवल्यं केवलज्ञानं तेन आलोकिताः दृष्टा अर्थाः पदार्था यत्र तत्र। रुचिः श्रद्धा। परमावादिगाढा परमावगाढा इत्यर्थः। इति एवं प्रकारम्। इह सम्यक्त्वप्रसङ्गे। रूढा प्रसिद्धा आख्याता वा। केवलज्ञानेन पदार्थान् साक्षात् परिज्ञाय श्रद्धा परमावगाढा स्यादिति। स्रग्धरावृत्तम्॥१४॥

होता है वह विस्तार सम्यक्त्व कहा गया है, यह तात्पर्य है।

८. अर्थ सम्यग्दर्शन—प्रवचन द्वादशांग श्रुत को कहते हैं। उस श्रुत को सुने बिना ही किसी पदार्थ के ज्ञान से जो सम्यग्दर्शन होता है वह अर्थ सम्यग्दर्शन है। अभेद विवक्षा से उस आत्मा को अर्थ सम्यग्दृष्टि कहते हैं। यह ज्ञानावरण कर्म के विशिष्ट क्षयोपशम से होता है।

९. अवगाढ़ सम्यग्दर्शन—अंगबाह्य और अंगप्रविष्टश्रुत से सहित आगम को अच्छी तरह जानकर जो रुचि, श्रद्धान उत्पन्न होता है वह अवगाढ़ सम्यग्दर्शन है। द्वादशांग श्रुत को धारण करने वाले श्रुतकेवली मुनीश्वरों को पूर्व, अंग, प्रकीर्णक श्रुत का पूर्ण ज्ञान होता है, उनके सम्यक्त्व को अवगाढ़ सम्यक्त्व कहा जाता है। अथवा समस्त मोहनीय कर्म के नाश से उत्पन्न हुआ सम्यक्त्व अवगाढ़ कहा जाता है। तथा ज्ञानावरण और दर्शनावरण के नाश से उत्पन्न हुआ सम्यक्त्व परमावगाढ़ कहा जाता है। जैसा कि उत्तरपुराण में कहा है-''हे भगवन् आपके मोह का घात होने से जो श्रद्धान उत्पन्न हुआ है वह मोह कर्म के घात से है तथा आवरणों के अभाव से परमावगाढ़ सम्यक्त्व उत्पन्न हुआ है। प्रथम अवगाढ़ सम्यग्दर्शन होने पर चारित्र की पूर्ति हुई तथा बाद में ज्ञानावरण और दर्शनावरण के अभाव होने पर विश्व को जानने की विभुता उत्पन्न हुई इसलिए आप अभिवंद्यनीय हैं।

१०. परमावगाढ़ सम्यग्दर्शन—केवलज्ञान से देखे गए पदार्थों से जो आत्मा में रुचि उत्पन्न होती है वह परमावगाढ़ सम्यग्दर्शन है। अर्थात् केवलज्ञान से पदार्थों को प्रत्यक्ष जानकर वह श्रद्धा परमावगाढ़ हो जाती है। इस तरह सम्यक्त्व के प्रसंग में दस प्रकार के सम्यग्दर्शन कहे हैं। यहाँ स्रग्धरा छन्द है॥१४॥

अथ सम्यक्त्वस्य माहात्म्यमुद्योतयन्नाह–

(आर्या)

शमबोधवृत्ततपसां पाषाणस्येव गौरवं पुंसः।
पूज्यं महामणेरिव तदेव सम्यक्त्वसंयुक्तम् ॥१५॥

अन्वयः—पुंसः शमबोधवृत्ततपसां गौरवं पाषाणस्य इव (अस्ति), तदेव सम्यक्त्वसंयुक्तं महामणेः इव पूज्यं।

शमेत्यादि। पुंसः आत्मनः। शमबोधवृत्ततपसां शमः कषायाणामुपशमः, बोधो ज्ञानम्, वृत्तं चरित्रं तपश्च कष्टसहनम्। शमश्च बोधश्च व्रतं च तपश्च इतरेतरद्धन्द्ववृत्या शमबोधवृत्ततपांसि तेषामिति। गौरवं गुरुता महनीयता वा। पाषाणस्य उपलखण्डस्य। इव उपमार्थे। तदेव शमादीनामेव। सम्यक्त्वसंयुक्तं सम्यग्दर्शनेन सहितम्। महामणेः महांश्चासौ मणि र्महामणिस्तस्य। इव औपम्यार्थे। पूज्यं अनर्घ्यं। भवतीति शेषः इति संक्षेपान्वयार्थः। सम्यक्त्वेन विना शमेन किं तत्प्रयोजनापरिज्ञानात्। सम्यक्त्वेन विना ज्ञानं निरर्थकं स्वात्मरुचेरभावात्। अभव्या भव्यमिथ्यादृष्टयो वा बहुश्रुतज्ञतामादधाना अपि कर्मक्षयार्थं तदुपयोगं न

उत्थानिका—सम्यक्त्व की महिमा दिखाते हुए कहते हैं–

अन्वयार्थ—(पुंसः) पुरुष को **(शम-बोध-वृत्त-तपसाम्)** शम, ज्ञान, चारित्र और तप का **(गौरवम्)** गौरव **(पाषाणस्य इव)** पत्थर की तरह होता है, **(तदेव)** वही गौरव **(सम्यक्त्व संयुक्तम्)** सम्यक्त्व के साथ **(महामणेः)** महामणि की **(इव)** तरह **(पूज्यम्)** पूज्य हो जाता है।

अर्थ—पुरुष के शम, बोध, वृत्त, तप की गुरुता पाषाण की तरह होती है, वही गुरुता सम्यक्त्व सहित होने पर महामणि की तरह पूज्य हो जाती है।

टीकार्थ—कषायों का उपशम शम है, ज्ञान, चारित्र और कष्ट सहन रूप तप ये सभी आत्मा के लिए पाषाण खण्ड की तरह भारी हो जाते हैं और यही शम आदि सम्यक्त्व सहित होते हैं तो महामणि की तरह पूज्य, मूल्यवान हो जाते हैं। यहाँ गौरव शब्द के दो अर्थ हैं। मिथ्यात्व के साथ गुरुता, भारऔर सम्यक्त्व के साथ महनीयता पूज्यपन अर्थ लेना चाहिए।

सम्यग्दर्शन के बिना कषायों का उपशमन करने से क्या होगा ? जब यही नहीं मालूम कि कषायों के उपशमन का प्रयोजन क्या है ?

सम्यग्दर्शन के बिना ज्ञान निरर्थक है क्योंकि अपनी आत्मा की रुचि के बिना वह ज्ञान व्यर्थ है। अभव्य और मिथ्यादृष्टि जीव बहुत श्रुतज्ञान को धारण करके भी कर्मक्षय के लिए उस ज्ञान का

मन्द मन्दतम कषाय कर, धर बोध चरित खरतर तपना।
वृथा भार पाषाण खण्ड सम समदर्शन बिन सब सपना॥
समदर्शन से मंडित यदि हो सहज सधे अघ-विधि खपना।
मंजु-मंजुतम मणि-माणिक सम पूज्य बने, फिर 'शिव' अपना ॥१५॥

विदधति प्रत्युत भोगाभिलाषापूर्त्यर्थमेव तत एव मोक्षस्यानार्हा भवन्ति। अतः सम्यक्त्वमेव श्रेयः। तथैव सम्यक्त्वेन विना बहुतरक्रियानुष्ठानमपि पुण्यफलमात्रदायकं भवति। तत्फलेन पुनरपि विषयेषु भूरिकांक्षा जायते तेन पापमुपार्ज्य पुनरशुभां गतिमश्नुते। ततः सम्यक्त्वविषये हि मतिर्मुहुर्योज्या। परेषाम-सम्भावितमत्यद्भुतं तपश्चरन्तोऽपि मुनयो नवग्रैवेयकाहमिन्द्रमहर्द्धिं भजन्ते न चात्माह्लादकरं शश्वत्सुखं सम्यक्त्वेन विना तत्सुखप्रत्ययाभावात् ततः सिद्ध्यति पाषाणखण्डस्येव बहुभारक्लेशप्रदानेन शमादिकेन किमायाति? सम्यक्त्वमणिना विना सर्वेषाममूल्यत्वात्। अनादिकालीनमोहकिट्टकालिमाकलुषितोपल-शकलं विवेकज्ञानेन तदचिन्त्यमहनीयतामवबुध्य तद्गतकिट्टिमाद्युपशमेन सम्यगनुष्ठानमनुष्ठीय महतातपेन परिशुध्य सम्यक्त्वमणि-रवाप्यतामेवेति। यद्वा समुपलब्धसम्यक्त्वमणेर्मलमुपशाम्य विवेकबोधेन तस्य महत्त्वं प्रवर्ध्य सूक्ष्मवृत्या तपोनिकषस्निग्धतया बहुतरपार्श्वालङ्कृतभागेन परिस्फुरायमानस्य पूज्यतां प्रवर्धयेत् सुष्ठु रक्ष्यादित्यर्थः। यदुक्तम्-

---

उपयोग नहीं करते हैं, इसके विपरीत भोगों की पूर्ति के लिए ही उस ज्ञान को लगा देते हैं जिससे वे मोक्ष के अयोग्य ही रहते हैं। इसलिए सम्यग्दर्शन ही श्रेयस्कर है।

इसी तरह सम्यग्दर्शन के बिना बहुत-सी क्रिया और अनुष्ठान मात्र भी पुण्य बल देने वाले होते हैं। उस पुण्य के फल से फिर से विषयों में खूब आकांक्षा उत्पन्न हो जाती है जिससे पाप का उपार्जन करके पुनः जीव अशुभ गति को प्राप्त हो जाता है। इसलिए सम्यग्दर्शन के विषय में ही अपनी बुद्धि बार-बार लगाना चाहिए।

दूसरे लोग न कर पाएँ ऐसे असम्भव, आश्चर्यकारी तप को करते हुए भी मुनि नव ग्रैवेयक में अहमिन्द्र आदि की ऋद्धि को प्राप्त कर लेते हैं किन्तु आत्मा को आह्लाद उत्पन्न करने वाले शाश्वत सुख को सम्यक्त्व के बिना प्राप्त नहीं कर पाते हैं क्योंकि उस सुख के कारण का अभाव रहता है। इसलिए सिद्ध होता है कि पाषाण खण्ड के समान बहुत भार, क्लेश देने वाले इन शम आदि से क्या होगा ?

सम्यक्त्व मणि के बिना शम आदि सभी गुणों का कोई मूल्य नहीं है।

अनादिकालीन मोह की किट्ट-कालिमा से कलुषित पाषाण खण्ड रूप आत्मा की अचिन्त्य मूल्यता को जानकर विवेक ज्ञान से उसकी किट्ट-कालिमा आदि को दबाकर समीचीन विधिपूर्वक खूब ताप देकर शुद्ध करने से समीचीन (सम्यक्त्व) मणि की प्राप्ति होती है।

जैसे पाषाण से मणि की प्राप्ति होती है उसी तरह आत्मा में सम्यक्त्व की प्राप्ति करके आत्मा को शुद्ध बनाया जाता है।

अथवा यदि सम्यक्त्व की प्राप्ति है तो उसके दोषों को दूर करके विवेक ज्ञान से उसके महत्त्व को बढ़ाकर सूक्ष्म रूप से तप की कसौटी से जैसे मणि के पहलुओं को बनाकर उसे बहुमूल्य बनाया जाता है उसी तरह निर्मल सम्यक्त्व की विशुद्धि और बढ़ानी चाहिए तथा उसकी अच्छी तरह रक्षा करनी चाहिए। कहा भी है-

''**ज्ञानचारित्रहीनोऽपि जैनः पात्रायते तराम्। ज्ञानचारित्रयुक्तोऽपि न मिथ्यादृक्कदाचन। तस्माज्ज्ञानचारित्रतपसामाराधनात् प्राक् सम्यक्त्वस्याराधना-राध्येति भावः।**'' आर्याच्छन्दः ॥१५॥

अथ सम्यक्त्वाराधना क्लेशकरी नेत्यावेदयति–

(आर्या)

मिथ्यात्वातङ्कवतो हिताहितप्राप्त्यनाप्तिमुग्धस्य।
बालस्येव तवेयं सुकुमारैव क्रिया क्रियते ॥१६॥

अन्वयः—मिथ्यात्वातङ्कवतः हिताहितप्राप्त्यनाप्तिमुग्धस्य बालस्य इव तव इयं सुकुमारा एव क्रिया क्रियते।

मिथ्यात्वेत्यादि। मिथ्यात्वातङ्कवतः। मिथ्यात्वं यथार्थानवबोधस्तदेव आतङ्कः सद्यः प्राणहरो व्याधिः भयङ्करो वा तदस्यास्तीति सः। तदस्यास्त्यस्मिन्निति मतुः इति मतोर्मकारस्य 'ममोङ्झयो मतो र्वोऽयवादेः' वकारः। मिथ्यात्वातङ्कवानिति। तस्य मिथ्यात्वरोगयुक्तस्येत्यर्थः। पुनश्च कथंभूतस्य? हिताहितप्राप्त्य-नाप्तिमुग्धस्य। हितं सुखं अहितं दुःखमधर्मो वा। तयोश्च क्रमशः प्राप्तिश्च अनाप्तिश्च प्राप्त्यनाप्ती तत्र

''ज्ञान, चारित्र से रहित भी सम्यग्दृष्टि जैन पात्रता को पाता है किन्तु ज्ञान, चारित्र से सहित मिथ्यादृष्टि कुछ भी पात्रता को नहीं पाता है।'' इसलिए ज्ञान, चारित्र और तप की आराधना करने से पहले सम्यग्दर्शन की आराधना करनी चाहिए। यहाँ आर्या छन्द है ॥१५॥

उत्थानिका—सम्यक्त्व की आराधना क्लेशदायक नहीं है, यह कहते हैं–

अन्वयार्थ—(मिथ्यात्वा-तङ्क-वतः) मिथ्यात्व रोग से ग्रस्त **(हिताहित-प्राप्त्यनाप्ति-मुग्धस्य)** हित की प्राप्ति और अहित के त्याग में मूढ़ **(बालस्य)** बालक की **(इव)** तरह **(तव)** आपकी **(इयं)** यह सम्यक्त्वाराधना रूप **(सुकुमारा एव)** सुकोमल ही **(क्रिया)** चिकित्सा **(क्रियते)** की जाती है।

अर्थ—मिथ्यात्वरूपी रोग से सहित तथा हित, अहित की प्राप्ति और त्याग में मुग्ध बालक की तरह तुम्हारी सुकुमार (सरल) क्रिया की जाती है।

टीकार्थ—यथार्थ पदार्थ का ज्ञान नहीं होना मिथ्यात्व है। वह मिथ्यात्व ही शीघ्र प्राणों को हरण करने वाली व्याधि अथवा भयंकर चीज है। इसलिए मिथ्यात्व रोग से सहित तथा हित, सुख की प्राप्ति व अहित, दुःख, अधर्म के ग्रहण में मूढ़ हुए बालक की तरह आपके लिए सुख से करने

किसमें मम, हित अहित निहित है तुझको यह ना विदित रहा।
हुआ हिताहित लाभ हानि ना मोह-रोग से व्यथित रहा॥
क्लेश बिना शिशु को जननी ज्यों शिवपथ परिचित करा रहे।
कोमल समकित संस्कारों से हम संस्कारित करा रहे॥१६॥

मुग्धस्य मूढस्येति। हितस्य प्राप्तौ अहितस्यानाप्तौ विज्ञानरहितस्येत्यर्थः। बालस्य बालकस्य। इव उपमार्थे। तव भवतः प्रागुक्तविशेषणविशिष्टस्य। सुकुमारा कोमलाङ्गी सुखेन कर्तुं योग्या। इव उपमार्थे। क्रिया आचरणं संस्कारो वा। क्रियते विधीयते अग्रे मया प्रदर्श्यत इत्यर्थः। 'डुकृञ् करणे' इति धोः कर्मणि लट्। अथवा सम्यक्त्वरहितस्य शमबोधवृत्ततपोयुक्तस्य तवेयं क्रिया बालस्येव सुकुमारा विधीयते येन मिथ्यात्वातङ्कः न वशीक्रियते इति पूर्वकारिका सम्बन्धेनार्थः श्रीगुरोरुपदेशादिति। आर्याच्छन्दः॥१६॥

तत्सुकुमारा क्रिया कथंभूतेति कथयति–

(आर्या)

विषयविषमाशनोत्थित - मोहज्वरजनिततीव्रतृष्णस्य।
निःशक्तिकस्य भवतः प्रायः पेयाद्युपक्रमः श्रेयान् ॥१७॥

अन्वयः—निःशक्तिकस्य विषयविषमाशनोत्थितमोहज्वरजनिततीव्रतृष्णस्य भवतः प्रायः पेयाद्युपक्रमः श्रेयान्।

विषयेत्यादि। निःशक्तिकस्य शक्त्या निष्क्रान्तो निःशक्तिः। 'इवे प्रतिकृतौ कः' इत्यनेन निःशक्तिः इवायं निःशक्तिकः। तस्य शक्ति-विकलस्येत्यर्थः। पुनश्च कथंभूतस्य? विषयविषमाशनोत्थित-मोहज्वर-

---

योग्य कोमलांगी क्रिया, आचरण अथवा संस्कार मेरे (गुणभद्रदेव) द्वारा आगे दिखाया जाता है।

अथवा श्रीगुरु के उपदेश से इस श्लोक का सम्बन्ध पूर्व के श्लोक से इस तरह करना चाहिए कि–शम, बोध, वृत्त और तप से सहित परन्तु सम्यग्दर्शन से रहित आपके लिए यह सम्यक्त्वाराधना की क्रिया बालक की तरह कोमलता के साथ की जाती है जिससे आतंक को वश में कर लिया जाये और वह मिथ्यात्व पुनः आपको वश में न कर सके। यहाँ आर्या छन्द है ॥१६॥

उत्थानिका—वह सुकुमार क्रिया किस प्रकार की है, सो कहते हैं–

अन्वयार्थ–(निःशक्तिकस्य) शक्ति रहित और **(विषय-विषमाशनोत्थित-मोह-ज्वर-जनित-तीव्र तृष्णस्य)** विषयों के विषम भोजन के कारण उत्पन्न हुए मोहरूपी ज्वर के निमित्त से तीव्र तृष्णा सहित **(भवतः)** आपको **(प्रायः)** प्रायः करके **(पेयाद्युपक्रमः)** पेय आदि से प्रतिकार करना **(श्रेयान्)** कल्याणकारी हैं।

अर्थ—विषयरूपी विषम भोजन से उत्पन्न हुए मोहज्वर के कारण तीव्र प्यास वाले, शक्ति रहित आपके लिए प्रायः पेय पदार्थ का उपक्रम ही श्रेष्ठ है।

टीकार्थ—प्रकृति विरुद्ध होने से अथवा अति मात्रा में सेवन करने से भोजन जैसे विषम हो

विषम विषयमय अशन उड़ाया तुमने कितना पता नहीं।
मोह महाज्वर तभी चढ़ा है तृष्णा तुमको सता रही॥
अणुव्रत लेना निःशंकित तुमको समयोचित सार यही।
प्रायः पाचक पथ्य पेय से प्रारंभिक उपचार सही॥१७॥

जनिततीव्रतृष्णस्य। येषु सक्ताः प्राणिनो विषीदन्ति दुःखीभवन्ति ते विषयाः शब्दादयः कथ्यन्ते। विषया एव विषमाशनं प्रकृतिविरुद्धत्वादतिसेवनाद्वा। तेनोत्थितः आयातः मोहरूपो ज्वरो व्याधिस्तस्माज्जनिता तीव्रतृष्णा अतीवाकांक्षा यस्य स तस्य मिथ्यात्वानन्तानुबन्धिप्रभृतिमोहज्वरजीर्णस्येति। भवतः भव्यजनस्य। प्रायः बाहुल्यार्थेऽव्ययपदम्। पेयाद्युपक्रमः पेयः आदौ येषां रसादिमृदुसुपाच्यपानानां तेषामुपक्रम उपचारस्तथोक्तः। श्रेयान् सुखकरो हितकरः श्रेष्ठोऽतिशयेन प्रशस्यो वा। 'प्रशस्यस्य श्रः' इत्यनेनेयस्। यथा हि रोगी प्रभूतकालायातज्वराविष्टो निःशक्तिकोऽपि क्षुत्पिपासाजनितवेदनातो बलप्रद-भोजनं भोक्तुमिच्छति तथापि निपुणवैद्यो दुर्बलयकृतप्लीहाकारणादिकज्ञः तच्छक्तिमवेक्ष्य शनैः शनैः स्वल्पं स्वल्पं पानादि-क्रमेणोपचारमारभते ''न भैषज्यमातुरेच्छानुवर्ती'' इति न्यायमनुसर्त्य तथा हि कारुण्य-वानाचार्योऽनादि-संसारायात-विषयतृष्णातृषितस्य मिथ्यात्वादिवश्यस्य धर्मे मतिं सदुपदेशात् योजयति। आर्याच्छन्दः॥१७॥

''धर्मः सर्वसुखाकरो हितकरः'' इति प्ररूपयन्नाह–

(आर्या)

सुखितस्य दुःखितस्य च संसारे धर्म एव तव कार्यः।
सुखितस्य तदभिवृद्ध्यै दुःखभुजस्तदुपघाताय ॥१८॥

जाता है उसी तरह आपको विषयों के सेवन करने से ये विषय भी विषम हो गए हैं। जैसे विषम भोजन से ज्वर उत्पन्न हो जाता है उसी तरह विषयसेवन से मोह उत्पन्न हुआ है। जैसे ज्वर उत्पन्न हो जाने से खूब प्यास लगती है उसी तरह मोह के कारण विषयों की तीव्र आकांक्षा बढ़ी हुई है। इस तरह हे भव्यात्मन्! तुम्हारी आत्मा मिथ्यात्व, अनन्तानुबन्धी आदि मोह के कारण शक्ति रहित निर्वीर्य हो गई है। ऐसी स्थिति में जैसे विषमज्वर से पीड़ित रोगी के लिए रस आदि नरम और सुपाच्य पेय पिलाकर उसका उपचार किया जाता है उसी प्रकार आपके लिए हितकर उपक्रम यहाँ किया जा रहा है। जैसे रोगी बहुत समय से आए ज्वर से ग्रसित होने से शक्ति रहित होकर भी क्षुधा, पिपासा से उत्पन्न वेदना के कारण शक्तिप्रद भोजन करने की इच्छा करता है फिर भी निपुण, कुशल वैद्य जो यकृत, प्लीहा आदि कारणों की दुर्बलता को जानता है वह रोगी की शक्ति को देखकर धीरे-धीरे, थोड़ा-थोड़ा पेय आदि पदार्थ पिलाकर क्रम से उपचार प्रारम्भ करता है और इस न्याय को जानता है कि कभी भी ''औषधि रोगी की इच्छा के अनुसार नहीं दी जाती है।'' इसी प्रकार करुणावान् आचार्य सदुपदेश देकर अनादि संसार से चले आए विषय तृष्णा से तृषित और मिथ्यात्व आदि के वशीभूत आत्मा की बुद्धि धर्म में लगाते हैं। यहाँ आर्या छन्द है ॥१७॥

उत्थानिका–''धर्म सभी के लिए सुखकर एवं हितकर है'', यह निरूपण करते हुए कहते हैं–

सुखमय जीवन जीते हो या दुखमय जीवन बीत रहा।
धर्म एक ही शरण जगत् में आगम का यह गीत रहा॥
सुखमय जीवन यदि है मानो धर्म उसे औ पुष्ट करे।
दुखमय जीवन बीत रहा यदि धर्म उसे झट नष्ट करे॥१८॥

अन्वयः—संसारे तव सुखितस्य च दुःखितस्य धर्म एव कार्यः, सुखितस्य तद् अभिवृद्ध्यै दुःखभुजः तद् उपघाताय।

सुखितस्येत्यादि। संसारे चातुर्गतिके। तव भवतः। सुखितस्य सुखमस्य संजातमिति सुखितं इतच् प्रत्ययः। च समुच्चयार्थे। दुःखितस्य दुःखमस्य संजातमिति दुःखितं इतच् प्रत्ययात् तस्य। धर्मः अहिंसालक्षणः। पापविरति धर्मः। यद्वा ''**सद्दृष्टिज्ञानवृत्तानि धर्मं धर्मेश्वरा विदुः**'' इति लाक्षणिको धर्मः। अथवा ''**चारित्तं खलु धम्मो**''। ''**हिंसारहिए धम्मे**'' इति वा।

यद्वा–

''धम्मो वत्थुसहावो खमादिभवो य दसविहो धम्मो।
रयणत्तयं च धम्मो जीवाणं रक्खणं धम्मो॥''

इति गाथाकथितलक्षणो धर्मः। एव निश्चयार्थे। कार्यः कर्तुं योग्यो विधेय इत्यर्थः। किं कारणमित्याह–सुखितस्य सुखमनुभवतः। तद् तस्य सुखस्य। अभिवृद्ध्यै स्थिरतया सुखप्राप्तय इत्यर्थः। दुःखभुजः। दुःखं भुङ्क्ते इति दुःखभुक् तस्य दुःखमनुभवतः। तद् तस्य दुःखस्य। उपघाताय विनाशाय। भवतीति शेषः। पुरुषस्य धनार्जनवदिति। आर्याच्छन्दः॥१८॥

अन्वयार्थ—(संसारे) संसार में **(तव)** तुझे चाहे **(सुखितस्य)** सुखी हो **(च)** या **(दुःखितस्य)** दुःखी हो **(धर्म एव)** धर्म ही **(कार्यः)** करना चाहिए। वह धर्म **(सुखितस्य)** सुखी के **(तद् अभिवृद्ध्यै)** सुख की वृद्धि के लिए और **(दुःखभुजः)** दुःखी के **(तद् उपघाताय)** दुःख के नाश के लिए होता है।

अर्थ—तुम सुखी रहो अथवा दुःखी रहो, संसार में तुम्हारे लिए धर्म ही करने योग्य है। वह सुखी के सुख की वृद्धि के लिए तथा दुःखी के दुःख के नाश के लिए होता है।

टीकार्थ—इस चतुर्गति रूप संसार में तुम सुखी हो या दुःखी हो, तुम्हें धर्म ही करना योग्य है। धर्म का लक्षण अहिंसा है। पाप से दूर होना धर्म है।

अथवा ''सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र को तीर्थंकरों ने धर्म कहा है।'' (रत्नकरण्डक श्रावकाचार) अथवा चारित्र ही धर्म है। (प्रवचनसार) हिंसा रहित धर्म है। (अष्टपाहुड) कहा भी है– ''वस्तु का स्वभाव धर्म है। क्षमादि के भेद से दस प्रकार का धर्म है। रत्नत्रय धर्म है और जीवों की रक्षा करना धर्म है।''(कार्तिकेयानुप्रेक्षा)

इस गाथा में कहे धर्म को ही निश्चय से करना चाहिए। क्योंकि वह धर्म सुखी जीव को स्थिरता से सदैव सुख प्राप्ति के लिए होता है और दुःखी जीव के दुःख का नाश करने के लिए होता है।

यह धर्म पुरुष को धन अर्जन की तरह सदैव सुखकर, हितकर है। यदि धन है तो भी धन से धन कमाने से उस धन की वृद्धि होती है और यदि धन नहीं है या कर्ज है तो उस कर्ज का नाश या गरीबी का नाश धन कमाने से ही होगा, इसी तरह धर्म के विषय में जानना। यहाँ आर्या छन्द है ॥१८॥

उत्थानिका—अब यहाँ कहते हैं कि–धर्म की रक्षा करके विषय–सुख का सेवन करना चाहिए–

इदानीं धर्मं संरक्ष्य विषयसुखं सेव्यतामित्याह–

(आर्या)

धर्मारामतरूणां फलानि सर्वेन्द्रियार्थसौख्यानि।
संरक्ष्य तांस्ततस्तान्युच्चिनु यैस्तैरुपायैस्त्वम् ॥१९॥

अन्वयः–सर्वेन्द्रियार्थसौख्यानि धर्मारामतरूणां फलानि ततः तान् यैः तैः उपायैः संरक्ष्य त्वं तानि उच्चिनु।

धर्मेत्यादि। सर्वेन्द्रियार्थसौख्यानि सर्वाणि तानि पञ्चापि इन्द्रियाणि तेषामर्थाः विषयास्तेषां सौख्यानि धनवैभवसुरूपपूर्णाङ्गबुद्धिकुलपरिवारनीरोगताज्ञा–बलैश्वर्यादीनि। धर्मारामतरूणां धर्म एव आरामः उद्यानः तस्य तरवः सद्दर्शनोत्तम–क्षमापापविरतिरूपादिवृक्षास्तेषाम्। फलानि परिणामानि। ततः तस्मात् कारणात्। तान् धर्मारामतरून्। यैः कैश्चित्तैः प्रसिद्धैरुपायैः। संरक्ष्य संपाल्य। संरक्ष इति वा पाठः। त्वं हे भव्य! तानि पञ्चेन्द्रियसुखानि। उच्चिनु अनुभव गृहाण वा। 'चिञ् चयने' इति धातोर्लोट् म॰ पु॰ उदुपसर्गपूर्वकम्। अणुव्रतादिधारणं धर्मस्योपायः। भोगोपभोगवस्तूनि हृषीकसुखस्योपायाः इत्यर्थः। उत्कृष्टविषयसुखं प्रतिपित्सवो जनाः स्वात्मोद्याने प्राक् शुभभावेनोत्तमधर्मबीजमुप्त्वा कष्टसहनजलेन शमसिंचनपुरस्सरं

अन्वयार्थ–(सर्वेन्द्रियार्थ–सौख्यानि) सभी इन्द्रियों के विषय सुख **(धर्माराम-तरूणाम्)** धर्म–बगीचे के वृक्षों के **(फलानि)** फल हैं। **(ततः)** इसलिए **(तान्)** उन वृक्षों को **(यैः तैः उपायैः)** जिन किन्हीं उपायों से **(संरक्ष्य)** संरक्षित करके **(त्वम्)** तुम **(तानि)** उन फलों को **(उच्चिनु)** चुनो।

अर्थ–सभी इन्द्रिय के विषय सुख धर्म रूपी बगीचे में लगे वृक्षों के फल ही हैं। इसलिए उन वृक्षों की रक्षा करके तुम उन फलों का जिस–किसी उपाय से संचय करो।

टीकार्थ–धन, वैभव, सुन्दर रूप, सम्पूर्ण अच्छे अंग वाला शरीर, अच्छी बुद्धि, उत्कृष्ट कुल, अच्छा परिवार, नीरोगता, आज्ञा, बल, ऐश्वर्य आदि उत्तम क्षमा, पाप विरतिरूप व्रत आदि सभी सुख धर्म रूप वृक्षों के फल हैं। इसलिए धर्म–उद्यान में लगे सम्यग्दर्शन आदि वृक्षों की अच्छी तरह सुरक्षा करो, उनका अच्छी तरह पालन करो। हे भव्य! इनकी रक्षा करके पंचेन्द्रिय सुखों का अनुभव करो। जिस किसी भी उपाय से यह करो। अणुव्रत आदि को धारण करना धर्म का उपाय है। भोग–उपभोग की वस्तुएँ इन्द्रिय सुख के उपाय हैं। उत्कृष्ट विषयसुख की अभिलाषा करने वाले मनुष्य पहले अपने आत्म–उद्यान में शुभ भावों से उत्तमधर्म के बीजों का वपन करें। कष्ट सहन करने रूप जल से

मनवांछित इन्द्रिय विषयों के भाँति-भाँति के सुख सारे।
धर्म रूप वर नन्दन वन के तरुओं के रस फल प्यारे॥
कुछ भी कर तू वृष तरुओं का किसी तरह रक्षण करना।
प्राप्त फलों को संचय कर कर सुचिर काल भक्षण करना ॥१९॥

कषायपापपशुभिः संरक्ष्य धैर्येण मिष्टपुण्यफलं भुञ्जन्तामिति। आर्याच्छन्दः॥१९॥

अधुना युक्त्या धर्मे योजयन्नाह–

(आर्या)

धर्मः सुखस्य हेतु र्हेतुर्न विराधकः स्वकार्यस्य।
तस्मात्सुखभङ्गभिया मा भू धर्मस्य विमुखस्त्वम् ॥२०॥

अन्वयः–सुखस्य हेतुः धर्मः, हेतुः (यस्मात्) स्वकार्यस्य विराधकः न (स्यात्) तस्मात् त्वं सुखभङ्गभिया धर्मस्य विमुखः मा भूः।

धर्म इत्यादि। सुखस्य निःश्रेयसस्याभ्युदयरूपस्य वा। हेतुः कारणम्। धर्मः पूर्वोक्तस्वरूपः। यस्मादिति योज्यम्। 'यत्तदो र्नित्यसम्बन्धात्'। हेतुः स्वकार्यस्य सामग्री-जनकस्य। विराधकः नाशकरः। न नास्ति। तस्मात् कारणादिति। त्वं हे भव्य! सुखभङ्गभिया सुखस्य दृश्यमानलौकिकवैभवस्य भङ्गः

शमभावों का सिंचन करें। फिर कषाय और पापरूपी पशुओं से उस नन्हें पौधे की सुरक्षा करें। तब थोड़ा धैर्य धारण करके इष्ट पुण्य फल को भोगें। यहाँ आर्या छन्द है।

विशेष–इससे स्पष्ट होता है कि वर्तमान में जो कुछ भी सुख तुम्हें प्राप्त है वह पहले लगाए गये धर्म वृक्ष का ही फल है। अब यदि पुनः उस वृक्ष की रक्षा और वृद्धि नहीं करोगे तो वह पुण्य वृक्ष जल्दी ही सूख जायेगा और आगे के लिए कंगाल हो जाओगे। इसलिए धर्म करने हेतु थोड़ा कष्ट भी सहन करो ॥१९॥

उत्थानिका–अब युक्ति से धर्म में लगाते हुए कहते हैं–

अन्वयार्थ–**(सुखस्य)** सुख का **(हेतुः)** कारण **(धर्मः)** धर्म है। चूँकि **(हेतुः)** हेतु **(स्वकार्यस्य)** अपने कार्य का **(विराधकः)** नाश करने वाला **(न)** नहीं होता है **(तस्मात्)** इसलिए **(त्वम्)** तुम **(सुखभङ्ग-भिया)** सुख भङ्ग होने के डर से **(धर्मस्य)** धर्म के **(विमुखः)** विपरीत **(मा भूः)** मत होओ।

अर्थ–सुख का कारण धर्म है। हेतु कभी अपने कार्य का विनाश नहीं करता है। इसलिए तुम सुख का भङ्ग होने के भय से धर्म से विमुख मत होओ।

टीकार्थ–पहले बताया हुआ धर्म निःश्रेयस् (मोक्ष) और अभ्युदय (स्वर्गादि) सुख का कारण है। हेतु कभी भी कारण सामग्री से उत्पन्न अपने कार्य का विराधक नहीं होता है। इसलिए हे भव्य! तुम दिखाई देने वाले लौकिक वैभव के विनाश के भय से शुभ भाव और शुद्ध भाव वाले धर्म के

भव्य भद्र सुन धर्म एक ही अनुपम सुख का साधक है।
साधक जो हो, स्वीय कार्य का नहीं विराधक बाधक है॥
मन में भय हो, यदि हो सकता इस सुख का अवसान कहीं।
किन्तु स्वप्न में भी नहिं होना धर्म विमुख धर ध्यान सही ॥२० ॥

विनाशस्तस्य भी र्भयो यस्य स तथोक्तः तया सुखविनाशभयेनेत्यर्थः। धर्मस्य शुभशुद्धभावरूपस्य। विमुखः प्रत्यनीको विरुद्धो वा। मा भूः 'माङिलुङ्' इत्यनेन मा भूयाः इत्यर्थः। यदि भो भव्य! त्वं सदाकालमनवरतं सुखं वाञ्छति तर्हि धर्ममेवाचर। यतश्च पुण्यधर्ममनुष्ठीयमाने पापाधर्मरसप्रकर्षः स्वयमेवाभिभूयते। ये केचित् पुराकाले रामबलदेवनारायणप्रतिनारायणकामदेवाहमिन्द्रेन्द्रविद्याधरश्रेष्ठिराजसामन्ततीर्थकरादयो जाता ते सर्वे तद्भवात्पूर्वभवे धर्मनिष्ठा बभूवुः। लोकेऽस्मिन्नपि ये सुखेन कालं गमयन्ति तेऽपि पूर्वकृतधर्मप्रभावादेवमुपभुञ्जते। यदि पुण्यधर्मे समाचरितेऽपि अधुना दुःखस्य विनाशो न जायते तथापि धर्मस्य पराङ्मुखो न भवेत्सुखप्राप्तेरन्यकारणाभावात्। न च कारणं विना किमपि कार्यं समुत्पद्यते। निम्बवपने रसाला न विलसन्ति। यस्य कार्यस्य यत्कारणं भवति तत्कारणेन विना तत्कार्यमपि न सम्भवति। ततः इहामुत्रसुखार्थी पुण्योपचये पराङ्मुखो मा भवेदित्यर्थः। आर्याच्छन्दः ॥२०॥

अथ धर्मो बीजवद्रक्ष्यतामित्युपदिशति–

(आर्या)

धर्मादवाप्तविभवो धर्मं प्रतिपाल्य भोगमनुभवतु।
बीजादवाप्तधान्यः कृषीबलस्तस्य बीजमिव ॥२१॥

विपरीत मत चलो। यदि हे भव्य! तुम सदैव सुख की इच्छा करते हो तो फिर धर्म का आचरण करो। क्योंकि पुण्य धर्म का अनुष्ठान करने पर पाप के रस की प्रकर्षता अपने आप कम हो जाती है। प्राचीन काल में जो कोई राम, बलदेव, नारायण, प्रतिनारायण, कामदेव, अहमिन्द्र, इन्द्र, विद्याधर, श्रेष्ठी, राजा, सामन्त, तीर्थंकर आदि महापुरुष हुए हैं, वे सभी उस भव से पूर्व भव में धर्मनिष्ठ थे। वर्तमान में भी जो जीव सुख का समय बिताते हैं, वे भी पहले किये हुए धर्म के प्रभाव से ही सुख भोगते हैं। यदि पुण्य धर्म का आचरण करने पर भी आज दुःख का विनाश नहीं होता है, तो भी धर्म के विपरीत आचरण मत करो क्योंकि सुख की प्राप्ति के लिए अन्य कोई दूसरा कारण नहीं है। कारण के बिना कोई भी कार्य नहीं होता है। नीम को बोने पर आम नहीं लगते हैं। जिस कार्य का जो कारण होता है, उस कारण के बिना वह कार्य उत्पन्न नहीं होता है। इसलिए इसलोक और परलोक में सुख को चाहने वाले को पुण्य का संचय करने से पराङ्मुख नहीं होना चाहिए। यहाँ आर्या छन्द है ॥२०॥

उत्थानिका–बीज की रक्षा के समान धर्म की रक्षा करना चाहिए, यह उपदेश देते हैं–

अन्वयार्थ–(कृषीबलः) किसान **(बीजात्)** बीज से **(अवाप्तधान्यः)** धान्य प्राप्त करता

धर्म पालते फलतः मिलता अतुल विभव भरपूर सही।
भोग-भोगते उनका भोगो किन्तु धर्म को भूल नहीं॥
प्रथम बीज बोकर कृषि करता कृषक विपुल फल पाता है।
किन्तु पृथक् रख बीज सुरक्षित पुनः शेष फल खाता है ॥२१॥

अन्वयः—कृषीबलः बीजात् अवाप्तधान्यः तस्य बीजं इव धर्मात् अवाप्त-विभवः धर्मं प्रतिपाल्य भोगं अनुभवतु।

धर्मादित्यादि। कृषीबलः कृषिजीवी कृषिक इत्यर्थः। किं विशिष्टः? बीजात् अवाप्तधान्यः बीजवपनानन्तरसंप्राप्तसस्यः। तस्य अवाप्तधान्यस्य। बीजं मूल-कारणम्। इव औपम्यार्थे। धर्मात् शुभशुद्धभावोपचितपुण्यात्। अवाप्तविभवः अवाप्तः प्राप्तः विभवः धनसम्पदादिः यस्य सः। धर्मः प्रोक्तस्तम्। प्रतिपाल्य पुनरपि पालनं रक्षणं कृत्वा। भोगं पञ्चेन्द्रियविषयसम्पादकवस्तु भोगस्तम्। अनुभवतु भुञ्जीत। अनुपूर्वकं 'भू सत्तायां' इति धो लोंट्। अत्र सद्वेद्यशुभायुर्नामगोत्रलक्षणविभवो धर्मस्य फलत्वेन स्वीकृतस्तेन पुण्यकर्मैव धर्म इत्याख्यातम्। न चेदमसिद्धं धर्मानुराग-जनकत्वात् लोकशास्त्रव्यवहारे व्यावर्णनत्वाच्च। लोकशास्त्रे तु 'स्याद्धर्ममस्त्रियां पुण्यश्रेयसी सुकृतं वृषः' इत्यभिधानात्। व्यवहारेऽपि ''यतोऽभ्युदयनिःश्रेयसार्थ-संसिद्धिरञ्जसा। सद्धर्मस्तन्निबद्धा या सा सद्धर्मकथा स्मृता।'' इति श्री जिनसेनार्यः। धर्मस्येतद्माहात्म्यमिति धर्मानुरागजनकं पुण्यमेव धर्मः। तद्धर्मादानुषङ्गिकफलत्वेन संप्राप्तविभवः कोऽपि भव्यः कृषीबल इव धर्मबीजं संरक्ष्य भोगधान्यमनुभवतु। धर्मेण सह कामार्थपुरुषार्थौ भवतस्तेन विना तावुभौ वासनापापमात्रत्वात्। यतश्चोक्तम्—

हुआ **(तस्य)** धान्य का भोग बीज की रक्षा करके करता है इसी तरह **(बीजम् इव)** बीज के समान **(धर्मात्)** धर्म से **(अवाप्तविभवः)** वैभव प्राप्त करते हुए तुम **(धर्मम्)** धर्म का **(प्रतिपाल्य)** पालन करके **(भोगम्)** भोग का **(अनुभवतु)** अनुभव करो।

अर्थ—जैसे किसान बीज से धान्य प्राप्त करता है और प्राप्त धान्य में से बीज की रक्षा करता है उसी तरह धर्म से वैभव की प्राप्ति होती है फिर उसी धर्म का पालन करके भोग का अनुभव करो।

टीकार्थ—शुभ, शुद्ध भाव से संचित हुए पुण्य से धन, सम्पदा आदि की प्राप्ति होती है। फिर उसी धर्म का पालन, रक्षण करके पञ्चेन्द्रिय विषय की सम्पादक भोग वस्तु का अनुभव करो। यहाँ साता वेदनीय, शुभ आयु, शुभ नाम, शुभगोत्र लक्षण रूप वैभव को धर्म के फल रूप से स्वीकृत किया गया है और पुण्य कर्म को ही धर्म कहा गया है। पुण्य को धर्म कहना असिद्ध भी नहीं है क्योंकि यह पुण्य धर्मानुराग को उत्पन्न करता है और लोकशास्त्र तथा व्यवहार में धर्म को पुण्य ही कहा जाता है। लोकशास्त्र **अमरकोश** में कहा है कि–''पुण्य, श्रेय, सुकृत, वृष ये धर्म के नाम हैं।'' व्यवहार में भी आचार्य जिनसेन ने कहा है–''जिससे अभ्युदय और निःश्रेयस् अर्थ की निश्चित ही सिद्धि हो वह सद्धर्म है। उस धर्म से निबद्ध जो कथा है वह सद्धर्म कथा कही जाती है।'' ''धर्म की यह महिमा है।'' इस प्रकार धर्मानुराग को उत्पन्न करने वाले पुण्य को ही धर्म कहते हैं। उस धर्म का आनुषंगिक फल वैभव की प्राप्ति है। वह भव्य किसान की तरह धर्मरूपी बीज की रक्षा करके प्राप्त धान्य का भोग करे। धर्म के साथ काम और अर्थ पुरुषार्थ होता है। धर्म के बिना काम और अर्थ पुरुषार्थ वासना और पापमात्र हैं।

''त्रिवर्गसंसाधनमन्तरेण पशोरिवायु विंफलं नरस्य।
तत्रापि धर्मं प्रवरं वदन्ति न तद्विना यद्भवतोऽर्थकामौ॥''

ततोऽत्र प्रकारान्तरेण धर्मपुरुषार्थेन सह कामार्थपुरुषार्थौ कार्यौ इत्युक्तं पुरुषार्थव्यपदेशस्यान्यथाऽ-घटनात्। आर्याच्छन्दः ॥२१॥

अथ स विभवोऽवाञ्छितवृत्त्या सम्पद्यत इत्याह–

(अनुष्टुप्)

संकल्प्यं कल्पवृक्षस्य चिन्त्यं चिन्तामणेरपि।
असंकल्प्यमसंचिन्त्यं फलं धर्मादवाप्यते ॥२२॥

अन्वयः—कल्पवृक्षस्य (फलं) संकल्प्यं अपि चिन्तामणेः चिन्त्यं धर्मात् फलं असंकल्प्यं असंचिन्त्यं अवाप्यते।

संकल्प्यमित्यादि। कल्पवृक्षस्य। वाञ्छापूर्तिकल्पः कल्पवृक्षः भोगभूमिस्वर्गेषु प्रतिष्ठतः पृथ्वी-कायिकः स्यात्। यदुक्तमार्षे–''न वनस्पतयोऽप्येते नैव दिव्यैरधिष्ठिताः। केवलं पृथ्वीसारास्तन्मयत्व-

---

कहा भी है–''धर्म, अर्थ, काम पुरुषार्थ के बिना मनुष्य की आयु पशु के समान निष्फल है। उन तीनों में भी धर्म पुरुषार्थ को ही श्रेष्ठ कहा जाता है क्योंकि उस धर्म के बिना अर्थ और काम पुरुषार्थ नहीं होते हैं।''

इसलिए इस श्लोक में प्रकारान्तर से धर्म पुरुषार्थ के साथ काम और अर्थ पुरुषार्थ करना चाहिए, यह कहा है; क्योंकि 'पुरुषार्थ' यह नाम अन्यथा घटित नहीं होगा। यहाँ आर्या छन्द हैं ॥२१॥

उत्थानिका—वह वैभव बिना इच्छा किए उन्हें प्राप्त होता है, यह कहते हैं–

अन्वयार्थ–(कल्पवृक्षस्य) कल्पवृक्ष का फल **(संकल्प्यम्)** संकल्प योग्य **(अपि)** और **(चिन्तामणेः)** चिन्तामणि का फल **(चिन्त्यम्)** चिन्तन योग्य **(धर्मात्)** धर्म से **(फलम्)** फल **(असंकल्प्यम्)** बिना संकल्प और **(असंचिन्त्यम्)** बिना चिन्तन के **(अवाप्यते)** प्राप्त होता है।

अर्थ—कल्पवृक्ष का फल संकल्प करने से मिलता है। चिन्तामणि से फल चिन्तन करने से प्राप्त होता है जबकि धर्म से फल बिना संकल्प और बिना चिन्तन के ही प्राप्त होता है।

टीकार्थ—वाञ्छा पूर्ति करने वाला कल्पवृक्ष है। यह कल्पवृक्ष भोगभूमि और स्वर्ग में होता है तथा पृथ्वीकायिक होता है। आर्ष ग्रन्थों में कहा है कि–''यह कल्पवृक्ष न तो वनस्पतिकायिक है, न ही देवों से अधिष्ठित है, केवल पृथ्वी का सार है और पृथ्वीकायिक होता है।'' इस कल्पवृक्ष से

कल्पवृक्ष से यथायोग्य ही कल्पित फल भर मिलता है।
चिंतामणि से मन में चिंतित मिलता पर मन खिलता है॥
किन्तु कल्पना चिंता के बिन अनुपम अव्यय फल देता।
सत्य धर्म है क्यों ना मन तू तदनुसार रे, चल लेता ॥२२॥

मुपागताः'' तस्य फलमिति प्रत्येकमभिसम्बन्ध्यते। संकल्प्यं संकल्पयोग्यं संकल्प्य वचनेन याचितमित्यर्थः। अपि च तथा। चिन्तामणेः चिन्तितवस्तुप्रदानक्षमो मणी रोहणपर्वतोत्पन्नरत्नविशेषः तस्य फलमपि। चिन्त्यं चिन्तायोग्यं मनसा चिन्तितमित्यर्थः। धर्मात् कृतसुकृतात्। फल-मभीष्टवस्तु। असंकल्प्यं अयाचिततया। असंचिन्त्यं अचिन्तिततया। अवाप्यते प्राप्यते। 'आप्लृ व्याप्तौ' इत्येतस्माद्धोः कर्मणि लट्। याचिते सति कल्पवृक्षः चिन्तिते च चिन्तामणिर्वाञ्छितवस्तु प्रदत्ते किंतु पूर्वकृतसुकृतोदयेऽयाचितचिन्तितवृत्त्या हि सर्वार्थसार्थाः इतस्ततः सर्वत्र नरीनृत्यन्ते। यथा प्रद्युम्नश्रीपालधन्यकुमारप्रभृतिचारित्रे श्रूयते। अनुष्टुप्-छन्दः ॥२२॥

अथेत्थम्भूतो धर्मः कुतः प्राप्यत इत्याशङ्कामपाकुर्वन्नाह–

(आर्या)

परिणाममेव कारणमाहुः खलु पुण्यपापयोः प्राज्ञाः।
तस्मात् पापापचयः पुण्योपचयश्च सुविधेयः ॥२३॥

अन्वयः—प्राज्ञाः पुण्यपापयोः कारणं खलु परिणामं एव आहुः तस्मात् पापापचयः पुण्योपचयः च सुविधेयः।

मन में संकल्प करके वचनों से याचना की जाती है तब यह वाञ्छित फल प्रदान करता है। चिन्तित वस्तु को प्रदान करने में समर्थ एक मणि विशेष है जो रोहण पर्वत पर उत्पन्न हुआ रत्न विशेष होता है। इसी को चिन्तामणि रत्न कहते हैं। इससे फल-प्राप्ति मन में चिन्तन करने पर होती है। किये हुए पुण्य कर्म के फल रूप धर्म से अभीष्ट वस्तु की प्राप्ति बिना सोचे और बिना चिन्तन के ही प्राप्त होती है। बिना याचना और चिन्तन के पूर्वकृत पुण्य के उदय से सभी पदार्थों के समूह यहाँ, वहाँ सर्वत्र उस पुण्यात्मा के पास नर्तन करते हैं जैसे कि प्रद्युम्न, श्रीपाल, धन्यकुमार आदि के चरित्र में सुना जाता है। यहाँ श्लोक अनुष्टुप् छन्द है ॥२२॥

उत्थानिका—इस प्रकार का धर्म कैसे प्राप्त किया जाता है, इस आशङ्का को दूर करते हुए कहते हैं–

अन्वयार्थ–(प्राज्ञाः) विद्वान् पुरुष **(पुण्यपापयोः)** पुण्य और पाप का **(कारणम्)** कारण **(खलु)** निश्चय से **(परिणामं)** परिणाम को **(एव)** ही **(आहुः)** कहते हैं। **(तस्मात्)** इसलिए **(पापापचयः)** पाप की हानि **(च)** और **(पुण्योपचयः)** पुण्य का संचय **(सुविधेयः)** अच्छी तरह करना चाहिए।

पाप-पुण्य का केवल कारण अपना ही परिणाम रहा।
विज्ञ बताते इस विध आगम गाता यह अभिराम रहा ॥
अतः पाप का प्रलय कराना प्रथम आपका कार्य रहा।
पल-पल अणु-अणु परम पुण्य का संचय अब अनिवार्य रहा ॥२३॥

परिणाममित्यादि। प्राज्ञाः विद्वान्सः गणधरदेवादयः। प्रज्ञः एव प्राज्ञस्ते। 'प्रज्ञादेः' इत्यनेन स्वार्थेऽण्। पुण्यपापयोः पुण्यं धर्मः पापं चाधर्मः पुण्यं च पापं च पुण्यपापे तयोरिति। कारणं हेतुर्बीजं वा। खलु स्फुटम्। परिणामः आत्मनो भावस्तम्। एवावधारणे। आहुः वदन्ति। यस्मात् कारणादिति योज्यम्। 'यत्तदोर्नित्यसम्बन्धात्'। तस्मात् कारणादिति। पापापचयः पापस्य अपचयो हानिर्निर्जरा वा। पुण्योपचयः पुण्यस्य उपचयः वृद्धिर्बन्धनं वा। च समुच्चये। सुविधेयः सुष्ठु कर्त्तव्य इति। अयं विशेषः–इह खलु लोके द्रव्याणि स्वपरिणामेन प्रतिसमयं परिणमन्ति। परिणामं विना द्रव्यं न विद्यते तयोस्तादात्म्यसम्बन्धात्। द्रव्यस्य परिणमनं परिणामानुसारेण भवति। यथा परिणामस्तथा परिणामी। जीवद्रव्यस्य परिणामस्त्रिविधो भिद्यते शुभाशुभशुद्धभावेन। अशुभपरिणामपरिणतो जीवोऽशुभः। शुभपरिणामपरिणतो जीवः शुभः। शुद्धपरिणामपरिणतो जीवो हि शुद्धः। यदुक्तम्–

''जीवो परिणमदि जहा सुहेण असुहेण वा सुहो असुहो।
सुद्धेण तदा सुद्धो हवदि हु परिणामसब्भावो॥''

इति विधानात्। तत्र अशुभः पापभावः पापकर्मकारणत्वात्। शुभशुद्धपरिणामः पुण्यभावः पुण्यबन्धं प्रत्यविशेषात्। तस्मात् पुण्यबन्धजनकेन धर्मेण शुभशुद्धभावैः पापस्य निर्जराद्वारेणा-पचयोऽवश्यमेव कार्यः। गुडनिर्माणकार्ये मलनिष्कासनविधिना पापापचये कृते शुद्धगुडवत् पुण्योपचयः स्वयमेवायाति। ततः

अर्थ–प्राज्ञ पुरुष पुण्य और पाप का कारण निश्चय से परिणाम को ही कहते हैं। इसलिए पाप की हानि और पुण्य का संचय करना चाहिए।

टीकार्थ–गणधर देव आदि विद्वान् प्राज्ञ हैं। ये प्राज्ञ पुरुष पुण्य, धर्म और पाप, अधर्म का कारण जीव के भावों को कहते हैं। इसलिए पाप की हानि या निर्जरा और पुण्य की वृद्धि या ग्रहण समीचीन रीति से करना चाहिए। इस लोक में द्रव्य अपने परिणाम से प्रतिसमय परिणमन करते रहते हैं। परिणाम के बिना कोई द्रव्य नहीं रहता है क्योंकि द्रव्य और परिणाम में तादात्म्य सम्बन्ध है। द्रव्य का परिणमन परिणाम के अनुसार होता है। जैसा परिणाम होता है वैसा ही परिणामी द्रव्य होता है। जीव द्रव्य का परिणाम (परिणमन) शुभ, अशुभ और शुद्ध भाव से तीन प्रकार का होता है। अशुभ परिणामों से परिणत हुआ जीव अशुभ है। शुभ परिणामों से परिणत हुआ जीव शुभ है, शुद्ध परिणाम से परिणत जीव शुद्ध है। **प्रवचनसार** में कहा भी है–''जीव जैसे शुभ, अशुभ परिणाम से परिणमन करता है वह वैसा ही शुभ, अशुभ हो जाता है तथा शुद्ध परिणाम से परिणत हुआ शुद्ध होता है, वास्तव में जीव परिणाम स्वभाव वाला है।'' इनमें अशुभ पाप भाव है जो पापकर्म के बन्ध का कारण है। शुभ और शुद्ध परिणाम पुण्य भाव हैं क्योंकि दोनों से पुण्य बन्ध होता है। इसलिए पुण्यबन्ध को करने वाला जो धर्म है वह शुभ, शुद्ध भावों से होता है। इन शुभ और शुद्ध परिणामों से पाप की निर्जरापूर्वक पूर्व संचित पाप की हानि होती है इसलिए पाप की निर्जरा अवश्य करनी चाहिए। गुड़ बनाते समय मैल हटाने की विधि से पाप की हानि हो जाने पर शुद्ध गुड़ की तरह पुण्य

धर्मः सुविधेय इति न्याय्यम्। अत्रार्यायां क्वचित् 'प्राज्ञा' इति स्थाने 'कुशलाः' इति पाठो दृश्यते। आर्यावृत्तम् ॥२३॥

अथ धर्मपुरुषार्थविरुद्धौ कामार्थौ कुर्वतां कुत्सां प्रस्तौति–

(आर्या)

कृत्वा धर्मविघातं विषयसुखान्यनुभवन्ति ये मोहात्।
आच्छिद्य तरून् मूलात् फलानि गृह्णन्ति ते पापाः ॥२४॥

अन्वयः—ये मोहात् धर्मविघातं कृत्वा विषयसुखानि अनुभवन्ति ते पापाः तरून् मूलात् आच्छिद्य फलानि गृह्णन्ति।

का उपचय (संचय) स्वयं ही सहज में हो जाता है। इसलिए धर्म का संचय/ संग्रह करना न्यायसंगत है। इस आर्या छन्द में 'प्राज्ञाः' के स्थान पर 'कुशलाः', यह पाठ भी देखा जाता है। अर्थ वही है। यहाँ आर्या छन्द है।

विशेष—यहाँ जो शुभ, शुद्ध परिणाम को पुण्य भाव कहा है, वह सिद्धान्त की अपेक्षा उचित है। तत्त्वार्थसूत्र आदि में दो ही प्रकार के भाव, योग कहे हैं। अध्यात्म शास्त्र में भी शुद्धोपयोग के सविकल्प और निर्विकल्प भेद कहे हैं। उनमें सविकल्प शुद्धोपयोग तो पुण्य का कारण है और निर्विकल्प शुद्धोपयोग मोक्ष का कारण होता है। **परमात्मप्रकाश** की टीका पृष्ठ १९४ पर यह भाव द्रष्टव्य है। सिद्धान्त के अनुसार श्रेणी में ८वें आदि गुणस्थानों में पुण्य का बन्ध और अधिक अनुभाग के साथ होता है। यदि साधक उपशम श्रेणी में मरण हो जाता है तो वह वैमानिक देवों में उत्पन्न होता है। उस समय शुद्धोपयोग होता है, वह शुद्धोपयोग भी पुण्य बन्ध का कारण होता है। इसलिए एकान्ततः शुद्धोपयोग से बंध नहीं होता यह धारणा नहीं बनानी चाहिए॥२३॥

उत्थानिका—धर्म पुरुषार्थ के विरुद्ध काम और अर्थ पुरुषार्थ करने वालों की निन्दा करते हैं–

अन्वयार्थ—(ये) जो प्राणी **(मोहात्)** मोह से **(धर्म-विघातम्)** धर्म का घात **(कृत्वा)** करके **(विषय-सुखानि)** विषय सुखों को **(अनुभवन्ति)** अनुभव करते हैं **(ते पापाः)** वे पाप जीव **(तरून्)** वृक्षों को **(मूलात्)** मूल से **(आच्छिद्य)** छेद कर **(फलानि)** फलों को **(गृह्णन्ति)** ग्रहण करते हैं।

अर्थ—जो लोग मोह से धर्म का नाश करके विषयसुख का अनुभव करते हैं वे पापी जीव (मानों) वृक्षों को मूल से उखाड़कर उनके फलों को ग्रहण करना चाहते हैं।

धर्म त्याग कर पागल पामर पापाश्रित हैं गिरे हुए।
विषय सुखों का सेवन करते मोह भाव से घिरे हुए॥
सरस फलों से लदा हुआ है मूल सहित द्रुम छेद रहें।
फल खाने में निरत हुए हैं नहीं अनागत वेद रहे॥२४॥

कृत्वेत्यादि। ये केऽपि जनाः। मोहात् मुह्यतेऽनेनेति मोहः मिथ्यात्वकषायादिः तस्मात् गहना-ज्ञानादित्यर्थः। धर्मविघातं धर्मस्य पुण्यस्य पूर्वकृतसुफलस्य विघातं विनाशनं तत्। कृत्वा विधाय। विषयसुखानि विषयाणां विषयेषु वा सुखानि तानि पञ्चेन्द्रियमनोरोचनानि। अनुभवन्ति आस्वादयन्ति। ते जनाः। पापाः पापयुक्ताः। पापानि येषां सन्तीति पापाः।'ओऽभ्रादिभ्यः' इत्यः। तरून् वृक्षान्। मूलात् जडात्। आच्छिद्य उत्खातं कृत्वा। फलानि पुष्पफलादीनि। गृह्णन्ति ग्रहणं कुर्वन्ति।'गृहञ् उपादाने' इति धातोर्लट्। चतुर्धाऽत्र जीवा दृश्यन्ते। ये किल पुण्योदयेऽपि पापं कुर्वाणाः पापमनुबध्नन्ति ते पापानुबन्धिपुण्या जीवा कथ्यन्ते। यथोपलब्धविभवा विषयेषु रममाणाः। ये खलु पापोदये पापं कुर्वाणाः पापमनुबध्नन्ति ते पापानुबन्धिपापा जीवा भण्यन्ते। यथा शूद्रेषूत्पन्ना मत्स्यवराहादिघातोपजीविनः। ये हि पापोदये पुण्यं कुर्वाणाः पुण्यमाददते ते पुण्यानुबन्धिपापा जीवा निगद्यन्ते। यथाऽनुपलब्धभोगा धर्मे प्रसक्ताः। ये तु पुण्योदयेऽपि पुण्यं कुर्वाणाः पुण्यमाददते ते पुण्यानुबन्धिपुण्या जीवा समुच्यन्ते। यथोपलब्धविभवाः सद्धर्मे रममाणाः।

टीकार्थ–जिससे जीव मोहित होता है, वह मोह है। मिथ्यात्व, कषाय आदि के परिणाम मोह हैं। इन्हीं परिणामों को गहन अज्ञान कहते हैं। इस अज्ञान के कारण पूर्व में किए हुए अच्छे फल को देने वाले पुण्य धर्म का विनाश करके जो पाँच इन्द्रिय और मन को अच्छे लगने वाले विषयों का स्वाद लेते हैं वे पाप सहित जीव वृक्षों को जड़ से उखाड़कर मानों पुष्प, फल आदि को ग्रहण कर रहे हैं।

इस संसार में चार प्रकार के जीव दिखाई देते हैं–

१. पापानुबन्धी पुण्य वाले जीव–जो जीव पुण्य के उदय में भी पाप करते हुए पाप को बाँधते हैं वे पापानुबन्धी पुण्य जीव हैं। जैसे कि वैभव, धन, सम्पत्ति को प्राप्त किये जीवों का विषयों में रमण करते रहना।

२. पापानुबन्धी–पाप वाले जीव–जो जीव पाप के उदय में पाप करते हुए पाप को ही बाँधते हैं वे पापानुबबन्धी पाप जीव हैं। जैसे शूद्र कुल में उत्पन्न हुए जो जीव पुनः मछली, सूकर आदि को मारकर अपना जीवन निर्वाह करते हैं।

३. पुण्यानुबन्धी पाप वाले जीव–जो जीव पाप के उदय में भी पुण्य करते हुए पुण्य बन्ध करते हैं पुण्यानुबंधी पाप जीव कहे जाते हैं। जैसे किन्हीं जीवों को पाप का उदय होने से भोग सामग्री की प्राप्ति नहीं हुई फिर भी वे धर्म में संलग्न हैं, ऐसे जीव पाप के उदय में पुण्य का बन्ध करने वाले होने से पुण्यानुबन्धी पाप वाले जीव हैं।

४. पुण्यानुबन्धी पुण्य वाले जीव–जो जीव पुण्य के उदय में भी पुण्य ही करते हैं और पुण्य का ही पुनःबन्ध करते हैं वे पुण्यानुबन्धी पुण्य जीव कहे जाते हैं। जैसे कि वैभव को प्राप्त किये हुए जीवों का समीचीन धर्म में रमण करना।

अत्र पापानुबन्धिपुण्या जीवा विवक्षिता भवन्ति। ते हि सम्प्राप्तभोगा रावणादिवन्नरके दुःखं प्राप्नुवन्ति। पुण्यानुबन्धि-पुण्यफलेन जीवा समुपलब्धविषया अपि न तेषु मुह्यन्ति भरतरामादिवत्। ततः स्थितं येऽत्र मोहिता दृश्यन्ते तैः पुरा भोगाकांक्षया पुण्यमर्जिताः। आर्याच्छन्दः॥२४॥

अथ तस्य धर्मस्य प्राप्त्युपायान् प्रदर्शयन्नाह–

(आर्या)

कर्तृत्वहेतुकर्तृत्वानुमतैः स्मरणचरणवचनेषु।
यः सर्वथाभिगम्यः स कथं धर्मो न संग्राह्यः ॥२५॥

अन्वयः—स्मरणचरणवचनेषु कर्तृत्वहेतुकर्तृत्वानुमतैः यः धर्मः सर्वथा अभिगम्यः स कथं न संग्राह्यः।

कर्तृत्वेत्यादि। स्मरणचरणवचनेषु। स्मरणं स्मृतिः मनसो विषयः। ज्ञानस्य ज्ञेयेनिबद्धता हर्षादिकारणैः स्मृतिकारणमिति श्रीगुरोरुपदेशः। चरणं अनुष्ठानं कायस्य विषयः। वचनं प्रतिपादनं वाचां

यहाँ इस छन्द में पापानुबन्धी पुण्य जीवों की विवक्षा है। ऐसे जीव भोगों को प्राप्त करके रावण आदि की तरह नरक में जाकर दुःख प्राप्त करते हैं।

पुण्यानुबन्धी पुण्य के फल से जीव विषयों को प्राप्त करके भी उन विषयों में मोहित नहीं होते है जैसे भरत चक्रवर्ती, रामचन्द्र आदि।

इससे यह सिद्ध हुआ कि जो लोग इस संसार में विषयों को प्राप्त करके उनमें मोहित हुए दिखाई देते हैं, उन्होंने पहले भोगों की आकांक्षा से ही पुण्य का अर्जन किया है। यहाँ आर्या छन्द है॥२४॥

उत्थानिका—अब इस धर्म की नवविध प्राप्ति के उपाय को बताते हैं–

अन्वयार्थ—(स्मरण-चरण-वचनेषु) स्मरण, आचरण और वचनों में **(कर्तृत्व-हेतुकर्तृत्वा-नुमतैः)** कर्त्तापन से, हेतु कर्तापन से और अनुमति से **(यः)** जो **(धर्मः)** धर्म **(सर्वथा)** सर्व प्रकार **(अभिगम्यः)** स्वीकारने योग्य है **(सः)** वह धर्म **(कथम्)** कैसे **(न संग्राह्यः)** संग्रह करने योग्य नहीं है? अर्थात् अवश्य है।

अर्थ—स्मरण, आचरण और वचनों में कर्ता, कारण और कर्त्ता की अनुमोदना से जो धर्म सर्वथा प्राप्ति योग्य है, वह संग्रह योग्य कैसे नहीं है ? अर्थात् अवश्य संग्रहणीय है।

टीकार्थ–स्मरण–स्मृति है, जो मन का विषय है। श्रीगुरु का उपदेश है कि–ज्ञान की ज्ञेयों में निबद्धता, हर्षादि कारणों से संलग्नता ही स्मृति का कारण है। **चरण**—शरीर के द्वारा किया गया

कृत भी हो, पर से कारित भी अनुमत भी अनिवार्य रहा।
मन से वच से औ तन से भी पूर्ण शक्य जो कार्य रहा॥
उसी धर्म का धारण पालन किस विध फिर नहीं हो सकता।
उज्ज्वल जल है पी लो धोलो पल भर में मल धो सकता॥२५॥

विषयः। स्मरणं च चरणं च वचनं च द्वन्द्ववृत्तेस्तथोक्तं तेषु मनोवाक्कायसम्बन्धिषु इत्यर्थः। कर्तृत्व-हेतुकर्तृत्वानुमतैः। तत्र कर्तृत्वं कर्तुर्भावः स्वात्मनः कर्तृत्वेनापेक्ष्यते। हेतुकर्तृत्वं हेतुना रूपेण कर्तृत्वं प्रेरककर्तृत्वेन द्योत्यते। अनुमतं अनुमोदितं तत्कार्ये मनसा समर्थनमित्यर्थः। इतरेतरद्वन्द्ववृत्त्या संयोज्य कर्तृत्व-हेतुकर्तृत्वानुमतानि तैः कृतकारितानुमतैरित्यर्थः। एतैः स्मरणादिषु सम्बन्धनीयम्। तद्यथा-मनःकृतं मनःकारितं मनोऽनुमतं, कायकृतं कायकारितं कायानुमतं, वचनकृतं वचनकारितं वचनानुमतम्। एतैर्नवकोटिभिरिति। यः कथितलक्षणः। धर्मः प्रशस्तकार्यः। सर्वथा सर्वेण प्रकारेण। 'प्रकारे था' इत्यभिधानात्। अभिगम्यः अभिगन्तुं योग्यः प्राप्यः इत्यर्थः। स धर्मः। कथं न इति प्रश्ने वितर्के वा। संग्राह्याः समीचीनतया गृहीतुं योग्यः। नवकोटिभिः यो धर्मः प्राप्यः स कथं न संग्राह्यः? अपि तु संग्राह्यः एव धनलववद् विवेकिभिरिति भावः। आर्याछन्दः॥२५॥

अथ तद्धर्मस्य चित्ते वासेऽवासे वा किं घटत इत्याह-

अनुष्ठान चारित्र है। **वचन**—वचनों का विषय, उपदेश देना वचन है। इन स्मरण, चरण और उपदेश के विषय में अपनी आत्मा को कर्त्ता रूप से लगाना, प्रेरक कर्त्ता बनाना या मन से समर्थन करके अनुमोदन करना चाहिए। कृत, कारित, अनुमोदना से धर्म का स्मरण आदि करना चाहिए। मन (स्मृति), वचन, काय (चरण) का कृत, कारित, अनुमोदना के साथ नौ कोटि (नव प्रकार) होते हैं। धर्म संचय के नौ उपाय हैं-

मनः कृत	–	मन से किया गया
मनः कारित	–	मन से कराया गया
मनः अनुमत	–	मन से अनुमोदन किया गया
काय कृत	–	काय से किया गया
काय कारित	–	काय से कराया गया
काय अनुमत	–	काय से अनुमोदन किया गया
वचन कृत	–	वचनों से किया गया
वचन कारित	–	वचनों से कराया गया
वचन अनुमत	–	वचनों से अनुमोदन किया गया

इन नौ कोटियों से जो प्रशस्त कार्य वाला धर्म है उसे प्राप्त करना चाहिए। क्या विवेकी जनों को इस तरह धर्म प्राप्त करने योग्य नहीं है ? अपितु अवश्य है। जैसे बुद्धिमान् पुरुष धन का थोड़ा भी संग्रह करता है उसी तरह थोड़ा-थोड़ा धर्म का संग्रह भी इन छोटे-छोटे उपायों से अवश्य करना चाहिए। यहाँ आर्या छन्द है ॥२५॥

उत्थानिका—उस धर्म का चित्त में वास होने पर अथवा नहीं होने पर क्या घटित होता है, यह कहते हैं-

(वसन्ततिलका)

धर्मो वसेन्मनसि यावदलं स तावद्-
हन्ता न हन्तुरपि पश्य गतेऽपि तस्मिन्।
दृष्टा परस्पर-हतिर्जनकात्मजानां-
रक्षा ततोऽस्य जगतः खलु धर्म एव॥२६॥

अन्वयः—यावत् अलं मनसि धर्मः वसेत् तावत् हन्तुः अपि स हन्ता न अथ पश्य तस्मिन् गते जनकात्मजानां परस्परहतिः दृष्टा ततः अस्य जगतः रक्षा खलु धर्मे एव।

धर्म इत्यादि। यावत् अवधिपर्यन्तम्। यावत्तावच्च साकल्येऽवधौ मानेऽवधारणे इत्यमरः। अलं परिपूर्णतयाऽतिशयेन वा। ''अलं भूषणपर्याप्तिशक्ति-वारणवाचकम्'' इत्यमरः। मनसि चेतसि। धर्मः अहिंसादिः। 'धर्मो धनुष्यहिंसादा-वुत्पादादावये नये' इति धनञ्जयः। वसेत् आश्रयेत्। 'वस निवासे' इति धातो र्वि० लि०। तावत् तत्कालपर्यन्तम्। हन्तुः हन्तीति हन्ता तस्य वधकस्येत्यर्थः। अपि निश्चयार्थे। स धर्मं मनसि धृतवान् जीवः धर्मधर्मिणोरभेदविवक्षावशात्। हन्ता विराधकः। न निषेधार्थेऽव्ययपदम्। नास्तीत्यर्थः। कृष्णजरत्कुमारवदश्वत्थामद्रोपदीवद्वा। अथ पुनश्च। पश्य हे भव्य! इति शेषः। अहो इत्यर्थेऽत्राश्चर्यं

अन्वयार्थ—(यावत्) जब तक **(अलं)** अच्छी तरह **(मनसि)** मन में **(धर्मः)** धर्म **(वसेत्)** रहता है **(तावत्)** तब तक **(हन्तुः अपि)** अपने मारने वाले को भी **(सः)** वह **(हन्ता न)** नहीं मारता है **(अथ)** और **(पश्य)** देखो! **(तस्मिन् गते)** उस धर्म के चले जाने पर **(जनकात्मजानाम्)** पिता-पुत्रों का **(परस्परहतिः)** भी आपस में मारना **(दृष्टा)** देखा जाता है **(ततः)** इसलिए **(अस्य)** इस **(जगतः)** जगत की **(रक्षा)** सुरक्षा **(खलु)** निश्चित रूप से **(धर्मे)** धर्म में **(एव)** ही है।

अर्थ—जब तक धर्म मन में अच्छी तरह रहता है तब तक व्यक्ति अपने विघातक का भी नाशक नहीं होता है और देखो! उस धर्म के चले जाने पर पिता-पुत्रों में भी परस्पर घात देखा जाता है। इसलिए इस जगत् की रक्षा निश्चित ही धर्म में है।

टीकार्थ—जब तक मन में अहिंसा आदि धर्म परिपूर्णता के साथ अथवा अतिशय रूप से रहता है तब तक प्राणी अपना वध करने वाले का भी वध नहीं करता है। जैसे कृष्ण-जरत्कुमार या

जब तक जिसके जीवन में वह जीवित जागृत धर्म रहा।
मारक को भी नहीं मारते तब तक ना अघ कर्म रहा॥
चूँकि धर्म च्युत पिता पुत्र भी कट-पिट आपस में मिटते।
अतः धर्म ही सबका रक्षक जिससे सब सुख हैं मिलते॥२६॥

प्रकटीकृतम्। तस्मिन् गते धर्मे अप्रवर्तमाने सति। जनकात्मजानां जनकः पिता आत्मजः पुत्रः। जनकाश्चात्मजाश्च जनकात्मजास्तेषां पितृपुत्राणाम् कंसोग्रसेनवत् श्रेणिकराजकुणिकवद्वा। उपलक्षण-मात्रोऽयं सम्बन्धः। तेन भ्रातृभ्रातृणां भ्रातृभगिनीनामित्यादि सम्बन्धोऽपि ज्ञातव्यः। परस्परहतिः परस्परेषु हति र्हननं विघातो विनाशो वा। दृष्टा परिलक्षिता त्वया मया वेति। ततः तस्मात् कारणात्। अस्य दृश्यमानस्य प्रत्यक्षीभूतस्य। 'इदमस्तु सन्निकृष्टम्' इति वचनात् इदं शब्दस्य षष्ठ्यैकवचनरूपम्। जगतः लोकस्य। रक्षा हिंसानिवृत्तिः। खलु निश्चयेन। धर्मे एव धर्मे विधीयमाने सत्येवास्तीत्यर्थः। वसन्ततिलका-वृत्तम्॥२६॥

भवता यदुक्तं 'धर्मं प्रतिपाल्य भोगमनुभवतु' तत्र न जानीमहे कथं विषयभोगानामनुभवतां जीवानां धर्मः स्यादिति पृष्ट आह-

(आर्या)

न सुखानुभवात् पापं पापं तद्धेतुघातकारम्भात्।
नाजीर्णं मिष्टान्नान्ननु तन्मात्राद्यतिक्रमणात् ॥२७॥

अश्वत्थामा-द्रौपदी। हे भव्य! देखो पुनः वही जीव आश्चर्य है कि धर्म के नहीं होने पर पिता-पुत्र भी आपस में वध करने वाले हो जाते हैं। जैसे कंस और उग्रसेन तथा श्रेणिक और कुणिक। यहाँ पिता-पुत्र तो उपलक्षण मात्र है। इससे भाई-भाई का, भाई-बहिन आदि अन्य रिश्तों का सम्बन्ध भी परस्पर घातक होता है, यह जानना। इस प्रकार आपको भी और मुझे भी देखने में आता है। ऐसे इस जगत् की रक्षा (हिंसा से निवृत्ति) धर्म के होने पर ही होती है। यहाँ वसन्ततिलका छन्द है॥२६॥

उत्थानिका—आपने जो कहा है कि-''धर्म का प्रतिपालन करके भोगों का अनुभव करो तो इसमें मेरी समझ में नहीं आया कि विषय भोगों को भोगने वाले जीवों को धर्म कैसे हो सकता है?'' इस प्रकार पूछने पर कहते हैं-

अन्वयार्थ—**(पापम्)** पाप **(सुखानुभवात्)** सुख का अनुभव करने से **(न)** नहीं होता है किन्तु **(तद् हेतु-घातकारम्भात्)** उस सुख के कारणों के विनाश का आरम्भ करने से **(पापम्)** पाप **(जायते)** उत्पन्न होता है। **(ननु)** देखो! **(मिष्टान्नात्)** मिष्ट भोजन से **(अजीर्णम्)** अजीर्ण **(न)** नहीं होता है किन्तु **(तन्मात्राद्यतिक्रमणात्)** उस भोजन की मात्रा आदि का अतिक्रमण होने से होता है।

अर्थ—पाप सुख के अनुभव से नहीं होता है, किन्तु उस धर्म के हेतुओं का घात करने से पाप होता है। सोचो, मीठा पकवान खाने से अजीर्ण नहीं होता है किन्तु उसकी मात्रा का अतिक्रमण करने से होता है।

पाप बन्ध वह हो नहिं सकता सुख के सेवन करने से।
किन्तु पाप हो धर्म विघातक हिंसादिक अघ करने से॥
मिष्ट अन्न के अशन मात्र से अपच रोग नहिं वह आता।
अशन रसन का किन्तु दास अति अधिक अशन खा दुख पाता ॥२७॥

अन्वयः—पापं सुखानुभवनात् न (किन्तु) तद्धेतुघातकारम्भात् पापं (जायते) ननु मिष्टान्नात् अजीर्णं न (किन्तु) तन्मात्राद्यतिक्रमणात्।

नेत्यादि। पापं दुःखप्रदकर्म। सुखानुभवनात् सुखं विषयेषु पञ्चेन्द्रियेषु रति-रूपम्। तस्यानुभवो रसः तस्मात् विषयसुखविलासात्। न नास्ति। तर्हि कथम्? तद्धेतुघातकारम्भात् तत् विषयसुखं तस्य हेतुः कारणं निमित्तं वाऽहिंसादानपूजाव्रतादि-विधानं तस्य घातको विनाशकः आरम्भः उपायः हिंसादिः तस्मादिति। पापं दुःखं। जायत इत्यध्याह्रियते क्रिया। ननु संबोधनार्थेऽव्ययपदम्। ''प्रश्नावधारणानुज्ञानुनया-मन्त्रणे ननु'' इत्यमरः। हे भव्य! पश्य इत्यर्थः। अत्र दृष्टान्तद्वारेण तस्य सम्बोधयन्नाह-मिष्टान्नात् मिष्टं मधुरं च तदन्नं रसगोलकवर्तिकामोदकादि तस्मात् मधुरान्नसेवनादिति। अजीर्णं। जीर्णं पचनं। न जीर्णं अजीर्णमपचित-मन्नम्। न नास्ति। तर्हि कथम्? तन्मात्राद्यतिक्रमणात्। तद्भुक्तस्य धर्मपक्षे सुखानुभवनस्य मात्रा प्रमाणं आदौ येषां कालातिक्रमप्रकृतिविरुद्धविसंयोजनादीनां तेषां अतिक्रमणात् उल्लंघनात् धर्मपक्षे अत्यासक्ति-दुराचरणान्यायादेरिति। धर्मपुरुषार्थसंगतं कामार्थपुरुषार्थं क्रियमाणे न दोषो गृहमेधिनामित्यर्थः। यद्यपि पुण्यादवाप्तविभवेन मतौ मोहबाहुल्यताऽऽयाति तस्मात्पापमुपार्जयन्नशुभां गतिमश्नुते जीवः पुण्यफलभोगे तीव्रलालसावशात् ततः सम्यग्दृष्टिश्चिन्तयति तत्फलयुतपुण्यं मे न भूयात्। यथा चोक्तम्-

''पुण्णेण होइ विहवो विहवेण मओ मएण मइ-मोहो।
मइ-मोहेण य पावं ता पुण्णं अम्ह मा होउ॥''

टीकार्थ-पंचेन्द्रियों के विषयों में रतिरूप सुख होता है। इस सुख का अनुभव करना, विषयसुख में आनन्द लेना दुःख देने वाला नहीं है। उस विषयसुख के कारणभूत जो अहिंसा, दान, पूजा, व्रत आदि पालन हैं, इनको नष्ट करने के उपाय हिंसा, लोभ, पूजा नहीं करना और अव्रत आदि हैं। उन हिंसा आदि क्रियाओं के कारण पाप, दुःख होता है। यहाँ दृष्टान्त द्वारा समझाते है कि हे भव्यो! देखो रसगुल्ला, जलेबी, लड्डू आदि मीठा भोजन करने से अजीर्ण, अपच नहीं होती है किन्तु वह अपच उस मिठाई की मात्रादि का अतिक्रमण करने से होती है। बासी, बहुत दिनों की रखी मिठाई से कालातिक्रम दोष के कारण अपच होता है। ऋतुमान के अनुसार फलादि न लेकर विपरीत ऋतु के फल खाना या अपने शरीर की कफ आदि प्रकृति के विरुद्ध आहार होना भी अपच में कारण है। इसी तरह धर्मपक्ष में भी है-सुख अनुभव की अत्यासक्ति, दुराचरण, अन्याय पूर्वक यदि विषयसुख का अनुभव करोगे तो पाप ही होगा। कहने का तात्पर्य यह है कि अर्थ पुरुषार्थ यानी धन अर्जन करना और काम पुरुषार्थ यानी स्वस्त्री सेवन ये दोनों पुरुषार्थ यदि धर्म के साथ नहीं हैं तो गृहस्थ को दोष के कारण हैं। पुण्य से प्राप्त वैभव में मद हो जाता है, मद से बुद्धि में मोह की बहुलता हो जाती है। उससे पाप का उपार्जन करके जीव अशुभ गति को प्राप्त करता है। क्योंकि पुण्य के फल में उस जीव की तीव्र लालसा थी। इसलिए सम्यग्दृष्टि चिन्तन करता है कि पुण्य के फल के साथ पुण्य मेरे लिए न होवे। **परमात्मप्रकाश** में कहा भी है-

''पुण्य से वैभव होता है, वैभव से मद उत्पन्न होता है। मद से मति में मोह होता है, मतिमोह

तथापि सद्दृष्टिजनः पुण्यान्न बिभेति प्रत्युत पुण्यफलावाप्तविभवे मदमोहात्। इदमेव कारणं सोऽनिदानको भवान्मुञ्चति इतरस्तु पुण्यफलव्यामोहान्मिष्टविषसेवनमिव पुनर्भवपीडामञ्चति पापानुबन्धि-पुण्यादित्यर्थः। आर्याच्छन्दः॥२७॥

अथ विषयेषु सुखमिति संकल्पमात्रं तं परिवर्त्य धर्मे सुखमिति संकल्पनायाह–

(शार्दूलविक्रीडित)

अप्येतन्मृगयादिकं यदि तव प्रत्यक्षदुःखास्पदं,
पापैराचरितं पुरातिभयदं सौख्याय संकल्पतः।
संकल्पं तमनुज्झितेन्द्रियसुखैरासेविते धीधनैः
धर्म्ये कर्मणि किं करोति न भवाँल्लोकद्वयश्रेयसि ॥२८॥

अन्वयः—यदि तव एतत् मृगयादिकं अपि प्रत्यक्षदुःखास्पदं पापैः आचरितं पुरा अतिभयदं संकल्पतः सौख्याय (भवति), तं संकल्पं अनुज्झितेन्द्रियसुखैः धीधनैः आसेविते लोकद्वयश्रेयसि धर्म्ये कर्मणि भवान् किं न करोति?

से पाप होता है। इसलिए ऐसा पुण्य मेरे लिए न होवे''

फिर भी सम्यग्दृष्टि जीव पुण्य से नहीं डरता है अपितु पुण्य के फल से प्राप्त वैभव में मद, मोह उत्पन्न न हो यह सावधानी रखता है। यही कारण है कि वह जीव उस पुण्य के फल में निदान बन्ध नहीं करता है और संसार से छूट जाता है। इसके विपरीत अन्य निदान सहित जीव पुण्यफल के व्यामोह से मीठे जहर को खाने की तरह पुनः संसार जन्म की पीड़ा को प्राप्त होता है क्योंकि उस निदान सहित जीव का पुण्य पापानुबन्धी पुण्य होता है। यहाँ आर्या छन्द है ॥२७॥

उत्थानिका—'विषयों में सुख' तो कल्पना मात्र का है अतः उस धारणा को परिवर्तित करके ''धर्म में सुख है'' इस प्रकार के संकल्प के लिए कहते हैं।

अन्वयार्थ—**(यदि)** यदि **(तव)** तुमको **(एतत्)** यह **(मृगयादिकम्)** शिकार आदि **(अपि)** भी जो **(प्रत्यक्ष-दुःखास्पदम्)** प्रत्यक्ष ही दुःखों के स्थान हैं, **(पापैः)** जो पापियों के द्वारा **(आचरितम्)** किए जाते हैं **(पुरा)** जो आगे **(अतिभयदम्)** अत्यधिक भय देने वाले हैं।**(संकल्पतः)** वे भी संकल्प से **(सौख्याय)** सुखकारक लगते हैं तो **(अनुज्झितेन्द्रिय-सुखैः)** इन्द्रिय सुख को नहीं छोड़े हुए **(धीधनैः)** बुद्धिमानों के द्वारा **(आसेविते)** सेवन किए गए तथा **(लोकद्वय-श्रेयसि)** दोनों लोकों

सप्त व्यसन तो स्पष्ट दुःख हैं पर भव में भी दुखकारी।
पाप ताप हैं किन्तु उन्हें तुम मान रहे अति सुखकारी॥
इन्द्रिय सुख में अनासक्त ज्यों बुधजन जिसको अपनाते।
उभय लोक में सुखद धर्म को क्यों न मानते अपनाते॥२८॥

अपीत्यादि। यदि प्रश्ने। तव भवतः। एतत् प्रत्यक्षीभूतम्। 'समीपतरवर्तिचैतदो रूपम्' इत्यभिधानात्। किं तत्? मृगयादिकं मृगया आखेटः आदिर्येषां द्यूतक्रीडाचुरावैश्यागमनपरस्त्रीसेवन-मद्यपानमांसभक्षणानां तेषां सप्तव्यसनानां तमिति स्वार्थे कप्रत्ययात् तथोक्तम्। अपि निश्चयार्थे। प्रत्यक्षदुःखास्पदं प्रत्यक्षेण दुःखस्य कष्टस्य आस्पदं स्थानं तत्। एते व्यसनव्यलिप्तास्तलवरादिना गृहीता दण्डमुपभुञ्जानाः पृथक्जनैरपि लोके निन्दामाप्नुवन्ति। कुलकलङ्कास्ते पितरं दुःखीकुर्वन्तः परजुगुप्सापात्राः स्वयमपि दुःखिता इति सर्वजनविज्ञातम्। पुनश्च कथंभूतम्? पापैः आचरितं। पापैः पापिष्ठैः पुरुषैः आचरितम्। पुराशब्दः उभयत्र योज्यः। अत्र पुरा भूतकालवाची। तेन भूतकाले पापिजनैः व्यसनं सेवितम्। यद्वा व्यसनिनः पुरा पापिष्ठाः प्रोक्ताः। यद्वा पापमशुभकर्म तस्य तीव्रोदये सम्भावनात्तथोक्तम्। पुनश्च कथम्? पुरा अतिभयदं।

पुरा अग्रे भविष्यत् काले। अतिभयदं नरकपशुगतिषु अतिशयेन भयप्रदायकमिति। संकल्पतः संकल्पो वासना स्मृतिर्धारणा इति यावत्। तस्मात् 'तस्' इति सूत्रात्। वासनामात्रादित्यर्थः। यतश्च संसारे सुखं दुःखं च वासनामात्रमेव सान्तरत्वात् परिवर्तत एव। यदुक्तम्-

---

में कल्याणप्रद **(धर्म्ये)** धर्म **(कर्मणि)** कर्म में **(तं संकल्पं)** उस संकल्प को **(भवान्)** आप **(किं न करोति)** क्यों नहीं करते हो ?

अर्थ—यदि तुझे ये शिकार आदि, जो प्रत्यक्ष ही दुःख के स्थान हैं और पापी जीवों के द्वारा किए जाते हैं, बाद में भी अत्यधिक भय देने वाले हैं फिर भी वे संकल्प मात्र से तेरे सुख के लिए हैं तो जिन्होंने इन्द्रिय सुख नहीं छोड़ा है ऐसे बुद्धिमानों ने दोनों लोकों में कल्याणप्रद जिस धर्म, कर्म में प्रवृत्ति की है उसी धर्म में तुम अपना संकल्प क्यों नहीं करते हो ?

टीकार्थ—मृगया-शिकार है। आदि शब्द से जुआ खेलना, चोरी करना, वेश्यागमन, पर-स्त्रीसेवन, मद्यपान, मांसभक्षण आदि को ग्रहण करना है। इन सात व्यसनों को प्रत्यक्ष में ही कष्ट के घर देखा जाता है। इन व्यसनों में लिप्त व्यक्ति कोतवाल आदि के द्वारा पकड़े जाते हैं, दण्ड भोगते हैं और सामान्य व्यक्तियों के द्वारा लोक में निन्दा पाते हैं। कुल को कलंकित करने वाले ये व्यसनी अपने माता-पिता को दुःखी करते हैं और दूसरों से घृणा पाकर स्वयं भी दुःखी होते हैं। यह सभी लोग जानते हैं। ये व्यसन पापी पुरुषों के द्वारा ही सेवन किये जाते हैं। छन्द में बीच में आया 'पुरा' शब्द दोनों ओर जोड़ना चाहिए। पुरा का अर्थ भूतकाल भी है। इसलिए ''पापैराचरितं पुराति भयदम्'' का अर्थ हुआ जो व्यसन पहले (भूतकाल में) पापी लोगों के द्वारा ही किए गए हैं। अथवा यूँ कहें कि व्यसनीजन पहले पापी कहे गए हैं। अथवा अशुभ कर्म पाप है। उस तीव्र अशुभ कर्म के उदय से ये व्यसन होते हैं, इसलिए पाप के कार्य हैं, यह अर्थ भी समझना।

'पुरा' का अर्थ आगे आने वाला, भविष्यत्काल भी होता है। अतः ये व्यसन नरक, पशुगति में अत्यधिक भय प्रदान करने वाले हैं। इन व्यसनों में सुख, हे आत्मन्! तुझे संकल्प मात्र से है। संकल्प, वासना, स्मृति, धारणा एकार्थवाची शब्द हैं। न कि केवल सुख अपितु दुःख भी वासना मात्र ही है

''सुखस्यानन्तरं दुःखं दुःखस्यानन्तरं सुखम्।
सुखं दुःखं च मर्त्यानां चक्रवत्परिवर्तते॥''

सौख्याय सौख्यकारणं भवतीति। तं तदेव संकल्पं वासनाम्। अनुज्झितेन्द्रिय-सुखैः। अनुज्झितं न उज्झितं न त्यक्तं इन्द्रियसुखं यैस्तैः गृहमेधिभिः। धीधनैः धीः बुद्धिः हिताहितविवेककरी सा एव धनं येषां ते तैर्विवेकबुद्धिभिर्भरतरामपाण्डवादिभिरित्यर्थः। आसेविते आचरिते। पुनश्च कथंभूते? लोकद्वयश्रेयसि लोकद्वयमिहलोकपरलोकं तत्र श्रेयः कल्याणं शुभं वा यस्य तस्मिन्। धर्म्ये धर्मादनपेतं धर्म्यं तस्मिन्। कर्मणि अनुष्ठाने। भवान् किं न करोति इत्यद्भुतम्। पापानुबन्धिपुण्यं बद्धमानानामत्र प्राणिनां सम्बुद्धिः कृता। यथा च प्रागपि साम्प्रतं वा सद्गृहस्था धर्माविरोधिकामार्थपुरुषार्थसाधकाः सप्तव्यसनविरहिता हृषीकोत्थसुखं क्षणक्षयि विद्युद्वच्चपलं जीवितमित्यवधार्य मनसि लोकद्वयहितंकरेऽनुष्ठाने तत्पराः शश्वत्सुखाप्तकामाः समाचरन्ति तथा हे भव्य! त्वं किं नेत्युक्तं भवति। शार्दूलविक्रीडितवृत्तम्॥२८॥

अथासहायदीनप्राणिनां घाते निर्दयत्वमुपदर्शयन्नाह-

(अनुष्टुप्)

भीतमूर्तीर्गतत्राणा निर्दोषा देहवित्तकाः।
दन्तलग्नतृणा घ्नन्ति मृगीरन्येषु का कथा॥२९॥

क्योंकि सुख के बीच में दुःख और दुःख के बीच में सुख आने से यह सुख, दुःख परिवर्तित होता रहता है।

जैसा कि कहा है-''सुख के बाद दुःख और दुःख के अनन्तर सुख होता है। मनुष्यों में यह सुख, दुःख चक्र की तरह परिवर्तित होता रहता है।'' इन्द्रियसुख को जिन्होंने नहीं त्यागा है, फिर भी हित-अहित का भेद करने वाली विवेकबुद्धिरूपी धन जिनके पास है ऐसे भरत, राम, पाण्डव आदि महापुरुषों ने इहलोक और परलोक में कल्याणकारी जिस धर्म-कर्म में आचरण, प्रवृत्ति की है उसी धर्म-कर्म में आप भी क्यों नहीं लगते हैं? यह बड़ी अद्भुत बात है। यहाँ आचार्यदेव ने पापानुबन्धी-पुण्य बाँधने वाले जीवों को संबोधित किया है।

जिस प्रकार प्राचीनकाल में अथवा वर्तमान में भी ऐसे सद्गृहस्थ हैं जो धर्म के साथ-साथ काम पुरुषार्थ, अर्थ पुरुषार्थ भी कर रहे हैं, जो सप्त व्यसनों से रहित हैं, इन्द्रियों से उत्पन्न सुख को क्षणभर में नष्ट होने वाला, तथा जीवन को बिजली की तरह चंचल समझकर अपने मन में दोनों लोकों में हितंकर अनुष्ठान करने में तत्पर रहते हैं और अविनश्वर सुख की इच्छा करते हैं उसी प्रकार हे भव्य! तुम क्यों नहीं करते हो ? यहाँ शार्दूलविक्रीडित छन्द है ॥२८॥

दोष रहित हैं, त्राण रहित हैं रहती हैं भयभीत यहीं।
देह गेह ही धन है जिनका जिनकी जीवन रीत यही॥
दंत पंक्ति में मिले मृदुल तृण भोजन करतीं मृगीं व्यथा।
व्याध उन्हें भी मार मिटाते पर की अब क्या रही कथा॥२९॥

अन्वयः—भीतमूर्तीः गतत्राणाः निर्दोषाः देहवित्तकाः दन्तलग्नतृणाः मृगीः घ्नन्ति अन्येषु का कथा।

भीतेत्यादि। भीतमूर्तीः भीताः मूर्तिः शरीरं यस्याः सा ताः प्रकम्पितगात्राः। शसन्तरूपम्। गतत्राणाः गतं त्राणं रक्षा यासां ताः। निर्दोषाः दोषरहिता परपीडाऽकरणात्। देहवित्तकाः देह एव वित्तं धनं यस्या सा स्वार्थे कप्रत्ययात् ताः देहमात्रधना अन्यसङ्गसंग्रहाभावात्। दन्तलग्नतृणाः दन्तेषु लग्नं श्लिष्टं तृणं यस्याः सा तृणकणमात्रभक्षण-शीला ताः। मृगीः। मृगस्त्री हरिणी मृगी कथ्यते। ताः। घ्नन्ति घातयन्ति मारयन्ति। ''हन हिंसागत्योः'' इति धातोर्लट्। अन्येषु गोसिंहव्याघ्रादिषु प्राणिषु। का कथा का वार्ता? वन्यपशुभिः सततमातङ्कमर्पिताच् चपलनयना नितान्तमुग्धा परसंतापकरणायोगान्मृदुलहृदया स्वदेहमात्ररक्षणे प्रयताऽपि कुरङ्गी निष्ठुरैः कपटवृत्त्या स्वमनोमात्ररञ्जने परप्राणिप्राणानां प्रयाणपथेऽभिलाषुकैर्यदि हता तर्हि निष्करुणैरन्येषां रक्षाभिलाषा कुतः इत्यत्र निर्दयवृत्तेः प्रकर्षता प्रद्योतिता। लोकः स्वपादेऽतिसूक्ष्म-कंटकस्य लग्नेऽपि तत्क्षण एवोपचरति प्रत्युत स एवातितीक्ष्णबाणादिघातक-प्रयोगैरन्यान्निहन्ति। स्वकीयमातृपुत्रादि-

---

उत्थानिका—असहाय, दीन प्राणियों के घात में यानी शिकार में निर्दयपना दिखाते हुए कहते हैं–

अन्वयार्थ—**(भीतमूर्तीः)** डरे हुए शरीर वाली **(गत-त्राणाः)** रक्षक रहित **(निर्दोषाः)** दोष रहित **(देह-वित्तकाः)** देह ही जिनका धन है **(दन्तलग्नतृणाः)** जो दाँतों में तृण लिये हैं ऐसी **(मृगीः)** मृगियों को **(घ्नन्ति)** मार देते हैं तो **(अन्येषु)** अन्य की **(का कथा)** क्या कथा कही जाए ?

अर्थ—जिनका शरीर डरा हुआ है, जिनका कोई रक्षक नहीं हैं, जो निर्दोष है, देह ही जिनका धन है तथा जो दाँतों में तृण धारण करती है ऐसी हिरणियों को भी जो मारते हैं तो अन्य पशुओं की क्या बात कहें ?

टीकार्थ—जिनका शरीर भय के कारण कम्पित होता है, जिनकी रक्षा नहीं हो पाती है, दूसरों को पीड़ा नहीं करती हैं इसलिए जो निर्दोष हैं, अपनी देह को ही धन मानती हैं क्योंकि अन्य पदार्थों का जो संग्रह नहीं करती हैं तथा जो तृण, कण मात्र को खाती हैं ऐसी हिरणियों को भी शिकारी मार देते हैं तो गाय, सिंह, व्याघ्र आदि प्राणियों को मार दें इसमें क्या आश्चर्य है! जंगली जानवरों से निरन्तर भयभीत होने से जिसके नयन चपल बने रहते हैं, अत्यन्त भोली होती हैं, जो दूसरों को थोड़ा भी संताप नहीं पहुँचाती हैं इसलिए मृदु हृदय वाली होती हैं तथा जो अपनी देह मात्र के रक्षण में प्रयत्न करती हैं ऐसी बेचारी दीन हिरणी भी जब मात्र अपने मनोरंजन के लिए दूसरे प्राणियों के प्राणों का नाश करने की इच्छा रखने वाले निष्ठुर लोगों से मार दी जाती है तो फिर ऐसे निर्दय लोग अन्य प्राणों की रक्षा करने की भावना कैसे कर सकते हैं ? कदापि नहीं।

आचार्यदेव ने यहाँ निर्दयवृत्ति की पराकाष्ठा दिखाई है—लोग अपने पैर में तो बहुत छोटा सा भी काँटा लग जाने पर उसका उसी समय उपचार करते हैं जबकि अत्यंत नुकीले बाण आदि चलाकर अन्य प्राणियों का घात करते हैं।

अपने माता, पुत्र आदि परिवार के लोगों को कोई मार देता है तो उनसे बैर बाँध लेते हैं उसी

परिवारजनस्य भ्रंशिते सति वैरमनुबध्नाति तथैवान्येऽपि किं न मयि विषयेऽतिकोपात् दुःखी भवन्ति? ''अहिंसा परमो धर्मो यतो धर्मस्ततो जयः'' इति सर्वजनसुप्रसिद्धाख्यानमपि विस्मरतीत्यद्भुतम्। इति पापर्द्धिव्याख्यानेनोपलक्षणमात्रेणान्यसप्तव्यसन निन्दितमिति विज्ञेयम्। पापभीरु-जनैस्तेषां दृष्टान्तं सदैव चिन्तनीयम्। यथा धर्मराजयुधिष्ठरो द्यूतक्रीडायां बकराजा मांसाशने यादवा मद्यपाने ब्रह्मदत्तनृपो मृगयाविषये चुराकर्मणि तापसो वेश्यागमने चारुदत्तः परस्त्रीरतौ रावण इत्येकैकव्यसनासक्त्या एते जना दुःखपात्रा बभुवुः किं ततः सर्वेषु लिप्सागतस्य कथेति तात्पर्यः। पापभीरु द्वीपायनवदनर्थाद् विरमेदिति भावः। अनुष्टुपछन्दः ॥२९॥

अथ व्यसनानि सप्तैव न भवन्ति परं तु प्रभूतानि दुर्भावभावितान्यानि चापथ-प्रवृत्तिकारणानि भवन्तीत्यत आह–

(आर्या)

पैशून्यदैन्यदम्भस्तेयानृतपातकादिपरिहारात् ।
लोकद्वयहितमर्जय धर्मार्थयशःसुखायार्थम् ॥३०॥

प्रकार मेरे द्वारा शिकारग्रस्त दूसरे प्राणी भी मेरे विषय में अत्यधिक क्रोध करके दुःखी होते हैं, यह क्यों नहीं विचारते हैं ?

कितने आश्चर्य की बात है कि लोग सर्वजनप्रसिद्ध इस बात को भूल जाते हैं कि–''अहिंसा परमो धर्मः'' अहिंसा परम धर्म है और जहाँ धर्म है वहीं विजय है।

इस तरह यहाँ शिकार व्यसन का कथन उपलक्षण मात्र होने से आचार्यदेव ने अन्य सभी व्यसनों की भी निन्दा की है यह जानना। पाप से डरने वाले लोगों को सप्त व्यसनों में प्रसिद्ध पुरुषों के दृष्टांतों पर सदैव विचार करना चाहिए। जैसे कि जुआ खेलने में धर्मराज युधिष्ठिर, मांस खाने में बक राजा, शराब पीने में यादव, शिकार खेलने में ब्रह्मदत्त राजा, चोरी करने में तापस, वेश्यागमन में चारुदत्त, परस्त्री रत में रावण ख्यात हैं। एक-एक व्यसन की आसक्ति के कारण यदि ये लोग दुःख के पात्र बने हैं तो फिर सभी व्यसनों में लिप्सा रखने वाले की क्या बात की जाये? पाप से डरने वाले को द्वीपायन मुनि की तरह अनर्थ से बचना चाहिए। यहाँ अनुष्टुप् छन्द है ॥२९॥

उत्थानिका–व्यसन तो सात ही नहीं होते हैं किन्तु दुर्भाव से भावित अन्य भी ऐसे कारण हैं, जो खोटे मार्ग पर ले जाने में सहायक होते हैं, यही कहते हैं–

अन्वयार्थ–(धर्मार्थ-यशः-सुखाय) धर्म, अर्थ, यश, सुख के लिए **(अर्थम्)** प्रयोजन है तो

पर निन्दन तज दैन्य दंभ से सभी सर्वथा दूर रहो।
मृषा वचन मत बोलो मुख से करो न चोरी भूल अहो ॥
चूँकि धर्म-धन यश-धन धी-धन इष्ट तुम्हें हैं सुखकर हैं।
इह भव हित भी पर भव हित भी अर्जित कर लो अवसर है ॥३० ॥

अन्वयः—धर्मार्थयशः सुखाय अर्थं पैशून्यदैन्यदम्भस्तेयानृतपातकादिपरिहारात् लोकद्वयहितं अर्जय।

पैशून्येत्यादि। धर्मार्थयशः सुखायार्थम्। तत्र धर्मो निःश्रेयसाभ्युदयहेतुः। अर्थो धनं गोमहिषीहयादि-कम्। यशः सर्वत्रगुणकीर्तनम्। सुखं निराकुलत्वम्। धर्मश्चार्थश्च यशश्च सुखं च समाहारद्वन्द्ववृत्त्या योज्यं तस्मै तादर्थ्यमिति। अर्थं प्रयोजनं निमित्तं कारणभूतमित्यर्थः। धर्मश्चार्थश्च यशश्च सुखं च अयश्च समाहारद्वन्द्ववृत्त्या योज्यं तस्मै तादर्थ्यमिति। अत्र अयशब्दः पुण्यार्थे ज्ञेयः। धर्मेत्यादि-कार्यकारण-भूतं कस्मात् भवेदित्याह-पैशून्येत्यादि। तत्र पैशून्यं पिशुनस्य भावः पृष्ठदोषकथनम्। सुमनस्केषु विमनस्कता वा। दैन्यं दीनस्य भावः क्लीबता चारित्रालस इत्यर्थः। दम्भो वञ्चनं छलम्। स्तेयं चुरा। अनृत-मसत्यम्। ऋतं सत्यं न ऋतं अनृतम्। अमूनि द्वन्द्ववृत्त्या पैशून्यादीनि तानि एव पातकानि तेषामादि र्यानि मैथुनसंज्ञाती-चारादीनि तेषां परिहारः परित्यजनं तस्मात् पैशून्यादिदुर्भावपरित्यागादित्यर्थः। अत्र परिहार-शब्दोऽभि-सम्बन्धी प्रत्येकम्। प्रथमं तावदेतेषां परिहारोऽवश्यं कर्तव्यः। परिहारेण विना तत्प्रतिपक्षिगुणा-

---

(पैशून्य-दैन्य-दम्भ-स्तेया-नृत-पातकादि-परिहारात्) दुष्टता, दीनता, कपट, चोरी, असत्य, पाप आदि के त्याग से **(लोक-द्वय-हितम्)** दोनों लोकों का हित **(अर्जय)** संचय करो।

अर्थ—पैशून्य, दैन्य, दम्भ, स्तेय, अनृत, पातक आदि के परिहार से धर्म, अर्थ, यश और सुख के लिए कारणभूत दोनों लोकों का हित अर्जित करो।

टीकार्थ—निःश्रेयस् और अभ्युदय का जो हेतु है वह धर्म है। गाय, भैंस, घोड़ा आदि धन है। सर्वत्र गुणों का बखान होना यश है। निराकुलता सुख है। इन सभी के लिए जो निमित्त या कारणभूत है वह पैशून्य आदि दुर्गुणों का त्याग है। अर्थ-प्रयोजन, कारण, निमित्त कहलाता है ऐसा अर्थ करने से 'धर्मार्थयशःसुखायार्थम्' यह एक पद बन जाता है। धर्म, अर्थ, यश, सुख और पुण्य के लिए पैशून्य आदि का त्याग करना है, यह दूसरा अर्थ है।

पैशून्य—पिशुन का भाव पैशून्य है। पीठ पीछे किसी के दोषों को कहना यानी चुगली करना अथवा सज्जनों से वैमनस्य भाव रखना पैशून्य है।

दैन्य—दीनता का भाव दैन्य है। पुरुषार्थ हीनता, चारित्र पालन में आलस करना भी दैन्य है।

दम्भ—वञ्चना, छल, दम्भ है।

स्तेय—चोरी करना स्तेय है।

अनृत—असत्य कहलाता है। ऋत-सत्य है। जो ऋत नहीं है वह अनृत है।

ये पैशून्य आदि ही पातक-पाप हैं। इनके साथ मैथुन आदि संज्ञाओं और अतिचार आदि दोषों का त्याग भी करना चाहिए।

अथवा स्तेय, अनृत आदि पापों का परिहार करने को कहा है सो यह समझना कि पाँच पापों के त्याग के लिए प्रेरित किया है। एक तरह से पाँच अणुव्रतों का ग्रहण कराया है। पैशून्य, दैन्य, दम्भ के त्याग के साथ ये अष्ट मूलगुण 'तालप्रलम्बन्याय' से श्रावकों को कहे हैं। यही मूलगुण कहीं पर

विर्भावाभावात्। लोकद्वयहितं इहलोकपरलोकं लोकद्वयं तेभ्यो हितं तदिति। अर्जय अर्जनं कुरु। 'अर्ज अर्जने' इति धोर्लोट्। अथवा ''स्तेयानृतपातकादि'' इति वचनादत्र पञ्चाणुव्रतानि गृहीतव्यानि। तेन तालप्रलम्बन्यायेनात्राष्टमूलगुणाः श्रावकाणां कथिताः। ते मूलगुणाः क्वचित् मद्यमांसमधुत्यागैः सहाणुव्रत-पञ्चकमिति। क्वचिच्च मधुत्यागस्य स्थाने द्यूत-त्यागः। यथा चार्षे ''हिंसासत्यस्तेयाद-ब्रह्मपरिग्रहाच्च बादरभेदात्। द्यूतान्मांसान्मद्याद्विरतिर्गृहिणोऽष्ट सन्त्यमी मूलगुणाः॥'' क्वचिच्च पञ्चोदम्बर-फलैः साकं त्रिमकारस्य त्यागः। यथा च-

''मद्यं मांसं क्षौद्रं पञ्चोदम्बरफलानि यत्नेन।
हिंसाव्युपरतिकामै र्मोक्तव्यानि प्रथममेव॥''

इति पुरुषार्थसिद्ध्युपाय। इत्यादि प्रकारेणाष्टमूलगुणानां बहवो भेदा समयानुसारणोल्लेखिता भवन्ति। यथा स्वामिना श्रावकाचारे सद्दर्शनमुपवर्ण्याष्ट-मूलगुणकथनं गृहस्थानां प्रथमं कथितं तथास्मिन् ग्रन्थेऽपि सम्यक्त्वपुरस्सरं सप्तव्यसनं परित्यज्य स्थूलतयाष्टमूलगुण पञ्चाणुव्रतपालनमुद्दिष्टम्। एते गुणा व्रतिनामव्रतिनां वाऽविशेषतयाऽनुष्ठेयाः। पालनीयाः केषाञ्चिदिमे कुलाम्नायादायाताः सन्ति। यदि न तर्हि नियमेन संकल्प्य। यस्माच्चैतैर्विना नामतोऽपि श्रावको नास्ति दूरमास्तां व्रतसम्यक्त्वमिति ॥आर्या-वृत्तम्॥३०॥

मद्य, मांस, मधु त्याग के साथ पंच अणुव्रतों को ग्रहण करना है। कहीं पर मधु त्याग के स्थान पर द्यूत त्याग कराया है। जैसे आर्ष में कहा है-हिंसा, असत्य, स्तेय, अब्रह्म और परिग्रह के बाह्य भेद के साथ द्यूत, मांस और मद्य से विरति होना गृहस्थ के आठ मूलगुण हैं। कहीं पर पाँच उदुम्बर फलों के साथ तीन मकार का त्याग आठ मूलगुण कहा है। जैसा कि **पुरुषार्थसिद्धियुपाय** में-मद्य, मांस, मधु और पाँच उदम्बर फलों को हिंसा से दूर रहने वालों को यत्नपूर्वक पहले छोड़ देना चाहिए।

इस प्रकार आठ मूलगुणों के अनेक भेद समयानुसार लिखे गये हैं। जैसे आचार्य समन्तभद्र-स्वामी ने **रत्नकरण्डकश्रावकाचार** में सम्यग्दर्शन का वर्णन करके अष्ट मूलगुणों का कथन किया है उसी प्रकार इस ग्रन्थ में भी सम्यग्दर्शन के दस भेदों को दिखाकर सप्त व्यसन का त्याग कराके स्थूल रूप से पंच अणुव्रत-पालन या अष्टमूलगुण का पालन करने को कहा है। ये गुण व्रती या अव्रती श्रावक को सामान्य रूप से पालने योग्य हैं। किन्हीं के लिए तो यह व्रत कुलाम्नाय से चले आते हैं। यदि कुल परम्परा से प्राप्त न हुए हों तो नियम से संकल्प करके इनका पालन करना चाहिए। इन व्रतों के बिना कोई नाम से भी श्रावक नहीं है, फिर उसके व्रत, सम्यक्त्व होना तो दूर की बात है। यहाँ आर्याछन्द है॥३०॥

उत्थानिका-अहिंसा आदि व्रतों का आचरण करने वाले साधक पर आने वाली विपत्तियों को कदम-कदम पर उसका पूर्वकृत पुण्य ही दूर करने की सामर्थ्य रखता है, यह दृष्टान्त द्वारा कहते हैं-

अथाहिंसादिव्रतमाचरतो विपदापतिते पदे पदे पूर्वाचरितपुण्यस्यैव तन्निवारणाय सामर्थ्यमस्तीति दृष्टान्तद्वारेण दृढयन्नाह–

(वसन्ततिलका)

पुण्यं कुरुष्व कृतपुण्यमनीदृशोऽपि.
नोपद्रवोऽभिभवति प्रभवेच्च भूत्यै।
संतापयज्जगदशेष-मशीतरश्मिः ,
पद्मेषु पश्य विदधाति विकाशलक्ष्मीम्॥३१॥

अन्वयः—कृतपुण्यं अनीदृशः अपि उपद्रवः न अभिभवति च भूत्यै प्रभवेत् (अतः) पुण्यं कुरुष्व पश्य अशीतरश्मिः अशेषं जगत् संतापयन् पद्मेषु विकाशलक्ष्मीम् विदधाति।

पुण्यमित्यादि। कृतपुण्यं कृतं अनुष्ठितं विहितं वा पुण्यं धर्मो येन स तथोक्तस्तं पुण्यवन्तं जनमित्यर्थः। अनीदृशः ईदृशः सर्वैरभिगम्यः साधारणः इत्यर्थः। न ईदृशः अनीदृशः असाधारणः परेषामसम्भवीत्यर्थः। 'नञोऽन्' अजादौ च 'अचि' इत्यनेनाऽन् भवति ष सः। अपि सम्भावनायाम्। ''अपि

अन्वयार्थ—(कृतपुण्यम्) पुण्यवान प्राणी को **(अनीदृशः)** अनोखे **(अपि उपद्रवः)** उपद्रव भी **(न अभिभवति)** हरा नहीं पाते हैं। अपितु उसके लिए **(भूत्यै प्रभवेत्)** सम्प्रत्ति का साधन बन जाते हैं। इसलिए **(पुण्यम्)** पुण्य **(कुरुष्व)** करो। **(पश्य)** देखो! **(अशीतरश्मिः)** सूर्य **(अशेषं जगत्)** सम्पूर्ण जगत् को **(संतापयन्)** संतप्त करता हुआ भी **(पद्मेषु)** कमलों में **(विकाश लक्ष्मीम्)** विकासरूपी लक्ष्मी **(विदधाति)** ही उत्पन्न करता है।

अर्थ—पुण्य करो। जिसने पुण्य किया है उसको असाधारण उपद्रव भी पराजित नहीं कर पाते हैं किन्तु वे उपद्रव भी विभूति के लिए हो जाते हैं। देखो! सभी को ताप देता हुआ सूर्य कमलों में विकासरूपी लक्ष्मी को ही उत्पन्न करता है।

टीकार्थ—जिसने पुण्य, धर्म किया है उस पुण्यवान् आत्मा का, दूसरों को सम्भव न हो ऐसे विशिष्ट उपद्रव, घोर उपसर्ग भी कुछ बिगाड़ नहीं कर पाते हैं। उलटा वे उपसर्ग उसके लिए वैभव का कारण बन जाते हैं। जो आत्मा को पवित्र करता है या जिससे आत्मा पवित्र हो जाती है वह शुभ अनुष्ठान पुण्य कहा जाता है। हे भव्य! देखो जो सूर्य अपनी किरणों से पूरे संसार को ताप देता है वही कमलों को विकसित कर प्रफुल्लित करता है। जैसे एक ही सूर्य अपनी तीव्र उष्ण किरणों से सम्पूर्ण

पुण्य करो निज पुण्य पुरुष को कुछ नहिं करती आपद है।
आपद ही वह बन जाती है सुखद संपदा आस्पद है॥
निखिल जगत को निजी ताप से तपन तपाता यदपि यहाँ।
सकल दलों सह कमल दलों को खुला खिलाता तदपि अहा ॥३१॥

सम्भावनाशङ्काप्रश्नगर्हा-समुच्चये।'' इति विश्वलोचने। उपद्रवः घोरोपसर्गः। न अभिभवति पराभवं न करोतीत्यर्थः। च अपि तु प्रत्युतार्थे। अव्ययानामनेकार्थत्वात्। भूत्यै भूत्यर्थम्। भूति र्विभूतिर्वैभवो वा। तदर्थे तत्प्रयोजनायेति। तादर्थ्येऽप्यम्। यथा चोक्तम्-''**संयमाय श्रुतं धत्ते नरो धर्माय संयमम्। धर्मं मोक्षाय मेधावी धनं दानाय भुक्तये॥**'' इति कातन्त्रम्। प्रभवेत् समर्थो भवेत्। पुण्यं पुनात्यात्मानं पूयतेऽनेनेति वा पुण्यं शुभानुष्ठानमुच्यते। कुरुष्व विधानं कुरु। 'डुकृञ् करणे' इत्येतस्माद्धो लोंट्। अत्राज्ञार्थे विधिप्रयोगो द्रष्टव्यः। आज्ञार्थे प्रयुक्तकार्यस्य न कृते महत् पातकमस्ति। यथा चोक्तं-''भिक्खं चर वस रण्णे...'' इत्यादि। ''विधिनिमन्त्रणामन्त्रणाधीष्टसंप्रश्नप्राथ'' विधिनिमन्त्रणा-मन्त्रणाधीष्टसंप्रश्नप्राथ लिङ्।' 'लोट् च' इति पाणिनीयम्। अथ दृष्टान्तमाह-पश्य हे भव्य! इति शेषः ध्यानाकर्षणार्थम्। अशीतरश्मिः अशीतः उष्णो रश्मिः ज्योतिर्यस्य स भास्कर इत्यर्थः। अशेषं न शेषं अशेषं सम्पूर्णमित्यर्थः। जगत् लोकं। संतापयन् संतापं कारयन्। पद्मेषु कमलेषु। विकाशलक्ष्मीम् विकाशो विकसनं स एव लक्ष्मीर्वैभवस्ताम्। विदधाति धत्ते। 'डुधाञ् धारणे' इति धातो र्लट्। यथैकोऽपि सूर्यः सकलजगत्प्राणिनं तीव्रोष्णरश्मिभिस्तापयन् कमलदलं मोदयति तथैव कृतपुण्यवन्त-माकस्मिकविपदुपयाते दुर्भिक्षभूचालातिवर्षादि-रूपे धर्मः सुखयति सकलांश्चोपक्षते पार्श्वनाथ राम-प्रद्युम्नवत्। यद्वा भूरिजनाः पुण्यवन्तं प्रति क्लेशोपायान् सहस्रशो विदधति तथापि स पुण्यवान् तान् तिरस्करोति कमलदलहर्षवत्। अथवा सूर्यः स्वतापेनान्यान् संतापयन्नपि पद्मं प्रसीदति च स्वप्रकाशेन लोकदृष्टिपथे विषयीकरोति तथा हि पुण्यं पुरार्जितं पुण्यवन्तं खलान्निवारयन् लोके भूरिकीर्तिप्रकाशं प्रकटयतीति द्विमुखीफलम्। अतः प्रोत्सह्य पुण्यं कुरु। अन्यत्रापि-प्रोक्तम्-

---

संसार को संताप पहुँचाता हुआ कमल समूह को प्रसन्न करता है उसी प्रकार पुण्यवान पुरुष को दुर्भिक्ष, भूकम्प, अतिवृष्टि आदि आकस्मिक विपत्तियाँ आ जाने पर धर्म सुख देता है जबकि अन्य पुण्यशून्य जन की वह उपेक्षा करता है। जैसे पार्श्वनाथ मुनि पर ज्योतिषी देव संवर ने उपसर्ग किया लेकिन वह उन्हें केवलज्ञान की उत्पत्ति का कारण बन गया। इसी तरह रामचन्द्रजी, लक्ष्मण जी वनवास में भी रावण को मारकर प्रसिद्धि पा गए। प्रद्युम्न को उसकी ही माँ ने मरवाने का कितना प्रयास किया लेकिन उससे उन्हें लाभ ही हुआ।

इसका दूसरा अर्थ ऐसे भी समझ सकते हैं कि बहुत से लोग पुण्यवान जीव को हजार क्लेश पहुँचाने के उपाय करते हैं फिर भी वह पुण्यवान जीव उन सबका तिरस्कार कर देता है जैसे कमलों के पत्ते सूर्य की किरणों से जलने की बजाय खिलते हैं और कमल का फूल सूर्य की उन तीक्ष्ण किरणों का भी तिरस्कार कर देता है।

इसका तीसरा अर्थ यह भी है कि जैसे सूर्य अपने ताप से अन्य लोगों को संतप्त करके भी कमलों को प्रसन्न करता है, अपने प्रकाश से लोगों की दृष्टि में उस फूल को दिखाता है उसी तरह पहले अर्जित किया हुआ पुण्य दुष्ट जनों से पुण्यवान को दूर करता हुआ लोक में खूब कीर्ति के प्रकाश को भी प्रकट करता है। इस तरह दो प्रकार से फल देता है। इसलिए खूब उत्साह बनाकर पुण्यार्जन करना चाहिए। अन्यत्र भी कहा है-

सकलापि कला कलावतां विकला पुण्यकलां विना खलु।
सकले नयने वृथा यथा तनुभाजां हि कनीनिकां विना॥

इति वसन्ततिलकावृत्तम्॥३१॥

अधुना पूर्वकृतपुण्यमेव भाग्यत्वेन स्वीकृत्य तस्य सामर्थ्यं प्रदर्शयन्नाह–

नेता यत्र बृहस्पतिः प्रहरणं वज्रं सुराः सैनिकाः,
स्वर्गो दुर्गमनुग्रहः खलु हरेरैरावणो वारणः।
इत्याश्चर्यबलान्वितोऽपि बलभिद्भग्नः परैः सङ्गरे,
तद्व्यक्तं ननु दैवमेव शरणं धिग्धिग्वृथा पौरुषम् ॥३२॥

अन्वयः—यत्र बृहस्पतिः नेता, प्रहरणं वज्रं, सुराः सैनिकाः, दुर्गं स्वर्गः, हरेः खलु अनुग्रहः, ऐरावणः वारणः इति आश्चर्यबलान्वितः अपि बलभित् संगरे परैः भग्नः तत् व्यक्तं ननु दैवं एव शरणं पौरुषं वृथा धिक् धिक्।

''कलावान पुरुषों की सभी कलाएँ एक पुण्यकला के बिना अधूरी हैं। जैसे संसारी प्राणियों की बड़ी-बड़ी सम्पूर्ण आँखें भी आँख की पुतली के बिना बेकार हैं।''

व्याकरण के अनुसार यहाँ–'कुरुष्व' इस क्रिया पद का प्रयोग है। जो लोट् लकार में है। लोट् लकार आज्ञा अर्थ में विधि प्रयोग बताता है। ऐसी उक्ति है कि ''जो कार्य आज्ञा रूप में करने को कहा है उसे न करने पर बहुत पाप होता है।'' जैसे **मूलाचार** में मुनियों के लिए कहा है–भिक्षा चर्या करो, एकान्त में रहो इत्यादि। इसी प्रकार यहाँ आचार्यदेव ने पुण्य करने की आज्ञा दी है और यह आज्ञा न मानने पर महान् पाप होगा, इसमें संशय नहीं है।

यहाँ प्रयोजन के लिए चतुर्थी विभक्ति का प्रयोग 'भूत्यै' इस शब्द में जानना। प्रयोजन के लिए चतुर्थी विभक्ति का ही प्रयोग होता है जैसे–''संयम के लिए मनुष्य श्रुतज्ञान धारण करता है, धर्म के लिए संयम धारण करता है, मेधावी जन धर्म को मोक्ष के लिए करता है तथा धन दान और भोग के लिए रखता है।'' यहाँ वसन्ततिलका छन्द है ॥३१॥

उत्थानिका—अब पूर्वकृत पुण्य को ही भाग्य रूप से स्वीकार करके उस भाग्य के सामर्थ्य को दिखाते हैं–

अन्वयार्थ–(यत्र) जहाँ **(बृहस्पतिः)** बृहस्पति **(नेता)** नेता यानी मंत्री था **(प्रहरणम्)** शस्त्र **(वज्रम्)** वज्र था **(सुराः)** देव **(सैनिकाः)** सैनिक थे **(स्वर्गः)** स्वर्ग **(दुर्गम्)** किला था **(हरेः अनुग्रह)**

सुरगुरु मन्त्री सुर सैनिक थे जिसके शिर पर 'हरिकर' था।
स्वर्ग दुर्ग था वज्र शस्त्र था ऐरावत वर कुंजर था।
बली इन्द्र भी इस विध रण में रावण दानव से हारा॥
अतः शरण बस दैव, वृथा है पौरुष को बहु धिक्कारा ॥३२॥

नेतेत्यादि। यत्र पद्मचरित्रे इन्द्रस्य विद्याधरस्य वृत्तान्ते। बृहस्पतिः वाचस्पतिः। नेता मार्गप्रदर्शकः। सत्पथं नयतीति नेता राज्ञो मन्त्रीत्यर्थः। प्रहरणं शस्त्रम्। प्रह्रियतेऽनेनेति प्रहरणम्। 'करणाधारे चानट्' इति करणेऽत्राऽनट्। वज्रं अभेद्यम्। वज्रतुल्यमित्यर्थः। सुराः देवाः। सैनिकाः सेनारक्षाः। सेनायां समवेता ये ते सैन्याः सैनिका वोच्यन्ते। 'सेनाया वा' इत्यनेन ठण्। दुर्गम् दुःखेन गम्यते यत्र तद् दुर्गम्। सदुर्गो राजा पराभवस्थानो न भवति। यदुक्तम्–''न गजानां सहस्रेण न लक्षेण च वाजिनाम्। तथा सिद्ध्यन्ति कार्याणि यथादुर्गप्रभावतः॥'' स्वर्गः द्युर्लोकः। हरेः यमस्य। ''यमानिलेन्द्रचन्द्रार्कविष्णुसिंहांशुवाजिषु। शुकाहि-कपिभेकेषु हरिर्ना कपिले त्रिषु'' इत्यमरः। खलु स्फुटम्। अनुग्रहः कृपा। स च दीर्घायुरित्यर्थः। ऐरावणः इन्द्रस्य वाहनविशेषो लक्षयोजनप्रमाणः। तत्सदृशस्तन्नामको वा सः। वारणः हस्ती। इति एवमुक्तप्रकारम्। आश्चर्यबलान्वितः आश्चर्यमद्भुतं च तद्बलं शक्तिः सेना वा तेन अन्वितः सहितः स तथोक्तः। अपि निश्चये। बलभित् इन्द्रः। संगरे युद्धे। परै र्दशाननैः। भग्नः विनष्टो गृहीतो बन्दीकृत इत्यर्थः। तत् तस्मात्। व्यक्तं सुप्रसिद्धमिदम्। दैवं पूर्वकृतपुण्यम्। एव अवधारणे। शरणमाश्रयः। पौरुषं पुरुषार्थम्। उभसर्वतसोः कार्यो धिगुपर्यादिषु त्रिषु। कृतद्वित्वेष्विपा योगस्ततोऽन्यत्रापि दृश्यते॥ इति इप् धिग्योगे। वृथा व्यर्थम्। धिक् धिक्। आभीक्ष्ण्ये द्विः। तेनेन्द्रेण स्वपुरुषार्थेन वैमानिकदेवप्रतिमवैभवबलं विरचितं किं तु दैवात् सर्वं

हरि की कृपा थी **(ऐरावणो)** ऐरावत **(वारणः)** हाथी था **(इति)** इस प्रकार **(आश्चर्य-बलान्वितः)** आश्चर्यकारी बल से युक्त होते हुए **(अपि)** भी **(बलभित्)** इन्द्र **(संगरे)** युद्ध में **(परैः)** शत्रुओं से **(भग्नः)** नष्ट हुआ **(तत् व्यक्तम्)** इसलिए स्पष्ट है **(ननु)** वास्तव में **(दैवम्)** भाग्य ही **(शरणम्)** शरण है **(पौरुषम्)** पुरुषार्थ **(वृथा)** व्यर्थ है **(धिक् धिक्)** उसे धिक्कार है।

अर्थ—जहाँ नेता बृहस्पति, शस्त्र वज्र, देव सैनिक, दुर्ग स्वर्ग, हरि का अनुग्रह, ऐरावत हाथी था इस आश्चर्यकारी बल सहित होकर भी इन्द्र युद्ध में शत्रुओं से पराजित हुआ। इससे स्पष्ट है कि निश्चित ही दैव ही शरण है। पुरुषार्थ व्यर्थ है उसे धिक्कार है, धिक्कार है।

टीकार्थ–पद्मपुराण में इन्द्र विद्याधर का वृत्तान्त है। उस इन्द्र के यहाँ नेता, मार्गप्रदर्शक वाचस्पति था। जो सत्पथ पर ले जाता है वह नेता है जो राजा का मन्त्री होता है। जिससे प्रहार किया जाता है वह शस्त्र अभेद्य वज्र था। सेना की रक्षा करने वाले सैनिक या सेना में रहने वाले सैनिक देव थे। जिसमें से बड़े कष्ट से निकला जाता है वह दुर्ग कहलाता है। जो राजा दुर्गसहित होता है उसका पराभव नहीं होता है। कहा भी है–''न तो हजारों हाथियों से, न लाखों अश्वों से राजा के कार्य उस तरह सिद्ध होते हैं जैसे दुर्ग के प्रभाव से सिद्ध होते हैं।'' उस इन्द्र का दुर्ग ही स्वर्गलोक था। जिस इन्द्र पर यम की कृपा थी। वह दीर्घायु था। ऐरावत हाथी एक वाहन विशेष है जो एक लाख योजन प्रमाण है। उसी के सदृश या उसी नाम का हाथी इन्द्र विद्याधर का था। इतने अद्‌भुत बल वाला, शक्ति वाला, सेना वाला वह इन्द्र था, फिर भी यह सुप्रसिद्ध है कि उस इन्द्र को भी दसानन ने पकड़ लिया और बन्दी बना लिया था। इसलिए कृत पुण्य ही वास्तव में शरण है, पौरुष को धिक्कार है। उस इन्द्र ने अपने पुरुषार्थ से वैमानिक देवों के समान अपना वैभव और बल बना लिया था किन्तु

विघटितम्। अहो दैवविमुखे निजपौरुषनिर्मितं वज्रं प्रहरणं दुर्गमपि विलयति मारुताहतमेघवत् यत्रैक-तस्तत्रैकतो दैवसंमुखे देवेन्द्राज्ञया नरकेऽपि वज्रकपाटं मारुतायतमेघवत् निर्मिमीते। यदुक्तं च–

''तित्थयरसंतकम्मुवसग्गं णिरए णिवारयंति सुरा।
छम्मासाउगसेसे सग्गे अमलाणमालंको॥''

तेन पौरुषाभिमानेनालम्। शार्दूलविक्रीडितवृत्तम् ॥३२॥

अथ यद्यैवं तर्हि पुरुषार्थो न कर्त्तव्यः इति कस्यचिदभिप्रायं निवार्य सम्यक् पुरुषार्थस्यानुष्ठेतारं प्रदर्श्य पौरुषार्थं प्रेरयन्नाह–

(शार्दूलविक्रीडित)

भर्तारः कुलपर्वता इव भुवो मोहं विहाय स्वयं,
रत्नानां निधयः पयोधय इव व्यावृत्तवित्तस्पृहाः।
स्पृष्टाः कैरपि नो नभो विभुतया विश्वस्य विश्रान्तये,
सन्त्यद्यापि चिरन्तनान्तिकचराः सन्तः कियन्तोऽप्यमी ॥३३॥

अन्वयः–स्वयं मोहं विहाय भुवः भर्तारः कुलपर्वता इव, व्यावृत्तवित्तस्पृहाः रत्नानां निधयः पयोधय इव, नभः विभुतया कैः अपि नो स्पृष्टाः, विश्वस्य विश्रान्तये अद्य अपि सन्तः चिरन्तनान्तिकचराः कियन्तः अपि अमी सन्ति।

दैव से सब नष्ट हो गया। अहो आश्चर्य है कि दैव के विपरीत होने पर अपने पुरुषार्थ से बनाया वज्र शस्त्र, दुर्ग सब कुछ हवा से नष्ट बादलों की तरह विलीन हो जाता है। उधर दैव के विपरीत होने पर एक ओर ऐसा होता है तो दैव के सम्मुख होने पर देवेन्द्र की आज्ञा से नरक में भी हवा से इकट्ठे हुए मेघों की तरह, वज्र कपाट का निर्माण हो जाता है। कहा भी है–

''देव लोग नरक में तीर्थंकर प्रकृति की सत्ता वाले नारकी का उपसर्ग भी निवारण कर देते है जब उस नारकी की आयु छह महीने शेष रह जाती है और स्वर्ग में भी ऐसे तीर्थंकर प्रकृति की सत्ता वाले देव की माला मुरझाती नहीं है। इसलिए पौरुष का अभिमान करना ठीक नहीं है।'' यहाँ शार्दूलविक्रीडित छन्द है ॥३२॥

उत्थानिका–यदि ऐसा है तो फिर पुरुषार्थ नहीं करना चाहिए, इस प्रकार किसी के अभिप्राय को दूर करने के लिए समीचीन पुरुषार्थ के अनुष्ठाता को दिखाकर पुरुषार्थ करने की प्रेरणा करते हुए कहते हैं–

धरणीपति सम अचल कुलाचल मोह भाव से रहित हुए।
जलनिधि सम धन राग रहित हो गुण मणि निधि से सहित हुए ॥
पर आश्रित ना नभ सम स्वाश्रित जग हित में निर निरत हुए।
सन्त आज भी लसे पुराने मुनि सम कतिपय विरत हुए ॥३३॥

भर्तार इत्यादि। स्वयं अन्यापेक्षं विना। मोहं मोहो जातिलिङ्गपन्थगुरुशासनादि-व्यामोहोऽत्र विवक्षितस्तमन्यस्य प्रागेव सन्त्यजनात्। विहाय त्यक्त्वा। भुवः पृथिव्याः। भर्तारः बिभ्रतीति भर्तारस्ते पोषकाः उद्धारका वा। कुलपर्वताः कुलाचलाः। इव औपम्यार्थे। यथा कुलाचलाः स्वाधारभूमिं जननीमिव भूमिमपि त्यक्त्वा स्वसुखनिरभिलाषाः परार्थं तपनतापेन संतप्यमाना भूमिवासिनं काष्ठौषधिजीवनापेक्षि-सामग्रीप्रदानेन पुष्यन्ति तथा महामुनयः शरीरादिसकलपरपदार्थव्यामोहं परित्यज्य प्रचण्डमार्तण्डप्ररोचिषा सन्तप्यमाना अपि अपुण्यवतां निसर्गेण पुण्यलाभपुरस्सरमात्म-लाभफलं वितरन्ति रागद्वेषमोहादिना परकल्याणासम्भवत्वात्। व्यावृत्तवित्तस्पृहाः व्यावृत्ता विरहिता विनिर्गता वा वित्तस्य धनस्य स्पृहा वाञ्छा येभ्यस्ते धनेच्छारहिता इत्यर्थः। रत्नानां सद्दृग्वृत्तज्ञानतपोरत्नानाम्। निधयः आकराः। पयोधयः रत्नाकराः। पयो जलं धीयन्ते यस्मिन् ते तथोक्ताः। इव उपमार्थे। यथा रत्नाकराः रत्नानामाकराः सन्तः क्षुद्रमौक्तिक-शङ्खसिकताश्मादिवस्तूनि न गृह्णन्ति स्वान्तर्गर्भगतबहुमूल्य-रत्नधारणात् तथा हि न महायोगिनो जडवस्तूनि

अन्वयार्थ—(स्वयम्) स्वयं **(मोहं विहाय)** मोह को छोड़कर **(भुवः)** पृथ्वी के **(भर्तारः)** स्वामी **(कुल पर्वता इव)** कुलाचल पर्वत की तरह हैं। **(व्यावृत्त-वित्तस्पृहाः)** धन की इच्छा से रहित हुए **(रत्नानां निधयः)** रत्नों की निधि स्वरूप **(पयोधय इव)** समुद्र के समान हैं **(नभः विभुतया)** आकाश की विशालता के समय **(कैः अपि)** किसी के द्वारा भी **(नो स्पृष्टाः)** नहीं स्पर्श किये जाते हैं **(विश्वस्य)** जो विश्व की **(विश्रान्तये)** थकान को दूर करने के लिए हैं। **(अद्य अपि)** आज भी ऐसे **(चिरन्तनान्तिकचराः)** जो चिर दीक्षित महामुनियों के निकट हैं उनके शिष्य हैं ऐसे **(कियन्तः अपि)** कितने ही **(सन्तः)** सन्तपुरुष भी **(अपि सन्ति)** आज भी विद्यमान हैं।

अर्थ—जो स्वयं मोह को छोड़कर कुल पर्वतों के समान पृथ्वी के पालक हैं। समुद्र के समान धन की इच्छा से रहित होकर रत्नों के स्वामी है, जो आकाश के समान व्यापक होने से किसी के द्वारा स्पृष्ट नहीं हुए जाते हैं। जो विश्व की विश्रान्ति के लिए हैं। आज भी ऐसे प्राचीन मुनियों के निकट रहने वाले कितने ही सन्त हैं।

टीकार्थ—जाति, लिंग, पन्थ, गुरु, शासन आदि के व्यामोह को जो पहले ही छोड़ चुके हैं ऐसे मोह को छोड़कर बिना किसी अपेक्षा के जो पृथ्वी के पोषक, उद्धारक हैं।

जैसे कुलाचल पर्वत माता के समान अपनी आधार स्थली भूमि को छोड़कर अपने सुख में निरुच्छुक हुए सूर्य के ताप से तप्त होते हुए परोपकार के लिए भूमिवासियों को काष्ठ, औषधि और जीवनोपयोगी सामग्री प्रदान करके पुष्ट करते हैं उसी प्रकार महामुनि शरीर आदि समस्त पदार्थों के व्यामोह को छोड़कर प्रचण्ड सूर्य की किरणों से सन्तप्त होते हुए भी हीन पुण्य वालों को स्वभाव से ही पुण्य लाभ पूर्वक आत्मलाभ का फल वितरित करते हैं क्योंकि राग, द्वेष, मोह आदि से पर कल्याण असम्भव है। समुद्र रत्नों के भण्डार होते हुए छोटे-छोटे मोती, शंख, बालू, पत्थर आदि वस्तुओं को ग्रहण नहीं करते हैं क्योंकि अपने भीतर गर्भ में समुद्र बहुमूल्य रत्नों को धारण किये रहता

स्वायत्तमहासत्तासक्तिवशवर्तित्वात्। नभः आकाशम्। इव शब्दोऽत्राकृष्टः। विभुतया विभुता व्यापकता तथा सर्वत्र सर्वेषामवस्थानदानात्। कैः जङ्गमाजङ्गमपदार्थैः। अपि निश्चयार्थे। नो निषेधार्थक-मव्ययम्। स्पृष्टाः संश्लिष्टाः। यथाकाशं सर्वावकाशप्रदायि तथापि न केन स्पृष्टो बद्धस्तथा हि योगी। 'गयणमिव णिरुवलेवा' इति वचनात्। विश्वस्य सकललोकस्य। विश्रान्तये खेदापनोदाय क्लेशापहरणार्थमित्यर्थः। अद्य प्रवर्तमानसमये। अपि स्फुटम्। सन्तः सन्मार्गगामिनः। चिरन्तनान्तिकचरा चिरन्तानानां स्थविराणां महामुनीनाम्। अन्तिकं निकटं चरन्तीति अन्तिकचराः शिष्याः। तेषामन्तिकचरास्तथोक्ताः। कियन्तः एकद्वित्रिसंख्यकाः यथा कुलपर्वताः षडेव। अपि समुच्चये। अमी दृश्यमानाः। सन्ति तिष्ठन्ति। 'अस् भुवि' लट्। शार्दूलविक्रीडितवृत्तम् ॥३३॥

अथैकत एवंविधाचरणपरोऽन्यतो लोकस्य चिन्तनीयदशां दर्शयन्नाह–

(शिखरिणी)

पिता पुत्रं पुत्रः पितरमभिसंधाय बहुधा,
विमोहादीहेते सुखलवमवाप्तुं नृपपदम्।
अहो मुग्धो लोको मृतिजननदंष्ट्रान्तरगतो,
न पश्यत्यश्रान्तं तनुमपहरन्तं यमममुम् ॥३४॥

अन्वयः—पिता पुत्रं पुत्रः पितरं बहुधा अभिसंधाय नृपपदं सुखलवं अवाप्तुं विमोहात् ईहेते, अहो मुग्धः लोकः मृतिजननदंष्ट्रान्तरगतः अमुं अश्रान्तं तनुं अपहरन्तं यमं न पश्यति।

है, उसी तरह महायोगी जड़ वस्तुओं को ग्रहण नहीं करते हैं क्योंकि सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र तपरूप रत्नों से युक्त स्वाधीन महासत्ता की आसक्ति में रहते हैं। आकाश सभी को अपनी व्यापकता से स्थान प्रदान करता है फिर भी चेतन-अचेतन पदार्थों से निर्लिप्त रहता है। आकाश जिस तरह सभी को अवकाश प्रदान करता है फिर भी किसी की पकड़ में नहीं आता है और न बँधता है, उसी प्रकार से ऐसे निरासक्त योगी सम्पूर्ण लोक के क्लेश को दूर करने के लिए होते हैं। स्थविर महामुनियों के निकट में रहने वाले ऐसे सन्मार्गगामी शिष्य आज भी छह कुलपर्वतों की तरह यानी कम संख्या में आज भी देखे जाते हैं। उनका सर्वथा अभाव नहीं है। यहाँ शार्दूलविक्रीडित छन्द है ॥३३॥

उत्थानिका—एक ओर तो इस प्रकार के आचरण में तत्पर महापुरुष हैं और दूसरी तरफ लोक की चिन्तनीय दशा को दिखाते हुए कहते हैं–

नृप-पद जैसे सुख लव पाने मोह मद्य पी भ्रमित हुए।
पिता पुत्र को पुत्र पिता को ठगते धन से भ्रमित हुए॥
अहो! मूढ़जग जनन-मरण के दीर्घ दाढ़ में पड़ा हुवा।
नहिं लखता, रत, तन हरने में निकट काल को खड़ा हुवा ॥३४॥

पितेत्यादि। पिता जनकः। पुत्रं कामपुरुषार्थोत्पन्नफलम्। पुत्रः कुलदीपकः। पितरं जनकं भ्रातरं वा पितृतुल्यत्वात्। बहुधा बहुप्रकारेण। 'संख्यायाः प्रकारे धा'। अभिसंधाय अभिसंधिं कपटविधिं विधाय। नृपपदं नृपस्य पदं राजस्थानम्। कथं-भूतम्? सुखलवं सुखस्य लवो लेशो यत्र विद्यते तम्। अवाप्तुं प्राप्तुम्। कस्मात् कारणात्? विमोहात् विशिष्टमोहात् तीव्रमूढत्वादित्यर्थः। ईहेते वाञ्छतः 'ईह चेष्टायाम्' लट् द्विवचनम्। अहो विस्मयेऽव्ययपदम्। मुग्धः मोहमूढः। लोकः अयं संसारः। कथम्भूतः? मृतिजनन-दंष्ट्रान्तरगतः मृतिर्मरणं जननमुत्पत्तिः तौ उभौ दंष्ट्रौ तयोरन्तरगतः मध्ये गतः स तथाभूतः। अमुं तम्। 'अदसस्तु विप्रकृष्टे' इत्येतस्य द्वितीयायामेक-वचनम्। अश्रान्तं विश्रामं विनाऽनवरतमित्यर्थः। तनुं शरीरम्। अपहरन्तं अपहरतीत्यपहरन् तं बलान्नयन्तम्। 'हृञ् हरणे' इति शतृन्। यमं यमोमृत्युस्तम्। न पश्यति न चिन्तयतीत्यर्थः। 'द्य शर् प्रेक्षणे' इत्येतस्माद्धोः 'दृशे पश्यः' इति सूत्रात् पश्यादेशो लट्। अत्र पिता पुत्रं प्रति परस्परदृष्टान्तमुपलक्षणमात्रकं तेनान्यमन्त्रिराजभ्रातृप्रभृति-सम्बन्धमपि-विजानीयात्। यथा तीव्रलोभान्-मार्जारो मुखान्तर्गतदुग्धमूषकादिकं स्वमूर्ध्नताडितदण्डप्रहारमवगणयन् तं न मुञ्चति तथा यममुखान्तर्गत-प्रतिजीवितमपश्य स्वल्पार्थाय मनोवाञ्छार्थं महत् पापमिति लोकस्य मूढत्वम् ॥३४॥

अन्वयार्थ–(पिता) पिता **(पुत्रम्)** पुत्र को **(पुत्रः)** पुत्र **(पितरम्)** माता-पिता को **(बहुधा)** अनेक प्रकार के **(अभिसंधाय)** छल करके **(नृपपदं)** नृपपद का **(सुखलवम्)** थोड़ा सा सुख **(अवाप्तुम्)** प्राप्त करने के लिए **(विमोहात्)** मोह से **(ईहेते)** चेष्टा करते हैं। **(अहो)** आश्चर्य है कि **(मुग्धः लोकः)** यह मूर्ख लोक **(मृति-जनन-दंष्ट्रान्तरगतः)** मरण-जन्म की दाढ़ों में पड़े हुए **(अश्रान्तं तनुम्)** शरीर का अनवरत **(अपहरन्तम्)** अपहरण करने वाले **(यमम्)** यम को **(न पश्यति)** नहीं देखता है।

अर्थ–पिता पुत्र को, पुत्र पिता को धोखा देकर राजपद के थोड़े से सुख की प्राप्त करने के लिए व्यामोह से चेष्टा करते हैं। अहो! यह मूढ़ लोक मरण और जन्म की दाढों के बीच पड़े हुए इस शरीर को निरन्तर नष्ट करने वाले यम को नहीं देखता है।

टीकार्थ–पिता अपने काम पुरुषार्थ से उत्पन्न पुत्र को और वह कुलदीपक पुत्र अपने पिता और पिता तुल्य बड़े भाई को बहुत प्रकार से कपट विधि करके थोड़े से सुख के कारणभूत राजपद को प्राप्त करने के लिए तीव्र मोह से चेष्टा करता है। विस्मय है कि जन्म, मरण की दो दाढों के बीच में पड़ा यह जीव अपने शरीर का अनवरत अपहरण करने वाले यम, काल को नहीं देखता है। यहाँ पिता का पुत्र के प्रति जो परस्पर दृष्टान्त कहा है वह उपलक्षण मात्र है। इससे अन्य मन्त्री, राजा, भाई आदि सम्बन्धों के विषय में भी जानना। जैसे तीव्र लोभ से बिल्ली मुख के भीतर आये हुए दूध या चूहे आदि को नहीं छोड़ती है और अपने सिर पर पड़ने वाले डंडे के प्रहार को नहीं गिनती है उसी प्रकार यम के मुख में पड़े हुए प्रत्येक जीव को नहीं देखकर थोड़े से धन के लिए, अपने मन की वांछा की पूर्ति के लिए महान् पाप करता है, यह इस संसार की मूढ़ता है ॥३४॥

एवं व्यामूढचित्तस्य लोकस्याज्ञतां दर्शयन्नाह–

(अनुष्टुप्)

अन्धादयं महानन्धो विषयान्धीकृतेक्षणः।
चक्षुषान्धो न जानाति विषयान्धो न केनचित् ॥३५॥

अन्वयः—विषयान्धीकृतेक्षणः अन्धात् अयं महान् अन्धः, (यतः) अन्धः चक्षुषा न जानाति, विषयान्धः न केनचित्।

अन्धादित्यादि। विषयान्धीकृतेक्षणः विषयैः अनन्धानि अन्धानि कुर्वन्ति स्म ईक्षणादि नेत्राणि इन्द्रियाणि सर्वाणि वा यस्य स तथोक्तः। "कृभ्वस्तिज्योगेऽभूत–तद्भावे सम्पद्यकर्तरि च्विः" इति च्विः। अन्धात् नेत्ररहितमनुजात्। अयं एषः। महान् अधिकः। अन्धः चक्षुषा न जानाति न पश्यति किं तु विषयान्धः विषयेषु अन्धोऽतिबन्धः। यद्वा विषयैः मनःसहितपञ्चेन्द्रियार्थैरन्धो दृष्टिप्रतिबन्धः सः। न केनचित् न मनसा न चक्षुरादिकरणैर्जानाति पश्यति हिताहितविचारविकल इत्यर्थः। दृश्यन्तेऽत्र केचिज्जन्मान्धाः, केचिच्च मदान्धाः केचिच्च धर्मान्धाः, केचिद् कामान्धाः। तेनात्र कामान्धा विवक्षिताः विषयव्यतिरिक्त–कामस्यानुपलब्धेः। स च विषयाभिलाषी कामी न कैश्चित् करणैः पश्यति, न क्वापि काले पश्यति न कमपि

उत्थानिका—इस प्रकार व्यामूढ़ चित्त वाले लोक की अज्ञानता को दिखाते हुए कहते हैं–

अन्वयार्थ—**(विषयान्धीकृतेक्षणः)** जिसकी आँखे विषयों से अन्धी है **(अन्धात्)** अन्धे से **(अयं)** यह **(महान्)** महान् **(अन्धः)** अन्धा है। **(अन्धः)** अन्धा **(चक्षुषा)** आँखों से **(न जानाति)** नहीं जानता है **(विषयान्धः)** विषयान्ध जीव **(न केनचित्)** किसी भी इन्द्रिय से नहीं जानता हैं।

अर्थ—विषयों से जिसकी आँखें अन्धी हो गई है, वह अन्धे से भी बढ़कर अन्धा है। अन्धा तो आँख से नहीं जानता है किन्तु विषयान्ध तो किसी भी इन्द्रिय से नहीं जानता है।

टीकार्थ—मन के साथ पंचेन्द्रिय के विषयों से जिसकी बुद्धि अन्धी है ऐसा मनुष्य मन से और चक्षु आदि इन्द्रियों से कुछ नहीं जानता है, देखता है। वह हिताहित के विचार से रहित होता है। कितने ही लोग जन्म से अन्धे होते हैं, कितने ही मद से अन्धे होते हैं, कितने ही धर्म से अन्धे होते हैं और कितने ही कामान्ध होते हैं। उनमें से यहाँ कामान्ध लोग विवक्षित हैं क्योंकि विषयों के बिना काम की उपलब्धि नहीं होती है। वह विषयाभिलाषी कामी व्यक्ति न किन्हीं इन्द्रियों से देखता है, न किसी काल में देखता है और न किसी वस्तु को देखता है।

मोही जड़ जन अन्ध बने हैं विषयों में जो झूल रहे।
महा अन्ध हैं अन्धों से भी सत्यपंथ को भूल रहे॥
नेत्रों से जो अन्ध बने हैं मात्र रूप को नहिं लखते।
किन्तु मूढ़ विषयान्ध बने कुछ भी न लखें सुध नहिं रखते ॥३५॥

वस्तु पश्यति। यदुक्तम्–

''दिवा पश्यति नोलूकः काको नक्तं न पश्यति।
अपूर्वः कोऽपि कामान्धो दिवा नक्तं न पश्यति॥''

अनुष्टुप्छन्दोऽत्र ॥३५॥

अधुना विषयाशा किं कारणेन निरर्थका इति गणितयुक्त्या व्यनक्ति–

(अनुष्टुप्)

आशागर्तः प्रतिप्राणि यस्मिन् विश्वमणूपमम्।
कस्य किं कियदायाति वृथा वो विषयैषिता ॥३६॥

अन्वयः—प्रतिप्राणि आशागर्तः यस्मिन् विश्वं अणूपमं कस्य किं कियत् आयाति वः विषयैषिता वृथा।

आशागर्त इत्यादि। प्रतिप्राणि प्राणिनं प्राणिनं प्रति अव्ययीभावसमासे 'अन्यस्माल्लुक्' इति वि० लुक्। आशागर्तः आशायाः तृष्णायाः गर्तः समुद्रः सः। यस्मिन् प्रत्येकस्मिन् प्राणिनि। विश्वं चराचरजगत्। अणूपमं अणुतुल्यम्। कस्य प्राणिनः। किं वस्तु। कियत् प्रमाणं। आयाति। विभागेन तत्प्रमाणमानेयम्। वः युष्माकम्। विषयैषिता विषयेच्छा। वृथा निरर्थका। विश्वस्य साम्राज्यं तस्य च चक्रवर्तित्वं प्रतिप्राणि

कहा भी है–''उल्लू दिन में नहीं देखता है, कौआ रात में नहीं देखता है, कोई कामान्ध ऐसा अपूर्व व्यक्ति है जो न दिन में देखता है और न रात में।'' यहाँ अनुष्टुप् छन्द है ॥३५॥

उत्थानिका—अब विषयाशा किस कारण से निरर्थक है, यह गणित की युक्ति से दिखाते हैं–

अन्वयार्थ–(प्रतिप्राणि) प्रत्येक प्राणी **(आशागर्तः)** आशा का गर्त है। **(यस्मिन्)** जिसमें **(विश्वम्)** विश्व **(अणुपमम्)** अणु की उपमा वाला है **(कस्य)** किसको **(किम्)** क्या **(कियत्)** कितना **(आयाति)** मिलता है **(वः)** हमलोगों की **(विषयैषिता)** विषय की वाञ्छा **(वृथा)** व्यर्थ है।

अर्थ—प्रत्येक प्राणी आशा का गड्ढा है जिसमें विश्व अणु के समान है। किसको क्या, कितना हिस्से में आता है, हम सबकी विषयों की इच्छा व्यर्थ है।

टीकार्थ–प्रत्येक प्राणी में तृष्णा का एक समुद्र है। इतना बड़ा समुद्र कि यह सारा चराचर जगत् भी उस समुद्र में अणु के बराबर है। ऐसी स्थिति में कौन-सी वस्तु कितने प्रमाण में किसके हिस्से में आयेगी? अर्थात् नगण्य ही। इसलिए हम सब लोगों की विषयों की इच्छाएँ निरर्थक हैं। प्रत्येक प्राणी सम्पूर्ण विश्व का साम्राज्य और उस साम्राज्य का चक्रवर्तीपना चाहता है। उस साम्राज्य

प्रति प्राणी में आशारूपी गर्त पड़ा है महा बड़ा।
जिसमें सब संसार समाकर लगता अणुसम रहा पड़ा॥
किसको कितना उसका भाजित भाग मिले फिर बता सही।
विषय वासना इसीलिये बस विषय-रसिक की वृथा रही॥३६॥

वाञ्छति। तदवाप्तये सामर्थ्याधिकं प्रयतते। न चिन्तयति, पुण्यवश्या हि मनोरथपूर्तिः। किञ्चाभूत् येषां जीविते सा तेऽपि तं विहाय वनान्तमाश्रितवन्तस्ततः किं मे राजापहरणात्, किं मे भ्रातृभृत्यवञ्चनात्, किं मे परस्त्रीकामतः, किं मे विषयभोगार्जनात्, किं मे विरोधिघातकेन, किं मे पापव्यसनेनेत्यादि इति। अनुष्टुप्छन्दोऽत्र॥३६॥

अथ दैवस्य वैपरीत्ये कथं पुरुषार्थं कर्त्तव्यमित्याह–

(शार्दूलविक्रीडित)

आयुः श्रीवपुरादिकं यदि भवेत्पुण्यं पुरोपार्जितं,
स्यात्सर्वं न भवेन्न तच्च नितरामायासितेऽप्यात्मनि।
इत्यार्याः सुविचार्य कार्यकुशलाः कार्येऽत्र मन्दोद्यमाः,
द्रागागामिभवार्थमेव सततं प्रीत्या यतन्ते तराम् ॥३७॥

अन्वयः—यदि पुरोपार्जितं पुण्यं भवेत् (तर्हि) आयुश्रीवपुरादिकं स्यात् (यदि) न भवेत् न तत् च सर्वं आत्मनि आयासिते नितरां अपि (स्यात्) इति कार्यकुशलाः आर्याः सुविचार्य अत्र कार्ये मन्दोद्यमाः द्राक् आगामिभवार्थं एव (ते) सततं प्रीत्या यतन्ते तराम्।

की प्राप्ति के लिए अपनी शक्ति से ज्यादा प्रयत्न करता है। विश्व के प्राणी यह नहीं सोचते हैं कि मनोरथों की पूर्ति तो पुण्य के अधीन है। जिनके जीवन में यह मनोरथ पूर्ति हुई है वे लोग भी उस वैभव को छोड़कर वन के मध्य चले गए। इसलिए किसी का राज्य अपहरण करने से मुझे क्या ? मुझे भाई, भतीजों को ठगने से क्या ? मुझे परस्त्री की इच्छा से क्या ? मुझे विषय भोगों के अर्जन से क्या ? मुझे अपने शत्रु का घात करने से क्या ? मुझे पाप और व्यसन से क्या ? यहाँ अनुष्टुप् छन्द है ॥३६॥

उत्थानिका—अब दैव के विपरीत होने पर कैसे पुरुषार्थ करना चाहिए, यह कहते हैं–

अन्वयार्थ—(यदि) यदि **(पुरोपार्जितम्)** पहले का अर्जित **(पुण्यम्)** पुण्य **(भवेत्)** होगा तो **(आयुः श्री-वपु-आदिकम्)** आयु, लक्ष्मी, शरीर आदि **(स्यात्)** होते हैं **(न भवेत्)** यदि नहीं होता है **(न तत् चसर्वं)** तो ये आयु आदि भी नहीं होते हैं **(आत्मनि आयासिते नितराम् अपि)** आत्मा को अत्यन्त कष्ट भी हो **(इति)** इस प्रकार **(कार्यकुशलाः)** कार्यकुशल **(आर्याः)** आर्य पुरुष **(सुविचार्य)** अच्छी तरह विचार करके **(अत्र कार्ये)** यहाँ के इस लोक सम्बन्धी कार्य में **(मन्दोद्यमाः)** मन्द उद्यमी होते हैं **(द्राक्)** शीघ्र ही **(आगामि-भवार्थम्)** आगामी भव के लिए **(एव)** ही **(सततम्)** निरन्तर **(प्रीत्या)** प्रीति से **(यतन्ते तराम्)** यत्न करते हैं।

उचित आयु धन तन सुख मिलते पास पुण्यमय रतन रहा।
यदि वह नहिं तो धनादि भी नहिं भले करो अब यतन महा ॥
यही सोच इस भव सुख पाने रुचि लेते ये आर्य नहीं।
परभव सुख के निशिदिन करते कार्य सुधी अनिवार्य सही ॥३७॥

आयुश्रीत्यादि। यदि पुरोपार्जितं पुरा प्राग्भवे उपार्जितं सञ्चितं तत्। किं तत्? पुण्यं सद्वेद्य-शुभायुर्नामगोत्रादिरूपम्। भवेत् स्यात्। तर्हि इति अध्याहारो नित्यसम्बन्धात्। आयुश्रीवपुरादिकं आयु-र्निराबाधोत्कृष्टम्। श्रीः प्रतिदिनं संवर्धिनी प्रायेणोपभोगार्हा। सम्पत्तिसहितेऽपि स्वयमारोग्यबुद्धिविकले सा वृथा दृश्यते। वपुः शरीरं वज्रसन्निभं सदा यौवनयुतं सौरूप्यादिगुणोपेतमित्यर्थः। एतानि आदौ येषां सेवाज्ञाग्रहणतत्परपरिवारादेयता-प्रियवाणीसाधुजनसेव्यगुरुसंमुखताशास्त्रसंस्कृतबुद्धिनिरभिमानताबन्धु-मित्रप्रेक्षताप्रकर्षोद्यमादीनां तेषां तत् क-प्रत्ययात् स्वार्थे तथोक्तम्। यदि पूर्वादाकृष्य। न भवेत्। न तत् आयुश्रीप्रभृति। च समुच्चयार्थे। सर्वं सकलं वस्तुजातम्। आत्मनि आयासिते भूरि क्लेशेनात्मानं संयोजिते। नितरामत्यर्थम्। अपि सम्भावनायाम्। स्यात् भवेत्। इति एवंविधं पुण्यकर्मसामर्थ्यम्। कार्यकुशलाः समयोचितकार्यकरणपटवः। आर्याः पूज्यार्हाः। गुणैर्गुणवद्भिर्वा अर्यन्ते पूज्यन्ते इति आर्याः। सुविचार्य ''अलंघ्यशक्तिर्भवितव्यतेयं हेतुद्वयाविष्कृतकार्यलिङ्गा।'' इति सुभाषितं हृदयेऽवधार्येत्यर्थः। अत्र अस्मिन् भवसम्बन्धिनि। कार्येकरणीयविषये। मन्दोद्यमाः मन्दः शिथिलः उद्यमोऽध्यवसायः परिश्रमो वा येषां ते स्थगितप्रयासाः इत्यर्थः। द्राक् शीघ्रम्। आगामिभवार्थं भविष्यत्कालसम्बन्धी यो भवो लोकस्तदर्थं तं परलोकायेति। एव निश्चयेन। सततं निरन्तरम्। प्रीत्या प्रसन्नमनसा श्रद्धानपूर्वकोत्साहेनेति। यतन्ते उद्यमं

अर्थ—यदि पहले का अर्जित किया हुआ पुण्य है तो आयु, लक्ष्मी और शरीर आदि सब मिलते हैं। यदि पुण्य नहीं है तो अपने को कष्ट देने पर भी वह सब नहीं मिलता है। इस प्रकार कार्य-कुशल आर्य पुरुष अच्छी तरह विचार करके इस लोक सम्बन्धी कार्यों में मन्द प्रयत्न करते हैं और शीघ्र ही आगामी भव के लिए ही वे निरन्तर प्रीति से खूब प्रयत्न करते हैं।

टीकार्थ–यदि पूर्व भव में साता वेदनीय, शुभायु, शुभनाम, शुभगोत्र आदि रूप पुण्य संचित किया हो तो निराबाध उत्कृष्ट आयु की प्राप्ति होती है। प्रतिदिन वृद्धिंगत और प्रायः उपभोग के योग्य लक्ष्मी (सम्पदा) होती है। सम्पत्ति से सहित होने पर भी यदि स्वयं व्यक्ति आरोग्य और बुद्धि से रहित है तो वह सम्पत्ति भी व्यर्थ दिखाई देती है। वज्र के समान, सदैव यौवन से सहित, सौरूप्य आदि गुणों से सहित शरीर की प्राप्ति भी पूर्व भव के पुण्य से होती है। इसके अलावा सेवा होना, आज्ञा के ग्रहण में तत्पर परिवार, लोगों की स्वीकृति, प्रिय वाणी, साधु जनों की सेवा, गुरु सम्मुखता, शास्त्र से संस्कारित बुद्धि, निरभिमानता, बन्धु-मित्रों के द्वारा सँभाल और उत्कृष्ट कार्यक्षमता आदि भी पूर्व अर्जित पुण्य से मिलते हैं। यदि पूर्व पुण्य से नहीं होते हैं तो ये सभी वस्तुएँ खूब कष्ट से आत्मा को संयोजित करने पर भी नहीं प्राप्त होती हैं। यह सब पुण्य कर्म का सामर्थ्य है। इसलिए समयोचित कार्य करने में कुशल, गुण और गुणवानों से पूज्य पुरुष इस भव सम्बन्धी कार्य करने में अपने प्रयास शिथिल कर देते हैं। यह हृदय में विचार करते हैं कि ''यह भवितव्यता की शक्ति अलंघ्य है, जो अन्तरंग-बहिरंग, दोनों हेतुओं से कार्य को सम्पन्न करती है।'' इसलिए ये पुरुष आगामी भव सम्बन्धी परलोक के लिए प्रसन्नमन से श्रद्धानपूर्वक उत्साह के साथ प्रयत्न करते हैं।

प्रयत्नं कुर्वते। 'यती प्रयत्ने' लट्। तरामत्यर्थम्। केवलिश्रुतकेवलितुल्यमहामुनीनामभावात्ते कलिकाले परमसंहनन-विरहादुत्कृष्टध्यानायोग्येऽत्र धर्मध्यानमपि महता कष्टेन जायते। पञ्चकरणविषयविष-दग्धहृदयेषु लोकेषु वैराग्यं बलादनीहितोऽपि हीनतां नीयते। धर्मप्रभावनाकरणव्याजेनान्तसि लोकपूजा-विषयवृद्धिरुपवर्धते। किञ्च पुरोपार्जितसुकृतवशेनैव तीर्थकरा अपि महतीं जनतामक्लेशेनेदानींतने काले देहदीप्त्या हि प्रबोधयन्तीति मत्वा रहसि गत्वा ऐहिककार्यनिरुत्सुकाः परलोकाय मार्दवादिभावनोपेता सन्तः शान्त्या निवसन्तीत्यर्थः ॥३७॥

अन्यथापुरुषार्थं सुपथप्रत्यनीकमेवेति प्रतिपादयन्नाह–

(शार्दूलविक्रीडित)

कः स्वादो विषयेष्वसौ कटुविषप्रख्येष्वलं दुःखिना,
यानन्वेष्टुमिव त्वयाऽशुचिकृतं येनाभिमानामृतम्।
आज्ञातं करणै र्मनः प्रणिधिभिः पित्तज्वराविष्टवत्,
कष्टं रागरसैः सुधीस्त्वमपि सन् व्यत्यासितास्वादनः ॥३८॥

केवली, श्रुतकेवली के समान महामुनियों का इस कलिकाल में अभाव है। उत्कृष्ट संहनन का अभाव होने से उत्कृष्ट ध्यान, शुक्लध्यान की योग्यता नहीं होती है। इस काल में धर्म ध्यान भी बड़े कष्ट से होता है। पाँच इन्द्रियरूपी विषय विष से जिनका हृदय जल रहा है ऐसे लोगों के बीच में वैराग्य बलात् अनचाह भी हीनता को प्राप्त हो जाता है। धर्म प्रभावना करने के छल से अन्तस् में लोकपूजा, इन्द्रिय विषय की वृद्धि बढ़ती जाती है। पूर्व उपार्जित पुण्य के कारण से ही तीर्थंकर विशाल जन समूह को बिना क्लेश के ही मानों इस समय देह की दीप्ति से ही उपदेश देते हैं। ऐसा विचार करके आर्यपुरुष एकान्त में जाकर इसलोक सम्बन्धी कार्य में निरुत्सुक होते हैं और परलोक के लिए मार्दव आदि भावनाओं सहित होते हुए शान्ति के साथ रहते हैं ॥३७॥

उत्थानिका–अन्यथा पुरुषार्थ समीचीन पथ के विपरीत ही होता है, यह प्रतिपादन करते हुए कहते हैं–

अन्वयार्थ–(कटु-विष-प्रख्येषु) कड़वे विष के समान **(विषयेषु)** विषयों में **(असौ)** ऐसा **(कः स्वादः)** क्या स्वाद आता है **(यान्)** कि जो उन विषयों को **(अन्वेष्टुम्)** खोजने के लिए **(इव)** ही मानो **(त्वया दुःखिना)** तूने दुःखी होकर **(येन)** जिस कारण से **(अभिमानामृतम्)** स्वाभिमान

कटु कटुतम विषसम विषयों में कौन स्वाद तू लुभित सुधी।
जिसे ढूँढने निजी अमृत का मूल्य मलिन कर अमित दुखी ॥
मन के अनुचर विषय रसिक इन इन्द्रिय गण से विकृत हुवा।
पित्त ज्वराकुल नर मुख सम तव स्वाद, खेद यह विदित हुवा ॥३८॥

अन्वयः—कटुविषप्रख्येषु विषयेषु असौ कः स्वादः यान् अन्वेष्टुं इव त्वया दुःखिना येन अभिमानामृतं अलं अशुचिकृतं आज्ञातं सुधीः अपि सन् त्वं कष्टं मनः प्रणिधिभिः करणैः रागरसैः पित्तज्वराविष्टवत् व्यत्यासितास्वादनः।

क इत्यादि। कटुविषप्रख्येषु कटुकहालाहलद्रव्यसदृशेषु। विषयेषु स्पर्शादिषु। असौ कः स्वादः कोऽयं रस इति विस्मयं कृत्वा प्रश्नः। यान् विषयान्। अन्वेष्टुं अन्वेषणं प्रापणं कर्तुम्। इव एवं प्रकारम्। त्वया भवता। दुःखिना कष्टस्योपभोगिना। येन कारणेन। अभिमानामृतं अभिमानः स्वाभिमानः स्वगौरवं तदेवामृतं पीयूषं जीवनप्रदायीत्यर्थः तत्। अलं अतिशयेन। अशुचिकृतं मलिनीकृतमिति। आ स्मरणार्थेऽ-व्ययपदम्। 'आज्ञातम् आ प्रगृह्यः स्मृतौ वाक्ये' इति। ज्ञातं विज्ञातम्। मे ज्ञानविषयोऽभूदित्यर्थः। सुधीः विद्वान् पण्डितः। अपि सन् भवन्। त्वं हे भव्य! कष्टं निन्दितमिदम्। मनः प्रणिधिभिः मनः एव प्रणिधिः गूढपुरुषो दूती वा ताभिर्मनश्चारैः। यद्वा 'प्रणिधिः प्रार्थना चरे' इत्यमरः। तेन मनसः प्रार्थना मनोवाञ्छातदनु-रूपैरित्यर्थः। करणैः पञ्चेन्द्रियैः। कथंभूतैः? रागरसैः राग एव रसोऽनुभवो येषु तैः संस्कारमात्रैरित्यर्थः। पित्तज्वराविष्टवत् पित्तस्य प्रमुखतायां ज्वरेणाविष्टः गृहीतः यः स तद्वत्। व्यत्यासितास्वादनः व्यत्यासितो विनष्टो विपरीतभूतो वा आस्वादनः रसः यस्य सोऽन्यथाभूत इत्यर्थः। यथा पित्तज्वरेण ग्रसितजनो मधुरमपि वस्तु कटुत्वेनास्वादयति तथा मोहज्वरेण हितश्रुतिमपि न स्वीकरोति। यद्वा ज्वराविष्टजनस्याहितकर-घृतघर्मादि हितकरं भाति पुनस्तानेव सेवते तथैव मोहज्वरेण व्याकुलचित्तायाहितफलप्रदानप्रमुखभोगेभ्यो रोचते पुनस्तानेव सेवते प्रभूतकालसंस्कारत्वात्। यथाऽन्यथास्वादापादितः कोऽपि दुर्गन्धमलोपेतगर्तकपतितो

रूप अमृत को **(अलम्)** इतना अधिक **(अशुचिकृतम्)** अपवित्र कर लिया है **(आज्ञातम्)** हाँ ज्ञात होता है कि **(सुधीः अपि सन्)** बुद्धिमान होते हुए भी **(त्वम्)** तू **(कष्टम्)** बड़े कष्ट की बात है कि **(मनः प्रणिधिभिः)** मन की अनुचर **(करणैः)** इन्द्रियों के **(राग रसैः)** राग रस के द्वारा **(पित्तज्वराविष्टवत्)** पित्त ज्वर से पीड़ित व्यक्ति की तरह **(व्यत्यासितास्वादनः)** विपरीत स्वादी हो गया है।

अर्थ—कटु विष के समान विषयों में यह कौन-सा स्वाद है, जिसको खोजने के लिए तूने दुःखी होकर अपने अभिमानरूपी अमृत को अशुचि कर लिया है। हाँ! ज्ञात होता है कि बुद्धिमान होकर भी पित्तज्वर से युक्त मनुष्य की तरह मन की सेवा से इन्द्रियों के राग रस से तेरा स्वाद बिगड़ गया है, यह बड़े कष्ट की बात है।

टीकार्थ—जैसे पित्त से पीड़ित मनुष्य मधुर वस्तु का भी कटु रूप से स्वाद लेता है उसी प्रकार मोह ज्वर से मधुर वचनों को भी वह स्वीकार नहीं करता है। अथवा ज्वर से पीड़ित मनुष्य को अहितकारी घी, आतप आदि हितकर लगते हैं और वह उन्हीं का सेवन करता है, उसी प्रकार मोहज्वर के कारण व्याकुल चित्त वाला अहित फल प्रदान करने वाले भोगों को रुचिकर समझता है और पुनः उन्हीं का सेवन करता है क्योंकि बहुत काल का आत्मा में संस्कार रहता है। जिस प्रकार अन्यथा स्वाद को प्राप्त हुआ कोई कुत्ता जो दुर्गन्ध युक्त मल सहित गड्ढे में गिरा हुआ है, देव के द्वारा

देवप्रबोधितेऽपि पृच्छति किं भवता स्वर्गे नीयमाने तत्रैवंविधो गर्तकोऽस्ति न वा, यदि न, तर्हि न गमिष्यामीति कथयति तथा देहप्रधानभोगेषु संसक्तजनः संप्राप्तविषयान् न परित्यजति विचलित-मनोविषयास्वादनात्। शार्दूलविक्रीडितवृत्तम् ॥३८॥

अथ तस्य व्यत्यासितास्वादनस्यासामर्थ्यमाह–

(अनुष्टुप्)

अनिवृत्ते र्जगत्सर्वं मुखादवशिनष्टि यत्।
तत्तस्याशक्तितो भोक्तुं वितनो र्भानुसोमवत् ॥३९॥

अन्वयः—अनिवृत्तेः मुखात् यत् सर्वं जगत् अवशिनष्टि तत् तस्य भोक्तुं अशक्तितः वितनोः भानुसोमवत्।

अनिवृत्तेरित्यादि। अनिवृत्तेः निवृत्तिः कात्स्‍र्न्येन विरतिः। न निवृत्तिरनिवृत्तिः। तस्य गृहमेधिनः इत्यर्थः। मुखात् उपायात् तृष्णापूर्तेः। ''मुखं निःसरणं वक्त्रे प्रारम्भोपाययोरपि'' इति वि॰ प्र॰। दृष्टान्तपक्षे निःसरणात् ग्रसनात्। यत् किञ्चित्। सर्वमशेषम्। जगत् संसारः। अवशिनष्टि अवशिष्टमेति। अव पूर्वकं 'शिष्लृ विशेषणे' तत् अवशिष्टजगत्। तस्य पञ्चपापानिवृत्तस्य जनस्य। भोक्तुं प्राप्तुं दृष्टान्तपक्षे ग्रसितुम्।

समझाने पर भी पूछता है कि आप मुझे स्वर्ग में ले जाना चाहते हैं पर वहाँ इस प्रकार का गड्ढा है अथवा नहीं। यदि नहीं है तो फिर मैं नहीं जाऊँगा, इस प्रकार कहता है उसी प्रकार देह की प्रधानता वाले, भोगों में आसक्त मनुष्य प्राप्त हुए इन्द्रिय विषयों को नहीं छोड़ पाता है क्योंकि मन के स्वाद विचलित हो चुका है। यहाँ शार्दूलविक्रीडित छन्द है ॥३८॥

उत्थानिका—अब उस विपरीत स्वाद को प्राप्त हुए मनुष्य की असमर्थता कहते हैं–

अन्वयार्थ—(अनिवृत्तेः) निवृत्ति नहीं होने से **(मुखात्)** मुख से **(यत्)** जो **(सर्वम् जगत्)** सारा जगत् **(अवशिनष्टि)** शेष बचा है **(तत् तस्य भोक्तुं अशक्तितः)** वह उसकी भोगने की शक्ति नहीं होने से है **(वितनोः)** जैसे राहु के मुख से **(भानुसोमवत्)** सूर्य, चन्द्रमा बचे हैं।

अर्थ—तृष्णा की निवृत्ति नहीं होने से तेरे मुख से जो यह सम्पूर्ण जगत् बचा है वह उसको भोगने की शक्ति नहीं होने से है जैसे राहु के मुख से सूर्य और चन्द्र।

टीकार्थ—राहु और केतु के पूर्ण शरीर का अभाव होने से उन्हें वितनु कहा जाता है। लोकख्याति है कि सैंहिकेय राक्षस का सिर राहु और धड़ केतु है। ज्योतिष् शास्त्र में राहु आठवाँ ग्रह और केतु नवमा ग्रह हैं। कहीं-कहीं राहु, केतु दोनों को भी सूर्य, चन्द्रमा के ग्रहणकाल में एक ही

विरत भाव से विरत रहा तू विषय राग रसिकेश रहा।
खाता खाता भोग्य जगत को तेरे मुख से शेष रहा॥
चूँकि शक्ति नहिं तुझमें उतनी भोग सके जो पूर्ण इसे।
राहु केतु के मुख से जिस विध शेष रहे शशि सूर्य लसे ॥३९॥

अशक्तितः शक्तिरहितत्वात्। 'हेतौ च' इति कातन्त्रसूत्रेणात्र हेतुप्रयोगः तसन्तस्य सर्वविभक्तौ प्रयोगेऽपि। वितनो तनुः शरीरं विगता तनुर्यस्य स वितनु र्देहरहितोऽत्र राहुः केतुर्वोच्यते पूर्णशरीराभावात्। सैंहिकेय-राक्षसस्य शिरो राहुः कबन्धं केतुरिति ख्यातिः। ज्योतिश्शास्त्रे राहुरष्टमो ग्रहः केतुश्च नवमः। क्वचिद् द्वयोरपि नाम्नैकेन ग्रहणं रविशशिग्रसनकाले। वस्तुतस्तु द्वयमपि पृथक् देवविमानम्। रविविमानस्याधः केतुविमानं शशिविमानस्याधस्ताद् राहुविमानं परिभ्रमति। तस्य केतोः राहो र्वा। भानुसोमवत् सूर्यचन्द्रवत्। यथा हि पूर्णिमायाममावस्यायां वा शशिरविविमाने वितनुः कवलयन्नपि निःशेषं न भोक्तुं शक्नोति तथा लोकोऽपि विषयभोगान् सर्वानिति। अन्तस्तृष्णातृषितोऽपि शालिसिक्थमत्स्यवत्। ये तु विषयभोगाना-मुत्कृष्टा-नामवधिं समवापन् ते तीर्थकरादयोऽपि न भोगेषु तुष्टा बभूवुः। यदुक्तम्-

''विषयैरेव चेत्सौख्यं तेषां पर्यन्तगोऽस्म्यहम्।
ततः कुतो न मे तृप्तिः मिथ्यावैषयिकं सुखम्॥''

अनुष्टुप्छन्दः॥३९॥

अथ तृष्णागर्तस्य पूर्तेरसम्भवत्वादत्र किं कर्तव्यमिति प्ररूपयन्ति-

(शार्दूलविक्रीडित)

साम्राज्यं कथमप्यवाप्य सुचिरात्संसारसारं पुनः,
तत्त्यक्त्वैव यदि क्षितीश्वरवराः प्राप्ताः श्रियं शाश्वतीम्
त्वं प्रागेव परिग्रहान् परिहर त्याज्यान् गृहीत्वापि ते,
मा भूर्भौतिकमोदकव्यतिकरं सम्पाद्य हास्यास्पदम् ॥४०॥

नाम से ग्रहण किया जाता है। वस्तुतः तो राहु और केतु दोनों ही अलग-अलग देवविमान हैं। आगम के अनुसार रविविमान के नीचे केतु का विमान है और चन्द्रमा के विमान के नीचे राहु का विमान भ्रमण करता है। जैसे पूर्णिमा या अमावस्या में चन्द्रमा, रवि के विमान में राहु, केतु उसे कवल बना लेते हैं, फिर भी पूर्ण रूप से उसे ग्रहण करने में समर्थ नहीं होते हैं उसी प्रकार यह लोक भी सभी विषय भोगों को ग्रहण करने में समर्थ नहीं होता है। शालिसिक्थ मत्स्य की तरह अन्तरंग में तृष्णा से प्यासा होने पर भी उसे भोग नहीं पाता है। जो तीर्थंकर आदि भी विषय-भोगों की उत्कृष्ट सीमा को प्राप्त किये हैं, वे भी भोगों में तृप्त नहीं हुए हैं। कहा भी है-

''विषयों से ही यदि सुख होता है तो उन विषयों की तो अन्तिम सीमा को मैं (तीर्थंकर) प्राप्त हुआ हूँ। फिर भी मुझे तृप्ति कैसे नहीं हुई? अतः ये विषयसुख मिथ्या हैं''॥३९॥

किसी तरह भी विश्वसारमय सार्वभौम पद प्राप्त किया।
किन्तु अन्त में तजा उसे तब चक्री शिव पद प्राप्त किया॥
त्याज्य परिग्रह ग्रहण पूर्व तज नहिं तो तव उपहास हुवा।
पतित धूल में मोदक ले ऋषि का जिस विध यश नाश हुवा ॥४०॥

अन्वयः—कथमपि संसारसारं साम्राज्यं सुचिरात् अवाप्य पुनः यदि क्षितीश्वरवराः तत् त्यक्त्वा एव शाश्वतीं श्रियं प्राप्ताः (तर्हि) ते त्याज्यान् परिग्रहान् प्राक् एव परिहर अपि गृहीत्वा त्वं भौतिकमोदकव्यतिकरं सम्पाद्य हास्यास्पदं मा भूः।

साम्राज्यमित्यादि। कथमपि प्राग्भवे महता तपसा निर्ग्रन्थतामनुभूय भूरिपुण्यपरिपाकात् त्रिदश-पतित्वमवाप्यावशिष्टफलादिति। संसारसारं संसारस्य प्रभूतेन्द्रियविषयपूर्णस्य सारं सारभूतफलं तत्। साम्राज्यं सार्वभौमत्वम्। सुचिरात् दीर्घकालात्। अवाप्य प्राप्तिं कृत्वा। पुनः यदि क्षितीश्वरवराः क्षितिः पृथिवी तस्या ईश्वरा राजानः तेषु वराः श्रेष्ठा नारायणतद्भ्रातृ-कामदेवचक्रभृत्तीर्थकरादयस्तथोक्ताः। तत् साम्राज्यम्। त्यक्त्वा परित्यज्य। एव निश्चयेन। शाश्वतीं श्रियं अविनष्टामनन्त-चतुष्टयरूपां लक्ष्मीम्। प्राप्ताः लब्धाः। ते तव त्वया वा त्याज्यान् त्यक्तुं योग्यान्। ''व्यस्य वा कर्तरि'' इति त्याज्यशब्दस्य व्यान्तत्वात् ते तवार्थे तान्तस्य प्रयोगः। ''तृज्व्याश्चार्हे'' इत्यर्हेऽर्थे 'त्यज हानौ' इत्यस्य धो र्व्यान्तं बहुवचनान्तं रूपम्। परिग्रहान् आ समन्तादात्मानं कर्मभिः परिगृह्णाति स परिग्रहो हिरण्यसुवर्णादिरूपः तानिति। प्राक् एव गृहीतं विनैव। परिहर परित्यागं कुरु। 'हृञ् हरणे' इति धोर्लोट्। म० पु० एकवचने। क्षितीश्वरवराणामपि विषया बहुतरकालं सुखं प्रदाय विलयं गता इत्यवधार्य ते प्रागेव त्याज्याः। स्वयं परित्यागे सति ते शश्वत्सुखं विददति।

उत्थानिका—तृष्णा रूपी गड्ढे की पूर्ति होना असम्भव होने से यहाँ क्या करना चाहिए, यह कहते हैं-

अन्वयार्थ—**(कथमपि)** कैसे भी **(संसारसारं)** संसार के सारभूत **(साम्राज्यम्)** साम्राज्य को **(सुचिरात्)** चिरकाल से **(अवाप्य)** प्राप्त करके **(पुनः यदि)** पुनः यदि **(क्षितीश्वरवराः)** चक्रवर्ती भी **(तत्)** उसे **(त्यक्त्वा)** छोड़कर **(एव)** ही **(शाश्वतीम्)** अविनाशी **(श्रियम्)** लक्ष्मी को **(प्राप्ताः)** प्राप्त किये हैं तो फिर **(ते)** उन **(त्याज्यान्)** त्यागने योग्य **(परिग्रहान्)** परिग्रहों को **(प्राक् एव)** पहले ही **(परिहर)** छोड़ दो **(अपि)** और **(गृहीत्वा)** ग्रहण करके **(त्वम्)** तुम **(भौतिक-मोदक-व्यतिकरम्)** कीचड़ से मिश्रित मोदक को **(सम्पाद्य)** सम्पादित करके **(हास्यास्पदम्)** हास्य के पात्र **(मा भूः)** मत होओ।

अर्थ—किसी भी तरह संसार के साररूप साम्राज्य को चिरकाल के बाद प्राप्त करके पुनः यदि चक्रवर्ती भी उसे छोड़कर ही शाश्वत लक्ष्मी को प्राप्त करता है, तो तुम उसे पहले ही छोड़ दो। ग्रहण करके भी तुम परिव्राजक के लड्डू के समान उनको सम्पादित करके हास्यास्पद मत बनो।

टीकार्थ—पूर्व भव में उत्कृष्ट तप के माध्यम से निर्ग्रन्थता की अनुभूति करके बहुत पुण्य के फल से इन्द्र पद को प्राप्त करके बचे हुए पुण्य के फल से संसार के सारभूत फल यानी साम्राज्य को प्राप्त करते हैं। यदि ऐसे बहुत से नारायण, बलभद्र, कामदेव, चक्रवर्ती, तीर्थंकर आदि ने भी चिरकाल तक साम्राज्य का पालन करके फिर उस साम्राज्य को छोड़कर अविनश्वर, अनन्त-चतुष्टयरूप लक्ष्मी को प्राप्त किया है तो तुमको ये हिरण्य, सुवर्ण आदि परिग्रह बिना ग्रहण किये ही छोड़ने योग्य हैं।

अपरित्यागे कालेन वियोगे जाते च ते बहुदुःखं विददति। गृहीत्वोपभुज्य पश्चात्त्यागे किं हानिरिति वदन्तं प्रत्याह–अपि तथा च। गृहीत्वा ग्रहणं कृत्वा। त्वं हे भव्य!। भौतिकमौदकव्यतिकरं भौतिकेन पङ्कादिना मोदकस्य व्यतिकरं संमिश्रणं तत्। अथवा परिव्राजकमोदकवृत्तान्तम्। तद्यथा भिक्षायामुपलब्धमोदकस्य गूथोपरिपतितस्य पुनर्ग्रहणे कोऽपि परिव्राजकमभणीत् मा गृहाणाशुचित्वात्। ततस्तेन प्रक्षाल्य त्यक्ष्यामीति प्रोक्तमिति वृत्तान्तम्। संपाद्य सम्पादनं कृत्वा। एवं विधे व्यतिकरे सति। हास्यास्पदं हास्यस्य आस्पदं स्थानं ततः परेषां हास्यविषयम्। मा भूः मा भवेदित्यर्थः। 'माङि लुङ्' इत्यनेन माङ् योगे 'भू सत्तायाम्' इति धो र्लुङ् । तद्योगे अडागमप्रतिषेधश्च। शार्दूलविक्रीडितवृत्तम् ॥४०॥

अथ गृहाश्रमे धर्मस्वरूपं प्रतिपादयन्नाह–

(शार्दूलविक्रीडित)

सर्वं धर्ममयं क्वचित्क्वचिदपि प्रायेण पापात्मकं,
क्वाप्येतद्द्वयवत्करोति चरितं प्रज्ञाधनानामपि।
तस्मादेष तदन्धरज्जुवलनं स्नानं गजस्याथवा,
मत्तोन्मत्तविचेष्टितं न हि हितो गेहाश्रमः सर्वथा ॥४१॥

अन्वयः–प्रज्ञाधनानां अपि चरितं गेहाश्रमः करोति क्वचित् सर्वं धर्ममयं क्वचिदपि प्रायेण पापात्मकं क्वापि एतत् द्वयवत् (करोति) तस्मात् एष तद् अन्धरज्जुवलनं गजस्य स्नानं अथवा मत्तोन्मत्तविचेष्टितं (करोति) (यत एवं ततः) (गेहाश्रमः) सर्वथा न हि हितः।

चक्रवर्तियों को भी विषय सामग्री बहुत काल तक सुख देकर विलीन हो जाती है, ऐसा सोचकर वे विषय तुम्हें पहले ही छोड़ने योग्य हैं। स्वयं परित्याग करने पर वे विषय शाश्वत सुख देते हैं। बिना त्याग के या काल पाकर उनका वियोग हो जाने पर तो वे बहुत दुःख देते हैं। यदि हम पहले भोगों को ग्रहण कर ले फिर छोड़ दें तो क्या हानि है ? ऐसा पूछने पर कहते हैं कि–हे भव्य! ऐसा करने पर कीचड़ आदि में लिप्त मोदक को ग्रहण करने जैसी बात हुई अथवा परिव्राजक के मोदक को ग्रहण करने की बात जानना। वह इस प्रकार है–किसी परिव्राजक ने भिक्षा में मोदक ग्रहण किया और वह गूथ (मल) के ऊपर गिर गया। उसको पुनः ग्रहण करने पर किसी ने परिव्राजक को कहा–मत ग्रहण करो क्योंकि वह अशुचि है। तब उस परिव्राजक ने कहा कि मैं उसे धोकर त्याग दूँगा। इस प्रकार की मूर्खता को सम्पादित करके दूसरों की हँसी का पात्र मत बनो। यहाँ शार्दूलविक्रीडित छन्द है ॥४०॥

उत्थानिका–अब गृहाश्रम में धर्म का स्वरूप प्रतिपादन करते हुए कहते हैं–

सुबुध-चरित को भी यह करता पूर्ण पापमय कभी-कभी।
कभी-कभी तो पूर्ण धर्ममय, पाप धर्ममय कभी-कभी ॥
अंध रज्जु संपादन सम गज स्नान सदृश गृह धर्म रहा।
या पागल चेष्टा सम इससे हित न सर्वथा शर्म रहा ॥४१॥

सर्वमित्यादि। प्रज्ञाधनानां प्रज्ञा स्वहिताभिलाषिणी बुद्धिः सैव धनं येषां तेषां गृहमेधिनामिति। अपि निश्चये। चरितं सदाचरणम् कर्मत्वम्। गेहाश्रमः गेह एव आश्रमः सः। आ समन्तात् श्रमः परिश्रमो यत्र क्रियते स आश्रमो निरुच्यते। स च ब्रह्मचर्यगृहस्थवानप्रस्थ-संन्यासभेदाच्चतुर्विधो भवति। तेष्वत्र गृहस्थाश्रमो विवक्षितः। करोति विदधाति। 'डुकृञ् करणे' इति धोर्लट्। इति क्रियायाः सम्बन्धो गेहाश्रमेण कर्तृकारकेण योजनीयः। किं कर्मतापन्नमिति चेदाह-क्वचित् कस्मिन् काले। सर्वं धर्ममयं सामयिकोपवासदान-पूजाद्यनुष्ठानमशेषमपुण्यकर्मनिर्जरापुरस्सरपुण्यकर्मात्मकम्। सामयिके सर्वथा निवृत्ति रुपवासे सर्वारम्भविरत्ति दानक्षणे गृहकर्मसम्पादनेनोपचित-कर्मणां मलं रुधिरमलमिव दानपूजावारिणा प्रक्षालयते यत एवं ततः। क्वचिदपि कस्मिन् काले तु। प्रायेण बाहुल्येन। पापात्मकं पापकर्मोपार्जनं वाणिज्यकृषिभोगानुभवनकाले रौद्रार्तपरिणामवशात्। करोति गेहाश्रमः इति। क्वापि कस्मिन् काले तु। एतत् गृहस्थस्य चरितम्। द्वयवत् द्वयविकल्पात्मकं पापापापात्मकमित्यर्थः। 'तद्वत् प्रश्नविकल्पयोः' इति वि० प्र०। जिनगृहनवनिर्माण-

---

अन्वयार्थ—(प्रज्ञाधनानाम्) प्रज्ञावानों के **(अपि)** भी **(चरितम्)** चरित्र को **(गेहाश्रमः)** गृहस्थाश्रम **(करोति)** करता है। **(क्वचित्)** कभी **(सर्वम्)** सब कुछ **(धर्ममयम्)** धर्ममय **(क्वचित्)** तो कभी **(प्रायेण)** प्रायः करके **(पापात्मकम्)** पापात्मक। **(क्वापि)** कभी तो **(एतत् द्वयवत्)** इन दोनों की तरह करता है **(तस्मात्)** इसलिए **(एष)** यह **(तद्-अन्धु-रज्जु-वलनम्)** अन्धे की रस्सी बटने के समान या **(गजस्य)** हाथी के **(स्नानम्)** स्नान के समान **(अथवा)** अथवा **(मत्तोन्मत्त-विचेष्टितम्)** मत्त, उन्मत्त की चेष्टा को **(करोति)** करता है इसलिए **(गेहाश्रमः सर्वथा न हि हितः)** गेहाश्रम किसी भी तरह से हितकर नहीं है।

अर्थ—प्रज्ञावानों के चारित्र को भी गेहाश्रम सर्वथा हित कारक नहीं है। कभी वहाँ सब कुछ धर्ममय होता है,कभी प्रायः पापात्मक होता है। कभी यह पुण्य, पाप दोनों को करता है। इसलिए यह गृहस्थाश्रम उस अन्धे के रस्सी बटने के समान है अथवा हाथी के स्नान के समान है अथवा मदोन्मत्त पुरुष की चेष्टा के समान है।

टीकार्थ—स्वहित की अभिलाषा रखने वाली बुद्धि ही प्रज्ञा है। ऐसी प्रज्ञा ही गृहस्थों का धन है। जहाँ सब ओर से श्रम किया जाता है वह आश्रम है। ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ और संन्यास के भेद से चार प्रकार का आश्रम होता है। उसमें यहाँ गृहस्थाश्रम प्रासंगिक है। किसी समय तो यह आश्रम सब कुछ धर्ममय कर देता है। सामायिक, उपवास, दान, पूजा आदि अनुष्ठान पाप कर्म की निर्जरा पूर्वक पुण्य कर्म करने से धर्म मय है। चूँकि सामायिक में मन, वचन, काय की सर्वथा निवृत्ति (रोक) हो जाती है, उपवास में सभी प्रकार के आरम्भ (हिंसा कार्य) की विरति हो जाती है, दान के समय में गृहस्थ का कर्म सम्पादन करने से जो कर्म का मल संचित होता है, वह मल वैसे ही दान, पूजा से साफ हो जाता है जैसे खून का मल पानी से साफ हो जाता है। कभी उस गृहस्थ आश्रम से बहुलता में पाप कर्म का उपार्जन-व्यापार, कृषि और भोगों के अनुभवन के समय में रौद्रध्यान, आर्तध्यान के कारण होता है। किसी समय गृहस्थ का यह चारित्र पाप, पुण्यात्मक दोनों

जीर्णोद्धाराश्रयदानादिषु बहुलारम्भात् पापेन साकं पुण्यं परार्थभावत्वाद् भवति तेन पापापापात्मकमुक्तम्। न चेदं कर्म त्याज्यं गृहमेधिभिस्तीर्थप्रवृत्ते निरुद्धत्वात्। ततः सरागिणामेतद्युक्तम्। यतश्चोक्तम्–''जीर्णं जिनगृहं बिम्बं पुस्तकञ्च सुदर्शनम्। उद्धार्यस्थापनं पूर्व-पुण्यतो लभ्यमुच्यते॥'' तस्मात् कारणात्। एषः गेहाश्रमः। तत् प्रसिद्धदृष्टान्तम्। अन्धरज्जुवलनं अन्धपुरुषस्यैकतः रज्जोर्वलयं संयोजनमप्यन्यतो विसंयोजनं भवति तदिव तत्। गजस्य स्नानं यथा गजः सरसि स्नानं कृत्वा पुनर्बहि निर्गत्य धूलिस्नानेनात्मानं धूसरितं करोति तथा। गेहाश्रमे प्रायेण पुण्यकर्मणात्मानं पवित्रीकृत्य पुनर्गेहकर्मानुषङ्गेन पापेन विलिम्पति। पापपुण्यव्यतिरिक्त-शुद्धात्मवृत्तेरनवकाशपापपुण्यव्यतिरिक्तशुद्धात्मवृत्तेरनवकाश। यदुक्तम्–

''सम्मादिट्ठिस्स वि अविरदस्स ण तवो महागुणो होदि।
होदि हु हत्थिण्हाणं चुंदच्छिदकम्म तं तस्स ॥''

यदुक्तम्–

''चारित्रस्य न गन्धोऽपि प्रत्याख्यानोदयो यतः।
बन्धश्चतुर्विधोऽप्यस्ति बहुमोहपरिग्रहः॥''
''प्रमादाः सन्ति सर्वेऽपि निर्जराप्यल्पिकेव सा।
अहो मोहस्य माहात्म्यं माद्याम्यहमिहैव हि ॥''

रूप होता है। जिनालय का नव निर्माण, जिनालय का जीर्णोद्धार, आश्रय दान आदि में बहुत आरम्भ होने से पाप के साथ पुण्य भी होता है क्योंकि उस गृहस्थ को परकल्याण की भावना होती है इसलिए उसे पाप-पुण्यात्मक कहा है। यह पाप-पुण्यात्मक कर्म गृहस्थों को छोड़ना नहीं चाहिए, इसे छोड़ने से तीर्थ का प्रवर्तन ही रुक जाएगा। इसलिए सरागियों को जिनालय आदि का निर्माण करना युक्त है। कहा भी है–''जीर्ण जिनगृह, जीर्ण बिम्ब, जीर्ण पुस्तक जो कि दर्शनीय है, उनका उद्धार करके उनकी पुनः स्थापना करना पूर्व पुण्य से प्राप्त होता है।'' यह गृहस्थाश्रम अन्धे पुरुष के द्वारा एक ओर रस्सी को घुमाकर बटना और दूसरी ओर खोल देना जैसा है। अथवा हाथी तालाब में स्नान करके पुनः बाहर निकलकर धूलिस्नान से अपने आपको जैसे धूलि-धूसरित करता है उसी प्रकार गृहस्थाश्रम में प्रायः पुण्य कर्म से आत्मा को पवित्र करके पुनः गृहस्थ कर्म के कारण पाप से लिप्त हो जाता है। गृहस्थ को पाप, पुण्य से रहित शुद्धोपयोग का स्थान नहीं होता है।

कहा भी है–''अविरत सम्यग्दृष्टि का तप भी महागुणकारी नहीं होता है। हाथी स्नान और रस्सी बटने की तरह होता है।''

व्रत लिए बिना तीर्थंकर भी इस प्रकार सोचते हैं–''चूँकि प्रत्याख्यान कषाय का उदय चल रहा है इसलिए मुझमें अभी चारित्र की गन्ध भी नहीं है। बहुत मोह और परिग्रह होने से चार प्रकार का बंध भी होता रहता है। मेरे पास सभी प्रमाद हैं और निर्जरा थोड़ी ही है। अहो! मोह का माहात्म्य है कि मैं यहाँ प्रमादी बना हूँ।''

अथवा मत्तोन्मत्तविचेष्टितं मत्तो मद्याभिभूतचित्तः उन्मत्तो कोद्रवाद्युत्कटमदेन मत्तो निर्मदो वा तयो र्विचेष्टितं विशेषेणोचितानुचितरूपेण चेष्टितं प्रवृत्तिर्यस्य कर्मणि तत्। यदृच्छया क्वचिद् यथार्थं वक्ति क्वचिदयथार्थं वा यथा तथा गेहाश्रमः क्वचिद् धर्ममयः क्वचिदधर्ममय इति भावः। ततः सिध्यति किम्? गेहाश्रमः प्रायेण पापरूपः। सर्वथा सर्वप्रकारेण। न हि हितः शुद्धात्मनो ध्यानाय न युक्तश्चतुःसंज्ञाज्वरेण शश्वदातुरत्वात्। यदुक्तम्–

''खपुष्पमथवा शृङ्गं खरस्यापि प्रतीयते।
न पुनर्देश कालेऽपि ध्यानसिद्धिर्गृहाश्रमे॥''

शुद्धात्मध्यानेन विना निर्जरा न स्यात्। निर्जरया विना कुतः मोक्षः। मोक्षेण विना कुतो निराकुला-व्याबाधसुखमतस्तथा प्रोक्तम्। शार्दूलविक्रीडितवृत्तम् ॥४१॥

अथ सुखप्राप्तेरुपायशतं सुखाभासमिति भाष्यते–

(शार्दूलविक्रीडित)

कृष्ट्वोप्त्वा नृपतीन्निषेव्य बहुशो भ्रान्त्वा वनेऽम्भोनिधौ,
किं क्लिशनासि सुखार्थमत्र सुचिरं हा कष्टमज्ञानतः।
तैलं त्वं सिकतास्वयं मृगयसे वाञ्छेद्विषाज्जीवितुं,
नन्वाशाग्रहनिग्रहात्तव सुखं न ज्ञातमेतत्त्वया ॥४२॥

अथवा गेहाश्रम में मत्तोन्मत्त की सी चेष्टाएँ हैं। कभी शराब पीकर मत्त हुआ कोदों आदि नशे वाली वस्तुओं को खाकर और उन्मत्त हो जाता है या शराब पीकर मत्त हुआ कभी निर्मद भी हो जाता है इसी तरह दोनों प्रकार की चेष्टाओं से कभी अनुचित तो कभी उचित प्रवृत्ति करता है। अपनी इच्छा अनुसार कभी यथार्थ कहता है तो कभी अयथार्थ कहता है। इसी प्रकार गेहाश्रम कभी धर्ममय तो कभी अधर्ममय होता है। इससे सिद्ध होता है कि गेहाश्रम प्रायः पाप रूप है। गेहाश्रम में शुद्धात्मा का ध्यान न होने से हित नहीं है क्योंकि गृहस्थ हमेशा चार संज्ञाओं के ज्वर से पीड़ित रहता है। जैसा कि कहा है–'' आकाश पुष्प अथवा गधे के सींग भी प्रतीति में आ जायें किन्तु किसी भी देश अथवा काल में गृहाश्रम में ध्यान की सिद्धि नहीं है।'' शुद्धात्मा के ध्यान के बिना निर्जरा नहीं है। निर्जरा के बिना मोक्ष कैसे हो। मोक्ष के बिना निराकुल, अव्याबाध सुख होता है। इसलिए ही उपरोक्त कथन किया है। यहाँ शार्दूलविक्रीडित छन्द है ॥४१॥

उत्थानिका—गृहस्थाश्रम में सुख नहीं है–

खेद बोध बिन नृप सेवक बन सुखार्थ धन से प्यार किया।
कृषि करता बन वनिक वनिकता करता वन नद पार किया॥
विष में जीवन तेल रेत में ढूँढ रहा दिन-रात अहा।
मोह भूत के निग्रह बिन सुख नहीं, तुझे क्या ज्ञात रहा॥४२॥

अन्वयः—अत्र सुखार्थं कृष्ट्वा उप्त्वा नृपतीन् निषेव्य बहुशः वने अम्भोनिधौ भ्रान्त्वा सुचिरं किं क्लिशनासि हा अज्ञानतः कष्टं अयम् त्वं सिकतासु तैलं मृगयसे विषात् जीवितुं वाञ्छेत् ननु तव सुखं आशाग्रहनिग्रहात् एतत् त्वया न ज्ञातम्।

कृष्ट्वेत्यादि। अत्र अस्मिन् लोके। सुखार्थं इन्द्रियसुखस्य प्राप्त्यर्थम्। कृष्ट्वा कृष्टिं कृत्वा। कृषीबलः प्राक् कृषियोग्यक्षेत्रे भूमेर्विलेखनं कुरुते। ततः किम्? उप्त्वा बीजस्य वपनं कृत्वेति। तत्पश्चात् वर्षाकाले बीजं वपति। नृपतीन् निषेव्य राज्ञः सेवां विदधाति। प्रादुर्भवत्सस्यं राजाज्ञया विना न वितरति। स्वयं सस्यस्य स्वामी भूत्वापि स्वेच्छया नोपभुङ्क्ते नृपाधिकारादिति। पश्चात् किम्? बहुशः बहुवारम्। वने कान्तारेऽरण्ये वा अम्भोनिधौ समुद्रे। भ्रान्त्वा भ्रमणं कृत्वा। सुचिरं चिरकालपर्यन्तम्। किं किमर्थम्। क्लिशनासि कष्टं सहसे। 'क्लिश् विबाधने' इति लट्। विक्रयार्थं सस्यस्य राज्ञानुज्ञया वा धनोपार्जनार्थं वा भूरिक्लेशेन परदेशे पर्यटसि। हा दुःखप्रदर्शनार्थमव्ययम्। 'हा विषादेऽपि दुःखेऽपि शोके' इति वि० लो०। अज्ञानतः मोहावृत्तज्ञानमज्ञानमभिधीयते तस्माद् व्यामोहादिति।

''मोहेन संवृत्तं ज्ञानं स्वभावं लभते न हि। मत्तः पुमान् पदार्थानां यथा मदनकोद्रवैः॥''

अन्वयार्थ—(अत्र) यहाँ **(सुखार्थम्)** सुख के लिए **(कृष्ट्वा)** खेत जोतकर **(उप्त्वा)** बीज बोकर **(नृपतीन्)** राजाओं की **(निषेव्य)** सेवा करके **(बहुशः)** बहुत बार **(वने)** वन में **(अम्भोनिधौ)** समुद्र में **(भ्रान्त्वा)** भ्रमण करके **(सुचिरम्)** चिरकाल तक **(किम्)** क्यों **(क्लेशनासि)** क्लेश उठाते हो ? **(हा)** खेद है **(अज्ञानतः)** अज्ञान से **(कष्टम्)** कष्ट है। **(अयम् त्वम्)** यह जो तुम **(सिकतासु)** बालू में से **(तैलम्)** तेल **(मृगयसे)** खोजते हो **(विषात्)** विष से **(जीवितुम्)** जीने की **(वाञ्छेत्)** वाञ्छा करते हो **(ननु)** निश्चित ही **(तव)** तुम्हारा **(सुखम्)** सुख **(आशा-ग्रह-निग्रहात्)** आशा रूपी ग्रह के निग्रह से है। **(एतत्)** यह **(त्वया)** तुम्हें **(न ज्ञातम्)** ज्ञात नहीं है।

अर्थ—तुम यहाँ सुख के लिए भूमि जोतकर, बीज बोकर, राजा की सेवा करके और बहुत बार वन में, समुद्र में भ्रमण करके, यह चिरकाल तक कष्ट क्यों सहते हो? हाँ! अज्ञान से ही यह कष्ट है। तुम बालू में तेल खोजते हो, विष से जीवन की इच्छा करते हो, निश्चित ही तुमको सुख आशा रूपी पिशाच के निग्रह से मिलेगा, यह तुम्हें ज्ञात नहीं है।

टीकार्थ—इस लोक में इन्द्रियसुख की प्राप्ति के लिए किसान पहले तो कृषि योग्य खेत को जोतता है। उसके बाद वर्षा काल में बीज वपन करता है। उत्पन्न हुई फसल को राजाज्ञा के बिना वितरित नहीं कर सकता है इसलिए राजा की सेवा करता है। स्वयं फसल का स्वामी होकर भी अपनी इच्छा से उपभोग नहीं कर पाता है क्योंकि उस सम्पदा पर राजा का अधिकार रहता है। बाद में उस धान्य को बेचने के लिए अथवा राजाज्ञा से बहुत क्लेश के साथ परदेश में भ्रमण करता है। यहाँ आचार्यदेव दुःख व्यक्त करते हैं कि अज्ञान से यह सब करता है। मोह से ढका ज्ञान अज्ञान कहा जाता है। **इष्टोपदेश** में कहा भी है–''मोह से ढका ज्ञान अपने स्वभाव को प्राप्त नहीं करता है जैसे नशीली कोदों से पागल हुआ मनुष्य पदार्थों को नहीं समझ पाता है।''

इति वचनात्। कष्टं दु:खं। अयं परिदृश्यमानं सर्वैरिति। त्वं हे भव्य! सिकतासु बालुकायां। तैलं तिलस्य सारम्। मृगयसे अन्वेषणं कुरुषे। 'मार्ग अन्वेषणे' इति धोर्लट्। विषात् मृत्युप्रदद्रव्यात्। जीवितुं जीवनार्थम्। वाञ्छेत् वाञ्छां करोति। त्वममयमिति कर्तृनिर्देश:। ननु अनु-नये। 'ननु प्रश्नेऽप्यनु-नयेऽनुज्ञानेऽप्यवधारणे' इति वि० प्र०। तेनात्र कारुण्यात् नम्र-निवेदनम्। तव भव्यात्मन:। सुखमिन्द्रिया-तीतम्। आशाग्रहनिग्रहात् आशा तृष्णा सैव ग्रह: पिशाचस्तस्य निग्रहो बन्धनं तस्मात् तृष्णाभूतस्य वशीकरणादिति। एतत् सिद्धान्तमिदम्। त्वया भव्यात्मना। न ज्ञातं ज्ञानविषये नायातीत्यर्थ:। यदुक्त-मन्यत्रापि-

''भ्रान्तं देशमनेकदुर्गविषमं प्राप्तं न किञ्चित्फलं।
त्यक्त्वा जातिकुलाभिमानमुचितं सेवा कृता निष्फला।
भुक्तं मानविवर्जितं परगृहे साशङ्कया काकवत्,
तृष्णे जृम्भसि पापकर्मनिरते नाऽद्यापि सन्तुष्यसि॥''

इति शार्दूलविक्रीडितवृत्तम् ॥४२॥

अथ तृष्णाजृम्भितमिन्द्रियसुखं कथंभूतमिति कथयति-

(अनुष्टुप्)

आशाहुताशनग्रस्तवस्तूच्चै-र्वंशजां जना:।
हा किलैत्य सुखच्छायां दु:खघर्मापनोदिन: ॥४३॥

यह सभी को दिखाई दे रहा है फिर भी हे भव्य! तुम बालूकणों से तेल निकाल रहे हो। या यूँ कहें कि तुम विषभक्षण से जीवित रहने की इच्छा कर रहे हो। इसलिए यहाँ आचार्य देव बड़ी करुणा से नम्र निवेदन करते हुए कहते हैं कि तुम भव्यात्माओं को इन्द्रियातीत सुख तृष्णा रूपी पिशाच को रोकने से, उसे वश में करने से होगा। यह सिद्धान्त क्या तुम्हें ज्ञात नहीं है। अन्यत्र भी भर्तृहरि ने कहा है-

''अनेक देशों में तू घूमा, अनेक कठिन,विषम स्थानों को उचित रीति से प्राप्त किया फिर भी कुछ फल नहीं पाया। जाति, कुल का उचित अभिमान छोड़कर सेवा की, वह भी निष्फल रही। सम्मान रहित हो पर गृह में कौआ की तरह डरकर भोजन किया। बढ़ी हुई तृष्णा से पाप कर्म में निरत रहने पर यह सब कुछ किया फिर भी अभी सन्तुष्ट नहीं हो।'' यहाँ शार्दूलविक्रीडित छन्द है ॥४२॥

उत्थानिका-तृष्णा से बढ़ा हुआ इन्द्रिय सुख कैसा होता है, यह कहते हैं-

अन्वयार्थ-(जना:) मनुष्य **(आशा-हुताशन-ग्रस्त-वस्तूच्चै: वंशजाम्)** आशारूपी अग्नि से व्याप्त वस्तुओं रूपी ऊँचे बाँसो से उत्पन्न हुई **(सुखच्छायाम्)** सुख की छाया को **(किल)** निश्चित ही

दुख से बचने तू सुख पाने चलता उलटी राह रहा।
दुख के कारण आशावर्धक भोग संपदा चाह रहा॥
तपन ताप से तपा हुवा नर शांति खोजता दुखी बड़ा।
बाँस जल रही उसकी छाया में जाकर बस वहीं खड़ा ॥४३॥

अन्वयः—जनाः आशाहुताशनग्रस्तवस्तूच्चैर्वंशजां सुखच्छायां किल ऐत्य दुःखघर्मापनोदिनः (भवन्ति) हा।

आशेत्यादि। जनाः संसारिणो मनुष्याः। आशाहुताशनग्रस्तवस्तूच्चैर्वंशजां आशा दिशा इव आशा असीमितक्षेत्रे प्रसरणात् तृष्णोच्यते। सैव हुताशनोऽग्निः प्राणिनां दहनसंतापकारणात्। तेन ग्रस्तानि अभिभूतानि च तानि वस्तूनि पञ्चेन्द्रियार्थाः तान्येव उच्चैर्वंशाः वेणुयष्टयः तेषामिति। सुखच्छायां सुखस्य छाया आतपनिवारिणी ताम्। किल निश्चये। ऐत्य तत्र गत्वा प्राप्य। दुःखघर्मापनोदिनः दुःखं कष्टं तदेव घर्मः आतपः ''घर्मः स्यादातपे ग्रीष्मे उष्णस्वेदाम्भसोरपि'' इति वि॰ प्र॰। तं घर्ममपनुदन्तीत्येवं शीलं येषां ते तथोक्ताः।'शीलेऽजातौ णिन्' इति शीलार्थे णिन्। दुःखरूपातपं निवारयन्तीत्यर्थः। भवन्तीति क्रियाऽत्राध्याह्रियते। हा इति विषादेऽव्ययपदम्। यथाऽत्युच्चैर्वंशवृक्षाणां छायाऽकिञ्चित्करा ग्रीष्मताप-सन्तप्तजनाय तथा हि विषयेषु रममाणानां सुखं सुखाभासमतीवतृष्णासन्तापवर्धनत्वादिति। अनुष्टुप्वृत्तम् ॥४३॥

अथ तत्सुखच्छायाऽपि स्थिरा नेति प्रतिपादयति–

(शार्दूलविक्रीडित)

खातेऽभ्यासजलाशयाऽजनि शिला प्रारब्धनिर्वाहिणा,
भूयोऽभेदि रसातलावधि ततः कृच्छ्रात्सुतुच्छं किल।
क्षारं वार्युदगात्तदप्युपहतं पूतिकृमिश्रेणिभिः
शुष्कं तच्च पिपासितोऽस्य सहसा कष्टं विधेश्चेष्टितम् ॥४४॥

(ऐत्य) प्राप्त करके **(दुःख घर्मापनोदिनः)** दुःख रूपी घाम को दूर करना चाहते हैं **(हा)** यह खेद है।

अर्थ—मनुष्य आशा रूपी अग्नि से ग्रस्त वस्तु रूप ऊँचे बाँसों से उत्पन्न सुख की छाया को प्राप्त करके दुःख की घाम को दूर करना चाहते हैं, यह खेद की बात है।

टीकार्थ–संसारी मनुष्य की आशा दिशाओं की तरह असीमित क्षेत्र में फैलती है वही तृष्णा कही जाती है। यह तृष्णा ही अग्नि है जो प्राणियों को जलाने और संताप का कारण है। उस अग्नि से अभिभूत हुए जीव पंचेन्द्रिय के विषयों को चाहते हैं। सो वह विषय-वस्तु बाँस के ऊँचे वृक्षों की तरह है। उन वृक्षों से सुख की छाया को प्राप्त करके वे ग्रीष्म के तीव्र दुःख को दूर करना चाहते हैं। जैसे बाँस के ऊँचे वृक्षों की छाया ग्रीष्म के ताप से सन्तप्त मनुष्य के लिए कुछ कार्यकारी नहीं होती है उसी तरह विषयों में रमण करने वालों को जो सुख होता है वह सुखाभास है क्योंकि उससे और अधिक तीव्र सन्ताप की वृद्धि होती है। यह अनुष्टुप् छन्द है ॥४३॥

प्यास लगी जल निकट जानकर भू खोदत, पाषाण मिला।
अब क्या करता कार्य चल रहा खोदत ही पाताल चला॥
बिल-बिल करते कृमि-कुल जिसमें जहाँ मिला जल क्षार भरा।
प्यास बुझी ना, कण्ठ सूखता हाय भाग्य से हार मरा॥४४॥

अन्वयः—अभ्यासजलाशया खाते शिला अजनि प्रारब्धनिर्वाहिणा रसातलावधि भूयः अभेदि ततः कृच्छ्रात् सुतुच्छं क्षारं वारि किल उदगात् तदपि पूतिकृमिश्रेणिभिः उपहतं अस्य पिपासितः सहसा तच्च शुष्कं विधेः चेष्टितं कष्टम्।

खात इत्यादि। अभ्यासजलाशया अभ्यासे निकटे जलस्याशा तृष्णा तयेति। ''समीपाभ्याशमासन्न ...'' इति धनञ्जयः। शान्तोऽभ्यासशब्दोऽत्र सान्तत्वेन प्रवृत्तः सामीप्यार्थे तत्क्वचिद्दर्शनात्। अथवा अभ्यासः सततैकविषये प्रयासः। तेन निरन्तरजलेच्छयेति भावः सुष्ठु भाति। खाते उत्खनने। शिला वृहत्प्रस्तरः। अजनि समुद्भूता। 'जनी प्रादुर्भावे' इति धो लुङ्। प्रारब्धनिर्वाहिणा कार्यस्य प्रारम्भो येन कृतः स प्रारब्धस्तस्य निर्वाहि फलप्राप्तिपर्यन्तं निर्वहतीत्येवंशीलः स तेनोत्खनन-कार्यमपरित्यजता। रसातलावधिः रसातलं पातालं तत्पर्यन्तमवधिः सीमा यस्मिन् कर्मणि तत्। यद्वा रसातलपर्यन्तमवधिः गर्तः कृतः यस्मिन् अवधिर्नाऽवधौ न स्यात्सीम्नि काले बिलेऽवटे इति वि० लो०। भूयः पुनरर्थेऽव्ययम्। अत्र क्रियाविशेषणत्वेन प्रयुक्तम्। अभेदि भिन्नं कृतम्। 'भिदिर् विदारणे' इत्येतस्माद्धोः कर्मणि लुङ्। ततः तदनन्तरम्। कृच्छ्रात् कष्टात्। सुतुच्छं अत्यल्पम्। क्षारं तीक्ष्णलवणयुक्तम्। वारि जलम्। किल स्फुटम्। उदगात् प्रापत् 'इण् गतौ' इति धो लुङ्। तदपि तत् क्षाराल्पजलमपि। पूतिकृमिश्रेणिभिः पूति दुर्गन्धि च कृमिश्रेणयः

उत्थानिका—उस सुख की छाया भी स्थिर नहीं है, सो कहते हैं-

अन्वयार्थ—(अभ्यास-जलाशया) निकट जल की इच्छा से **(खाते)** खोदने पर **(शिला)** पत्थर **(अजनि)** प्राप्त हुआ। **(प्रारब्ध-निर्वाहिणा)** प्रारम्भ किये कार्य का निर्वाह करने वाले ने **(रसातलावधि)** रसातल पर्यन्त तक **(भूयः)** खूब **(अभेदि)** खोदा **(ततः)** जिससे **(कृच्छ्रात्)** बड़े कष्ट से **(सुतुच्छम्)** बहुत थोड़ा **(क्षारम्)** खारा **(वारि)** जल **(किल)** निश्चित ही **(उदगात्)** उत्पन्न हुआ **(तदपि)** वह भी **(पूति-कृमि-श्रेणिभिः)** दुर्गन्धित, कृमि समूह से **(उपहतम्)** सहित था **(अस्य)** इस **(पिपासितः)** प्यासे मनुष्य को **(सहसा)** अचानक **(तत् च)** वह भी **(शुष्कम्)** सूख गया **(विधेः)** कर्म की **(चेष्टिम्)** लीलाएँ **(कष्टम्)** कष्टकारी हैं।

अर्थ—निकट में जल प्राप्ति की इच्छा से खोदने पर शिला प्राप्त हुई। प्रारम्भ किये कार्य का निर्वाह करते हुए रसातल पर्यन्त बार-बार खोदा। जिससे बड़े कष्ट से बहुत थोड़ा-सा खारा जल प्रकट हुआ जो दुर्गन्धित और कीड़ों के समूह सहित था। उस पीने वाले के लिए वह भी सहसा सूख गया। कर्म की चेष्टाएँ बड़ी विचित्र हैं।

टीकार्थ—यहाँ एक अर्थ तो 'जलाशया' का जल की इच्छा से लेना है तो दूसरा अर्थ ल और ड में अभेद होने से 'जडाशया' भी ग्रहण करना है। धन जड़ है। उस धन की तृष्णा से, धन प्राप्ति की इच्छा से किसी ने पृथ्वी तल को खोदा। बाद में एक शिला उसे प्राप्त हुई। रस स्वर्ण को प्राप्त करने के उपाय द्वारा फिर उस शिला को अग्नि में झोंका। ऐसा करने पर क्षार पसीने को बहाकर उसे थोड़ी जड़ वस्तु प्राप्त हुई जो टका समान मूल्य की थी। फिर भी भोगने की इच्छा से उसकी वह वस्तु सहसा

कृमिपङ् क्तयः क्षुद्रकीटकुलाः ताभिः उपहतं युक्तं निचितमित्यर्थः। अत्र 'पूतिकृमि' इति छन्दो भङ्गदोषो न विज्ञेयः। यद्वार्षप्रयोगः। अस्य एवंविधप्राप्तस्य। पिपासितः पातुं वाञ्छितः। 'पा पाने' इत्येतस्माद्धोः सन्नन्तकार्ये षष्ठ्यन्तरूपम्। सहसा एकस्मिन् क्षणे। तच्च कीटयुतक्षारवारि अपि। शुष्कं विशोषितम्। विधेः दैवस्य पूर्वकृत-कर्मणः। चेष्टितमीहितम्। कष्टं दुःखम्। हा विषादे वाऽव्ययम्। अत्र जलाशया जडाशया इति श्लेषात्। ''यमकादौ भवेदैक्यं डलो रलो र्वबोस्तथा'' इति नियमात् धनतृष्णयेत्यर्थेऽप्यवसेयः। तद्यथा–धनप्राप्तीच्छया केनापि तृषाभिभूतेन महीतलमुत्खातम्। पश्चादेकशिला संजाता। रसस्वर्णप्राप्त्युपायेन भूयः सा ध्माता। एतद् विधाने क्षारस्वेदनिस्यन्दनं कृत्वा स्वल्पजडवस्तु वशटकमूल्यसमं स प्रापत्। तदपि भोक्तुमिच्छितस्य सहसा विलयं गतमिति तृष्णापूर्त्यर्थं महताऽऽयासेनापि न किञ्चिद् लब्धं भाग्य-विपर्यासादित्यर्थः। शार्दूलविक्रीडितवृत्तम् ॥४४॥

ये तु दैवप्राप्तधनर्द्धिसमृद्धा धनिका इह सन्ति तेऽपि शुद्धा नेति वक्ति–

(अनुष्टुप्)

शुद्धैर्धनै-र्विवर्द्धन्ते सतामपि न सम्पदः।
न हि स्वच्छाम्बुभिः पूर्णाः कदाचिदपि सिन्धवः ॥४५॥

अन्वयः–सतां अपि सम्पदः शुद्धैः धनैः न विवर्धन्ते कदाचिदपि सिन्धवः स्वच्छाम्बुभिः पूर्णाः न हि।

शुद्धैरित्यादि। सतां सज्जनानाम्। अपि गर्हार्थे। ''अपि सम्भावनाप्रश्नशङ्का-गर्हासमुच्चये'' इति

विलीन हो गई। तृष्णा की पूर्ति के लिए महान् कष्ट से भी, भाग्य के विपरीत होने से उसे कुछ भी प्राप्त नहीं हुआ। यहाँ शार्दूलविक्रीडित छन्द है ॥४४॥

उत्थानिका–जो प्राणी भाग्य से प्राप्त धन वैभव से समृद्ध हुए हैं वे भी शुद्ध नहीं हैं, यह कहते हैं–

अन्वयार्थ–(सताम्) सज्जनों की **(अपि)** भी **(सम्पदः)** सम्पदायें **(शुद्धैः धनैः)** शुद्ध धन से **(न)** नहीं **(विवर्धन्ते)** बढ़ती है **(कदाचिदपि)** कभी भी **(सिन्धवः)** नदियाँ **(स्वच्छाम्बुभिः)** स्वच्छ जल से **(पूर्णाः)** पूर्ण **(न हि)** नहीं होती हैं।

अर्थ–शुद्ध धन से सज्जनों की सम्पदाएँ भी नहीं बढ़ती है। कभी भी नदियाँ स्वच्छ जल से पूर्ण नहीं होती हैं।

टीकार्थ–न्याय से अर्जित किया गया हिंसा, झूठ आदि पापों से रहित धन शुद्ध धन होता है।

नीति न्याय से धन अर्जन कर जीवन अपना बिता रहे।
उनका वह धन बढ़ नहिं सकता साधु सन्त यों बता रहे॥
पूर्ण सत्य है नदियाँ बहतीं जग में जल से भरी-भरी।
मलिन सलिल से सदा भरीं वे विमल सलिल से कभी नहीं ॥४५॥

वि० प्र०। दूरं वार्ताऽसतामित्यर्थः। सम्पदः सम्पदा धनविभवाः। शुद्धै र्धनै र्न्यायोपार्जितै र्हिंसामृषादि-पातकातीतै र्धनैः। न निषेधार्थे विवर्धन्ते वृद्धिं यान्ति। 'वृधु वृद्धौ' इति धो र्लट्। दृष्यान्तद्वारेणैतद् दृढयन्नाह-कदाचिदपि क्वापि काले। सिन्धवः सरितः। ''सिन्धुरब्धौ नदे देशीभेदे ना सरिति स्त्रियाम्।'' इति वि० लो०। स्वच्छाम्बुभिः स्वच्छं निर्मलं च तत् अम्बु जलं तैः शुद्धघनोदमात्रैरित्यर्थः। पूर्णाः पूरिताः। न भवन्तीति क्रियाध्याहारः। हि निश्चयेन। यथा प्रभूतलघुप्रणालि-नदीजलैर्विना नद्यां पूरो न दृश्यते तथा हि पापारम्भै र्विना सम्पदा न विवर्धते। अनुष्टुप्च्छन्दोऽत्र ॥४५॥

अथ धर्मसुखादीनां स्थिरीभूतानां परिभाषा परिभाष्यते-

(अनुष्टुप्)

स धर्मो यत्र नाधर्मस्तत्सुखं यत्र ना सुखम्।
तज्ज्ञानं यत्र नाज्ञानं सा गतिर्यत्र नागतिः ॥४६॥

अन्वयः—धर्मः स यत्र न अधर्मः, सुखं तत् यत्र असुखं न, ज्ञानं तत् यत्र अज्ञानं न, गतिः सा यत्र आगतिः न।

स इत्यादि। धर्मः पदार्थस्वभावः। यथाग्नेरौष्णत्वं पुद्गलस्य स्पर्शरसगन्ध-वर्णत्वं तथात्मनो

ऐसे शुद्ध धन से धन वैभव की वृद्धि सज्जनों को भी नहीं होती है। उदाहरण देकर समझाते हैं कि नदियाँ कभी भी मात्र बादलों के शुद्ध जल से पूर को प्राप्त नहीं होती है किन्तु अनेक छोटी-छोटी नालियों के जल के बिना नदी में पूर नहीं आता है उसी प्रकार पाप, हिंसा आरम्भ के बिना सम्पत्ति की वृद्धि नहीं होती है। यहाँ अनुष्टुप् श्लोक है ॥४५॥

उत्थानिका—अब स्थिरभूत धर्म, सुख आदि की परिभाषा कहते हैं-

अन्वयार्थ—(धर्मः) धर्म **(सः)** वह है **(यत्र)** जिसमें **(न अधर्मः)** अधर्म न हो **(सुखम्)** सुख **(तत्)** वह है **(यत्र)** जिसमें **(असुखं न)** सुख का अभाव न हो **(ज्ञानम्)** ज्ञान **(तत्)** वह है **(यत्र)** जिसमें **(अज्ञानं न)** अज्ञान न हो **(गतिः)** गति **(सा)** वह है **(यत्र)** जिसके होने से **(आगतिः न)** आना न हो।

अर्थ—धर्म वह है जहाँ अधर्म न हो, सुख वह है जहाँ दुःख न हो, ज्ञान वह है जहाँ अज्ञान न हो, गति वह है जहाँ से आना न हो।

टीकार्थ—पदार्थ का स्वभाव धर्म है। जैसे अग्नि का स्वभाव उष्णत्व है, पुद्गल का स्पर्श, रस,

---

अधर्म जिसमें पलता नहिं है धर्म वहीं पर पलता है।
गन्ध दुःख की आती नहिं है उसमें ही सुख फलता है॥
वही ज्ञान है वहीं ज्ञान है जहाँ नहीं अज्ञान रहा।
वही सही गति चहुँ गतियों का जब होता अवसान रहा ॥४६॥

दृग्ज्ञप्तिस्वभाव:। स यत्र न अधर्म: पदार्थविभावपरिणति:। तेन यथाख्यातरूपात्मन: परिणतिरेवात्मधर्म इति सिद्ध। तत् सुखं स्वात्मस्वभावोत्थम्। यत्र न असुखं वैषयिकसुखासुखम्। इन्द्रियमनोजन्यसुखं तु सुखाभासम्। यथा चोक्तम्–'सपरं बाधासहियं विच्छिण्णं बंधकारणं विसमं। जं इंदिएहिं लद्धं तं सोक्खं दुक्खमेव तहा॥' तज्ज्ञानं स्वात्मनो गुण:। यत्र न अज्ञानं रागोपहतोपयोग:। गति: सा यत्र यस्मिन् सति आगति: पुनरागमनं न। यद्वा गति: शरणम्। 'ततो भवानेव गति: सतां मत:॥' इति वचनाद्। तदेव शरणं यत्र नाशरणम् तेन चतु:शरणत्वं ध्वनितम् ॥४६॥

एतदभावे किं स्यादित्याह–

(वसन्ततिलका)

वार्तादिभिर्विषयलोल - विचारशून्य,
क्लिश्नासि - यन्मुहुरिहार्थपरिग्रहार्थम्।
तच्चेष्टितं यदि सकृत्परलोकबुद्ध्या,
न प्राप्यते ननु पुनर्जननादिदु:खम् ॥४७॥

अन्वय:—विषयलोलविचारशून्य! वार्तादिभि: यत् मुहु: इहार्थपरिग्रहार्थं क्लिश्नासि तत् चेष्टितं सकृत् यदि परलोकबुद्ध्या (क्रियते) ननु पुन: जननादिदु:खं न प्राप्यते।

गन्ध और वर्ण है वैसे ही आत्मा का दर्शन ज्ञान स्वभाव है। पदार्थ की विभाव परिणति अधर्म है। आत्मा का धर्म वह है जिसके होने पर आत्मा में विभाव परिणति न रहे। इससे सिद्ध होता है कि यथाख्यात रूप आत्मा की परिणति ही आत्मा का धर्म है। अपने आत्म स्वभाव से उत्पन्न सुख ही सुख है। जिसके होने पर वैषयिक सुख, दु:ख नहीं होते है। इन्द्रिय और मन से उत्पन्न सुख तो सुखाभास है। जैसा कि कहा है–''जो पराश्रित है, बाधा सहित है, विच्छिन्न हो जाता है, बन्ध का कारण है, विषम (कठिन) है, ऐसा इन्द्रियों से उत्पन्न हुआ सुख दु:ख ही है।''(प्र० सा० ७६) ज्ञान अपनी आत्मा का गुण है। ज्ञान वह है जिसके होने पर अज्ञान न रहे। उपयोग का राग से उपहत (आहत) होना ही अज्ञान है। गति/गमन वह है जिसके होने पर पुनरागमन न हो। अथवा गति का अर्थ होता है शरण। जैसा कि स्वयंभू स्तोत्र में कहा है–हे भगवन! इसलिए आप ही गति/शरण हैं और सज्जनों को मान्य हैं। शरण वही है और सज्जनों को मान्य है। शरण वही है जिसके होने पर कभी शरण रहित न हो। ऐसी चार ही शरण हैं। अरिहंत, सिद्ध, साधु और केवली प्रणीत धर्म ही चार शरण हैं ॥४६॥

धन-कन-कंचन संचय करने असि मषि कृषि में बन श्रमधी।
बार-बार कटु पीर पा रहा विषय लंपटी बन भ्रमधी॥
शम-यम-दम-नियमादिक धरता यदि जाने शिवधाम सही।
जनन-मरण औ जरण जनित दुख-जीवन का फिर नाम नहीं ॥४७॥

वार्तादीत्यादि। विषयलोलविचारशून्य! विषयेषु लोलः सतृष्णः तेन विचारशून्यो विवेकरहितो यः तस्य सम्बोधनार्थम्। 'लोलः सतृष्णचलयोस्त्रिषु' इति वि० लो०। अथवा विषयलोल! विचारशून्यइत्यपि पाठः। कैरिति चेत्? वार्तादिभिः वार्ता आदौ येषां संयोगवियोगतापदारिद्रादिकार्याणां तेषां तैरिति तत्र वार्ता त्रयी कृषिपशुपालनवणिज्या। क्लिश्नासि क्लेशं कष्टमनुभवसि। 'क्लिश उपतापे इति धो र्लट्। यत् मुहुः पौनःपुन्यम्। किमर्थम्? इहार्थपरिग्रहार्थं इह अस्मिन् लोके अर्थस्य धनस्य परिग्रहार्थं परिग्रहणाय तम्। तीव्रनिदाघवर्षाशैत्यं प्रसह्य कृषिवणिज्यां कुर्वन् स्वामिनो दुर्वचनमसहिष्णुतयाऽर्थलोभे विषहसे मनसि दुःखक्रोधादिना दह्यमानोऽपि प्रहसितवक्त्रं विदधासि कारागारे पतित्वा स्त्रीसेवनविरहितः क्षुत्क्षामोदरः कालेऽनुप-लब्धविषयमनसा सर्वपरितापसहनाद् मुने र्योग्यान् सकलपरीषहाननीहितवृत्त्याऽनुकरोषि। तत् चेष्टितं क्रिया। यदि सकृत् एकवारमपि परलोकबुद्ध्या इह धर्मं विधीयमानो जनः सर्वत्र सुखी भवतीति मत्या। क्रियते इतिक्रियाध्याह्रियते। ननु निश्चयेन। अव्ययानामनेकार्थत्वात्। पुनः जननादिदुःखं जननं जन्म आदिर्दुःखं येषु जराव्याधि-परतन्त्रादिषु तत्। न प्राप्यते नाऽनुभूयते भवतेत्यर्थः। 'आप्लृ व्याप्तौ' इति धोः कर्मणि लट् ॥४७॥

उत्थानिका—इन स्थिरभूत धर्म, सुख आदि के अभाव में क्या होता है, यह कहते हैं–

अन्वयार्थ—(विषय-लोल-विचार-शून्य) विषय लम्पटा से विचार शून्य! **(वार्तादिभिः)** वार्ता आदि से **(यत्)** जो **(मुहुः)** बार-बार **(इहार्थ-परिग्रहार्थम्)** इस लोक के धन, परिग्रह के लिए **(क्लिश्नासि)** क्लेश उठाते हो **(तत् चेष्टितम्)** वह चेष्टा **(सकृत्)** एकबार **(यदि)** यदि **(परलोक-बुद्ध्या)** पर लोक की बुद्धि से की जाती तो **(ननु)** निश्चित ही **(पुनः)** पुनः **(जननादि-दुःखम्)** जन्म आदि के दुखों को **(न प्राप्यते)** नहीं प्राप्त होता।

अर्थ—हे विषय लोलुपता से विचारशून्य! वार्ता आदि के द्वारा जो बार-बार इस लोक में धन, परिग्रह के लिए कष्ट सहते हो वैसी चेष्टायें यदि एक बार परलोक की बुद्धि से की जातीं तो पुनः जन्म आदि के दुःखों को नहीं प्राप्त करता।

टीकार्थ–विषयों में सतृष्ण होने से विवेक रहित हे जीव! तुम वार्ता, संयोग, वियोग, ताप, दारिद्रय आदि कार्यों में क्लेश का अनुभव करते हो। कृषि, पशुपालन और वाणिज्य ये तीन वार्ता कहलाती हैं। इस लोक में धन, परिग्रह के लिए तीव्र घाम, वर्षा, शीत को कष्ट से सहन करके कृषि, व्यापार करते हो। स्वामी के दुर्वचनों को सहिष्णुताके बिना धन लोभ में सहन करते हो। मन में दुःख, क्रोध आदि से जलकर भी हँसता हुआ मुख बनाए रखते हो। काराग्रह में गिरकर स्त्री सेवन से रहित रहता है, क्षुधा से क्षीण उदर वाला हो जाता है। समय पर मन के लिए विषय उपलब्ध नहीं रहने से समस्त कष्ट सहन करने से मुनि के योग्य समस्त परीषहों को बिना इच्छा के करता है। वही क्रिया यदि एक बार भी परलोक की बुद्धि से ''यहाँ धर्म करता हुआ मनुष्य सर्वत्र सुखी रहता है, इस बुद्धि से करता तो जन्म, बुढ़ापा, रोग, परतन्त्रता आदि को प्राप्त नहीं करता''॥४७॥

अथ जननादिदु:खस्य बीजं किमित्याह–

(शार्दूलविक्रीडित)

सङ्कल्प्येदमनिष्टमिष्टमिदमित्यज्ञातयाथात्म्यको ,
बाह्ये वस्तुनि किं वृथैव गमयस्यासज्य कालं मुहुः।
अन्तः शान्तिमुपैहि यावददयप्राप्तान्तकप्रस्फुर-
ज्ज्वालाभीषणजाठरानलमुखे भस्मीभवेन्नो भवान् ॥४८॥

अन्वयः—अज्ञातयाथात्म्यकः इदं अनिष्टं इष्टं इति सङ्कल्प्य बाह्ये वस्तुनि आसज्य किं वृथा एव मुहुः कालं गमयसि यावत् अदयप्राप्तान्तकप्रस्फुरज्ज्वाला-भीषणजाठरानलमुखे भवान् नो भस्मीभवेत् (तावत्) अन्तः शान्तिं उपैहि।

सङ्कल्प्येत्यादि। अज्ञातयाथात्म्यकः अज्ञातं न ज्ञातो यथाऽस्ति वस्तु तथैव स मोहकषायावृतजीवः। स च किं करोति? इदं दृश्यमानं कमपि। अनिष्टं मनोऽरुचि-कारकम्। इष्टं मनोज्ञम्। इति सङ्कल्प्य सङ्कल्पं

उत्थानिका—संसार के दु:ख का बीज क्या है ? यह कहते हैं–

अन्वयार्थ–(अज्ञात-याथात्म्यकः) जिसे यथार्थ स्वरूप का ज्ञान नहीं है वह **(इदं)** यह **(अनिष्टम्)** अनिष्ट है **(इष्टम्)** यह इष्ट है **(इति)** इस प्रकार **(संकल्प्य)** संकल्प करके **(बाह्ये वस्तुनि)** बाह्य वस्तु में **(आसज्य)** आसक्त होकर **(किम्)** क्यों **(वृथा)** व्यर्थ **(एव)** ही **(मुहुः)** बार-बार **(कालम्)** समय को **(गमयसि)** गँवाते हो **(यावत्)** जब तक **(अदय-प्राप्ता-न्तक-प्रस्फुरज्ज्वाला-भीषण-जाठरा-नल-मुखे)** दया रहित पने को प्राप्त मृत्यु की स्फुरायमान ज्वालाओं की भीषण-जाठर-अग्नि मुख में **(भवान्)** आप **(नो)** नहीं **(भस्मीभवेत्)** भस्म हो जाते **(तावत्)** तब तक **(अन्तः शान्तिम्)** भीतर शांति को **(उपैहि)** प्राप्त कर लो।

अर्थ—यथार्थ स्वरूप का ज्ञान नहीं होने से ''यह इष्ट है और यह अनिष्ट है'' इस प्रकार संकल्प करके क्यों व्यर्थ में ही बाह्य वस्तुओं में आसक्त होकर बार-बार समय गँवाते हो ? जब तक प्राप्त हुए निर्दय काल की स्फुरायमान ज्वालाओं की भीषण भीतरी अग्नि के मुख में आप भस्म नहीं होते हो तब तक अन्तरंग शान्ति को प्राप्त कर लो।

टीकार्थ–मोह, कषाय से घिरा जीव जैसी वस्तु है, उसे वैसी नहीं जानता है। वह जीव दिखाई देने वाली मन को अरुचिकारक अनिष्ट और इष्ट पर-वस्तु में ''यह मुझे अनिष्ट है, यह मुझे

बाह्य-वस्तु को मान रहा यह अनिष्ट यह है इष्ट रहा।
तत्त्व बोध बिन वृथा समय खो बार-बार पा कष्ट रहा॥
निर्दय यम के ज्वालामय मुख में जब तक नहिं जल मरता।
तब तक पीले निजी शांतिमय अविकल अविरल जल झरता ॥४८॥

विधाय। परवस्तुनि ममेदमनिष्टमिदञ्चेष्टमिति भावः सङ्कल्प इत्यायाति। अहं ज्ञानी अहं धनीत्यादि-रूपाभिनिवेशो विकल्पोऽभिधीयते। सङ्कल्पकथने विकल्पस्यापि ग्रहणं कर्त्तव्यं साहचर्यसम्बन्धात्। यथा नारदपर्वतौ मतिश्रुतौ वा। अयं सङ्कल्पविकल्पाभिनिवेशः कल्पतरुरिवास्ति। यस्य च्छायायां सन्तिष्ठमानो जनो भवे जननादि वाञ्छति। यदुक्तम्–''सङ्कल्पकल्प-तरुसंश्रयणात्त्वदीयं चेतो निमज्जति मनोरथ-सागरेऽस्मिन्। तत्रार्थतस्तव चकास्ति न किञ्चनापि पक्षः परं भवसि कल्मषसंश्रयस्य॥'' यस्तु सङ्कल्प-विकल्पवान् स हि अज्ञातयाथात्म्यकः। अथवा यस्त्वज्ञातयाथात्म्यकः स हि सङ्कल्पविकल्पवानिति व्याप्ति र्न्याय्या। न चात्र सम्यग्ज्ञानमात्रस्य विवक्षा तेन सहापि सङ्कल्पविकल्पदर्शनात्। ततः संयमी यदा कदापीष्टानिष्टं करोति सोऽपि वस्तुनोऽविज्ञातस्वरूपी समाख्यायतेऽन्यस्य का वार्ता। बाह्ये वस्तुनि धनावासपुस्तकोपकरणाचित्तसचित्त-मिश्रपरिग्रहे। आसज्य आसक्तिं कृत्वा। किं किमर्थम्। वृथा एव व्यर्थं हि। मुहुः वारंवारम्। कालं स्वल्पायुः-कलाविशेषम्। गमयसि नयसि। यावत् कालपर्यन्तम्। अदय-प्राप्तान्तकप्रस्फुरज्ज्वालाभीषणजाठरानलमुखे अदयो निर्दय स चासौ प्राप्तश्चासौ अन्तको मृत्युस्तस्य प्रस्फुरन् वितरन् ज्वालाभीषणश्चासौ जाठरानल उदराग्निस्तस्य मुखोऽग्र भास्तस्मिन्। भवान् त्वम्। नो निषेधार्थे। भस्मीभवेत् अभस्मनो भस्म भवेदिति। भवानिति कर्तृपदसहप्रथमपुरुषप्रयोगात्। 'कृभ्वस्ति-योगेऽतत्तत्त्वे संपत्तरि च्विः' च्विः प्रत्ययः। तावद्यावच्छब्दयोर्नित्यसम्बन्धात्। अन्तः अन्तरङ्गे मनसि सर्वसङ्कल्पविकल्पविरहित-निराकुलात्मस्भावे वा। शान्तिं निराकुलताम्। उपैहि गच्छ। 'इण् गतौ' इति धोर्लट्। त्वं हे भव्य! इत्यध्याहारः कार्यः ॥४८॥

इष्ट है'' इस प्रकार के संकल्प को करता है। मैं ज्ञानी हूँ, मैं धनी हूँ इस प्रकार के भाव विकल्प कहलाते हैं। संकल्प कहने से विकल्प का भी ग्रहण कर लेना चाहिए क्योंकि संकल्प, विकल्प का साहचर्य सम्बन्ध है। जैसे नारद, पर्वत का अथवा मतिज्ञान, श्रुतज्ञान का सहचर सम्बन्ध है। यह संकल्प का भाव कल्पवृक्ष की तरह है जिस वृक्ष की छाया में बैठा मनुष्य संसार आदि की वांछा करता है। कहा भी है–''संकल्प के कल्पवृक्ष के आश्रय से तेरा चित्त इस मनोरथ के सागर में डूबा रहता है। ऐसे में वास्तव में कुछ भी तेरे पक्ष में नहीं आता किन्तु पाप के आश्रय का ही पक्ष होता है।'' जो संकल्प-विकल्प वाला होता है वह यथार्थ का ज्ञाता नहीं है और जो यथार्थ स्वरूप का ज्ञाता नहीं है वह संकल्प-विकल्प वाला होता है। इस प्रकार की व्याप्ति न्याय योग्य है। इस श्लोक में सम्यग्ज्ञान मात्र की विवक्षा है, ऐसा भी नहीं समझना क्योंकि सम्यग्ज्ञान के साथ भी संकल्प, विकल्प देखे जाते हैं। इसलिए संयमी जब कभी भी इष्ट-अनिष्ट कल्पना करता है तो वह भी वस्तु के स्वरूप को जानने वाला नहीं है, यह कहा जाता है फिर अन्य की क्या बात ? धन, आवास, पुस्तक, उपकरण, अचित्त परिग्रह, सचित्त परिग्रह, मिश्र परिग्रह में तुम बार-बार इष्ट-अनिष्ट का चिन्तन करके क्यों अपनी आयु की कला विशेषों को व्यतीत कर रहे हो ? जब तक आप इस दयाविहीन मृत्यु की फैली हुई भीषण ज्वाला के अग्नि मुख में भस्म नहीं होते हो तब तक समस्त संकल्प, विकल्पों से रहित निराकुल आत्म स्वभाव में या अन्तरंग मन में हे भव्य! निराकुलता को प्राप्त हो जाओ ॥४८॥

अथ भवाब्धेस्तरणोपायं दर्शयन्नाह–

(शार्दूलविक्रीडित)

आयातोऽस्यतिदूरमङ्ग परवानाशासरित्प्रेरितः
किं नावैषि ननु त्वमेव नितरामेनां तरीतुं क्षमः।
स्वातन्त्र्यं व्रज यासि तीरमचिरान्नो चेद् दुरन्तान्तक-
ग्राहव्यात्तगभीरवक्त्रविषमे मध्ये भवाब्धेर्भवेः ॥४९॥

अन्वयः—अङ्ग! परवान् आशासरित्प्रेरितः अतिदूरं आयातः असि ननु किं (त्वं) न अवैषि त्वं एव एनां तरीतुं नितरां क्षमः (ततः) स्वातन्त्र्यं व्रज (यस्मात्) अचिरात् तीरं यासि नो चेत् दुरन्तान्तकग्राह-व्यात्तगभीरवक्त्रविषमे भवाब्धेः मध्ये भवेः।

आयात इत्यादि। अङ्ग हे शरीरिन् हे भव्येत्यर्थः। 'अङ्गो देशेऽङ्गमन्तिके। गात्रो पायाप्रधानेषु प्रतीकेप्यङ्गवत्यपि' इति वि० लो०। अथवा "अङ्ग संबोधनेऽसंख्यं पुनरर्थप्रमोदयोः" इति वि० लो० तेन

उत्थानिका—संसार सागर से तरने का उपाय दिखाते हुए कहते हैं–

अन्वयार्थ—(अङ्ग) हे प्राणिन्! **(परवान्)** परतन्त्र होते हुए **(आशा-सरित्-प्रेरितः)** आशा नदी से प्रेरित हो **(अतिदूरम्)** बहुत दूर **(आयातः असि)** आ गये हो? **(ननु किम् न)** क्या तुम नहीं **(अवैषि)** जानते हो **(त्वम्)** कि तुम **(एव)** ही **(एनाम्)** इस नदी को **(तरीतुम्)** तैरने के लिए **(नितराम्)** अच्छी तरह **(क्षमः)** समर्थ हो। इसलिए **(स्वातन्त्र्यम्)** स्वतन्त्र होकर **(व्रज)** चलो। जिससे **(अचिरात्)** शीघ्र ही **(तीरम्)** किनारे पर **(यासि)** पहुँच जाओ **(नोचेत्)** नहीं तो **(दुरन्तान्तक-ग्राह-व्यात्त-गभीर-वक्त्र-विषमे)** अति कठिन यम रूपी मगर के खुले, गहरे, मुख विषम **(भवाब्धेः)** संसार सागर के **(मध्ये)** मध्य में **(भवेः)** पहुँच जाओगे।

अर्थ—हे प्राणिन्! तू परतन्त्र हुआ आशारूपी नदी से प्रेरित हुआ बहुत दूर आ गया है। क्या तुम नहीं जानते हो। कि इस नदी को तैरने में तुम ही समर्थ हो। स्वतन्त्र होकर चलो जिससे कि उस नदी के किनारे को शीघ्र प्राप्त हो जाओ। नहीं तो दुरन्त यमरूप मगरमच्छ के खुले, गहरे मुख से विषम संसार-समुद्र के बीच में पहुँच जाओगे।

टीकार्थ—अंग! अर्थात् हे शरीरिन्! हे भव्य! अथवा विश्वलोचन कोश में अङ्ग संबोधन के लिए आया है। अपनी आत्मा से भिन्न बाह्य परिग्रहरूप धन, मकान आदि उपचरित-असद्भूत

परवश आशा सरिता में तुम बह-बह कर अति दूर गये।
इसे तैरने सक्षम तुम ही, क्या न पता, क्या भूल गये?॥
निजाधीन हो निज अनुभव कर शीघ्र तैरकर तीर गहो।
नहिं तो पातक मरण मगर मुख, में पड़ भवदधि पीर सहो ॥४९॥

सम्बोधनार्थे विज्ञेयः। परवान् परोऽन्यः स्वात्मनो भिन्नस्तमस्यास्तीति परवान्। 'तदस्यास्त्यस्मिन्निति मतुः' मतोर्वो भवति परस्यादेरिति मस्य वः इति 'ममोङ्झयो मतोर्वोऽयवादेः' इति सूत्रेण। तत्र बाह्यपरिग्रहरूप-धनावासादिः परः उपचरितासद्भूतव्यवहारनयापेक्षया कथ्यते। शरीरमपि परोऽनुपचरिता-सद्भूत-व्यवहारापेक्षया भण्यते। अशुद्धसद्भूतव्यवहारनयार्पणेन मतिज्ञानादिः परः। अशुद्ध-निश्चयनयेन रागादि-कर्मकृत-भावः परः। ततः कर्मनोकर्माबद्धः जीव इत्यर्थः। कथम्भूतः सः? आशासरित्प्रेरितः आशैव सरित् नदी तया प्रेरितः संवाहितः स तथोक्तः। तृष्णानदीप्रवाहेनेत्यर्थः। अतिदूरं दूरस्यातिक्रमोऽतिदूरमव्ययी-भावसमासात्। आया-तोऽसि आगतोऽसि त्वमिति कर्तृपदम्। ननु वितर्के। किं न अवैषि जानासि। 'इण् गतौ' अव पूर्वकं म॰ पु॰ लट्। त्वमेव न कोऽप्यन्यो भातृबन्धुस्वजनः। एनां आशासरित्। तरीतुं पारं गन्तुमिति। तृप्लवनतरणयोः' इति धातोस्तुमुन् प्रत्ययः। नितरामत्यन्त-मित्यव्ययपदम्। क्षमः समर्थः। ततः किं? स्वातन्त्र्यं स्वस्यात्मनस्तन्त्रः प्रधानः स्वतन्त्रः। तस्य भावः स्वातन्त्र्यं स्वायत्तमित्यर्थः। व्रज गच्छ। 'व्रज गतौ' इति म॰ पु॰ लट्। अचिरात् शीघ्रम्। तीरं तृष्णानदीकूलम्। यासि याष्यसि। 'या गतौ' इति धो र्म॰ पु॰ लट्। 'वर्तमानसामीप्ये वर्तमानवद्वा' इति वर्तमानसामीप्ये वर्तमानप्रयोगः। नो चेत् यदि नेत्थं भवेत् तर्हि। दुरन्तान्तकग्राहव्यात्तगभीरवक्त्रविषमे दुःखेन कष्टेनान्तो विनाशो यस्य स दुरन्तः स एवान्तकः कालो यमो वा स एव ग्राहो जलचरजन्तुः तेन व्यात्तं विशेषेणायात्तं विस्फारितं गभीरं विशालं च तद्वक्त्रं मुखं तेन विषमो भयानकस्तत्तत्र। भवाब्धेः भवः संसार एवाब्धिः समुद्रस्तस्य। मध्येऽन्तराले। भवेः भविष्यसि। 'भू सत्तायाम्' इति धोः र्वि॰ लि॰। वर्तमानसामीप्यात् वर्तमानवत्प्रयोगः। यदि त्वं प्रभूतपूरपूरिततृष्णासरित्प्रवाहेण पारतन्त्र्येण प्रवहसि तर्हि नरकपशुगतिप्रमुखदुःखबाहुल्यमहामत्स्याविषमकरालदंष्ट्रान्तरे शीघ्रं प्रविशष्यसि नैराश्यात्मकप्लवनकला-विकलत्वादिति। शार्दूलविक्रीडितवृत्तम् ॥४९॥

अथ विषयेभ्यो विरञ्जनार्थं पुनरप्याह–

व्यवहार नय की अपेक्षा पर है। तथा शरीर भी अनुपचरित–असद्भूत व्यवहार नय की अपेक्षा पर है। अशुद्ध सद्भूत व्यवहारनय की अपेक्षा से मतिज्ञानादि पर है। अशुद्ध निश्चय नय की अपेक्षा राग आदि कर्मकृतभाव पर हैं। इसलिए इन परभावों से सहित कर्म, नोकर्म से बँधा जीव परतन्त्र है। वही जीव तृष्णा रूपी नदी के प्रवाह से बहता हुआ बहुत दूर आ गया है। क्या तुम नहीं जानते हो कि इस तृष्णा नदी को पार करने में समर्थ तुम ही हो। इसलिए तुम स्वाधीन होओ। जिसमें अपनी आत्मा की प्रधानता है उस स्वातन्त्र्य भाव को पाओ। जिससे तृष्णा नदी के किनारे लग सको। यदि ऐसा नहीं करोगे तो जिससे बड़े कष्ट से अन्त पाया जाये उस दुरन्त यमराज, काल रूपी मगरमच्छ के फैलाये हुए, विशाल भयानक मुख रूपी संसार सागर के बीच में पहुँच जाओगे। यदि तुम बहुत पूर से भरी तृष्णा रूपी नदी के प्रवाह में परतन्त्र होकर बहते रहोगे तो फिर तुम्हें नरक, पशुगति की मुख्यता वाले दुःख की बहुलता से महामत्स्य के विषम, विकराल, दाढ़ में शीघ्र प्रवेश करना होगा क्योंकि नैराश्यात्मक (उदासीनात्मक) तैरने की कला तुम नहीं जानते हो। यहाँ शार्दूलविक्रीडित छन्द है॥४९॥

उत्थानिका–विषयों से विरक्ति के लिए पुनः कहते हैं–

(शार्दूलविक्रीडित)

आस्वाद्याद्य यदुज्झितं विषयिभिर्व्यावृत्तकौतूहलै-
स्तद् भूयोऽप्यविकुत्सयन्नभिलषस्य प्राप्तपूर्वं यथा।
जन्तो किं तव शान्तिरस्ति न भवान् यावद् दुराशामिमा-
मंहः संहतिवीरवैरिप्रतनाश्रीवैजयन्तीं हरेत् ॥५०॥

अन्वयः—व्यावृत्तकौतूहलैः विषयिभिः यत् अद्य आस्वाद्य उज्झितं तद् भूयः अपि अविकुत्सयन् अभिलषसि यथा अप्राप्तपूर्वं जन्तो! यावत् इमां दुराशां अंहः संहतिवीरवैरिप्रतनाश्रीवैजयन्तीं भवान् न हरेत् किं तव शान्तिः अस्ति।

आस्वाद्येत्यादि। व्यावृत्तकौतूहलैः व्यावृत्तं निवृत्तं कौतूहलं कौतुकमुत्सुकता वा यस्य स तथोक्त-स्तैरिच्छारहितैरित्यर्थः। विषयिभिः विषया यस्य सन्ति ते विषयिनस्तैर्व्यसिनिभिरित्यर्थः। मत्वर्थीयः इन् प्रत्ययः। यत् भोग्यवस्तु। अद्य इदानीमत्र वा। आस्वाद्य आस्वादनं कृत्वा। उज्झितं त्यक्तम्। तद् विषयवस्तु।

अन्वयार्थ—(व्यावृत्त-कौतूहलैः) जिनका कौतूहल दूर हो गया है ऐसे **(विषयिभिः)** विषयीजनों के द्वारा **(यत्)** जो कुछ **(अद्य)** इस समय **(आस्वाद्य)** स्वाद लेकर **(उज्झितम्)** छोड़ा गया है **(तत्)** वह उच्छिष्ट **(भूयः अपि)** फिर से **(अविकुत्सयन्)** बिना ग्लानि के **(अभिलषसि)** प्राप्त करने की इच्छा करते हो **(यथा)** जैसा कि **(अप्राप्तपूर्वम्)** उसे पूर्व में प्राप्त न किया हो **(जन्तो!)** हे क्षुद्र प्राणिन्! **(यावत्)** जब तक **(इमां)** इस **(दुराशाम्)** दुष्ट तृष्णा को **(अंहः संहति-वीर-वैरि-प्रतना-श्री-वैजयन्तीम्)** जो पाप-समूहरूपी वीर वैरी की सेना की विजय पताका है उसे **(भवान्)** आप **(न हरेत्)** दूर नहीं करते हो **(किं)** तो क्या **(तव)** तुम्हें **(शान्तिः)** शान्ति **(अस्ति)** हो सकती है।

अर्थ— कौतूहल से रहित होकर विषयी जनों ने जिसका आस्वादन लेकर छोड़ दिया है उसी की तुम बिना ग्लानि के फिर से इच्छा करते हो जैसे कि वे विषय कभी तुम्हें पहले प्राप्त ही न हुए हों। हे जन्तो! जब तक आप पाप समूह की वीर शत्रु की सेना की फहराती ध्वजा की तरह इस दुष्ट आशा को नष्ट नहीं करते हो तब तक क्या तुमको शान्ति मिल सकती है ?

टीकार्थ—कौतूहल, कौतुक, उत्सुकता एक ही बात है। जिन विषयी, व्यसनी जनों की विषय भोग की उत्सुकता नष्ट हो गयी है और जो विषयों की इच्छा से रहित हो गये हैं, उन्होंने जो भोग्य पदार्थ यहाँ भोगकर छोड़ दिये उन्हीं भोग-पदार्थों को फिर से बिना घृणा के तुम ऐसे चाहते हो जैसे कि इससे पहले तुम्हें ये भोग्य पदार्थ मिले ही न हों। हे भव्य! हे जन्तो! पाँच पापों की वीर शत्रुओं की इस

रस ले लेकर नीरस कहकर विषयी जन सब विषय तजे।
उन्हें मूढ़ तुम अपूर्व समझे करें उन्हीं की विनय भजे ॥
आशारूपी पाप खानमय रिपु सेना की रही ध्वजा।
मिटे न तब तक विषय कीट! रे शांति नहीं ना निजी मजा ॥५० ॥

भूयः अपि पुनरपि। अविकुत्सयन् विकुत्सयतीति विकुत्सयन् निन्दन्। इति शतृत्यः। न विकुत्सयन् अविकुत्सयन् घृणामकुर्वन् इत्यर्थः। अभिलषसि वाञ्छसि। अभिपूर्वकं 'लष् कान्तौ' इति लट्। यथा औपम्यार्थे। अप्राप्तपूर्वं पूर्वं प्राक् न प्राप्तं यत् यत्। जन्तो! हे भव्य! यावत् कालावधिः इमां प्रतीयमानाम्। दुराशां दुष्टु अशोभनीया आशा तृष्णा तथोक्ता ताम्। किं विशिष्टाम्? अंहःसंहतिवीरवैरिपृतनाश्रीवैजयन्तीं अंहः पापम्। ''अघमंहश्च दुरितं पाप्मा पापं च किल्विषम्'' इति धनञ्जयः। तस्य संहतिः समूहः सैव वीरवैरिपृतना वीरश्चासौ वैरी शत्रुस्तस्य पृतना चतुरङ्गसेना अजेयशत्रुबलमित्यर्थः। तस्याः श्रीवैजयन्ती विजयपताका तथोक्ता तां पापपञ्चकसुभटापराजितसेनामित्यर्थः। भवान् भव्यपुण्डरीकः। न हरेत् न विनश्येत्। किं तव भव्यात्मनः। शान्तिः सुखं निराकुलता वा। अस्ति इति प्रश्नः। अर्थात् नास्तीत्यर्थः। पापसंहतिं मनोवाक्कायैर्यावन्न त्यजेत्तावन्नात्मनः सुखमिति भावः। शार्दूलविक्रीडितवृत्तम्॥५०॥

अथ पापप्रवृत्तस्य दीनदशां प्रदर्शयन्नाह–

(शार्दूलविक्रीडित)

भङ्क्त्वा भाविभवांश्च भोगिविषमान् भोगान् बुभुक्षुर्भृशं,
मृत्वापि स्वयमस्तभीतिकरुणः सर्वाञ्जिघांसुर्मुधा।
यद्यत्साधुविगर्हितं हतमतिस्तस्यैव धिक् कामुकः,
कामक्रोधमहाग्रहाहितमनाः किं किं न कुर्याज्जनः ॥५१॥

अपराजित सेनारूप इस तृष्णा को जब तक तुम नष्ट नहीं करते हो तब तक क्या तुझ भव्यात्मा को निराकुलता या सुख-शान्ति मिल सकती है अर्थात् नहीं मिल सकती है। तात्पर्य यह है कि जब तक - मन, वचन, काय से पापसमूह का त्याग नहीं किया जाता है तब तक आत्मा को सुख नहीं मिलता है।

विशेषार्थ–स्त्री, भोजन, वस्त्र आदि सभी भोग्य पदार्थ जो वर्तमान में हमें भोगने में आते हैं वे सभी पहले महापुरुषों के द्वारा छोड़े गये हैं, उन्हीं को हम ग्रहण करते हैं तो यह जूठन को ग्रहण करने जैसा है। विषय तृष्णा के कारण ये पदार्थ भोगते समय ऐसे लगते हैं जैसे कि पहले कभी कुछ भोगा ही न हो। इसी तृष्णा के कारण पाँच पापों में प्रवृत्ति होती है। इस तरह आत्मा पर इन पाँच पापों की शत्रु सेना हमेशा अपनी विजयपताका फहराती रहती है और आत्मा दीन-हीन बना रहता है, विषयों का दास बना रहता है। इसलिए तृष्णा को दूर करके शान्ति प्राप्त करने का यहाँ उपदेश दिया है। यहाँ शार्दूलविक्रीड़ित छन्द है ॥५०॥

उत्थानिका–अब पाप में प्रवृत्त हुए जीव की दीन दशा दिखाते हुए कहते हैं–

विषम नाग सम भोग भोगते खुद मर सुर सुख नहिं पाते।
निर्भय निर्दय बन, पर को मर, - वाते तातैं दुख पाते॥
साधु जनों ने जिनको त्यागा चाह उन्हीं की नित करते।
काम क्रोध के वशीभूत जन क्या-क्या अनर्थ नहिं करते ॥५१॥

अन्वयः—अस्तभीतिकरुणः मुधा सर्वान् जिघांसुः स्वयमपि मृत्वा भावि भवान् च भङ्क्त्वा भोगिविषमान् भोगान् भृशं बुभुक्षुः (भवति) धिक् यत् यत् साधुविगर्हितं हतमतिः कामुकः तस्य एव (कर्ता स्यात्) (सत्यमेव) कामक्रोधमहाग्रहाहितमनाः जनः किं किं न कुर्यात्?

भङ्क्त्वेत्यादि। अस्तभीतिकरुणः अस्ता अभावं गता भीतिर्भयश्च करुणा दया च यस्य यस्मिन् वा स दयाभयरहितः सन्नित्यर्थः। किं करोति? मुधा व्यर्थे हि। सर्वान् विश्वजनान्। जिघांसुः हन्तुमिच्छुः। ''सनन्तां शसिभिक्षामुः'' इति तच्छीले उर्भवति। पुनश्च किम्? स्वयमपि आत्मानं देहमपि। मृत्वा मरणमङ्गीकृत्य। भाविभवान् भाविनि निकटभविष्यत्काले भवन्तीति भाविभवाँस्तान् परलोकसुखकरान्। च तथा। भङ्क्त्वा विनाशं कृत्वा। भोगिविषमान् भोगोऽस्यास्तीति भोगी तेषां व्यसनिनां विषमान् अनुपलब्धान्। भोगान् भुज्यत इति भोगः घञ् प्रत्ययात्। ''अकर्त्तरि च कारके संज्ञायाम्'' इति कातंत्रसूत्रात्। तान् पञ्चेन्द्रियविषयानिति। भृशमत्यर्थम्। बुभुक्षुः भोक्तुमिच्छुः। भवतीति क्रियाध्याहारः। अस्तकरुणो जनः सर्वान् निहन्ति पश्चात् निर्भयो भूत्वाऽऽत्मानमपि। तदात्मपरघातजनितपापात् स्वर्गभोगभूमिश्रेष्ठि-

---

अन्वयार्थ—(अस्तभीतिकरुणः) भय और दया से रहित हुआ जीव **(मुधा)** व्यर्थ में **(सर्वान्)** सभी को **(जिघांसुः)** मारने की इच्छा करता है और **(स्वयं अपि)** स्वयं भी **(मृत्वा)** मरकर के **(भाविभवान्)** आगामी काल में होने वाले भोगों का **(च भङ्क्त्वा)** नाश करके **(भोगि-विषमान्)** भोगियों को भी विषम **(भोगान्)** भोगों को **(भृशं)** खूब **(बुभुक्षुः)** भोगने की इच्छा करता है। **(धिक्)** धिक्कार है **(यत् यत्)** जो-जो **(साधु-विगर्हितं)** साधुजनों से निन्दनीय है **(हतमतिः)** मूढ़ बुद्धि **(कामुकः)** कामुक जन **(तस्य एव)** उसको ही भोगना चाहता है **(काम-क्रोध-महा-ग्रहा-हितमनाः जनः)** काम, क्रोध रूपी महाग्रहों से पीड़ित मन वाला मनुष्य **(किं किं न कुर्यात्)** क्या-क्या नहीं करता है ?

अर्थ—भय और दया से रहित हुआ जीव व्यर्थ में सभी को मारने की इच्छा करता है और स्वयं भी मरकर के आगामी काल में होने वाले भोगों का नाश करके भोगियों को भी विषम भोगों को खूब भोगने की इच्छा करता है। धिक्कार है जो-जो साधुजनों से निन्दनीय हैं मूढ़ बुद्धि कामुकजन उसको ही भोगना चाहता है। काम, क्रोधरूपी महाग्रहों से पीड़ित मन वाला मनुष्य क्या-क्या नहीं करता?

टीकार्थ—जिसके भीतर से भय और करुणा समाप्त हो गयी है, ऐसा जीव दया भाव से रहित होकर विश्व के सभी जीवों को मारने की इच्छा करता है और डर नहीं होने से आत्महत्या से भी नहीं डरता है। अपने मरण को अंगीकार करके वह परलोक में सुख देने वाले भोगों से भी वंचित हो जाता है। भोगी व्यसनी जीवों को भी जो भोग उपलब्ध नहीं होते हैं उन विषय भोगों को भोगने की वह इच्छा करता है। तात्पर्य यह है कि—दया रहित प्राणी सभी जीवों की हिंसा करता है बाद में निर्भय होकर अपने आप का भी घात कर लेता है। उस आत्मघात और पर जीव के घात से उत्पन्न पाप के कारण वह जीव स्वर्ग के सुख, भोगभूमि के सुख, श्रेष्ठि मनुष्यों के सुख को नहीं प्राप्त कर पाता है। फिर भी भोग

जनादिसुखं न प्राप्नोति तथापि विलासिजनानां सुखं भोक्तुं भृशमिच्छतीत्याश्चर्यम्। अथवा भोगिविषमान् सर्पभयङ्करान्। ''उरगः पन्नगो भोगी जिह्मगः पवनाशनः'' इत्यमरः। देहसंतापमनो-मूर्च्छाप्राणविघातकान् सर्पवद् विषमान् भोगान् भोगिविषमान् अस्तभीतः सन् भृशं बुभुक्षुः भाविभवांश्च भङ्क्त्वा अस्तकरुणो भूत्वा मुधा सर्वजीवान् जिघांसुः स्वयमपि मृतिं यातीत्यर्थः। तेन दुर्लभस्य मानवजन्मनो वैफल्यं ध्वनितं। धिक् कष्टं विषादे वा। यत् यत् कार्यम्। साधुविगर्हितं साधुभिः सज्जनै र्विगर्हितं निन्दितं वर्जितं वा। हतमतिः हता विनष्टा मति र्बुद्धि र्यस्य स पापीत्यर्थः। कामुकः कामयते तच्छीलः कामुकः कामातुरो विषयाभिलाषीत्यर्थः। ''लषपत्पदस्थाभूवृषृशृकम्घम्घ्नः उकञ्'' इत्युकञ् प्रत्ययः। तस्य कर्मणः। एव निश्चयेन। कर्ता स्यादिति शेषः। सत्यमेवेमत आह-कामक्रोधमहाग्रहाहितमनाः कामश्च क्रोधश्च कामक्रोधौ तावेव महाग्रहौ राहुकेतुग्रहौ ताभ्यामाहितं युक्तं मनो यस्य सः। यद्वा कामक्रोधयोः महांश्चासौ आग्रहो हठस्तस्मिन् आहितं स्थितं मनो यस्य सः। जनः मनुष्यः। किं किं न कुर्यात्? अर्थात् सकलमहितं हि विदधाति। वीप्सार्थे द्विः। शार्दूलविक्रीडितवृत्तम् ॥५१॥

विलासी जनों के सुख को भोगने की बहुत इच्छा करता है यह आश्चर्य है। अथवा भोगि शब्द का दूसरा अर्थ सर्प होता है इससे यह अर्थ है कि भोग सर्प के समान भयंकर हैं क्योंकि ये शरीर को सन्ताप देते हैं, मन को मूर्छित करते हैं और प्राणियों का विनाश कर देते हैं। जैसे सर्प के डस लेने से शरीर में ताप, दाह उत्पन्न होती है उसी प्रकार भोगों को भोगने से होती है, जैसे सर्प के डस लेने से मन, बुद्धि मूर्छित हो जाती है उसी प्रकार भोगों को भोगते समय बुद्धि नष्ट हो जाती है, जैसे सर्प के डस लेने से प्राणी का मरण हो जाता है उसी प्रकार भोगों के भोगने में जीव हिंसा होती है। इस तरह ये विषय भोग सर्प के समान भयंकर है। निडर होकर सर्प के समान इन विषय भोगों को भोगता हुआ आगामी स्वर्ग आदि भवों का नाश करके दया रहित हो कर व्यर्थ ही सभी जीवों का घात करके स्वयं मर जाता है यह दूसरा अर्थ है।

विशेष-यहाँ ऐसा ध्वनित होता है कि जो लोग भोगों की इच्छा में या धर्म के उन्माद में निडर हो स्व, पर का नाश करते हैं उन आत्मघाती दस्तावेजों की दुर्दशा को यहाँ दिखाया है और उस कृत्य का फल बताया है।

इससे दुर्लभ मानव जन्म की विफलता दिखाई है। धिक्कार है, कष्ट है कि जिन-जिन कार्यों की सज्जन पुरुष निन्दा करते हैं या उन कार्यों को करने से बचते हैं, दुर्बुद्धि मनुष्य कामातुर होकर उसी को करता है। ठीक ही है-काम, क्रोध ही राहु, केतु की तरह बड़े भयंकर ग्रह हैं इनसे युक्त जिसका मन है वह मनुष्य अथवा काम, क्रोध की बड़ी हठ से जिसका मन जकड़ा है वह मनुष्य क्या-क्या नहीं करता है ? अर्थात् सभी अहितकारी कार्यों को करता है। यहाँ शार्दूलविक्रीडित छन्द है ॥५१॥

अधुना तस्य हतमतेः संसारस्थितिं द्रष्टुकामः प्राह–

(शार्दूलविक्रीडित)

श्वो यस्याजनि यः स एव दिवसो ह्यस्तस्य सम्पद्यते,
स्थैर्यं नाम न कस्यचिज्जगदिदं कालानिलोन्मूलितम्।
भ्रातर्भ्रान्तिमपास्य पश्यसि तरां प्रत्यक्षमक्ष्णोर्न किं,
येनात्रैव मुहुर्मुहुर्बहुतरं बद्धस्पृहो भ्राम्यसि ॥५२॥

अन्वयः—यस्य यः दिवसः श्वः अजनि स एव तस्य ह्यः सम्पद्यते कस्यचित् कालानिलोन्मूलितं इदं जगत् न स्थैर्यं नाम भ्रातः! भ्रान्तिं अपास्य अक्ष्णोः प्रत्यक्षं किं न पश्यसितरां येन अत्र एव मुहुर्मुहुः बद्धस्पृहः बहुतरं भ्राम्यसि।

श्व इत्यादि। यस्य चराचरवस्तुनः। यः कश्चित् सप्तदिनेष्वेकतमः। दिवसः दिनम्। श्वो भावी-दिवसः। 'अनागतेऽह्नि श्वः' इत्यमरः। अजनि अभूत्। 'जनी प्रादुर्भावे' इति धो लुङ् रूपम्। सः दिवसः।

उत्थानिका—अब उस दुर्बुद्धि की संसार की स्थिति को दिखाने की इच्छा से कहते हैं–

अन्वयार्थ–(यस्य) जिसको **(यः दिवसः)** जो दिन **(श्वः)** कल **(अजनि)** था **(स एव)** वह ही दिन **(तस्य)** उसको **(ह्यः)** बीता हुआ दिन **(सम्पद्यते)** हो जाता है। **(कस्यचित्)** किसी के लिए भी **(कालानिलोन्मूलितम्)** काल रूपी वायु से उखाड़ा हुआ **(इदं जगत्)** यह संसार **(न स्थैर्यं नाम)** स्थिरता रूप नहीं है। **(भ्रातः)** हे भाई! **(भ्रान्तिं)** भ्रम को **(अपास्य)** छोड़कर **(अक्ष्णोः)** आँखो से **(प्रत्यक्षं)** प्रत्यक्ष **(किं न)** क्या नहीं **(पश्यसि तराम्)** देखते हो **(येन)** जिससे **(अत्र)** इस संसार में **(एव)** ही **(मुहुर्मुहुः)** बार-बार **(बद्धस्पृहः)** इच्छा को बाँधे हुए **(बहुतरं)** खूब **(भ्राम्यसि)** भ्रमण कर रहे हो।

अर्थ—जो दिवस जिस वस्तु के लिए आगामी दिवस था वही उसके लिए विगत दिवस हो जाता है। संसार में कोई भी वस्तु स्थिर नहीं है। कालरूपी वायु किसी को स्थिर नहीं रहने देती, उखाड़ फेंकती है। हे भाई! क्या तुम भ्रम को छोड़कर यह सब आँखों से प्रत्यक्ष नहीं देखते हो, फिर क्यों इन नश्वर संसार में बार-बार इच्छापूर्वक चिरकाल से भ्रमण कर रहे हो?

टीकार्थ—जिन चराचर वस्तुओं के लिए सात दिनों में कोई एक दिन भावी दिन होता है वही दिन उन चर-अचर वस्तुओं के लिए बीता हुआ दिन हो जाता है। श्वः आगामी कल को कहते हैं तथा

जिसका भावी कल है वह ही उसे विगत का कल बनता।
ध्रुव कुछ नहिं जग काल अनिल से बदल रहा बादल घनता ॥
भ्रात! भ्रान्ति तज कुछ तो देखो आँख खोलकर सही सही।
बार-बार हो भ्रमित रम रहा विषयों में ही वहीं-वहीं ॥५२॥

एवावधारणे। तस्य चराचरवस्तुनः। ह्यः अतीतदिवसः।'ह्यो गते' इत्यमरः। सम्पद्यते भवति।'पद् गतौ' इति धातोः संपूर्वकं लट्। कस्यचित् वस्तुनः। कालानिलोन्मूलितं कालो निश्चयव्यवहाररूपो द्विधा। तत्राकाशस्यैकैकप्रदेशे रत्नानां राशिरिवावतिष्ठमानः कालाणुर्निश्चयकालोऽभिधीयते। स एव सर्ववस्तुषु वर्तनाहेतुः। समयावलिघटिकादिनवर्षादिर्व्यवहारकालत्वेन व्यवह्रियते जीवपुद्गलपरिणमनज्ञापकत्वात्। तेन निश्चयकालेन कालाणुना व्यवहार-कालेन च समयादिना तेनैवानिलेन मारुता उन्मूलितं उत्खातं तत्। उत्पादादित्रितय-परिणतेः परिणमनात् प्रतिवस्तु कालस्य हेतुतेति विज्ञातव्यम्। इदं दृश्यमानम्। जगत् संसारः। न स्थैर्यं नाम सदाऽविनाशि नेत्यर्थः। भ्रातः! हे भव्य! भ्रान्तिं प्रभङ्गुरे स्थावरनिश्चयो हि भ्रान्तिस्ताम्। अपास्य दूरं कृत्वा। अक्ष्णोः नेत्रयोः। प्रत्यक्षं स्पष्टीभूतम्। किं न पश्यसि तरां कथं नावलोकयसि। तरामत्यर्थेऽव्ययपदम्। अर्थात् जगदिदं क्षणभङ्गुरं द्रष्टव्यमिति भावः। येन कारणेन। अत्र पञ्चपरावर्तनरूपे संसारे। एव खलु स्फुटम्। मुहुर्मुहुः वारं वारम्। बद्धस्पृहः बद्धा स्पृहा आशा यस्य देहादिविषये सः। बहुतरं आ अनन्ताख्यानादिकालात्। भ्राम्यसि भ्रमणं करोषि। 'भ्रमु अनवस्थाने' इति धोर्लट्। प्रत्येकंपदार्थे स्वसामान्याख्याऽगुरुलघुगुणभूतेन परिणमनमस्ति। तस्य च सहकारित्वेन कालद्रव्यं सर्वत्र हेतुकं विदधाति। तस्यापि सहकारिनिमित्तं रविशशि-गमनागमनमत्रेति त्रैविध्ययममुखान्तर्भूतजगति किं नाम शाश्वतं पदार्थस्वरूपापरि-ज्ञानाद्धि भ्रान्ति र्भ्रातः!। एवं संयोगवियोगात्मिका क्षणभङ्गुरता सर्वैर्लौकिकैरपि कवि-

---

ह्यः बीते हुए कल को कहते हैं। निश्चय और व्यवहार रूप दो प्रकार का काल है। उसमें आकाश के एक-एक प्रदेश पर रत्नों की राशि के समान स्थित कालाणु, निश्चय काल कहा जाता है। वह निश्चय काल ही सभी वस्तुओं में वर्तना (परिवर्तन) का बाह्य कारण है। समय, आवली, घड़ी, दिन, वर्ष आदि व्यवहार काल कहे जाते हैं क्योंकि जीव और पुद्गलों का परिणमन इस व्यवहार काल से जाना जाता है। इस निश्चय और व्यवहार काल की हवा से ही प्रत्येक वस्तु उखाड़ी जाती है। तात्पर्य यह है कि उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य रूप तीन प्रकार का परिणमन प्रत्येक वस्तु में सतत चलता रहता है। उस परिणमन का कारण काल द्रव्य है, यह जानना। यह दिखाई देने वाला संसार स्थिर नहीं है। यहाँ कुछ भी अविनाशी नहीं है। हे भाई! हे भव्यात्मन्! इस क्षण भंगुरता में स्थायीपने का निश्चय होना ही भ्रान्ति है। इस भ्रान्ति को छोड़ो। क्या तुम प्रत्यक्ष से सब कुछ इस जगत् में क्षण मात्र में विनाशी नहीं देख रहे हो जिस कारण से इस पंच परावर्तन रूप संसार में बार-बार शरीर आदि के विषय में अपनी आशा को बाँधे हुए हो और अनन्त कहे जाने वाले अनादि काल से इस संसार में भ्रमण कर रहे हो। प्रत्येक पदार्थ में सामान्य रूप से अगुरुलघु गुण के कारण परिणमन होता रहता है। उस परिणमन का सहकारी रूप से कारण कालद्रव्य सर्वत्र विद्यमान है। उस सहकारी काल का भी सहकारी निमित्त सूर्य, चन्द्रमा का आना-जाना है। इस तरह इन तीन प्रकार के यम के मुख के भीतर रहने वाले संसार में कौन सी चीज शाश्वत है? हे भ्रात! यह भ्रान्ति पदार्थ के स्वरूप का ज्ञान नहीं होने से ही होती है। इस प्रकार की संयोग-वियोग मूलक क्षणभंगुरता सभी लौकिक कवियों, लौकिक चिन्तकों, लौकिक दार्शनिकों

चिन्तकदार्शनिकविद्वद्भिरभ्युपगकविचिन्तकदार्शनिकविद्वद्भिरभ्युपग। न यद्यपि तेषां क्लेशाभावः शाश्वतिकः पदार्थस्वरूपापरिज्ञानात् तथापि तात्कालिकी क्लेशमुक्तिरस्ति। हे भव्य! त्वं तु सत्पथगामी। षड्द्रव्यसप्ततत्त्वादीनां विज्ञाता तथापि स्पृहानुबन्धः कलत्रादिष्वित्यद्भुतम्। शार्दूलविक्रीडितवृत्तम्॥५२॥

अथ प्रत्यक्षीभूतं दुःखं किञ्चित् प्रवक्ति–

(शार्दूलविक्रीडित)

संसारे नरकादिषु स्मृतिपथेऽप्युद्वेगकारिण्यलं
दुःखानि प्रतिसेवितानि भवता तान्येवमेवासताम्।
तत्तावत्स्मर सस्मरस्मितशितापाङ्गैरनङ्गायुधै-
र्वामानां हिमदग्धमुग्धतरुवद्यत्प्राप्तवान्निर्धनः ॥५३॥

और लौकिक विद्वानों ने भी स्वीकार की है। यद्यपि पदार्थ के स्वरूप का यथार्थ परिज्ञान नहीं होने से इन लौकिक कवियों के क्लेश (दुःख) का अभाव हमेशा के लिए नहीं होता है फिर भी तात्कालिक दुःख से मुक्ति तो हो जाती है। किन्तु हे भव्य! तुम तो समीचीन मार्ग पर चलने वाले हो। छह द्रव्य, सप्त तत्त्व आदि को जानने वाले हो फिर भी स्त्री आदि में इच्छा का अनुबन्ध किये हो, यह बड़े आश्चर्य की बात है। यहाँ शार्दूलविक्रीडित छन्द है॥५२॥

उत्थानिका–अब इस प्रत्यक्षभूत दुःख के सम्बन्ध में कुछ कहते हैं–

अन्वयार्थ–(संसारे) संसार में **(स्मृतिपथे)** स्मृति में आए हुए **(अपि)** भी **(उद्वेग-कारिणि)** उद्वेग पैदा करने वाले **(अलम्)** अत्यधिक **(भवताः)** तुमने जो **(नरकादिषु)** नरक आदि गतियों में **(दुःखानि)** दुखों को **(प्रतिसेवितानि)** प्राप्त किया है। **(तानि)** वे दुःख **(एवं एव)** इसी प्रकार ही, यूं ही **(आसताम्)** रहें। **(तत्)** उसे **(तावत्)** पहले **(स्मर)** याद कर **(यत्)** जो **(निर्धनः)** निर्धन होकर **(वामानां)** स्त्रियों के **(सस्मर-स्मित-शितापाङ्गैः)** काम सहित मन्द-हास्य के कटाक्षों वाले **(अनङ्गायुधैः)** कामबाणों के द्वारा **(हिम-दग्ध-मुग्ध-तरुवत्)** बर्फ से जले कोमलवृक्षों के समान **(प्राप्तवान्)** तुमने प्रत्यक्षतः यहाँ प्राप्त किये हैं।

अर्थ–जीव ने लोक में नरकादि योनियों में घोर दुःख भोगे, जिनकी स्मृति ही व्याकुलता पैदा करने वाली है, उन दुःखों को तो अलग रखो, इस नरभव में ही दरिद्र होने के कारण यह जीव भोगाभिलाषी होकर काम से परिपूर्ण स्त्रियों के मन्द हास्य और कामबाण स्वरूप उनके तीक्ष्ण कटाक्षों

नरकों में दुख सहन किये हैं करनी की थी पाप भरी।
दूर रहें वे बीत गये हैं जिनकी स्मृति भी ताप करी॥
मदन बाण सम स्त्री कटाक्ष से, रे निर्धन! तू जला मरा।
हिम से मृदुतरु जलता जिस विध उसे याद कर भला जरा ॥५३॥

अन्वयः—संसारे स्मृतिपथे अपि उद्वेगकारिणि अलं भवता नरकादिषु दुःखानि प्रतिसेवितानि तानि एवं एव आसताम् तत् तावत् स्मर यत् निर्धनः वामानां सस्मरस्मितशितापाङ्गैः अनङ्गायुधैः हिमदग्धमुग्धतरुवत् प्राप्तवान्।

संसार इत्यादि। संसारे चतुर्गतिरूपे। स्मृतिपथे स्मृतिः स्मरणं ''व्यवसायात्मनो दृष्टेः संस्कारः स्मृतिरेव वा'' इति सि० वि०। तस्य पन्था मार्गो यत्र। 'ऋक्पूरप्पथोऽत्' इत्यत्सान्तः। स्मृतिविषयागतमात्रे इत्यर्थः। अपि सम्भावनायाम्। उद्वेगकारिणि उद्वेगं करोतीत्येवंशीलमस्य उद्वेगकारि तस्मिन्। 'शीलेऽजातौ णिन्' इति शीलार्थे णिन्। भयसन्तापदुःखजनके इत्यर्थः। अलमतिशयार्थे। ''अलं भूषणपर्याप्ति-शक्तिवारण-वाचकम्'' इत्यमरः। भवता भव्यात्मना। नरकादिषु नरकः आदि र्येषु पशुदेवनरगतिषु तेषु चतुर्गतिषु। दुःखानि क्लेशानि। प्रतिसेवितानि अनुभूतानि। तानि दुःखानि। एवं एव यथा स्यात्तथा। आसताम तिष्ठन्तु। 'अस् भुवि' इति धो र्लोट् बहुवचनान्तम्। तत् दुःखम्। तावत् प्रथमं। स्मर स्मरणं कुरु। ''स्मृ आध्याने'' इति लोङ न्तरूपम्। यत् दुःखम्। निर्धनः धनान्निष्क्रान्तो धनरहित इत्यर्थः। ''प्रात्यवपरिनिः प्रत्यादयः गतक्लान्तकृष्टगलानक्रान्तस्थितादिषु वेब्भाप्केब्भिः'' इति प्रादिः सः। वामानां वामलोचनानां स्त्रीणाम्। ''प्रतीपदर्शिनी वामा वनिता महिला तथा'' इत्यमरः। सस्मर-स्मितशितापाङ्गैः स्मरः कामः स्मितो मन्दहासः स्मरस्मिताभ्यां सहितं सस्मरस्मितः सकामहसितः। 'वा नीचः' इति सहशब्दस्य सो भवति। स चासौ शितापाङ्गः शितो निशितः तीक्ष्णः अपाङ्गः कटाक्षः नेत्रान्तो वा यासां ते तैः। यद्वा सस्मरस्मितशिताश्च ते अपाङ्गा नेत्रान्तप्रदेशाः तैः।'अपाङ्गौ नेत्रयोरन्तौ' इत्यमरः। अनङ्गायुधैः कामबाणैः। अङ्गः शरीरं न विद्यते यस्य सोऽनङ्गः कामोऽनिन्द्रियविषयत्वादुच्यते। अनङ्ग एवायुधं शस्त्रं तं तथोक्तं तैः। आयुधशब्दः शस्त्रार्थे प्रयुक्तेऽप्यत्र बाणशस्त्ररूपेण गृहीतव्यः कटाक्षविषये नेत्रभृकुटिदेशस्य धनुराकृतिदर्शनात्। कामाकुल-कामिनीनां वामलोचनहासकटाक्षैर्यूनां कामोत्पत्तेरमृतावलिप्ताह्लादपूर्वकविशरेण हृदयं विध्यति तदनन्तरं

से बिंध कर दाह के मारे तालवृक्ष की सी दशा को प्राप्त हो रहा है (सो इनका तो विचार कर)।

टीकार्थ—''व्यवसाय धर्म युक्त आत्मा की दृष्टि का संस्कार स्मृति हैं'' ऐसा सिद्धिविनिश्चय ग्रन्थ में कहा है। चतुर्गतिरूप संसार के दुःख स्मृति के विषय होने पर बड़ा भय, संताप और दुःख उत्पन्न करते हैं। आप भव्यात्मा ने नरक, पशु, देव, मनुष्य गतियों में जो दुःख अनुभूत किये हैं वे तो दूर ही रहने दो अर्थात् उनकी चर्चा नहीं करते हैं। किन्तु स्त्रियों द्वारा प्रदत्त उन दुःखों का पहले स्मरण करो जो दरिद्रावस्था में भोगे हैं। तिरछी नजरों वाली स्त्री वामलोचना कहलाती है। उन स्त्रियों के कामसहित मन्द-हास्य के कटाक्षरूप कामबाणों से घायल होकर अनुभव किये हैं। काम को अनंग कहते हैं क्योंकि काम का अपना कोई शरीर नहीं होता है, वह अनिन्द्रिय का विषय होता है। आयुध शब्द शस्त्र अर्थ में प्रयुक्त होता है परन्तु यहाँ बाणशस्त्र के रूप में ग्रहण करना है। वह काम ही शस्त्र है। कटाक्ष करते हुए नेत्र और भृकुटि के स्थान की धनुष की आकृति बन जाती है। काम से आकुलित कामिनी स्त्रियों की तिरछी हास्य कटाक्षों से युवाओं को काम-वासना की उत्पत्ति होती है जिससे अमृत की तरह पहले आह्लाद होता है फिर विष बाण से हृदय बिंध जाता है। उसके बाद ज्वर

ज्वरयति कदाचित् दशमवेगाक्रान्तोऽसुभिर्मुच्यते ततः एव कामस्य बाणोपमा। हिमदग्धमुग्धतरुवत् हिमेन तुषारेण दग्धः प्रज्वलितस्तेन मुग्धो मूर्च्छितः प्रणयोन्मत्तः कामी पक्षे स चासौ तरुर्वृक्षस्तद्वत्। यथा शीतलोऽपि हिमो हरितवृक्षारण्यं दहति तथा काममुग्धमना देहमिति। प्राप्तवान् प्राप्तः इत्यर्थः ॥५३॥

अथ संसारावस्थायां प्राणिनः क्रियाकलापमुद्योतयति–

(शार्दूलविक्रीडित)

उत्पन्नोऽस्यसि दोषधातुमलवद्देहोऽसि कोपादिवान्
साधिव्याधिरसि प्रहीणचरितोऽस्यस्यात्मनो वञ्चकः।
मृत्युव्यात्तमुखान्तरोऽसि जरसा ग्रास्योऽसि जन्मिन् वृथा
किं मत्तोऽस्यसि किं हितारिरहिते किं वासि बद्धस्पृहः ॥५४॥

अन्वयः–जन्मिन् उत्पन्नः असि दोषधातुमलवद्देहः असि कोपादिवान् असि साधिव्याधिः असि प्रहीणचरितः असि आत्मनः वञ्चकः असि मृत्युव्यात्तमुखान्तरः असि जरसा ग्रास्यः असि किं वृथा मत्तः असि किं हितारिः असि किं वा अहिते बद्धस्पृहः असि।

की तरह पीड़ित होता है। यदि इस काम की वृद्धि होती चली जाती है तो कभी काम के दसवें वेग से पीड़ित होकर प्राण भी छोड़ देता है इसलिए काम को बाण से उपमा दी जाती है। जैसे तुषार ठंडा होकर भी हरे वृक्षों को जलाता है उसी प्रकार काम से जिसका मन मूर्छित होता है उसका शरीर भी जलता है। काम मूर्च्छा के इस दुःख को तो तुमने प्रत्यक्ष प्राप्त ही किया है ॥५३॥

उत्थानिका–अब संसार अवस्था में प्राणी के क्रिया-कलापों को दिखाते हैं–

अन्वयार्थ–(जन्मिन्) हे बार-बार जन्म लेने वाले प्राणिन्! **(उत्पन्नः असि)** तुम उत्पन्न हुए हो **(असि दोष धातु मलवद्-देहः असि)** तुम दोषों, धातुओं और मल से सहित देह वाले हो **(कोपादिवान् असि)** क्रोध आदि कषाय वाले हो **(साधि-व्याधिः असि)** आधि, व्याधि से सहित हो **(प्रहीणचरितः असि)** हीन चरित्र वाले हो **(आत्मनः वञ्चकः असि)** आत्मा के वञ्चक हो **(मृत्यु-व्यात्त-मुखान्तरः असि)** मृत्यु के खुले मुख के भीतर हो **(जरसा)** बुढ़ापे से **(ग्रास्यः असि)** ग्रसने योग्य हो **(किं)** क्यों **(वृथामत्तो असि)** व्यर्थ ही उत्मत्त हो रहे हो **(किं हितारिः असि)** अपने हित के शत्रु बने हो **(किं वा)** और क्यों **(अहिते)** अहित में **(बद्धस्पृहः असि)** अपनी इच्छाओं को बाँध रखा है।

आत्म प्रवंचक चरित रहित है आधि व्याधि से सहित रहा।
सप्त धातुमय तन-धारक है क्रोधी तन से उदित अहा॥
जीर्ण जरा का कवल बनेगा काल गाल में पतित हुवा।
हे जन्मी! क्यों? अहित विधायक विषयों में तू मुदित हुवा ॥५४॥

उत्पन्न इत्यादि। जन्मिन् जन्मास्यास्तीति जन्मी मत्वर्थीयः इन् प्रत्ययः। तस्य सम्बुद्धौ हे आत्मन् इत्यर्थः। उत्पन्नः नानायोनिषु जातः। असि असि 'अस् भुवि' इत्येतस्माद्धोर्लट्लकारे मध्यमपुरुष-स्यैकवचनान्तम्। 'वीप्साभीक्ष्ण्ये' इति सूत्रात् द्विः। अत्र आभीक्ष्ण्यार्थे द्वे भवतः। अथवाग्रपदे योजयितव्यः। यथा कोपादिवान् असि इति। दोषधातुमलवद्देहः तत्र दोषा वातपित्तश्लेष्माणः। धातवो रसरक्त-मांसमेदोऽस्थिमज्जाशुक्राणि सप्त। मलाः मूत्रपुरीषादयः। दोषाश्च धातवश्च मलाश्च दोषधातु-मलास्तेऽस्य सन्तीति दोषधातुमलवान् स चासौ देहः स तथोक्तः। असि एवं विधदेह-युक्तोऽसि त्वमिति। कोपादिवान् कोपः आदौ येषां कषायाणां मानमायालोभानां स तदस्यास्तीति वन्तु प्रत्ययात् तथोक्तः। यद्वा कोपः क्रोधः आदिः प्रमुखो येषां मानादीनां स तद्वान्। मानादिकषायाणां व्याघाते सति क्रोधस्य चाद्यं क्रोधोदयदर्शनाच्च क्रोधस्य प्रथमं क्षयदर्शनाच्च प्रामुख्यमभिहितम्। साधिव्याधिः आधिर्मानसिकपीडा व्याधि र्देहवेदना। आधिश्च व्याधिश्च, आधिव्याधी ताभ्यां सह साधिव्याधि र्देह इत्यर्थः। 'वा नीचः' इति सूत्रात् सहस्य सो भवति। असि क्रियापदम्। प्रहीणचरितः प्रकृष्टेन हीनं चरितं आचरणं यस्य स चरित्ररहित

अर्थ—हे बार-बार जन्म लेने वाले प्राणिन्! तुम उत्पन्न हुए हो, तुम दोषों, धातुओं और मल से सहित देह वाले हो, क्रोध आदि कषाय वाले हो, आधि, व्याधि से सहित हो, हीन चरित्रवाले हो, आत्मा के वञ्चक हो, मृत्यु के खुले मुख के भीतर हो, बुढ़ापे से ग्रसने योग्य हो, क्यों व्यर्थ ही उन्मत्त हो रहे हो, अपने हित के शत्रु बने हो और क्यों अहित में अपनी इच्छाओं को बाँध रखा है।

टीकार्थ—हे जन्म धारण करने वाले आत्मन्! तुम अनेक योनियों में उत्पन्न हुए हो। यहाँ 'असि' क्रियापद दो बार आभीक्ष्ण्य अर्थ में लगाना। अथवा आगे के पद में जोड़ना। जैसे कि तुम कोप आदि से सहित हो। वात, पित्त, कफ ये तीन दोष हैं। रस, रक्त, मांस, मेद, अस्थि, मज्जा और शुक्र ये सात धातुएँ हैं। मूत्र, विष्टा आदि मल हैं। तुम्हारी देह इन दोषों, धातुओं और मल वाली है। तुम कोप और मान, माया, लोभ इन कषायों से सहित हो अथवा मान आदि कषायों में क्रोध कषाय ही प्रमुख है इसलिए कोपादिवान् कहा है। चूँकि मान आदि कषायों का व्याघात होने पर क्रोध कषाय की ही पहले उत्पत्ति होती है। तात्पर्य यह है कि मान, माया आदि कषाय का उदय चल रहा हो, उस कषाय का काल पूर्ण न हो पाए तो वह व्याघात कहलाता है। ऐसा व्याघात होने पर तुरन्त ही पहले क्रोध कषाय का उदय होता है। इसलिए क्रोध को सभी कषायों में प्रमुख कहा है। तथा क्रोध कषाय का ही सर्वप्रथम क्षय देखा जाता है इसलिए भी प्रमुखता से कही जाती है। तात्पर्य यह है कि क्षपक श्रेणी में सर्वप्रथम संज्वलन क्रोध का ही क्षय होता है इसलिए क्रोध कषाय सबकी अगुआ है। मानसिक पीड़ा को आधि कहते हैं तथा शरीर की वेदना को व्याधि कहते हैं। तुम्हारी देह इन आधि-व्याधि से सहित है। प्रकृष्ट रूप से तुम चरित्र रहित हुए हो। चूँकि तुम आचरण रहित हो इसलिए अपने को ही ठग रहे हो।

इत्यर्थः। असि क्रियापदम्। हेतुगर्भात्मक-विशेषणमिदम्। यतः प्रहीणचरितोऽसि ततः। आत्मनः वञ्चकः स्वस्य छलकारकः। स्वं वञ्चयतीति स्ववञ्चकः इत्यर्थः। असि क्रियापदम्। मृत्युव्यात्तमुखान्तरः मृत्युना जन्म-समयत एवावीचिमरणमारभते। यथा यथाऽऽयुषो वृद्धिस्तथा तथा मृत्युसिद्धिः। तथापि मोही स्वस्योत्कर्षमनुभवति न पश्यति कालस्य निर्गम इति। तेन विशेषेणात्तं व्यात्तं प्रसारितं च तद् मुखमग्रभागः प्रतिक्षणक्षीयमानायुकर्मणो निषेकस्तस्यान्तरे मध्ये यः स तथोक्तः। असि त्वमिति। इदमपि हेतुगर्भान्तर-विशेषणम्। यतो यममुखान्तरोऽसि ततः। जरसा जरा वृद्धावस्था तेन। ग्रास्यः ग्रसितुं योग्यः। 'ग्रस ग्रहणे' इत्यस्य धो व्यान्तं रूपम्। ''व्यस्य वा कर्तरि'' इति सूत्रानुरोधेन कर्त्रा भान्तेन तान्तेन वा भाव्यम्। अतः ग्रास्यशब्दस्य व्यान्तत्वात् जरसेति भान्तस्य प्रयोगः। क्वचित् ग्रस्तः इति पाठोऽपि पठ्यते। तदपि सुष्ठु। असि क्रियापदम्। किं वृथा प्रयोजनमन्तरेण। मत्तः माद्यतीति मत्तः विषयासक्तः। असि त्वमिति। किं कथम्। हितारिः हितस्य अरिः शत्रुः। असि त्वमिति। किं वा कथं एव। अहिते न हितः अहितः तस्मिन् अधर्मकर्मणि। बद्धस्पृहः बद्धा स्पृहा तृष्णा येन यस्य वा सः। असि त्वमिति। यदुक्तम्-

> **''व्याघ्रीव तिष्ठति जरा परितर्जयन्ति**
> **रोगाश्च शत्रव इव प्रहरन्ति देहम्।**
> **आयुः परिस्त्रवति भिन्नघटादिवाम्भो**
> **लोकस्तथाप्यहितमाचरतीति चित्रम्॥''**
>
> भर्तृहरि शतक

शार्दूलविक्रीडितवृत्तम् ॥५४॥

जन्म समय से ही आवीचिमरण प्रारम्भ हो जाता है। जैसे-जैसे आयु की वृद्धि होती है तैसे-तैसे मृत्यु की सिद्धि होती जाती है। फिर भी मोही जीव स्वयं का उत्कर्ष (बड़ा होना) तो अनुभव करता है किन्तु काल का बीतना नहीं देखता है। इसी विशेषता के कारण कहा है कि मरण के मुख का अग्रभाग खुला हुआ है यानी कि प्रति क्षण आयु कर्म क्षीण हो रहा है और उन्हीं क्षीण हुए आयु कर्म के निषेकों के भीतर तुम पड़े हो। मरणरूपी यम के मुख के भीतर तुम हो। तुम वृद्धावस्था के ग्रास बने हुए हो। कहीं-कहीं पर 'ग्रास्यः' की जगह 'ग्रस्तः' भी पढ़ा जाता है। वह भी ठीक है। तुम क्यों बिना प्रयोजन के विषयासक्त हुए हो ? क्यों अपने हित के शत्रु बने हो ? अधर्म क्रिया ही अहित है। इस अहित में क्यों तुमने तृष्णा बना रखी है। कहा भी है-

''बुढ़ापा व्याघ्री की तरह ताक में बैठा है, रोग शत्रु की तरह देह को पीड़ित कर रहे हैं। आयु फूटे घड़े में रखे जल की तरह गल रही है। आश्चर्य है कि यह संसार फिर भी अहित का आचरण कर रहा है।''

यहाँ शार्दूलविक्रीडित छन्द है ॥५४॥

स चाहितविषये बद्धस्पृहः सततं दुःखीभवतीत्यत आह–

(शार्दूलविक्रीडित)

उग्रग्रीष्मकठोरघर्मकिरणस्फूर्जद्‌गभस्तिप्रभैः ,
संतप्तः सकलेन्द्रियैरयमहो संवृद्धतृष्णो जनः।
अप्राप्याभिमतं विवेकविमुखः पापप्रयासाकुल-
स्तोयोपान्तदुरन्तकर्दमगतक्षीणोक्षवत् क्लिश्यते ॥५५॥

अन्वयः—सकलेन्द्रियैः उग्रग्रीष्मकठोरघर्मकिरणस्फूर्जद्गभस्तिप्रभैः सन्तप्तः अयं जनः अहो संवृद्धतृष्णः अभिमतं अप्राप्य विवेकविमुखः पापप्रयासाकुलः तोयोपान्तदुरन्तकर्दमगतक्षीणोक्षवत् क्लिश्यते।

उग्रेत्यादि। सकलेन्द्रियैः स्पर्शनरसनघ्राणचक्षुःश्रोत्रेन्द्रियैः। पञ्चेन्द्रियेषु मध्ये स्पर्शरसनेन्द्रिये कामेन्द्रये मते। शेषाणि भोगेन्द्रियाणि। निधुवनविधौ कामेन्द्रियाणि मनस्तुष्यन्ति शेषाणां साहाय्यत्वात्। तैः करणभूतैः। कथम्भूतैश्च तैः? उग्रेत्यादि–उग्रस्तीव्रश्चासौ ग्रीष्मो ज्येष्ठाषाढीयोष्णकालस्तस्य कठोर-

---

उत्थानिका—अहित के विषय में अपनी आशा को बाँधे हुए जीव निरन्तर दुःखी रहता है, यह कहते हैं–

अन्वयार्थ—(सकलेन्द्रियैः) समस्त इन्द्रियाँ **(उग्र-ग्रीष्म-कठोर घर्म किरण-स्फूर्जद्-गभस्ति प्रभैः)** उग्र ग्रीष्मकाल के कठोर सूर्य की स्फुरायमान किरणों की प्रभा के समान हैं उनसे **(सन्तप्तः)** सन्तप्त हुआ **(अयं)** यह **(जनः)** मनुष्य **(अहो)** आश्चर्य है कि **(संवृद्धतृष्णः)** तृष्णा से वृद्धिंगत हुआ **(अभिमतं)** अभीष्ट को **(अप्राप्य)** नहीं प्राप्त करके **(विवेकविमुखः)** विवेक से विमुख हुआ **(पाप-प्रयासाकुलः)** पाप के प्रयास से व्याकुल होकर **(तोयोपान्तदुरन्तकर्दमगत-क्षीणोक्षवत्)** जल के निकट में अगाध कीचड़ में पड़े निर्बल बैल की तरह **(क्लिश्यते)** कष्ट पाता है।

अर्थ—भीषण ग्रीष्मकाल के उग्र सूर्य की किरणों के समान इन्द्रियों से सन्तप्त हुआ यह मनुष्य, अपनी बढ़ती हुई तृष्णा से अभीष्ट को न पाकर विवेकहीन हुआ पापातुर होकर अगाध कीचड़ में फँसे बैल की तरह कष्ट पाता है।

टीकार्थ–स्पर्शन, रसना, घ्राण, चक्षु और श्रोत्र ये पाँच इन्द्रियाँ हैं। इन पाँच इन्द्रियों में स्पर्शन और रसना इन्द्रिय काम इन्द्रियाँ मानी गयी है। शेष इन्द्रियाँ भोग इन्द्रिय हैं। काम सेवन में काम इन्द्रियाँ मन को तुष्ट करती हैं क्योंकि शेष इन्द्रियाँ उसकी सहायक होती हैं। ज्येष्ठ और आषाढ़ काल

तरुण अरुण की खरतर अरुणिम किरणों से नर तप्त यथा।
इन्द्रियमय अति ज्वाला से अति तृषित जगत संतप्त तथा॥
कुधी विषय सुख मिलते नहिं तब अघकर उस विध दुख पाता।
नीर निकट-तम कीच बीच फँस बैल क्षीण बल दुख पाता ॥५५॥

स्तीक्ष्णश्च घर्मकिरणः सूर्यस्तस्य स्फूर्जन्तः परिस्फुरन्तश्च ते गभस्तयः किरणास्तेषां प्रभा दीप्तिः सादृश्यं वा येषां तैः। सन्तप्तः सन्तापं प्राप्तः। अयं दृश्यमानः। जनः पञ्चेन्द्रियः। अहो खेदे। संवृद्धतृष्णः संततं वृद्धा वृद्धिं गता तृष्णा यस्य सः। यथा उग्रादित्यघर्मेण पिपासा प्रवर्धते तथैवेन्द्रयाणामिष्ट विषयपूर्त्या तृष्णा। अभिमतं इष्टं तृष्णापूर्तिं। अप्राप्य न प्राप्तिं कृत्वा। विवेकविमुखः विवेकः पापपुण्यकार्येषु कुशलता तेन विमुखः विपरीतः। पापप्रयासाकुलः पापानि दुःखप्रदानि च ते प्रयासास्तैराकुलः खेदमापन्नः सः। विवेकविमुखो जनः पापप्रयासे उत्कण्ठो भवतीति। तोयेत्यादि तोयोपान्ते जलसमीपे दुरन्तश्चासौ कर्दमोऽगाधपङ्कस्तत्र गतः पतितः स चासौ क्षीणो दुर्बलश्च उक्षा बलीवर्दः स इव तथोक्तम्। यथाक्षीण-कायवान् बलीवर्दः पङ्के निमग्नः स्वयमुद्धर्तुं न शक्नोति तथैव विवेकविमुखजनः पापप्रयासेन भवपङ्क इति। क्लिश्यते दुःखयति क्लेशं अनुभवति। तत्र भवपङ्के इति भावः। शार्दूलविक्रीडितवृत्तम् ॥५५॥

भवता यदुद्दिष्टमभिमतमप्राप्य क्लिश्यते यदि सोऽभिमतं प्राप्नोति तर्हि का बाधा विषयसेवन इति प्रष्ट आह–

(अनुष्टप्)

लब्धेन्धनो ज्वलत्यग्निः प्रशाम्यति निरिन्धनः।
ज्वलत्युभयथाप्युच्चैरहो मोहाग्निरुत्कटः ॥५६॥

के कठोर सूर्य की स्फुरायमान किरणों से सन्तप्त हुआ यह दृश्यमान पंचेन्द्रिय प्राणी अहो खेद है कि तृष्णा से वृद्धिंगत होता है। जैसे तीव्र सूर्य की धूप से प्यास बढ़ती है उसी प्रकार इन्द्रियों की इष्ट विषय की पूर्ति से तृष्णा बढ़ती है। अपनी इष्ट तृष्णा की पूर्ति नहीं प्राप्त करके विवेक से रहित हो जाता है। यह पाप है, यह पुण्य है इस प्रकार पाप-पुण्य कार्यों में विभाजन की कुशलता होना ही विवेक है। विवेक रहित होकर दुःख देने वाले पाप कार्यों में प्रयास करता है और खेद को प्राप्त होता है। जैसे दुर्बल शरीर वाला बैल कीचड़ में गिरा हो तो वह स्वयं का उद्धार करने में समर्थ नहीं होता है, उसी प्रकार विवेक से दूर हुआ मनुष्य पाप-पंक से अपने को उठा नहीं पाता और क्लेश का अनुभव करता है। यहाँ शार्दूलविक्रीडित छन्द है ॥५५॥

उत्थानिका–आपने जो कहा है कि इच्छित वस्तु की प्राप्ति नहीं करके प्राणी क्लेश प्राप्त करता है सो यदि वह इच्छित वस्तु की प्राप्ति हो जाए तो फिर विषय सेवन में क्या बाधा? इस प्रकार पूछने पर कहते हैं–

उचित रहा यह अगनी जलती, समयोचित इन्धन पाती।
इन्धन जब इसको ना मिलता, जलती ना झट बुझ जाती ॥
मोह अग्नि तो किन्तु निरन्तर, धू-धू करती ही जलती।
भोग मिले तो भले जले पर नहीं मिले तब भी जलती ॥५६॥

अन्वयः—अग्निः लब्धेन्धनः ज्वलति निरिन्धनः प्रशाम्यति अहो उत्कटः मोहाग्निः उभयथा अपि उच्चैः ज्वलति।

लब्धेन्धन इत्यादि। अग्निः अनलः। लब्धेन्धनः लब्धं प्राप्तं इन्धनं काष्ठतृणादिः येन यत्र वा सः। ज्वलति ज्वलनं विदधाति। 'ज्वल दीप्तौ' इति लट्। निरिन्धन निर्गतं पुनर्न प्राप्तं इन्धनं येन यस्माद् वा स इन्धनरहितः इत्यर्थः। प्रशाम्यति प्रशममवाप्नोति। 'शम उपशमे' इति लट्। अहो आश्चर्यम्। उत्कटः तीव्रोऽनिवार्यो वा। मोहाग्निः मोहश्चासौ अग्निः मोहरूपाग्निरित्यत्राग्नी रूपकः। मोहः अग्निरिवेति विग्रहो न कर्त्तव्योऽत्र विरोधात्। कथं विरोध इति चेदाह—उभयथा उभयप्रकारेण 'प्रकारवचने तु था' इति का. सूत्रात्। अपि च। उच्चैरतिमात्रम्। ज्वलति दहति। इन्धनेन साकमग्निर्भूयः प्रज्वलति तदभावे निर्वापतीति ज्ञात्वेन्धनमनलस्य कारण-मायाति। कारणाभावे कार्यं न संभवतीति न्यायेनेन्धनस्याभावेऽग्नेरभावो भवति। न चैवं मोहाग्निविषये न्याय्यम्। ''तृष्णार्चिषः परिदहन्ति न शान्तिरासा मिष्टेन्द्रियार्थविभवैः परिवृद्धिरेव'' इति वचनात् मोहाग्नेरिन्धनमिष्टेन्द्रियविषयाः। तदेन्द्रियविषयाभावेऽपि समिद्धाग्निर्न प्रशाम्यति हृदये विषयतृष्णासद्भावात्। तेन कारणेन मोहाग्निरग्नेरत्युत्कटः। स चैधसि सद्भावेऽभावे वेति द्विप्रकारेण ज्वलतीत्युक्तं भवति।

अन्वयार्थ—(अग्निः) अग्नि तो **(लब्धेन्धनः)** ईंधन को प्राप्त करती हुई **(ज्वलति)** जलती है **(निरिन्धनः)** ईंधन रहित हुई **(प्रशाम्यति)** शान्त हो जाती है **(अहो)** आश्चर्य है कि **(उत्कटः)** उत्कृष्ट **(मोहाग्निः)** मोह रूपी अग्नि **(उभयथा)** दोनों प्रकार से **(अपि)** ही **(उच्चैः)** खूब **(ज्वलति)** जलती हैं।

अर्थ—ईंधन मिलते रहने से सामान्य अग्नि जलती रहती है और उसके न मिलने पर बुझ जाती है। परन्तु मोहरूपी अग्नि बड़ी प्रबल है। यह दोनों दशाओं में प्रज्वलित रहती है।

टीकार्थ—आग तो काष्ठ, तृण आदि ईंधन मिल जाने पर और अधिक जलती है तथा ईंधन से रहित होने पर बुझ जाती है। आश्चर्य है कि मोहाग्नि तो बड़ी तीव्र है या दूसरे से रोकी जाने वाली नहीं है। यहाँ मोह ही यह अग्नि है अर्थात् मोहरूप अग्नि मोहाग्नि है। यहाँ अग्नि रूपक है। मोह अग्नि के समान है ऐसा विग्रह (संधि) नहीं करें क्योंकि उसमें विरोध आता है। कैसे विरोध आता है ? दोनों प्रकार से जलाती है। वह इस प्रकार है—ईंधन के साथ अग्नि खूब जलती है और ईंधन के अभाव में बुझ जाती है, ऐसा जानकर ईंधन अग्नि का कारण सिद्ध होता है। कारण के अभाव में कार्य नहीं होता है, इस न्याय से ईंधन के अभाव में अग्नि का अभाव हो जाता है। किन्तु यह न्याय मोहाग्नि के विषय में घटित नहीं होता है। स्वामी समन्तभद्र जी ने कहा है—''तृष्णा की अग्नि चारों ओर से जलाती है, शान्ति नहीं मिलती है। इस तृष्णा की अग्नि में इष्ट इन्द्रिय के विषय वैभव से वृद्धि ही होती है। इस तरह मोहाग्नि का ईंधन इष्ट इन्द्रिय के विषय हैं। उन इन्द्रिय विषयों का अभाव होने पर भी जलती हुई अग्नि शान्त नहीं होती है क्योंकि हृदय में विषयों की तृष्णा का सद्भाव बना रहता है। इस कारण से मोहाग्नि अग्नि से भी तीव्र है। वह मोहाग्नि ईंधन के सद्भाव और अभाव में दोनों प्रकार से जलती है।''

यद् गदितं ग्रन्थकारैरेवाग्रे–तद्यथा–

''अर्थिनो धनमप्राप्य धनिनोऽप्यवितृप्तितः।
कष्टं सर्वेऽपि सीदन्ति परमेकः सुखी सुखी ॥''

अनुष्टुपृछन्दः॥५६॥

अथ मोहाग्निना मूर्च्छितो जनो मूर्छानिद्रां न त्यजतीत्याश्चर्यं व्यनक्ति–

(शार्दूलविक्रीडित)

किं मर्माण्यभिनन्न भीकरतरो दुःकर्मगर्मुद्गणः
किं दुःखज्वलनावलीविलसितैर्नालेढि देहश्चिरम्।
किं गर्जद्यमतूरभैरवरवन्नाकर्णयन्निर्णयं,
येनाऽयं न जहाति मोहविहितां निद्रामभद्रां जनः ॥५७॥

अन्वयः—किं भीकरतरः दुःकर्मगर्मुद्गणः मर्माणि न अभिनत् किं देहः दुःखज्वलनावलीविलसितैः चिरं न आलेढि किं गर्जद्यमतूरभैरवरवान् न आकर्णयत् निर्णयं येन अयं जनः मोहविहितां अभद्रां निद्रां न जहाति।

ग्रन्थकार ने स्वयं आगे कहा है–

''धन के इच्छुक धन प्राप्त नहीं करके और धनी बिना तृप्ति के दुःखी रहता है। कष्ट है कि सभी जीव दुःखी है, एक मुनि ही सुखी है।'' यहाँ अनुष्टप् छन्द है ॥५६॥

उत्थानिका—अब मोह अग्नि से मूर्छित मनुष्य मूर्छा-निद्रा को नहीं छोड़ता है, यह आश्चर्य व्यक्त करते है–

अन्वयार्थ–(किम्) क्या **(भीकरतरः)** अत्यन्त भयानक **(दुःकर्म-गर्मुद्-गणः)** दुःकर्म रूपी मधु मक्खियों के समूह ने **(मर्माणि)** मर्मों को **(न)** नहीं **(अभिनत्)** भेदा है ? **(किं)** क्या **(देहः)** शरीर **(दुःख-ज्वलनावली-विलसितैः)** दुःख की ज्वाला समूह के विलास से **(चिरं)** चिरकाल तक **(न आलेढि)** व्याप्त नहीं हुआ है? **(किम्)** क्या **(गर्जद्यमतूर-भैरवरवान्)** गर्जना करते हुए यम के भैरव वाद्य के शब्दों को **(न आकर्णयत्)** नहीं सुना है **(निर्णयम्)** निश्चित ही **(येन)** जिससे **(अयं जनः)** यह मनुष्य **(मोह विहिताम्)** मोह से की गई **(अभद्राम्)** बुरी **(निद्राम्)** निद्रा को **(न जहाति)** नहीं छोड़ता है।

अर्थ—क्या अत्यन्त भयकारी दुष्कर्मरूपी मधुमक्खियों के समूह ने मर्मस्थलों को नहीं भेदा है?

दुखमय ज्वाला लपटों से क्या कभी काय तब जला नहीं।
मधु मक्खी सम प्रखर पाप से क्या तव जीवन छिला नहीं॥
गर्जन करते काल वाद्य के, भयद शब्द क्या सुना नहीं।
क्यों न तजी फिर निंद्य मोह की, नींद भाव यह गुना नहीं॥५७॥

किमित्यादि। किमिति प्रश्ने। भीकरतरः भीः भयं तं करोतीति भीकरः। प्रकृष्टः अतिशयेन वा भीकरो भीकरतरः। 'प्रकृष्टे तमतररूपाः' इति का. सूत्रात् तरप्रत्ययः। किमसौ? दुःकर्मगर्मुद्गणः दुष्टं कर्म यस्य स दुःकर्म तदेव गर्मुद्गणो मधुमक्षिकासमूहः स तथोक्तः। मर्माणि सन्धिस्थानानि। न अभिनत् न विदारितवान्। 'भिदिर् विदारणे' इति धोर्लङन्तरूपम्। किमिति प्रश्ने। देहः शरीरम्। दुःखज्वलनावलीविलसितैः दुःखज्वालायुक्तैः। दुःखमेव ज्वलनं अग्निस्तस्य आवली परम्परा तस्या विलसितं युक्तं चेष्टितं वा तैः। चिरं दीर्घकालपर्यन्तम्। न निषेधार्थे। आलेढि प्राप्तः। 'लिह् आस्वादने' इति कर्मणि लट्। किमिति वितर्के। गर्जत्यमतूरभैरवरवान् गर्जत् भीमध्वनिं कुर्वत्। यमस्य कालस्य तूरं वाद्ययन्त्रं तच्च भैरवं त्रासदं भयावहं वा तस्य रवः शब्दः कोलाहलो वा। गर्जन्तश्चासौ यमतूरभैरवरवः गर्जद्यमतूरभैरवरवस्तान्। न आकर्णयत् न श्रवणविषयमगमत्। 'कर्णभेदने' इति लङन्तरूपम्। प्रतिदिनं इतस्ततः यममुखे निपतिता न दृश्यन्त इत्यर्थः। निर्णयं निश्चितं स्फुटमिति यावत्। येन कारणेन। अयं जनः दृश्यमानो लोकः। मोहविहितां मोहेन विहिता सञ्जाता युक्ता वा ताम्। अभद्रां न भद्रा अभद्रा निन्द्या ताम्। निद्रां मूर्च्छाम्। न जहाति त्यजति। 'ओहाक् त्यागे' इति लट्। सर्वात्मप्रदेशेषु हालाहलविषसदृश-किल्विषकर्मानुभावानुभागै प्रतिक्षणं मधुमक्षिका-गणैकप्रक्षिप्तविषव्यापितैः पीड्यमानः पशुनरकत्रिदशनरगतिषु छेदनभेदनशीतातपोष्णशीतक्षुत्तृषापरर्द्धिदर्शनवाहनकिल्विषाादिजातिसमुत्पन्नेष्टचिन्तात्रासातङ्कवादाप-हरणधनकरादिसहस्रवेदनानलदग्धमनाःवाहनभूकम्पाकालातिवृष्टिवैररोगविषाभक्षणदाहदुर्घटघटनाक्रमै-र्विघटितायुक्रमं जनोऽवेक्षते तथापि न हितायोत्साहयतीति भावः। शार्दूलविक्रीडितवृत्तम् ॥५७॥

क्या दुःखरूपी ज्वालाओं के समूह से चिरकाल से यह देह नहीं जल रही है? क्या यह जीव यमराज के गर्जना करते हुए वादित्रों के भीषण रव (ध्वनि) को नहीं सुनता है? इतना सब होने पर भी न जाने किस कारण से यह अकल्याणकारी मोहनिद्रा का परित्याग नहीं करता है।

टीकार्थ–दुष्ट कर्म ही मधु-मक्खियों का समूह है जो कि भय उत्पादक है। क्या इन मक्खियों से तुम्हारे सन्धि-स्थान भेदे नहीं गये हैं। दुःख ही अग्नि है। उस अग्नि की परम्परा से युक्त होकर दीर्घकाल तक क्या तुम्हारा शरीर व्याप्त नहीं हुआ है। क्या तीव्र ध्वनि करते हुए यम के वाद्य यन्त्र के भयानक शब्द या कोलाहल को नहीं सुना है। क्या प्रतिदिन यहाँ-वहाँ यम के मुख में गिरते हुए लोग दिखाई नहीं देते हैं ? देते ही हैं। फिर भी न जाने किस कारण से लोक मोह के द्वारा की गई निन्दनीय निद्रा को नहीं छोड़ता है। समस्त आत्मप्रदेशों में हलाहल विष के समान पाप कर्म की अनुभाग सामर्थ्य के द्वारा, प्रतिक्षण मधु-मक्खियों के समूह के द्वारा मुख्य रूप से रखे गए विष की व्याप्ति से पीड़ित होता हुआ पशु, नरक, स्वर्ग, मनुष्यगतियों में छेदन, भेदन, शीत, उष्ण, शीतोष्ण, क्षुधा, तृषा दूसरों की ऋद्धि दर्शन, वाहन जाति, किल्विष जाति आदि में उत्पत्ति इष्ट वियोग, अनिष्ट संयोग, दरिद्रता, अनिष्ट चिन्ता, कष्ट, आतंकवाद, अपहरण, धनकर आदि हजारों वेदनाओं की अग्नि से मन जलता है। भूकम्प, अकाल, अतिवृष्टि, वैर, रोग, विष-भक्षण, जलना, अचानक घटना क्रम से आयु का क्रम नष्ट हो जाता है और मनुष्य उसे देखता रहता है। फिर भी हित के लिए उत्साहित नहीं होता है, यह भाव है। यहाँ शार्दूलविक्रीडित छन्द है ॥५७॥

पुनरप्यमुमेवार्थं दृढयन्नाह–

(शार्दूलविक्रीडित)

तादात्म्यं तनुभिः सदानुभवनं पाकस्य दुःकर्मणो
व्यापारः समयं प्रति प्रकृतिभि गाढं स्वयं बन्धनम्।
निद्रा विश्रमणं मृतेः प्रतिभयं शश्वद् मृतिश्च ध्रुवं,
जन्मिन् जन्मनि ते तथापि रमसे तत्रैव चित्रं महत् ॥५८॥

अन्वयः—जन्मिन् जन्मनि ते तनुभिः तादात्म्यं सदा अनुभवनं, दुःकर्मणः पाकस्य व्यापारः, समयं प्रति प्रकृतिभिः स्वयं गाढं बन्धनं, निद्रा विश्रमणं, शश्वत् मृतेः प्रतिभयं च मृतिः ध्रुवं तथापि तत्र एव रमसे (इति) महत् चित्रम्।

तादात्म्यमित्यादि। जन्मिन् जन्म यस्यास्तीति जन्मी मत्वर्थीये इन् प्रत्ययात्। तस्य सम्बोधने जन्मधारणशील! इत्यर्थः। जन्मनि जन्म संसारः संसारस्याद्यकारणत्वात्। तत्र चतुर्गतिरूपे संसारे। ते तव

उत्थानिका—पुनः इसी अर्थ को दृढ़ करते हुए कहते हैं–

अन्वयार्थ—(जन्मिन्) हे प्राणी **(जन्मनि)** संसार में **(ते)** तुमको **(तनुभिः)** शरीर के साथ **(तादात्म्यं)** एकमेक होकर **(सदा)** हमेशा **(अनुभवनम्)** अनुभव होता है। **(दुःकर्मणः)** दुष्ट कर्म के **(पाकस्य)** फल का **(व्यापारः)** व्यापार चलता है **(समयं प्रति)** प्रत्येक समय **(प्रकृतिभिः)** कर्म प्रकृतियों के साथ **(स्वयं)** अपने आप **(गाढं)** गाढं **(बन्धनम्)** बन्धन रहता है **(निद्रा)** नींद ही **(विश्रमणम्)** विश्राम है **(शश्वत्)** निरन्तर **(मृतेः)** मृत्यु का **(प्रतिभयम्)** प्रतिभय रहता है **(च मृतिः)** और मृत्यु **(ध्रुवम्)** निश्चित है **(तथापि)** फिर भी **(तत्र)** उसी में **(एव)** ही **(रमसे)** रमण करता है। यह **(महत्)** बड़ा **(चित्रम्)** आश्चर्य है।

अर्थ—जन्म और मरण को पाने वाले हे जीव! संसार में नाना दुःख भोगते हुए तू उसी में रमण करता है, यह आश्चर्य की बात है। प्रथमतः तो दुख का कारण यह शरीर है जिससे तेरा तादात्म्य सम्बन्ध है, तू एक देह से दूसरे में गमन करता रहता है। अपनी कर्मप्रकृतियों के द्वारा तू दृढ़ता से बाँधा जाता है–यही तेरा व्यापार है। नींद में विश्राम करता है, काल से सदा भयभीत रहता है और निश्चयापेक्षा निरन्तर मरता है।

टीकार्थ–जन्म लेना ही संसार का पहला कारण है। ऐसे चतुर्गति रूप संसार में रहने वाला जीव

तन में घुलमिल रहना अघविधि फल चखना तव काम रहा।
पुनि पुनि पल पल विधि बंधन में पड़ना भी अविराम रहा॥
मृति ध्रुव फिर भी मृति भय रखता, निद्रा ही विश्राम रहा।
फिर भी जन्मी! भव में रमता, विस्मय का यह धाम रहा ॥५८॥

युष्मत्शब्दस्य षष्ठ्यन्तैकवचनरूपं। तनुभिः देहैः औदारिकवैक्रियिकाहारकतैजसकार्मणाख्यैः। सहेत्यनुक्तेऽपि योज्यो लक्षणबलात्। तेन तनुभिः सहेत्यर्थः। किं तत्? तादात्म्यं तदात्मभूतम्। तद् शरीर-मेवाहमित्यहमह-मिकया। सदा सर्वकालम्। अनुभवनं अनुभूतिः। वास्तवेन देहात्मनो र्भिन्नद्रव्ययोस्तादात्म्यसम्बन्धो न भवति तथापि मोहात्तथाऽनुभवति। दुःकर्मणः दुष्टं च तत् कर्म ज्ञानावरणादि तस्य कटुकघातिकर्मप्रकृतेः। पाकस्यानुभवस्य। विपाकोऽनुभवः इति वचनात्। व्यापारः क्रिया। समयं प्रति प्रतिसमयम्। 'कर्मप्रवचनीयैश्च' इति सूत्रादित्थंभूतेऽर्थे द्वितीया। तेन प्रति समयं दुष्कर्मविपाक इत्यनुभागोदयः सूचितः। 'समयं प्रति' इति पदमुभयत्र योज्यं देहलीदीपकन्यायेन। तेन समयं प्रति प्रकृतिभिः कर्मप्रकृतिभिरष्टविधैः सप्तविधैर्वा। स्वयं मोहकषायवशीवर्तिनात्मनाऽन्यबाह्यकारण्मन्तरेण। आत्मनि दुष्कर्मोदये सति तदनुरूपात्म-परिणामात् मिथ्यात्वादिपञ्चप्रत्ययैः पुनरपि कर्मबन्धनात् स्वयमिति कथितम्। गाढं कर्मात्मनोरेकैकप्रदेशेषु एकक्षेत्रावगाहरूपसंश्लेषबन्धनम्। बन्धनं स्थितिबन्धादि-चतुर्विधिना बन्धः। निद्रा स्वापः। विश्रमणं विश्रमः खेदव्यपनोदः। ''**णिद्दा खलु णरमचेदणं कुणदि**'' इत्यभिधानात्। प्रसुप्तो नरोऽचेतनः पूर्वापर-विज्ञानरहितो भवति। स च सर्वेषु दोषेषु प्रवर्तते। ततो विवेकिजनो निद्रां सुष्ठु न मनुते। सर्वविशुद्ध-शुद्धात्मस्वभावेऽप्रमत्ततया तिष्ठन् खेदश्रमविनोदाय निद्रां न खलु ज्ञानी भजति। ततो निद्रायां विश्रमो

संसारी है। उसको यहाँ सम्बोधन है। अरे जन्मिन्! इस संसार में औदारिक, वैक्रियिक, आहारक, तैजस और कार्मण नाम के शरीरों के साथ तुम्हारा तादात्म्य रूप से अनुभव हुआ है। उस परद्रव्य रूप होने का नाम तादात्म्य है। उस शरीर को ही 'मैं, यह मैं हूँ' इस प्रकार आगे होकर अनुभव किया है। वास्तव में देखा जाय तो देह और आत्मा भिन्न द्रव्य हैं। इन दोनों का तादात्म्य सम्बन्ध होता ही नहीं है फिर भी मोह के कारण से तादात्म्य (उसी रूप) होकर अनुभव करता है। तथा कटुक ज्ञानावरण आदि घाति कर्म प्रकृतियों का अनुभव होना ही व्यापार है, क्रिया है। अर्थात् प्रति समय इस जीव को दुष्ट कर्मों का अनुभव उदय बना रहता है। 'प्रतिसमयम्' इस पद को 'देहली दीपक न्याय' से आगे वाले पद के साथ भी जोड़ना है। अर्थात् प्रतिसमय यह आठ प्रकार की या सात प्रकार की कर्म प्रकृतियों से स्वयं बँधता रहता है। मोह और कषाय के वशीभूत आत्मा अन्य किसी बाह्यकारण के बिना कर्म से बँधता रहता है। आत्मा में दुष्कर्म का उदय होता है। जिससे मिथ्यात्व आदि पाँच प्रत्ययों के द्वारा कर्मबन्धन से आत्मा पुनः बँध जाता है, इसलिए स्वयं बँधता है, ऐसा कहा है। वह आत्मा और कर्म का बन्ध गाढ़ होता है। कर्म और आत्मा का एक-एक प्रदेश में एक क्षेत्रावगाह रूप संक्लेश (एकमेक) बंध होता है। वह बन्ध स्थितिबन्ध आदि के भेद से चार प्रकार से बँधता है। अर्थात् प्रकृति, स्थिति, प्रदेश और अनुभाग चार प्रकार से बंध होता है।

अहो! निद्रा तेरा विश्राम है, जिससे तेरा खेद दूर होता है। **मूलाचार** में कहा है कि-''निद्रा मनुष्य को अचेतन कर देती है'' सोया हुआ चेतन नर पूर्वापर ज्ञान से रहित हो जाता है। ऐसा मनुष्य सभी दोषों में प्रवृत्ति कर जाता है। इसलिए विवेकी जन निद्रा को अच्छा नहीं मानते हैं। खेद और श्रम को

देहवशिनां जायते। शश्वत् निरन्तरम्। मृतेः मृत्युतः। प्रतिभयं भयं भयं प्रति प्रतिभयं ''लक्षणेनाभि-मुख्येऽभिप्रती'' इति सूत्रात् हसः। मरणात् प्रतिभयमिति भीत्यर्थे 'काऽपादाने' इति वचनात्। च तथा। मृतिर्मरणम्। ध्रुवं निश्चितम्। 'बिभेति मृत्यो र्न ततोऽस्ति मोक्षः' इति वचनात् भयमात्रेण मरणो न वार्यते। तथापि एतत् सर्वं विजानन्नपि। तत्र पूर्वादितसंसारे। एव निश्चयेन। रमसे रमणं करोषि। 'रमु रमणे' इति धो० म० पु० एकवचनान्तम्। इति शेषः। महत् चित्रम् आश्चर्यजनकम् ॥शार्दूलविक्रीडितवृत्तम् ॥५८॥

यत्तनुभिः सदा तादात्म्यमनुभवति तत्कीदृशमिति दर्शयन्नाह–

(शार्दूलविक्रीडित)

अस्थिस्थूलतुलाकलापघटितं नद्धं शिरास्नायुभि-
श्चर्माच्छादितमस्त्रसान्द्रपिशितैर्लिप्तं सुगुप्तं खलैः।
कर्मारातिभिरायुरुद्धनिगलालग्नं शरीरालयं,
कारागारमवैहि ते हतमते प्रीतिं वृथा मा कृथाः ॥५९॥

अन्वयः—ते शरीरालयं, अस्थिस्थूलतुलाकलापघटित, शिरास्नायुभिः नद्धं, चर्माच्छादितं, अस्रसान्द्रपिशितैः लिप्तं, खलैः कर्मारतिभिः सुगुप्तं, आयुरुद्धनिगलालग्नं, कारागारं अवैहि हतमते! वृथा प्रीतिं मा कृथाः।

दूर करने के लिए ज्ञानी जन सर्व विशुद्ध शुद्ध आत्मस्वभाव में अप्रमत्त होकर रहते हैं इसलिए वे निद्रा नहीं लेते हैं। देह के वशीभूत जीवों का निद्रा में विश्राम होता है।

अहो! तुझे मरण से निरन्तर भय बना रहता है फिर भी मरण निश्चित होता है। आचार्य समन्तभद्र स्वामी ने कहा है कि–''यह जीव मृत्यु से डरता है लेकिन उससे बच नहीं पाता है।'' भय करने मात्र से मरण नहीं रुकता है। इतना सब कुछ जानते हुए भी तू इस दुःखमय संसार में निश्चय से रमण करता है। यह बड़ा आश्चर्य है। यहाँ शार्दूलविक्रीडित छन्द है ॥५८॥

उत्थानिका—जिस शरीर के साथ जीव तादात्म्य का अनुभव करता है वह किस प्रकार का है, यह दिखाते हुए कहते हैं–

अन्वयार्थ–(ते) तुम्हारा **(शरीरालयम्)** शरीररूपी गृह **(अस्थि-स्थूल-तुला-कलाप-घटितम्)** हड्डियों रूपी मोटी लकड़ियों के समूह से बना है **(सिरा-स्नायुभिः)** शिराओं और नसों से **(नद्धम्)** बँधा है **(चर्माच्छादितम्)** चर्म से आच्छादित है **(अस्त्र-सान्द्र-पिशितैः)** रुधिर एवं सघन

स्थूल हाड़मय काष्ठ रचित है सिरा नसों से बंधा हुवा।
विधि-रिपु रक्षित रुधिर पिशित से लिप्त चर्म से ढका हुवा॥
लगा जहाँ पर आयु रूप गुरु-सांकल है तव तन घर है।
मूढ़ उसे तू जेल समझ, मत वृथा राग कर, अघकर है॥५९॥

अस्थीत्यादि। ते तव। शरीरालयं शरीरमेवालयं गृहं तम्। कथंभूतम्? अस्थिस्थूलतुला-कलापघटितं अस्थीनि एव स्थूलतुला महापीठिका बन्धनाय। ''तुला राशौ पलशते तुल्यतामानभेदयोः। बन्धाय गृहदारूणां पीठिकायां सभाजने'' इति वि० लो०। तासां कलापः समूहस्तेन घटितं विरचितम्। देहालयस्य स्थूलास्थिसमूह एवाधार इत्यर्थः। पुनरपि कथंभूतम्? शिरास्नायुभिः नद्धं धमनिबद्धम्। शिराश्च स्नायुश्च ते ताभ्यां बद्धम्। ''नाडी तु धमनिः शिरा'' इत्यमरः ''स्यथ वस्नसा स्नायुः स्त्रियाम्'' इति चामरः। किमपरम्? चर्माच्छादितं चर्मणा आच्छादितं प्रावरणं गतम्। यदि मक्षिकाति- सूक्ष्मच्छदेनाच्छादितमिदं शरीरं न भवेत्तर्हि काकादिना कथं रक्षेदिति। तथा किं विशिष्टम्? अस्रसान्दपिशितैः रुधिरसघनमांसैः। अस्रेण रुधिरेण सान्द्रं घनीभूतं च तत् पिशितं मांसं तत्तैः। अस्रं तु शोणिते लोभे' इति वि० लो०। लिप्तं युक्तम्। खलैः दुष्टैः। किं प्रकारैः? कर्मारातिभिः कर्माणि एव अरातयः शत्रवः तैः। सुगुप्तं सुष्ठु रक्षितम्। कर्मदुष्टकारणैरात्मा देहाद्विमुक्तो न स्यात्। मृतौ सत्यामपि गत्यान्तर-गमनकाले कर्मगृहीत एव। तदेवख्यापयन्नाह-आयुरुद्धनिगलालग्नं आयुः आयुकर्म एव उद्धः प्रकाण्डो महान् वा निगलः शृङ्खला यत्र शरीरे आलग्नं आबद्धं तम्। उद्धशब्दः क्वचिच्चोपलभ्यते। क्वचिदुच्चशब्द इति पाठः। पुनरपि च किम्? कारागारं बन्दिगृहम्। अवैहि जानीहि। अवपूर्वकं 'इण् गतौ' इति लोट् मध्यमपुरुषैक-वचनान्तम्। हतमते हता मति र्बुद्धि र्यस्य स सम्बुद्धौ। वृथा व्यर्थं हि। प्रीतिं प्रेम। मा कृथाः मा अकार्षीः। 'माङि लुङ् ' इति सूत्रात् माङ् योगे लुङ्। ''लुङ्लङ्लृङ् यमाङाट्'' इति लुङि माङ् योगेऽडागमप्रतिषेधः। शार्दूलविक्रीडितवृत्तम् ॥५९॥

मांस से **(लिप्तम्)** लिप्त है **(खलैः)** दुष्ट **(कर्मारातिभिः)** कर्म शत्रुओं से **(सुगुप्तम्)** अच्छी तरह रक्षित है **(आयु-रुद्ध-निगला लग्नं)** आयुरूपी बड़ी सांकल से संलग्न इसे **(कारागारं)** कारागृह **(अवैहि)** समझो **(हतमते!)** अरे दुर्बुद्धि पुरुष! **(वृथा)** इससे व्यर्थ में **(प्रीतिम्)** प्रीति **(मा कृथा)** मत करो।

अर्थ—शरीर को कारागार से उपमित हुए कहते हैं—हे बुद्धिहीन नर! तेरा यह शरीर कारागार के समान है इससे व्यर्थ प्रीति मत करो। यह शरीररूपी कैदखाना हड्डियों रूपी लकड़ियों से बना है (ढांचा) नसों और शिराओं के जाल से बँधा है। त्वचारूपी चमड़े से आच्छादित है। रुधिर से आर्द्र मांस से लिप्त है। दुष्ट कर्मशत्रुओं से भली प्रकार रक्षित है और आयुकर्मरूपी मोटी बेड़ी से युक्त है। ऐसे देह कारागार से प्रेम मत कर।

टीकार्थ—तुम्हारा यह शरीररूपी घर कैसा है? हड्डियाँ ही ढाँचा रूप महापीठिका है उसी के समूह से यह निर्मित हुआ है। देह का मुख्य आधार स्थूल अस्थियों का समूह है। धमनी और शिरा के लिए नाड़ी शब्द प्रयुक्त होता है। इन्हीं धमनी और स्नायु तन्त्र से यह शरीर बँधा हुआ है। तथा चर्म से आच्छादित है। यदि मक्खी के अति सूक्ष्म पंख से यह शरीर ढका न होता तो फिर कौआ आदि के द्वारा इसकी रक्षा कैसे हो पाती? तथा यह शरीर खून से आर्द्र और घनीभूत मांस सहित है। दुष्ट कर्म-शत्रुओं से रक्षित है। कर्म की दुष्टता के कारण से ही आत्मा शरीर से मुक्त नहीं हो पाता है। मरण होने पर भी जब दूसरी गति में गमन का समय रहता है तब भी कर्म से घिरा रहता है। उसी को कहते हैं—आयु कर्म

अथ शरीराद् भिन्नवस्तु कीदृशमित्याह–

(मालिनी)

शरणमशरणं वो बन्धवो बन्धमूलं,
चिरपरिचितदारा द्वारमापद्गृहाणाम्।
विपरिमृशत पुत्राः शत्रवः सर्वमेतत्,
त्यजत भजत धर्मं निर्मलं शर्मकामाः॥६०॥

अन्वयः—वः शरणं अशरणं, बन्धवः बन्धमूलं, चिरपरिचितदारा आपद्गृहाणां द्वारं, पुत्राः शत्रवः, एतत् सर्वं विपरिमृशत, त्यजत, शर्मकामाः निर्मलं धर्मं भजत।

शरणमित्यादि। वः युष्माकम्। युष्मत् शब्दस्य षष्ठ्यां बहुवचने वस् आदेशात्। 'युष्मदस्मदोः पदं पदात् षष्ठीचतुर्थीद्वितीयासु वस्नसौ' इति कातंत्रसूत्रात्। शरणं यद्वस्तु काले रक्षकं भाति। अशरणं तद्वस्तु

ही बहुत बड़ी सांकल है जो शरीर में बाँधे रखता है। ऐसे शरीर को बन्दीगृह जानो। इसलिए हे दुर्बुद्धि जन! इस शरीर से प्रेम मत करो। क्या कोई कारागार से भी प्रेम करता है? कदापि नहीं। यहाँ शार्दूलविक्रीडित छन्द है॥५९॥

उत्थानिका—अब शरीर से भिन्न पदार्थ परिजन आदि किस प्रकार के हैं यह कहते हैं–

अन्वयार्थ—**(वः)** तुमको **(शरणं)** जो शरण है **(अशरणं)** वही अशरण है **(बन्धवः)** बन्धुजन **(बन्धमूलम्)** बन्ध के कारण हैं **(चिर-परिचित दारा)** चिर परिचित स्त्री **(आपद्-गृहाणां)** आपत्ति के गृहों का **(द्वारम्)** द्वार है **(पुत्राः)** पुत्र **(शत्रवः)** शत्रु हैं **(एतत् सर्वम्)** यह सब **(विपरिमृशत)** विचार करो **(त्यजत)** इन सब को छोड़ो **(शर्मकामाः)** सुख के इच्छुक तुम **(निर्मलं धर्मं)** निर्मल धर्म की **(भजत)** आराधना करो।

अर्थ—जिसे तुम शरण मानते हो, वह तुम्हारी शरण नहीं है, बन्धु-बान्धव बन्धन के कारण हैं। अति परिचिता स्त्री भी सभी आपदाओं के घर का द्वार है, पुत्र भी शत्रु हैं। इस प्रकार सारा परिवार-परिजन दुःख का ही कारण हैं। ऐसा विचार कर सुख के इच्छुक तुम इन सबका परित्याग करो और निर्मल धर्म की आरधना करो।

टीकार्थ–जो वस्तु तुमको शरण है यानी समय पर रक्षा करने वाली प्रतीत होती है वह वस्तु तो वास्तव में अशरण है, रक्षक नहीं है। वही कहते हैं–अपनी जाति और गोत्र के लोग बन्धु कहलाते हैं।

विधि बंधन के मूल बंधुजन शरण काय नहिं अशरण है।
आपद गृह के महाद्वार हैं चिर परिचित प्रमदा जन हैं॥
स्वार्थ परायण सुत, रिपु हैं यदि तुमको है शिव चाह रही।
तजो इन्हें बस भजो धर्म शुचि यही रही शिव राह सही॥६०॥

अरक्षकमेव। तदाह–बन्धवः स्वजातिगोत्रजनाः। बन्धमूलं बन्धस्य मूलं बीजभूतम्। स्वकुलोत्पन्ना दिग्देशेभ्य एकत्रीभूय नानासम्बन्धेन मनो बध्नन्ति। यदा कदाचिद् दुर्लंघ्यभवितव्यतावशेन तेषां वियोगे मृते द्विषं गते वा तन्निष्ठरागिणां प्रभूतशोकः प्रारभते तेन जनयति तीव्रासातं कर्म तद्विपाकेन संसारे पाकः पुनश्च तत्सम्बन्धे सञ्जातेऽत्रुटद्भवनिगडो दृढीभवेदिति हेतोः परमार्थेन बन्धवो बन्धमूलं मोहिनां व्यवहारेण सौख्यमूलम्। पुनश्च किम्? चिरपरिचितदारा चिरेण दीर्घकालेन परिचिता चित्ते समागता दारा स्त्री सा। आपद्गृहाणां आपद् आपत्तिः तासां गृहं निवासस्थानं तत्तेषाम्। द्वारं प्रवेशस्थानम्। विवाहात् पूर्वं चिरपरिचयागतस्त्री स्मरशरदाहेन हृदयं संदहति कुलीना चेत् स्ववशं करोति चाकुलीना वाच्यतागर्ते प्रवेशयति। उद्वाहानन्तरमपि चिरेण सन्तुष्टा भवेन्न वेति को जानीते। सुतविहीना पुत्रीयति सुताप्रसूते च न तुष्यति। निर्धने न गणयति स्वामिनि सधने च बहुलं वाञ्छति। कुलाचारदूषिता तु सर्पमुखगतछछूंदर इवोभयथा त्यजनात्यजने कष्टप्रदा। इत्यादिभूरिक्लेशप्रवेशद्वारि-स्थिता दारा कोटिजिह्वाद्वारेण विधात्राऽपि न वक्तुं शक्येति परमार्थाभिप्रायो गृहस्थं प्रति। किं बहुना यस्य संसर्गमात्रेण यतिभावोऽपि कलङ्क्यते। तथा च किं भूताः? पुत्राः शत्रवः। इवेत्यर्थः। आज्ञाप्रत्यनीकाः पुत्रा शत्रव इव लोकेऽवभासन्ते। आज्ञाऽनु-कूला अपि शत्रव इव मोहविवर्धनात्। यतो मोह एव शत्रुस्ततः कार्ये कारणोपचारात् व्यवहारेण सुष्ठूक्तम्।

ये बन्धु जन बन्ध के मूल हैं, बीजभूत कारण हैं। अपने कुल में उत्पन्न हुए बन्धुजन अनेक दिशाओं और अनेक स्थानों से एक होकर अनेक सम्बन्धों से मन को बाँधते हैं। जब कभी अवश्य घटित होने वाली भवितव्यता के कारण उन बन्धुओं का वियोग होता है, मरण होता है या वे द्वेष करने लगते हैं तो उन बन्धुओं में राग रखने वालों को खूब शोक होता हैं। उस शोक से तीव्र असाता कर्म उत्पन्न होता है। उस कर्म का संसार में फिर फल मिलता है। पुनः यदि उनसे सम्बन्ध होता है तो नहीं टूटने वाली यह संसार की शृंखला और दृढ़ हो जाती है। इसी कारण से परमार्थ से बन्धुजन बन्ध के मूल कारण हैं किन्तु मोही जनों को व्यवहार से सुख के मूल कारण लगते हैं। दीर्घकाल से चित्त में बैठी स्त्री परिचित स्त्री है। वह अनेक आपत्तियों के स्थान का प्रवेश द्वार है। विवाह से पहले चिर परिचय को प्राप्त हुई स्त्री कामबाणों की दाह से हृदय को जलाती है। वह स्त्री यदि कुलीन होती है तो अपने वश में कर लेती है और यदि अकुलीन होती है तो निन्दा, तिरस्कार के गर्त में प्रवेश करा देती है। विवाह के बाद भी वह बहुत काल तक सन्तुष्ट रहे न रहे, कौन जानता है? पुत्र रहित होती है तो पुत्र की इच्छा करती है। पुत्री के उत्पन्न होने पर सन्तुष्ट नहीं होती है। निर्धन पति को वह कुछ नहीं समझती है और धन सहित पति होने पर और अधिक धन की इच्छा करती है। वह विवाहित स्त्री यदि कुलाचार से दूषित होती है तो सांप के मुख में गई छछूंदर की तरह छोड़ने, न छोड़ने में दोनों प्रकार से कष्टप्रद हो जाती है। इत्यादि अनेक क्लेशों के प्रवेशद्वार रूप स्त्री के विषय में कुछ भी कह पाना शक्य नहीं है। इस तरह गृहस्थों के लिए परमार्थ के अभिप्राय से स्त्री के विषय में बताया है। बहुत क्या कहे ? इसकी संगति मात्र से यतिपना भी कलंकित हो जाता है। पुत्र शत्रु हैं। आज्ञा के विपरीत हुए पुत्र संसार में शत्रु दिखाई देते हैं। आज्ञा के अनुकूल हुए पुत्र भी मोह बढ़ाने वाले होने से शत्रु हैं। मोह ही शत्रु है इसलिए कार्य

परमार्थतस्तु पुत्राः शत्रव एवेति सगरचक्रिपुत्रवत्। एतत् सर्वं बन्धुदारापुत्रादिकम्। विपरिमृशत विचारं कुरुत। वि परिपूर्वकं 'मृशौ आमर्शे' इति धो र्मध्यमपुरुषबहुवचनान्तं लोटि। विचार्य किं कर्त्तव्यम्? त्यजत त्यागं कुरुत। 'त्यजौ त्यागे' इति धो र्लोट् म० पु० बहुवचनान्तम्। शर्मकामाः शर्म सुखं कामयन्ते ते सुखैषिणः इत्यर्थः। निर्मलं मोहमदमायारोषरहितम्। धर्मं शुभधामनि धातारम्। भजत समाचरत। मालिनीवृत्तं ॥६०॥

सर्वमेतत् केन कारणेन नोपकारमित्याशङ्कामपाकुर्वन्नाह–

(शार्दूलविक्रीडित)

तत्कृत्यं किमिहेन्धनैरिव धनैराशाग्निसंधुक्षणैः,
सम्बन्धेन किमङ्ग शश्वदशुभैः सम्बन्धिभिर्बन्धुभिः।
किं मोहाहिमहाबिलेन सदृशा देहेन गेहेन वा,
देहिन् याहि सुखाय ते शममम‍ुं मा गाः प्रमादं मुधा ॥६१॥

अन्वयः–देहिन् आशाग्निसंधुक्षणैः धनैः इन्धनैः इव इह तत्कृत्यं ते किम्, अङ्ग! शश्वत् अशुभैः सम्बन्धिभिः बन्धुभिः सम्बन्धेन किम्, मोहाहिमहाबिलेन सदृशा देहेन गेहेन वा किम्, (अतः) सुखाय अमुं शमं याहि मुधा प्रमादं मा गाः।

में कारण का उपचार करने से व्यवहार से अच्छे कहे जाते हैं किन्तु परमार्थ से तो पुत्र शत्रु ही हैं। जैसे सगर चक्रवर्ती को अपने पुत्रों के व्यामोह के कारण वैराग्य नहीं हो पा रहा था। इस प्रकार सभी बन्धु,स्त्री, पुत्र आदि परिजन के बारे में अच्छी तरह विचार करो। विचार करके इनका त्याग करो। यदि तुम सुख की चाह रखते हो तो मोह, मद, माया, रोष से रहित शुभ स्थान में रखने वाले निर्मल धर्म का आचरण करो। यहाँ मालिनी छन्द है ॥६०॥

उत्थानिका–यह सब किस कारण से उपकारक नहीं है, इस आशंका को दूर करते हुए कहते हैं–

अन्वयार्थ–(देहिन्) हे जीव! **(आशाग्नि-संधुक्षणैः)** आशा की अग्नि को बढ़ाने वाले **(धनैः इन्धनैः इव)** ईंधन धनरूप से **(इह)** यहाँ **(तत्कृत्यम्)** धन सम्बन्धी कार्य है **(ते)** उससे **(किम्)** क्या प्रयोजन है? **(अङ्ग!)** हे प्राणिन् **(शश्वत्)** निरन्तर **(अशुभैः सम्बन्धिभिः)** अशुभ सम्बन्धी **(बन्धुभिः)** बन्धुओं के साथ **(सम्बन्धेन)** सम्बन्ध से **(किम्)** क्या? **(मोहाहिमहा-बिलेन)** मोह रूपी सर्प के महाबिल **(सदृशा)** समान **(देहेन)** देह **(गेहेन वा)** अथवा घर से **(किम्)** क्या **(इसलिए)**

जिनसे तृष्णा अनल दीप्त हो इंधन सम क्या उस धन से?।
पाप जनक संबंध रहा है जिनका क्या उन परिजन से?।
मोह नाग का विशाल बिल सम गेह रहा क्या, क्या तन से?।
भज समता देही! सुख-वांछक! प्रमाद तज तू तन मन से! ॥६१॥

तदित्यादि। देहिन् हे शरीरधारक! आशाग्निसंधुक्षणैः तृष्णादाहविवर्धकैः। आशा तृष्णा एव अग्निस्तस्य संधुक्षणं विवर्धनमुद्दीपनं वा तैः। धनैः रूप्यसुवर्णादिकैः। कैरिव? इन्धनैः इव इन्धनमग्नेरु-द्दीपकसामग्री तैः। इव औपम्यार्थे। इह अस्मिन् लोके। तत्कृत्यं तद्धनं कृत्यं कार्यं प्रयोजनम् वा। ते तव भव्यजनस्य। किमिति प्रश्ने निषेधात्मके काकुः। तेन न किमपि प्रयोजनमित्यर्थः। एवमग्रेऽपि योज्यम्। अङ्ग! हे वत्स! शश्वदनवरतम्। अशुभैः पापप्रदायकैः। सम्बन्धिभिः विवाहपरिचयादिना सञ्जातः सम्बन्धः कथ्यते। तदस्यास्तीति सम्बन्धी मत्वर्थीयः इन् प्रत्ययात्। तैः श्वशुरमातुलमित्रश्यालजामातृभ्रात्रीयादिभिः। बन्धुभिः स्वजनैः मातृपुत्रादिकैः। तैः सह सम्बन्धेन परिचयेन किं तत्कृत्त्यं ते इति सम्बन्धनीयम्। मोहाहिमहाबिलेन मोह एव अहिः सर्पः तस्य महच्च तद्बिलं विवरं तेन मोहरूपमहासर्पाय पुत्तिका बल्मीकेन। सदृशा समानेन। समानमिव पश्यतीति सदृशः। ''दृग्दृशदृक्षेषु समानस्य सः'' इति सूत्रात्। देहेन शरीरेण। गेहेन गृहेण स्त्रीजनेन। वा विकल्पे। किम् तत्प्रयोजनं ते। अतः अस्मात् कारणात् इति वाक्यशेषः। सुखाय सुखार्थम्।'तादार्थ्ये' इति सूत्रात् चतुर्थी। अमुं तमुपरिगदितम्। अदस्शब्दस्य द्वितीयायामेकवचनान्तम्। शमं शमनं। याहि उपैहि प्राप्तिं कुरु इत्यर्थः। 'या प्रापणे' इति धोर्लोङन्तरूपम्। मुधा व्यर्थम्। प्रमादं

इसलिए **(सुखाय)** सुख के लिए **(अमुं)** तुम **(समं)** समभाव को **(याहि)** प्राप्त करो **(मुधा)** व्यर्थ में **(प्रमादं)** प्रमाद को **(मा गाः)** मत प्राप्त होओ।

अर्थ—हे प्राणी! तू व्यर्थ ही प्रमाद को मत प्राप्त हो। सुख के लिए समभाव को प्राप्त कर। धन से क्या प्रयोजन है। यह धन तो आशारूप अग्नि को प्रज्वलित करने हेतु ईंधन के तुल्य है। हे मित्र! अशुभ का उपार्जन करने वाले इन सम्बन्धियों और बंधुओं से क्या प्रयोजन? महामोह रूप सर्प के बिल समान इस शरीर से भी क्या सिद्धि? अथवा घर से भी क्या? वे सब सुख के कारण नहीं है। सुख तो समभाव में है अतः प्रमाद छोड़कर उसे ही प्राप्त कर।

टीकार्थ–हे शरीर धारक! तृष्णा रूपी दाह को बढ़ाने वाली चाँदी, स्वर्ण आदि धन सामग्री है। जैसे अग्नि की उद्दीपक सामग्री ईंधन है, उसी प्रकार तृष्णा को बढ़ाने की सामग्री धन है। इस लोक में इस धन से तेरा क्या प्रयोजन सिद्ध होगा ? हे वत्स! विवाह, परिचय आदि के द्वारा उत्पन्न सम्बन्ध पाप को देने वाले हैं। ऐसे श्वसुर, मामा, मित्र, साला, जमाई, भतीजा आदि सम्बन्धियों से और माता पुत्र आदि अपने बन्धुओं के साथ सम्बन्ध से तेरा क्या कार्य बनेगा ? मोह रूपी बड़े बिल के समान शरीर और गृह से क्या कार्य है ? जैसे सर्प के लिए बामी होती है वैसे मोह के लिए यह शरीर है। यहाँ गृह शब्द से स्त्री समझना। इसलिए सुख के लिए सम भाव को प्राप्त होओ। अपनी आत्म कुशलता का स्खलन प्रमाद है। इस प्रमाद को मत करो। इस अनादि संसार में महामोह रूपी सर्प के खुले हुए बिल रूप मुख में प्रवेश का प्रथम कारण यह प्रतीति में आने वाली देह है। इसी देह के धारण, पोषण, रक्षण आदि कार्यों के साथ जैसे बने तैसे धन अर्जन के हजारों उपाय के द्वारा तृष्णा की अग्नि समूह से जलता है। सुखाभिलाषी को तो समभाव प्राप्त करना चाहिए। उस तृष्णा की पूर्ति के लिए ईंधन

स्वात्मकौशलस्खलनं तम्। मा गाः मा याहि।'माङि लुङ् ' इति सूत्रात् माङ् योगे 'इण् गतौ' इति धोर्लुङ् अडागमप्रतिषेधश्च। आ संसारत इह महामोहोरग-विजृम्भितबिलमुखस्याद्यकारणमिदंप्रतीयमानं देहं च तद् धारणपोषणरक्षणादिकार्यैः यथास्यात्तथा वित्तार्जनोपायसहस्रेण तृष्णाज्वालाजाल प्रज्वलितस्तत्-पूरणार्थैधस्स्मर विषविषमताविकलान्तः-करणस्तद्विषविमोचनार्थमन्योरगिनीतुल्याङ्गनाबिले प्रविष्टः संतताकुलताकारणभूतभूरिसम्बन्धिबन्धान-बद्धोऽन्योऽन्याश्रितकारणप्रसक्तोऽधुना मा प्रमादं गच्छ भव्यपुण्डरीक! साम्यदेवतामालम्बयेति भावः। यदुक्तं च-

''मुक्त्वालसत्वमधिसत्त्वबलोपपन्नः स्मृत्वा परां च समतां कुलदेवतां त्वम्।
संज्ञानचक्रमिदमङ्ग गृहाण तूर्णमज्ञानमन्त्रियुतमोहरिपूपमर्दि॥'' शार्दूलविक्रीडितवृत्तम् ॥६१॥

अथ मोहोत्पन्नलक्ष्मीश्चपलेत्युद्योतयन्नाह-

(शार्दूलविक्रीडित)

आदावेव महाबलैरविचलं पट्टेन बद्धा स्वयं,
रक्षाध्यक्षभुजासिपञ्जरवृता सामन्तसंरक्षिता।
लक्ष्मीर्दीपशिखोपमा क्षितिमतां हा पश्यतां नश्यति
प्रायः पातितचामरानिलहतेवान्यत्र काशा नृणाम् ॥६२॥

कामरूपी विष की विषमता से दुःखी मन वाला हो जाता है। फिर उस विष को दूर करने के लिए अन्य सर्पिणीरूपी स्त्री के बिल में प्रविष्ट होता है। निरन्तर आकुलता के कारणभूत अनेक सम्बन्धियों के बन्धन से बँधा हुआ परस्पर आश्रित कारणों में संलग्न रहता है। हे भव्यपुण्डरीक! अब प्रमाद मत करो और साम्य देवता का आलम्बन लो। कहा भी है-

''आलस को छोड़कर अपने सत्त्व, बल को उत्पन्न करते हुए उत्कृष्ट समता कुलदेवता का स्मरण करके हे वत्स! इस परमार्थ ज्ञान के चक्र को ग्रहण करो क्योंकि यह ज्ञानचक्र ही शीघ्र अज्ञानरूपी मन्त्री से सहित मोह शत्रु को नष्ट करने वाला है।'' यहाँ शार्दूलविक्रीडित छन्द है ॥६१॥

उत्थानिका—अब मोह से उत्पन्न राज्य लक्ष्मी चंचल होती है, वह भी त्याज्य है, यह दिखाते हुए कहते हैं-

अन्वयार्थ—(क्षितिमतां) राजाओं की **(लक्ष्मी)** लक्ष्मी **(आदौ एव)** पहले तो **(महाबलैः)** महाबलवानों के द्वारा **(स्वयं)** स्वयं **(पट्टेन)** पट्ट से **(अविचलं)** अविचल रूप से **(बद्धा)** बाँधी गई

सेनापति औ बली जनों के सर्वप्रथम आश्रित रहती।
सैनिक रक्षित, असिधर रक्षक, - दल से फिर आवृत रहती ॥
चमर अनिल से दीप शिखा सम, झट नरपति श्री भी मिटती।
भला बता फिर साधारण जन की लक्ष्मी की क्या गिनती ॥६२॥

अन्वयः—क्षितिमतां लक्ष्मीः आदौ एव महाबलैः स्वयं पट्टेन अविचलं बद्धा रक्षाध्यक्ष-भुजासिपञ्जरवृता सामन्तसंरक्षिता प्रायःपातितचामरानिलहता इव दीपशिखोपमा हा पश्यतां नश्यति अन्यत्र नृणां का आशा।

आदावेवेत्यादि। क्षितिमतां क्षितिः पृथ्वी साऽस्यास्तीति क्षितिमान्। अत्र संसर्गेऽर्थे मतुः प्रत्ययः। ''तदस्यास्त्यस्मिन्निति मतुः'' इति वचनात्। यदुक्तम्—''भूमि-निंदाप्रशंसासु नित्ययोगेऽतिशायने। संसर्गेऽस्तिविवक्षायां प्रायो मत्वादयो मताः॥'' इति वचनाच्च। तेषां राज्ञामित्यर्थः। काऽसौ? लक्ष्मीः सम्पत्तिः पुत्रादिवैभवो वा। ''लक्ष्मीः श्रीशिवसम्पत्तिपद्माशोभाप्रियङ्गुषु।'' इति वि० प्र०। आदौ प्रथमे। एवावधारणार्थे। महाबलैः महच्च तद्बलं सैन्यं महाबलं तैः। अथवा महांश्चासौ बलोऽङ्गो महाबल-स्तैर्मन्त्रीसेनापत्यादिभिः। ''बलो हलिनि दैत्येऽङ्गे'' इति वि० लो०। स्वयं कारणान्तर-मनपेक्ष्य। पट्टेन राजासनेन राजशासनेन वा। बद्धा नियुक्ता। महाबलैर्मन्त्रीसेनापति-पुरोहितादिमान्यपुरुषैः सिंहासने राजा प्रतिष्ठिता तेन सह लक्ष्मीरपि बद्धेति सूचिता। तथा च कथंभूता? रक्षाध्यक्षभुजासिपञ्जरवृता रक्षायामध्यक्षा प्रमुखाः अङ्गरक्षास्तेषां भुजेषु असिपञ्जरः खड्गसमूहस्तेन वृता युक्ता सा। तथा किं विशिष्टा? सामन्तसंरक्षिता सामन्तैः बहिः सीमावर्ति-राजवर्गैः संरक्षिता या सा। अर्धमण्डलीकराजादिनाऽना-क्रमणात् संरक्षिता। एवंविधिना रक्षिताऽपि सा कथंभूता? प्रायः पातितचामरानिलहता प्रायः बाहुल्येन पातितानि

(रक्षा-ध्यक्ष-भुजा-सि-पञ्जर वृता) रक्षाधिकारी की भुजाओं में स्थित तलवार समूह से जो घिरी है। **(सामन्तसंरक्षिता)** जो सामन्तों से रक्षित है **(प्रायः—पातित-चामरानिलह ता इव)** प्रायः ढुरते हुए चामरों की पवन से ताड़ित हुई के समान **(दीप-शिखोपमा)** दीपक की लौ की उपमा को प्राप्त हुई **(हा)** खेद है **(पश्यतां)** देखते-देखते **(नश्यति)** नष्ट हो जाती है **(अन्यत्र)** तो अन्य **(नृणां)** साधारण मनुष्यों की **(का आशा)** लक्ष्मी की स्थिरता की क्या आशा की जा सकती है?

अर्थ—राज्य लक्ष्मी को चपल जान कर पहले तो इसे बलवान पुरुषों द्वारा पट्टबंध के बहाने निश्चल बाँधा गया फिर रक्षाधिकारियों द्वारा खड्ग से रक्षा की गई, सामन्तों ने इसकी सुरक्षा की, फिर भी यह दीपशिखा के समान चंचल ढुरते चमरों की पवन से देखते-देखते नष्ट हो जाती है। जब विपुल राज्यलक्ष्मी की यह दशा है तो सामान्य मनुष्यों के पास लक्ष्मी के रहने की क्या आशा?

टीकार्थ–महती सेना के द्वारा अथवा मन्त्री, सेनापति आदि महाबलवानों के द्वारा बिना किसी कारण के स्वयं ही राजा के आसन से या राजा की आज्ञा से राजाओं की लक्ष्मी निश्चल होकर बंधी रहती है। तात्पर्य यह है कि मन्त्री, सेनापति, पुरोहित आदि मान्य पुरुषों के द्वारा राजा को सिंहासन पर प्रतिष्ठित किया जाता है। राजा के साथ उसकी लक्ष्मी भी बँध जाती है। जो अंगरक्षक हैं उनकी भुजाओं में तलवारें होती हैं। उन तलवारों से वह लक्ष्मी घिरी रहती है तथा बाहरी सीमावर्ती राजा के समूहों से भी वह लक्ष्मी रक्षित रहती है। अर्थात् अर्धमण्डलीक राजा आदि के द्वारा भी आक्रमण नहीं किए जाने से वह संरक्षित होती है। इस प्रकार से रक्षित लक्ष्मी भी प्रायः करके दोनों बाजू में ढुरते हुए चामरों की

उभयपार्श्वे निक्षिप्तानि च तानि चामराणि प्रकीर्णकानि च तेषामनिलो वायुस्तेन हता विनष्टा सा। इव उपमायाम्। स्फटिकमणिप्रभृतिबहुमूल्य-सिंहासनस्थितराजोपरिविधूतचामरव्याजेन लक्ष्म्यारस्थैर्यमुक्तम्। अपरा किंभूता? दीपशिखोपमा दीपस्य शिखा ज्वाला इवोपमा यस्याः साऽतीव चपलेत्यर्थः। ''अतिपरुषपवनविलुलितदीपशिखाचञ्चला लक्ष्मीः।'' इत्युक्तेः। हा विषादे। पश्यतां नश्यति दृष्टनष्ट इत्यर्थः। अन्यत्र अन्यवस्तुनि। नृणां मनुष्याणाम्। का आशा। तेषां कथं स्थैर्यमिति। चक्रिराजसुराणामपि लक्ष्मीरेवं पुण्यवतां चञ्चला तथापि निःपुण्य-वतामाशेति विस्मयः। शार्दूलविक्रीडितवृत्तम् ॥६२॥

अथ धनस्य चापल्यमुक्त्वा देहस्य दशामाह–

(अनुष्टुप्)

दीप्तोभयाग्रवातारिदारूदरगकीटवत् ।
जन्ममृत्युसमाश्लिष्टे शरीरे वत सीदसि॥६३॥

अन्वयः—शरीरे जन्ममृत्युसमाश्लिष्टे दीप्तोभयाग्रवातारिदारूदरगकीटवत् वत सीदसि।

दीप्तोभयेत्यादि। शरीरे सप्ताशुचिधातुविनिर्मिते। कथम्भूते? जन्ममृत्यु-समाश्लिष्टे जन्म

हवा से दीपक की लौ की भाँति नष्ट हो जाती है। स्फटिकमणि आदि के बने बहुमूल्य सिंहासन पर स्थित राजा के ऊपर हिलने वाले चमरों के छल से लक्ष्मी की चंचलता ही दिखाई देती है। तथा वह लक्ष्मी दीपक की लौ के समान अत्यन्त चंचल होती है जो देखते-देखते नष्ट हो जाती है। तब अन्य साधारण मनुष्यों की लक्ष्मी की स्थिरता की क्या आशा? चक्रवर्ती, राजा और दोनों जैसे पुण्यवानों की लक्ष्मी भी इस प्रकार अस्थिर रहती है तो फिर पुण्य रहित जीव उसी लक्ष्मी की आशा रखता है, यह बड़ा विस्मय है। यहाँ शार्दूलविक्रीडित छन्द है ॥६२॥

उत्थानिका—धन की चपलता कहकर अब देह की दशा कहते हैं–

अन्वयार्थ–(शरीरे) शरीर **(जन्म-मृत्यु-समाश्लिष्टे)** जन्म मृत्यु से सहित है, उसमें **(दीप्तो-भयाग्र-वातारि-दारूदरगकीटवत्)** एरण्ड की (पोली) लकड़ी के दोनों ओर जलने वाली अग्नि के भीतर स्थित कीड़े की तरह **(वत)** खेद है **(सीदसि)** (यह जीव) कष्ट पाता है।

अर्थ—जन्म-मरण से व्याप्त इस शरीर में यह जीव वैसे ही कष्ट पाता है जैसे दोनों सिरों पर लगी अग्नि काली एरण्ड की लकड़ी के बीच में आया हुआ कीड़ा कष्ट पाता है।

टीकार्थ–यह शरीर सात अपवित्र धातुओं से बना है और जन्म, मृत्यु से संयुक्त है। नवीन पर्याय

जनन-मरण से व्याप्त रहा है जड़मय तेरा यह तन है।
खेद, खेद का अनुभव करता तन में स्थित हो निशिदिन है॥
अग्नि लगी एरण्ड काष्ठ में दोनों मुख जिसके जलते।
जैसे उसमें स्थित कीड़े हा! दुख पाते मरते जलते॥६३॥

नवपर्यायप्राप्तिः। मृत्युर्जीर्णपर्यायच्युतिः। जन्म च मृत्युश्च जन्ममृत्यू ताभ्यां समाश्लिष्टो युक्तस्तस्मिन्। कथम्? दीप्तोभयाग्रवातारिदारूदरगकीटवत् दीप्ते प्रज्वलिते उभयाग्रे मुखद्वये यस्य तच्च वातारिदारू एरण्डकाष्ठं तस्य उदरे जठरे गच्छतीति उदरगः मध्यगतः स चासौ कीटः कीटकविशेषः तद्वत्। वत खेदे। सीदसि कष्टमनुभवसि। ''सदल विशरणगत्यवसादनेषु'' लट्। एरण्डकाष्ठे यथा कोऽपि कीटः प्रविष्टस्तथाऽस्मिन् देहे जीवात्मा तिष्ठति। उभयमुखभागे काष्ठे ज्वलिताग्निवदयं जन्तुर्जन्ममृत्यु-द्वयाग्निनोभयतो देहकाष्ठं दग्धं कृत्वाऽनवरतं क्लेशमनुभवतीत्यर्थः॥ अनुष्टुप्छन्दः॥६३॥

एवंविधशरीराश्रितेन्द्रियसमूहैरनेकप्रकारं दुःखं भवतीत्याचष्टे–

(शार्दूलविक्रीडित)

नेत्रादीश्वरचोदितः सकलुषो रूपादिविश्वाय किं,
प्रेष्यः सीदसि कुत्सितव्यतिकरैरंहांस्यलं बृंहयन्।
नीत्वा तानि भुजिष्यतामकलुषो विश्वं विसृज्यात्मवा-
नात्मानं धिनु सत्सुखी धुतरजाः सद्वृत्तिभिर्निर्वृतः ॥६४॥

की प्राप्ति होना जन्म है। जीर्ण पर्याय की च्युति मरण है। एरण्ड की लकड़ी के दोनों ओर अग्नि लगी हो और बीच में कोई कीड़ा पड़ा हो ठीक उसी तरह खेद है कि तुम भी इस शरीर में कष्ट पा रहे हो। जैसे कोई कीड़ा एरण्ड की पोली लकड़ी में प्रवेश कर गया हो वैसे ही जीवात्मा इस देह में रहता है। दोनों मुख भाग में लगी अग्नि की तरह जन्म, मृत्यु हैं। इन दोनों अग्नि से यह शरीर रूपी काठ जल रहा है और इसमें बैठा जीव निरन्तर कष्ट का अनुभव करता है। यहाँ अनुष्टुप् छन्द है॥६३॥

उत्थानिका–इस प्रकार शरीर आश्रित इन्द्रिय समूहों से अनेक प्रकार के दुःख होते है यह कहते हैं–

अन्वयार्थ–(नेत्रादीश्वर-चोदितः) नेत्र आदि इन्द्रिय के स्वामी से प्रेरित हुआ **(सकलुषः)** कलुषता से सहित **(प्रेष्यः)** दास हुआ **(रूपादिविश्वाय)** रूप आदि सभी के लिए **(कुत्सित-व्यतिकरैः)** बुरे व्यापारों के द्वारा **(अंहांसि)** पापों को **(अलं)** खूब **(बृंहयन्)** बढ़ाता हुआ **(किं)** क्यों **(सीदसि)** दुःखी होता है **(तानि)** उन इन्द्रियों को **(भुजिष्यतां)** दास **(नीत्वा)** बनाकर **(अकलुषः)** कलुषता रहित हो **(विश्वं)** सभी विषयों को **(विसृज्य)** छोड़कर **(आत्मवान्)** आत्मवान् **(आत्मानं)** अपनी आत्मा को **(धिनु)** सुखी बना। **(सत्सुखी)** अच्छी तरह सुखी हुआ **(धुतरजाः)**

दुराचार कर अघ करता क्यों दुखित हुवा सम नौकर के।
इन्द्रिय पति मन से प्रेरित हो सुख पाने सुध खोकर के॥
विषय त्याग, बन इन्द्रिय विजयी इन्द्रिय तेरे दास बने।
अकलुष निज लख शिव सुख पाने पाल चरित, विधि नाश घने ॥६४॥

अन्वयः—नेत्रादीश्वरचोदितः सकलुषः प्रेष्यः रूपादिविश्वाय कुत्सित-व्यतिकरैः अंहांसि अलं बृंहयन् किं सीदसि तानि भुजिष्यतां नीत्वा अकलुषः विश्वं विसृज्य आत्मवान् आत्मानं धिनु सत्सुखी धुतरजाः सद्वृत्तिभिः निर्वृतः।

नेत्रेत्यादि। नेत्रादीश्वरचोदितः नेत्रमादिः प्रमुखः सर्वेन्द्रियेषु तदेवेश्वरः स्वामी तेन चोदितः प्रेरितः सः। सर्वविकल्पोपत्तेर्मूलकारणं नेत्रेन्द्रियमित्युक्तम्। यद्वा आदिशब्दः प्रकारवाची। तेन स्पर्शादीनां ग्रहणं कर्त्तव्यम्। यद्वा नेत्रादीनामीश्वरो मनो मन्यते। मन एव सर्वेन्द्रियाणां स्वस्वविषये नियुज्यमानत्वान् नियोक्ताऽभिहितः। तेन किम्? सकलुषः कलुषेन कषायेण सह वर्त्तते सः। मनः प्रेरितोऽयमात्मा कालुष्यवान् भवति। ततः किम्? प्रेष्यः किंकरः। प्रेष्यः इव प्रेष्यः। 'देवपथादिभ्यः' इति कस्योश् भवति। किंकरसदृशो मनोराजचोदितोऽयमात्मा दासत्वमनुकुरुते हृषीकपञ्चकाना-मित्यर्थः। किमर्थम्? रूपादिविश्वाय रूपं नेत्रेन्द्रियस्य विषयः तदेवादिस्तस्य विश्वं सम्पूर्णता तेभ्यो रूपादिसमस्तविषयनिमित्तमिति। किं प्रकारैः? कुत्सितव्यतिकरैः निकृष्टव्यापारैः। अंहांसि पापानि। अलमत्यर्थम्। बृंहयन् वृंहयतीति वृद्धिं नयन्। किं किमर्थम्। सीदसि क्लेशमनुभवसि। हे भव्य इति शेषः। तानि नेत्रादिसर्वेन्द्रियाणि। भुजिष्यतां दासत्वम्। भृत्यार्थे 'नियोज्य किंकरप्रैष्यभुजिष्यपरिचारकाः' इत्यमरः। नीत्वा प्राप्य। अकलुषः कालुष्यरहितः। भूत्वेति शेषः। इन्द्रियाणां दासत्वे आत्मा सकलुषः स्यात् पुनरात्मनो दासत्वेऽकलुष इत्यर्थः। विश्वं सकल-

---

पाप रज धोकर **(सद्वृत्तिभिः)** समीचीन चारित्र के पालन से **(निर्वृतः)** मुक्त हो जाता है।

अर्थ—हे जीव! नेत्रादि इन्द्रियों रूप स्वामी से अथवा इन्द्रियों के स्वामी मन से प्रेरित दास के समान अति व्याकुल हुआ रूपादि विषयों के भोग के लिए क्यों खेद खिन्न होता है? अनेक खोटे आचरण कर पापों को बढ़ाते हुए क्यों दुःखी होता है? अब इन्द्रियों को दास बनाकर कलुषता रहित, हो सभी विषयों का त्याग कर ध्याननिष्ठ होकर अपनी आत्मा को सुखी बना। पाप पंक को धोकर उत्तम आचरण कर मुक्त हो, संसार से निर्वृत हो।

टीकार्थ—तुम सभी इन्द्रियों में प्रमुख नेत्रेन्द्रिय रूपी स्वामी से प्रेरित हुए हो। तुम्हें यह समझना चाहिए कि मन में उत्पन्न होने वाले सभी विकल्पों का मूल कारण नेत्र इन्द्रिय है। यहाँ 'नेत्रादि' में आदि शब्द के दो अर्थ हैं। एक आदि अर्थात् प्रमुख। इस अर्थ को कह दिया है। दूसरा आदि अर्थात् स्पर्शन आदि इन्द्रियाँ। जिससे अर्थ होगा कि—तुम नेत्र, स्पर्शन आदि सभी इन्द्रियों से प्रेरित हुए हो। अथवा 'नेत्रादीश्वर' इस पद का तीसरा अर्थ यह है—कि नेत्र आदि इन्द्रियों का ईश्वर, स्वामी मन माना जाता है। मन ही सभी इन्द्रियों को अपने-अपने विषय में लगाता है। इसलिए मन को नियोक्ता कहा जाता है। इसी मन से प्रेरित हुआ यह आत्मा कालुष्य से सहित होता है। इसी कारण से यह दास के समान हो जाता हैं। मनरूपी राजा से प्रेरित हुआ यह आत्मा पाँचों इन्द्रियों का दासत्व स्वीकार लेता है। इन्द्रियों की दासता होने पर आत्मा कलुषता से सहित होता है और इन्द्रियाँ जब आत्मा की दास बन जाती हैं तो आत्मा कलुषता से रहित हो जाता है। इसलिए समस्त विषयों को छोड़कर इन्द्रियों को

वस्तुजातम्। विसृज्य विसर्जनं कृत्वा। आत्मवान् वश्येन्द्रियः। आत्मानं स्वकीयम्। धिनु प्रीणय। 'धूञ् कम्पने' इत्येतस्माद्धोः चुरादौ णावित्यधिकृत्य 'धूञ्प्रीञोर्नुग्वक्तव्यः' इत्यनेन लोट्। केचित्तु 'धूञ्प्रीणोः' इति पठित्वा प्रीणाति साहचर्याद्धुनतिरेव नुकमाहुः। अयं स्वादौ क्र्यादौ तुदादौ च। तथा च कविरहस्ये–

''धुनोति चम्पकवनानि धुनोत्यशोकं, चूतं धुनाति धुवति स्फुटितातिमुक्तम्।
वायुर्विधूनयति चम्पकपुष्परेणून्यत्कानने धवति चन्दनमञ्जरीश्च॥''

सत्सुखी सत् समीचीनं सुखमस्यास्तीति स। यद्वा सुखी सत् भवन्नित्यर्थः। धुतरजाः धुतं रजः ज्ञानावरणादिकर्म येन सः। सद्वृत्तिभिः वृत्तिः चर्या चारित्रं सामायिकच्छेदोपस्थापनापरिहार–विशुद्धि–सूक्ष्मसाम्पराययथाख्यातरूपं। सत् शोभना च वृत्तिः सद्वृत्तिः ताभिः। निर्वृतः निर्वृतिं निर्वाणं गतः। यदुक्तम्–

''विरम विरम सङ्गं मुञ्च मुञ्च प्रपञ्चं विसृज विसृज मोहं विद्धि विद्धि स्वतत्त्वम्।
कलय कलय वृत्तं पश्य पश्य स्वरूपं कुरु कुरु पुरुषार्थं निर्वृतानन्दहेतुम्॥''

शार्दूलविक्रीडितवृत्तम् ॥६४॥

कोऽसौ सत्सुखीति प्रवक्तुकामः प्राह–

(अनुष्टुप्)

अर्थिनो धनमप्राप्य धनिनोऽप्यवितृप्तितः।
कष्टं सर्वेऽपि सीदन्ति परमेकः सुखी सुखी ॥६५॥

अन्वयः–अर्थिनः धनं अप्राप्य धनिनः अपि अवितृप्तितः (दुःखिनः) कष्टं सर्वे अपि सीदन्ति परं एकः सुखी सुखी।

वश में करके अपनी आत्मा को प्रसन्न करो। 'धिनु' यह क्रियापद चुरादिगण की धातु का लोट लकार का है। इसके अलावा स्वादि, क्रयादि और तुदादि गण में भी यह धातु चली है। इसके प्रयोग 'कविरहस्य' ग्रन्थ में 'धूनोति' आदि लिखे हैं। जो मूल में द्रष्टव्य हैं। इस तरह समीचीन रूप से सुखी होते हुए ज्ञानावरण आदि कर्म रज को धो लेता है। समीचीन, शोभन चारित्र से यह आत्मा निर्वाण को प्राप्त कर लेता है। वृत्ति, चर्या और चारित्र एकार्थक है। यह पाँच प्रकार का है सामायिक चारित्र, छेदोपस्थापना चारित्र, परिहार विशुद्धि चारित्र, सूक्ष्म साम्पराय चारित्र और यथाख्यात चारित्र। इस तरह निर्वाणप्राप्ति का क्रम भी कहा है–''परिग्रह को छोड़ो, छोड़ो प्रपंचों को छोड़ो, छोड़ो, मोह को त्यागो, त्यागो, अपने तत्त्व को जानो, जानो। चारित्र को धारण करो, धारण करो, अपने स्वरूप को देखो, देखो। मोक्ष के आनंद के लिए पुरुषार्थ करो, पुरुषार्थ करो।'' ॥६४॥

धन का अभिलाषी नहिं धन पा, दुखी रहें निर्धनी सदा।
धन पाकर भी तृप्त नहीं हों दुखी रहें नित धनी मुधा॥
धनिक दुखी हैं दुखी निर्धनी खेद यहाँ सब देख दुखी।
अंतरंग बहिरंग संग तज निसंग मुनि बस एक सुखी॥६५॥

अर्थिन इत्यादि। अर्थिनः धनप्रार्थिनः। अर्थयन्ते कामयन्ते तेऽर्थिनो निरुच्यन्ते। धनं वित्तं वैभवादि। अप्राप्य प्राप्तिं न कृत्वा। धनिनः धनिकाः। धनमस्यास्तीति धनी ते। अपि च तथा। अवितृप्तितः असन्तुष्टात्। तृप्तिस्तोषः सन्तुष्ट इति यावत्। न विशिष्टा तृप्तिः अवितृप्तिः। तस्मादिति। 'पञ्चम्यास्तस्' इति का. सूत्रात्। असर्वनाम्नोऽप्यवधिमात्रात्तस्। दुःखिन इति वाक्यशेषः। अर्थिनो धनिनश्चे-त्युभयत्र योज्यः। कष्टं खेदार्थेऽव्ययपदम्। सर्वे सधना निर्धना वा। अपि निश्चये। सीदन्ति दुःखी भवन्ति। यदुक्तं–अर्थानामर्जने दुःखमर्जितानां च रक्षणे। आये दुःखं व्यये दुःखं धिगर्थाः कष्टसंश्रयाः। परं किन्तु। यद्वान्यार्थः परशब्दः। सधन-निर्धनेभ्योऽन्यः इत्यर्थः। एकः केवलोऽद्वितीयः। एकस्तु स्यास्त्रिषु श्रेष्ठे केवलेतरयोरपि' इति वि॰ लो॰। सुखी सुखमस्यास्तीति सुखाभिधः कश्चित्। सुखी सुखसात्। 'सुखादेः' इतीन् ॥६५॥

अथ कोऽत्र सुखी नाम कथं च भवतीत्याह–

(अनुष्टुप्)

परायत्तात् सुखाद् दुःखं स्वायत्तं केवलं वरम्।
अन्यथा सुखिनामानः कथमासंस्तपस्विनः ॥६६॥

उत्थानिका–कौन सुखी है, यह बताने की इच्छा से कहते हैं–

अन्वयार्थ–**(अर्थिनः)** निर्धनी **(धनं)** धन को **(अप्राप्य)** नहीं प्राप्त करके **(धनिनः अपि)** धनी लोग भी **(अवितृप्तितः)** अतृप्त होने से **(कष्टं)** कष्ट की बात है कि **(सर्वे अपि)** सभी हो **(सीदन्ति)** दुःखी होते हैं **(परम)** किन्तु **(एकः)** एक **(मुनिः)** मुनि(संतोषी) ही **(सुखी)** सुखी है।

अर्थ–धनाभिलाषी धन न पाकर दुःखी होता है, धनी व्यक्ति और अधिक धन पाने की लालसा से दुःखी रहता है। इन दोनों से भिन्न एक सन्तोषी व्यक्ति–मुनि ही सन्तोष धन पाकर सुखी होता है।

टीकार्थ–जो धन की इच्छा रखते हैं वे अर्थी कहलाते हैं। धन के इच्छुक धन, वैभव आदि को प्राप्त नहीं करके दुःखी होते हैं। जिनके पास धन है वे धनी असन्तुष्ट होने से दुःखी रहते हैं। खेद की बात है कि धनी या निर्धन, सभी निश्चित ही दुःखी रहते हैं। कहा भी है–''पहले तो धन का अर्जन (कमाने) करने में दुःख होता है। जिन्होंने इकट्ठा किया है उन्हें, उसकी रक्षा में दुःख होता है। धन आने पर दुःख है और व्यय होने पर भी दुःख है। धिक्कार है कि कष्ट का आश्रय यह धन ही है।'' किन्तु जो धनी, निर्धन से भिन्न है ऐसा कोई 'सुखी' नाम वाला सन्तोषी मुनि ही सुखी है ॥६५॥

उत्थानिका–कौन है यहाँ जिसका नाम 'सुखी' है और वह क्यों सुखी है, यह कहते हैं–

सुखाभास है केवल दुख है सुख जो पर के आश्रित है।
यथार्थ सुख तो शाश्वत शुचितम सुख यह निज के आश्रित है॥
ऐसा भी सुख मिल सकता क्या यदि मन शंकित इस विध है।
द्वादश विध तप तपते तापस सुखी सदा फिर किस विध है॥६६॥

अन्वयः—परायत्तात् सुखात् स्वायत्तं केवलं दुःखं वरं अन्यथा तपस्विनः सुखिनामानः कथं आसन्।

परायत्तादित्यादि। परायत्तात् पराधीनात्। आयत्तं अधीनत्वम्। परस्य आयत्तं परायत्तं तस्मात्। कस्मात्? सुखात् धनादिवैभवात्। 'भाग्यानुसारिणी लक्ष्मीः' इति निर्वचनात् सुखं प्रथमं कर्मणोऽधीनत्वम्। पौरुषेणैकं प्राप्य शतमिच्छति। शतमवाप्य सहस्रम्। सहस्रात् कोटित्वम्। कोटियुक्तो नृपत्वम्। नृपोऽपि चक्रित्वम्। चक्री च सुरत्वम्। इत्याद्युत्तरोत्तरमैश्वर्यवृद्धिराशावृद्धेः संसूचिका। तत्सुखरक्षणे परवस्तुरक्षणात् परायत्तता। तद्वियोगे वैक्लव्यम्। इति सुखं दुःखैरन्तरितम्। तथैव वैषयिकं सुखमिन्द्रियमनोऽधीनम्। यदुक्तम्—

''कर्मपरवशे सान्ते दुःखैरन्तरितोदये।
पापबीजे सुखेऽनास्था श्रद्धानाकांक्षणा स्मृता॥''

स्वायत्तं स्वाधीनम्। स्वस्यात्मनोऽधीनम्। केवलं इन्द्रियमनोविषयनिरपेक्षं। दुःखं तपश्चरणादि-जनितं। वरं श्रेष्ठम्। अन्यथा अन्यप्रकारेण। तपस्विनः मुनिनः। ''तपः सहस्राभ्यां विनिनौ'' इति तपसो विन् मत्वर्थीये तपस्वी ते।। सुखिनामानः सुखीति नामाभिधा वा येषां ते। कथं केन कारणेन। आसन् अभवन्।

अन्वयार्थ–**(परायत्तात्)** पराधीन **(सुखात्)** सुख से **(स्वायत्तं)** स्वाधीन **(केवलं)** केवल **(दुःखं)** दुःख **(वरम्)** अच्छा है **(अन्यथा)** अन्यथा **(तपस्विनः)** तपस्वी **(सुखिनामानः)** सुखी नाम वाले **(कथं आसन्)** कैसे होते ?

अर्थ—पराधीन सुख से स्वाधीन दुःख ही श्रेष्ठ है। ऐसा न होता तो तपस्वी मुनि 'सुखी' यह नाम कैसे पाते?

टीकार्थ–धन आदि वैभव से मिलने वाला सुख पराधीन है। कहा भी है कि–''लक्ष्मी भाग्य के अनुसार मिलती है।'' इसलिए यह सुख पहले तो कर्म के अधीन हुआ। पुरुषार्थ से यदि एक रुपया मिल जाता है तो सौ रुपये की इच्छा करता है। सौ रुपये प्राप्त करके हजार की इच्छा करता है। हजार प्राप्त करके करोड़ की इच्छा करता है। जो करोड़ धन से सहित है वह राजा बनना चाहता है। राजा भी चक्रवर्तीपने की इच्छा करता है। चक्री भी देव बनना चाहता है। इस तरह आगे–आगे ऐश्वर्य की वृद्धि तृष्णा की वृद्धि को दिखाती है। यह धन पर वस्तु है, इसके रक्षण से पराधीनता आती है। इस धन का वियोग होने पर खेद–खिन्नता होती है। इस तरह यह धन, वैभव का सुख, दुःख से घिरा है। यही स्थिति पंचेन्द्रिय विषयों से उत्पन्न सुख की है क्योंकि वह सुख भी इन्द्रियों और मन के अधीन होता है। इसीलिए कहा भी है–''कर्म के पराश्रित, अन्त सहित, दुःख से मिश्रित, पाप के बीज, सांसारिक सुख में अनास्था का श्रद्धान होना ही अनांकाक्ष गुण कहा है।''

अपनी आत्मा के अधीन होना स्वाधीन है। वह स्वाधीनता इन्द्रिय और मन के विषय से निरपेक्ष होती है। इसलिए केवल, आत्म मात्र है। इस स्वाधीनता से यह तपश्चरण आदि से उत्पन्न दुःख भी मिले तो वह श्रेष्ठ है। तभी तो ये तपस्वी 'सुखी' नाम वाले होते हैं। इसलिए धन सहित हो या धन

'असु भुवि' इति धोर्लङ् । ततः सधना निर्धना वाऽऽशावशवर्तित्वाद् दुःखिनः सञ्जाताः तपस्विनस्तु स्ववशवर्तित्वात् सुखिनः। 'को नरकः परवशता' इति सत्युमुक्तम्। आशाचोदितो जनो यानि दुःखानि परार्थमनुभवति शतांशेनापि यदि स्वार्थं कर्मनिर्जरार्थं मार्गाच्यवनार्थमनुभवेत्तर्हि सकलबाधारहिता-व्याबाधानन्तसुखरूपेण परिणतिः क्षिप्रं स्यात्। उक्तं च–

''अर्थार्थी यानि कष्टानि मूढोऽयं कुरुते जनः।
शतांशेनापि मोक्षार्थी तानि चेन्मोक्षमाप्नुयात्॥'' अनुष्टुप्छन्दः॥६६॥

अथ सुखिनां वृत्तिं प्रदर्शनार्थमाह–

(शिखरिणी)

यदेतत्स्वच्छन्दं विहरणमकार्पण्यमशनं,
सहार्यैः संवासः श्रुतमुपशमैकश्रमफलम्।
मनो मन्दस्पन्दं बहिरपि चिरायातिविमृशन्,
न जाने कस्येयं परिणतिरुदारस्य तपसः॥६७॥

रहित हो। दोनों ही जीव आशा (तृष्णा) के वशीभूत होने से दुःखी रहते हैं और तपस्वी स्ववश में रहने वाले हैं इसलिए सुखी हैं। प्रश्नोत्तर रत्नमाला में ठीक ही कहा है–''नरक क्या है?–पराधीन होना।'' तृष्णा से प्रेरित हुआ मनुष्य जिन दुःखों को दूसरे के लिए अनुभव करता है उन दुःखों को शतांश भी यदि अपने लिए, कर्मनिर्जरा के लिए, ''मार्ग से च्युत न हो जाऊँ'' इसलिए अनुभव करे तो समस्त बाधाओं से रहित अव्याबाध अनन्त सुख रूप से परिणमन इस जीव का शीघ्र ही हो जावे। कहा भी हैं–

''धन की इच्छा से यह मूर्ख मनुष्य जितने कष्ट सहता है उसका सौवां भाग भी मोक्ष की इच्छा से कष्ट सहन करे तो मोक्ष की प्राप्ति हो जावे।'' यहाँ अनुष्टुप् छन्द है॥६६॥

उत्थानिका–अब उन सभी जीवों की वृत्ति दिखाने के लिए कहते हैं–

अन्वयार्थ–**(यत्)** जो **(एतत्)** यह **(स्वच्छन्दं)** स्वतन्त्र **(विहरणं)** विहार है **(अकार्पण्यं)** बिना दीनता के **(अशनं)** भोजन है **(आर्यैः)** आर्य पुरुषों के **(सह)** साथ **(संवासः)** रहना है **(श्रुतं उपशमैक-श्रम-फलम्)** शास्त्र स्वाध्याय जनित परिश्रम के फल स्वरूप रागादि की उपशान्ति है, **(बहिःमनः)** बाह्य विषयों में मन **(मन्द-स्पन्दम्)** का वेग मन्द है, **(चिराय अतिविमृषन्)** चिरकाल तक अत्यधिक विमर्श करता हुआ **(अपि)** भी **(न जाने)** मैं नहीं जान पाया कि **(कस्य)**

निजाधीन हो विचरण करते बिना याचना अशन करें।
बुधजन संगति करते श्रुत का मनन करें मन शमन करें॥
बाह्य-द्रव्य में मन की गति कम, किस वर तप का सुफल रहा।
यह सब सोचा सुचिर काल पर, जान सका ना, विफल रहा॥६७॥

अन्वयः—यत् एतत् स्वच्छन्दं विहरणं, अकार्पण्यं अशनं, आर्यैः सह संवासः, श्रुतं उपशमैकश्रमफलं, बहिः मनः मन्दस्पन्दं, चिराय अतिविमृशन् अपि न जाने कस्य उदारस्य तपसः इयं परिणतिः।

यदित्यादि। यत् एतत् प्रत्यक्षविषयभूतम्। स्वच्छन्दं स्वायत्तं। विहरणं विहारः। निसङ्गस्येहलोक-निरापेक्षिकस्य नगरग्रामतीर्थधर्मायतनोपेतधरोपरि प्रभञ्जनवद् विहरतः क्वचित् क्वचित् स्थितस्य तत्रत्यं प्रति रागद्वेषमोहेभ्योऽननुविद्धचेतसः मनःकरणव्यापृतिं कूर्मवत् संङ्कुचितस्य निरवद्यपथेनानवरतं वैराग्य-शीकरकणैर्हृदयमभि-सिंच्यमानस्य यद्विहरणं तत्स्वच्छन्दमभिहितम्। अकार्पण्यं अदैन्यम्। कार्पण्यं लघुता दीनता वा। न कार्पण्यमित्यकार्पण्यम्। किं तत्? अशनं भुक्तिः। स्वात्मपात्रे दृग्ज्ञानवृत्तित्रयाणा-मेकत्वमिच्छतो धर्मशुक्लध्यानाग्निना परितोषप्राप्तस्य गात्रयात्रामात्रोद्देशिकस्य यत् किञ्चित् स्वहस्त-युगपुटेन धृतिप्रग्रहप्रगृहीतस्य ग्रहणमाचारसंहितानुसारेण तदकार्पण्यमशनमुक्तम्। आर्यैः शुद्धोपयोगार्हैः। सह साकम्। 'सहार्थेन' इत्यनेन भा। संवासः गमनागमननिवासः। निश्चयेन यद्यपि निर्विण्णविज्ञानसम्पन्नालये चिच्चिन्मात्रावभासे संवासस्तथापि दुःषमसमयमपेक्ष्य गुरुकुलवासः सर्वोत्तमोऽथ न, केनाऽर्येण सहेति।

किस **(उदारस्य)** विशाल **(तपसः)** तप की **(इयं)** यह **(परिणतिः)** परिणति है।

अर्थ—उन सुखी जीवों–मुनियों का स्वाधीन विहार है, दीनता रहित भोजन है, मुनियों के संघ में निवास है, शास्त्र स्वाध्याय के परिश्रम के फलस्वरूप रागादि का उपशमन है, मन का वेग मन्द होने से आत्मविचार में ही लीनता है, यह सब कौनसे उदार महान् तप का परिणाम है, इसे मैं बहुत काल से अतिशय विचार करने पर भी नहीं जानता हूँ।

टीकार्थ–निःसंग मुनि इस लोक सम्बन्धी इच्छाओं से निरपेक्ष होते हैं। वे नगर, ग्राम, तीर्थ, धर्मायतन से सहित इस धरा पर पवन की तरह विहरते रहते हैं। कहीं-कहीं ठहरते जाते हैं। जहाँ ठहरते हैं वहाँ के लोगों के प्रति भी राग, द्वेष, मोह उनके चित्त में नहीं आता है। मन और इन्द्रिय का व्यापार कछुए की तरह संकुचित होता है। वैराग्य की शीतल ठण्डी फुआर से भव्य जीवों के हृदय को सिंचित करते हुए निर्दोष रीति से उनका निरन्तर विहार होता है। उनका यह विहार ही स्वच्छन्द विहार है। कार्पण्य लघुता या दीनता को कहते हैं। उन मुनि का भोजन दीनता रहित होता है। अपने आत्म पात्र में सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र तीनों की एकता की इच्छा करने वाले धर्म, शुक्ल ध्यान की अग्नि से संतोष को प्राप्त मुनिराज का उद्देश्य शरीर यात्रा मात्र का होता है। अपने पाणिपात्र में आचार संहिता के अनुसार धैर्य रूपी डोरी को ग्रहण किए हुए साधु जो भोजन ग्रहण करते हैं, वह दीनता रहित भोजन कहा जाता है। शुभ और शुद्ध उपयोग वाले आर्यों (मुनियों) के साथ उनका उठना, बैठना, चलना और निवास होता है। निश्चय से तो वे यद्यपि निर्वेद और भेद-विज्ञान से सम्पन्न चित्चित् मात्र अवभास वाले आलय में ही रहते हैं। तथापि वर्तमान समय की अपेक्षा उनका गुरुकुल में वास होता है, यही सर्वोत्तम है। यदि गुरुकुल में रहना संभव न हो तो किसी आर्य (साधु) के साथ रहते हैं (अर्थात् एकाकी विचरण नहीं करते हैं) शास्त्र स्वाध्याय के परिश्रम के फलस्वरूप रागादि का

श्रुतं श्रवणमुपदेशस्य श्रुतिर्वा। कथंभूतम्? उपशमैकश्रमफलं उपशमः शान्तिः स एव एकः प्रधानः श्रमस्य प्रयासस्य फलं परिणतिस्तम्। परैरुपास्यः परस्य वोपासना इति निवृत्तविकल्पस्य द्वादशाङ्गावगमात्ततीव्र-भक्तिभावाद् भवस्य विनाश इति संवृत्तसङ्कल्पस्य वाचनादिधर्मोपदेशपर्यन्तं सकलश्रुतविकल्पं साफल्य-मर्हति। बहिः व्यवहारे। मनः चित्तवृत्तिः। मन्दस्पन्दं मन्दं स्वल्पकालं स्पन्दो विकल्पस्तत् मनसो विशेषण-मेतत्। 'आत्मज्ञानात्परं कार्यं न बुद्धौ धारयेच्चिरम्। कुर्यादर्थवशात्किञ्चि-द्वाक्कायाभ्यामतत्परः' इति सौत्रीमनुसर्त्य व्यवहरति। चिराय चिरकालम्। अव्ययपदमेतत्। अतिविमृशन् अतिविमृशतीति 'मृशौ आमर्शे' इति धोर्लङार्थे शतृप्रत्ययः। अपि एवम्। न निषेधार्थे। जाने जानामि। 'ज्ञा अवबोधने' इति धोर्लट्। कस्य उदारस्य महतः। तपसः पूर्वकृतपुण्यस्य। इयं दृश्यमाना। परिणतिः वृत्तिः चर्या। एवमाचार्यवर्यो महाश्चर्यं व्यनक्ति। शिखरिणीवृत्तम्॥६७॥

पुनरप्यन्यप्रकारेणाह–

(हरिणी)

विरतिरतुला शास्त्रे चिन्ता तथा करुणा परा
मतिरपि सदैकान्तध्वान्तप्रपञ्चविभेदिनी।
अनशनतपश्चर्या चान्ते यथोक्तविधानतो
भवति महतां नाल्पस्येदं फलं तपसो विधेः॥६८॥

उपशमन होता है। पर की उपासना के विकल्प से निवृत्त हुए द्वादशाङ्ग आगम के प्रति तीव्र भक्तिभाव से भव के विनाश के संकल्प से वाचना स्वाध्याय से धर्मोपदेश स्वाध्याय पर्यन्त सकल श्रुत को सफल करने हेतु प्रयासशील रहते हैं। आत्मेतर व्यवहार में उनके मन की वृत्ति बड़ी मन्द रहती है। कहा भी है–''बुद्धिमान अन्तरात्मा को आत्मा के चिन्तन, मनन, संवेदन रूप ज्ञान के सिवाय अन्य कोई काम अपने मन में बहुत समय तक धारण नहीं करना चाहिए। किसी संयोजन से यदि कुछ करे तो उदासीन रूप से अपने वचन और शरीर से करे यानी मन उस संसारी काम में न लगावे।'' निसंग मुनिराज भी ऐसी चर्या किस महान् तपस्या का फल है–यह मैं बहुत समय तक सोचने के पश्चात् भी नहीं जान सका हूँ। यहाँ शिखरिणी छन्द है॥६७॥

उत्थानिका–पुनः इसी को दूसरे ढंग से कहते हैं–

अन्वयार्थ–(अतुला) अतुलनीय **(विरतिः)** विरक्ति **(शास्त्रे)** शास्त्र में **(चिन्ता)** चिन्तन

विरति विषय से कर श्रुत चिंतन उर से करुणा अति बहती।
जिनकी मति एकान्त-तिमिर को हरने में नित रत रहती॥
अशन अन्त में तज तन तजना पर आगम बल पर चलना।
महामना उन मुनियों का यह लघु तप विधि का प्रतिफल ना!॥६८॥

अन्वयः—अतुला विरतिः शास्त्रे चिन्ता तथा परा करुणा अपि मतिः सदा एकान्तध्वान्त-प्रपञ्चविभेदिनी च अन्ते यथोक्तविधानतः अनशनतपश्चर्या इदं फलं महतां अल्पस्य तपसः विधेः न भवति।

विरतिरित्यादि। अतुला उत्कृष्टा। विरतिः वैराग्यं विषयव्यावृत्तिर्वा। सा चैकदेशसाकल्यभेदाद् द्विधा भिद्यते। न चात्र बाह्यवस्तुविरतिरधिकृता व्यभिचारात्। ततोऽगारे वसतामनगारे वाऽभ्यन्तरवृत्तिरेव प्रमुखा। सा च कस्मात्? शास्त्रे चिन्ता तत्त्वचिन्तनम्। मध्यदीपकत्वादुभयत्र योज्यं सम्यग्ज्ञानवद्रत्नत्रये। शास्त्राभ्यासात् स्वमनोवृत्तेर्निरीक्षणमवैधानिकपथाद्व्यतिरेकोवैराग्यदार्ढ्यं सद्दया च। तथा परा करुणा, समीचीना दया। तत्त्वचिन्तनफलमिदम्। करुणा स्वपरभेदाद् द्विविधा। तत्र स्वस्योपरि करुणा प्रथमा तेन विना परोपकृतेर्वञ्चनामात्रत्वात्। स्वस्य हिताय मतिः स्वकरुणा। दृश्यन्ते चाद्ये बहवः परोपकारमतयः पश्चात् स्खलितवृत्तयः। सम्यग्ज्ञानाकुलस्य वस्तुपरिणतेः परिज्ञानाद् वास्तविकी करुणोद्भवति। करुणावृत्तौ सत्यामपि

(तथा) तथा **(परा करुणा अपि)** उत्कृष्ट करुणा भी **(मतिः)** मति **(सदा)** हमेशा **(एकान्त-ध्वान्त-प्रपंच-विभेदिनी)** एकान्त अन्धकार के विस्तार को भेदने वाली **(च)** और **(अन्ते)** अन्त में **(यथोक्तविधानतः)** यथोक्त विधि अनुसार **(अनशनतपश्चर्या)** अनशन तपश्चरण करना **(इदं फलम्)** यह फल **(महताम्)** महान् पुरुषों के **(अल्पस्य)** थोड़े **(तपसः विधेः)** तप की विधि का **(न भवति)** नहीं है।

अर्थ—अतुल वैराग्य, शास्त्र-चिन्तन सब जीवों पर उत्कृष्ट दया, एकान्तवाद यानी एक नय के हठाग्रह रूपी अन्धकार का भेद करने वाली सूर्य किरण समान बुद्धि और आयु के अन्त में शास्त्रोक्त विधिपूर्वक अनशन धारण कर देह का विसर्जन—ये सब क्रियाएँ सत्पुरुषों की अल्प तपश्चर्या का फल नहीं है, अपितु महान् तपस्या का फल है।

टीकार्थ—विषयों से दूर होना यह वैराग्य विरति कहलाता है। वह विरति जिनकी उत्कृष्ट होती है। वह विरति एकदेश और सकल के भेद से दो प्रकार की होती है। यहाँ बाह्य वस्तु से विरक्ति अधिकृत नहीं है क्योंकि इससे व्यभिचार दोष आता है। अर्थात् बाह्य वस्तु से विरक्ति होने पर भीतर से भी विरक्ति हो यह नियामक नहीं होता है। इसलिए घर में रहने वाले हों या घर से रहित हों, सभी को अन्तरंगवृत्ति ही प्रमुख है। शास्त्र में चिन्ता होना अर्थात् तत्त्व चिन्तन करना। उत्कृष्ट विरति शास्त्र चिन्तन से आती है। शास्त्र में चिन्ता करना तथा करुणा का चिन्तन करना इस तरह दोनों ओर 'चिन्ता' शब्द जोड़ना चाहिए। यह देहली दीपक न्याय रत्नत्रय में सम्यग्ज्ञान की तरह दोनों ओर जोड़ना है। शास्त्र का अभ्यास करने से अपनी मनोदशा का निरीक्षण होता है, अन्याय के रास्ते से दूर हटना होता है, वैराग्य में दृढ़ता आती है और समीचीन दया के भाव होते हैं। उत्कृष्ट दया तत्त्वचिन्तन का फल है। यह करुणा स्व और पर के भेद से दो प्रकार की होती है। उसमें अपने ऊपर करुणा करना मुख्य है, उसके बिना परोपकार ठगना मात्र है। अपने आत्म हित वृद्धि की लगन स्व करुणा है। बहुत से लोग पहले तो बहुत परोपकार की बुद्धि वाले देखे जाते है बाद में चरित्र से स्खलित हो जाते हैं।

महतामप्रवृत्ति र्न दोषाय तीर्थङ्करवत्। अपि च तथा मतिः बुद्धिः। सदा अनवरतम्। एकान्तध्वान्तप्रपञ्चविभेदिनी एकान्तं नित्यानित्याद्येकान्तमतं तदेव ध्वान्तमन्धकारस्तस्य प्रपञ्चः समूहस्तं विशेषेण भिनत्तीत्येवं शीला विभेदिनी विध्वंसिनीत्यर्थः। कुपथबाहुल्येऽपि न सुपथाद्विचलति लघुदीपस्य निबिडान्धकारवत्। च तथा। अन्ते समाधिकाले। यथोक्तविधानतः आराधनाग्रन्थकथित–विधानात्। अनशनतपश्चर्या अनशनं चतुर्विधाहार–त्यागस्तदेव तपश्चर्या। अन्तसमये प्राक् सर्वोपाधिविवर्जितः सन्नुपधिशून्यः क्रमशः चतुर्विधाहारप्रत्याख्यानेन सह नम–स्कृतिमन्त्रस्मरणं मरणं समाधिमरणं भवति। इदं फलं एतत् परिणामभवनम्। महतां महापुण्यवताम्। भवाभिनन्दिपुण्यस्य फलं भवविवर्धनम्। भवविनाशिपुण्यस्य फल–मेतत्। तत् पुण्यं येषामस्ति ते महान्तः तपस्विनः तेषामिति। अल्पस्य तुच्छस्य। तपसः पूर्वभवाचरितानुष्ठानस्य। विधेः प्रकारस्य। न भवति। एतावता विरतीत्यादीना–मत्यन्तदुरासदमित्युक्तं भवति। हरिणीवृत्तम् ॥६८॥

अथानशनादिना कायकार्श्येन किं यतः 'शरीरमाद्यं खलु धर्मसाधनं' मित्यभि–धानादित्या–शङ्कायामाह–

उपायकोटिदूरक्षे स्वतस्ततः इतोऽन्यतः।
सर्वतः पतनप्राये काये कोऽयं तवाग्रहः ॥६९॥

सम्यग्ज्ञान की तीव्र इच्छा रखने वाले को वस्तु के परिणमन का यथार्थ ज्ञान होता है जिससे उसके अन्दर वास्तविक करुणा उत्पन्न होती है। करुणावृत्ति होने पर भी महापुरुषों की करुणा में प्रवृत्ति नहीं होना भी कोई दोषकारक नहीं है जैसे तीर्थंकर। जिनकी बुद्धि नित्य, अनित्य आदि एकान्त मत के अन्धकार के समूह को विशेष रूप से विध्वंस करने वाली है। कुपथ की बहुलता होने पर भी सम्यग्ज्ञान के कारण जीव सत्पथ से विचलित नहीं होता है जैसे घोर अन्धकार को दूर करने के लिए एक छोटा दीपक भी पर्याप्त होता है वैसे ही एकान्त अन्धकार का नाशक अनेकान्त का ज्ञान है। तथा आराधना ग्रन्थों में कहे विधान से समाधि समय में अनशन तपश्चर्या करना। चारों प्रकार के आहार का त्याग अनशन है। यही तपश्चरण है। अन्त समय में पहले सभी उपाधि (परिग्रह) से रहित होते हुए उपधि (आवश्यक उपकरणों) से भी शून्य होवे। क्रम से चार प्रकार के आहार का प्रत्याख्यान करने के साथ नमस्कार मन्त्र का स्मरण करते हुए मरण होना समाधिमरण है। इस प्रकार के परिणामों का होना महान् पुण्यवान पुरुषों का कार्य है। जो पुण्य संसार को बढ़ाने वाला है उसका फल संसार वृद्धि है किन्तु संसारविनाशी पुण्य का फल इस तरह के परिणाम होना है। ऐसा पुण्य जिनके पास होता है वे ही महान् और तपस्वी कहलाते हैं। पूर्व भव में किए हुए अल्प तप का यह फल नहीं है। इस तरह विरति आदि अत्यन्त दुर्लभ गुण हैं, यह कहा है। यहाँ हरिणी छन्द है॥६८॥

कोटि- कोटि खुद उपाय कर लो तन लक्षण नहिं संभव है।
पर से करवाते करवा लो यह तो सदा असंभव है॥
पल-पल गलना चलता तन का मिटना रहता क्षण-क्षण है।
तन रक्षण का हट छोड़ो तुम समझो यह 'तन लक्षण' है ॥६९॥

अन्वयः—काये उपायकोटिदूरक्षे स्वतः अन्यतः इतः ततः सर्वतः पतनप्राये तव कः अयं आग्रहः।

उपायेत्यादि। काये औदारिकशरीरे। कथम्भूते? उपायकोटिदूरक्षे अनेकोपायेन रक्षितुमशक्ये। उपायानां कोटिस्तेन दुःरक्षा दुष्ठु रक्षा यस्य स तस्मिन्। ''रो रे लोपं स्वरश्च पूर्वो दीर्घः'' इति कातंत्रसूत्रेण नामिनः परो विसर्जनीयस्य रमापद्यमानस्य रे परे रो लोपमापद्यते च पूर्वस्वरस्य दीर्घत्वम्। तेन 'दूरक्षा' इति सिद्धम्। स्वतः स्वकीयोपायतः व्यायामभोजनपानौषधिशयनादिपोषणोपकारतः। अन्यतः वैद्यमन्त्र-मातृभातृपितृ-पितृव्याङ्गरक्षकभटादिरक्षणतः। इतः अत्र। ततः अन्यत्र। सर्वतः सर्वप्रकारेण। पतनप्राये नष्ट-बाहुल्ये। पतनं प्रायेण बाहुल्येन यस्य स तत्र। ''प्रायः पुमाननशने मृत्युबाहुल्ययोस्तथा'' इति वि० लो०। न चात्राव्ययार्थे प्रायस् शब्दो ग्राह्यः। तव भवतः। कः कथम्भूतः? अयं प्रतीयमानः आग्रहः आसक्तिराबन्धो वा। अथवा शरीरस्यैवेविधे स्थितेऽनशनादिना कृश्यमवश्यंसमाधि-मरणायेत्यर्थः ॥६९॥

ततः किं कर्त्तव्यमित्यत आह–

अवश्यं नश्वरैरेभिरायुःकायादिभिर्यदि।
शाश्वतं पदमायाति मुधायातमवैहि ते ॥७०॥

उत्थानिका—इन अनशन आदि से काय को कृश करने से क्या होगा ? क्योंकि कहा भी है कि ''शरीर धर्म का मुख्य साधन है।'' इस शंका का निराकरण करते हुए कहते हैं–

अन्वयार्थ–(उपाय-कोटि-दूरक्षे) करोड़ों उपायों से भी जिसकी रक्षा नहीं की जा सकती **(स्वतः)** स्वयं से भी और **(अन्यतः)** अन्य से भी **(इतः ततः)** यहाँ-वहाँ **(सर्वतः)** सब ओर से **(पतनप्राये)** प्रायः नष्ट होने वाले **(काये)** शरीर में **(तव)** तुम्हारा **(अयं)** यह **(कः)** कौन सा **(आग्रहः)** आग्रह है ?

अर्थ—हे जीव! तेरा इस शरीर की रक्षा में कैसा आग्रह है कि मैं इसकी रक्षा करूँ। यह तो कोटि उपायों से भी बचाया नहीं जा सकता। सर्वथा पतनोन्मुख है। खुद से, अन्य से, किसी से भी इस शरीर की रक्षा नहीं की जा सकता है।

टीकार्थ–अनेक उपायों से जिसकी रक्षा करना सम्भव न हो ऐसा औदारिक शरीर है। स्वयं किये गये उपायों से जैसे व्यायाम, भोजन, पानी, औषध, शयन आदि पोषण के उपकार से भी इसकी रक्षा नहीं होती है और अन्य के द्वारा किए गए उपायों से जैसे वैद्य, मन्त्र, माता, पिता, चाचा, अंगरक्षक, योद्धा आदि से भी इसकी रक्षा नहीं होती है। सभी प्रकार से नष्ट होने वाले ऐसे इस शरीर में तेरी कौन सी आसक्ति है? अथवा जब शरीर की उपर्युक्त कही स्थिति हो जाए तब अनशन आदि के द्वारा उसे अवश्य ही समाधिमरण के लिए कृश करना चाहिए, यह तात्पर्य है ॥६९॥

निसर्ग नश्वर स्वभाव वाले आयु काय आदिक सारे।
ज्ञात हुआ यह निश्चित तुमको तरंग जीवन यह प्यारे॥
इसके मिटने से यदि मिलता शाश्वत शुचितम शिव पद है।
बिना कष्ट बस मिला समझ लो स्वयं आ गई संपद है ॥७० ॥

अन्वयः—यदि एभिः नश्वरैः आयुःकायादिभिः ते अवश्यं शाश्वतं पदं आयाति मुधा आयातं अवैहि।

अवश्यमित्यादि। यदि एभिः नश्वरैः क्षणभङ्गुरैः। आयुःकायादिभिः श्वासोच्छ्वासशरीरादिभिः। आदिशब्देन नेत्रश्रवणपादोदरारोग्यादिसर्वदेहसुखस्य ग्रहणम्। ते तव भव्यस्य। अवश्यं निश्चितम्। शाश्वतं पदं मोक्षस्थानम्। आयाति प्राप्नोति। तर्हि इति वाक्यशेषः यदिशब्देन नित्यसम्बन्धात्। मुधा व्यर्थमनायासेन सहजेन इति यावत्। आयातं आगतं प्राप्तं वा। अवैहि जानीहि त्वमिति। अवपूर्वकं 'इण् गतौ' इति धोर्लट्। किमन्येषां त्रिदशानामपि आयुषः क्षयो जायते। किमन्य-स्याद्यसंहननयुक्तस्यापि विलयः। ततः आयुः-कायविषये मोहो मूढत्वम्। निस्सारभूतैः प्रतिक्षणक्षीयमानैरेतैः सारभूतस्य सुखस्याविनश्वरस्य प्राप्तिर्मृद्मन्थनेन कलधौतस्य प्राप्तिवदवैहि। अनुष्टुप्वृत्तम् ॥७०॥

लोकस्य मूढत्वं प्राह—

(अनुष्टुप्)

गन्तुमुच्छ्वासनिःश्वासैरभ्यस्यत्येष सन्ततम्।
लोकः पृथगितो वाञ्छत्यात्मानमजरामरम् ॥७१॥

उत्थानिका—इसलिए क्या करना चाहिए, यह कहते हैं—

अन्वयार्थ—**(यदि)** यदि **(एभिः नश्वरैः)** इन नश्वर **(आयुःकायादिभिः)** आयु, शरीर आदि के द्वारा **(ते)** तुमको **(अवश्यं)** निश्चित ही **(शाश्वतं पदं)** शाश्वत पद **(आयाति)** प्राप्त हो रहा है तो **(मुधा)** यूँ ही **(आयातं)** आ गया **(अवैहि)** ऐसा जान।

अर्थ—यदि इन नाशवान् आयु, कायादि से शाश्वत अविनाशी पद (तेरे हाथ) आता है तो उसे सहज प्राप्त हुआ ही जानो।

टीकार्थ—यदि इन क्षणभंगुर आयु यानि श्वासोच्छ्वास, शरीर आदि के द्वारा तुम भव्यात्मा को निश्चित ही शाश्वत मोक्ष स्थान की प्राप्ति हो रही है तो व्यर्थ में बिना प्रयास के ही मोक्ष प्राप्त हुआ है, ऐसा समझ। यहाँ टीका में आयु को श्वासोच्छ्वास कहा है क्योंकि श्वासोच्छ्वास और आयु का अविनाभाव सम्बन्ध है। आयु और काय के अतिरिक्त नेत्र, कान, पाँव, पेट, आरोग्य आदि समस्त देह के सुख भी क्षणभंगुर हैं। और दूसरों की क्या कहें? देवों की भी लम्बी आयु का क्षय होता है। दूसरों का क्या? जब प्रथम संहनन वालों का शरीर भी नष्ट होता है तो आयु और शरीर के विषय में मोह करना मूर्खता है। प्रतिक्षण नष्ट होने वाले, निस्सारभूत इन आयु आदि से अविनश्वर सुख की प्राप्ति होना मिट्टी के मन्थन से स्वर्ण की प्राप्ति के समान समझो। यहाँ अनुष्टुप् छन्द है॥७०॥

उच्छ्वासों का निःश्वासों का करता है अभ्यास सदा।
जीव चाहता तन से निकलूँ बाहर, शिव में वास कदा॥
किन्तु मनुज कुछ श्वास रोक लो, आयु बढ़ेगी कहते हैं।
अजर अमर आतम बनता है फलतः जड़ जन बहते हैं॥७१॥

अन्वयः—एष सन्ततं उच्छ्वासनिःश्वासैः गन्तुं अभ्यस्यति पृथक्श्लोकः इतः आत्मानं अजरामरं वाञ्छति।

गन्तुमित्यादि। एषः जीवात्मा। सन्ततं निरन्तरम्। उच्छ्वासनिःश्वासैः प्राणापानैः। आत्मना बहिर्निष्कास्यमानो वायुरुच्छ्वासलक्षणः प्राणः उच्यते। लोके तु पूरको हि उच्छ्वासः। आत्मना वायुरभ्यन्तरीक्रियमाणो निश्वासलक्षणः अपान इत्यभिधीयते। लोके तु रेचको हि निःश्वासः। गन्तुं बहिर्यातुम् शरीरात्। अभ्यस्यति अभ्यसनं करोति। पृथक् लोकः अज्ञानीजनः। इतः एभ्यः उच्छ्वासनिःश्वासेभ्यः। आत्मानं स्वकीयं। अजरामरं जरा वृद्धत्वं अमरं मरणरहितं जरा च अमरं च जरामरं। न जरामरं अजरामरं वार्धक्यमृत्युरहितमित्यर्थः। वाञ्छति अभिलषति। केचिच्च लौकिकाः प्राणायामाभ्यासेन कुम्भकपूरक-रेचकविधानेन वायोः संरोधनादायुर्वृद्धिमवृद्धत्वं च मन्वते तदत्राजरपदेनप्रत्याख्यातम्। तथा न सदेहा हि कदापि म्रियन्तेऽमरत्वेन तन्मतमप्यमरपदेन निरस्तम्। नाडीस्पन्दनमुखेन प्रतिक्षणमायुषः क्षपणं पर्यायक्रम इव प्रक्रामति। ततः प्राणायामेनायुर्वृद्धिरिति मिथ्या। अप्रमत्तस्य हि आयुषोऽनुदीरणादप-

---

उत्थानिका—अब लोक की मूढ़ता को कहते हैं–

अन्वयार्थ–**(एषः)** यह जीव **(सन्ततम्)** निरन्तर **(उच्छ्वास-निःश्वासैः)** उच्छ्वास, निःश्वास से **(गन्तुं)** जाने का **(अभ्यस्यति)** अभ्यास करता है **(पृथक्लोकः)** अज्ञानीजन **(इतः)** इससे **(आत्मानं)** आत्मा का **(अजरामरं)** अजर, अमर **(वाञ्छति)** चाहते हैं।

अर्थ—जीव की आयु उच्छ्वास-निश्वास रूप होकर निरन्तर चले जाने का अभ्यास कर रही है और अज्ञानी जन ऐसी आयु से अपने आपको अजर-अमर बनाने की वांछा करते हैं।

टीकार्थ–आत्मा के द्वारा जो वायु बाहर निकाली जाती है, बाहर फेंकी जाती है उसे उच्छ्वास कहते हैं, यह प्राण कहलाती है। लेकिन लोक में श्वासग्रहण करने रूप पूरक को ही उच्छ्वास कहा जाता है। आत्मा के द्वारा जो वायु भीतर ली जाती है वह निःश्वास है उसे अपान कहते हैं। लेकिन लौकिकता में श्वास छोड़ने रूप रेचक को निःश्वास कहते हैं। यह आत्मा इन उच्छ्वास, निःश्वास के द्वारा निरन्तर शरीर से बाहर जाने का अभ्यास करता है। अज्ञानी जन इन प्राण-अपान की प्रक्रिया से अजर, अमरपना चाहता है अर्थात् बुढ़ापे और मृत्यु से बचना चाहता है। कितने ही लौकिक लोग प्राणायाम के अभ्यास से कुम्भक, पूरक, रेचक के विधान से वायु को (श्वास) को रोकने से आयु की वृद्धि और बुढ़ापा नहीं आता है, ऐसा मानते हैं। इस प्रकार की धारणा को यहाँ 'अजर' पद से गलत कहा है। तथा देह सहित जीव भी अमर हो जाने से कभी भी मरते नहीं है, यह अभिप्राय 'अमर' पद से गलत कह दिया है। नाड़ी से स्पन्दन के द्वारा प्रतिक्षण आयु का नाश होना पर्याय क्रम की तरह चलता रहता है। इसलिए प्राणायाम से आयु की वृद्धि होती है, यह कथन मिथ्या है। केवल अप्रमत्त गुणस्थानवर्ती मुनि के ही आयु की उदीरणा नहीं होती है, उन्हीं के आयु कर्म के निषेकों का अपव्यय नहीं होता है किन्तु आयु की वृद्धि तो उनकी भी नहीं होती है, यह कथन सम्यक् है। इस

व्ययाभावो भवति, न च प्रवृद्धिरिति सम्यक् । यद्वा एष सन्ततं उच्छ्वासनिःश्वासैर्गन्तु-मभ्यस्यति लोकस्तु इतः पृथक् आत्मानमजरामरं वाञ्छतीत्यप्यर्थः। अनुष्टुप्छन्दः ॥७१॥

अथ कायोऽयमायुषमनुसरतीत्यत आह-

(शिखरिणी)

गलत्यायुः प्रायः प्रकटितघटीयन्त्रसलिलं,
खलः कायोऽप्यायुर्गतिमनुपतत्येष सततम्।
किमस्यान्यैरन्यैर्द्वयमयमिदं जीवितमिह,
स्थितो भ्रान्त्या नावि स्वमिव मनुते स्थास्नुमपधीः ॥७२॥

अन्वयः—आयुः प्रायः प्रकटितघटीयन्त्रसलिलं गलति एष खलः कायः अपि सततं आयुर्गतिं अनुपतति अस्य अन्यैः अन्यैः किम् इह इदं जीवितं द्वयमयं अपधीः नावि स्वं इव भ्रान्त्या स्थितः स्थास्नुं मनुते।

श्लोक का दूसरा अर्थ पृथक् और लोक भिन्न-भिन्न पद करने पर इस प्रकार है-यह आत्मा तो निरन्तर उच्छ्वास, निःश्वास के द्वारा देह से जाने के लिए अभ्यास कर रहा है किन्तु यह संसार इससे भिन्न (विपरीत) आत्मा का अजर, अमर पना चाहता है अर्थात् संसार में देह में रहकर ही आत्मा का अजर, अमरपना चाहता है। यहाँ अनुष्टुप् छन्द है ॥७१॥

उत्थानिका—यह शरीर आयु का अनुसरण करता है, सो कहते हैं-

अन्वयार्थ-**(आयुः)** आयु **(प्रायः)** प्रायः **(प्रकटितघटी-यन्त्र-सलिलम्)** घटी यन्त्र में स्थित जल के समान स्पष्ट ही **(गलति)** गल रही है। **(एषः)** यह **(खलः)** दुष्ट **(कायः)** शरीर **(अपि)** भी **(सततम्)** निरन्तर **(आयुर्गतिम्)** आयु की गति का **(अनुपतति)** अनुसरण कर रही है **(अस्य)** इस आत्मा का **(अन्यैः अन्यैः)** अन्य-अन्य पदार्थों से **(किम्)** क्या? **(इह)** यहाँ **(इदं)** यह **(जीवितम्)** जीवन **(द्वयमयम्)** दोनों मय है। **(अपधीः)** बुद्धि रहित जीव **(नावि)** नाव में **(स्वम् इव)** स्वयं को इस तरह **(भ्रान्त्या)** भ्रान्ति से **(स्थितः)** बैठा हुआ **(स्थास्नुं)** स्थिर **(मनुते)** मानता है।

अर्थ—मनुष्य की आयु रहट की घड़ियों के जल की भाँति प्रतिक्षण गल रही है। यह दुष्ट काया भी आयु का अनुसरण करती हुई निरन्तर पतनोन्मुख है। जिस आयु और शरीर रूप यह जीवन है, जब दोनों की यह दशा है तो फिर अन्य-अन्य पुत्र, कलत्र, धन, धान्यादि पदार्थों की क्या बात! आयु और शरीर-द्वयमय यह जीवन क्षणभंगुर है फिर भी बुद्धिहीन प्राणी भ्रांतिवश अपने को स्थिर-अविनाशी मान

अरहट घट दल के जल सम यह आयु घटे बस पल-पल है।
तथा आयु का सहचर होकर चलता अविरल तन खल है॥
काय आयु के आश्रित जीवन फिर पर से क्या अर्थ रहा।
किन्तु नाव-थित नर सम निज को भ्रान्त लखे स्थिर व्यर्थ अहा ॥७२॥

गलतीत्यादि। आयुः जीविताधारः। प्रायः अत्यर्थम्। प्रकटितघटीयन्त्रसलिलं प्रकटितं प्रादुर्भावितं घटीयन्त्रे सलिलं जलं तत्। प्रकटयति स्म प्रकटितं। ''मृदो ध्वर्थे णिज्बहुलं'' इति णिजन्ताक्तः। अरहटघटगतजलमिवायुरित्यर्थः। गलति क्षरति। एषः दृश्यमानः। खलः दुष्टः। कायः शरीरम्। अपि। सततं नित्यम्। आयुर्गतिं आयुःक्रमम्। अनुपतति अनुसरति। मूढात्मा स्वकीयं मत्वेदं शरीरमनर्घपदार्थवत् पुष्यति परन्तु स आयुःपदमनुसर्त्य तदनुकरोति तेन तस्य खलत्वमुक्तम्। आयुः प्रतिसमयं गलति दीपतैलवत्तथा कायोऽपि, तथापि जन्मोत्सवे वयोवृद्धित्वमवगम्य प्रहर्षति तेन जीवात्मनो मूढत्वमुद्योतितम्। अस्य जीवस्य। अन्यैः सम्बन्धिभिः। अन्यैः पृथग्भूतैः। किं न किमपीत्यर्थः। इह अस्मिन् लोके। इदं जीवितं वर्त्तमानं दृश्यमानमायुकर्मप्रेरितम्। अपधीः- अपगता धीर्बुद्धिर्यस्य स मूढ इत्यर्थः। नावि पोते। स्वमात्मानम्। इव उपमायाम्। भ्रान्त्या भ्रान्तिवशेन। स्थितः मनुते स्थास्नुं स्थैर्यं कलयति। पोतस्य प्रवहमानेऽपि तत्रस्थितो यथा स्वकं स्थिरं मनुते तथा हि जीवः आयुषः प्रवाहे कायस्थितेः भ्रान्त्वेति। यदुक्तम्–

''प्रविशद्गलतां व्यूहे देहेऽणूनां समाकृतौ।
स्थितिभ्रान्त्या प्रपद्यन्ते तमात्मानमबुद्धयः॥''

शिखरिणीछन्दः ॥७२॥

द्वयमयमिदं जीवितं क्रमशः क्षीयते। कोऽप्येतत् क्रमं निवारयितुं न शक्नोति गगनमणिगगनवत्। ततः प्राणिनां सुखं कुत इत्यत आह–

लेता है जैसे नाव में बैठा हुआ अपने आप को स्थिर मानता है।

टीकार्थ–जीवन का आधार आयु है। प्रायः करके यह आयु अरहट यन्त्र के घटों में भरे जल की तरह निरन्तर क्षरित हो रही है और यह दिखाई देने वाला दुष्ट शरीर आयु के ही क्रम या यूँ कहें कि आयु के पदचिह्नों का अनुसरण कर रहा है अर्थात् आयु के साथ यह शरीर भी ढल रहा है, क्षीण हो रहा है। मूढ़ात्मा इस शरीर को अपना मानकर किसी बहुमूल्य पदार्थ के समान पुष्ट करता है किन्तु वह शरीर तो आयु के पद का अनुसरण करके उसी का अनुकरण करता है इसलिए शरीर को दुष्ट कहा है। दीपक में तेल की तरह आयु प्रतिसमय गल रही है उसी तरह काया भी गल रही है। फिर भी जन्मोत्सव में उम्र की वृद्धि जानकर हर्षित होता है। इसी से जीवात्मा का मूढ़पना दिखाया है। फिर इस जीव का अन्य अपने से पृथग्भूत सम्बन्धियों से क्या प्रयोजन? अर्थात् कोई प्रयोजन नहीं है। इस लोक में वर्तमान यह जीवन आयु और काय से चल रहा है। मूढ़ व्यक्ति अपने आपको भ्रम से स्थिर-स्थायी मानता है। जैसे नाव, जहाज के प्रवाहित होने पर भी उसमें बैठा व्यक्ति स्वयं को स्थिर मानता है उसी तरह जीव आयु के प्रवाह में काय में बैठा हुआ भ्रान्ति से अपने को स्थिर मानता है। कहा भी है–

''प्रवेश करने वाले और गलने वाले अणुओं से शरीर की संरचना में समान आकृति बनी रहने पर स्थिति की भ्रान्ति से मूढ़ जीव उस शरीर को अपना मानता है।'' यहाँ शिखरिणी छन्द है ॥७२॥

उत्थानिका–आयु और काय मय यह जीवन क्रमशः नष्ट हो रहा है। कोई भी इस क्रम को रोकने में समर्थ नहीं है, इसलिए प्राणियों को सुख कैसे हो? यह कहते हैं–

(अनुष्टुप्)

उच्छ्वासः खेदजन्यत्वाद् दुःखमेषोऽत्र जीवितम्।
तद्विरामो भवेन्मृत्यु नृणां भण कुतः सुखम् ॥७३॥

अन्वयः—नृणां एषः उच्छ्वासः खेदजन्यत्वात् अत्र जीवितं दुःखं तत् विरामः मृत्युः भवेत् भण सुखं कुतः।

उछ्वास इत्यादि। नृणां मनुष्याणाम्। एषः प्रतीयमानः। उछ्वासः श्वासनिःश्वासः। खेदजन्यत्वात् दुःखोत्पादनात्। अत्र शरीरे। जीवितं जन्म। दुःखं कष्टप्रदम्। तद्विरामः तज्जन्म तस्य विरामो मृत्युः भवेत्। 'तद्विरामे' इति वा पाठः। भण कथय। त्वं हे भव्य! इति शेषः। 'भण शब्दार्थे' इति धोर्लट्। कुतः कस्मात् क्व वा। सुखमनाकुलत्वम्। प्राणवायो र्न्यूनाधिक्ये खेदजननं सर्वजनप्रतीतम्। स्वस्थजनस्य धातुसाम्य-त्वादभ्यासाद्वावसादो न प्रतीयते। देवानामुपर्युपरि वायोर्दानादानं बहुकालान्तरेण सम्भवनात्सौख्याधिक्याच्च निगोदजीवे एके समाश्वासेऽष्टादशवार-जन्ममृत्युधारणाद् दुःखाधिक्यमुच्छ्वासस्य खेदजन्यत्वं सिध्यति। अनुष्टुप्छन्दः ॥७३॥

अन्वयार्थ–(नृणाम्) मनुष्यों को **(एषः उच्छ्वासः)** यह उच्छ्वास **(खेदजन्यत्वात्)** खेद उत्पन्न करने वाली होने से **(अत्र)** यहाँ **(जीवितम्)** जीवन **(दुःखम्)** दुःख पूर्ण है **(तत् विरामः)** उस उच्छ्वास का रुक जाना **(मृत्युः)** मृत्यु **(भवेत्)** है। **(भण)** कहो! **(सुखम्)** सुख **(कुतः)** कहाँ है?

अर्थ—उच्छ्वास खेदपूर्वक ही उत्पन्न होती है अतः दुःख ही है। इसके रहते जीवन है। इसके विराम ले लेने पर मृत्यु हो जाती है। कहो! प्राणियों को सुख कहाँ से हो सकता है?

टीकार्थ–यह प्रतीति में आनेवाला श्वास, निःश्वास का क्रम मनुष्यों को दुःख उत्पन्न करने वाला होने से इस शरीर में जीवित रहना भी कष्टप्रद है। इस श्वास, निःश्वास का रुक जाना मृत्यु है। ऐसी स्थिति में मनुष्यों को अनाकुल सुख कैसे अथवा कहाँ हो? प्राणवायु के कम, अधिक होने पर खेद (कष्ट) की उत्पत्ति होती है, यह सभी जनों को प्रतीत होता है। स्वस्थ मनुष्य की धातु की साम्य अवस्था बनी रहने से और अभ्यास होने से अवसाद प्रतीत नहीं होता है। ऊपर-ऊपर के देवों को वायु (श्वास) का ग्रहण और त्याग बहुत काल के अन्तर से होता है इसलिए उनमें सुख की अधिकता है तथा निगोद जीव में स्वस्थ मनुष्य की एक श्वास के काल में अठारह बार जन्म-मरण होता है इसलिए उनमें दुःख की अधिकता है। इस प्रकार श्वास-निश्वास दुःख उत्पन्न करती है, यह सिद्ध होता है। यहाँ अनुष्टुप् छन्द है ॥७३॥

बिना खेद उच्छ्वास जनम ना लेता वह दुख कूप रहा।
टिका हुआ है जिस पर नियमित जीवन का यह स्तूप रहा ॥
जब वह लेता विराम निश्चित जीवन का अवसान तभी।
आप बता दो किस विध सुख का पान करे फिर प्राण सभी ॥७३॥

कश्चिदाह–जातिमृत्युक्रमान्तराले श्वासाभावात् सुखं भवितव्यमिति प्रष्टे प्राह–

(अनुष्टुप्)

जन्मतालद्रुमाज्जन्तुफलानि प्रच्युतान्यधः।
अप्राप्य मृत्युभूभागमन्तरे स्युः कियच्चिरम् ॥७४॥

अन्वयः—जन्मतालद्रुमात् प्रच्युतानि जन्तुफलानि अधः मृत्युभूभागं अप्राप्य अन्तरे कियत् चिरं स्युः।

जन्मेत्यादि। जन्मतालद्रुमात् जन्म नवपर्यायधारणम् तदेव तालद्रुमः प्रोन्नत-वृक्षविशेषः। तस्मात् जन्मात्मकताडवृक्षात्। प्रच्युतानि पतितानि। कानि तानि? जन्तुफलानि जन्तुर्जीव एव फलं तानि। अधः निम्नतां गतः। मृत्युभूभागं मृत्युरेव भूभागः पृथ्वीतलं तम्। अप्राप्य प्राप्तिं न कृत्वा। अन्तरे मध्यभागे। कियत् चिरं कियत् कालं। स्युः भवेयुः। जन्ममृत्युमध्ये जीवो विग्रहगतौ कियत्क्षणं तिष्ठति श्वासाभावेऽपि तत्र सुखाभाव एव संचेतनाभावात्। किञ्च आ संसारादेकः क्षणोऽपि जीवेन न प्राप्तो यश्चायुर्विरहितस्तेन जन्ममृत्युनो र्मध्यक्षणं नावाप्यते इत्यर्थः। यथा प्रच्युतस्य ताडवृक्षात् फलस्याधोगमनमवश्यंभावि तथा प्राप्तजन्मनो मृत्युरिति भावः ॥७४॥

उत्थानिका—कोई कहता है कि जन्म-मरण के इस क्रम के बीच में श्वास का अभाव होने से सुख होना चाहिए, इस प्रकार पूछने पर कहते हैं–

अन्वयार्थ–**(जन्म-ताल-द्रुमात्)** जन्म रूपी ताड़ वृक्ष से **(प्रच्युतानि)** गिरा हुआ **(जन्तु फलानि)** जीव रूपी फल **(अधः)** नीचे **(मृत्युभूभागं)** मृत्यु रूपी पृथ्वी को **(अप्राप्य)** प्राप्त नहीं करके **(अन्तरे)** बीच में **(कियत्)** कितने **(चिरम्)** अधिक काल तक **(स्युः)** रहेगा ?

अर्थ—जन्म रूप ताल वृक्ष से गिरा हुआ जीव रूपी फल मृत्यु रूपी भूमि को ही प्राप्त होता है, बीच में तो कितने काल ठहरता है। अर्थात् बहुत कम।

टीकार्थ—नयी पर्याय का धारण करना ही जन्म है। वह जन्म ही ताड़ वृक्ष है जो कि बहुत ऊँचा है। उस जन्म रूपी ताड़ वृक्ष से गिरा हुआ जन्तु रूपी फल नीचे गिरा हुआ जब तक मृत्यु रूपी पृथ्वी तल तक नहीं पहुँचता तब तक बीच में कितने काल तक रहेगा? जन्म मृत्यु के बीच में जीव विग्रह गति में कितनी देर रहता है? वहाँ श्वास का अभाव होने पर भी सुख का अभाव ही है क्योंकि जागृति नहीं रहती है। दूसरी बात यह है कि इस जीव ने एक क्षण भी ऐसा नहीं पाया जो आयु से रहित हो इसलिए जन्म और मृत्यु के बीच का क्षण तो प्राप्त ही नहीं होता है। जैसे ताड़ वृक्ष से गिरे हुए फल का पृथ्वी पर गिरना अवश्य होता है उसी प्रकार जिसने जन्म लिया है उसकी मृत्यु भी अवश्य होती है, यह भाव है ॥७४॥

जनन ताड़ के पादप से तो प्राणी फल दल पतित हुए।
अधोमुखी हैं निराधार हैं पथ में हैं वे पथिक हुए ॥
भले अभी तक मरण रूप इस धरती तल तक नहिं आये।
कब तक फिर वे अन्तराल में अधर गगन में रह पाये ॥७४॥

तन्मृत्युत: परिरक्षकोऽत्र कोऽपि नास्तीति प्रस्तौति–

(हरिणी)

क्षितिजलधिभिः संख्यातीतैर्बहिः पवनैस्त्रिभिः,
परिवृतमतः खेनाधस्तात्खलासुरनारकान्।
उपरि दिविजान् मध्ये कृत्वा नरान् विधिमन्त्रिणा
पतिरपि नृणां त्राता नैको ह्यलंघ्यतमोऽन्तकः ॥७५॥

अन्वय :—विधिमन्त्रिणा संख्यातीतैः क्षितिजलधिभिः बहिः त्रिभिः पवनैः (जगत्) परिवृतं अतः खेन अधस्तात् खलासुरनारकान् उवरि दिविजान् मध्ये नरान् कृत्वा (तथापि) नृणां पतिः अपि न त्राता एको अलंघ्यतमः अन्तकः (वर्तते)।

क्षितीत्यादि। विधिमन्त्रिणा कर्ममन्त्रिणा। मन्त्रयते विचारयते राज्ञा सह स मन्त्री। विधिः कर्मैव मन्त्री तेन। यद्वा विधिर्ब्रह्म लोकख्यातौ स एव मन्त्री तेनेति। संख्यातीतैः असंख्यातैः। संख्यामतीतः संख्यातीतः इति षसः। ''इप् तच्छ्रितातीत-पतितगतात्यस्तैः'' इति जैनेन्द्रम्। क्षितिजलधिभिः क्षितिः पृथ्वी अत्र द्वीपग्रहणार्थम्। जलधिः समुद्रः। जलं धीयतेऽस्मिन्निति कृदन्ततत्पुरुषवृत्तिः। क्षितयश्च जलधयश्च

उत्थानिका—उस मृत्यु से रक्षा करने वाला यहाँ कोई भी नहीं है, यह कहते हैं–

अन्वयार्थ–(विधिमन्त्रिणा) विधि मन्त्री ने **(संख्यातीतैः)** असंख्यात **(क्षितिजलधिभिः)** पृथ्वी द्वीप और समुद्रों के परकोटे में, **(बहिः)** बाहर **(त्रिभिः पवनैः)** तीन पवनों से **(परिवृतम्)** घेरा है **(अतः)** इससे बाहर **(खेन)** अलोकाकाश ने घिरा है। **(अधस्तात्)** नीचे **(खलासुर-नारकान्)** दुष्ट असुरों और नारकों को **(उपरि)** ऊपर **(दिविजान्)** देवों को और **(मध्ये)** मध्य में **(नरान्)** मनुष्यों को **(कृत्वा)** करके **(नृणां पतिः)** चक्रवर्ती **(अपि)** भी **(न त्राता)** रक्षक नहीं है। **(एकः)** एक **(अलंघ्यतमः)** अनुलंघनीय **(अन्तकः)** मृत्यु है।

अर्थ—विधि रूप मंत्री ने लोक में नीचे दुष्ट असुरों और नारकियों को ऊपर वैमानिक देवों को करके मध्य में मनुष्यों को स्थापित किया। उनके निवासभूत उस मनुष्य लोक को अनेक द्वीप समुद्रों से वेष्टित किया। उनमें भी बाहर तीन वातवलयों से तथा और आगे आकाश से वेष्टित किया। इतना प्रयत्न होने पर भी न तो विधिरूप मंत्री मनुष्यों की रक्षा कर पाता है, न कोई चक्रवर्ती भी। यह दुर्गम है।

टीकार्थ—विधि यानी कर्म ही मन्त्री है। अथवा लोकख्याति में ब्रह्मा माने जाना वाला विधि ही मन्त्री है। जो राजा के साथ मन्त्रणा करता है, विचार करता है वह मन्त्री है। जम्बूद्वीप, लवणसमुद्र

नीचे नारक असुरों ऊपर देवों को बस! बसा दिये।
मध्य मानवों को रख अमितों द्वीप सागरों घिरा दिये॥
तीन वातवलयों से वेष्टित कर विधि ने नभ को ताना।
पर नरपति ना बचा बचाता अटल काल का सो बाना॥७५॥

क्षितिजलधयस्ताभिः जम्बूद्वीपलवणसमुद्रमादिं कृत्वान्तिमैः स्वयम्भूरमणाख्यद्वीप-समुद्रपर्यन्तैरित्यर्थः। इत्यनेन तिर्यग्लोकः समाख्यातः। बहिः तत्पश्चात्। त्रिभिः पवनैः त्रिवातवलयैः। घनाम्बुवाताकाशनामभिः प्रतिष्ठितैः। उपरि मध्ये चाधः प्रत्येक-मभिसम्बन्धनीयं लोकस्य परिसमाप्तौ। जगदिति अनुक्तेऽपि वाच्यम्। परिवृतं परिवेष्टितम्। अतः अस्मात् बहिः। खेन आकाशेन परिवृतमिति। एतावता अलोकाकाशाख्यानम्। अधस्तात् निम्नभागे। खलासुरनारकान् खलासुरा संक्लिष्टा-सुरकुमारदेवाश्च नारकाश्च तथोक्तास्तान्। यद्वा 'रलयोरभेदात्' खलशब्देन खरभागे नागकुमारादिनवानां भवनवासिनाञ्च किन्नरादिसप्तानां व्यन्तराणामावासा ज्ञातव्याः। असुरशब्देन पङ्कबहुलभागेऽसुरकुमाराणां राक्षसानाञ्चावासा विज्ञेयाः। ततोऽधस्तात् नारका अब्बहुलभागे तिष्ठन्ति। उपरि मध्यलोकादुपरि। दिविजान् वैमानिकान्। दिवि भवा दिविजाः। 'अन्येष्वपि दृश्यते' इति सूत्रात् डप्रत्ययो जनेरिति वचनात्। मध्ये मध्यभागे। नरान् मनुष्यान्। इति नृलोकस्य कथनम्। कृत्वा इति पदं प्रत्येक-मभिसम्बन्ध्यते। तथापीत्यध्याहार्यः। नृणां पतिः चक्रवर्ती। अपि सम्भावनायाम्। न त्राता रक्षकः। एकः नान्यः। अलंघ्यतमः प्रकृष्टेन दुर्निवारः। अन्तकः कालो यमः आयुःकर्म वा। वर्तत इति क्रियाध्याहारः ॥७५॥

भाग्यस्य बलवत्त्वमातन्वन्नाह-

अविज्ञातस्थानो व्यपगततनुः पापमलिनः,
खलो राहुर्भास्वद्दशशतकराक्रान्तभुवनम्।
स्फुरन्तं भास्वन्तं किल गिलति हा कष्टमपरः,
परिप्राप्ते काले विलसति विधौ को हि बलवान् ॥७६॥

को प्रथम करके स्वयम्भूरमण नाम के अन्तिम द्वीप, समुद्र तक असंख्यात द्वीप समुद्रों से सहित तिर्यग्लोक है। उसके बाद तीन वातवलय हैं। जिनके नाम घनोदधि-वातवलय, घन-वातवलय और तनुवात-वलय हैं। ये तीन वात वलय लोक के ऊपर, मध्य और नीचे सर्वत्र स्थित है। इसी से यह जगत् घिरा हुआ है। इस लोक के बाहर अलोकाकाश है। लोक के नीचे की ओर संक्लिष्ट असुरकुमार देव और नारकी हैं। 'र और ल में अभेद होने से' खल का दूसरा अर्थ खर आता है। इससे खर भाग में नागकुमार आदि नौ भवनवासी तथा किन्नर आदि सात व्यन्तरों के आवास बने हैं ऐसा जानना। असुर शब्द से पंकबहुल भाग में असुरकुमारों और राक्षसों के आवास जानना। उसके नीचे अब्हुल भाग में नारकी रहते हैं। मध्यलोक के ऊपर वैमानिक देव हैं। मध्य भाग में मनुष्यों का रहना है, यही नृलोक है। विधि मन्त्री का ऐसा संसार होने पर भी चक्रवर्ती भी इसका रक्षक नहीं है। एक मात्र यम अथवा आयु कर्म ही सबसे अधिक दुर्निवार है। यानी मृत्यु से कोई बचा नहीं सकता है ॥७५॥

विदित निलय जिसका ना तन भी दुष्ट राहु तापस पापी।
पूर्ण निगलता खेद! भानु को भासुरतम जो परतापी ॥
दश शत प्रखर किरण कर बल से निखिल प्रकाशित कर पाता।
उचित समय यदि कर्म उदय हो कौन बली फिर बच पाता ॥७६॥

अन्वयः—राहुः खलः अविज्ञातस्थानः व्यपगततनुः पापमलिनः भास्वन्तं स्फुरन्तं भास्वद्दश-शतकराक्रान्तभुवनं किल गिलति हा कष्टं काले परिप्राप्ते विधौ विलसति कः अपरः हि बलवान्।

अविज्ञातेत्यादि। राहुः दैत्यविशेषः। लौकिकख्यात्याऽऽख्यानमेतत्। खलः दुष्टः। अविज्ञातस्थानः निश्चितदेशरहितः। न विज्ञातं स्थानं देशो यस्य सः। व्यपगततनुः शरीररहितः सैंहिकेयदैत्यस्य शिरोमात्रत्वादुक्तः। विशेषस्तु पुरोदितः। पापमलिनः पापेन कालुष्येण कालेन वर्णेन वा मलिनोऽनुलिप्तस्तथोक्तः। तेनास्य द्रव्यभावाभ्यां कृष्णलेश्यत्वं गदितम्। भास्वन्तं सूर्यम्। स्फुरन्तं प्रकाशप्रतापाभ्यां विलसन्तम्। भास्वद्दशशतकराक्रान्तभुवनं स्फुरत्सहस्रकिरणाकुललोकम्। भास्वन्तः स्फुरन्तश्च ते दशानां शतं तच्च ते कराः किरणास्तैराक्रान्तं व्याप्तं भुवनं येन तत्। किल स्फुटम्। गिलति कवलीकरोति। हा कष्टं खेदमिति विस्मयबोधकाव्ययपदम्। परिप्राप्तेकाले अवसरप्राप्ते। विलसतिविधौ कर्मोदये सति। विलसतीति विलसन् शतृत्यः प्रत्ययः तस्य सप्तम्याम्। 'यद्भावाद्भावगतिः' इति ईप्। कः अपरः हि बलवान् न कोऽपि अन्यो बलवान् अस्तीति भावः। एवंविधं मार्तण्डप्रचण्डप्रतापमपि लब्धावसरे राहुर्ग्रसति यथा तथा कर्मोदयान्तके समायाते न कोऽपि रक्षितुं शक्नोतीति भावः। शिखरिणीवृत्तम् ॥७६॥

उत्थानिका—भाग्य की बलवत्ता को विस्तारित करते हुए कहते हैं—

अन्वयार्थ—(राहुः) राहु **(खलः)** दुष्ट है **(अविज्ञातस्थानः)** उसका स्थान अज्ञात है **(व्यापगत-तनुः)** शरीर रहित है **(पापमलिनः)** पाप से मलिन है, वह **(भास्वन्तं)** सूर्य जो कि **(स्फुरन्तं)** स्फुरायमान है **(भास्वद्-दश-शत-कराक्रान्त-भुवनाम्)** तथा चमकती हुई हजारों किरणों से लोक को व्याप्त करने वाला है, उसको **(किल)** निश्चित ही **(गिलति)** खा लेता है **(हा)** हा! **(कष्टं)** कष्ट है **(काले परिप्राप्ते)** समय आ जाने पर **(विधौ विलसति)** कर्म के उदय आ जाने पर **(कःअपरः)** कौन दूसरा **(हि)** स्पष्टतः **(बलवान्)** बलवान है।

अर्थ—राहु दुष्ट है उसका स्थान अज्ञात है, शरीर रहित है, पाप से मलिन है, वह सूर्य जो कि स्फुरायमान है तथा चमकती हुई हजारों किरणों से लोक को व्याप्त करने वाला है, उसको निश्चित ही खा लेता है हा! कष्ट है समय आ जाने पर कर्म के उदय आ जाने पर कौन दूसरा स्पष्टतः बलवान है।

टीकार्थ—लौकिक ख्याति से यह आख्यान है। राहु दैत्य विशेष है। वह निश्चित स्थान में नहीं रहता है। वह शरीर रहित है सैंहिकेय दैत्य का शिर मात्र होने से यह कहा है। विशेष कथन पहले कर दिया है। वह राहु पाप-कालुष्य से अथवा काले रंग से मलिन है। इसलिए इस राहु की द्रव्य, भाव से कृष्ण लेश्या कही है। प्रकाश और प्रताप के द्वारा सुशोभित और हजारों किरणों से लोक को व्याप्त करने वाले सूर्य को भी वह राहु अपना ग्रास बना लेता है। अवसर पाकर कर्म उदय होने पर कोई दूसरा बलवान नहीं होता है। तात्पर्य यह है कि इस प्रकार के सूर्य के प्रचण्ड प्रताप को भी उसी प्रकार कर्मोदय के साथ मृत्यु के सम्मुख होने पर कोई भी रक्षा करने में समर्थ नहीं है। यहाँ शिखरणी छन्द है ॥७६॥

पुनरपि तस्य विधेर्बलवत्त्वं दर्शयति–

(वसन्ततिलका)

उत्पाद्य मोहमदविह्वलमेवविश्वं,
वेधाः स्वयं गतघृणष्ठक-वद्यथेष्टम्।
संसारभीकर-महागहनान्तराले ,
हन्ता निवारयितुमत्र हि कः समर्थः ॥७७॥

अन्वयः—वेधाः विश्वं मोहमदविह्वलं उत्पाद्य स्वयं एव गतघृणः ठकवत् संसारभीकरमहा-गहनान्तराले यथेष्टं हन्ता अत्र (तं) निवारयितुं हि कः समर्थः।

उत्पाद्येत्यादि। वेधाः ब्रह्म कर्म वा। विश्वं सकललोकम्। मोहमदविह्वलं मोहमूर्च्छाविभ्रमम्। मोह एव मदो मूर्च्छाकारणत्वात् मदिरावत्। तेन विह्वलः संचेतना-रहितस्तम्। उत्पाद्य कृत्वा। स्वयं वेधाः। एवावधारणे। गतघृणः गता घृणा दया यस्मात् स निर्दयः इत्यर्थः। ''घृणा कारुण्यनिन्दयोः'' इति वि॰ लो॰। ठकवत् दस्यु-वत्। संसारभीकरमहागहनान्तराले संसाररूपभयानकविशालवनमध्ये। भीर्भयं करोतीति

उत्थानिका—पुनः भाग्य की बलवत्ता दिखाते हैं–

अन्वयार्थ–**(वेधाः)** कर्म **(विश्वं)** विश्व को **(मोह-मद-विह्वलं)** मोह और मद से मूर्छा को **(उत्पाद्य)** उत्पन्न कराके **(स्वयं एव)** स्वयं ही **(गतघृणः)** घृणा रहित होकर **(ठकवत्)** ठग की तरह **(संसार-भीकर-महा-गहनान्तराले)** संसार रूपी भयानक महान् गहन अन्तराल में **(यथेष्टम्)** अपनी इच्छानुसार **(हन्ता)** घात करता है **(अत्र)** यहाँ **(निवारयितुम्)** उसे रोकने में **(हि)** निश्चित ही **(कः)** कौन **(समर्थः)** समर्थ है ?

अर्थ—कर्म रूप ब्रह्मा समस्त विश्व को ही मोह रूप मदिरा से मूर्च्छित करके तत्पश्चात् स्वयं ही ठग (डाकू) के समान निर्दय बनकर इच्छानुसार संसार रूप भयानक महावन में इसका घात करता है। उससे बचाने के लिए भला दूसरा कौन समर्थ है? अर्थात् कोई नहीं।

टीकार्थ—ब्रह्मा अथवा कर्म सकल लोक में मोह, मूर्छा का विभ्रम उत्पन्न करता है। मोह ही वस्तुतः मद है क्योंकि मदिरा की तरह यह मूर्च्छा का कारण है। इसी मूर्छा से जीव चेतना के ज्ञान से रहित हो जाते हैं। पंचपरावर्तन रूप संसार ही भय उत्पन्न करने वाला बड़ा गहन वन है। इसी वन के भीतर अपनी इच्छा अनुसार यह जीवों का नाश करता रहता है। इसे वध करने से रोकने में कौन

ठग सम निर्दय कर्म ब्रह्म खुद मोह महामद पिला-पिला।
सकल जगत् को संमोहित कर सही पंथ से भुला-भुला ॥
सघन भयानक भव-कानन में हन्ता बनकर विचर रहा।
उसे मारता कौन बली वह कहाँ रहा है किधर रहा ॥७७॥

भीकरं तच्च तत् महागहनं महावनं 'गहनं कानने दुःखे गह्वरे कलिलेऽपि च' इति वि० लो०। तस्यान्तरालो मध्यभागः। संसारः पञ्चपरावर्तनरूपः स चासौ भीकरमहागहना-न्तरालस्तस्मिन्। यथेष्टं यद्दृच्छया स्वानुरूपम्। हन्ता घातको भवति। अत्र लोके। तमिति अध्याहार्यः। निवारयितुं निवारणं कर्तुम्। हि निश्चये। कः समर्थः? न कोऽपि इति भावः। यथा कोऽपि दस्युः कमपि श्रेष्ठिजनतत्बालकादिकं विषात्मक-पदार्थमाघ्राय मूर्च्छामासाद्य तस्य धनवस्तुप्रभृतिमपहरन् यथाकामं प्रवर्तते तथा ब्रह्म लोकायेति ॥७७॥

अथ यमस्यानियतदेशकालादिकमाचष्टे–

(अनुष्टुप्)

कदा कथं कुतः कस्मिन्नित्यतर्क्यः खलोऽन्तकः।
प्राप्नोत्येव किमित्याध्वं यतध्वं श्रेयसे बुधाः ॥७८॥

अन्वयः—अन्तकः खलः कदा कथं कुतः कस्मिन् इति अतर्क्यः प्राप्नोति एव किं इति आध्वं बुधाः श्रेयसे यतध्वं।

कदेत्यादि। अन्तकः यमः। खलः दुष्टः। कदा कस्मिन् काले आयुषः पर्वणि जीविते। कथं केन

समर्थ है? अर्थात् कोई नहीं है? जैसे कोई लुटेरा किसी श्रेष्ठीजन और उसके बाल-बच्चों आदि को जहरीला पदार्थ सुंघाकर मूर्च्छा दिलाकर उस सेठ की धन आदि समस्तु वस्तुओं को ले लेता है और फिर उस जंगल में इच्छानुसार उसका घात कर देता है उसी प्रकार आयु कर्म इस संसार में लोगों के लिए करता है। लौकिक ब्रह्म के सम्बन्ध में भी यही बात घटित होती है ॥७७॥

उत्थानिका—अब यम के अनियतदेश, अनियतकाल आदि का कथन करते हैं–

अन्वयार्थ–**(अन्तकः)** मृत्यु **(खलः)** दुष्ट है **(कदा)** कब **(कथम्)** कैसे **(कुतः)** कहाँ से **(कस्मिन्)** किसमें आ जाए **(इति)** इस प्रकार **(अतर्क्यः)** बिना विचार किये **(प्राप्नोति)** प्राप्त होती **(एव)** ही है। **(किम्)** क्यों **(इति)** इस प्रकार **(आध्वम्)** निश्चित जानकर **(बुधाः)** बुद्धिमान लोग **(श्रेयसे)** कल्याण के लिए **(यतध्वम्)** यत्न करो।

अर्थ—आचार्य ज्ञानियों को आगाह करते हुए कहते हैं कि आत्मकल्याण के लिए सतत प्रयत्न करना चाहिए क्योंकि काल कब, किस प्रकार, कहाँ से, किस क्षेत्र में आ धमकता है, ऐसा विचार में ही नहीं आता है अतः सतत आत्मध्यान के लिये ही प्रयास करने चाहिए।

टीकार्थ–जीवन में आयु के बीच में किसी भी समय दुष्ट यम आ जाता है। आकस्मिक

आता है कब किस विध आता काल कहाँ से आता है।
महादुष्ट है काल विषय में कुछ भी कहा न जाता है॥
वह तो निश्चित आता ही पै तुम क्यों बैठे मन माने।
विज्ञ! करो नित यतन निजोचित निज सुख पाने शिव जाने ॥७८॥

प्रकारेण आकस्मिककारणदुर्घटनादिना। कुतः कस्मात् गृहात् पण्यात् यात्रातो मध्यपथाद्वा। कस्मिन् परिवारे एकतमेऽस्मिन्। इति एवं प्रकारम्। अतर्क्यः तर्कणं विचारस्तदयोग्यः। कालः एवंविधविचारणाय जनानामयोग्यः। तथापीति शेषः। प्राप्नोति एव जीवस्य मरणं खलु कुर्वति। किमिति आध्वं कथं निश्चिन्ता अभवन्। ''आसै उपवेशने'' इत्येतस्माद्धो लंङ् । ''वर्तमानसामीप्ये वर्तमानवद्वा'' इति सूत्राद् वर्तमानार्थे लङ् । ततः किं कार्यमित्याह–बुधाः हे पण्डिताः। श्रेयसे मोक्षाय। यतध्वं यत्नं कुरुध्वम्। ''यतीङ् प्रयत्ने'' इति धो लोंटि मध्यमपुरुषस्य बहु-वचनम् ॥७८॥

अथ न मृत्युना भेतव्यमिति प्रोत्साहयन्नाह–

(अनुष्टुप्)

असामवायिकं मृत्योरेकमालोक्य कञ्चन।
देशं कालं विधिं हेतुं निश्चिताः सन्तु जन्तवः ॥७९॥

अन्वयः—मृत्योः असामवायिकं कञ्चन एकं देशं कालं विधिं हेतुं आलोक्य जन्तवः निश्चिन्ताः सन्तु।

असामवायिकमित्यादि। मृत्योः कालस्य। असामवायिकं अगोचरम्। कञ्चन कमपि। एकमद्वितीयम्। देशं स्थानम्। कालं समयम्। विधिं प्रकारम्। हेतुं कारणम्। आलोक्य विज्ञाय। जन्तवः प्राणिनः। निश्चिन्ताः अनाकुलाः। सन्तु तिष्ठन्तु। तत्र व्यवहारेण ईषत्प्राग्भारनामा अष्टमभूमि-

---

कारण से दुर्घटना आदि के द्वारा आ जाता है। घर से, दुकान से, यात्रा से या बीच रास्ते से किसी भी स्थान से दुष्ट यम ले जाता है। परिवार में हो या एक अकेले हो यम आ जाता है। वह यम तो इस विषय में विचार करने योग्य ही नहीं है। फिर भी वह जीव के मरण को निश्चित कर देता है। ऐसी स्थिति में तुम निश्चित कैसे हो ? हे पण्डितजन! मोक्ष के लिए निरन्तर यत्न करो ॥७८॥

उत्थानिका—मृत्यु से डरना नहीं चाहिए, इस प्रकार प्रोत्साहित करते हुए कहते हैं–

अन्वयार्थ–**(मृत्योः)** मरण के **(असामवायिकम्)** अगोचर **(कञ्चन)** किसी **(एकं)** एक **(देशं)** देश **(कालम्)** काल **(विधिम्)** विधि **(हेतुम्)** हेतु को **(आलोक्य)** देखकर **(जन्तवः)** प्राणियों **(निश्चिन्ताः सन्तु)** निश्चिन्त होओ।

अर्थ—कोई भी स्थान, कोई भी समय, कोई भी विधि और कोई भी हेतु-कारण मृत्यु के अगोचर नहीं है, ऐसा देखकर, प्राणियों! तुम निश्चिन्त हो जाओ (क्योंकि काल अपरिहार्य है)।

टीकार्थ–काल के अगोचर किसी अद्वितीयस्थान, अद्वितीयसमय, अद्वितीय प्रकार, अद्वितीय कारण को जानकर प्राणियों अनाकुल हो कर रहो। देश की अपेक्षा व्यवहार से ईषत्प्राग्भार नाम की

किसी तरह संबंध नहीं हो दुष्ट काल से बस जिसका।
कुछ भी कर लो किसी तरह भी शोध लगाओ तुम उसका ॥
देश काल विधि हेतु वही इक जहाँ मोह का नाम नहीं।
शरण उसी की ले बिन चिंता रहो रहा शिवधाम वही ॥७९॥

र्मोक्षशिलाभिधा कालस्य प्रतिकूलस्थानं परमार्थेन पुनरात्मनः असंख्यातप्रदेशेषु दृग्ज्ञप्तिमुख्येषु सकलरत्यरति-शोकमोहभयादि-परपरिणतिजन्यमानभावविकलेषु चिन्मात्रस्योपयोगस्य चिन्मात्रे स्वोपयोगेऽवस्थानम्। अभूतार्थविषयतो दुःषमा दुष्षमसुषमा सुषमदुष्षमा वा सामायिककालः ईर्यापथकालः स्वाध्यायकालो वा कृतान्तस्यान्तकालत्वं प्रतिपद्यमानेऽपि भूतार्थेन परमसमाधिकाले ध्यानध्येयध्यातृ-त्रिकस्यैकधा निदिध्यासनं वा निर्विकल्पस्वसंवेदनकाले चतुर्विधन्यासभूमिगत-प्रमाणनयावगमोपायानामविकल्पनं वा वीतराग-स्वानुभवसमये ज्ञानज्ञेयज्ञातृणां च दृग्दृश्यदृष्टानां च गुणिगुणक्रमाणां च चेतयितृचिच्चेतनानामैकतानत्वम्। विकल्पप्रधाननयेन विविधा विधयो विधेर्विलयाय केचित्तपः सिद्धाः केचिन्नयसिद्धाः केचन संयमसिद्धाः केचिच्च चरित्रसिद्धाः भवन्ति तथापि निर्विकल्पार्पित-नयेन सर्वे स्वात्मोपलब्धिप्रसिद्धिमन्तः सिद्धाः। विशेषार्पणया अष्टाविंशतिमूलगुणानां वा पञ्चाचार-प्रपञ्चानां वा चातुर्यामस्य वाऽहिंसापरमब्रह्मणो वा बहिर्हेतुत्वं कालकवलाय समाकल्यते तथापि सामान्यार्पणया कार्यसमयसारभूतस्य शुद्धात्मानुभूतेरिति। एवं देशकालविधिहेतुत्वमवगम्य तदनुरूपानुष्ठान-विधानेन निर्विकल्पत्वमनुभूयतामिति भावः ॥७९॥

आठवीं भूमि मोक्षशिला कही जाती है। यही इस काल (मरण) के प्रतिकूल स्थान है। परमार्थ से तो आत्मा के असंख्यात प्रदेश हैं। वे आत्मप्रदेश समस्त रति, अरति, शोक, मोह, भय आदि पर-परिणति से उत्पन्न भावों से रहित दर्शन, ज्ञान की मुख्यता वाले हैं। ऐसी आत्मा के चैतन्य मात्र उपयोग वाले चैतन्यमात्र अपने उपयोग में ही रहना काल के लिए अगोचर स्थान है। काल की अपेक्षा–अभूतार्थ के विषय से यानी व्यवहार नय से दुःषमा, दुःषमा-सुषमा, अथवा सुषमा-दुःषमा काल मृत्यु के अगोचर हैं क्योंकि इन कालों में भी मोक्ष होता है। अथवा सामायिक काल, ईर्यापथ काल, अथवा स्वाध्याय का काल मृत्यु का नहीं है क्योंकि इन कालों में भी मरण अन्त समय को प्राप्त होता है। कर्म निर्जरा का कारण होने से इन कालों को मरणनाशक कहा है। फिर भी परम समाधि के काल में ध्यान, ध्येय और ध्याता इन तीनों की एकरूपता होना या एकाग्र ध्यान होना अथवा निर्विकल्प स्वसंवेदन के काल में चारों प्रकार की न्यास भूमि पर, प्रमाण और नय रूप ज्ञान के उपायों का भी विकल्प नहीं रहना अथवा वीतराग स्वानुभव के समय पर ज्ञान, ज्ञेय, ज्ञाता इन तीनों का; दृष्टि, दृश्य, दृष्टा इन तीनों का, गुण-गुणी-पर्यायों इन तीनों का, चेतयिता आत्मा, चिद्‌भाव और चेतना क्रिया इन तीनों का एकमेकपना होना मृत्यु के अगोचर समय हैं। विधि की अपेक्षा–विकल्प प्रधाननय से मृत्यु के अगोचर उन सिद्धों के अनेक प्रकार हैं जो कर्म के विनाश को लिये हुए हैं। कितने ही तप सिद्ध हुए हैं, कितने ही नय सिद्ध हुए हैं, कितने ही संयमसिद्ध हुए हैं, कितने ही चारित्रसिद्ध होते हैं। निर्विकल्पनय की मुख्यता से स्वात्मोपलब्धि से प्रकृष्ट सिद्धि को प्राप्त सभी सिद्ध भगवान् मृत्यु के अगोचर हैं। हेतु की अपेक्षा–विशेष रूप से २८ मूलगुण, पंचाचारों का समूह, चातुर्याम अथवा अहिंसा परमब्रह्म बाह्य हेतु हैं क्योंकि मृत्यु के विनाश के लिए ये कारण माने जाते हैं। फिर भी सामान्य रूप से कार्य समयसारभूत शुद्धात्मा की अनुभूति काल के विनाश के लिए अन्तरंग हेतु है। इस प्रकार देश, काल, विधि, हेतुपने को जानकर उसके अनुरूप अनुष्ठान से निर्विकल्पपने की अनुभूति करो, यह भाव है ॥७९॥

इदानीं वनितासङ्गात् विरमणार्थं प्रेरयन्नाह–

(हरिणी)

अपिहितमहाघोरद्वारं न किं नरकापदा–
मुपकृतवतो भूयः किं ते न चेदमपाकरोत्।
कुशलविलयज्वालाजाले कलत्रकलेवरे,
कथमिव भवानत्र प्रीतः पृथग्जनदुर्लभे ॥८०॥

अन्वयः—कलत्रकलेवरे पृथग्जनदुर्लभे कुशलविलयज्वालाजाले कथं इव भवान् अत्र प्रीतः, किं न नरकापदां अपिहितमहाघोरद्वारं, किं ते उपकृतवतः भूयः न च इदं अपाकरोत्।

अपिहितेत्यादि। कलत्रकलेवरे स्त्रीशरीरे। कलत्रं स्त्री तस्य कलेवरः शरीरं तत्र। कथम्भूते? पृथग्जनदुर्लभे पृथग्जना निम्नकोट्योऽविवेकिन उच्यन्ते। तेषां दुर्लभः दुःखेन लभ्यते कृच्छ्रेण प्राप्यत इत्यर्थः। ''स्वीषद्दुसिकृच्छ्राकृच्छ्रयोः खः'' इति कृच्छ्रार्थे खः। तत्र। मूढजनो हि स्त्रीशरीरं दुर्लभमिति मनुतो, न च

उत्थानिका—अब यहाँ स्त्री की संगति से दूर रहने की प्रेरणा करते हुए कहते हैं–

अन्वयार्थ–(कलत्रकलेवरे) स्त्री का शरीर **(पृथग्जन दुर्लभे)** अज्ञानीजन को दुर्लभ है **(कुशल-विलय-ज्वाला-जाले)** पुण्य का विनाश करने के लिए ज्वाला समूह के समान है **(कथं इव)** किस प्रकार से **(भवान्)** आप **(अत्र)** इस शरीर में **(प्रीतः)** प्रीति को प्राप्त हुए हो? **(किं न)** क्या **(नरकापदां)** नरक की आपत्तियों के **(अपिहित-महाघोर-द्वारम्)** खुले हुए महाघोर द्वार में नहीं गिरोगे? **(किं)** क्या **(ते उपकृत वतः)** उपकार करने वाले तुम्हारा **(भूयः)** बारबार **(न च इदं अपाकरोत्)** इस शरीर ने अपकार नहीं किया है?

अर्थ—स्त्री का शरीरअज्ञानी जन को दुर्लभ है, पुण्य का विनाश करने के लिए ज्वाला समूह के समान है, किस प्रकार से आप इस शरीर में प्रीति को प्राप्त हुए हो? क्या नरक की आपत्तियों के खुले हुए महाघोर द्वार में नहीं गिरोगे ? क्या उपकार करने वाले तुम्हारा बारबार इस शरीर ने अपकार नहीं किया है?

टीकार्थ—निम्न कोटि के अविवेकी लोगों को यह स्त्री का शरीर दुर्लभ लगता है। मूढ़ पुरुष ही स्त्री शरीर को दुर्लभ मानता है, विवेकी पुरुष नहीं। स्त्री का शरीर पुण्य-ईंधन की आहुति देने के लिए प्रचण्ड अग्नि की ज्वाला समूह के समान है। स्त्री के ऐसे शरीर में हे भव्य! तुम कैसे प्रीति कर

बार-बार उपकार किया पर, बार-बार अपकार मिला।
इस विधि दारा तन है नारक दुख का भारी द्वार खुला ॥
परम पुण्य को जला-जलाकर भस्म बनाती यह ज्वाला।
किस विध इसमें मुग्ध हुआ तू जिसे कहे जड़ सुख प्याला ॥८० ॥

विवेकीति भावः। पुनश्च किंभूते? कुशलविलयज्वालाजाले पुण्यसमिधाहूतये प्रचण्डाग्नि-ज्वालासमूहे। कुशलं पुण्यं तस्य विलयाय विनाशाय ज्वालानां वह्निशिखानां जालं समूहो यस्मिन् तत्र। कथमिव भवान् हे भव्य! अत्र कलत्रशरीरे। प्रीतः प्रीतिं गतः। आद्यकर्मणि क्तः कर्तरि च। इति विस्मयः। किं नेति काकुः। नरकापदां नारकदुःखानाम्। अपिहितमहाघोरद्वारं अपिहितं उद्घाटितं च तत् महाघोरद्वारं महाभयानक-प्रवेशस्थानम् तत्। नरकपतनाय स्त्रीशरीरं विशालाझम्पितद्वारं तद्वीक्षणव्यामोहालिङ्गनैर्महा-पापोपार्जनत्वात्। किं ते तव भव्यस्य प्रयोजनम्। उपकृतवतः उपकारं कुर्वतः। नानाभूषणवसनभोजन-मनोरञ्जनादिना लालनपोषणं विदधानस्य। भूयः अत्यर्थम्। न च इदं शरीरं। अपाकरोत् अपकारं कृतवान्। अपि तु कृतवानेव। 'डुकृञ् करणे' इति धोर्लङ्। हरिणीवृत्तम् ॥८०॥

अधुना मानुष्यजन्मनः सफलीकरणार्थमुपदिशन्नाह–

(शार्दूलविक्रीडित)

व्यापत्पर्वमयं विरामविरसं मूलेऽप्यभोग्योचितं,
विष्वक्क्षुत्क्षतपातकुष्ठकुथिताद्युग्रामयैश्छिद्रितम् ।
मानुष्यं घुणभक्षितेक्षुसदृशं नामैकरम्यं पुनः,
निःसारं परलोकबीजमचिरात् कृत्वेह सारीकुरु ॥८१॥

रहे हो? यह स्त्री शरीर नरक के दुःखों का खुला हुआ महा भयानक प्रवेश द्वार है। उस स्त्री को देखने, व्यामोह करने और आलिंगन करने से महान् पाप का उपार्जन होता है इसलिए स्त्री का शरीर नरकपतन के लिए विशाल अचल द्वार है। ऐसे इस शरीर का उपकार करने से, आभूषण, वस्त्र, भोजन, मनोरंजन आदि के द्वारा अत्यधिक लालन-पोषण करने वाले तुम को क्या प्रयोजन है ? क्या इस शरीर ने तुम्हारा अपकार नहीं किया है ? अर्थात् अवश्य ही अनेक बार किया है। यहाँ हरिणी छन्द है ॥८०॥

उत्थानिका–अब मनुष्य जन्म को सफल बनाने के लिए उपदेश करते हुए कहते हैं–

अन्वयार्थ–(मानुष्यं) मनुष्य पर्याय **(व्यापत्पर्वमयं)** आपत्ति के पर्व वाली **(विराम विरसं)** अन्त में नीरस **(मूले अपि)** मूल भाग में भी **(अभोग्योचितं)** भोगने के अयोग्य **(विष्वक् क्षुत्क्षतपात-कुष्ठ-कुथिताद्युग्रामयैः)** चारों ओर से भूख, घाव, कुष्ठ, दुर्गन्ध आदि उग्र रोगों से **(छिद्रितम्)** छेद को प्राप्त हुई **(पुनः)** तथा **(घुण-भक्षितेक्षु-सदृशम्)** घुन से खाये गये गन्ने के समान **(नामैक-रम्यम्)** नाम मात्र से ही रमणीय **(निःसारं)** निःसार है। **(अचिरात्)** शीघ्र ही

विपद पर्वमय मूल भोग्य, ना रस बिन जिस का चूल रहा।
तथा बहुत से रोगों से भी ग्रसित रहा दुख शूल रहा ॥
घुण-भक्षित उस इक्षु दण्ड सम ऊपर केवल मनहर है।
परभव सुख का बीज बना बस मानव जीवन अघहर है ॥८१॥

अन्वयः—मानुष्यं व्यापत्पर्वमयं विरामविरसं मूले अपि अभोग्योचितं विष्वक्क्षुत्क्षतपात-कुष्ठकुथिताद्युग्रामयैः छिद्रितं पुनः घुणभक्षितेक्षुसदृशं नामैकरम्यं निःसारं अचिरात् परलोकबीजं कृत्वा इह सारीकुरु।

व्यापदित्यादि। मानुष्यं मनुष्यजन्म। कथम्भूतम्? व्यापत्पर्वमयं आपत्तिपर्वनिमित्तं। व्यापत् आपत्तिः आधिव्याधिरूपः सैव पर्वाणि ग्रन्थयस्तै निर्वृतम् तत्। पुनः किंभूतम्? विरामविरसं वृद्धावस्थारसरहितम्। विरामे वृद्धत्वे विरसं भोगोपभोगरहितं इक्षुपक्षे अग्रभागे रसरहितम्। मूले बाल्यकाले बीजभूते च। अपि तथा। अभोग्योचितं अनुभवरहितं मानुष्यपक्षे विज्ञानाभावात् इक्षुपक्षे तु तन्मूलस्या-भोग्यत्वादनुभागरहितमिति। अपि शब्दो मध्यदीपकः। तेन बाल्यवृद्धत्वावस्थयो वैंफल्यमुदितम्। अवशिष्टमध्ययुवावस्थायां कथम्? विष्वक्क्षुत्क्षतपातकुष्ठकुथिताद्युग्रामयैः सर्वतः क्षुधाव्रणकुष्ठनिन्दितपीडाप्रदरोगैः। विष्वक् समन्तात् क्षुच्च क्षुधा च क्षतपातं गलितव्रणं च कुष्ठं चर्मरोगः च कुथितं पूति चैतानि आदौ येषां उग्रामयानां जलोदरभगन्दर-मस्तकगांठमधुमेहक्षयरोगादीनां तैः छिद्रितं जर्जरीकृतं तत्। पुनः घुण-भक्षितेक्षुसदृशं घुणेन काष्ठकीटेन भक्षितः, इक्षुस्तत्सदृशं समानं तन्मनुष्यजन्म। नामैक-रम्यं नाममात्रेण रमणीयं, न च वास्तवेन। निःसारं सार-

---

(परलोकबीजं) परलोक का बीज **(कृत्वा)** इसे बनाकर **(इह)** इस जन्म में इसे **(सारीकुरु)** सारभूत करो।

अर्थ—आपत्ति रूप पोरों से बनी, अन्त में नीरस मूल में भी अभोग्य, सब ओर से भूख, घाव, कोढ़ और दुर्गन्ध आदि उग्र रोगों से छेदयुक्त की गई, ऐसी यह मानव पर्याय घुनों से खाये हुए गन्ने के समान केवल नाम से ही रम्य है अतः शीघ्र ही उस निस्सार मानव पर्याय को परलोक का बीज(साधन) बनाकर इस जन्म में सारभूत कर लो।

टीकार्थ–यह मनुष्यजन्म आपत्ति के पर्वों (पोरों) से बना हुआ है। आपत्ति मानसिक भी होती है और शारीरिक भी। मानसिक आपत्ति को आधि और शारीरिक आपत्ति को व्याधि कहते हैं। जैसे इक्षुदण्ड में पौरें होती हैं उसी प्रकार इस मनुष्य पर्याय में समय-समय पर आपत्ति का स्थान आता है। यह मनुष्यजन्म बुढ़ापे में रस रहित हो जाता है। जैसे गन्ने का ऊपरी भाग अन्तिम छोर रस रहित होता है उसी प्रकार इस मनुष्य जन्म की अन्तिम अवस्था वृद्धावस्था भोग-उपभोग से रहित होती है। यह मनुष्य जन्म बीजरूप बाल्य काल में भी भोगने के अयोग्य है। जैसे गन्ने का मूल भाग खाया नहीं जाता है, इसलिए सामर्थ्य रहित है उसी प्रकार मनुष्य पर्याय बाल्य अवस्था में विशेष ज्ञान का अभाव होने से अनुभव रहित है। इस तरह मनुष्य की बाल और वृद्ध अवस्था की निष्फलता कही है। शेष बची युवा अवस्था में कैसी स्थिति है ? सभी ओर से क्षुधा, घाव, कुष्ठ आदि चर्म रोग इन सबसे दूषित होकर भयंकर जलोदर, भगन्दर, मस्तकगाँठ (ब्रेनट्यूमर), मधुमेह (डायबिटीज), क्षय रोग, टी.बी. आदि से जीर्ण, दुर्बल हुई है। इस तरह यह मनुष्य पर्याय लकड़ी को काटने वाले घुण कीड़ों से खाये गए गन्ने के समान निःसार है। यह मनुष्य पर्याय नाम मात्र से ही रमणीय लगता है, वास्तव में नहीं। शीघ्र ही

रहितम्। अचिरात् शीघ्रम्। परलोकबीजं कृत्वा इह सारीकुरु परलोकार्थं देवगतिपञ्चमगत्यर्थं बीजवत् तपोभूमिं उप्त्वा अस्मिन् भवे तज्जन्म सफलीकुरु। यथा कीटभक्षितेक्षुदण्डकं साररहितं भूमिवपनविधिना पुनः सारभूतं भवति तथा मानुष्यम्। असारं सारं कुरु इति ''अभूततद्भावे कृभ्वस्तिषु विकारात् च्विः'' इति च्विः ॥८१॥

प्रतिदिनमेकसमाननियमेन जीवितं बाह्यमानस्यायं कायः कतिपयदिवसाना-मतिथिरिति द्योतयन्नाह–

(अनुष्टुप्)

प्रसुप्तो मरणाशङ्कां प्रबुद्धो जीवितोत्सवम्।
प्रत्यहं जनयन्नेष तिष्ठेत् काये कियच्चिरम् ॥८२॥

अन्वयः—एष प्रत्यहं प्रसुप्तः मरणाशङ्कां प्रबुद्धः जीवितोत्सवं जनयन् कियत् चिरं काये तिष्ठेत्।

प्रसुप्त इत्यादि। एषः दृश्यमानो जीवः। प्रत्यहं प्रतिदिनं। प्रसुप्तः गाढनिद्राक्रान्तः। प्रकर्षेण सुप्तः यः सः। प्रादि र्बसः। मरणाशङ्कां मृतप्रायः। मरणस्य आशङ्का सन्देहस्ताम्। प्रबुद्धो जागरितः। जीवितोत्सवं जन्मोत्सवम्। जीवितस्योत्सवः विवाहक्रीडापर्यटनादिः तम्। अथवा जन्मोत्सवो वर्षवृद्धिमहोत्सवः। तम्।

इसे तप की भूमि में बोकर परलोक का बीज बना कर सारभूत कर लो। जैसे कीड़ा खाया गन्ना साररहित होता है परन्तु उसे धरती में बो देते हैं तो सारभूत दूसरा गन्ना उत्पन्न हो जाता है, इसी तरह यह मनुष्य पर्याय निःसार है, इससे देवगति और पंचमगति के लिए तप करके इसे सारभूत बनाओ, यह तात्पर्य है ॥८१॥

उत्थानिका—प्रतिदिन एक समान नियम से जीवन ढोने वाले की यह काया कितने दिन की मेहमान है, यह दिखाते हुए कहते हैं–

अन्वयार्थ–**(एष)** यह प्राणी **(प्रत्यहः)** प्रतिदिन **(प्रसुप्तः)** सोता हुआ **(मरणाशङ्काम्)** मरण की आशंका को, **(प्रबुद्धः)** जाग्रत हुआ **(जीवितोत्सवं)** जीवन के उत्सव को **(जनयन्)** करता हुआ **(कियत् चिरं)** कितने (दीर्घ) काल तक **(काये)** शरीर में **(तिष्ठेत्)** रहेगा ?

अर्थ—सोता हुआ तो यह मानव प्रतिदिन मरण की आशङ्का पैदा करता है और जागता हुआ जीवन का उत्सव उत्पन्न करता है। ऐसी दशा में क्या यह जीव इस शरीर में चिरकाल तक ठहर सकता है? नहीं, कदापि नहीं।

टीकार्थ–यह दिखाई देने वाला जीव प्रतिदिन जब गाढ़ निद्रा में सोता है तो मृतप्रायः प्रतीत होता है और मर गया ऐसे संदेह को उत्पन्न करता है। जब जाग्रत रहता है तो विवाह, क्रीड़ा, घूमना आदि कार्यों से जीवन का आनन्द लेता है। अथवा जाग्रत हुआ जन्म महोत्सव मनाता है। इस प्रकार

निशि में करता शयन मृतक सम चेष्टा विहीन हो जाता।
जागृत हो जीवन साधन में दिन भर विलीन हो पाता॥
इस विध प्रतिदिन नियमित जीवन इस प्राणी का बीत रहा।
किन्तु काय में कब तक टिक कर गा पायेगा गीत अहा॥८२॥

जनयन् विदधानः। जनयतीति जनयन्। शतृन् प्रत्ययः। उभयत्र योजनीयोऽयम्। तद्यथा प्रसुप्तो मरणाशङ्कां जनयन् प्रबुद्धो जीवितोत्सवं जनयन्। कियत् चिरं कियत् कालपर्यन्तम्। काये शरीरे। तिष्ठेत् वसेत्। आयुषो वशे काये शयनजागरणं विधाय प्रत्यहं किं सुखं तच्च कियच्चिरं कायस्य पर्यायत्वात्। पर्यायो हि नियामकतया क्षणप्रध्वंसी। सोऽपि इक्षुदण्डसदृशोऽसारः। ततः कायस्य मोहं परित्यज्य शाश्वत-सत्तात्मकेऽनन्तगुणनिलये चिदात्मनि रंरम्यताम्। मोहिनां बुद्धौ इदं च दिनं निशा चेयमिति भेदस्य प्रतीतिः। ज्ञानिनां ज्ञाने तु सर्वेऽहर्निशं प्रसुप्ता एव मोहनिद्रा-वश्यत्वात्। अनुष्टुप्छन्दः॥८२॥

अथ जीवितोत्सवे त्वया किं प्राप्तमित्यत्र प्रवदति-

(वसन्ततिलका)

सत्यं वदात्र यदि जन्मनि बन्धुकृत्य-
माप्तं त्वया किमपि बन्धुजनाद्धितार्थम्।
एतावदेव परमस्ति मृतस्य पश्चात् ,
सम्भूय कायमहितं तव भस्मयन्ति॥८३॥

सोने और जागने से आयुकर्म के अधीन चलने वाली इस काया में कितने काल तक रहेगा? प्राणी का यह सुख शरीर की इस पर्याय से है इसलिए कितना सा सुख है और कितनी देर रहने वाला है? पर्याय तो निश्चितरूप से क्षण भर रहकर नष्ट हो जाती है। वह भी काने गन्ने के समान असार है। इसलिए काया के मोह को छोड़कर शाश्वत सत्ता स्वरूप, अनन्त गुणों के निलय, चैतन्य आत्मा में अच्छी तरह रमण करना चाहिए। मोही जनों की बुद्धि में यह दिन है, यह रात है, इस तरह के भेद की प्रतीति होती है। ज्ञानी जनों के ज्ञान में तो सभी जन रात-दिन सोते हुए दिखाई देते है क्योंकि सभी मोह-निद्रा के वशीभूत हैं। यहाँ अनुष्टुप् छन्द है॥८२॥

उत्थानिका—जीवन के उत्सव में तूने क्या प्राप्त किया है, यह कहते हैं-

अन्वयार्थ-**(यदि)** यदि **(जन्मनि)** संसार में **(त्वया)** तुमने **(बन्धुजनात्)** बन्धुजन से **(किमपि)** कुछ भी **(हितार्थम्)** हितकारी **(बन्धुकृत्यम्)** बन्धु का कार्य **(आप्तं)** प्राप्त किया है **(अत्र)** यहाँ **(सत्यं)** सत्य **(वद)** कहो **(परं)** किन्तु **(एतावत् एव अस्ति)** इतना ही है **(मृतस्य)** मरने के **(पश्चात्)** बाद **(तव)** तुम्हारी **(अहितं)** अहित **(कायं)** काया को **(संभूय)** मिलकर **(भस्मयन्ति)** भस्म कर देते हैं।

अरे! हितैषी इस जीवन में बन्धुजनों से क्या पाया।
सत्य-सत्य बस हमें बता दे क्या! हित अनुभव कर पाया?॥
केवल इतना करते मरता जब तू तज कंचन तन को।
जला-जला वे राख बनाते अहित दुरित घर तव तन को॥८३॥

अन्वयः—यदि जन्मनि त्वया बन्धुजनात् किमपि हितार्थं बन्धुकृत्यं आप्तं, अत्र सत्यं वद, परं एतावत् एव अस्ति, मृतस्य पश्चात् तव अहितं कायं सम्भूय भस्मयन्ति।

सत्यमित्यादि। यदि जन्मनि संसारे सम्प्राप्तभवे। त्वया भवता। बन्धुजनात् भ्रातृपरिजनादिवर्गात्। किमपि अल्पमपि। हितार्थं कल्याणार्थम्। बन्धुकृत्यं बन्धु-कार्यम्। बन्धुनः कृत्यं हितकारककार्यम्। आप्तं प्राप्तम्। 'आप्लृ व्याप्तौ' इति धोः क्तप्रत्ययात्। अत्र अद्य। सत्यं तथ्यम्। वद कथय। त्वं हे भव्य इति शेषः। परं किन्तु। एतावत् एव अस्ति तेषां कार्यमिदमवश्यमस्ति। किं तदित्याह–मृतस्य पश्चात् मरण-स्यानन्तरम्। तव भवतः। अहितं पापजन्यम्। कायं शरीरम्। सम्भूय सर्वे मिलित्वा। भस्मयन्ति भस्मसात् कुर्वन्ति। भस्ममात्रमवशिष्टं भवतीत्यर्थः। यथा तैजसशरीरं तपस्विनो वामस्कन्धान्निर्गत्य दहनयोग्यवस्तुजातं सर्वं प्रागग्निरिव पचति दहति, अथ च चिरमवतिष्ठते तदा तं भस्मसात् करोति तथैव परिजनोऽपि पितृवने तावत्तिष्ठति यावद् भस्मावशेषः। 'तत्करोति तदाचष्टे' इति णिच्। वसन्ततिलकावृत्तम्॥८३॥

अधुना बन्धुकृत्यं यदुपकारकं प्रतीयते तदपकारायैवेति प्राह–

(अनुष्टुप्)

जन्मसन्तानसम्पादि - विवाहादिविधायिनः।
स्वाः परेऽस्य सकृत्प्राणहारिणो न परे परे ॥८४॥

अर्थ—तू सच बता कि संसार में तूने अपने बन्धुओं से बन्धुजनोचित हितकारी कुछ भी प्राप्त किया हो? उनका तो केवल इतना ही उपकार है कि तेरे मरने के बाद वे तेरे मृत शरीर को भस्म कर देते हैं।

टीकार्थ–इस संसार में प्राप्त हुई इस पर्याय में यदि तुमने अपने भाई, परिवार आदि बन्धुजनों से थोड़ा भी कल्याणकारी बन्धुओं का हितकारी कार्य प्राप्त किया है तो हे भव्य! मुझे आज सत्य कहो। किन्तु उनका इतना हितकारी कार्य अवश्य है कि तेरे मरने के बाद तेरी पापजन्य, अहित काया को सभी मिलकर राख कर देते हैं। जैसे तपस्वी के बाँये कन्धे से निकलकर तैजसशरीर जलाने योग्य समस्त वस्तु समूह को पहले अग्नि की तरह पकाता है, जलाता है और फिर यदि देर तक वह तैजस शरीर रहता है तो उस तपस्वी को भी भस्मसात्, राख कर देता है, उसी प्रकार परिवार के लोग भी श्मशान में जलाकर तब तक रुकते हैं जब तक कि राख शेष न रह जाय, यह तात्पर्य है। यहाँ वसन्ततिलका छन्द है॥८३॥

राग रंगमय भववर्धक है विवाह आदिक कार्य रहें।
उनको करने में ही परिजन निरत सदा अनिवार्य रहें॥
अतः वस्तुतः परम शत्रु हैं परिजन इस विधि जान अरे!।
अन्य शत्रु तो एक बार पर बार-बार ये प्राण हरें॥८४॥

अन्वयः—स्वाः जन्मसन्तानसम्पादिविवाहादिविधायिनः अस्य परे, परे सकृत्प्राणहारिणः परे न।

जन्मेत्यादि। स्वाः स्वजनाः भ्रातृपितृबन्धुबान्धवः। कथम्भूताः? जन्मसन्तान-सम्पादिविवाहादि-विधायिनः भववृद्धिप्रदायिविवाहादिकारकाः। जन्मनः संसारस्य सन्तानः सन्ततिः परम्पराः प्रवाहो वा तस्य सम्पादि सम्प्रापकं तच्च तत् विवाहादि तेषां विधायिनः विधानकारकास्ते। अस्य आत्मनः। परे शत्रवः। ''द्विड्विपक्षाहितामित्रदस्यु-शात्रवशत्रवः। अभिघातिपरारातिप्रत्यर्थिपरिपन्थिनः॥'' इत्यमरः। सन्तीति शेषः। न परे अन्ये। किं विशिष्टाः? सकृत्प्राणहारिणः सकृत् एकवारं प्राणान् हरन्तीत्येवं शीलं येषां ते प्राण-हारिणस्ते।'शीलेऽजातौ णिन्' इति शीलार्थे णिन्। परे शत्रवः। न सन्तीति शेषः। वास्तवेन भववर्धनकारिणो विवाहादिकार्येषु समुत्सुकाः स्वजना हि शत्रवो भवन्ति न चापरे शात्रवाः सकृत्घातकराः इत्यर्थः।

आह-विवाहश्चतुर्षु पुरुषार्थेषु एकतमः पुरुषार्थः। कथं तत्र प्रेर्यमाणाः स्वजनाः शत्रवा इति कथ्यन्ते। सत्यमुक्तम्। तत्पुरुषार्थं कुर्वन्तस्ते स्वयमपि मोहवशेनान्यानपि मोहवश्याः कुर्वन्ति। मोह एव महाऽमित्रं भाविजन्म-हेतुत्वात्। स चैकाकिनः स्वदेहविषय एव। उद्वाहे महामोहकूपे वनिताविषयभूते स चानन्तगुणो भवति, तस्याः सम्बन्धात्। सुतसुता-सञ्जाते सति च तेषां रक्षणपोषणविषयभूते विकल्पपारावारे निमज्जनात्

उत्थानिका—बन्धुओं का जो कार्य उपकारक दिखाई देता है, वह सब अपकार के लिए ही है, यह यहाँ कहते हैं।

अन्वयार्थ-(**स्वाः**) आत्मीय जन (**जन्म-सन्तान-संपादि-विवाहादि-विधायिनः**) जन्म परम्परा को सम्पादित कराने वाले विवाह आदि करने वाले हैं। वे (**अस्य**) जीव के (**परे**) शत्रु हैं (**परे**) अन्य (**सकृत प्राणहारिणः**) एक बार प्राण हरने वाले (**परे न**) शत्रु नहीं हैं।

अर्थ—जो आत्मीय परिवार-जन जन्म परम्परा को वृद्धिंगत करने वाले विवाहादि कार्य कराने वाले हैं वे इस जीव के शत्रु हैं जो एक बार प्राण हरने वाले हैं वे यथार्थ में शत्रु नहीं हैं।

टीकार्थ—भाई, पिता, बन्धु, बान्धव ये आत्मीय जन हैं। संसार की परम्परा को ये विवाह आदि कराके बढ़ाते ही रहते हैं। वस्तुतः ये आत्मा के शत्रु हैं। एक बार प्राणनाश करने वाले अन्य जन शत्रु नहीं हैं। विवाह आदि कार्यों में उत्सुक रहने वाले अपने ही बन्धुजन वास्तव में संसार को बढ़ाने वाले हैं।

शंका—विवाह चार पुरुषार्थों में एक पुरुषार्थ है। फिर कैसे उसके लिए प्रेरणा करने वाले आत्मीयजन शत्रु कहलावें ?

समाधान—आपने ठीक कहा है। लेकिन उस पुरुषार्थ को करते हुए लोग स्वयं भी मोह के वशीभूत रहते हैं और अन्य को भी मोह के वशीभूत करते हैं। यह वैरी मोह ही अगले जन्म का हेतु है। वह मोह अकेले व्यक्ति को तो अपनी देह के विषय में रहता है। विवाह हो जाने परस्त्री विषयक महा-मोह रूप कुए में गिरने से वह मोह अनन्त गुणा हो जाता है। क्योंकि स्त्री से उसका सम्बन्ध हो जाता है। पुत्र-पुत्री हो जाने पर तो उनके रक्षण, पोषण के विषय में विकल्पों के समुद्र में डूब जाने

स्वात्मनो हितमभिवाञ्छन्नपि नाश्नुते। ततस्ते परमार्थाय विद्विष इति। कथं तर्हि काम-पुरुषार्थस्योपदेशः? तन्न युक्तं तथाविधस्यानुपलब्धेः। पौराणेषु तदुपलभ्यत इति चेत्? न, तत्र कामार्थस्य मात्रस्य नोपदेशः प्रत्युत धर्मसङ्गतेन तत्कार्यमित्याख्यत्। पुत्रकाम्येन विना भोगानुभवनं वासनामात्रत्वादधर्मः। वासना तु सर्वथा प्रतिषिद्धा अर्हन्धर्मे। ततः सुतेच्छया हि मैथुनमन्यथा धर्मेणासङ्गतत्वमित्यवोचत्। एवं कथनं धर्मोपदेशात्मकं न मन्तव्यं व्यवस्थामात्रत्वात्। लौकिकीयं व्यवस्था भगवताऽर्हता न प्रणीता। न च श्रावक-धर्मोपदेशावसरेऽपि तीर्थकृत्केवलिमुनिभिः कामार्थाय प्रेरणा श्रुतौ दृष्टा। तत्क्षणे तैः सकलनिवृत्ति-सामर्थ्याभावतो देशनिवृत्त्यर्थमुपदिष्टं, न च देश-प्रवृत्त्यर्थम्। तथापि आरातीयैः पुनराचार्यवर्यैः ''समं वा त्रिवर्गं सेवेत'' आर्षे च विवाह-क्रियाविधिसंस्कारे ''पाणिग्रहणदीक्षायां नियुक्तं तद्वधूवरम्'' इत्यादि व्यावर्णनं लोका-श्रयत्वात् सुपथे न्यायेन सर्वेषां प्रवर्त्तनार्थं लौकिकमेव व्यावर्णितम्। ''शशास कृष्यादिषु कर्मसु प्रजाः'' इति पुरुदेवस्यार्थपुरुषार्थस्य शिक्षणं कथमिति चेत्? तदपि नायुक्तं राजावस्थायां सरागत्वात्तथाविधदर्शनात्। तथा चोक्तम्-''तत्र वृत्तिं प्रजानां स भगवान् मतिकौशलात्। उपदिक्षत् सरागो हि स तदासीज्जगद्गुरुः'' इति जिनसेनीयम्। ''अपुत्रस्य गतिर्नास्ति'' इत्युक्तिरपि लौकिकी यतस्ततो विवाहकार्यादि प्रत्येकं कर्त्तव्यमिति नायाति। सर्वे तीर्थकराः चतुःपुरुषार्थपरत्वेनाख्याता तद्विना 'महार्था' इति

से अपनी आत्मा का हित चाहते हुए भी नहीं प्राप्त कर पाता है। इसलिए बन्धुजन परमार्थ के शत्रु कहे जाते हैं।

शंका—तो फिर काम पुरुषार्थ का उपदेश किसलिए है?

समाधान—ऐसा कहना ठीक नहीं है क्योंकि ऐसा उपदेश कहीं नहीं मिलता है।

शंका—पुराणों में वह मिलता तो है?

समाधान—नहीं, पुराणों में मात्र काम और अर्थ (धन) पुरुषार्थ का उपदेश नहीं है, किन्तु इसके विपरीत धर्म के साथ काम, अर्थ, पुरुषार्थ करना चाहिए, ऐसा कहा है।

पुत्र इच्छा के बिना भोगों का अनुभव करना वासना मात्र होने से अधर्म है। अरहन्त भगवान् के धर्म में वासना तो पूर्णरूप से प्रतिषिद्ध है। इसलिए पुत्र की इच्छा से ही मैथुन करना चाहिए अन्यथा वह धर्म के साथ होने वाला काम पुरुषार्थ नहीं है, यह कहा गया है।

इस प्रकार का कथन भी धर्मोपदेशात्मक नहीं स्वीकारना चाहिए किन्तु व्यवस्थामात्र के कारण से है, ऐसा मानना चाहिए। यह लौकिकी व्यवस्था भगवान् अर्हन्त ने नहीं कही है। तथा श्रावक धर्म का उपदेश देते समय भी तीर्थंकर,केवली, मुनिराजों ने काम, अर्थ पुरुषार्थ के लिए प्रेरणा दी हो, ऐसा शास्त्रों में नहीं देखा जाता है। उस समय पर उन तीर्थंकर आदि ने सकल विरति के अभाव में देशविरति के लिए उपदेश दिया है, न कि एकदेश प्रवृत्ति करने के लिए उपदेश दिया है।

फिर भी अर्वाचीन आचार्यों ने ''तीनों पुरुषार्थों का सेवन समान रूप से करो'' आर्ष ग्रन्थ में भी विवाह-क्रिया विधि के संस्कार में ''पाणिग्रहण दीक्षा में वे वर-वधू नियुक्त हुए'' इस प्रकार का

विशेषणं न युज्यत इति चेत्? तन्न, पञ्चबालयतीनां तीर्थप्रणेतृणां तदभावेऽपि तद्विशेषणेन विशिष्टताऽभ्युप-गमात्। न च कामार्थपुरुषार्थौ कुर्वाणस्य महार्थता आजन्मतस्तदेवाभ्यसनात्। यद्येवं स्यात्तर्हि सर्वेषां शूद्राणामपि महापुरुषार्थस्य प्रसङ्गः प्रसज्येत। महाँश्चासौ अर्थः पुरुषार्थः महार्थो मोक्षपुरुषार्थो निगद्यते। यद्वा महद्भि र्यदर्थ्यते प्रार्थ्यतेऽनुष्ठीयते वा तदर्थो महार्थो मोक्षः कथ्यते। ननु चायं पञ्चतीर्थकृतामपवादो हुण्डावसर्पिणीकालदोषात् सञ्जायत इति चेन्न, तदागमाभावात्। त्रिलोकप्रज्ञप्तौ तत्कालदोषान् भण्यमाणे तन्न भणितम्। विवहनस्य पश्चात् धनार्जनाय पण्यप्रदानं संसारे वसनाय बन्धनं बलीवर्दगलगतकाष्ठवत्। महतामपि दुष्करं यौवने गृहपरित्यजनम्। यतस्त्रिवर्गसंससाधनमन्तरेणापि मोक्षपुरुषार्थः श्रेयस्करस्ततः स्वजनस्य विवाहादिसम्पादिकार्यं प्रत्यनीकत्वमेतीति सिद्धं भवति॥ अनुष्टुप्छन्दः ॥८४॥

जो वर्णन किया है वह इसलोक के आश्रय से किया है ताकि समीचीन पथ पर न्यायपूर्वक सभी की प्रवृत्ति होती रहे, इसलिए वह वर्णन लौकिक हैं।

शंका—भगवान् वृषभदेव ने अर्थ पुरुषार्थ का उपदेश दिया है–''कृषि आदि कर्मों में वृषभदेव ने प्रजा को लगाया।'' ऐसा **स्वयंभू स्तोत्र** में कहा है, वह शिक्षा कैसे दी?

समाधान—वह शिक्षा भी अनुचित नहीं है। राजा की अवस्था में सरागदशा में रहने से इस प्रकार उन्होंने शिक्षा दी। कहा भी है–''भगवान् ने अपने मतिज्ञान की कुशलता से प्रजा के लिए उनकी वृत्तियाँ सिखायीं। सराग होने से भगवान् ने ऐसा उपदेश दिया। इसलिए वह 'जगद्गुरु' कहलाए।'' यह जिनसेन आचार्य के वचन हैं। और जो यह कहा जाता है कि ''बिना पुत्र के सद्गति नहीं होती।'' सो यह लौकिक उक्ति है। इसलिए विवाह आदि कार्य प्रत्येक को करना ही चाहिए, यह सिद्ध नहीं होता हैं।

शंका—सभी तीर्थंकर चार पुरुषार्थ में तत्पर रहने वाले थे। उसके बिना उन्हें 'महार्था' यानी महापुरुषार्थ करने वाले, इस विशेषण से नहीं जोड़ा जा सकता है ?

समाधान–ऐसा नहीं है, पाँच बालयति तीर्थंकर भी हुए हैं। जो काम, अर्थपुरुषार्थ के अभाव में भी 'महार्था' इस विशेषण से विशिष्ट थे, यह सभी स्वीकारते हैं।

कभी भी काम और अर्थ पुरुषार्थ करने वालों को ही महान् पुरुषार्थ वाला नहीं कहा जा सकता है क्योंकि इन पुरुषार्थों का अभ्यास तो जब से संसार है तब से है। यदि ऐसा होने लगे तो शूद्र को भी महापुरुषार्थ करने का प्रसंग आ जायेगा।

जो पुरुषार्थ महान् है वह मोक्षपुरुषार्थ ही 'महार्थ' कहलाता है। अथवा महान पुरुषों के द्वारा जिसकी प्रार्थना की जाती है। जिसका अनुष्ठान किया जाता है। उसी के लिए जो पुरुषार्थ हो वह महान् पुरुषार्थ मोक्ष कहलाता है।

शंका—यह पाँच तीर्थंकरों का काम, अर्थ पुरुषार्थ नहीं करना तो अपवाद है जो हुण्डावसर्पिणी काल के दोष से होता है ?

तद्विवाहादिकार्यं कथम्भूतमित्यत आह–

(अनुष्टुप्)

धनरन्धनसम्भारं प्रक्षिप्याशाहुताशने।
ज्वलन्तं मन्यते भ्रान्तः शान्तं सन्धुक्षणक्षणे ॥८५॥

अन्वयः—आशाहुताशने धनरन्धनसम्भारं प्रक्षिप्य ज्वलन्तं सन्धुक्षणक्षणे भ्रान्तः शान्तं मन्यते।

धनेत्यादि। आशाहुताशने तृष्णाग्नौ। आशा एव हुताशनोऽग्निस्तस्मिन्। धनरन्धनसम्भारं धनविनाशोपक्रमम्। धनस्य रन्धनं रन्धिर्विनाशः क्षतिर्वा तस्य संभारः उपक्रमस्तम्। अथवा रन्ध्यतेऽनेनेति रन्धनमिन्धनम्। धनमेव रन्धनं तस्य संभारः समूहस्तम्। प्रक्षिप्य प्रक्षेपणं कृत्वा समर्प्येत्यर्थः। ज्वलन्तं ज्वलतीति ज्वलन् तं वृद्धिंगतं हुताशनम्। सन्धुक्षणक्षणे विवर्धनक्षणे। भ्रान्तः वैपरीत्यमतिः। शान्तं प्रशान्तं सन्तुष्टं वा। मन्यते कलयति। इतिविस्मयः आशा संज्ञा तृष्णा कामना वासना वाञ्छा इत्यनर्थान्तरम्। ततः

समाधान—नहीं, इस प्रकार आगम में नहीं पाया जाता है। त्रिलोक प्रज्ञप्ति में हुण्डावसर्पिणी काल के दोषों को कहा है लेकिन वहाँ यह दोष नहीं कहा है। विवाह के बाद धन अर्जन के लिए व्यापार करना संसार में रहने के लिए बैल के गले में लटकी काठ के समान बन्धन है। महान् पुरुषों के लिए भी यौवन में गृह का परित्याग करना दुष्कर होता है। चूँकि तीन पुरुषार्थ किए बिना भी मोक्ष पुरुषार्थ करना श्रेयस्कर है इसलिए अपने परिवारजन के विवाह आदि कार्यों का सम्पादन मोक्ष के विरुद्ध है, यह सिद्ध होता हैं। यहाँ अनुष्टुप् छन्द है ॥८४॥

उत्थानिका—वे विवाह आदि कार्य कैसे हैं? यह कहते हैं–

अन्वयार्थ—(आशाहुताशने) आशा की अग्नि में **(धन-रन्धन-सम्भारं)** धनरूपी ईंधन का समूह **(प्रक्षिप्य)** डालकर **(ज्वलन्तं)** जलती हुई अग्नि को **(भ्रान्तः)** भ्रान्त पुरुष **(संधुक्षण-क्षणे)** बढ़ाते समय **(शान्तं)** शान्त **(मन्यते)** मानता है।

अर्थ—भ्रान्त जीव आशारूपी अग्नि में धनरूपी ईंधन के समूह को डालकर आशारूपी अग्नि को प्रदीप्त करते हुए उस काल में जलते हुए भी अपनी आत्मा को शान्त, सुखी हुआ मानता है।

टीकार्थ—तृष्णा की अग्नि में धन के विनाश का उपक्रम करता हुआ अथवा धनरूपी ईंधन के समूह को और उस अग्नि में समर्पित करता हुआ उस अग्नि को और बढ़ाता है। जब वह अग्नि बढ़ती है तो वह विपरीत बुद्धि वाला भ्रान्त आत्मा अपने आप को शान्त अथवा सन्तुष्ट मानता है, यह बड़े आश्चर्य की बात है! आशा, संज्ञा, तृष्णा, कामना, वासना, वाञ्छा ये सभी एकार्थक शब्द हैं। इसलिए

जिसके जीवन में वह जलता आशारूपी अनल महा।
जिसमें डाले धन इंधन का ढेर ढेर जड़ विकल अहा॥
प्रतिफल में वह प्रतिपल जलती जलती दीपित हो जाती।
भ्रान्त समझता शान्त उसे पै बुद्धि भ्रान्ति वश खो जाती ॥८५॥

चतसृषु संज्ञासु हुताशनसमानाषु तद्योग्यार्थसार्थप्रदानेन तद्वृद्धिरेव जायते। वृद्धया च तापक्लेशानि। तानि एव दुःखानि। तथापि मूढमतिर्मृगतृष्णायमानो दुःखं हि सुखं जानातीति भ्रान्तिः। ननु च भयसंज्ञा कथं विवर्धते? भयस्य च प्रत्ययस्य प्रतीकारेण। तत्कथमिति चेत्? यस्माद् बिभेति तन्नियमेन क्वापि न क्वापि निपतति। क्षणभङ्गुरवस्तु-संघातस्य सुरक्षोपाया हि भयवर्धनोपाया विपरीतपुरुषार्थत्वात्। अनुष्टुप्छन्दः ॥८५॥

एवं कुर्वतो जरासमायाते किं भविष्यतीत्याह–

(आर्या)

पलितच्छलेन देहान्निर्गच्छति शुद्धिरेव तव बुद्धेः।
कथमिव परलोकार्थं जरी वराकस्तदा स्मरति ॥८६॥

चारों ही संज्ञायें अग्नि के समान हैं। उन संज्ञाओं के योग्य जो पदार्थ समूह हैं उसे उपलब्ध कराते रहने से उन संज्ञाओं की वृद्धि ही होती है। संज्ञा की वृद्धि से ताप और क्लेश होते हैं। यही दुःख है। फिर भी मूढ़ बुद्धि जीव मृगतृष्णा की तरह भटकता हुआ दुःख को ही सुख जानता है, यही सबसे बड़ी भ्रान्ति है।

शंका—आहार, मैथुन और परिग्रह की संज्ञा तो उस-उस संज्ञा के योग्य पदार्थों के द्वारा बढ़ती है, यह ठीक है किन्तु भय संज्ञा कैसे बढ़ती है ?

समाधान—भय के कारणों का प्रतीकार करने से।

शंका—वह कैसे ?

समाधान—जिन कारणों से यह आत्मा डरता है, वे कारण नियम से कहीं-न-कहीं मिल जाते हैं। जिससे उसका भय बढ़ता जाता है।

क्षणभंगुर वस्तुसमूह की सुरक्षा का उपाय ही भय की वृद्धि का कारण है क्योंकि यह विपरीत पुरुषार्थ है। यहाँ अनुष्टुप् छन्द है ॥८५॥

उत्थानिका—इस प्रकार करते हुए प्राणी को बुढ़ापा आ जाने पर क्या होगा, यह कहते हैं–

अन्वयार्थ—**(पलित-च्छलेन)** सफेद बालों के छल से **(तव)** तेरी **(देहात्)** देह से **(बुद्धेः)** बुद्धि की **(शुद्धिः एव)** शुद्धि निर्मलता ही **(निर्गच्छति)** निकल रही है **(तदा)** तब **(जरी)** बूढ़ा आदमी **(परलोकार्थम्)** परलोक के लिए हितकारी कार्यों का **(कथमिव)** किस प्रकार **(स्मरति वराकः)** बेचारा स्मरण करे ?

अर्थ—सफेद केशों के बहाने तेरी बुद्धि भी शुद्धता-निर्मलता इस शरीर से निकल रही है अतः परलोक के विषय में तू क्या स्मरण-विचार कर सकेगा? यानी कुछ भी नहीं।

धवल धवल तम बालों से तव मस्तक शशि सम धवलित है।
इसी बहाने तव मति शुचिता बाहर निकली मम मत है॥
जरा दशा में जरा सोचना भी किस विध फिर बन सकता।
परभव हित का अतः स्मरण भी किस विध यह मन कर सकता ॥८६॥

अन्वयः—पलितच्छलेन तव देहात् बुद्धेः शुद्धिः एव निर्गच्छति तदा जरी परलोकार्थं कथमिव स्मरति वराकः?।

पलितेत्यादि। पलितच्छलेन धवलकेशव्याजेन। ''पलितं केशपांडुत्वे पङ्के तापेऽपि शैलजै'' इति वि० लो०। तव भवतः। देहात् शरीरात्। बुद्धेः स्मृतेः। शुद्धिः शक्तिः। एवावधारणे। निर्गच्छति बर्हिर्निर्याति। तदा वार्धक्यावस्थायाम्। 'यत्किं तत्सर्वैकान्याद्वा' इति दात्यः। तस्मिन् काले तदा। जरी जरावान्। 'व्रीह्यादिभ्यः' इत्यनेन इन्। परलोकार्थं परलोकस्य अभ्युदयनिःश्रेयसकारणस्य अर्थं प्रयोजनार्थम्। कथमिव स्मरति न कथमपीत्यर्थः। कथम्भूतः? वराकः दयापात्रः। वार्धक्ये तपोवन-माश्रयेदिति भणन्तं प्रत्यत्रोत्प्रेक्षते—पलितं मुण्डं तव बुद्धेः शुद्ध्यभावं दर्शयति। जराजर्जरिते शरीरे सति कुतो निर्जरा, विशुद्धिप्रकर्षाभावात्। आवश्यकक्रियासु समितिप्रवृत्तिषु च सदुत्साहापेतस्य निर्वहनमात्रमस्ति। केवलं सपर्यापात्रं संघस्थैः सधर्मिभि र्वा। अहो किं मोक्षसुखं मूल्यहीनं, यज्जीवितान्तकाले निःसारात्मके तदर्थं प्रवर्त्तते। यद्येवं स्यात्तर्हि न किमपि प्रयोजनं तत्काले गृहत्यजनात्। यदि न स्यादेवं तर्हि स्वजीवितस्य सारभूतं यौवनमात्मार्थं समर्पयेत्। देहस्य शुद्धशक्तिमात्मशक्ति-प्रकटनाय नियोजयेत्। यावत्स्वोरूत्थापनाय सामर्थ्यं तावदेव भुक्तिरिति वीरचर्या स्वैरिणी समालम्ब्यतां, निर्ग्रन्थलिङ्गस्य परानपेक्षिकत्वात्। आर्यावृत्तम्॥८६॥

युवावस्थायां मोहं विहाय विरज्यमानानामाशंसामत्र कुर्वन्नाह वृत्तद्वयेन—

टीकार्थ—धवल केश मानों यह कह रहे हैं कि तेरे शरीर से बुद्धि या स्मृति की शक्ति ही बाहर निकल रही है। उस बुढ़ापे की अवस्था में बूढ़ा व्यक्ति स्वर्ग और मोक्ष के कारण के लिए कैसे स्मरण कर सकता है? वृद्धावस्था में तपोवन का आश्रय लेते हैं, इस प्रकार कहने वाले के प्रति उत्प्रेक्षा करते हुए कहते हैं—सफेद पके बाल तुम्हारी बुद्धि की शुद्धि के अभाव को दिखाते हैं। शरीर जब बुढ़ापे से जर्जरित हो जाता है तो निर्जरा कैसे हो? क्योंकि विशुद्धि की उत्कृष्टता बुढ़ापे में नहीं रहती है। आवश्यक क्रियाओं में और समिति की प्रवृत्ति में अच्छा उत्साह नहीं रहता है जिससे इन सब क्रियाओं का निर्वाह मात्र होता है। उस बुढ़ापे में केवल संघस्थ जनों और साधर्मीजनों से सेवा मात्र कराना ही रह जाता है। अहो! क्या मोक्षसुख मूल्यहीन है जो जीवन के अन्त में जब कोई सार नहीं रह जाता है तब उस मोक्ष के लिए प्रवर्तन करता है। यदि ऐसी ही भावना है तो उस समय पर भी गृहत्याग से क्या प्रयोजन सिद्ध होगा ? यदि ऐसा नहीं है तो अपने जीवन का सारभूत समय यौवन का है उसे अपने आत्मा के लिए समर्पित कर दो। देह की शुद्ध शक्ति को आत्मशक्ति प्रकट करने में लगा दो। जब तक अपनी जंघा में स्वयं खड़े होने की शक्ति है तभी भुक्ति की जाती है, इस प्रकार की स्वेच्छाचारी वीरचर्या का आलम्बन लो क्योंकि निर्ग्रन्थ लिंग कभी भी पर की अपेक्षा नहीं रखता है। यहाँ आर्या छन्द है॥८६॥

उत्थानिका—युवा अवस्था में मोह को छोड़कर विरक्त होने वालों की दो श्लोकों से प्रशंसा करते हुए यहाँ कहते हैं—

(शार्दूलविक्रीडित)

इष्टार्थोद्यदनाशितं भवसुखक्षाराम्भसि प्रस्फुरन्
नानामानसदु:खवाडवशिखासन्दीपिताभ्यन्तरे ।
मृत्यूत्पत्तिजरातरङ्गचपले संसारघोरार्णवे,
मोहग्राहविदारितास्यविवराद् दूरे चरा दुर्लभा: ॥८७॥

अन्वय:—संसारघोरार्णवे भवसुखक्षाराम्भसि इष्टार्थोद्यदनाशितं प्रस्फुरन् नानामानसदु:खवाडव-शिखासन्दीपिताभ्यन्तरे मृत्यूत्पत्तिजरातरङ्गचपले मोहग्राह-विदारितास्यविवराद् दूरे चरा: दुर्लभा:।

इष्टेत्यादि। संसारघोरार्णवे संसारसमुद्रे। संसारो भवो घोरार्णव इव। ''व्याघ्रादिभिरुपमेयोऽतद्योगे'' इत्युपमितसमास:। अत्र संसारस्य महाभयानकसमुद्र-तुल्यत्वम्। यद्वा संसार एव घोरार्णव: संसार-घोरार्णवस्तस्मिन्। कथम्भूते? भवसुख-क्षाराम्भसि संसारसुखक्षारजले। भवस्य संसारस्य सुखं तदेव क्षारमम्भो यत्र तस्मिन्। अत्र भवसुखस्य क्षारजलसदृशत्वं पिपासावृद्धेरतृप्तिजनकत्वाद्वा। तत्र किं कुर्वन्? इष्टार्थोद्यदनाशितं प्रस्फुरन् मनोज्ञपदार्थप्रादुर्भूतासकृद्भावं विदधन्। इष्टार्था: पञ्चेन्द्रियाणां मनोज्ञविषया:

अन्वयार्थ—(संसार-घोरार्णवे) संसाररूपी घोर समुद्र **(भव-सुख-क्षाराम्भसि)** संसार सुख के खारे जल से सहित है उसमें **(इष्टार्थ-उद्यद्-अनाशितं)** इष्ट पदार्थ का अतृप्तिकारक सुख उत्पन्न हुआ **(प्रस्फुरन्)** दिखाई देता है **(नाना-मानस-दु:ख-वाडव-शिखा-संदीपिता-भ्यन्तरे)** जिसमें नाना-मानस दु:खों रूप बड़वाग्नि की ज्वाला जल रही है **(मृत्यूत्पत्ति-जरा-तरङ्ग-चपले)** मृत्यु, जन्म, बुढ़ापे की तरङ्गों से जो चंचल है **(मोह-ग्राह-विदारिता-स्य-विवराद्)** मोह रूपी मगरमच्छ के खुले मुख-छिद्र से **(दूरे चरा:)** दूर रहने वाले जीव **(दुर्लभा:)** दुर्लभ हैं।

अर्थ—संसार सुख के खारे जल से भरा संसाररूपी घोर समुद्र है। जो इष्ट पदार्थों से उत्पन्न असन्तोषजनक दु:ख से स्फुरायमान है। जिसका अभ्यन्तर भाग अनेक प्रकार के मानसिक दु:खों की बड़वानल से जल रहा है। जो मृत्यु, जन्म, बुढ़ापा की लहरों से चंचल है। जिसमें मोहरूपी मगरमच्छ मुँह फाड़े है उस मुख छिद्र से दूर रहने वाले दुर्लभ हैं।

टीकार्थ—यहाँ संसार की तुलना एक भयानक समुद्र से की गई है। अथवा यूँ कहें कि संसार ही एक भयानक समुद्र है। इस संसार-समुद्र में सुख का खारा जल भरा है। जैसे खारा जल प्यास बढ़ाता है और उससे कभी तृप्ति नहीं होती है वैसे ही संसार के सुख की स्थिति है। पंचेन्द्रियों के मनोज्ञ विषय

तृप्ति जनक, ना, इष्ट अर्थमय अब सुख खारा उदक रहा।
बहुविध मानस दुख वडवानल जिसके भीतर धधक रहा॥
जनन जरा मृति तरंग उठती मोह मगर मुख खोले हैं।
भवदधि में गिरने से कुछ ही बच पाते दृग खोले हैं॥८७॥

तस्मादुद्यत् प्रादुर्भवत् तच्च तदनाशितं अनेकवारं तम्। न नाशितं अनाशितं मुहुर्मुहुरुत्पत्तेः। प्रस्फुरतीति प्रस्फुरन्। 'सल्लटः' इति शतृत्यः। तत्रोद्यतो भवतीत्यर्थः। पुनश्च किं भूते? नानामानसेत्यादि–नानामानसदुःखानि कथनागोचराणि तानि एव वाडवशिखा वडवानलज्वालावल्यः ताभिः सन्दीपितं प्रज्वलितं अभ्यन्तरं तत्तत्र। नानामानसिकदुःखानां वडवालनशिखातापतुल्यत्वं सन्तापदाहकारणत्वात्। अपरञ्च किं विशिष्टे? मृत्यूत्पत्तिजरातरङ्गचपले मरण–जन्मवार्धक्यतरङ्गचञ्चले। मृत्यूत्पत्तिजरा एव तरङ्गाः कल्लोलास्तैश्चपला चञ्चलता यत्र। मरणजातिजरावस्थानां तरलतरङ्गसादृश्यमुत्पन्नविनाशित्वात्। एवं विधे घोरसमुद्रे किं कर्त्तव्यमित्याह–मोहग्राहविदारितास्यविवरात् मोहमहामत्स्यास्फारित–मुखच्छिद्रात्। मोह एव ग्राहोऽवहारो विशालकायजलचरस्तेन विदारितं स्फारितं–तच्च तत् आस्यं मुखं तदेव विवरं बिलं तस्मात्। दूरे चराः दूरे चरन्तीति दूरे चराः दूरेऽवतिष्ठमानाः। दुर्लभाः द्वित्रादयः सन्तीति। शार्दूलविक्रीडितवृत्तम्॥८७॥

तथा च–

(मन्दाक्रान्ता)

अव्युच्छिन्नैः सुखपरिकरै-र्लालिता लोलरम्यैः,
श्यामाङ्गीनां नयनकमलैरर्चिता यौवनान्तम्।
धन्योऽसि त्वं यदि तनुरियं लब्धबोधेर्मृगीभि-
र्दग्धारण्ये स्थलकमलिनीशङ्कयालोक्यते ते॥८८॥

इष्ट पदार्थ हैं उनसे उत्पन्न सुख में जीव बार-बार उद्यत रहता है। इस प्राणी के जो अनेक मानसिक दुःख हैं वे सन्ताप और दाह का कारण होने से बड़वानल की ज्वाला के समान जलाने वाले हैं। जैसे समुद्र में लहरें उत्पन्न होकर विनष्ट होती रहती हैं वैसे ही इस संसार में मरण, जन्म और बुढ़ापे की तरंगें हैं। एक विशाल जलचर मगरमच्छ के खुले, फाड़े हुए मुख की तरह मोहरूपी बिल (विशाल गड्ढा) है। इस बिल से दूर रहने वाले जीव तो दो, तीन ही होने से दुर्लभ हैं। यहाँ शार्दूलविक्रीडित छन्द है॥८७॥

उत्थानिका—उसी प्रकार–

अन्वयार्थ–(इयं तनुः) यह शरीर **(अव्युच्छिन्नैः)** निरन्तर **(सुख-परिकरैः)** सुख सामग्री से **(लालिता)** लालित हुआ है **(यौवनान्तं)** यौवन में **(श्यामाङ्गीनाम्)** सुन्दर स्त्रियों के **(लोलरम्यैः)** चंचल, रम्य **(नयन-कमलैः)** नयन कमलों से **(अर्चिता)** अर्चित हुआ है। **(यदि)** यदि **(ते)** तुम **(लब्धबोधेः)** जो बोधि प्राप्त कर चुके हो, **(दग्धारण्ये)** दग्ध जंगल में **(मृगीभिः)** हिरणी समूह से

अविरल सुख परिकर से लालित यौवन मद से स्पर्शित था।
ललित युवति दल नयन कमल ले तुझे निरख कर हर्षित था॥
फिर भी तप कर काय सुखाया धन्य हुवा यदि सुधी रखे।
जली कमलिनी का भ्रम कर तुझ दग्ध वनी में मृगी लखे॥८८॥

अन्वयः—इयं तनुः अव्युच्छिन्नैः सुखपरिकरैः लालिता, यौवनान्तं श्यामाङ्गीनां लोलरम्यैः नयनकमलैः अर्चिता, यदि ते लब्धबोधेः तनुरियं मृगीभिः दग्धारण्ये स्थलकमलिनीशङ्कया आलोक्यते, त्वं धन्यः असि।

अव्युच्छिन्नैरित्यादि। इयं परिदृश्यमाना। तनुः शरीरम्। अव्युच्छिन्नैः निरन्तरैः। सुखपरिकरैः सुखप्रबन्धैः भृत्यबन्धुवनितादिभूतैः। लालिता लालनं प्राप्ता। इति युवावस्थापर्यन्तम्। यौवनान्तं यौवनस्य तारुण्यस्य अन्तं मध्यं यस्मिन् कर्मणि तत्। षोडशवर्षादुपरि वयो यौवनमुच्यते। श्यामाङ्गीनां ललित-वनितानाम्। लोलरम्यैश्चपल-रमणीयैः। लोलेन चपलेन रम्यं मनोहरं तत् तैः। कैस्तैः? नयनकमलैः नयनानि एव कमलानि तैरिति। यसः। रूपकालङ्कारे। यद्वा नयनानि कमलानीव। इत्यपि यसः। उपमालङ्कारे। अर्चिता पूजिता सम्मानिता पुष्कलेनानिमेषविलोकनीया। यदि ते तव भव्यस्य। कथम्भूतस्य। लब्धबोधेः सम्प्राप्तरत्नत्रयस्य। लब्धा बोधिःरत्नत्रयभूतिर्येन सः। बसः। तस्य। तनुरियमित्यत्रापि समायोजनीयम्। मृगीभिः कुरङ्गीभिः। दग्धारण्ये दग्धवने। स्थलकमलिनीशङ्कया कठिनशुष्कसिकताभूमिपद्मिनीसन्देहेन। स्थलकमलिनी भूपद्मिनी तस्याः शङ्का सन्देहस्तया। आलोक्यते अवेक्ष्यते। 'लोकृङ् लोचने' इत्येत-स्माद्धोः कर्मणि लट्। तर्हि इति नित्यसम्बन्धनीयम्। त्वं भवान्। धन्यः असि प्रशंसार्होऽसि। इति मन्दाक्रान्ता-वृत्तम्॥८८॥

इत्थंभूतायामवस्थायां तपश्चरतो जन्मसाफल्यमन्यथा नावकाश इति दर्शयन्नाह—

(स्थल-कमलिनी-शङ्कया) स्थल कमलिनी की शंका से **(आलोक्यते)** देखे जाते हो तो **(त्वं)** तुम **(धन्यः असि)** धन्य हो।

अर्थ—निरन्तर सुख की सामग्री से पाला-पोषा गया यह शरीर, यौवन में श्यामाङ्गी स्त्रियों के चंचल, मनोहर नयन कमलों से अर्चित हुआ है। यदि तुम्हें बोधि प्राप्त हो जाने से यह तुम्हारा शरीर जले वन में हिरणियों के द्वारा स्थल कमलिनी की आशंका से देखा जाता है, तो तुम धन्य हो।

टीकार्थ—तुम्हारा यह दिखाई देने वाला शरीर युवावस्था तक तो नौकर, बन्धु, स्त्री आदि सुख के प्रबन्धों से लाड़ प्यार में पला है। सोलह वर्ष से ऊपर की उम्र यौवन कहलाती है। उसी यौवन अवस्था में सुन्दर स्त्रियों के चपल होने से, सुन्दर लगने वाले नयन-कमलों से सम्मानित हुआ है। अर्थात् स्त्रियाँ तुम्हारे यौवन को खूब अपलक देखती रही हैं। अब तुम्हें रत्नत्रय का वैभव प्राप्त हुआ है तो तप से क्षीण हुए तुम्हारे शरीर को हिरणियाँ जले हुए वन में स्थल कमलिनी की आशंका से देखती है। अर्थात् जंगल में कठोर, शुष्क, बालूमय भूमि पर तुम्हें बैठा देखकर हिरणियों को कमलिनी होने का भ्रम उत्पन्न हुआ है। कहा भी है-''साधु का शरीर उग्रतप करने से क्षीणता को प्राप्त हो जाता है।'' ऐसे भव्यजीव ही पुण्यशाली हैं और स्तुति के योग्य हैं। यहाँ मन्दाक्रान्ता छन्द है॥८८॥

उत्थानिका—इस प्रकार की अवस्था में तपश्चरण करने वाले का जन्म ही सफल है, अन्यथा तप करने का अवकाश नहीं मिलता है, इस प्रकार कहते हैं—

(शार्दूलविक्रीडित)

बाल्ये वेत्सि न किञ्चिदप्यपरिपूर्णाङ्गो हितं वाहितं,
कामान्धः खलु कामिनीद्रुमघने भ्राम्यन् वने यौवने।
मध्ये वृद्धतृषार्जितुं वसु पशुः क्लिश्नासि कृष्यादिभि-
र्वार्द्धिक्येऽर्धमृतः क्व जन्म फलि ते धर्मो भवेन्निर्मलः ॥८९॥

अन्वयः—बाल्ये अपरिपूर्णाङ्गः हितं अहितं वा न किञ्चिदपि वेत्सि, यौवने वने कामान्धः कामिनीद्रुमघने खलु भ्राम्यन्, मध्ये वृद्धतृषा वसु अर्जितुं पशुः (इव) कृष्यादिभिः क्लिश्नासि, वार्द्धिक्ये अर्धमृतः, क्व ते जन्म फलि, (क्व) धर्मः निर्मलः भवेत्।

बाल्य इत्यादि। बाल्ये बालावस्थायाम्। अपरिपूर्णाङ्गः अविकसितदेहः। न परिपूर्णानि देहस्य अङ्गानि यस्य सः। बसः। हितं कृत्यम्। अहितं अकृत्यम्। वा अथवा न किञ्चिदपि अल्पमपि। वेत्सि जानासि। त्वं हे भव्य! इति शेषः। चत्वारो विदयः सन्ति अवगमनलाभविचारसद्‌भावार्थे। यदुक्तम्–

अन्वयार्थ—(बाल्ये) बाल्यकाल में **(अपरि-पूर्णाङ्ग:)** अंग परिपूर्ण नहीं होने से **(हितं अहितं वा)** हित अथवा अहित को **(न किञ्चिदपि)** कुछ भी नहीं **(वेत्सि)** जानता है **(यौवने वने)** यौवन के वन में **(कामान्धः)** कामान्ध हुआ **(कामिनी-द्रुमघने)** स्त्रियों के घने वृक्षों में **(खलु)** निश्चित ही **(भ्राम्यन्)** भ्रमण करते हुए **(मध्ये)** मध्य वय में **(वृद्धतृषा)** बढ़ी हुई तृष्णा से **(वसु)** द्रव्य **(अर्जितुं)** कमाने के लिए **(पशुः)** पशु की तरह **(कृष्यादिभिः)** कृषि आदि से **(क्लिश्नासि)** क्लेश सहते हो **(वार्धिक्ये)** वृद्ध दशा में **(अर्धमृतः)** अर्ध मृतक होते हो **(क्व)** कब **(ते)** तुम्हारा **(जन्म)** जन्म **(फलि)** फलवान हुआ **(धर्मः)** धर्म **(निर्मलः भवेत्)** निर्मल होवे।

अर्थ—बाल्यावस्था में शरीर परिपूर्ण न होने से कुछ भी हित, अहित नहीं जानता है। फिर कामान्ध हुआ कामिनी वृक्षों के यौवन वन में भ्रमण करता है। मध्य अवस्था में बढ़ी हुई तृष्णा से कृषि आदि से द्रव्य अर्जित करने के लिए पशु बनकर क्लेश उठाता है। वार्धक्य अवस्था में अर्धमृत हो जाता है। कब तेरा जन्म सफल होगा ? धर्म ही निर्मल है।

टीकार्थ–बाल्यावस्था में शरीर के अंग पूर्ण विकसित नहीं होते हैं। उस समय कृत्य, अकृत्य थोड़ा भी तुम हे भव्य! नहीं जान पाते हो। जन्म से आठ वर्ष तक बाल्य अवस्था रहती है। यह अवस्था सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्‌चारित्र धारण करने के अयोग्य होती है। बाल दशा में मिट्टी खाता है,

---

निर्बल तन मन बालक जब थे नहीं हिताहित विदित हुए।
युवा हुए कामान्ध युवति तरु वन में निशिदिन भ्रमित हुए॥
प्रौढ़ हुए धन तृषा बड़ी फिर कृषि आदिक कर विकल बने।
वृद्ध हुए फिर अर्धमृतक कब जनम धरम कर सफल बने ॥८९॥

''सत्तायां विद्यते ज्ञानं वेत्ति विन्ते विचारणे।
विन्दते विन्दति प्राप्तौ श्यन्लु-कश्नम्शेष्विदं क्रमात्॥''

एतेषां मध्ये 'विद ज्ञाने' अदादौ इति धोरत्राभिप्रेतोऽवगमनार्थो मध्यमपुरुषस्यैकवचनान्तं रूपम्। जन्मतः आ अष्टवर्षपर्यन्तं बाल्यावस्था सद्दर्शनविज्ञानवृत्तधारणायोग्यत्वात्। मृत्तिकामत्ति अवस्करेऽव-तिष्ठते कुत्रापि प्रस्रवति स्मृतेर्भ्रान्तिः इत्यादि बहुशो बालदोषाः। जन्मतः सम्यग्दृष्टयोऽपि हिताहितविकला भवन्ति। किं बहुना। यौवने युवाऽवस्थायाम्। अविशेषतः युवावस्था बाल्यादुपरि जरादधः स्यात् विशेषतः पुनः षोडशवर्षपर्यन्तं तारुण्यम्। तदुपरि पञ्चविंशतिवर्षाणि वयस्कता। तदुपरि प्राक् वार्धक्यात् युवावस्था मध्यमा प्रोच्यते। तेनात्र वयस्कतापर्यन्तदशाऽऽदीयते। कथम्भूते? वने अरण्यसदृशे। कामान्धः कामेनान्धो दृष्टिप्रतिबन्धकः सः। कामिनीद्रुमघने कामिन्य एव द्रुमाः वृक्षास्तैर्घनं सान्द्रं यत्र तरुणीच्छायायाम्। खलु स्फुटम्। भ्राम्यन् परिभ्रमन्। मध्ये युवादशायाम्। वृद्धतृषा वृद्धा वृद्धिंगता तृट् तृष्णा वृद्धतृट्। 'पुंवद्यजातीयदेशीये' इति यसविधौ पुंवद्भावः पूर्वपदस्य। तया तीव्रतृष्णया। वसु धनम्। अर्जितुं अर्जनं कर्तुम्। पशुः भारवाही। 'देवपथादिभ्यः' इतीवार्थस्य कस्योस्। पशुः इव पशुः। तेन भारवहनतुल्यत्वाद् मध्ये पशुः प्रोक्तः। कृष्यादिभिः कृषिः आदौ येषां असिमषिवाणिज्यशिल्पविद्यानां तैः षड्कर्मभिरित्यर्थः। क्लिश्नासि कष्टं गमयसि। वार्द्धिक्ये वृद्धदशायाम्। अर्धमृतः स्वकार्यकर्तुमक्षमः। क्व कस्मिन् दशायाम्। ते तव भव्यस्य। जन्म मनुष्यायुः। फलि सफलम्। क्वेति पुनर्योज्यः। धर्मः इहामुत्रसौख्यविधायी। उणादिषु निपातितः। निर्मलो विशुद्धः। भवेत्। निर्मलधर्माचरणेन विनायुषः साफल्यं न भवेदित्यर्थः। तच्च मध्ये भवतीति तात्पर्यम् ॥८९॥

गंदगी में बैठ जाता है, कहीं पर भी पेशाब कर देता है, स्मृति नहीं रहती है इत्यादि बाल अवस्था के बहुत से दोष होते हैं। जन्म से तो सम्यग्दृष्टि जीव भी हित-अहित के ज्ञान से शून्य होते हैं। बहुत क्या कहें ? युवा अवस्था में कामान्ध रहता है। सामान्य रूप से बाल्य अवस्था से ऊपर और बुढ़ापे से नीचे युवा अवस्था कहलाती है। किन्तु विशेषरूप से सोलह वर्ष तक की अवस्था तरुणावस्था है। उसके आगे पच्चीस वर्ष की अवस्था वयस्क अवस्था कहलाती है। उसके आगे वृद्धावस्था से पहले युवावस्था मध्यम अवस्था कहलाती है। इसलिए यहाँ वयस्कता पर्यन्त की दसा ग्रहण की है। वन के समान इस यौवन के जंगल में काम से अंधा हुआ प्राणी सुन्दर स्त्रियों की घनी छाया में भ्रमण करता रहता है। मध्य की युवा अवस्था में तृष्णा की वृद्धि से भारवहन करने वाले पशु की तरह धनअर्जन करने के लिए असि, मसि, कृषि, वाणिज्य, शिल्प और विद्या इन षट् कर्मों में जुटकर कष्ट सहता है। वृद्ध दशा में अपना काम करने में असमर्थ हो जाता है तो अधमरा हो जाता है। फिर कौन सी अवस्था में हे भव्य! तेरी यह मनुष्य आयु सफल हुई ? इसलोक और परलोक में सुख करने वाला यह धर्म ही विशुद्ध है। इस निर्मल धर्म के आचरण के बिना आयु की सफलता नहीं है और निर्मल धर्म का आचरण मध्य अवस्था में ही होता हैं अन्तिम अवस्था में नहीं, यह तात्पर्य है ॥८९॥

अथ विधेर्वश्यत्वमवस्थात्रये निरूपयन्नाह–

(शार्दूलविक्रीडित)

बाल्येऽस्मिन् यदनेन ते विरचितं स्मर्तुं च तन्नोचितं,
मध्ये चापि धनार्जनव्यतिकरैस्तन्नास्ति यन्नापितम्।
वार्द्धिक्येऽप्यभिभूय दन्तदलनाद्याचेष्टितं निष्ठुरं,
पश्याद्यापि विधेर्वशेन चलितुं वाञ्छस्यहो दुर्मते ॥९०॥

अन्वयः—दुर्मते! अनेन ते अस्मिन् बाल्ये यत् विरचितं न च तत् स्मर्तुं उचितं, अपि च मध्ये तत् नास्ति यत् धनार्जनव्यतिकरैः न आपितं, वार्द्धिक्ये अपि अभिभूय निष्ठुरं दन्तदलनादि आचेष्टितं, पश्य अद्य अपि अहो विधेः वशेन चलितुं वाञ्छसि।

बाल्य इत्यादि। दुर्मते! हे मूढ! अनेन कर्मणा। ते तव। अस्मिन् बाल्ये बालदशायां। यत् कष्टं विरचितं विकलास्पष्टशरीरवचनमनोव्यापृतेः। न च तत् कष्टं स्मर्तुं स्मरणं कर्तुम्। उचितं योग्यम्। कर्मणा

उत्थानिका—तीनों अवस्थाएँ कर्म के वश में हैं, यह कहते हैं–

अन्वयार्थ—(दुर्मते!) अरे दुर्बुद्धिजन! **(अनेन)** कर्म ने **(ते)** तुम्हारी **(अस्मिन् बाल्ये)** इस बाल्य दशा में **(यत् विरचितं)** जो किया **(न च तत् स्मर्तुं उचितं)** वह स्मरण करना उचित नहीं है। **(अपि च मध्ये)** और मध्य में भी **(तत् नास्ति)** वह नहीं है **(यत्)** जो **(धनार्जनव्यतिकरैः)** धनार्जन के कष्ट से **(न आपितः)** नहीं प्राप्त कराया हो **(वार्द्धिक्ये अपि)** वृद्धत्व में भी **(अभिभूय)** पराजित करके **(निष्ठुरं)** निष्ठुरता से **(दन्तदलनादि)** दन्त तोड़ना आदि **(आचेष्टितं)** चेष्टा करायी है **(पश्य)** देखो **(अद्य अपि)** आज भी **(अहो)** अहो! **(विधेःवशेन)** विधि के वश से **(चलितुं)** चलने के लिए **(वाञ्छसि)** इच्छा करते हो।

अर्थ—अरे दुर्मते! इस कर्म ने तेरे साथ बाल्यकाल में जो किया , उसे तो याद करना भी उचित नहीं है। मध्य अवस्था में तो कोई दुःख नहीं बचा जो धनअर्जन आदि कार्यों में तुम्हें न दिया हो। वृद्धावस्था में भी तुझे हराकर निष्ठुरता से तेरे दाँत तोड़ देने जैसी चेष्टायें की हैं। देखो! फिर भी तुम अहो! उसी कर्म के वश होकर चलने की इच्छा करते हो।

टीकार्थ–हे मूढ़! इस कर्म ने तुझे बाल्य अवस्था में शरीर की विकलता, अस्पष्ट वचन और मन के व्यापार से जो कष्ट दिया उसे स्मरण करना भी उचित नहीं है। कर्म के द्वारा जो दुःख उत्पन्न होते

बाल्य काल में जो कुछ बीता उसकी स्मृति अब उचित नहीं।
धन संचय करता तब विधि ने किया तुझे क्या दुखित नहीं॥
अन्त समय तो दाँत तोड़कर इसने तव उपहास किया।
फिर भी तू दुर्मति विधिवश हो विधि पर ही विश्वास किया ॥९०॥

यद् दुःखं जठरे जनिते च दत्तं तन्न स्मरणाय कल्पते ग्लान्युद्वेगदर्शनात्। अपि च तथा च। मध्ये अविशेषेण युवावस्था-याम्। तत् दुःखं। नास्ति न वर्तते। यत् दुःखम्। धनार्जनव्यतिकरैः धनार्जनादिकार्यैः। न आपितम् न प्राप्तम्। 'आप्ऌलृ लम्भने' इति प्रेरणार्थे क्तः। वार्धिक्ये वृद्धावस्थायाम्। अपि तथैव। अभिभूय अभिभवं तिरस्कारं पराभवं वा प्राप्य। निष्ठुरं अकृत्यम्। दन्तदलनादि दन्तपङ्क्तिभ्रंशनादि। आचेष्टितं कृतम्। पश्य अवलोकय। त्वं हे भव्य! इति शेषः। अद्य अपि तथापि। अहो आश्चर्यम्। विधेः कर्मणः। वशेन वशीभूतेन। चलितुं पराभवितुं। वाञ्छसि अभिलषसि। आजन्म कर्मणा हतः पुनरपि तेनैव विहन्तुं सज्जितस्तदनुकरणात्। आत्मकर्मणोरन्योन्यं विजिगीष्वोः अनादेः कालात् प्रवृत्ते महासमरे कर्म स्वार्जितं हि दुर्जनवदात्मानं पराभवति। अवस्थात्रयाणामेतद् दर्शनं निदर्शनमात्रम्। अद्यापि लब्धसंज्ञो यदि स्वानुकूलपरिकर्मा अप्रमत्तेन बद्धकक्षो न समुत्सहते पुनस्तद्हस्ते स्वगलं विघट्टनाय प्रदत्ते इति मन्ये। एवमाचार्यदेवैरत्याश्चर्यं प्रकटितम्। यदुक्तम्-''पटुरटति पलितदूतो मस्तकमासाद्य सर्वलोकस्य। परिभवति जरा मरणं कुरु धर्म विरम पापेभ्यः'' शार्दूलविक्रीडितवृत्तम् ॥९०॥

पुनरपि कारुण्यात् कारुण्यपात्रान् सम्बोधयन्नाह-

ही गर्भ में दिये हैं उन्हें तो स्मरण करना भी ठीक नहीं है क्योंकि उसके स्मरण से ग्लानि और उद्वेग (भय) उत्पन्न हो जाता है। बीच की युवावस्था में ऐसा कोई दुःख नहीं बचा जो धन अर्जन आदि कार्यों के द्वारा नहीं प्राप्त कराया हो। वृद्धावस्था में तेरा तिरस्कार करके भी नहीं करने योग्य दाँतों की पंक्ति आदि तोड़ने का कार्य किया। हे भव्य! देखो! आश्चर्य है कि फिर भी तुम कर्म के वशीभूत हो उसी कर्म से फिर से पराजित होने की इच्छा कर रहे हो।

अनादिकाल से जीव कर्मों से नष्ट हुआ है फिर से उसी कर्म से विनष्ट होने के लिए आप तैयार हो जाता है क्योंकि आत्मा कर्म का ही अनुसरण करता है। आत्मा और कर्म एक दूसरे को जीतने की इच्छा करते हैं। अनादि काल से चले आ रहे इस महायुद्ध में अपने द्वारा अर्जित कर्म ही दुर्जन की तरह आत्मा को तिरस्कृत करते हैं। यहाँ जो बचपन आदि तीन अवस्थाओं में कर्म की परवशता दिखाई है वह तो उदाहरण मात्र है। आज भी यह जीव ज्ञान प्राप्त करके, अपने अनुकूल सामग्री रखकर यदि अप्रमत्त होकर कमर कस कर उत्साहित नहीं होता है तो पुनः कर्मशत्रु के हाथ में अपना गला घोंटने के लिए दे रहा है, ऐसा मैं मानता हूँ। इस तरह आचार्यदेव ने यहाँ अत्यधिक आश्चर्य प्रकट किया है। कहा भी है-''पूरे संसार के माथे को पकड़कर बुढ़ापा मरण का तिरस्कार कर रहा है और सफेद बालों का दूत खूब कह रहा है कि धर्म करो और पापों से दूर होओ।'' यहाँ शार्दूलविक्रीडित छन्द है॥९०॥

उत्थानिका—पुनः करुणा से करुणा के पात्रों को संबोधित करते हैं-

(शार्दूलविक्रीडित)

अश्रोत्रीव तिरस्कृता परतिरस्कारश्रुतीनां श्रुतिः,
चक्षुर्वीक्षितुमक्षमं तव दशां दूष्यामिवान्ध्यं गतम्।
भीत्येवाभिमुखान्तकादतितरां कायोऽप्ययं कम्पते,
निष्कम्पस्त्वमहो प्रदीप्तभवनेऽप्यास्से जराजर्जरे॥९१॥

अन्वयः—परतिरस्कारश्रुतीनां अश्रोत्री इव (तव) श्रुतिः तिरस्कृता, चक्षुः तव दूष्यां दशां वीक्षितुं अक्षमं इव अन्ध्यं गतं, अयं कायः अपि अभिमुखान्तकात् भीत्या इव अतितरां कम्पते, अहो त्वं निष्कम्पः जराजर्जरे प्रदीप्तभवने अपि आस्से।

अश्रोत्रीवेत्यादि। परतिरस्कारश्रुतीनां परनिन्दावार्तानाम्। परस्य अन्यस्य तिरस्कारोऽप्रशंसा स एव श्रुति वार्तालापस्तासाम्। ''श्रुतिः श्रोत्रे च वेदे च वार्तायां श्रौतकर्मणि'' इति वि० लो०। अश्रोत्री श्रोतुमनिच्छन्ती। इव उत्प्रेक्षायाम्। तवेति योज्यम्। श्रुतिः कर्णः श्रवणशक्तिर्वा। तिरस्कृता विनष्टा। तव

अन्वयार्थ—(परतिरस्कारश्रुतीनां) पर के तिरस्कार के वचनों को **(अश्रोत्री इव)** नहीं सुनने से ही मानों **(श्रुतिः)** कानों ने **(तिरस्कृता)** काम करना बन्द किया है **(चक्षुः)** नेत्र **(तव)** तुम्हारी **(दूष्यां दशां)** दूषित दशा को **(वीक्षितुं)** देखने में **(अक्षमं)** असमर्थ हैं। **(इव)** मानों इसीलिए **(अन्ध्यं गतं)** अन्धपन को प्राप्त हुए है। **(अयं कायः)** यह शरीर **(अपि)** भी **(अभिमुखान्तकात्)** सम्मुख हुए यम से **(भीत्या)** डरने से **(इव)** मानो **(अतितरां)** खूब **(कम्पते)** कांप रहा है **(अहो)** अहो! **(त्वं)** तुम **(निष्कम्पः)** निष्कम्प हुए **(जरा-जर्जरे)** बुढ़ापे से जीर्ण हुए **(प्रदीप्तभवने)** जलते भवन में **(अपि)** भी **(आस्से)** बैठे हो।

अर्थ—तुम्हारे कान दूसरों के तिरस्कार पूर्ण वचनों को नहीं सुनने की इच्छा से ही मानों तिरस्कृत हुए है। तुम्हारे नेत्र तुम्हारी इस दूषित दशा को देखने में असमर्थ हैं, इसलिए अन्धेपन को प्राप्त हो गए हैं। तुम्हारा यह शरीर अभिमुख हो रहे यम के डर से ही मानों बहुत काँप रहा है। अहो! जरा से जर्जर शरीर जलते हुए घर के समान है। उसमें तू निष्कम्प (अचल) होकर बैठा है!

टीकार्थ–दूसरों की जिसमें प्रशंसा न हो, तिरस्कार हो ऐसे परनिन्दा के वचनों को अब तुम्हारे कान सुनना नहीं चाहते हैं इसलिए ही मानों तेरे दोनों कान बंद हो गए हैं। जीवनपर्यन्त तुमने, अपने कानों का उपयोग दूसरों की निन्दा, तिरस्कार के वचनों को सुनने में किया है, यह कहा गया है। ठीक

घृणित दशा तव देख सके ना तभी नेत्र तव अन्ध हुये।
तव निंदा पर से सुन सुनकर बधिर कान अब बन्द हुये॥
निकट काल को लख भय वश तव पूर्ण कांपता वदन तथा।
फिर भी रहता अकंप जर्जर तन में जलता भवन यथा॥९१॥

कर्णौ परवाच्यतावचनानि श्रोतुं नेच्छतः इति व्याजेन तौ पिहितौ। आजीवितं परतिरस्कारवचन-श्रवणे श्रुतेरुपयोगः कृतः इति विहितः। सत्यमेव; निन्दारसः सर्वरसेषु मिष्टः, तत एव परनिन्दां शृण्वतो बहुदिवसाद् बुभुक्षितस्यापि रोमहर्षाः दृश्यन्ते। तत्फलमिदम्। पुनश्च किं फलम्? चक्षुः नेत्रम्। तव भवतः। दूष्यां दूषणयुक्ताम्। दूषितुं योग्या दूष्या। अर्हार्थे व्यः। ताम्। काम्? दशां अवस्थां वृद्धरूपाम्। वीक्षितुं दर्शयितुं दर्शनं कर्तुमित्यर्थः। अक्षमं अशक्तम्। इव इत्युत्प्रेक्षायाम्। अन्ध्यं गतं दृष्टिवैकल्यं सञ्जातम्। आयुःपर्यन्तं सुकृतं न कृतमितिच्छलेनैव नेत्रदृष्टेरसमर्थताऽद्य रोषेण दृष्टेति भावः। अपरञ्च किम्? अयं दृश्यमानः जर्जरीभूतः चर्ममात्रावशिष्टः। कायः शरीरम्। अपि तथैव। अभिमुखान्तकात् मृत्युसंमुखात्। अभिमुखोऽन्तको मृत्युर्यस्य स तस्मात्। भीत्या भयेन। इव उत्प्रेक्षायाम्। अतितरां अधिकतराम्। 'इयेन्मिङ् किंझादामद्रव्ये' इति झि। 'तरप्तमपौ झः' इति झान्तादाम्। कम्पते विचलति। अतिशयेन विचलतीत्यर्थः। अहो आश्चर्यम्। त्वं हे भव्य! निष्कम्पः निश्चिन्तः। जराजर्जरे जराशैथिल्ये। जराव्याधिपीडादिभि र्युक्त इत्यर्थः। प्रदीप्तभवने प्रज्वलितकाये। प्रदीप्तं भवनमिव काये। अपि तथापि। आस्से तिष्ठसि। 'आसै उपवेशने' इति धोर्लट्॥९१॥

अथ लौकिकन्यायेन देहाद्विरञ्जनार्थमुपदिशति–

(आर्या)

अतिपरिचितेष्ववज्ञा नवे भवेत् प्रीतिरिति हि जनवादः।
तं किमिति मृषा कुरुषे दोषासक्तो गुणेष्वरतः ॥९२॥

ही है निन्दा-रस सभी रसों में मीठा है। इसलिए ही तो पर-निन्दा सुनने वाला यदि बहुत दिनों का भूखा भी हो तो भी उसके रोम हर्षित होते देखे जाते है। उसी निन्दा सुनने का फल कानों की यह स्थिति है। तुम्हारे नेत्र इस दूषण योग्य वृद्धावस्था को देखना नहीं चाहते हैं इसलिए ही मानों बुढ़ापे में अन्धे हो गए हैं। पूरे जीवन में तुमने कोई पुण्य नहीं किया है इस छल से ही नेत्रदृष्टि आज बंद हो गई है और तुम्हें देखना नहीं चाहती है। अब तुम्हारा यह शरीर भी जर्जर हो गया है। इस पर खाल मात्र शेष रह गयी है। यह शरीर मृत्यु के सम्मुख है इस डर से ही मानों यह खूब काँप रहा है। आश्चर्य है कि हे भव्य! फिर भी तुम निश्चिन्त हो। बुढ़ापा, रोग, पीड़ा आदि से शरीर, जर्जर हो गया है जो जले हुए घर के समान दिख रहा है फिर भी तुम इस जलते हुए शरीररूपी घर में बैठे हो ॥९१॥

उत्थानिका—अब लौकिक नीति को दिखाकर देह से विरक्त होने के लिए उपदेश देते हैं–

अन्वयार्थ—(अतिपरिचितेषु) अति परिचितों में **(अवज्ञा)** अवज्ञा **(नवे)** और नये में **(प्रीतिः)** प्रेम **(भवेत्)** होता है **(हि)** निश्चित ही **(इति)** ऐसी **(जनवादः)** लोकोक्ति है **(दोषासक्तः)**

परिचय जिनका अधिक हुवा हो वहीं अनादर तनता है।
सूक्ति रही यह नवीनतम जो प्रीति तथाऽऽदर बनता है॥
दोष कोष में निरत हुवा क्यों गुण-गण से अति विरत हुवा।
उचित उक्ति को वृथा मृषा क्यों करता यह ना उचित हुवा ॥९२॥

अन्वयः—अतिपरिचितेषु अवज्ञा नवे प्रीतिः भवेत् हि इति जनवादः दोषासक्तः गुणेषु अरतः तं किमिति मृषा कुरुषे।

अतीत्यादि। अतिपरिचितेषु गहनसम्बन्धिषु। परि आ समन्तात् चिताः समाश्लिष्टाः परिचिताः। अति अत्यर्थं परिचिता अतिपरिचितास्तेषु। 'अति सर्वत्र वर्जयेत्' इति नीतिमनुसर्त्यातिपरिचयमपि वर्जयेत्। तेन किं भवति? अवज्ञा मानहानिः। नवे अभिनवं। प्रीतिः प्रेम। भवेत् स्यात्। हि स्फु टम्। इति एवं प्रकारम्। जनवादो लौकिकोक्तिः। 'लोको ह्यभिनवप्रियः' इत्यपि श्रुतिः। दोषासक्तः दोषेषु देहप्रमुखेषु रागदोषमोहमात्सर्यादिषु आसक्तः रतः त्वम्। गुणेषु अरतः सद्दर्शनप्रमुखेषु विनयवात्सल्यानुद्वेगक्षमादिषु अरतः अनासक्तः त्वम्। दोषेषु अतिपरिचितेषु अपि अवज्ञाऽनादरो वा गुणेषु अभिनवेषु प्रीतिरादरो वा किन्न कुरुषे? तं जनवादम्। किमिति कथमत्र। मृषा असत्यं। कुरुषे करोषि। आर्याच्छन्दः॥९२॥

अथासक्तिपराणामर्थान्तरन्यासेनोपन्यसन्नाह–

तुम दोषों में आसक्ति और **(गुणेषु)** गुणों से **(अरतः)** विरक्ति कर **(तम्)** उस जनवाद को **(किमिति)** किसलिए **(मृषा)** झूठा **(कुरुषे)** करते हो!

अर्थ—अति परिचित व्यक्ति, पदार्थ, स्थानादि में अवज्ञा और नई वस्तु में प्रीति होती है, ऐसा लोग कहते हैं। तुम इस कहावत को भी क्यों झूठ सिद्ध कर रहे हो, जो दोषों में आसक्त होकर गुणों से दूर हो रहे हो।

टीकार्थ—जिनके साथ गहन, गहरे सम्बन्ध रहते हैं वे अतिपरिचित कहलाते हैं। परि-चारों ओर, चिताः चिपके हुए, लगे हुए। अर्थात् जो सभी तरह से चिपके हुए हैं वे अति परिचित कहलाते हैं। 'अति सर्वत्र वर्जयेत्' अर्थात् अति तो सर्वत्र छोड़ देनी चाहिए। इस नीति का अनुसरण करके तुम अति परिचितों को छोड़ दो। यदि नहीं छोड़ोगे तो तुम्हारी अवज्ञा होगी, तुम्हारे स्वाभिमान की हानि होगी। अतिपरिचित का अनादर होता है। नये से प्रेम होता है। यह लौकिक कहावत है। सुना भी जाता है कि यह लोक नये-नये में प्रेम रखता है। फिर भी तुम दोषों में रत हो। दोष तो इस शरीर की प्रमुखता से होते हैं। शरीर के ही कारण राग, दोष, मोह, मात्सर्य आदि होते हैं। सम्यग्दर्शनादि गुणों के अपूर्व लाभ में तेरी प्रीति नहीं है। गुण सम्यग्दर्शन की प्रमुखता से होते हैं। विनय, वात्सल्य, उत्तेजना का अभाव, क्षमा आदि गुण हैं। इन गुणों में तुम अनासक्त हो। अतिपरिचित हुए शरीर आदि से उत्पन्न दोषों में भी कोई अनादर और नये गुणों में प्रीति क्यों नहीं कर रहे हो ? तुम इस लोक प्रसिद्ध कहावत को भी क्यों झूठा कर रहे हो ? यहाँ आर्या छन्द है॥९२॥

उत्थानिका—अब आसक्ति में तत्पर रहने वालों को अर्थान्तरन्यास से दृष्टान्तों से समझाते हैं–

(वसन्ततिलका)

हंसैर्न भुक्तमतिकर्कशमम्भसापि,
नो सङ्गतं दिनविकासि सरोजमित्थम्।
नालोकितं मधुकरेण मृतं वृथैव,
प्राय: कुतो व्यसनिनां स्वहिते विवेक: ॥९३॥

अन्वय:—सरोजं हंसै: न भुक्तं, अतिकर्कशं अम्भसा अपि नो सङ्गतं, दिन-विकासि मधुकरेण इत्थं न आलोकितं, वृथा एव मृतं, प्राय: व्यसनिनां स्वहिते विवेक: कुत:।

हंसैरित्यादि। सरोजं कमलम्। सरसि जनयतीति सरोजम्। हंसै: पक्षिविशेषै:। न भुक्तं न खादितम्। किमिति चेत्? अतिकर्कशं अतिकठोरम्। तेनातिकर्कशत्वाद् न भुक्तमिति। अम्भसा जलेन। अपि तथा च। नो निषेधार्थमव्ययम्। सङ्गतं मिलितं। अतिकर्कशमित्यत्र वा योज्यं हेतुत्वेन 'काकाक्षिगोलकन्यायवत्'। तेनातिकठोर-हृदयत्वं सरोजस्योद्योतितं कृतज्ञताऽभावात्। यो यत्रोत्पन्नो भवति स तस्य कृतज्ञो भवेदिति

अन्वयार्थ—(सरोजं) कमल **(हंसै:)** हंसों के द्वारा **(न भुक्तं)** नहीं भोगा गया। **(अतिकर्कशं)** अति कठोर है जो **(अम्भसा)** जल के **(अपि)** भी **(नो संगतं)** साथ नहीं रहा **(दिनविकासि)** दिन में विकसित होता है। ऐसा कमल भी **(मधुकरेण)** मधुकर ने **(इत्थं)** इस प्रकार **(न आलोकितं)** नहीं देखा। **(वृथा एव मृतम्)** व्यर्थ में ही (गन्ध का लोभी होकर) मर गया **(प्राय:)** प्राय: करके **(व्यसनिनां)** व्यसनी जनों को **(स्वहिते)** अपने हित में **(विवेक:)** विवेक **(कुत:)** कैसे रहे ?

अर्थ—कमल को हंस नहीं खाता है, वह अति कर्कश होता है, जो जल के साथ भी (एक होकर) नहीं रहता है, दिन में खिलता है। मधुकर ने (कमल को) इस प्रकार नहीं देखा और व्यर्थ में (गन्ध का लोभी होकर) मर गया। प्राय: व्यसनी जनों को अपने हित का विवेक कहाँ होता है ?

टीकार्थ—सरोवर में जो उत्पन्न होता है वह सरोज है। वह सरोज हंस जैसे पक्षी विशेष से भी नहीं खाया गया क्योंकि वह बहुत कठोर था। वह सरोज (कमल) जल से भी नहीं मिला। 'काकाक्षिगोलकन्याय' से 'अतिकठोर' इस पद का सम्बन्ध दोनों ओर करना चाहिए। अति कठोर होने से हंस ने नहीं खाया और अतिकठोर होने से ही जल के साथ एकीभूत होकर नहीं रहा। इसलिए यहाँ कमल को अति कठोर हृदयवाला दिखाया क्योंकि उसमें कृतज्ञता का अभाव है। जो जहाँ उत्पन्न होता है वह उसका कृतज्ञ होता है। यह बात कमल में नहीं देखी जाती क्योंकि वह जल में उत्पन्न हुआ फिर

हंस कभी ना खाते जिसको दिन में खिलता जलज रहा।
जल में रहकर जल ना छूता कठोर कर्कश सहज रहा॥
जलज धर्म ना ज्ञात भ्रमर को भ्रमित वृथा फँस मर जाता।
स्वहित विषय में विषय रसिक कब समुचित विचार कर पाता ॥९३॥

सरोजविषये न दृश्यते तेनातिकर्कशत्वम्। पुनश्च कथम्भूतम्? दिनविकासि दिने दिवसे विकसतीत्येवं शीलमस्य तत्। मधुकरेण भ्रमरेण। इत्थं एवं प्रकारम्। न आलोकितं न चिन्तितम्। वृथा एव व्यर्थं हि। मृतं मरणं प्राप्तम्। ''नब्भावे क्तोऽभ्यादिभ्यः'' इति भावे क्तः नप् च। प्रायः बाहुल्येन। व्यसनिनां मोहिनाम्। व्यसनमस्यास्तीति व्यसनी तेषाम्। स्वहिते स्वस्य हिताय। विवेकः हिताहितविचारबुद्धिः। कुतः? न कुतः अपि। इत्यर्थः। हंसैर्न भुक्तमतिकठोरत्वात्, अम्भसापि नो सङ्गतमकृतज्ञत्वात्, रात्रौ न रम्यं दिनविकासित्वात् इत्येवं मधुकरेण नालोकितं तेन मृतं विवेकाभावात्। यदुक्तम्–''रात्रिर्गमिष्यति भविष्यति सुप्रभातं भास्वानुदेष्यति हसिष्यति पङ्कजश्रीः। इत्थं विचिन्तयति कोशगते द्विरेफे हा हन्त हन्त नलिनीं गज उज्जहार ॥''अर्थान्तरेण हंसैः चक्रवर्तिबलदेवतीर्थकरगणधरादिमहापुरुषैः न भुक्तमतिकष्टप्रदं सरोजं शुक्रशोणितजं शरीरं विषयसुखं वा नो सङ्गतं अम्भसापि निर्मलात्मस्वभावेनापि दिनविकासि दिवसे हर्षश्रमविधायि मधुकरेण मोहलिप्तेन नालोकितमित्थं तेन वृथैव जन्ममरणमिति ॥९३॥

सा हंसानां विवेकबुद्धिरतीव दुष्करा इति ब्रूते–

(अनुष्टुप्)

प्रज्ञैव दुर्लभा सुष्ठु दुर्लभा साऽन्यजन्मने।
तां प्राप्य ये प्रमाद्यन्ति ते शोच्याः खलु धीमताम् ॥९४॥

भी उससे अलग है इसीलिए कमल को अतिकर्कश कहा है तथा वह कमल दिन में खिलता है। इस प्रकार भ्रमर नहीं सोचता है और व्यर्थ में ही गन्ध का लोभी होकर मरण को प्राप्त हो जाता है। मोही को ही व्यसनी कहते हैं। मोही जनों को अपने हित का विवेक कहाँ रहता है। हित, अहित के बारे में विचार करने वाली बुद्धि ही विवेक कहलाती है। हंस ने नहीं खाया क्योंकि कमल अति कठोर है। जल से भी नहीं मिला क्योंकि अकृतज्ञ है। रात्रि में रमणीय होता है क्योंकि दिन में खिलता है। इस प्रकार से भ्रमर ने नहीं सोचा और विवेक के अभाव में मर गया। कहा भी है–''रात्रि चली जाएगी, सुप्रभात होगा, सूर्य उदित होगा, पंकज खिलेगा। इस प्रकार से भ्रमर कमल में बैठा-बैठा सोच ही रहा था कि खेद है! हाथी ने कमलिनी को उखाड़ दिया।'' अर्थान्तर से चक्रवर्ती, बलदेव, तीर्थंकर, गणधर आदि महापुरुषों को हंस कहा है। इन पुरुष हंसों ने शुक्र-शोणित से उत्पन्न शरीर या विषय सुख के सरोज को नहीं भोगा क्योंकि विषयसुख अतिकष्ट प्रद है। निर्मल आत्मस्वभाव वाले जल से यह विषयसुख एकमेक होकर नहीं रहता है। कुछ समय के लिए ही हर्ष, श्रम को करने वाले ये विषय सुख है। मोह से युक्त मधुकर आत्मा ने इस प्रकार चिन्तन नहीं किया जिससे व्यर्थ में ही जन्म, मरण करता रहा ॥९३॥

तीन लोक में प्रज्ञा दुर्बल स्वपर बोध का हेतु रही।
शुभ गति दात्री और दुर्लभा भवदधि में शुभ सेतु सही॥
इस विध प्रज्ञा पाकर भी यदि पद पद प्रमाद पाले हैं।
उनका जीवन चिन्त्य रहा है बोल रहे मतिवाले हैं॥९४॥

अन्वयः—प्रज्ञा एव दुर्लभा, अन्यजन्मने सा सुष्ठु दुर्लभा, तां प्राप्य ये प्रमाद्यन्ति ते खलु धीमतां शोच्याः।

प्रज्ञैवेत्यादि। प्रज्ञा प्रकर्षा ज्ञा बुद्धिः सा। यथा हंसे नीरक्षीरविवेको विद्यते तथा येषु देहात्मनोर्विवेकस्ते प्रज्ञावन्तस्तेषां बुद्धिः प्रज्ञाभिधानेनाभिधीयते। अत्र प्रज्ञा रत्नत्रयप्राप्तिरूपा विज्ञेया। यथा हंसाः सुलभानपि क्षुद्रसरःपुष्पादिभोगान् नोपभुञ्जते मानसरोवरे संलग्नमानसत्वात्तथा विवेकिनः। उक्तञ्च– ''अस्ति यद्यपि सर्वत्र नीरं नीरज-मण्डितं। रमते न मरालस्य मानसं मानसं विना॥'' एव निश्चयेन। दुर्लभा दुष्करा। दुःखेन कृच्छ्रेण लभ्यते इति दुर्लभा। अन्यजन्मने अन्यभवाय। सा प्रज्ञा समाधिरूपा। सुष्ठु इत्यर्थम्। दुर्लभा। तां प्रज्ञाम्। प्राप्य प्राप्तिं कृत्वा। ये विवेकिनः सन्तः अपि। प्रमाद्यन्ति प्रमादं कुर्वते। 'मदो हर्षे' दिवादौ इति धोः प्रपूर्वकं बहुवचनम्। ते जनाः। खलु स्फुटम्। धीमतां विवेकवताम्। शोच्याः शोचितुं योग्याः। 'तृज्व्याश्चार्हे' इति अर्हार्थे त्यः। यदुक्तम्–

''इत्यतिदुर्लभरूपां बोधिं सम्प्राप्य ये प्रमाद्यन्ति।
संसृतिभीमारण्ये भ्रमति वराको स नरः सुचिरम्॥''

अनुष्टुप्छन्दः ॥९४॥

उत्थानिका—हंसों जैसी विवेक बुद्धि बहुत दुर्लभ है, सो कहते हैं–

अन्वयार्थ—(प्रज्ञा) प्रज्ञा **(एव)** ही **(दुर्लभा)** दुर्लभ है, **(अन्यजन्मने)** अन्य जनम के लिए **(सा)** वह **(सुष्ठु)** और **(दुर्लभा)** दुर्लभ है। **(तां)** उसे **(प्राप्य)** प्राप्त करके **(ये)** ओ **(प्रमाद्यन्ति)** प्रमाद करते हैं **(ते)** वे **(खलु)** निश्चित ही **(धीमतां)** बुद्धिमानों को **(शोच्याः)** शोचनीय है।

अर्थ—प्रज्ञा होना ही दुर्लभ है, फिर अन्य जन्म (परलोक) के लिए होना तो और भी दुर्लभ है। उस प्रज्ञा को प्राप्त करके भी जो प्रमाद करते हैं वे जीव बुद्धिमानों के लिए शोचनीय है।

टीकार्थ—विचाररूप बुद्धि प्रज्ञा है। जैसे हंस में नीर-क्षीर विवेक रहता है उसी प्रकार जिन जीवों में शरीर और आत्मा का विवेक रहता है वे ही प्रज्ञावान हैं, उनकी बुद्धि ही प्रज्ञा कहलाती है। यहाँ प्रज्ञा रत्नत्रय की प्राप्ति रूप में जानना। जैसे हंस क्षुद्र तालाब के पुष्प आदि सुलभ भोगों को नहीं भोगता है क्योंकि उसका मन मान-सरोवर में लगा रहता है उसी प्रकार विवेकी लोग रहते हैं। कहा भी है– ''यद्यपि सर्वत्र कमलों से मण्डित सरोवर हैं फिर भी हंस का मानस मानसरोवर के बिना कहीं नहीं रमता है।'' जो दुःख से, कष्ट से प्राप्त होता है वह दुर्लभ है। अन्य भव के लिए तो वह प्रज्ञा और दुर्लभ है। यहाँ प्रज्ञा का अर्थ समाधि है। उस रत्नत्रय और समाधिरूप प्रज्ञा को प्राप्त करके भी विवेकी होते हुए भी प्रमाद करते हैं। ज्ञानी पुरुष उनके लिए शोक करते हैं। कहा भी है–

''इस प्रकार अति दुर्लभरूप बोधि को प्राप्त करके जो प्रमाद करते हैं संसार रूप भयंकर जंगल में वह बेचारा मनुष्य चिरकाल तक भ्रमण करता है।'' यहाँ अनुष्टुप् छन्द है॥९४॥

परिप्राप्तप्रज्ञानामपि यदि परभृत्यताङ्गीकरणं दृश्यते तदनुचितमित्यत आह–

(वसन्ततिलका)

लोकाधिपाः क्षितिभुजो भुवि येन जाताः,
तस्मिन् विधौ सति हि सर्वजनप्रसिद्धे।
शोच्यं तदेव यदमी स्पृहणीयवीर्या-
स्तेषां बुधाश्च बत किंकरतां प्रयान्ति ॥९५॥

अन्वयः—येन लोकाधिपाः क्षितिभुजः भुवि जाताः, तस्मिन् विधौ सर्वजनप्रसिद्धे सति हि तत् शोच्यं एव, यत् अमी स्पृहणीयवीर्याः बुधाः च तेषां बत किंकरतां प्रयान्ति।

लोकाधिपा इत्यादि। येन विधिना। लोकाधिपाः जगदधिपतयः। लोकस्य अधिपाः राजानाः स्वामिनो वा। क्षितिभुजः राजानः। क्षितिं पृथिवीं भुङ्क्ते इति क्षितिभुक्। क्विप्। ते। भुवि पृथिव्याम्। जाताः उत्पन्नाः। तस्मिन् विधौ पुण्यविपाक-विलसिते। सर्वजनप्रसिद्धे लोकप्रसिद्धे। सर्वजनेषु प्रसिद्धे विख्याते।

उत्थानिका—प्रज्ञा प्राप्त किये हुए लोग भी यदि दूसरे की दासता को अंगीकार करने वाले देखे जाते हैं, तो वह अनुचित है यह कहते हैं–

अन्वयार्थ—(येन) जिससे **(लोकाधिपाः)** लोक के अधिपति **(क्षितिभुजः)** राजा **(भुवि)** पृथ्वी पर **(जाताः)** हुए हैं **(तस्मिन् विधौ)** उस विधि के **(सर्वजन प्रसिद्धे सति हि)** सर्वजन प्रसिद्ध होने पर भी **(तत्)** वह **(शोच्यं एव)** शोचनीय ही है **(यत्)** कि **(अमी)** ये **(स्पृहणीयवीर्याः)** चाहने योग्य पराक्रम वाले **(बुधाः)** ज्ञानीजन **(च)** भी **(तेषां)** उन राजाओं की **(बत)** हाँ **(किंकरतां)** दासता को **(प्रयान्ति)** प्राप्त करते हैं।

अर्थ—जिस विधि से प्राणी लोक के अधिपति राजा हुए हैं, समस्त लोक में प्रसिद्ध उस विधि-विधान के होने पर भी ज्ञानीजन, स्पृहणीय सामर्थ्य वाले होकर भी खेद है उन राजाओं के किंकर बन जाते हैं, यह बहुत शोचनीय है।

टीका—सत्त्व (बल) एवं बुद्धि से सहित पुरुष भी राजाओं के नौकर बन जीवन गुजारते हैं, यह बात शोभा नहीं देती है क्योंकि यह तो सत्त्व और बुद्धि दोनों की विफलता है। यह राजा बनना तो कर्म का विलास (खेल) है, ऐसा मानकर उस कर्म (पुण्य) को इकट्ठा करने के लिए ही प्रयत्न करना चाहिए।

जगदधिपति धरतीपति सुरपति हुये विगत में अगणित हैं।
सुकृत सुफल वह बाह्य-वाक्य से यद्यपि सब जन परिचित हैं॥
किन्तु खेद है वीर धीर औ बुधजन तक भी किन्नर हैं।
इन्हीं सुराधिप भूपजनों के जिन पर हँसते शंकर हैं॥९५॥

सति हि। तत् शोच्यं शोचनीयं। एवावधारणे। यत् अमी ते। विप्रकृष्टविषयाः। स्पृहणीयवीर्याः प्रकाम्य-सामर्थ्याः। बुधाः विद्वान्सः। च तथा। तेषां लोकधिपक्षितिभुजाम्। बत इति खेदेऽव्ययपदम्। किंकरतां भृत्यभावम्। किंकराः भृत्याः चाटुकाराः वा। तेषां भाव-स्ताम्। 'भावे त्वतल्' इति तल्। प्रयान्ति स्वीकुर्वन्ति। ससत्त्वा बुद्धियुक्ता अपि सन्तः प्रभूनां भृत्यत्वं वहन्तो न शोभन्ते सत्त्वबुद्धिविफलत्वात्। अयं तु विधेर्विलास इति मत्वा तद्विधेरर्जनाय प्रयत्नं कुर्वताम्। तेनात्र शक्तिमतां विदुषां वा स्वाभिमान-रक्षणार्थं नियोजितम्। वसन्ततिलकावृत्तम्॥९५॥

अथ कृष्णराजस्य गुप्तनिधिनिधानप्रतिपादनव्याजेन धर्मस्य स्वामिस्वरूपलक्षणं प्रतिपादयन्नाह–

(शार्दूलविक्रीडित)

यस्मिन्नस्ति स भूभृतो धृतमहावंशाः प्रदेशः परः,
प्रज्ञापारमिता धृतोन्नतिधनाः मूर्ध्ना ध्रियन्ते श्रियै।
भूयांस्तस्य भुजङ्गदुर्गमतमो मार्गो निराशस्ततो,
व्यक्तं वक्तुमयुक्तमार्यमहतां सर्वार्यसाक्षात्कृतः ॥९६॥

अन्वयः—भूभृतः धृतमहावंशाः प्रज्ञापारं इताः धृतोन्नतिधनाः मूर्ध्ना श्रियै यस्मिन् ध्रियन्ते स प्रदेशः परः अस्ति तस्य भूयान् मार्गः भुजङ्गदुर्गमतमः निराशः ततः आर्य! व्यक्तं महतां वक्तुं अयुक्तं सर्वार्यसाक्षात्कृतः। अथवा स प्रदेशः परः अस्ति यस्मिन् (सति) धृतमहावंशाः प्रज्ञापारं इताः धृतोन्नतिधनाः भूभृतः श्रियै मूर्ध्ना (अन्यैः) ध्रियन्ते, तस्य भूयान् मार्गः भुजङ्गदुर्गमतमः निराशः ततः आर्यमहतां व्यक्तं वक्तुं अयुक्तं (स) सर्वार्यसाक्षात्कृतः।

इसलिए यहाँ शक्तिमान और बुद्धिमान लोगों को स्वाभिमान की रक्षा के लिए नियोजित किया गया है। तात्पर्य यह है कि धर्म से ही राजा बनते हैं, इसलिए धर्म को ही करने का प्रयत्न करना चाहिए। यहाँ वसन्ततिलका छन्द है॥९५॥

उत्थानिका—अब कृष्णराज की गुप्तनिधि के खजाने का प्रतिपादन करने के छल से धर्म के स्वामी और स्वरूप का लक्षण प्रतिपादित किया गया है। इस श्लोक में श्लेष अलंकार है। इसके दो अर्थ हैं–पहले अर्थ में किसी सर्वार्थ नाम के राजमंत्री की प्रशंसा है जिसने दुर्गम स्थान पर स्थित किसी कृष्ण नाम के राजा का खजाना प्रकट किया था। दूसरे अर्थ में धर्म के फल का वर्णन है।

अन्वयार्थ–(भूभृतः) राजा लोग **(धृतमहावंशा)** उच्च कुल को धारण किए हुए **(प्रज्ञापारं**

श्रेष्ठ धर्म के बल पर नरपति महावंश में जनन धरें।
सुधी धनी हो जिन्हें निर्धनी धनार्थ सविनय नमन करें॥
यह पथ शम मय जिस पर चलना विषयी का वह कार्य नहीं।
धर्म कथ्य नहिं महाजनों को जिसे लखें जिन आर्य सही॥९६॥

यस्मिन्नित्यादि। भूभृतः पर्वताः। भूः पृथिवी तां बिभर्तीति भूभृत्। ते। कथम्भूताः? धृतमहावंशाः धृताः धारिताः पोषिता वा। 'डुधाञ् धारणपोषणयोः' इति धोः क्तप्रत्ययः। महांश्चासौ वंशो महावंशः। धृताः महावंशाः यैस्ते। बसः। पुष्कलबृहत्तृणध्वजास्तत्र स्थिताः इत्यर्थः। प्रज्ञापारं प्रज्ञा बुद्धिः तस्याः पारं पर्यन्तं तत्। इताः गताः विज्ञाता इत्यर्थः। प्रज्ञया तेषां भूभृतामन्तं विज्ञायते शलाकाकुण्डवत्। पुनश्च किंभूताः? धृतोन्नतिधनाः उच्चतारूपधनस्य धारकाः। उन्नतिरुत्सेधः एव धनं वैभवः उन्नतिधनम्। धृतं धारितं उन्नतिधनं यैस्ते। मूर्ध्ना शिरसाऽग्रभागैरिति। किमर्थम्? श्रियै शोभार्थम्। यस्मिन् प्रदेशे निधिनिधानस्थाने इत्यर्थः। ध्रियन्ते तिष्ठन्ति। 'धृङ् अवस्थाने' तुदादौ लट्। सः प्रदेशः स्थानविशेषः। परः उत्तमः श्रेष्ठो वा। अस्ति

इताः) प्रज्ञा के पार को प्राप्त **(धृतोन्नतिधनाः)** उन्नति के धन को धारण किए हुए **(मूर्ध्ना)** सिर से **(श्रियै)** लक्ष्मी के लिए **(यस्मिन्)** जहाँ पर **(ध्रियन्ते)** धारण किए जाते हैं **(स प्रदेशः)** वह प्रदेश **(परः)** उत्कृष्ट **(अस्ति)** है **(तस्य)** उसके **(भूयान्)** बहुत से **(मार्गः)** मार्ग हैं **(भुजङ्गदुर्गमतमः)** वह मार्ग भुजंग को दुर्गमतम है **(निराशः)** आशा रहित है **(ततः)** इसलिए **(आर्य)** हे आर्य! **(व्यक्तं)** स्पष्ट है कि **(महतां)** महान् पुरुषों को **(वक्तुं)** कहने के लिए **(अयुक्तं)** अयुक्त है **(सर्वार्यसाक्षात्कृतः)** वह सर्वार्य से साक्षात्कार किया गया है।

अथवा **(स प्रदेशः)** वह स्थान **(परः)** उत्कृष्ट **(अस्ति)** है **(यस्मिन्)** जिसके होने पर **(धृतमहावंशाः)** महावंश को धारण करने वाले **(प्रज्ञापारं)** प्रज्ञा के पार को **(इताः)** प्राप्त **(धृतोन्नतिधनाः)** उन्नतिधन को धारण किए हुए **(भूभृतः)** राजा लोग **(श्रियै)** लक्ष्मी के लिए **(मूर्ध्ना)** सिर से **(ध्रियन्ते)** दूसरों के द्वारा धारण किए जाते हैं। **(तस्य)** उसका **(भूयान्)** विशाल **(मार्गः)** मार्ग **(भुजंग-दुर्गमतमः)** कामीजन को अत्यन्त दुर्गम है **(निराशः)** इच्छा रहित है **(ततः)** इसलिए **(आर्यमहतां)** आर्यों से पूजनीय वह **(व्यक्तं)** स्पष्ट रूप से **(वक्तुं)** कहने में **(अयुक्तं)** नहीं आ पाता है **(सर्वार्यसाक्षात्कृतः)** वह सर्वार्य से देखा गया है।

अर्थ—जहाँ पर महावंश को धारण किए हुए राजा हैं। प्रदेश उत्कृष्ट है। प्रज्ञा के पार को प्राप्त, उन्नति रूप धन को धारण किए हुए राजा लोग लक्ष्मी के लिए सिर पर धारण किए जाते हैं। उसका मार्ग भुजंग के लिए भी दुर्गम है, उसे प्रकट करने में असमर्थ हैं। इसलिए उसे कहना भी स्पष्टरूप से अनुचित हैं। आर्यों में महान् पुरुषों को वह सर्वार्य के द्वारा देखा गया है।

टीकार्थ—पहला अर्थ किसी राजा के खजाने के विषय में है। पृथ्वी जिन्हें धारण करती है वे पर्वत बड़े-बड़े बाँस के वृक्षों को धारण किए है। वहाँ बहुत बड़ी-बड़ी झाड़ियाँ है। उन पर्वतों का फैलाव कहाँ तक है यह तो केवल बुद्धि से जाना जा सकता है। जैसे पल्य की गणना में शलाका कुण्डों को बुद्धि से मात्र समझाया जा सकता है। उन पर्वतों की ऊँचाई ही उनका धन, वैभव है। अग्रभाग से उन्नति को धारण करना शोभा के लिए होता है। जिस स्थान पर निधियों का खजाना है, वह स्थान श्रेष्ठ है। उस स्थान तक पहुँचने का रास्ता बहुत लम्बा है। सर्पों से भी वहाँ पहुँचना कठिन है। अथवा

भवति। तस्य प्रदेशस्य। भूयान् महायतः। मार्गः पन्थाः। कथम्भूतः सः? भुजङ्गदुर्गमतमः सर्पैरपि गन्तुं दुष्करो बहुसर्पादिविषजन्तुकारणादत्यन्तदुर्गमो वा। भुजङ्गैः विषसर्पैः दुःखेन महता कष्टेन गम्यते स दुर्गमः। अतिशयेन दुर्गमः दुर्गमतमः। 'प्रकृष्टे तमतररूपाः' इति का० सूत्रात्। स तथोक्तः। पुनरपि किं विशिष्टः? निराशः बहुदूरगः। आशा दिशाः। ताभ्यो निःक्रान्तो निराशः। ततः तस्मात् कारणात्। आर्य! हे भव्य! व्यक्तं स्पष्टं सर्वलोकविदितमेतदुपाख्यानम्। महतां महापुरुषाणाम्। वक्तुं अयुक्तं कथनागोचरम्। कथमिति चेत्? सर्वार्यसाक्षात्कृतः सर्वार्यनाम्ना द्वितीयमन्त्रिणा साक्षात्कृतो विज्ञात इत्यर्थः।

अथवा द्वितीयाख्यानम्—स प्रदेशो धर्मः। प्रदिश्यते परस्मै प्रतिपाद्यते इति प्रदेशो धर्मः। यद्वा प्रदिशति नियतं स्थिरं करोत्यात्मानं स प्रदेशो धर्मः। सर्वेषामवस्थान-दानाद्वा प्रदेशो धर्मोऽभिधीयते। परः उत्कृष्टः जिनप्रणीतः। अस्ति वर्तते। यस्मिन् सति धृतमहावंशा महाकुलोत्पन्नाः। प्रज्ञापारं इताः प्रज्ञान्तं प्राप्ताः। प्रज्ञायाः पारं प्रज्ञापारं तं इता गताः प्राप्ताः वा ज्ञाता वा। 'पारे मध्ये तया वा' इत्यनेन हसः। धृतोन्नतिधनाः चारित्रप्रकर्षताधारकाः। उन्नतिर्यशसश्चारित्रस्य वा प्रकर्षता। सैव धनं यैर्धृतं ते तथोक्ताः। ते के? भूभृतः भूपालका राजानोऽथवा भूपोषका मुनयः। श्रियै अभ्युदयनिःश्रेयससुखार्थम्। मूर्ध्ना शिरसोत्तमाङ्गेन। ध्रियन्ते विराज्यन्ते। अन्यैरिति शेषः। तस्य धर्मस्य। भूयान् महान्। मार्गः सम्यग्दर्शनज्ञान-चारित्ररूपः। किं विशिष्टः? भुजङ्गदुर्गमतमः कामिजनालब्धस्वरूपः। तथा कथम्भूतः? निराशः तृष्णारहितः। निष्क्रान्ता आशा तृष्णा यस्मात् सः। आशारहितस्य धर्मस्योपलब्धिरस्ति। स एव लोके तिष्ठन्नपि लोकादुपरि

यूँ कहें कि बहुत विषैले सर्प आदि जन्तुओं के कारण से वह मार्ग अत्यन्त दुर्गम है। विषैले सर्पों के द्वारा बड़े कष्ट से जाना जाता है इसलिए दुर्गम है। जो अत्यधिक दुर्गम है वह दुर्गमतम है। जहाँ दिसाएँ बहुत दूर हैं इसलिए निराश हैं। हे भव्य! यह कथानक समस्त लोक को ज्ञात है। महापुरुषों को भी यह कथन के अगोचर है। सर्वार्य नाम के द्वितीयमन्त्री के द्वारा यह साक्षात् देखा गया है।

अब दूसरा व्याख्यान कहते हैं–प्रदेश का अर्थ धर्म है। दूसरों के लिए जिसका प्रतिपादन किया जाता है वह धर्म है। अथवा जो आत्मा को नियत या स्थिर कर देता है वह धर्म है। अथवा सभी को अवस्थान देने से प्रदेश को धर्म कहते हैं। जिनेन्द्र भगवान् के द्वारा कहा हुआ वह धर्म उत्कृष्ट है। जिस धर्म के होने पर महान् कुल में जीव उत्पन्न होते हैं। इस धर्म से ही जीव प्रज्ञा के पार को प्राप्त कर लेते हैं। इस धर्म के होने पर जीव चारित्र की उत्कृष्टता को धारण कर लेते हैं। यश की अथवा चारित्र की उत्कृष्टता ही उन्नति है। उस उन्नति धन को जिन्होंने धारण किया है वे मनुष्य धर्म से ही होते हैं। राजाओं को भूपालक कहते हैं अथवा पृथ्वी के पोषक होने से मुनिजन भूपाल हैं। अभ्युदय और निःश्रेयस सुख के लिए इस धर्म को राजा अथवा मुनिजन अपने सिर पर धारण करते हैं। उस धर्म का मार्ग महान् है, जो सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्ररूप है। यह धर्म कामीजनों को प्राप्त नहीं होता है। यह धर्म तृष्णारहित है अर्थात् जो तृष्णा रहित होता है उसे ही धर्म की प्राप्ति होती है। वह जीव संसार में रहता हुआ भी संसार के ऊपर तैरता है और अन्य को भी तारता है। उसी धार्मिक जीव का यह संसार अनुसरण करता

तरति तारयति चान्यान्। तमेव लोकोऽयमनुसरति। यदुक्तम्–

आशाया ये दासास्ते दासाः सर्वलोकस्य।
आशा येषां दासी तेषां दासायते लोकः॥

ततः कारणात्। आर्यमहतां आर्येषु शुद्धोपयोगार्हेषु महतामुत्कृष्टानां सन्ततात्मतत्त्वं निरीक्ष्यमाणानाम्। व्यक्तं स्पष्टम्। वक्तुं अयुक्तं प्रतिपादयितुमशक्यं योगिगम्यत्वात्। स च धर्मः केषां गम्यः? सर्वार्यसाक्षात्कृतः सर्वज्ञदेवैः प्रत्यक्षीकृतः। सर्वं अर्यति परिच्छिनत्ति स सर्वार्यः सर्वज्ञः। तेषां गोचरः स इति ॥९६॥

'परोपकाराय सतां हि चेष्टितम्' सर्वैः श्रुतमनुष्ठितञ्च; तथापि न जानन्ति किं नाम परोपकार इति च कैः क्रियते इत्यत्र प्रतिपादयितुकामः प्राह–

(शिखारिणी)

शरीरेऽस्मिन् सर्वाशुचिनि बहुदुःखेऽपि निवसन्
व्यरंसीन्नो नैव प्रथयति जनः प्रीतिमधिकाम्।
इदं दृष्ट्वाप्यस्माद्विरमयितुमेनं च यतते
यतिर्याताख्यानैः परहितरतिं पश्य महतः॥९७॥

है। कहा भी है–

"जो आशा के दास है वे ही समस्त लोक के दास हैं और आशा जिनकी दासी है सारा संसार उनका दास है।" इसी कारण से शुद्धोपयोग में उत्कृष्ट जीवों को यह आत्म तत्त्व निरन्तर देखने में आता है। यह धर्म योगी गम्य होने से कहना अशक्य है। यह धर्म सर्वज्ञदेव के द्वारा प्रत्यक्ष है। जो सबकुछ जानते हैं वह सर्वार्य है, वही सर्वज्ञ है ॥९६॥

उत्थानिका–"परोपकार के लिए ही सज्जनों की चेष्टा होती है।" इस प्रकार सभी ने सुना है और अनुष्ठान किया है, फिर भी यह नहीं जानते हैं कि परोपकार क्या है ? और किनके द्वारा किया जाता है, यही यहाँ कहते हैं–

अन्वयार्थ–(अस्मिन्) इस **(शरीरे)** शरीर में **(सर्वाशुचिनि)** जो सभी प्रकार से अपवित्र है **(बहु दुःखे)** और बहुत दुःख देने वाला है उसमें **(अपि)** भी **(निवसन्)** रहता हुआ **(जनः)** मनुष्य **(नो)** नहीं **(व्यंरसीत्)** विरक्त होता है **(इदं)** यह **(दृष्ट्वा)** देखकर **(अपि)** भी **(अधिकां प्रीतिं)** अधिक प्रीति को **(नैव)** क्या नहीं **(प्रथयति)** बढ़ाता है **(एनं च)** इस जन को **(अस्मात्)** देहसे **(यतिः)** यति

अशुचिधाम तन दुखद रहा है इसमें चिर से निवस रहा।
निरीह इससे हुवा नहीं तू राग बढ़ा प्रति दिवस रहा॥
घटे राग तव, सदुपदेश में अतः निरत नित यतिजन ये।
महाजनों की परहित की रति देख जरा, तज रति मन ऐ! ॥९७॥

अन्वयः—अस्मिन् शरीरे सर्वाशुचिनि बहुदुःखे अपि निवसन् जनः नो व्यरंसीत् इदं दृष्ट्वा अपि अधिकां प्रीतिं नैव प्रथयति, एनं च अस्मात् यतिः विरमयितुं याताख्यानैः यतते, पश्य महतः परहितरतिम्।

शरीर इत्यादि। अस्मिन् दृष्टिपथगते। शरीरे नोकर्मवर्गणासंघातजनिते पौद्गलिके। कथम्भूते? सर्वाशुचिनि सकलापवित्रपदार्थानामेकमात्रास्पदे। सर्वाणि अखिलानि च तानि अशुचीनि वस्तूनि तत्तथाभूते। पुनश्च किंभूते? बहुदुःखे अति-कष्टप्रदे। बहूनि च तानि दुःखानि शारीरमानसादिरूपाणि यस्मिन्। अपि आश्चर्ये। अव्ययानामनेकार्थत्वात्। निवसन् तिष्ठन्। निवसतीति निवसन् ।'सल्लटः' इति शतृप्रत्ययः। जनः प्राणी। नो निषेधार्थे। व्यरंसीत् वैराग्यं नापत्। वि पूर्वकं 'रमु क्रीडायाम्' इत्येतस्माद्धो लुङ्। 'व्याङश्च रमः' इत्यनेन परस्मैपदत्वम्। प्रत्युत किं कृतमित्याह- इदं शरीरम्। दृष्ट्वा अवलोक्य। अपि स्फुटम्। अधिकां प्रीतिं प्राक्कालात् बहुतरं प्रेम। नैव प्रथयति किं नैव वर्धते। इति काकुः। अपि तु वर्धत एव। एनं जनम्। च तथापि। अस्मात् शरीरात्। यतिः श्रमणः। आत्मार्थं यतते इति यतिः। विरमयितुं वैराग्यार्थम्। कैः कृत्वा? याताख्यानैः विज्ञातसारोपदेशैः। यातं विज्ञातं आख्यानं तत्त्वोपदेशो यैस्तैः। यतते प्रयत्नं कुरुते। पश्य हे लोक! अवलोकय। महतः यति-जनस्य। परहितरतिं परहितार्थायोद्यमम्। महतामेव पारमार्थिकी वृत्तिः परहितरतिरूपा सम्भाव्यते। सा च भवाङ्गभोग विरमणकरी। येषां चेत्थंभूता वृत्तिस्त एव महान्त इत्यन्योन्याश्रितगुणवृत्तिः। शिखरिणीवृत्तम् ॥९७॥

अथ संक्षेपेण सर्वापत्तिस्थानं शरीरमेवेति कथयति-

(विरमयितुं) दूर करने के लिए **(याताख्यानैः)** ज्ञात आख्यानों से **(यतते)** यत्न करता है **(पश्य)** देखो! **(महतः)** महान् आत्मा की **(परहितरतिम्)** परहित रति को।

अर्थ—सब प्रकार से अशुचि और बहुत दुःख देने वाले इस शरीर में रहते हुए भी मनुष्य विरक्त नहीं होता है। यह देखकर भी अधिकाधिक प्रीति को क्या नहीं बढ़ाता है ? यति इस मनुष्य को इससे विरक्त करने के लिए ज्ञात आख्यानों से प्रयत्न करता है। महान् व्यक्ति की परहित में रति तो देखो!

टीकार्थ–नो कर्म वर्गणाओं के समूह से उत्पन्न पौद्गलिक शरीर सबके देखने में आ रहा है। वह शरीर सभी अपवित्र पदार्थों को रहने के लिए एक मात्र स्थान है। वह शरीर अत्यन्त कष्ट देने वाला है। उस शरीर में अनेक शरीर सम्बन्धी और मानसिक दुःख हैं। ऐसे शरीर में रहता हुआ भी प्राणी, वैराग्य को नहीं प्राप्त होता है, प्रत्युत् क्या करता है, यह कहते हैं—इस शरीर की इस दशा को देखकर स्पष्ट रूप से पहले से भी अधिक प्रीति को क्या नहीं बढ़ाता है ? अपितु बढ़ाता ही है। अपनी आत्मा के लिए जो यत्न करता है वह यति श्रमण है। तत्त्व का उपदेश जिन्हें ज्ञात है ऐसे यति इस मनुष्य को शरीर से वैराग्य दिलाने के लिए प्रयत्न करते हैं। हे मनुष्य! यतिजन की परहित में रति तो देखो। महान् पुरुषों की ही परहित रूप पारमार्थिक प्रवृत्ति होती है। वह प्रवृत्ति ही संसार, शरीर, भोग से विरति कराने वाली होती है। या यूँ कहें कि जिनकी ऐसी प्रवृत्ति होती है वे ही महान् होते हैं, इस प्रकार अन्योन्याश्रय गुणों की प्रवृत्ति है। साधुजन अकारण बन्धु होते हैं। यहाँ शिखरिणी छन्द है ॥९७॥

उत्थानिका—अब संक्षेप से समस्त आपत्तियों का स्थान शरीर ही है, यह कहते हैं–

(वसन्ततिलका)

इत्थं तथेति बहुना किमुदीरितेन,
भूयस्त्वयैव ननु जन्मनि भुक्तमुक्तम्।
एतावदेव कथितं तव सङ्कलय्य,
सर्वापदां पदमिदं जननं जनानाम् ॥९८॥

अन्वयः—इत्थं तथा इति बहुना उदीरितेन किम् , ननु त्वया एव जन्मनि भूयः भुक्तमुक्तं एतावदेव तव सङ्कलय्य कथितं जनानां सर्वापदां पदं इदं जननम्।

इत्थमित्यादि। इत्थं एवंप्रकारेण शरीरस्य बहुदुःखत्वं सर्वाशुचित्वं वा। तथा पूर्वोक्तप्रकारेण 'कारागारमवैहि ते हतमते प्रीतिं वृथा मा कृथाः' इत्यादिरूपेण। इत्यलम्। बहुना उदीरितेन अधिककथनेन। किं प्रयोजनमस्तीति भावः। ननु अवधारणे? 'ननु प्रश्नेऽप्यनुनयेऽनुज्ञानेऽप्यवधारणे' इति वि॰ प्र॰। त्वया भवता। एव निश्चितम्। जन्मनि संसारे। भूयः प्राचुर्यम्। भुक्तमुक्तं भुक्त्वोज्झितम्। भुक्तं च मुक्तं च

अन्वयार्थ—(इत्थं) इस प्रकार **(तथा)** उस प्रकार **(इति)** इस तरह **(बहुना)** बहुत **(उदीरितेन)** कहने से **(किम्)** क्या **(ननु)** निश्चित ही **(त्वया)** तुम्हारे द्वारा **(एव)** ही **(जन्मनि)** संसार में **(भूयः)** बहुत बार **(भुक्त-मुक्तं)** भोगा और छोड़ा गया है **(एतावत् एव)** इतना ही **(तव)** तुमको **(संकलय्य)** संक्षेप करके **(कथितं)** कहा है कि **(जनानां)** मनुष्यों को **(सर्वापदां)** समस्त आपत्तियों का **(पदं)** स्थान **(इदं)** यह **(जननं)** उत्पन्न होना है।

अर्थ—इस प्रकार से, उस प्रकार से, शरीर के बारे में बहुत कहने से क्या ? निश्चित ही इस संसार में बार-बार तुमने शरीर को भोगा और छोड़ा है। तुम्हारे लिए संकलन करके इतना ही कहा है कि मनुष्यों का यह शरीर ही सभी आपत्तियों का परम स्थान है।

टीकार्थ—इस प्रकार से जो यहाँ कहा है कि—शरीर बहुत दुःख स्वरूप है अथवा सभी प्रकार से अशुचिपने को प्राप्त है। तथा जिस प्रकार पहले कहा था कि ''हे दुर्बुद्धिजन! तुम कारागृह को प्राप्त हुए हो, इस शरीर से व्यर्थ में प्रीति मत करो।'' इस तरह बार-बार अधिक कहने से क्या प्रयोजन है? तुम्हें यह ज्ञात ही है कि इस संसार में इस शरीर को बहुत बार भोगा है और छोड़ा है। इतना कहना ही संक्षेप से तुम्हारे लिए पर्याप्त है कि संसार में परिभ्रमण कर रहे इन प्राणियों को सभी कष्टों का स्थान यह दिखाई देने वाला जन्म ही है। वैसे तो 'जनन' शब्द उत्पत्ति के लिए प्रयुक्त होता है किन्तु यहाँ

'इस विध' 'उस विध' तन है इस विध कहने से कुछ अर्थ नहीं।
पुनि पुनि तन धर तजकर तूने व्यथा सही क्या व्यर्थ नहीं॥
फिर भी यह संकेत मात्र है सदुपदेश सुन संपद है।
भव भ्रमितों का यह जड़ तन सब विपदाओं का आस्पद है॥९८॥

भुक्तमुक्तम्। 'विसमाप्तौ क्तः' इति सूत्राद् वृत्तिः। एतावदेव एतन्मात्रम्। तव भवतः। सङ्कलय्य सङ्कलनं कृत्वा। कथितं उक्तम्। यतश्चाह–जनानां भवपरिभ्रमणगतानां प्राणिनाम्। सर्वापदां सकलकष्टाम्। सर्वाश्च ता आपदाः सर्वापदास्तासाम्। पदं स्थानम्। इदं दृश्यमानम्। जननं जन्म। ''जनुर्जननजन्मानि जनिरुत्पत्तिरुद्भवः'' इत्यमरः। अथवा जायते उत्पद्यते प्राणी यस्मिन् तज्जननं शरीरम्। अथवा जनयति शरीरं प्रादुर्भवति यत्र तज्जननं मातुरुदरः। वसन्ततिलकावृत्तम्॥९८॥

मातुरुदरमधिवसतः प्राणिनो दशां किञ्चिदत्र व्यनक्ति–

(मन्दाक्रान्ता)

अन्तर्वान्तं वदनविवरे क्षुत्तृषार्त्तः प्रतीच्छन्.
कर्मायत्तः सुचिरमुदरावस्करे वृद्धगृद्ध्या ।
निष्पन्दात्मा कृमिसहचरो जन्मनि क्लेशभीतो
मन्ये जन्मिन्नपि च मरणात्तन्निमित्ताद्बिभेषि ॥९९॥

अन्वयः—जन्मनि उदरावस्करे कर्मायत्तः क्षुत्तृषार्तः वृद्धगृद्ध्या वदनविवरे अन्तर्वान्तं सुचिरं प्रतीच्छन् निष्पन्दात्मा कृमिसहचरः क्लेशभीतः अपि च जन्मिन् मरणात् बिभेषि तत् निमित्तात् मन्ये।

उसका अर्थ शरीर है। जिसमें प्राणी उत्पन्न होता है वह जनन शरीर है। इस व्युत्पत्ति से अथवा जिसमें शरीर उत्पन्न होता हैं ऐसा माता का गर्भ जनन है। यहाँ वसन्ततिलका छन्द है॥९८॥

उत्थानिका—माता के गर्भ में रहने वाले प्राणी की दशा के सम्बन्ध में कुछ कहते हैं–

अन्वयार्थ—(जन्मनि) संसार में **(उदरावस्करे)** उदररूपी विष्ठागृह में **(कर्मायत्तः)** कर्माधीन हुआ **(क्षुत्तृषार्तः)** भूख, प्यास से दुःखी **(वृद्धगृद्ध्या)** बढ़ने की तीव्र इच्छा से **(वदनविवरे)** मुख छिद्र में **(अन्तर्वान्तं)** माता के भुक्त अन्न की **(सुचिरं)** बहुत समय तक **(प्रतीच्छन्)** प्रतीक्षा करते हुए **(निष्पन्दात्मा)** निश्चल आत्मा हो कर **(कृमिसहचरः)** कृमियों के साथ रहते हुए **(क्लेशभीतः)** दुःख से डरा हुआ है **(अपि च)** इसलिए ही **(जन्मिन्)** हे प्राणिन्! **(मरणात्)** मरण से **(बिभेषि तत् निमित्तात्)** उसी निमित्त से डरते हो **(मन्ये)** ऐसा मानता हूँ।

अर्थ—भूख प्यास से दुःखी हुआ मुखरूपी छिद्र में माता द्वारा निगले हुए अन्न की प्रतीक्षा करता रहा। यह इच्छा बढ़ी हुई गृद्धता से बहुत समय तक उदररूपी गन्दे स्थान में कर्माधीन होकर हुई। वहाँ तू हलन-चलन रहित, कृमियों के साथ, क्लेश से डर कर रहा। हे प्राणिन्! ऐसा मानता हूँ कि इस संसार में तू जो मरण से डर रहा है, वह उसी निमित्त से डर रहा है।

मल घर माँ का उदर जहाँ चिर क्षुधित तृषित मुख खोल पड़ा।
पड़ा अन्न मल-मिश्रित खाया विधिवश ले दुख मोल सड़ा॥
निश्चल था तव कृमि कुल सहचर तभी मरण से भीत हुवा।
चूँकि जनन का मरण जनक है यही मुझे परतीत हुवा॥९९॥

अन्तर्वान्तमित्यादि। जन्मनि संसारे वा शरीरे वा। कुत्र? उदरावस्करे उदरो मातुर्जठर एव अवस्करो वर्चोगृहं तत्र गर्भवसतौ स्थितः। कथम्भूतः? कर्मायत्तः कर्मपरवशः। तथा किम्? क्षुत्तृषार्तः बुभुक्षापिपासापीडितः। क्षुत् क्षुधा तृषा पिपासा ताभ्यामार्तः दुःखितः सः। कया? वृद्धगृद्ध्या तीव्राकाङ्क्षया। वृद्धा प्रकृष्टा गृद्धिस्तृष्णा तया। क्व? वदनविवरे वदनं मुखमेव विवरं छिद्रं तत्र । अन्तर्वान्तं छर्दितं मात्रोपभुक्तम्। सुचिरं नवदशमासपर्यन्तम्। प्रतीच्छन् प्रतीक्षां कुर्वन्। कथम्भूतः सः? निष्पन्दात्मा सङ्कुचितावयवः स्थावर इव। पुनश्च किंभूतः? कृमिसहचरः उदरकीट-सहवासः। कोऽसौ? क्लेशभीतः कष्टाद् भयभीतः। अपि च तथापि। जन्मिन् हे प्राणिन्!। मरणात् मृत्युतः। बिभेषि भीतिं कुरुषे। 'का अपादाने' इति का सुष्ठु। तन्निमित्तात् जन्मनिमित्तात्। मन्ये जानेऽहमिति। आगामिजन्महेतुत्वान्मरणाद् बिभेषि गर्भवासक्लेशभीतस्त्वमिति मन्ये। यद्वाद्यापि मरणाद् बिभेषि तदागामिजन्महेतुत्वादेव। यश्चा-गामिभवं न वाञ्छति स मृत्योर्न बिभेतीत्यर्थः। मन्दाक्रान्तावृत्तम् ॥९९॥

आ संसारतस्त्वया किं कृतं प्राप्तं वेति लौकिकन्यायद्वारेण प्रतिपाद्यते–

(वंशस्थ)

अजाकृपाणीयमनुष्ठितं त्वया, विकल्पमुग्धेन भवादितः पुरा।
यदत्र किञ्चित्सुखरूपमाप्यते, तदार्य विद्ध्यन्धकवर्तकीयम् ॥१००॥

टीकार्थ–माँ का गर्भ ही विष्ठागृह है। उस गर्भावास में कर्म के परवश हुआ,भूख-प्यास से पीड़ित हो, बढ़ी हुई तृष्णा से अपने मुख-छिद्र में माँ के द्वारा खाये हुए अन्न की नौ-दस महीने तक प्रतीक्षा करता रहा। वहाँ उस शरीर में अपने अंगों, उपांगों को संकुचित करके स्थावर के समान रहा। वहाँ उदरगत कृमि आदि कीड़ों के साथ रहा और कष्ट से भयभीत रहा। फिर भी हे प्राणिन्! तुम जो आज मृत्यु से डर रहे हो, सो मैं ऐसा मानता हूँ कि आगामी जन्म का कारण यह मरण है, इसी से डर रहे हो। अथवा यूँ कहें कि आज भी तुम मरण से डर रहे हो वही डर आगामी जन्म का कारण है। जो आने वाले जन्म को नहीं चाहता है वह मृत्यु से भी नहीं डरता है। यहाँ मन्दाक्रान्ता छन्द है॥९९॥

उत्थानिका–अनादि से संसार में तुमने क्या प्राप्त किया है, यह लौकिक न्याय से कहते हैं–

अन्वयार्थ–(त्वया) तुम **(विकल्पमुग्धेन)** विकल्पमुग्ध ने **(भवादितः)** इस लोक की आदि से **(पुरा)** पहले **(अजाकृपाणीयं)** अजाकृपाणीय न्याय का **(अनुष्ठितं)** अनुष्ठान किया है **(यत्)** जो **(अत्र)** यहाँ **(किञ्चित्)** कुछ **(सुखरूपं)** सुखरूप **(आप्यते)** प्राप्त होता है **(तत्)** वह **(आर्य)** हे आर्य! **(अन्धक-वर्तकीयं)** अन्धे की बटेर **(विद्धि)** जानो।

अजा कृपाणक समान तुमने चिर से अब तक कार्य किया।
नहीं हिताहित हुवा विदित हे आर्य दुरित अनिवार्य किया॥
अन्धक वर्त्तन न्याय मात्र से प्राप्त किया सुख क्षणिक रहा।
वह भी आत्मिक सुख ना इन्द्रिय दुख मिश्रित सुख तनिक रहा ॥१०० ॥

अन्वयः—त्वया विकल्पमुग्धेन भवादितः पुरा अजाकृपाणीयं अनुष्ठितं यत् अत्र किञ्चित् सुखरूपं आप्यते तत् आर्य! अन्धकवर्तकीयं विद्धि।

अजेत्यादि। त्वया भवता। किं विशिष्टेन? विकल्पमुग्धेन विकल्पसङ्कल्पपरम्परामूर्च्छितेन। विकल्पेन मुग्धो मोहितः स तेन। विकल्पोऽध्यवसायः सङ्कल्प इति यावत्। अथवा विकल्पः अहमेवं करिष्यामि करोमि अकार्षं वेत्यादिरूपः। सङ्कल्पः अहमेवं ज्ञानी, धनीत्यादि रूपः। विकल्पग्रहणेन सङ्कल्पोऽपि ग्राह्यो द्वयोः सहचरत्वाद् गोश्रृङ्गवत्। भवादितः पुरा अनादिकालतः। यद्वाऽस्मद्भवात् ज्ञानवैराग्यमयत्वात् प्राक्। अजाकृपाणीयं अजाकृपानीयन्यायम्। अजा च कृपाणश्च तयोरिव कार्यं यत्र तत्। 'सुप्सुपा' इत्यनेन सः। कोऽपि निःशस्त्रोऽजां निहन्तुं रहसि नीतवान्। तत्र प्रस्तावे तया पादेन भूमिः खनिता। तदैव एकः कृपाणः प्राप्तः। तेनैव सा हता। अथवा कश्चित्–'' कण्डूयनार्थं स्तम्भादौ शिथिल-बन्धखङ्गे छागी ग्रीवां प्रसारयति यदृच्छया च ग्रीवा छिद्यते तथाभूतोऽजाकृपाणीयन्यायः काकतालीय-न्यायसमः।'' यथाऽऽत्मवधायाजा चेष्टितं तथाऽऽत्महिताय त्वयेति। अनुष्ठितं कृतम्। यत् किञ्चित्। अत्र लोके। किञ्चित् सुखरूपं क्वचित् कदाचित् सुखलवः। आप्यते प्राप्यते। तत् आर्य! हे भव्य!। अन्धकवर्तकीयं अन्धकस्य हस्तप्रस्तारक्षणे वर्तकापक्षिप्राप्तिवत्। अत्रापि 'सुप्सुपा' इत्यनेन वृत्तिः। 'घुणाक्षरन्यायो' वेति कथ्यते कस्यचि-द्वस्तुनोऽनायासोपलब्धौ। विद्धि जानीहि ॥१००॥

अर्थ—इस जन्म से पहले तुझ विकल्पमूढ़ जीव ने 'अजाकृपाणीय' न्याय का अनुष्ठान किया है। यहाँ जो कुछ थोड़ा सुख रूप प्राप्त होता है, हे आर्य! उसे अन्धे का बटेर पकड़ने का प्रयत्न जानना।

टीकार्थ–विकल्प, संकल्प से यह प्राणी मूर्छित है। या जो विकल्प से मुग्ध, गाफिल है ऐसा प्राणी तू है। विकल्प, अध्यवसाय, संकल्प ये एकार्थवाची हैं। अथवा मैं ऐसा करूँगा, करता हूँ, मैंने ऐसा किया है इत्यादि विकल्प हैं। मैं ही ज्ञानी हूँ, धनी हूँ, इत्यादि रूप विकल्प है। विकल्प शब्द के ग्रहण से संकल्प भी ग्रहण करना क्योंकि दोनों का गाय के सींग के समान, सहचरपना है। अनादिकाल से अब तक अथवा इस भव में ज्ञान, वैराग्य होने से पहले तक 'अजाकृपाणन्याय' का अनुष्ठान किया है। कोई व्यक्ति शस्त्र रहित हो बकरी को मारने के लिए उसे एकान्त में ले गया। उसी समय पर बकरी ने अपने पैरों से भूमि खोद दी। भूमि खोदने से उसमें दबी हुई एक तलवार मिल गयी। उस व्यक्ति ने उस तलवार से उस बकरी को मार दिया। यह अजाकृपाणन्याय कहलाता है। अथवा कोई कहता है कि – ''खुजाने के लिए स्तम्भ आदि पर टंगी हुई हल की सी बँधी हुई तलवार में बकरी अजनी गर्दन इच्छानुसार फैलाती है और उसकी गर्दन छिद जाती है उसी प्रकार अजाकृपाणीय न्याय है जो काकतालीय न्याय के समान है।'' जैसे आत्मघात के लिए बकरी ने चेष्टा की वैसे ही तेरी चेष्टायें आत्मा के अहित के लिए होती हैं। फिर भी इस संसार में जो कुछ थोड़ा सा सुख तुझे प्राप्त होता है, वह अन्धे व्यक्ति के हाथ फैलाने पर बटेर पक्षी की अचानक प्राप्ति हो जाने की तरह है। जब कोई वस्तु अनायास उपलब्ध हो जाती हैं तो उसे 'घुणाक्षरन्याय' भी कहते हैं। इस न्याय से कुछ प्राप्त होना आश्चर्यकारी है। उसी प्रकार संसार में थोड़ा सुख प्राप्त करना भी बड़ा आश्चर्यकारी है। अथवा 'अन्धे के हाथ जैसे बटेर लगी' वैसे ही सुख की चाह में कभी कोई इन्द्रियसुख मिल गया फिर उसी सुख के भरोसे रहना ठीक नहीं है यह तात्पर्य है ॥१००॥

अथ कामरूपचण्डस्य प्रचण्डतां प्रकटयन्नाह–

(वसन्ततिलका)

हा कष्टमिष्टवनिताभिरकाण्ड एव,
चण्डो विखण्डयति पण्डितमानिनोऽपि।
पश्याद्भुतं तदपि धीरतया सहन्ते,
दग्धुं तपोऽग्निभिरमुं न समुत्सहन्ते ॥१०१॥

अन्वयः—हा कष्टं चण्डः पण्डितमानिनः अपि अकाण्डे एव इष्टवनिताभिः विखण्डयति तदपि पश्य अद्भुतं धीरतया (तं) सहन्ते तपोऽग्निभिः अमुं दग्धुं न समुत्सहन्ते।

हा कष्टमित्यादि। हा कष्टं खेदविषयोऽयम्। चण्डः कामः। चण्ड इव चण्डः। 'देवपथादिभ्यः' इतीवार्थस्य कस्योस् पण्डितमानिनः पण्डितमात्मानं मन्यन्ते ते तान्। अपि आश्चर्ये। अकाण्डे असमये। ''काण्डोऽस्त्री दण्डवाणार्ववर्गावसरवारिषु'' इत्यमरः। एवावधारणे। काभिर्हेतुभिः? इष्टवनिताभिः ललित-ललनाभिः। स्त्रीकारणभूतैः कामभूतो मनसि प्रविशति। न च कामनामा कोऽपि प्रचण्डो भूतो वा विद्यते यथा

उत्थानिका—अब कामरूपी चण्ड की प्रचण्डता को प्रकट करते हुए कहते हैं–

अन्वयार्थ—(हा) हा! **(कष्टं)** कष्ट है **(चण्डः)** काम **(पण्डितमानिनः)** पण्डितमानियों को **(अपि)** भी **(अकाण्डे एव)** बिना अवसर के ही **(इष्टवनिताभिः)** इष्ट वनिताओं से **(विखण्डयति)** खण्डित कर देता है **(तदपि)** उस पर भी **(पश्य)** देखो! **(अद्भुतं)** कितना अद्भुत है कि **(धीरतया)** धीरता से **(सहन्ते)** वे उसे सहन करते हैं **(तपोऽग्निभिः)** तप अग्नि से **(अमुं)** इसे **(दग्धुं)** दग्ध करने के लिए **(न समुत्सहन्ते)** उत्साहित नहीं होते हैं।

अर्थ—हाय! बड़ा कष्ट है कि यह चण्डकाम इष्ट स्त्रियों के द्वारा असमय में ही अपने आपको पण्डित मानने वालों को भी विखण्डित कर देता हैं। देखो! क्या आश्चर्य है कि फिर भी वह पण्डित धीरता से इस विखण्डन को सह लेता है किन्तु तप अग्नि से उसे दहन करने के लिए उत्साहित नहीं होता है।

टीकार्थ–चण्ड के समान होने से काम को चण्ड कहते हैं। खेद का विषय है कि यह काम असमय में भी सुन्दर स्त्रियों के द्वारा उन्हें खण्डित कर देता है जो अपने आपको पण्डित (ज्ञानी) मानते हैं। स्त्रियों को कारण बनाकर यह काम का भूत मनमें प्रवेश करता है। काम नाम का और कोई प्रचण्ड भूत नहीं है जैसा कि लोक में उस काम की देव रूप में ख्याति है। उसे कामदेव कहते हैं, किन्तु मन का राग ही वस्तुतः काम है। जिनको स्त्रियाँ इष्ट हैं वे कामी हैं और जिन्हें इष्ट नहीं है वे ज्ञानी हैं। मन

हा! आकस्मिक वनितादिक की काम कामना करवाता।
निज को पंडित माने उनके पंडितपन को भरमाता॥
फिर भी पंडित धीर धार कर इसको सहते यह विस्मय।
सुतप अनल से क्रूर काम को नहीं जलाते बन निर्दय ॥१०१॥

लोके तस्य देवत्वेन ख्यातिः प्रत्युत मनोराग एव कामः। वनिता येषामिष्टास्ते कामिनोऽन्यथा ज्ञानिनः। मनोरागजन्यत्वात्तासां निमित्तमात्रत्वमवसेयम्। निःस्पृहाणा-मियं वनिता इष्टा इयमनिष्टा इति विकल्पो नोत्पद्यते; येषां तु विद्यते ते पण्डितमानिन इत्यर्थः। विखण्डयति विशेषेण खण्डनं करोति व्रतादिकम्। विपूर्वकं 'खण्ड भेदने' इति धोर्लट्। तदपि तथापि। पश्य हे आत्मन्। अद्भुतं आश्चर्यम्। किं तत्? धीरतया धैर्येण सहिष्णुतया वा। सहन्ते सहनं कुर्वते। प्रचण्डशूरोऽपि स्वाभिमानखण्डनं कुर्वन्तं प्रति न रुष्यति इति विस्मयः। अथ तस्य दहनोपाययाह–तपोऽग्निभिः अनिगूहितवीर्येण चारित्रवैश्वानरैः। तपः एवाग्निः कामभाव-दहनाय तैः। अमुं चण्डम्। दग्धुं भस्मसात्कर्तुम्। न समुत्सहन्ते समीचीनमुत्साहं न कुर्वन्ति। वसन्त-तिलकावृत्तम् ॥१०१॥

ये तु प्रचण्डकामं विजित्य वैराग्यं प्राप्तवन्तस्तेषां प्रकर्षाप्रकर्षत्वं दर्शयन्नाह–

(शार्दूलविक्रीडित)

अर्थिभ्यस्तृणवद्विचिन्त्य विषयान् कश्चिच्छ्रियं दत्तवान्
पापां तामवितर्पिणीं विगणयन्नादात् परस्त्यक्तवान्।
प्रागेवाकुशलां विमृश्य सुभगोप्यन्यो न पर्यग्रहीत्
एते ते विदितोत्तरोत्तरवराः सर्वोत्तमास्त्यागिनः ॥१०२ ॥

अन्वयः–कश्चित् विषयान् तृणवत् विचिन्त्य अर्थिभ्यः श्रियं दत्तवान्, परः तां पापां अवितर्पिणीं विगणयन् न अदात् त्यक्तवान् अन्यः सुभगः प्रागेव अकुशलां विमृश्य न अपि पर्यग्रहीत् ते एते विदितोत्तरोत्तरवराः सर्वोत्तमाः त्यागिनः।

में राग उत्पन्न करने के कारणरूप उन स्त्रियों को तो काम उत्पत्ति में निमित्त मात्र मानना चाहिए। जो निःस्पृह हैं उन्हें इस प्रकार का विकल्प ही उत्पन्न नहीं होता है कि यह स्त्री इष्ट है या यह अनिष्ट है। जिनको यह विकल्प है वे ही पण्डित मानी (अपने आपको ज्ञानी, पण्डित मानने वाले) हैं। यह काम व्रत आदि का खण्डन कर देता है। हे आत्मन्! फिर भी आश्चर्य है कि वह पण्डितमानी धैर्य से या सहिष्णुता से व्रत खण्डन को खण्डन करने वाले के प्रति रूष्ट नहीं होता है, यह तात्पर्य है। अब उसके दहन का उपाय कहते हैं–

अपनी शक्ति को नहीं छिपाकर चारित्र धारण करना ही तप है। तप ही कामभाव को जलाने के लिए अग्नि है। पर उस अग्नि के द्वारा इस चण्ड, काम को भस्मसात् करने के लिए जीव समीचीन उत्साह नहीं करता है। यहाँ वसन्ततिलका छन्द है ॥१०१॥

समझ विषय को तृण सम कोई याचक को निज धन देता।
तृष्णा वर्धक अघमय गिन इक बिना दिये धन तज देता ॥
किन्तु प्रथम ही दुखद जान धन नहिं लेता वह बड़भागी।
एक एक से क्रमशः बढ़कर, सर्वोत्तम हैं ये त्यागी ॥१०२॥

अर्थिभ्य इत्यादि। कश्चित् आत्मवान्। 'को ब्रह्मात्मप्रकाशार्के, कः स्याद्वायु-यमाग्निषु' इत्यमरः। विषयान् स्पर्शरसगन्धवर्णशब्दान्। तृणवत् जीर्णशीर्णतृणवन्नगण्यम्। विचिन्त्य समालोच्य। केभ्यः? अर्थिभ्यः याचकेभ्यः। अर्थनमर्थः। सोऽस्यास्तीति अर्थी। तेभ्यः। 'भावेऽर्थार्थांतात्' इति इन्। श्रियं राजपरिवारादिवैभवम्। दत्तवान् प्रदानं कृतवान्। परः श्रेष्ठोऽन्यो वा। तां श्रियम्। पापां पापप्रदानरूपाम्। अवितर्पिणीं असन्तुष्टिकराम्। विगणयन् विगणयतीति शतृत्यः। विचिन्तयन्नित्यर्थः। न अदात् न प्रदत्तवान्। अपि तु त्यक्तवान् अन्यः कश्चित्। सुभगः सौभाग्यवान्। प्रागेव ग्रहणात् पूर्वमेव। अकुशलां पापप्रदायिनीम्। विमृश्य विमर्शनं कृत्वा। न अपि न खलु। पर्यग्रहीत् परिग्रहणं कृतवान्। ते एते त्रयप्रकाराः। विदितोत्तरोत्तरवराः क्रमेणाग्रेऽग्रे श्रेष्ठाः। विदितः उत्तरोत्तरो वरः श्रेष्ठो येषां ते। सर्वोत्तमाः सर्वश्रेष्ठाः। सर्वेभ्यः त्यागिभ्यः उत्तमा स्ते। त्यागिनः विरागिणः। सन्तीति अध्याहारः। यस्तु प्रागुपभुज्य भोगान् पश्चात् विरज्य सर्वदत्तिं कृत्वा निर्विण्णस्तस्य जघन्यत्यागो जडवस्तुरक्षाप्रबन्धे मोहप्रकर्षदर्शनात्। भोगं भुञ्जानस्य

उत्थानिका–जो इस प्रचण्ड काम को जीतकर वैराग्य को प्राप्त हुए हैं, उनका उत्कृष्ट, अनुत्कृष्टपना दिखाते हैं–

अन्वयार्थ–(कश्चित्) कोई **(विषयान्)** विषयों को **(तृणवत्)** तृण समान **(विचिन्त्य)** विचार करके **(अर्थिभ्यः)** उसे चाहने वालों के लिए **(श्रियं)** लक्ष्मी **(दत्तवान्)** दे गया **(परः)** दूसरे ने **(तां)** उसे **(पापां)** पाप **(अवितर्पिणी)** और अतृप्तिकारक **(विगणयन्)** जानते हुए **(न अदात्)** किसी को नहीं दी **(त्यक्तवान्)** और त्याग दी **(अन्यः)** अन्य **(सुभगः)** सौभाग्यशाली ने **(प्रागेव)** पहले ही **(अकुशलां)** उसे अकुशल **(विमृश्य)** विचार कर **(न अपि पर्यग्रहीत्)** ग्रहण ही नहीं किया **(ते)** वे **(एते)** ये **(विदितोत्तरोत्तरवराः)** उत्तरोत्तर श्रेष्ठ जाने गये **(सर्वोत्तमाः)** सर्वोत्तम **(त्यागिनः)** त्यागी हैं।

अर्थ–कोई तो विषयों को तृण समान सोचकर उसके अभिलाषी को लक्ष्मी दे गये। कोई उस सम्पदा को पापरूप और अतृप्ति करने वाली समझकर किसी को दिए बिना छोड़ गये। किसी अन्य सौभाग्यशाली ने इसे पहले ही अकल्याणकारी जानकर ग्रहण ही नहीं किया। ऐसे वे त्यागी उत्तरोत्तर उत्कृष्ट हैं और सर्वोत्तम हैं।

टीकार्थ–किसी आत्मवान् जीव ने स्पर्श, रस, गन्ध, वर्ण, शब्दरूप पंचेन्द्रिय के विषयों को जीर्ण-शीर्ण तिनके के समान नगण्य विचारकर याचकों के लिए राज परिवार आदि वैभव प्रदान कर दिया। कोई दूसरा श्रेष्ठ पुरुष पाप प्रदान करने वाली और असन्तुष्टि करने वाली उस राज्य, परिवार आदि लक्ष्मी को विचार करता हुआ किसी को दिये बिना ही छोड़ गया। किसी सौभाग्यवान् पुरुष ने ग्रहण करने से पहले ही उसे पापदायिनी विचार करके उसको ग्रहण ही नहीं किया। सभी विरागियों में ये क्रमशः आगे-आगे के पुरुष श्रेष्ठ जाने गये हैं। पहले भोगों को भोगकर बाद में विरक्त होकर सर्वदत्ति दान करके जिसने वैराग्य को धारण किया है उसका त्याग जघन्य त्याग है। उसे जघन्य इसलिए कहा है कि जड़

किञ्चित् कारणमवलोक्याकाण्डे हि पराप्रदानेन प्रव्रजितस्य मध्यमत्यागो जडवस्तु-चिन्ताऽकरणात्। भोगकालात् प्रागेव विरज्यमानस्योत्कृष्टत्यागो जडवस्तुस्वरूप-परिज्ञानात्। शार्दूलविक्रीडितं वृत्तम् ॥१०२॥

उत्कृष्टत्यागेऽपि किमाश्चर्यं यतः–

(अनुष्टुप्)

विरज्य सम्पदः सन्तस्त्यजन्ति किमिहाद्भुतम्।
मा वमीत् किं जुगुप्सावान् सुभुक्तमपि भोजनम् ॥१०३॥

अन्वयः—सन्तः सम्पदः विरज्य त्यजन्ति इह किं अद्भुतं, किं जुगुप्सावान् सुभुक्तं भोजनं अपि मा वमीत्?

विरज्येत्यादि। सन्तः सत्पुरुषाः। सम्पदः सम्पत्तीः। विरज्य वैराग्यं प्राप्य। त्यजन्ति त्यागं कुर्वन्ति। इह अस्मिन् विषये। किं अद्भुतं किमाश्चर्यम्। दृष्टान्तेन तं दृढयन्नाह–किमिति प्रश्ने। जुगुप्सावान् ग्लानियुक्तः। जुगुप्साऽस्यास्तीति स मत्वर्थीयो वतुप्रत्ययात्। सुभुक्तं रागाधिक्येन सुष्ठु भुक्तं खादितम्। किं तत्? भोजनं चतुर्विधाहारः। अपि। मा वमीत् मा वमनमकरोत्। 'वम उद्गिरणे' इति माङ् योगे लुङ् । किन्तु करोत्येवेति भावः ॥१०३॥

पदार्थ की रक्षा का उसने प्रबन्ध किया। इस प्रबन्ध में मोह का उत्कर्ष देखा जाता है। भोगों को भोगने वाला जो मनुष्य कुछ कारण देखकर असमय में ही दूसरे को सम्पत्ति प्रदान किए बिना दीक्षित हो जाता है उसका त्याग मध्यम है। इसका त्याग मध्यम इसलिए है कि उसने जड़ वस्तु की चिन्ता नहीं की। किन्तु जो भोग करने का समय आने से पहले ही विरक्त हो गया, उसका त्याग उत्कृष्ट है। यह उत्कृष्ट इसलिए है कि उसे जड़ वस्तु के स्वरूप का ज्ञान हो गया। यहाँ शार्दूलविक्रीडित छन्द है॥१०२॥

उत्थानिका—उत्कृष्ट त्याग में भी क्या आश्चर्य है, क्योंकि–

अन्वयार्थ—(सन्तः) सज्जन पुरुष **(विरज्य)** विरक्त होकर **(सम्पदः)** सम्पत्ति को **(त्यजन्ति)** छोड़ देते हैं **(इह)** इस विषय में **(किम्)** क्या **(अद्भुतं)** आश्चर्य है ? **(किं)** क्या **(जुगुप्सावान्)** घृणा युक्त जीव **(सुभुक्तं)** अच्छी तरह खाये हुए **(भोजनं)** भोजन को **(अपि)** भी **(मा वमीत्)** नहीं उगल देता है ?

अर्थ—सन्तपुरुष विरक्त होकर सम्पदा का त्याग कर देते हैं, इसमें क्या आश्चर्य है ? क्या ग्लानि युक्त पुरुष अच्छी तरह किए हुए भोजन का भी वमन नहीं कर देता है ?

टीकार्थ–सत्पुरुष आत्माएँ वैराग्य प्राप्त करके सम्पत्ति का त्याग कर देती है। इस विषय में आश्चर्य की क्या बात है ? इसी बात को दृष्टान्त से दृढ़ करते हैं। ग्लानि से सहित कोई प्राणी क्या उस भोजन का वमन नहीं कर देता है, जिस चार प्रकार के भोजन को उसने बड़े राग से खा लिया हो ॥१०३॥

विलासतायें प्राप्त संपदा संत साधु ये यदि तजते।
विस्मय क्या है इस घटना में विरागता को जब भजते ॥
उचित रहा यह जिसके प्रति है घृणा मनो, नर यदि करता।
रसमय भोजन भला किया हो तुरत वमन क्या नहिं करता ॥१०३॥

अधुना जडवस्तु परित्यागिनां चित्तवृत्तयो विचिन्त्यन्ते–

(अनुष्टुप्)

श्रियं त्यजन् जडः शोकं विस्मयं सात्त्विकः स ताम्।
करोति तत्त्वविच्चित्रं न शोकं न च विस्मयम् ॥१०४॥

अन्वयः—स जडः श्रियं त्यजन् शोकं (करोति) सात्त्विकः तां (त्यजन्) विस्मयं (करोति) चित्रं तत्त्ववित् न शोकं न च विस्मयं करोति।

श्रियमित्यादि। स कोऽपि। जडः विवेकरहितः। श्रियं राजवैभवादिलक्ष्मीं। त्यजन् त्यागं कुर्वन् सन्। त्यजतीति त्यजन्। 'तल्लटः' इति शतृप्रत्ययः। शोकं विषादं खेदं वा। करोति विदधाति। करोतीति क्रिया त्यजता सह सर्वत्र सम्बन्धनीय-मपवरकदीपन्यायेन। यद्वा श्रियं त्यजन् यः शोकं करोति स जड इत्यर्थः । जडवस्तुसम्बन्धनेन तस्य बुद्धि र्जडत्वेनोपचर्यतेऽत्यैकत्त्वमापन्नात्। तत्कारणात् तद्विप्रयोगे बुद्धौ खिन्नता तेन स जड इति कथ्यते। जडः जडबुद्धि र्वाऽस्मिन् अस्तीति जडः। 'ओऽभ्रादिभ्यः' इत्यत्यो भवति। सात्त्विकः बलवान् पुरुषार्थी वा। सत्त्वं बलं तेन प्रवृत्तो वा स सात्त्विकः। इतीकण्। तां श्रियम्। त्यजन्। विस्मयं विशेषेण मदम् । करोतीत्यर्थः। चित्रमाश्चर्यम्। किं तत्? तत्त्ववित् हेयोपादेयविज्ञः। तत्त्वं वेत्तीति तत्त्ववित्

उत्थानिका—अब जड़ वस्तु का परित्याग करने वालों की चित्तवृत्ति का विचार करते हैं–

अन्वयार्थ–(स जडः) वह जड़ बुद्धि **(श्रियं)** लक्ष्मी को **(त्यजन्)** त्यागता हुआ **(शोकं)** शोक करता है **(सात्त्विकः)** सात्त्विक **(तां)** उसी लक्ष्मी को छोड़ता हुआ **(विस्मयं)** विस्मय करता है। **(चित्रं)** आश्चर्य है कि **(तत्त्ववित्)** तत्त्वज्ञानी **(न शोकं)** न शोक **(करोति)** करता है **(न च विस्मयं)** और न विस्मय।

अर्थ—जड़ बुद्धि लक्ष्मी को छोड़ते हुए शोक करता है। सात्त्विक पुरुष विस्मय करता है। तत्त्ववित् न शोक करता है और न विस्मय करता है। यह आश्चर्य है।

टीकार्थ–कोई विवेक रहित जीव राज, वैभव आदि लक्ष्मी का त्याग करते हुए विषाद या खेद करता है। यहाँ 'करोति' क्रिया को 'त्याग के साथ' सर्वत्र लगाना। कमरे में रखे दीपक की तरह यह क्रियापद तीनों पदों के साथ लगाना। सत्त्व अर्थात् बल। बल से प्रवृत्ति करने वाला सात्त्विक है। बलवान अथवा पुरुषार्थशील प्राणी सात्त्विक कहलाता है। ऐसा सात्त्विक पुरुष राज-वैभव आदि सम्पदा का त्याग करता हुआ विस्मय करता है। विशेष मद विस्मय है। हेय, उपादेय को जानने वाला

श्रम से अर्जित लक्ष्मी तजता रोता तव जड़मति-वाला।
तथा संपदा तजता यद्यपि मद करता हिम्मत-वाला।
ना मद करता ना रोता है किन्तु संपदा तजता है।
वही विज्ञ है वीतराग है तत्त्व ज्ञान नित भजता है ॥१०४॥

क्विप्। न शोकं न च विस्मयं करोति माध्यस्थ्यं भवतीति पारिशेषान्यायादायाति। ममात्मस्वरूपादन्यत्र वस्तु चिदचिदात्मकं मे कदापि न भविष्यति भिन्नद्रव्यत्वात्, न तथाहमपि तेषां भवितास्मि परद्रव्यत्वेन परिणमनाभावात्; यश्चैवमध्यवस्यति स तत्त्वविद् भवति इतरथा रागमदमोहः। अनुष्टुप्छन्दः॥१०४॥

ये तु परिग्रहं परित्यजन्तो रागमदमोहाक्रान्ता भवन्ति तेषां प्रबोधनार्थमाह–

(शिखरिणी)

विमृश्योच्चैर्गर्भात् प्रभृति मृतिपर्यन्तमखिलं
मुधाप्येतत्क्लेशाशुचिभयनिकाराद्यबहुलम् ।
बुधैस्त्याज्यं त्यागाद्यदि भवति मुक्तिश्च जडधीः
स कस्त्यक्तुं नालं खलजनसमायोगसदृशम् ॥१०५॥

अन्वयः—गर्भात् प्रभृति मृतिपर्यन्तं अखिलं क्लेशाशुचिभयनिकाराद्यबहुलं एतत् मुधा अपि उच्चैः विमृश्य बुधैः त्याज्यं, त्यागात् यदि मुक्तिः भवति च कः सः जडधीः खलजनसमायोगसदृशं त्यक्तुं न अलं।

तत्त्ववित् कहलाता है। तत्त्ववेत्ता न शोक करता है, न विस्मय करता है। किन्तु मध्यस्थ होता है, यह पारिशेष न्याय से सिद्ध होता है। मेरे आत्म स्वरूप से भिन्न चेतन, अचेतन पर वस्तु मेरी कदापि नहीं होगी क्योंकि वह भिन्न द्रव्य है। मैं भी उनका नहीं होऊँगा क्योंकि परद्रव्यपने से परिणमन का अभाव है। ऐसा विचार करने वाला तत्त्ववित् होता है अन्यथा राग, मद, मोह होता है। यहाँ अनुष्टुप् छन्द है ॥१०४॥

उत्थानिका—परिग्रह को त्यागे हुए जो जीव राग, मद, मोह से आक्रान्त होते हैं, उनको समझाने के लिए कहते हैं–

अन्वयार्थ—**(गर्भात्)** गर्भ से **(प्रभृति)** लेकर **(मृतिपर्यन्तं)** मरण तक **(अखिलं)** सम्पूर्ण **(क्लेशाशुचि-भय-निकाराद्यबहुलं)** क्लेश, अशुचि, भय, तिरस्कार आदि बहुलता वाला **(एतत्)** यह **(मुधा)** व्यर्थ **(अपि)** भी है **(उच्चैः)** बहुत **(विमृश्य)** विचार करके **(बुधैः)** विद्वानों द्वारा **(त्याज्यं)** त्याज्य है **(त्यागात्)** त्याग से **(यदि)** यदि **(मुक्तिः)** मुक्ति **(भवति)** होती है **(च कः सः)** तो कौन वह **(जड़धीः)** जड़ बुद्धि है जो **(खलजन-समायोगसदृशं)** दुष्ट जन के मिलाप के समान **(त्यक्तुं)** छोड़ने के लिए **(न अलं)** समर्थ न हो।

अर्थ—गर्भ से लेकर मरण तक व्यर्थ में ही यह शरीर क्लेश, अशुचि, भय, पराभव और पाप की बहुलता वाला है अतः सभी कुछ अच्छी तरह विचार कर ज्ञानियों के द्वारा तजने योग्य है। यदि इस त्याग से मुक्ति होती है तो ऐसा कौन जड़बुद्धि है जो दुष्टजन के मेल के समान इस शरीर को छोड़ने में समर्थ नहीं हो ?

जड़मय तन जननादिक से ले मृति तक सोचो भला जरा।
क्लेश अरुचि भय निंदन आदिक से पूरा बस भरा परा ॥
त्याज्य, तजो तन रति जब मिलती मुक्ति भली फिर कौन कुधी।
दुर्जन सम तन राग तजे ना उत्तर दो तुम मौन सुधी ॥१०५॥

विमृश्येत्यादि। गर्भात् शिशोरुत्पत्तिस्थानात्। प्रभृति आदिं कृत्वा। मृतिपर्यन्तं मरणकालपर्यन्तं सम्पूर्णजीवितमिति। अखिलं सम्पूर्णं। कथम्भूतम्? क्लेशाशुचिभय-निकाराद्यबहुलं कष्टापवित्रताभीति-वञ्चनामुख्यबहुलम्। एतत् प्रतीयमानमस्ति। मुधा व्यर्थम्। अपि एवम्। उच्चैः सुष्ठुतया। विमृश्य विमर्शनमूहापोहं कृत्वा। बुधैः विद्वद्भिः। त्याज्यं त्यागयोग्यम्। त्यक्तुं योग्यं त्याज्यम्। 'तृज्व्याश्चार्हे' इत्यर्हार्थे व्यः। 'व्यस्य वा कर्त्तरि' इत्यनेन कर्त्तरि भा। किमेतत्? त्यागात् अशेषममत्वपरिहारात्। अत्र त्यागो दानमिति न परिभाष्यम्। केन कारणेन्? उभयो भूयोभेदात्। तत्कथम्? त्यागः परित्यजनं सर्वदेशेनेष्यते। दानं त्वैकदेशेन प्रदानम्। त्यागो मुनीनां धर्मः श्रावकाणां तु दानं मुख्यत्वेन वर्त्तते। एवं कथं विज्ञायते? श्रीगुरोरुपदेशात्। तस्मात् यदि मुक्तिः भवति। च तर्हि अर्थे। कः सः जडधीः अविवेकी। खलजनसमायोगसदृशं खलजनस्य दुष्टपुरुषस्य समायोगसदृशं प्राप्तिसमानं तत् सर्वथा दुःखप्रदायिनीं लक्ष्मीम्। त्यक्तुं न अलं न समर्थो भवति?। यस्तु समर्थो न भवति स जडधीरिति सिद्धं भवति ॥१०५॥

कारणसदृशं कार्यमिति युक्तिं मनसि अवधार्य संसारमोक्षयोः कारणान्याह–

(वंशस्थ)

कुबोधरागादिविचेष्टितैः फलं, त्वयापि भूयो जननादिलक्षणम्।
प्रतीहि भव्यप्रतिलोमवृत्तिभि-र्ध्रुवं फलं प्राप्स्यसि तद्विलक्षणम् ॥१०६॥

टीकार्थ–शिशु के उत्पन्न होने के स्थान को गर्भ कहा है। उस गर्भ से लेकर मरण पर्यन्त सम्पूर्ण जीवन में ये सब चीजें दिखाई देती हैं। कष्ट, अपवित्रता, डर और ठगी की मुख्यता वाले बहुत कष्ट व्यर्थ में मिलते हैं। इस प्रकार अच्छी तरह ऊहापोह करके ज्ञानीजन उसे त्याग देते हैं। यहाँ त्याग का अर्थ दान नहीं कहना चाहिए। दोनों में बहुत अन्तर है। पूर्ण रूप से छोड़ना त्याग कहा जाता है और एकदेश (थोड़ा) प्रदान कर देना दान है। त्याग मुनियों का धर्म है और दान श्रावकों का धर्म मुख्यरूप से है।

शंका—आपने यह कैसे जाना ?

समाधान—श्री गुरु (विद्यासागर आचार्य) के उपदेश से। उस त्याग से यदि मुक्ति होती है तो कौन अविवेकी पुरुष दुष्टजन की प्राप्ति के समान हमेशा दु:ख देनेवाली लक्ष्मी को नहीं छोड़ देगा ? जो मनुष्य उस लक्ष्मी को छोड़ने में समर्थ नहीं है, वह जड़बुद्धि है, यह सिद्ध होता है।

भावार्थ—गर्भ से लेकर मरण तक के सभी दु:खों का कारण परिग्रह है। उस परिग्रह को छोड़ते समय अच्छी तरह विचारविमर्श किया। बाद में राग, मद, मोह के कारण उसी परिग्रह को अब पुनः दुष्ट पुरुष के मेल के समान क्यों चाहते हो, यह मूर्खता क्यों करते हो? यह आशय यहाँ व्यक्त किया है ॥१०५॥

मिथ्या मतिवश राग रोष कर दुराचार में लीन हुवा।
बार-बार तन धार-धार मर दुखी हुवा अति दीन हुवा॥
राग हटाकर विराग बनकर एक बार यदि निज ध्याता।
अक्षय बनकर अक्षय फल पा निश्चित बनता शिव धाता ॥१०६॥

अन्वयः—अपि त्वया कुबोधरागादिविचेष्टितैः भूयः जननादिलक्षणं फलं प्राप्तम्, भव्य! प्रतिलोम-वृत्तिभिः तद्विलक्षणम् ध्रुवं फलं प्राप्स्यसि (एवं) प्रतीहि।

कुबोधेत्यादि। अपि अपरञ्च। त्वया भवता। कुबोधरागादिविचेष्टितैः मिथ्याज्ञानचारित्रादि-चरणैः। कुबोधो मिथ्याज्ञानम्। कुत्सितो बोधः कुबोधः। 'तिदुस्स्वत्याङ् क्वन्यस्तत्पुरुषः' इति रागः आदौ मोहद्वेषादिषु तेषु। कुबोधश्च रागादिश्च कुबोधरागादौ तैश्च विचेष्टितैः प्रवृत्तिभिः। भूयः प्राचुर्यम्। जननादिलक्षणं जननं जन्मादिर्येषां मृतिजरादीनां तदेव लक्षणं चिह्नितभूतम्। तत्। फलं परिणामः। प्राप्तमित्याध्याहार्यम्। भव्य! प्रतिलोमवृत्तिभिः कुबोधरागादिप्रतिकूलसम्यग्ज्ञानवैराग्यादिप्रवृत्तिभिः। तद्विलक्षणं तस्मात् जननादिलक्षणात् विलक्षणं विपरीतम्। फलं विपाकः। प्राप्स्यसि प्राप्तिं कुरुषे। एवमिति शेषः। प्रतीहि जानीहि। परिदृश्यते च जन्ममरणादिलक्षणं पौनःपुन्यं कार्यं तस्य कारणं वैपरीत्यज्ञान-रागादिकम्। कारणवैपरीत्ये कार्यविपर्ययः। ततः खलु निराकुलाविनाशिस्वायत्तं सुखरूपकार्यं सम्यग्ज्ञान-चारित्रैरिति सिध्यति। वंशस्थवृत्तम् ॥१०६॥

अथाविनाशिपथस्य सामग्रीं प्रतिपादयन्नाह–

उत्थानिका—कारण के समान कार्य होता है, यह युक्ति मन में अवधारित करके संसार और मोक्ष का कारण कहते हैं–

अन्वयार्थ—(अपि त्वया) और तुमने **(कुबोध-रागादि-विचेष्टितैः)** मिथ्याज्ञान, राग आदि चेष्टाओं के द्वारा **(भूयः)** बहुत बार **(जननादिलक्षणं)** जन्म आदि लक्षण वाले **(फलं)** फल को पाया है। **(भव्य)** हे भव्यजीव! **(प्रतिलोमवृत्तिभिः)** इससे विपरीत वृत्तियों के द्वारा **(तद्विलक्षणं)** उससे विलक्षण **(ध्रुवं फलं)** स्थायी फल को **(प्राप्स्यसि)** प्राप्त करोगे **(प्रतीहि)** ऐसा विश्वास करो।

अर्थ—हे भव्य! तुमने मिथ्याज्ञान, राग आदि चेष्टाओं के फल से जन्म आदि लक्षण वाले फल को बहुत बार प्राप्त किया है। अब तुम प्रतीति करो कि इनके विपरीत वृत्तियों का आचरण करने से निश्चित रूप से उसके विपरीत फल प्राप्त होगा।

टीकार्थ–मिथ्याज्ञान कुबोध है। राग, द्वेष, मोह आदि मिथ्याचारित्र है। ऐसे मिथ्याज्ञान, मिथ्याचारित्र आदि आचरण वाली प्रवृत्तियों द्वारा प्रचुरता से जन्म, मरण आदि फल को प्राप्त किया है। अब इनके विपरीत सम्यग्ज्ञान, वैराग्य आदि की प्रवृत्तियों के आचरण से इसके विपरीत फल अजर-अमरपद-संसार से मुक्ति को प्राप्त करोगे, ऐसा हे भव्य! प्रतीति में लाओ। पुनः-पुनः जन्म-मरण आदि कार्य की प्राप्ति का कारण विपरीत ज्ञान, राग आदि है। कारण की विपरीतता से कार्य की विपरीतता होती है। इसलिए निश्चित है कि निराकुल, अविनाशी, स्वाधीन, सुखरूप कार्य सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र के द्वारा ही सिद्ध होगा। यहाँ वंशस्थ छन्द है ॥१०६॥

उत्थानिका—अब अविनाशी पथ की सामग्री का प्रतिपादन करते हैं–

(वंशस्थ)

दयादमत्यागसमाधिसन्ततेः, पथि प्रयाहि प्रगुणं प्रयत्नवान्।
नयत्यवश्यं वचसामगोचरं, विकल्पदूरं परमं किमप्यसौ ॥१०७॥

अन्वयः—प्रयत्नवान् दयादमत्यागसमाधिसन्ततेः पथि प्रगुणं प्रयाहि, असौ किमपि परमं वचसां अगोचरं विकल्पदूरं अवश्यं नयति।

दयेत्यादि। प्रयत्नवान् अप्रमत्तः। प्रयत्नमवधानमस्यास्तीति स प्रयत्नवान्। मत्वर्थीयो वतुः प्रत्ययः। दयादमत्यागसमाधिसन्ततेः पथि दयादमत्यागसमाधि-परम्परायुक्तमार्गे। तत्र दया प्राणिहिंसातोऽभि-सन्धिपूर्वका निवृत्तिः। दमः संयमो हृषीकविषयेषु अप्रवृत्तिः। न चात्र दमनमिष्टं ज्ञानपूर्वकसंयमे प्रवर्तनात्। इन्द्रियमनो दमनं सम्यग्ज्ञानदयारहितस्य क्लेशायैव। न चात्रहठयोगोऽपि विवक्षितस्तत्राप्यार्त्तदर्शनात्। सम्यग्ज्ञानिनां यदिन्द्रियमनोनियमनं तद्विशुद्धेर्हेतुरार्त्तक्लेशानुपपत्तेः। तेन सौम्योऽयं दमः स्वपरप्राणपीडाव्य-पेतत्वात्। त्यागो बाह्यभ्यन्तरपरिग्रहस्य परित्य-जनम्। समाधिः प्रशस्तधर्मशुक्लध्यानविधिः। दया च दमश्च

अन्वयार्थ—(प्रयत्नवान्) प्रयत्नशील पुरुष **(दया-दम-त्याग-समाधि-सन्ततेः)** दया, दम, त्याग और समाधि की परम्परा से **(पथि)** मार्ग पर **(प्रगुणं)** सरलता से **(प्रयाहि)** चलो **(असौ)** यह **(किमपि)** किसी **(परमं)** परम **(वचसां अगोचरं)** वचनों के अगोचर **(विकल्पदूरं)** विकल्प से रहित पद को **(अवश्यं)** अवश्य **(नयति)** दिलाता है।

अर्थ—प्रयत्न करने वाले प्राणी! तुम दया, दम, त्याग, समाधि की परिपाटी से सरलता पूर्वक रास्ते पर चलते जाओ। यह तुम्हें किसी उत्कृष्ट, विकल्पों से परे, वचनों के अगोचर पद की ओर अवश्य ले जाएगा।

टीकार्थ—प्रयत्न अर्थात् सावधानी जिसके पास है वह अप्रमत्त है। प्राणिहिंसा से संकल्प पूर्वक दूर होना दया है। दम संयम है। इन्द्रियों के विषयों में प्रवृत्ति नहीं होना दम है। यहाँ दम शब्द से दमन इष्ट नहीं है क्योंकि ज्ञानपूर्वक संयम में प्रवृत्ति होती है। सम्यग्ज्ञान और दया के बिना इन्द्रिय और मन का दमन मात्र क्लेश का कारण होता है। यहाँ 'दम' कहने से हठयोग भी विवक्षित नहीं है क्योंकि हठयोग में भी दुःख देखा जाता है। सम्यग्ज्ञानियों का जो इन्द्रियों और मन का रोकना है, वह विशुद्धि का हेतु है क्योंकि उससे दुःख और क्लेश उत्पन्न नहीं होता है। इसलिए यह दम सौम्यरूप है क्योंकि इसमें स्वपर प्राणों की पीड़ा नहीं होती है।

बाह्य और अभ्यन्तर परिग्रह को छोड़ना त्याग है। प्रशस्त धर्मध्यान और शुक्लध्यान की विधि

जीवदया-मय इन्द्रिय-दम-मय संग-त्यागमय पथ चलना।
मन से तन से और वचन से पूर्ण यत्न से तज छलना॥
जिस पर चलने से निश्चित ही मिले मुक्ति की मंजिल है॥
निर्विकल्प है अकथनीय है अनुपम शिवसुख प्रांजल है॥१०७॥

त्यागश्च समाधिश्च दयादमत्यागसमाधयः इतरेतरद्वन्द्ववृत्तेः समायोजनात्। तेषां सन्ततिः प्रवाहः परम्परा क्रमप्रवृत्तिर्वा तथोक्तस्तस्य पथि मार्गे। निमित्तनैमित्तिकसम्बन्धनिबन्धनोऽयं क्रमः। तद्यथा–दमस्य निमित्ता दया; तया विना तदनर्थका। दमस्त्यागस्य हेतुः; तस्मिन् सति तत्स्वयमेवापतनात्। समाधेर्निमित्तं त्यागः। त्यागादृते समाधेरसम्भवश्चित्तविक्षेपा-भावात्। दया मार्गस्याद्यकारणं ततश्चादौ प्रोक्ता। प्रगुणं अमायया प्रवर्त्तनं यथा भवति तथा। क्रियाविशेषणमेतत् । प्रयाहि हे भव्य! त्वं गमय । प्रपूर्वकं 'या प्रापणे' इति मध्यमपुरुषस्यैकवचनम्। असौ पन्थाः। किमपि परमं उत्कृष्टं मोक्षपदमिति। इति कथमवसीयते? शब्दागमशास्त्रात्। तावत् शब्दशास्त्रे–परा उत्कृष्टा मा बाह्यान्तरलक्ष्मीः यस्य विद्यते सः। ''पुंवद्य-जातीयदेशीये'' इति सूत्रेण पूर्वपदस्य पुंवद्भावो यसेऽथ बसः तम्। यद्वा ''पृ पालनपूरणयोः'' प्रीणाति पूरयति मनोऽभिलषितं स परमस्तम्। ''पृप्रथिचरिकर्दिभ्यो मः''। आगमशास्त्रे– ''त्यजेत्तान्यपि सम्प्राप्य परमं पदमात्मनः'' इत्यादि। किं भूतम्? वचसां अगोचरं स्वसंवेदनानुभवमात्रविषयत्वाद् वचनागोचरम्। पुनश्च कथम्भूतम्? विकल्पदूरं नित्यानित्यैकानैकादिविकल्परहितं स्वात्मावभासने प्रमाणनयनिक्षेपाणां शून्यत्वात्। अवश्यं निश्चितम्। नयति प्रापयति ''णीङ् प्रापणे'' इति धोर्लट्। ''अकथितं च'' इत्यनेन इप् साधु। स्वामिनाप्येवमेव पन्थाः प्रोक्तः–''दयादमत्यागसमाधिनिष्ठं नयप्रमाणप्रकृताञ्जसार्थम्'' इति। वंशस्थच्छन्दः ॥१०७॥

समाधि है। दया आदि गुणों के इसी परम्परा या क्रम प्रवृत्ति के मार्ग पर चलो। यह क्रम निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध से जुड़ा है। वह इस प्रकार है–दम का निमित्त दया है। दया के बिना दम निष्प्रयोजनीय है। त्याग का हेतु दम है क्योंकि दम के होने पर त्याग स्वयं ही हो जाता है। यह त्याग समाधि का कारण है। त्याग के बिना समाधि असंभव है क्योंकि चित्त विक्षेप रहित नहीं हो सकता है। दया इस मार्ग का प्रथम कारण है, इसलिए इसे सर्वप्रथम कहा है। इस मार्ग पर जैसे हो सके वैसे बिना कपट, कुटिलता के चलो। यह मार्ग बहुत अधिक उत्कृष्ट है।

शंका–इस मोक्षपद की उत्कृष्टता कैसे जानी जाती है ?

समाधान–शब्द, शास्त्र और आगम शास्त्र से जानी जाती है। शब्दशास्त्र में कहा है–पर यानी उत्कृष्ट। मा अर्थात् लक्ष्मी जो बाह्य, अभ्यन्तररूप है। जिसके पास बहिरंग, अन्तरंग लक्ष्मी उत्कृष्ट है वह परम है। अथवा मन को इच्छित पदार्थ से कर देता है वह परम है। आगमशास्त्र में कहा है–''आत्मा के परमपद को प्राप्त करके उन पुण्य, पाप को छोड़ दो।'' यह परमपद मात्र स्वसंवेदन का विषय होने से वचनों का विषय नहीं है।

नित्य, अनित्य, एक, अनेक आदि विकल्प से रहित स्वआत्मा का अवभास होने पर प्रमाण, नय, निक्षेपों की शून्यता होने से विकल्पों से दूर है। आचार्य समन्तभद्र स्वामी ने भी यही मार्ग कहा है–''हे भगवन्! आपका शासन दया, दम, त्याग और समाधि से परिपूर्ण है तथा नय और प्रमाण की प्रासंगिकता से स्पष्ट अर्थ वाला है।'' यहाँ वंशस्थ छन्द है ॥१०७॥

सम्यग्ज्ञानपुरस्सरं गृहीतचारित्रं मोक्षाय नियमेनेत्यत्राह–

(आर्या)

विज्ञाननिहतमोहं कुटीप्रवेशो विशुद्धकायमिव।
त्यागः परिग्रहाणामवश्यमजरामरं कुरुते ॥१०८॥

अन्वयः—विज्ञाननिहतमोहं परिग्रहाणां त्यागः अवश्यं अजरामरं कुरुते कुटीप्रवेशः विशुद्धकायं इव।

विज्ञानेत्यादि। विज्ञाननिहतमोहं भेदविज्ञानबलेन विनष्टमिथ्यात्वम्। विशिष्टं ज्ञानं विज्ञानं पञ्चास्तिकायनवपदार्थसप्ततत्त्वषड्द्रव्यावगमनम्। तेन निहतो विनाशितो मोहो यस्मिन् कर्मणि तत्। मिथ्यात्वोदयजन्यज्ञानमत्रविज्ञानं न विरुध्यते मोहविनाशहेतुत्वात्। तेनात्मनो विशुद्धये सम्यग्दर्शनज्ञानं प्राथमिकोपचारत्वेनोक्तम्। यद्वा विज्ञाननिहतमोहं भेदविज्ञानबलेन विनाशितचारित्रमोहकर्मेत्यपि ग्राह्यम्। तेन किं भवतीत्याह–परिग्रहाणां चतुर्विंशतिप्रकाराणां बाह्याभ्यन्तरभेदभिन्नानाम्। त्यागः परित्यजनम्। अवश्यं

उत्थानिका—सम्यग्ज्ञानपूर्वक ग्रहण किया हुआ चारित्र नियम से मोक्ष के लिए होता है, यह कहते हैं–

अन्वयार्थ—(विज्ञाननिहत मोहं) विशिष्ट ज्ञान से जिन्होंने मोह को नष्ट किया है उन्हें **(परिग्रहाणां)** परिग्रहों का **(त्यागः)** त्याग **(अवश्यं)** अवश्य **(अजरामरं)** अजर, अमर **(कुरुते)** कर देता है **(कुटीप्रवेशः)** कुटी प्रवेश क्रिया से **(विशुद्धकायं इव)** शरीर शुद्धि की तरह।

अर्थ—कुटीप्रवेश क्रिया से विशुद्ध हुए शरीर की तरह विज्ञान से मोह नष्ट करने वालों को परिग्रहों का त्याग अवश्य ही अजरामर कर देता है।

टीकार्थ–भेदविज्ञान के बल से जिन्होंने मिथ्यात्व को नष्ट कर दिया है ऐसे जीवों का यहाँ कथन है। पंचास्तिकाय, नौ पदार्थ, सप्त तत्त्व, छह द्रव्यों का ज्ञान विशिष्ट ज्ञान है। उस ज्ञान से जिनका मोह नष्ट हुआ है उन ज्ञानियों की यहाँ विवक्षा है। मिथ्यात्व के उदय से उत्पन्न ज्ञान यहाँ विज्ञान कहा है, सो वह भी विरोध को प्राप्त नहीं है क्योंकि वह ज्ञान भले मिथ्यात्व के उदय के साथ है परन्तु वह ज्ञान मोह को विनष्ट करने का हेतु है, इसलिए मोह विनष्ट होने से पहले मिथ्यात्व के साथ रहने वाला यह ज्ञान भी विशिष्ट ज्ञान है। इसलिए आत्मा की विशुद्धि के लिए सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान को यहाँ प्राथमिक उपचार के रूप में कहा है। अथवा विज्ञान से मोह नष्ट हुआ है, इसका अर्थ यह भी ग्रहण योग्य है कि भेदविज्ञान के बल से चारित्रमोहनीय कर्म का विनाश किया है। उससे क्या होता है, यह कहते हैं–बाह्य और अभ्यन्तर के भेद से परिग्रह चौबीस प्रकार का है। इनको छोड़ना त्याग है। जरा यानी

ज्ञान भाव से प्रथम हुवा हो मोह भाव का शमन महा।
किया गया पुनि पाप-मूल उस सकल संग का वमन अहा॥
अजर अमर पद का कारण वह मुक्तिरमा खुद वरती है।
रही 'कुटी परवेश क्रिया' ज्यों विशुद्ध तन को करती है॥१०८॥

नियमेन। अजरामरं अविनाशिपरमपदम्। जरा वार्धक्यं। न जरा यत्र विद्यते सः अजरः। अमरो मरणरहितः। अजरश्चामरश्च अजरामरं समाहार-द्वन्द्ववृत्तेः। सम्यग्ज्ञानपुरस्सरभेदविज्ञानेन चारित्रमोहकर्मणां प्रक्षयस्ततः परिग्रहत्यागो मोक्षायेति मुख्योपचारत्वेन निगदितम्। कुटीप्रवेशः रसायनक्रिया। विशुद्धकायं रोगरहित-शरीरम्। इव यथा। कुरुते तथेति भावः। रसायनक्रिया द्विधा मुख्योपचार-प्राथमिकोपचारभेदेन। प्राथमिकोपचारे हरीतकीधात्रीफलविभीतकरूपरत्नत्रयेण कोष्ठनाडीशुद्धिं विधाय प्रसन्नमना जातबलो भवति। तदनन्तरं मुख्योपचारे निर्वातनिर्भयकुबेरदिशास्थितभवने त्रिगर्भान्विता सुमृष्टा कुटी विधातव्या। तत्र प्रवेशः शुभपुण्यदिवसे कुटीप्रवेशः प्रोच्यते। एषा रसायनक्रिया शरीरं विशोधयति यथा तथैवात्मानमिति भावः। आर्यावृत्तम् ॥१०८॥

तदुत्तमत्यागाय नमस्कुर्वन्नाह-

(अनुष्टुप्)

अभुक्त्वापि परित्यागात् स्वोच्छिष्टं विश्वमासितम्।
येन चित्रं नमस्तस्मै कौमारब्रह्मचारिणे ॥१०९॥

अन्वयः—चित्रं येन अभुक्त्वा अपि परित्यागात् स्वोच्छिष्टं विश्वं आसितं तस्मै कौमारब्रह्चारिणे नमः।

बुढ़ापा। जहाँ बुढ़ापा नहीं रहता है वह अजर है। मरण रहित होना अमर है। इस त्याग से अविनाशी परम पद प्राप्त होता है। सम्यग्ज्ञान पूर्वक भेदविज्ञान के साथ चारित्रमोहनीय कर्मों का क्षय होता है। इसलिए परिग्रह त्याग मोक्ष के लिए है। इस प्रकार मुख्य और उपचार रूप से कथन किया है। कुटीप्रवेश एक रसायन क्रिया है जो शरीर को नीरोग, शुद्ध करने में काम आती है। रसायन क्रिया भी मुख्योपचार और प्राथमिकोपचार के भेद से दो प्रकार की है। प्राथमिक उपचार में हरड़, आँवला, बहेड़ारूप रत्नत्रय से कोष्ठ शुद्धि एवं नाड़ी शुद्धि की जाती है। इस शुद्धि से रोगी का मन प्रसन्न हो जाता है और उसे शक्ति मिलती है। उसके बाद मुख्य उपचार विधि अपनाई जाती है, जिसमें-हवारहित, निर्भय कुबेर दिशा (उत्तर दिशा) में स्थित एक भवन में तीन गर्भ से रहित साफ-स्वच्छ एक कुटी बनाई जाती है। उस कुटी में शुभ, पुण्य दिवस में प्रवेश करना कुटी प्रवेश कहलाता है। यह रसायन क्रिया, जिस तरह शरीर को शुद्ध करती है उसी तरह मुख्य और उपचार रत्नत्रय से आत्मा विशुद्ध होता है, यह भाव है। यहाँ आर्या छन्द है ॥१०८॥

योग्य भोग उपभोग योग पा भोग भाव नहिं मन लाते।
किन्तु विश्व को उपभोजित कर स्वयं भोग सब तज पाते ॥
मार मार कौमार्य काल में बाल ब्रह्मचारी प्यारे।
चकित हुए हम इस घटना से उन चरणों को उर धारें ॥१०९॥

अभुक्त्वेत्यादि। चित्रं आश्चर्यविषयभूतमेतत्। किं तत्? येन केनापि गजकुमारजम्बुस्वामि-नेमिनाथसन्मत्यादिगजकुमारजम्बुस्वामिनेमिनाथसन्मत्यादि। अभुक्त्वा स्वयं न भुक्तं कृत्वा। अपि स्फुटम्। परित्यागात् भोग्यं वनितादिकं परित्यज्य पश्चात्। स्वोच्छिष्टं स्वस्य परित्याग-विषयस्य उच्छिष्टं परित्यक्तं तत्। विश्वं जगत्। आसितं भोजितम्। तस्मै उत्तम-त्यागिने। कथम्भूताय? कौमारब्रह्मचारिणे बालब्रह्मचारिणे। कुमारीभिः सह प्रथमं फलदानमुखेक्षणताम्बूलप्रदानादिना स्वीकृतमनसः पश्चात् कुतश्चित् कारणात् परिणयनसंस्काररहिताः केचिच्च तत्सहिता अप्यस्वीकृतवन्तस्ते कौमारब्रह्चारिणः कथ्यन्ते। तस्मै। नमः प्रणमामि। अनुष्टुप्छन्दः॥१०९॥

अथ तदुत्तमत्यागिनां त्रैलोक्यतिलकभवनविधानमाह–

(अनुष्टुप्)

अकिञ्चनोऽहमित्यास्स्व त्रैलोक्याधिपतिर्भवेः।
योगिगम्यं तव प्रोक्तं रहस्यं परमात्मनः॥११०॥

उत्थानिका—उस उत्तम त्याग के लिए नमस्कार करते हुए कहते हैं–

अन्वयार्थ–(चित्रं) आश्चर्य है कि **(येन)** जिसने **(अभुक्त्वा अपि)** भोग किए बिना भी **(परित्यागात्)** परित्याग कर देने से **(स्वोच्छिष्टं)** अपने उच्छिष्ट को **(विश्वं)** संसार को **(आशितं)** खिलाया **(तस्मै)** उस **(कौमारब्रह्मचारिणे)** कुमार ब्रह्मचारी के लिए **(नमः)** नमस्कार है।

अर्थ—बिना भोगे हुए भी परित्याग कर देने से विश्व के भोगों को अपना उच्छिष्ट बनाया है, यह आश्चर्य है। उस बालब्रह्मचारी के लिए नमस्कार है।

टीकार्थ–यह आश्चर्य का विषय है कि जिन गजकुमार, जम्बुस्वामी, नेमिनाथ, सन्मति आदि महापुरुषों ने स्वयं भोग न करके भी स्त्री आदि भोग्य विषयों का परित्याग कर दिया। बाद में अपने द्वारा छोड़े विषय को इस संसार को खिला दिया। अर्थात् इस संसार ने उन महापुरुषों द्वारा छोड़े विषयों का (वमन का) ही ग्रहण किया है। उन उत्तम त्याग को धारण करने वाले उन बाल ब्रह्मचारियों के लिए नमस्कार है। कन्याओं के साथ पहले तो फलदान के समय पर ताम्बूल (पान)आदि देने के साथ मन से स्वीकार कर लिया, बाद में किसी कारण से वे परिणयन (विवाह) संस्कार विधि से रहित ही रहे, और कितनों ने विवाह करके भी स्त्री सम्पर्क नहीं किया वे सभी महापुरुष बालब्रह्मचारी ही कहे जाते हैं। उन सभी के लिए प्रणाम करता हूँ। यहाँ अनुष्टुप् छन्द है॥१०९॥

सदा अकिंचन मैं चेतन हूँ इस विध चिंतन करना है।
तीन लोक का ईश शीघ्र बन मुक्ति रमा को वरना है॥
योग धार कर योगी जिसको विषय बनाते अपना है।
परमातम का गूढ़रूप यह प्राप्य! और सब सपना है॥११० ॥

अन्वयः—अकिञ्चनः अहं इति आस्स्व, त्रैलोक्याधिपतिः भवेः, तव परमात्मनः रहस्यं योगिगम्यं प्रोक्तम्।

अकिञ्चन इत्यादि। अकिञ्चनः निरालम्बः। न किञ्चनापि ममास्ति इति भावः अकिञ्चन । अहं ममात्मा। इति एवं मनसि अवधार्य। आस्स्व तिष्ठ। ''आसै उपवेशने'' इत्येतस्माद्धो र्लोटि मध्यम-पुरुषस्यैकवचनान्तं रूपम्। येन किं भविष्यति? त्रैलोक्याधि-पतिः भवेः त्रिलोकानामीशो भव। अकिञ्चनोऽहमिति हेतुमाश्रित्य त्रैलोक्याधिपतित्व-रूपफलं लभेतेत्याशयः। ''हेतुफलयोर्लिङ्'' इत्यनेन हेतुहेतुमद्भावो विज्ञापितः। यदि अकिञ्चनोऽहमित्यास्स्व त्रैलोक्याधिपतिर्भवेरिति। तव भवतः। परमात्मनः शुद्ध-स्वभावात्मनः। रहस्यं गूढतत्त्वम्। रहसि योग्यं रहस्यम्। कथम्भूतं तत्? योगिगम्यं निर्विकल्प-स्वसंवेदनज्ञानवतां वीतरागमुनीनां योगिनां गम्यं गोचरं विषयभूतम् योगिगम्यम्। प्रोक्तं कथितम्। अनुष्टुप्छन्दः ॥११०॥

इदानीं तत्प्राप्त्यर्थं तपश्चरणार्थं प्रोत्सहमानः प्राह–

(आर्यागीति)

दुर्लभमशुद्धमपसुखमविदितमृतिसमयमल्पपरमायुः ।
मानुष्यमिहैव तपो मुक्तिस्तपसैव तत्तपः कार्यम् ॥१११॥

अन्वयः—मानुष्यं दुर्लभं अशुद्धं अपसुखं अविदितमृतिसमयं अल्पपरमायुः, तपः इह एव, तपसा एव मुक्तिः तत् तपः कार्यम्।

उत्थानिका—अब उन उत्तम त्यागियों को तीन लोक का शिरोमणि होने का विधान कहते हैं–

अन्वयार्थ—(अकिञ्चनः अहं) मैं अकिंचन हूँ **(इति)** इस प्रकार **(आस्स्व)** बैठ जाओ **(त्रैलोक्याधिपतिः)** तीन लोक का अधिपति **(भवेः)** होओ **(तव)** तुमको **(परमात्मनः)** परमात्मा का **(रहस्यं)** रहस्य **(योगि-गम्यं)** योगिगम्य **(प्रोक्तं)** कहा है।

अर्थ—''मैं अकिंचन हूँ'' इस प्रकार से बैठ जाओ। तुम तीन लोक के अधिपति हो जाओगे। तुमको परमात्मा का रहस्य जो योगिगम्य है वह कह दिया।

टीकार्थ–''मेरा कुछ भी नहीं है'' ऐसा भाव अकिंचन है। इसी भाव को मन में अवधारित करके रहो। इसी से तीन लोक के अधिपति हो जाओगे। अकिंचन भावना के इस हेतु का आश्रय लेकर तीन लोक का स्वामित्व रूप फल प्राप्त कर लो, यह आशय है। शुद्ध स्वभाव वाले परमात्मा का यह गूढ़ तत्त्व (रहस्य) है। यह रहस्य निर्विकल्प स्वसंवेदन वाले वीतराग मुनियों को ही जानने में आता है। ऐसे रहस्य को तुम्हारे लिए कहा है। यहाँ अनुष्टुप् छन्द है॥११०॥

अल्प काल ही मानव गति है काल आय कब ज्ञात नहीं।
दुर्लभ तम है अशुचिधाम है जिसकी दुखमय गात रही॥
इस गति में ही तप बन सकता तप से ही शिव मिलता है॥
अतः करे तप तापस बनकर तप से ही विधि हिलता है॥१११॥

दुर्लभेत्यादि। मानुष्यं मनुष्य एव मानुष्यं स्वार्थेऽण्। मनुष्यशब्दस्तु रूढौ। 'मनोर्जातौ षुक्चाञ्यौ' इत्यनेन व्युत्पत्तिमात्रे मनुशब्दात् यप्रत्ययः। कथम्भूतम्? दुर्लभं दुःखेन कष्टेन लभ्यते इति तथाभूतम्। पुनश्च किं? अशुद्धं अपवित्रम्। तथा च किम्? अपसुखं सुखरहितम् । अपगतं सुखं यस्मात् तत् अपसुखम्। यत्किमपि दुर्लभं तच्छुद्धं सुखभूतं च भाव्यं परन्तु मानुष्यं दुर्लभं तथाप्यशुद्धमपसुखमिति वैचित्र्यम्। तथा किं-भूतम्? अविदितिमृतिसमयं अविज्ञातमृत्युकालम्। न विदितः परिज्ञातोऽविदितः। अविदितः मृतेः समयस्तथोक्तस्तम्। पुनः किंविशिष्टम्? अल्पपरमायुः पूर्वकोटिकाल-प्रमाणायुरपि स्वल्पम्। परममुत्कृष्ट-मायुः परमायुः। अल्पं च तत् परमायुः अल्पपरमायुः। तपः कर्मनिर्जराकार्यम्। इह मानुष्यभवे। एव निश्चयेन। सम्प्राप्तदुर्लभमानुष्ये पुनरपि दुर्लभत्वं किमिति चिन्त्यताम्। अशुद्धापसुखरूपमनुष्यभवात् कथं शुद्धस्वरूप-शाश्वतसुखमुत्तरोत्तरदुरासदमवाप्यतामिति विचार्य तपः कर्त्तव्यम्। तत्करणेन विना दुर्लभमानुष्यस्य किं फलम्? अस्मिन्नैव भवे संयमसंयमासंयमपरिणामानां सम्भवः। तपःकार्यार्थं परमायुरप्यल्पं प्रतीयते

उत्थानिका—यहाँ उसी की प्राप्ति हेतु तपश्चरण करने के लिए प्रोत्साहित करते हुए कहते हैं–

अन्वयार्थ—**(मनुष्यं)** मनुष्य पर्याय **(दुर्लभं)** दुर्लभ है **(अशुद्धं)** अशुद्ध है **(अपसुखं)** सुख रहित है, **(अविदितमृतिसमयं)** मृत्यु का समय ज्ञात नहीं है **(अल्प परमायुः)** परमायु अल्प है **(तपः)** तप **(इह)** इसमें **(एव)** ही है **(तपसा एव)** तप से ही **(मुक्तिः)** मोक्ष है **(तत् तपः)** वह तप **(कार्यम्)** करना चाहिए।

अर्थ—मनुष्य पर्याय दुर्लभ है, अशुद्ध है, सुखरहित है, इसकी मृत्यु का समय ज्ञात नहीं है, उत्कृष्ट आयु भी अल्प है। इस पर्याय में ही तप है। मुक्ति तप से ही होती है, इसलिए वह तप करना चाहिए।

टीकार्थ—मनुष्य होना ही दुर्लभ है क्योंकि यह जन्म बड़े कष्ट या दुःख से मिलता है। मनुष्य पर्याय अपवित्र है। सुख रहित है अर्थात् इसमें से सुख निकल गया है। जो कुछ भी दुर्लभ होता है वह शुद्ध और सुखकर होना चाहिए किन्तु मनुष्य पर्याय दुर्लभ है, फिर भी अशुद्ध और सुख रहित है, यह वैचित्र्य है। इसका मृत्यु समय किसी को ज्ञात नहीं है। पूर्वकोटि प्रमाण वाली आयु भी बहुत कम है। इस मनुष्यभव में इसलिए तप करना चाहिए। कर्मनिर्जरा का कार्य करना तप है। प्राप्त हुए इस दुर्लभ मनुष्यभव में पुनः और क्या दुर्लभ है, यह चिन्तन करना चाहिए। अशुद्ध सुख रहित मनुष्य भव से शुद्ध स्वरूप शाश्वत सुख कैसे प्राप्त किया जाय जो उत्तरोत्तर दुर्लभ है। ऐसा विचार करके तप करना चाहिए। तप बिना दुर्लभ मनुष्यपर्याय का क्या फल है ?

इस मनुष्यपर्याय में ही संयमासंयम और संयम परिणाम संभव है। तप करने के लिए उत्कृष्ट आयु भी थोड़ी प्रतीत होती है क्योंकि देव आयु असंख्यात काल प्रमाण है।

जीव का औदारिक शरीरभूत मनुष्यपर्याय से सम्बन्ध होने पर ही तप हो सकता है। इस तप से ही एकदेश और सकलदेश (पूर्ण) कर्म निर्जरा होती है। कर्मों का छूटना ही मुक्ति है। इस पंचमकाल में

देवायुषोऽसंख्यातकालप्रमितत्वात्। औदारिक-शरीरभूते मानुष्ये जीवस्य सम्बन्धे सति हि तपःप्रबन्धः। तपसा तपोविधानेन। एव निश्चयेन। मुक्तिरेकदेशसाकल्यरूपा कर्मच्युतिः। अत्र पञ्चमकाले मुक्तिर्नेति न मन्तव्या कर्मणामेकदेशमुक्तेः सद्भावात्। एकदेशमुक्त्या किं प्रयोजनमिति चेत्? संवरनिर्जराकरणम् संवरपूर्वकनिर्जरा वा। न चैकदेशनिर्जरां विना सकलनिर्जरारूपमोक्षस्य प्राप्तिः कदापि तरुपतितकुसुममिव स्वयमेवापतेत् पुरुषार्थविषयत्वात्। तत् तस्मात् कारणात्। तपः कार्यं आचरितव्यम्। आर्यागीतिवृत्तम् ॥१११॥

समाधिरेवोत्कृष्टं तपः तदर्थं किं करणीयमिति विधिं प्रदर्शयन्नाह–

(शार्दूलविक्रीडित)

आराध्यो भगवान् जगत्त्रयगुरुर्वृत्तिः सतां सम्मता
क्लेशस्तच्चरणस्मृतिः क्षतिरपि प्रप्रक्षयः कर्मणाम्।
साध्यं सिद्धसुखं कियान् परिमितः कालो मनः साधनं
सम्यक् चेतसि चिन्तयन्तु विधुरं किं वा समाधौ बुधाः ॥११२॥

अन्वयः—चेतसि सम्यक् चिन्तयन्तु आराध्यः भगवान् जगत्त्रयगुरुः सतां सम्मता वृत्तिः, क्लेशः तत् चरणस्मृतिः, अपि क्षतिः कर्मणां प्रप्रक्षयः, साध्यं सिद्धसुखं, कियान् परिमितः कालः, मनः साधनं, बुधाः! समाधौ किं वा विधुरम्।

मुक्ति नहीं है, ऐसा नहीं मानना चाहिए क्योंकि कर्मों की एकदेश मुक्ति (निर्जरा) होती है।

शंका—एकदेश मुक्ति से यहाँ क्या प्रयोजन है ?

समाधान—संवर और निर्जरा करना। अथवा संवर पूर्वक निर्जरा करना और एकदेश निर्जरा के बिना सकल निर्जरा रूप मोक्ष की प्राप्ति कभी भी वृक्ष से गिरे हुए फल की तरह स्वयं ही हो जाए, ऐसा नहीं होता है क्योंकि मुक्ति, संवर, निर्जरा ये सभी पुरुषार्थ का विषय है। इस कारण से तप करना चाहिए। यहाँ आर्यागीति छन्द है ॥१११॥

उत्थानिका—समाधि ही उत्कृष्ट तप है। उसके लिए क्या करना चाहिए, इस विधि को दिखाते हुए कहते हैं–

अन्वयार्थ—**(चेतसि)** चित्त में **(सम्यक्)** अच्छी तरह **(चिन्तयन्तु)** चिन्तन करते रहो **(आराध्यः)** आराधना के योग्य **(भगवान्)** भगवान **(जगत्त्रयगुरुः)** तीन जगत के गुरु हैं **(सतां)** सज्जनों को **(सम्मता)** मान्य **(वृत्तिः)** यह वृत्ति है। **(क्लेशः)** कष्ट **(तत् चरणस्मृतिः)** उनके चरणों

ध्यान समय में जगन्नाथ, प्रभु ध्येय बने बुध सम्मति है।
जिन पद स्मृति ही क्लेशमात्र है क्षति यदि है तो विधि क्षति है ॥
साधन मन है साध्य सिद्धि सुख काल लगेगा पल भर ही।
सब विध बुधजन निशिदिन चिंतन करें कष्ट ना तिल भर भी ॥११२॥

आराध्य इत्यादि। चेतसि चित्तसमुद्भूतभावमनसि। चिन्तयन्तु चिन्तनं मननं ध्यानं वा कुर्वन्तु। किं तत्? आराध्यः आराधयितुं ध्यानविषयं कर्तुं वा योग्यः। कोऽसौ? भगवान् परमैश्वर्यवान् अनन्तज्ञान-वीर्यसम्पन्नः। ''भगं तु ज्ञानयोनीच्छायशोमाहात्म्यमुक्तिषु। ऐश्वर्यवीर्यवैराग्यधर्मश्रीरत्नभानुषु॥'' इति वि० लो०। अथवा ऐश्वर्यस्य समग्रस्य ज्ञानस्य तपसः श्रियः। वैराग्यस्याथ मोक्षस्य षण्णां भग इति स्मृतः॥ एवंविधो भगो यस्य विद्यते स भगवानिति कीर्त्यते। कथम्भूतः सः? जगत्त्रयगुरुः लोकत्रयस्य स्वामी। लोकत्रयाणां प्रधानैर्भावनव्यन्तरसुरेन्द्रैश्च चक्रवर्तिनारायणादिसिंहप्रमुख-तिर्यग्योनिप्रधानपतिभिश्च सौधर्मैशानादीन्द्रवृन्दैः सन्ततं भक्त्या निर्भीकतया करकमलयुगलेन प्रणम्यते भगवान् तेन जगत्त्रयगुरु र्निगद्यते।

सतां सम्मता सत्पुरुषैः स्वीकृता। ''मतोऽर्चितेऽप्यनुमते'' इति वि०लो०। तेन सम्मता समनुमता समर्चिता संस्वीकृता वेत्यर्थः। व्युत्पत्तौ 'मन ज्ञाने' इति धोर्भूते स्त्रीलिङ्गे क्तप्रत्ययः। मनुते स्म मतः। ''ञीन्मत्यर्च्चार्थशील्यादिभ्यः क्तः'' इत्यादिना वर्त्तमानकाले क्तः। ततः 'क्तस्याधारसतोः' इत्यनेन ता भवति

की स्मृतिमात्र है **(अपि क्षतिः)** हानि भी **(कर्मणां)** कर्मों का **(प्रप्रक्षयः)** बहुत अधिक क्षय है **(साध्यं)** साध्य **(सिद्धसुखं)** सिद्ध सुख है **(कियान् परिमितःकालः)** कितना थोड़ा समय है। **(मनः)** मन **(साधनं)** साधन है **(बुधाः)** हे बुद्धिमानो! **(समाधौ)** ऐसी समाधि में **(किं वा)** फिर क्या **(विधुरम्)** कष्ट है ?

अर्थ—तीन जगत् के गुरु भगवान् आराध्य हैं। उनका चित्त में भली प्रकार चिन्तन करो। वह चर्या सज्जनों से मान्य है। उनके चरणों का स्मरण करना मात्र ही क्लेश है। इससे ही कर्मों का प्रकृष्ट रूप से क्षय होना इतनी ही हानि है। सिद्ध सुख साध्य है। कुछ परिमित काल ही ऐसा करना है। मन साधन है। हे विद्वान् पुरुष! ऐसी समाधि में क्या कष्ट है ?

टीकार्थ—चित्त से भाव मन उत्पन्न होता है। उसी भाव मन में जो आराध्य है उनका चिन्तन, मनन अथवा ध्यान करो। जिन्हें ध्यान का विषय बनाया जाये वे आराध्य हैं। ऐसे आराध्य भगवान् हैं। जो परम ऐश्वर्यवान् और अनन्तज्ञान, अनन्तवीर्य से सम्पन्न हैं वे भगवान् कहलाते हैं। 'भग' शब्द ज्ञान, योनि, इच्छा, यश, माहात्म्य, मुक्ति, ऐश्वर्य, वीर्य, वैराग्य, धर्म, लक्ष्मी, रत्न, सूर्य अर्थ में प्रयुक्त होता हैं। अथवा ऐश्वर्य, समग्रज्ञान, तप, लक्ष्मी, वैराग्य और मोक्ष इन छह अर्थों में भग शब्द कहा जाता है। इस प्रकार का 'भग' जिनके पास है, वे भगवान् कहे जाते हैं। वे भगवान् तीन लोक के स्वामी हैं। भवनवासी, व्यन्तर, देवेन्द्रों में प्रधान सौधर्मेन्द्र, चक्रवर्ती, नारायण आदि मनुष्यों के स्वामी, तिर्यंचयोनि के प्रधान सिंह ऐसे तीन लोक के प्रधान स्वामियों से निरन्तर भक्ति से, बिना डर के युगल कर-कमल जोड़कर जिन्हें प्रणाम किया जाता है, वे तीन जगत् के गुरु कहे जाते हैं।

यह आचरण सज्जनों को मान्य है, स्वीकृत है। चूँकि भगवान् की मन, वचन, काय की प्रवृत्ति सत्पुरुषों को मान्य है इसलिए वे आराध्य हैं। अथवा यूँ कहें कि भगवान की आराधना में भक्त की

वृत्तेरभावश्च। काऽसौ? वृत्तिः प्रवृत्तिराचरणं वा । भगवतो मनोवाक्कायानां प्रवृत्तिः सतां सम्मता यतस्ततो हि स आराध्यः। अथवा भगवदाराधनायां प्रवृत्तिः प्रवर्तनं भक्तस्य सतां सम्मता। एवंविधप्रवृत्तौ किं कष्टं का हानिरित्यत्राह–क्लेशः दुःखम्। यदि क्लेशलेशः स्यात्तत्कथम्भूतः? तच्चरणस्मृतिः तेषां भगवतां चरणं पदकमलं चरित्रं वा तेषां स्मृतिः स्मरणमात्रमिति। तच्चरणस्मृतिमात्रेण भव्यानां सर्वक्लेशाऽभावात् क्लेशोऽयं कर्त्तव्य इत्यर्थः। अपि तथा च । क्षतिर्विनाशः क्षयो वा। कथम्भूतः सः? प्रप्रक्षयः–'प्रोपात्संपाद-पूरणे' इत्यनेन पादपूर्तौ द्वित्वम्। यदुक्तम्–

''प्रप्रणम्य जिनं भव्यः संसंश्रित्य तपः परम्। उपोपद्यते श्रेय उदुत्पन्नमहोदयः॥''

किञ्च नात्र स्मरणेन मात्रेण विवक्ष्यते भगवदाराधनस्य समाधेर्वा मुख्यत्वात्। साध्यं साधितुं योग्यं लक्ष्यमिति। तत् किम्? सिद्धसुखं मुक्तिसौख्यम्। सिद्धिः स्वात्मोपलब्धिः। सा यस्य संजाता स सिद्धः। तेषां सुखं तत्। कियान् कतिपयः। परिमितः अतिलघुः । कालः समयः। अन्तर्मुहूर्तमात्रः समाधेरुत्कृष्टकालः इत्यर्थः। किं तत्र कारणम्? मनः साधनं–अविक्षिप्तमनसा ध्यानैकतानत्वमात्मनि सिद्धेः कारणं, तेन मन एव साधनं कारणं वाऽवसीयते। बुधाः हे विद्वांसः!। इति किः। समाधौ समस्तमानसिकपीडारहिते। आधिर्मानसिकपीडा विकल्पक्रीडा वा । सं अतीत्यार्थे यथा समभिरूढनयव्युत्पत्तौ। अतीत्याधीन् वर्तते स समाधिः। तस्मिन् निर्विकल्पक्रीडायामित्यर्थः। किं इति प्रश्ने? वा विकल्पे। विधुरं कष्टं वियोगो वा। 'विधुरं तु प्रविश्लेषे प्रत्यवायेऽपि तन्मतम्' इति वि॰ लो॰। समाधौ देहादिसर्वपरतत्त्वानामेव प्रविश्लेषो जायते

प्रवृत्ति होना सज्जनों को मान्य है। इस प्रकार की प्रवृत्ति में क्या कष्ट है और क्या हानि है? यह कहते हैं–क्लेश अर्थात् दुःख तो इतना मात्र ही है कि उनके पदकमलों का स्मरण करना है। अथवा उनके चरण, आचरण, चरित्र का स्मरण करना है। उनके चरणों की स्मृति मात्र से भव्यों के यदि समस्त क्लेशों का अभाव हो जाता है, तो यह क्लेश कर लेना चाहिए। कर्मों का क्षय होना ही हानि है। वह हानि ही विनाश है। 'प्रप्रक्षयः' इसमें 'प्र' उपसर्ग दो बार आया है वह पादपूर्ति के लिए है। जैसा कि कहा है– ''भव्य जीव जिन को प्रणाम करके, परम तप का आश्रय लेकर महोदय को उत्पन्न करता हुआ श्रेय को प्राप्त कर लेता है।'' यहाँ स्मरण मात्र की विवक्षा नहीं है किन्तु भगवान् की आराधना का अथवा समाधि की मुख्यता की विवक्षा है।

जो साधने योग्य साध्य है, वह लक्ष्य है। वह लक्ष्य सिद्ध अर्थात् मुक्त अवस्था का सुख है। स्व आत्मा की उपलब्धि सिद्धि है। वह उपलब्धि जिन्हें प्राप्त हुई है वे सिद्ध हैं। उनका सुख हमारा साध्य है। इस कार्य को करने में थोड़ा समय लगता है। वह काल उत्कृष्टरूप से अन्तर्मुहूर्त है। इस साध्य की सिद्धि का साधन मन है। अविक्षिप्त मन से आत्मा में ध्यान की लीनता सिद्धि का कारण है। इसलिए मन ही इस साध्य का साधन है। इसलिए हे ज्ञानवान पुरुषो! समाधि में क्या कष्ट है अथवा कौन सा वियोग, विछोह है ? अर्थात् कुछ भी नहीं।

समाधि के कई अर्थ हैं। समस्त मानसिक पीड़ा से रहित होना समाधि है। मानसिक पीड़ा अथवा विकल्पों की क्रीड़ा आधि है। इस क्रीड़ा से रहित निर्विकल्प क्रीड़ा में रत होना समाधि है।

स्वगुणानां नेति, यथाऽन्यैः परिकल्प्यन्ते। शार्दूलविक्रीडितं वृत्तम् ॥११२॥

तपसो मा भैषीः; इत्यवधार्य तपःगुणान् प्रगणयन्नाह–

(हरिणी)

द्रविणपवन-प्राध्मातानां सुखं किमिहेक्ष्यते
किमपि किमयं कामव्याधः खलीकुरुते खलः।
चरणमपि किं स्प्रष्टुं शक्ताः पराभवपांसवः
वदत तपसोऽप्यन्यन्मान्यं समीहितसाधनम् ॥११३॥

अन्वयः—किं इह द्रविणपवनप्राध्मातानां सुखं ईक्ष्यते , किं अयं खलः कामव्याधः किमपि खलीकुरुते, किं पराभवपांसवः चरणं अपि स्प्रष्टुं शक्ताः, तपसः अपि अन्यत् मान्यं समीहितसाधनं वदत।

द्रविणेत्यादि। किमिति प्रश्ने? इह अस्मिन् लोके। द्रविणपवनप्राध्मातानां धनरूपानिलबलवेगेन

सम् उपसर्ग छोड़ने अर्थ में भी है जैसे समभिरूढ़ नय की व्युत्पत्ति में है। आधि को छोड़कर रहना वह समाधि है। इस समाधि में देह आदि सभी परतत्त्वों का ही वियोग होता है, अपने गुणों का नहीं। यहाँ शार्दूलविक्रीडित छन्द है ॥११२॥

उत्थानिका—तप से मत डरो, ऐसा मन में अवधारित करके तप के गुण कहते हैं–

अन्वयार्थ—(किं) क्या **(इह)** यहाँ **(द्रविण-पवन-प्राध्मातानां)** धन की पवन से फूलने वालों को **(सुखं)** सुख **(ईक्ष्यते)** देखा जाता है। **(किं)** क्या **(अयं)** यह **(खलः)** दुष्ट **(कामव्याधः)** काम बहेलिया **(किमपि)** कुछ भी **(खली कुरुते)** दुष्टता करता है **(किं)** क्या **(पराभव पांसवः)** तिरस्कार की धूलि **(चरणं)** चरण को **(अपि)** भी **(स्प्रष्टुं)** छूने के लिए **(शक्ताः)** समर्थ है? **(तपसः)** क्या तप से **(अपि)** भी **(अन्यत् मान्यं)** अन्य कोई मान्य **(समीहित साधनं)** इच्छा पूर्ति का साधन है **(वदत)** बताओ ?

अर्थ—धन की हवा से धोंकनी चलाने वालों को यहाँ क्या सुख देखा जाता है ? क्या यह दुष्ट काम रूपी शिकारी कुछ भी (तपस्वी का) बुरा कर सकता है ? (उन तपस्वियों के) चरणों की पराजय की धूल छूने में भी समर्थ नहीं है। तप के बिना अपने मनोरथ की पूर्ति का साधन और क्या अन्य मान्य है बताओ ?

टीकार्थ–यहाँ प्रश्न किया है कि क्या धनरूपी पवन से प्रेरित अथवा सन्तप्त मनुष्यों को कुछ

धन की आशा जिसे जलाती कभी सुखी क्या बन सकता ?
तप के सम्मुख काम व्याध आ मनमाना क्या तन सकता ?
छू सकती अपमान धूल क्या तप तपते उन चरणन को?
बता कौन वह तप बिन वांछित सुख देता भवि जन-जन को? ॥११३॥

प्रेरितानां सन्तप्तानां वा। द्रविणं धनं एव पवनः समीरणस्तेन प्राध्मातानां प्रेरितानां जनानामित्यर्थः। सुखं वैषयिकम्। ईक्ष्यते दृश्यतेऽनुभूयते वा। किं अयं खलः दुष्टो धूर्तो वा। कोऽसौ? कामव्याधः मृगवधा-जीविकः। काम एव व्याधः कामव्याधस्तत्सदृशमुग्धजीवानां तीक्ष्णबाणेन हननात्। किमपि किञ्चिदपि। खलीकुरुते दुष्टकार्यं कर्तुं शक्यते? न शक्यत इत्यर्थः। अखलं खलं कुरुते। ''कृभ्वस्तिव्योगेऽभूततद्भावे सम्पद्यकर्तरि च्विः'' इति च्विः। तपसि सतीति योज्यम्। किं पराभवपांसवः तिरस्काररूपरजःकणाः। चरणं पादौ। अपि सम्भावनायाम्। स्प्रष्टुं स्पर्शनं कर्तुं। शक्ताः समर्था भवन्ति। न भवन्तीत्यर्थः। तपसि सतीत्यत्रापि योज्यं। तपसः तपश्चरणात्। अपि स्फुटम्। अन्यत् अन्यवस्तु। मान्यं पूज्यम्। समीहित-साधनं मनोरथपूर्तेरुपायः। वदत भो भव्याः! कथयत। ''वद व्यक्तायां वाचि''इति धोर्लोट्। तप एव सुखस्य हेतुः, तप एव कामविजयोपायः, तपसैव पूज्यत्वमतः तप एव कार्यम्। ''तपोऽधीनानि श्रेयांसि ह्युपायोऽन्यो न विद्यते'' इत्युक्तेः ॥११३॥

पुनश्च तद्गुणान् व्यावर्णयन्नाह–

(पृथ्वी)

इहैव सहजान् रिपून् विजयते प्रकोपादिकान्
गुणाः परिणमन्ति यानसुभिरप्ययं वाञ्छति।
पुरश्च पुरुषार्थसिद्धिरचिरात्स्वयं यायिनी
नरो न रमते कथं तपसि तापसंहारिणि ॥११४॥

वैषयिक सुख देखा या अनुभव में आता है। जंगली जानवरों को मारने से अपनी आजीविका चलाने वाला व्याध है। यह काम ही मानों व्याध है क्योंकि जंगली हिरण सदृश मोही, भोले जनों को तीक्ष्ण कामबाण से यह भी मारता है। क्या ऐसा दुष्ट अथवा धूर्त कामरूपी व्याध तप होने पर कुछ भी दुष्टपना करने में समर्थ है ? अर्थात् नहीं कर सकता है। क्या तिरस्काररूपी धूलिकण तप होने पर उस आत्मा को कभी छूने में भी समर्थ हो सकते हैं ? नहीं हो सकते हैं। तात्पर्य यह है कि तप की सामर्थ्य से काम को बे-असर किया जाता है और तपस्वी का कोई भी तिरस्कार नहीं कर सकता है। ऐसे तप से बढ़कर कोई अन्य पूजनीय वस्तु क्या हो सकती है ? और मनोरथ की पूर्ति का दूसरा उपाय भी क्या हो सकता है ? तप ही सुख का हेतु है। तप ही काम पर विजयप्राप्ति का उपाय है। तप से पूज्यता आती है, इसलिए तप ही करना चाहिए। कहा भी है कि–''**सभी कल्याणप्रद कार्य तप के ही अधीन हैं, अन्य कोई उपाय नहीं है** ''॥११३॥

यहीं सहज कोपादिक पर भी पाता तापस विजय अहा!
प्राणों से जो अधिक मूल्य है पाता गुण-गण निलय महा!
पर भव में फिर परम सिद्धि भी स्वयं शीघ्र बस वरण करें।
ताप पाप हर तप कर फिर नर क्यों ना नित आचरण करें ॥११४॥

अन्वयः—इह एव सहजान् रिपून् प्रकोपादिकान् विजयते, अयं यान् असुभिः अपि वाञ्छति (ते) गुणाः परिणमन्ति, च पुरुषार्थसिद्धिः स्वयं अचिरात् पुरः यायिनी, तापसंहारिणि तपसि कथं नरः न रमते?।

इहैवेत्यादि। इह एव उक्तप्रकार एव तपसि स्थितः। यद्वाऽस्मिन् लोके। सहजान् मानव-स्वभावोचितान्। सह जातास्ते सहजास्तान्। रिपून् शत्रून्। कथम्भूतान्? प्रकोपादिकान् क्रोध-कामादीन्। प्रकोपः प्रकृष्टः प्रचण्डः क्रोधः आदि र्येषां काममदमात्सर्यादीनां ते तान्। विजयते पराभवति तद्वशो न भवतीत्यर्थः। ''जि अभिभावे'' इत्यस्माद्धोर्लट्। ''विपरो जेः'' इत्येननात्मने पदत्वम्। अयं तपःस्थजनः। यान् गुणान्। असुभिः प्राणैः। अपि अत्यर्थे। वाञ्छति अभिलषति। त इति शेषः। गुणाः सद्भावाः शमप्रेमनिश्छलविनयसार्वत्वादयः। गुणशब्दोऽनेकार्थे वर्त्तते।

क्वचित् त्रयो गुणाः सत्त्वरजस्तमांसि वेदविषयाः। क्वचिद् द्रव्यस्य गुणाः ''गुणपर्ययवद् द्रव्यम्''। क्वचिद् गुणशब्दो गुणस्थानेऽर्थे। क्वचिद् गुण उपकारार्थे ''ततो गुणो नास्ति च देहदेहिनोः'' इति। क्वचिद् गुणो गौणार्थे। ''नयास्तवेष्टा गुणमुख्यकल्पतः'' इति। क्वचिद् गुणाः शौर्यादयः। क्वचिद् रूपादयो गुणाः,

---

उत्थानिका—पुनः तप के गुणों का वर्णन करते हुए कहते हैं–

अन्वयार्थ—(इह) यहाँ **(एव)** ही **(सहजान्)** साथ उत्पन्न हुए **(रिपून्)** शत्रुओं **(प्रकोपादिकान्)** क्रोधादि को **(विजयते)** जीत लेता है **(अयं)** यह आत्मा **(यान्)** जिनको **(असुभिः अपि)** प्राणों से भी बढ़कर **(वाञ्छति)** चाहता है **(गुणाः)** उन गुणों को **(परिणमन्ति)** प्राप्त कर लेता है **(च)** और **(पुरुषार्थ सिद्धिः)** पुरुषार्थ सिद्धि **(स्वयं)** स्वयं **(अचिरात्)** शीघ्र ही **(पुरःयायिनी)** सामने चली आती है **(तापसंहारिणि)** ताप का नाश करने वाले **(तपसि)** तप में **(कथं)** क्यों **(नरः)** मनुष्य **(न रमते)** नहीं रमण करता है।

अर्थ—तप से ही यहाँ आत्मा के साथ उत्पन्न हुए क्रोध आदि दुष्टों को जीता जाता है। जिन गुणों को प्राणों से भी ज्यादा आत्मा चाहता है वे गुण भी परिणमन कर जाते हैं। सामने शीघ्र ही 'पुरुषार्थ की' सिद्धि स्वयं चली आती है। ताप का नाश करने वाले ऐसे तप में मनुष्य क्यों नहीं रमण करता है?

टीकार्थ—तप में स्थित आत्मा मानवस्वभाव में रहने वाले क्रोध, काम, मद, मात्सर्य आदि शत्रुओं को जीत लेता है। इन सहज शत्रुओं के वश में नहीं रहता है। वह गुणों को प्राणों से भी बढ़कर चाहता है। शम, प्रेम, निश्छल भाव, विनय, सर्वहितकारी वृत्ति आदि सद्भावरूप गुण हैं। गुण शब्द अनेक अर्थों में रहता है।

कहीं पर तीन गुण हैं। सत्त्व, रज, तम ये वेद के विषयभूत तीन गुण हैं। कहीं द्रव्य के गुण होते हैं। ''गुण और पर्यायवाला द्रव्य है'' ऐसा **तत्त्वार्थसूत्र** में कहा है। कहीं गुण शब्द गुणस्थान अर्थ में है। कहीं गुण शब्द उपकार अर्थ में प्रयुक्त होता है। जैसा कि **स्वयंभूस्तोत्र** में कहा है–''इससे देह और आत्मा को कोई गुण/उपकार नहीं होता है।'' कहीं गुण शब्द गौण अर्थ में है–जैसे ''हे भगवन्! आपके नय गुण मुख्य की कल्पना से इष्ट हैं।'' कहीं पर शौर्य आदि गुण कहलाते हैं। कहीं पर रूप, रस, गन्ध,

''रूपरसगन्धस्पर्शसंख्यापृथक्त्व-परिणामादीनि'' गुणशब्देनोच्यन्ते। क्वचिद् गुणो विशेषणेऽर्थे 'गुणस्य यस्य भावात्' इति। क्वचिदात्मनो गुणाः मूलोत्तरगुणरूपाः सिद्धानामष्टगुणाः चतुरशीतिलक्षगुणा वा कथ्यन्ते। एतेऽत्र गृह्यन्ते। परिणमन्ति प्रकटयन्ति उत्पन्ना भवन्तीत्यर्थः। च तथा। पुरुषार्थसिद्धिः पुरुषस्यार्थानां प्रयोजनानां सिद्धिरुपलब्धिः सा। स्वयं परप्रेरणां विना। अचिरात् शीघ्रम्। पुरोऽग्रे परलोके वा। यायिनी यातुमिच्छन्ती। तापसंहारिणि जन्मजरामृत्यु-दुःखविनाशके। जन्मजरामृत्यवस्त्रयस्तापाः प्रकीर्त्यन्ते तान् संहरतीत्येवं शीलं यस्य तत् तस्मिन्। ''शीलेऽजातौ णिन्'' इति णिन्। तपसि तपोऽनुष्ठाने । कथं किं कारणम्? नरोऽयं जनः। न रमते न समुत्सहते। इत्याश्चर्यं ध्वनितम्। पृथ्वीच्छन्दः। तल्लक्षणं यथा-''जसौ जसयला वसुग्रहयतिश्च पृथ्वी गुरुः'' इति ॥११४॥

अथैषां तपस्विनां वृतिं प्रशंसयन्नाह-

(शिखरिणी)

तपोवल्ल्यां देहः समुपचितपुण्योर्जितफलः
शलाट्वग्रे यस्य प्रसव इव कालेन गलितः।
व्यशुष्यच्चायुष्यं सलिलमिव संरक्षितपयः
स धन्यः सन्न्यासाहुतभुजि समाधानचरमम् ॥११५॥

स्पर्श, संख्या, पृथक्त्व, परिणाम आदि गुण शब्द से कहे जाते हैं। कहीं पर गुण शब्द विशेषण अर्थ में है, जैसे ''जिसके विशेष गुण का सद्भाव है।'' कहीं पर आत्मा के गुण मूलगुण, उत्तरगुण के रूप में अथवा सिद्धों के आठ गुण अथवा चौरासी लाख गुण के रूप में कहे जाते हैं। इन्हीं आत्म गुणों को यहाँ ग्रहण किया है। ये गुण तप से आत्मा में प्रकट होते हैं। तथा पुरुष के प्रयोजन की सिद्धि पर प्रेरणा के बिना स्वयं शीघ्र हो जाती है। इस भव में अथवा परलोक में सिद्धि स्वयं होती है। जन्म, जरा और मृत्यु ये तीन ताप हैं। इन तापत्रय का नाशक तप का अनुष्ठान है। तप के इन गुणों के होते हुए भी मनुष्य तप करने में उत्साहित क्यों नहीं होता है ? ऐसा आश्चर्य यहाँ व्यक्त होता है। यहाँ पृथ्वी छन्द है ॥११४॥

उत्थानिका—अब तपस्वियों की चर्या की प्रशंसा करते हुए कहते हैं-

अन्वयार्थ—(यस्य) जिसके **(देहः)** शरीर ने **(तपोवल्लयां)** तप की बेल में **(समुपचित-पुण्योर्जितफलः)** पुण्यरूपी श्रेष्ठ फल उत्पन्न किया है **(शलाट्वग्रे)** वह कच्चे फल के आने पर **(प्रसव इव)** फूल के समान **(कालेन)** समय पाकर **(गलितः)** गल गया है **(च)** तथा जिसका

अपक्व फल से लगा फूल ज्यों यथा समय पर गलता है।
त्यों मुनि तन भी सुतप बेल से लिपटा शुभ फल फलता है॥
दूध सुरक्षित रख जल सूखे समाधि अगनी में जिसकी।
आयु सूखती वृष रक्षित कर धन्य! वही जय हो उसकी ॥११५॥

अन्वयः—यस्य देहः तपोवल्ल्यां समुपचितपुण्योर्जितफलः शलाट्वग्रे प्रसव इव कालेन गलितः च आयुष्यं सन्न्यासाहुतभुजि समाधानचरमं संरक्षितपयः सलिलं इव व्यशुष्यत् स धन्यः।

तप इत्यादि। यस्य सम्यक् तपोऽनुष्ठानतत्परस्य। देहः शरीरम्। तपोवल्ल्यां तपरूपलतायाम्। तप एव वल्ली लता तस्याम्। समुपचितपुण्योर्जितफलः समुचिता–नुभागसहितश्रेष्ठपुण्यरूपफलम्। समुपचितं पुष्टिमापन्नं च तत् पुण्यं तदेवोर्जितं महत् च फलं येन देहेन स। ब॰ स॰। यथा वल्ल्युपरिप्रभूतफलानि सम्पुष्यन्ति तथा तपसा सकलाभ्युदयप्रदपुण्यफलानि। तथा च किम्? शलाट्वग्रे अपक्वफलाग्रभागे। ''आम्रे फले शलाटुः स्या'' इत्यमरः। प्रसवः इव पुष्पमिव। ''स्यादुत्पादे फले पुष्पे प्रसवो गर्भमोचने'' इत्यमरः। कालेन गलितः स्वयमेव समयं प्राप्य निपतति। यथा शलाट्वग्रे समुत्पन्नपुष्पं फलमुत्पाद्य स्वयमेव तदपक्व फलस्याग्रभागाद् विनश्यति तथैव शरीरं तपश्चरणबलान् महापुण्यमुत्पाद्य पश्चात् स्वयमेव विनश्यति। च तथा। आयुष्यं जीवितम्। आयुरेवायुष्यम्। ''यण् च प्रकीर्तितः'' इति भावे यण्। सन्न्यासाहुत–भुजि सन्न्यासो निर्ग्रन्थवृत्तिः। स एवाहुतभुक् अग्निः। तस्मिन् सन्न्यासरूपाग्नौ। समाधानचरमं अन्ते धर्मशुक्लध्यानेन मरणम्। समाधानं समाधिर्धर्मशुक्लध्यानात्मिका। तस्य चरमं अन्तकालो यत्र तत्। संरक्षितपयः धर्मदुग्धसंरक्षणतया। सलिलं जलम्। इव औपम्यार्थे। व्यशुष्यत् शोषणं कुर्वत्। यथाऽग्नौ दुग्ध–पात्रेऽवस्थितदुग्धस्य जलं स्वयमेव प्रज्वलति तथापि दुग्धं रक्षति तथैव यस्यायुः सन्न्यासाग्नौ दुग्धरक्षक–जलवत् स्वयं शनैः शनैः शुष्यति तथापि धर्म्यशुक्लध्यानरूपसमाधिं रक्षति स तपस्वी प्रशस्यः

(आयुष्यं) आयुकर्म **(संन्यासाहुतभुजि)** संन्यास की अग्नि में **(समाधानचरमं)** समाधि के अन्त को पाकर **(संरक्षितपयः)** दूध की रक्षा करने वाले **(सलिलं)** जल **(इव)** के समान **(व्यशुष्यत्)** सूख गया है **(स धन्यः)** वह तपस्वी धन्य है।

अर्थ—जो देह तपरूपी बेल में अर्जित पुण्य फल से उत्कृष्ट है। कच्चा फल आने पर जिसके फूल काल पाकर गिर गये हैं। (संन्यासरूपी अग्नि में) दूध की रक्षा करने वाले जल के समान आयु को सुखाते हुए जो समाधि के चरम लक्ष्य को प्राप्त कर लेता है, वह धन्य है। (अर्थात् उस तपस्वी का शरीर और आयु दोनों सफल हैं)

टीकार्थ–समीचीन तप के अनुष्ठान में तत्पर जिस जीव का शरीर तप की बेल बन गया है और उस तप की बेल पर उत्कृष्ट पुण्यरूपी महान् फल लगे हैं। जैसे बेल के ऊपरी भाग पर बहुत फल पुष्टि को प्राप्त होते हैं उसी प्रकार तप के द्वारा समस्त अभ्युदय को प्रदान करने वाले पुण्य फल प्राप्त होते हैं। बेल में उत्पन्न हुआ फूल, फल को उत्पन्न करके स्वयं उस कच्चे फल के अग्रभाग से नष्ट हो जाता है, उसी तरह जिसका शरीर तपश्चरण के कारण महान् पुण्य उत्पन्न करके पश्चात् स्वयं नष्ट हो जाता है। जिस प्रकार अग्नि पर रखे हुए दुग्ध पात्र में दूध में रहने वाला पानी स्वयं जलता है और दूध की रक्षा करता है उसी प्रकार जिसकी आयु निर्ग्रन्थवृत्तिरूप संन्यासरूपी अग्नि में दूध की रक्षा करने वाले जल के समान स्वयं धीरे–धीरे शुष्क–क्षीण होती है परन्तु धर्म्य एवं शुक्लध्यानरूप समाधि की रक्षा

मनुष्यशरीरायुषोः फलप्राप्तत्वात्। स धन्यः यस्य जीवितमेवं विधिना गमयति स प्रशस्यः श्रेष्ठपुरुषैरिति। शिखरिणीवृत्तम् ॥११५॥

एवंविधप्रवृत्तस्य ज्ञानं सम्यग्ज्ञानमिति प्रवदति–

(अनुष्टुप्)

अमी प्ररूढवैराग्यास्तनुमप्यनुपाल्य यत्।
तपस्यन्ति चिरं तद्धि ज्ञातं ज्ञानस्य वैभवम् ॥११६॥

अन्वयः—यत् अमी प्ररूढवैराग्याः तनुं अपि अनुपाल्य चिरं तपस्यन्ति तत् हि ज्ञानस्य वैभवं ज्ञातम्।

अमीत्यादि। यत् अमी एते। प्ररूढवैराग्याः सञ्जातवैराग्याः। प्ररूढं प्रकर्षप्राप्तं सञ्जातं वा वैराग्यं विरक्तिर्येषां ते। तनुं शरीरम्। अपि आश्चर्ये। अनुपाल्य सम्यक्–विधानेन परिपालनं कृत्वा। चिरं बहुतरकालपर्यन्तम्। तपस्यन्ति तपः कुर्वन्ति। तत् हि निश्यचेन । ज्ञानस्य सम्यग्ज्ञानस्य। वैभवं सामर्थ्यम्। विज्ञातं विनिश्चितम्। ये तु संसारशरीरभोगेषु निःस्पृहाः सततं तिष्ठन्ति ते वैराग्यवन्तोऽभिधीयन्ते।

करती है वह तपस्वी प्रशंसनीय है। उसने मनुष्य शरीर और मनुष्यायु दोनों का फल प्राप्त किया है। यहाँ शिखरिणी छन्द है ॥११५॥

उत्थानिका—इस प्रकार प्रवृत्ति करने वाले का ज्ञान सम्यग्ज्ञान है, यह कहते हैं–

अन्वयार्थ—(यत) जो **(अमी)** ये **(प्ररूढवैराग्याः)** वैराग्य पर आरूढ़ हैं वे **(तनुं)** शरीर का **(अपि)** भी **(अनुपाल्य)** अनुपालन करके **(चिरं)** चिरकाल तक **(तपस्यन्ति)** तपस्या करते हैं **(तत्)** वह **(हि)** निश्चय से **(ज्ञानस्य)** ज्ञान का **(वैभवं)** वैभव **(ज्ञातम्)** ज्ञात होता है।

अर्थ—ये वैराग्य पर आरूढ जीव भी शरीर का पालन करके जो चिरकाल तक तपस्या करते हैं, वह निश्चित ही ज्ञान का वैभव मालूम होता है।

टीकार्थ–जिनका वैराग्य उत्कृष्टता को प्राप्त है ऐसे वे वैराग्यसम्पन्न जीव भी शरीर का अच्छी तरह पालन करते हैं और बहुत काल तक इस शरीर से तपस्या करते हैं। निश्चय से यह सम्यग्ज्ञान की सामर्थ्य है, यह निश्चित होता है। देह मात्र को धारण करने वाले, पाणिपात्र से भोजन करने वाले, पवित्र श्रमण, शरीर की यात्रा मात्र का उद्देश्य रखने वाले जब कभी भी भिक्षा के लिए भ्रमण करते हैं, तब आचार शास्त्र के अनुसार आगम चक्षु से व्यवहार करते हैं। सम्यग्ज्ञान से नेत्र खुले होने से वे अन्यथा प्रवृत्ति नहीं करते हैं। उनका वह शरीर का पालन करना वैराग्य की विरुद्धता धारण नहीं करता है क्योंकि

राग रंग बहिरंग संग तज विराग पथ पर चलते हैं।
किन्तु उपेक्षित नहिं है समुचित पालन तन का करते हैं॥
जीवन भर चिर तापस बनकर खरतर तपते अचल महा।
भ्रात ज्ञात हो निश्चित ही यह आत्म ज्ञान का सुफल रहा ॥११६॥

देहमात्रधराः पाणिपात्रभुक्तपवित्रा गात्रयात्रामात्रोद्देशिका यदा कदापि भिक्षार्थं पर्यटन्ति तदाचारशास्त्र-मार्गेणागमचक्षुषा व्यवहरन्ति; नान्यथा सम्यग्ज्ञाननेत्रोन्मीलनात्। तेषां तनोरनुपालनं वैराग्यस्य विरुद्धतां न विदधाति; सम्यक् षट्कारणेनाहारग्रहणात्। न च ते शरीरं कर्कशवृत्त्यैव निर्वहन्ति संयमघातप्रसङ्गात्। न च सर्वथा मृदुलवृत्यैव समाचरन्ति उत्सर्गमार्गविलोपात्। ततस्ते शरीरं सम्पोषणं विना तिष्ठासवो वीणातार-समायोजनमिव नयद्वयमैत्रीमनुसर्त्याविरोधेन विचरन्ति। वैराग्यरथारूढानामेषा वृत्तिः श्लाघ्या दृढागमज्ञानाद् धैर्योपेताद्वा। तेनायाति सग्यग्ज्ञानस्य सामर्थ्यमेतत्। अनुष्टुप्छन्दः ॥११६॥

तद्देहानुपालनं प्रति प्रत्ययः किमिति प्रतिपाद्यते–

(अनुष्टुप्)

क्षणार्धमपि देहेन साहचर्यं सहेत कः।
यदि प्रकोष्ठमादाय न स्याद् बोधो निरोधकः ॥११७॥

अन्वयः—यदि प्रकोष्ठं आदाय बोधः निरोधकः न स्यात् कः क्षणार्धं अपि देहेन साहचर्यं सहेत?।

छह समीचीन कारणों से वे आहार ग्रहण करते हैं। वे श्रमण कर्कश वृत्ति से ही शरीर का निर्वाह नहीं करते हैं क्योंकि उससे संयम के घात का प्रसंग आता है। वे श्रमण मृदु चर्या से भी आचरण नहीं करते हैं क्योंकि उत्सर्ग मार्ग का लोप हो जाता है। इसलिए वे शरीर का पोषण किए बिना रहते हुए वीणा के तारों के समायोजन की तरह न ज्यादा खींचते हुए और न ज्यादा ढीला छोड़ते हुए दोनों नयों में मैत्री का अनुसरण करते हुए अविरुद्ध आचरण करते हैं। वैराग्यरथ पर आरूढ़ इन श्रमणों की वृत्ति प्रशंसनीय है क्योंकि वे आगम के दृढ़ज्ञान से सहित हैं और धैर्य सहित हैं। इससे सिद्ध होता है कि यह सम्यग्ज्ञान का ही सामर्थ्य है। यहाँ अनुष्टुप् छन्द है ॥११६॥

उत्थानिका—देह का पालन करने का कारण क्या है ? यह कहते हैं–

अन्वयार्थ–(यदि) यदि **(प्रकोष्ठं)** प्रकोष्ठ को **(आदाय)** ग्रहण करके **(बोधः)** ज्ञान **(निरोधकः)** रोकने वाला **(न स्यात्)** नहीं हो **(तर्हि)** तो फिर **(कः)** कौन **(क्षणार्धं)** आधा क्षण **(अपि)** भी **(देहेन)** देह के साथ **(साहचर्यं)** सम्बन्ध **(सहेत)** सहन करे ?

अर्थ—यदि हाथ का पौंचा (कलाई) पकड़कर रोकने वाला ज्ञान नहीं हो तो कौन आधा क्षण भर भी देह के साथ साहचर्य सहन कर सके ?

आत्म ज्ञान वह चूँकि हुवा हो तन का परिचय स्पष्ट रहा।
पल भर भी पलमय तन का फिर पालन किसको इष्ट रहा ॥
तन का पालन करने में बस तदपि प्रयोजन एक रहा।
ध्यान सिद्धि वर ज्ञान सिद्धि हो आत्मसिद्धि अतिरेक रहा ॥११७॥

क्षणार्धमित्यादि। यदि प्रकोष्ठं देहनिकटवर्तितरालयमन्तस्तत्त्वरूपम्। आदाय गृहीत्वा। बोधः सम्यग्ज्ञानम्। निरोधकः कर्मनिरोधकारकः संवरनिर्जरालक्षणः। न स्यात् न भवेत्। तर्हि इति शेषः। कः कश्चिद् पुरुषः। क्षणार्धं अत्यल्पकालम्। अपि सम्भावनायाम्। देहेन साहचर्यं शरीरसहानुचरणं। सहेत सहनं कुर्यात्। न कोऽपीत्यर्थः। यद्युपरोक्तप्ररूढवैराग्यधारिणां स्वात्मसिद्धये संवरनिर्जरारूपकार्यमस्मात् शरीरान्न सम्भवेत् तर्हि कः सुधीः सर्वाशुचिस्थानमनर्थकरं शरीरं साहचर्यतया धारयेत्? यतश्च ''प्रयोजनमन्तरेण मन्दोऽपि न प्रवर्त्तते'' इत्युक्तेः। अनुष्टुप्छन्दः ॥११७॥

एवमभिप्रायं दृष्टान्तेन दृढयन्नाह–

(शिखरिणी)

समस्तं साम्राज्यं तृणमिव परित्यज्य भगवान्
तपस्यन् निर्माणः क्षुधित इव दीनः परगृहान्।
किलाटद्भिक्षार्थी स्वयमलभमानोऽपि सुचिरं
न सोढव्यं किं वा परमिह परैः कार्यवशतः ॥११८॥

अन्वयः—भगवान् समस्तं साम्राज्यं तृणं इव परित्यज्य तपस्यन् निर्माणः क्षुधितः दीन इव भिक्षार्थी किल परगृहान् अटत् स्वयं सुचिरं अलभमानः अपि परैः कार्यवशतः परं इह किं वा न सोढव्यं ।

टीकार्थ–देह का अत्यन्त निकटवर्ती स्थान अन्तरंग आत्मतत्त्व ही प्रकोष्ठ है। इस अन्तस्तत्त्व को ग्रहण करके सम्यग्ज्ञान कर्म का निरोध करने वाला संवर, निर्जरा लक्षण को धारण करता है। सम्यग्ज्ञान देह के साथ इस संवर, निर्जरा को कर रहा है। इसीलिए देह के साथ रह रहा है। यदि ऐसा न हो तो कौन बुद्धिमान पुरुष इस देह के साथ रहे ? यदि पूर्व श्लोक में कहे वैराग्यधारियों को आत्म सिद्धि के लिए संवर, निर्जरारूप कार्य इस शरीर से संभव न हो तो कौन बुद्धिमान समस्त अशुचि के स्थानभूत और अनर्थकारी इस शरीर की संगति क्षणभर भी करे क्योंकि ''प्रयोजन के बिना तो मन्दबुद्धि भी प्रवृत्ति नहीं करता है।'' यह कहावत है। प्रकोष्ठ के संभावित दोनों अर्थों को यहाँ ग्रहण किया है। यहाँ अनुष्टुप् छन्द है ॥११७॥

उत्थानिका—इस अभिप्राय को दृष्टान्त से दृढ़ करते हुए कहते हैं–

अन्वयार्थ–(भगवान्) भगवान् ने **(समस्तं साम्राज्यं)** सम्पूर्ण साम्राज्य को **(तृणं इव)** तृण के समान **(परित्यज्य)** छोड़कर **(तपस्यन्)** तपस्या करते हुए **(निर्माणः)** मान रहित **(क्षुधितः)** भूख

जीरण तृण सम सकल संपदा तजी वृषभ ने तपधारा।
क्षुधित दीन सम बिन मद, पर घर जाते पाने आहारा॥
बहुत दिवस तक मिली नहीं विधि भिक्षार्थी बन भ्रमण किया।
सुखार्थ हम क्या नहीं सहे जब जिन ने परिषह सहन किया ॥११८॥

समस्तमित्यादि । भगवान् ऋषभदेवः प्रथमतीर्थाधिपतिः। समस्तं सम्पूर्णम्। साम्राज्यं राजवैभवम् । तृणं इव जरत्तृणवत्। परित्यज्य त्यागं कृत्वा। तपस्यन् तपः कुर्वन्। निर्माणोऽभिमानरहितः। निर्गतो मानो यस्मात् स निर्माणः।''रषृवर्णेभ्यो नो णमनन्त्यः स्वरहयवकवर्गपवर्गान्तरोऽपि'' इत्यनेन नस्य णम् । क्षुधितः क्षुधापीडितः। दीनः इव हतभाग्य इव। वर्धमानचारित्रेण सततवर्धितविशुद्धिमतो दरिद्रदयनीयखिन्ना-द्यर्थे दीनत्वं न्नात्र युज्यते तथापि लाभान्तरायकर्मणस्तीव्रोदयाद् हतभाग्यताऽर्थे युक्तमिति। भिक्षार्थी भिक्षामर्थयते इति गोचरीवृत्तिकः। किल पुराणप्रसिद्धवृत्तान्तमेतत्। परगृहान् अन्यजनगृहद्वाराणि। अकिञ्चनस्य सर्वाणि गेहानि पराणि स्वगृहाभावात्। तेन परगृहानिति सूक्तम्।''गृहाः पुंसि च भूम्न्येव'' इत्यमरः। आटत् परिभ्रमणं अभवत्।''अट पट इट किट कट गतौ'' इति धोर्लङ् । स्वयं तीर्थकरकर्मसत्त्वकर्मा। सुचिरं बहुतरकाल-पर्यन्तम्। अलभमानः भिक्षालाभं न कुर्वाणः। न लभत इति अलभमानः इत्यानशप्रत्ययः। अपि विस्मये। परैःअन्यैः। कार्यवशतः संवरनिर्जरामुख्यप्रयोजनवशात्। परं अन्यत् आक्रोशादर्शनतृषादिपरीषहः। किं वा न सोढव्यं। अपि तु सोढव्यमिति काकुः। शिखरिणीवृत्तम् ॥११८॥

सहित **(दीन इव)** दीन के समान **(भिक्षार्थी)** भिक्षार्थी बन कर **(किल)** निश्चय से **(परगृहान्)** परगृहों में **(अटत्)** भ्रमण किया **(स्वयं)** स्वयं **(सुचिरं)** बहुत समय तक **(अलभमानः)** भिक्षा का लाभ न होते हुए **(अपि)** भी ऐसा किया। **(परैः)** दूसरों को **(कार्यवशतः)** कार्यवश से **(परं)** अन्य परीषह **(इह)** यहाँ **(किं वा)** क्या **(न सोढव्यं)** नहीं सहन करना चाहिए।

अर्थ—भगवान् तृण के समान समस्त साम्राज्य को छोड़कर तपश्चरण करते हुए मान रहित होकर भूखे, दीन की तरह परगृहों में घूमते रहे। भिक्षालाभ न होने पर भी भिक्षार्थी बन चिरकाल तक भ्रमण किया। फिर क्या दूसरों को कार्यवश इस लोक में उत्कृष्ट परीषह सहन नहीं करना चाहिए।

टीकार्थ–प्रथम तीर्थाधिपति भगवान् ऋषभदेव ने सम्पूर्ण राज्यवैभव जीर्णतृण के समान त्याग करके तप किया है। वे भगवान् अभिमान रहित होकर क्षुधा से पीड़ित दुर्भाग्यवान् की तरह थे। दीन का अर्थ यहाँ हतभाग्यता से लेना चाहिए। वर्धमानचारित्र के साथ निरन्तर बढ़ी हुई विशुद्धि वाले भगवान के लिए दीन शब्द का अर्थ दरिद्र, दयनीय, खिन्न आदि अर्थ में ठीक नहीं है, फिर भी लाभ अन्तरायकर्म के तीव्र उदय से भाग्यहीन के अर्थ में दीन शब्द उचित है। भिक्षा के लिए जो भ्रमण करते हैं, वे गोचरीवृत्ति वाले भिक्षार्थी कहलाते हैं। भगवान् आदिनाथ का यह वृत्तान्त पुराण प्रसिद्ध है। वे अन्य मनुष्यों के गृहद्वार पर जाते थे। उन अकिञ्चन महात्मा के लिए सभी गृह पर (अन्य) ही थे क्योंकि उनका अपना कोई गृह नहीं था। इसलिए परगृह में भ्रमण करते थे, यह कहना ठीक है। स्वयं तीर्थंकर नामकर्म की सत्ता रखने वाले उन आत्मा को बहुत काल तक भिक्षा का लाभ नहीं हुआ, यह विस्मय है। फिर अन्य सामान्यजन को तो संवर, निर्जरा करने का मुख्य प्रयोजन रखकर अन्य आक्रोश, अदर्शन, तृषा आदि परीषहों को क्या सहन नहीं करना चाहिए ? अपितु अवश्य सहन करना चाहिए। यहाँ शिखरिणी छन्द है ॥११८॥

पुनरपि तदेवाह–

(शिखरिणी)

पुरा गर्भादिन्द्रो मुकुलितकरः किंकर इव
स्वयं स्रष्टा स्रष्टेः पतिरथ निधीनां निजसुतः।
क्षुधित्वा षण्मासान् स किल पुरुरप्याट जगती
महो केनाप्यस्मिन् विलसितमलङ्घ्यं हतविधेः ॥११९॥

अन्वयः—स पुरुः अपि गर्भात् पुरा इन्द्रः मुकुलितकरः किंकर इव स्वयं स्रष्टेः स्रष्टा अथ निजसुतः निधीनां पतिः क्षुधित्वा षण्मासान् किल जगतीं आट अहो अस्मिन् हतविधेः विलसितं केन अपि अलंघ्यम् ।

पुरेत्यादि। स भगवान्। पुरुः महानात्मा। ''पृ पालनपूरणयोः'' इत्यस्माद्धोः पृणाति पालयति षट्कर्मोपदेशैः प्रजाः स पुरुरुच्यते। ''इषिवृषिभिदिगृधिभृदिपृभ्यः कुः'' इति कुः। अपि विस्मये। गर्भात्

उत्थानिका—पुनः वही कहते हैं–

अन्वयार्थ—(स पुरुः) वह पुरु **(अपि)** भी जिनको **(गर्भात्)** गर्भ से **(पुरा)** पहले **(इन्द्रः)** इन्द्र **(मुकुलितकरः)** हाथ जोड़ कर **(किंकर इव)** नौकर के समान रहा **(स्वयं)** स्वयं **(सृष्टेः)** संसार के **(स्रष्टा)** रचनाकर थे **(अथ)** और **(निजसुतः)** उनका अपना पुत्र **(निधीनां पतिः)** निधियों का स्वामी था **(क्षुधित्वा)** भूखे रह कर **(षण्मासान्)** छह माह तक **(किल)** निश्चित ही **(जगतीं)** पृथ्वी पर **(आट)** भ्रमण किया **(अहो)** आश्चर्य है कि **(अस्मिन्)** इस संसार में **(हतविधेः)** दुर्भाग्य का **(विलसितम्)** विलास **(केन)** किसी से **(अपि)** भी **(अलंघ्यम्)** लाँघने योग्य नहीं है।

अर्थ—गर्भ से पहले ही इन्द्र किंकर के समान हाथ जोड़े हुए रहा, जो स्वयं सृष्टि के स्रष्टा थे, जिनका पुत्र निधियों का स्वामी था, वे पुरु भी इस पृथ्वी पर भूखे रहकर छह महीने तक भ्रमण करते रहे। अहो! इस निकृष्ट विधि का विलास यहाँ किसी से भी लाँघने योग्य नहीं है।

टीकार्थ–वे भगवान पुरु अर्थात् महान् आत्मा हैं। छह कर्मों के उपदेश से जो प्रजा का पालन करते हैं, वे पुरु हैं। विस्मय है कि ऐसे पुरु का माँ के गर्भ में आने से पहले सौधर्म इन्द्र अपने हस्तपुट को बाँधे अंजलि बनाकर दास के समान खड़ा रहता था। वे पुरुदेव जगत् के स्वयं स्रष्टा थे। अर्थात् युग की आदि में जब वे राजा थे तब उन्होंने छह कर्मों का उपदेश दिया और मुनि अवस्था में धर्म उपदेश दिया था। इस तरह षट्कर्म का उपदेश देने से और धर्मोपदेश देने से उन्हें संसृति का स्रष्टा कहा जाता

जिनका सुत नवनिधियों का पति कुलकर मनु वृषभेश महा।
गर्भ पूर्व ही विनीत सेवक जिनका था अमरेश रहा॥
भूतल पर प्रभु भटके भूखे पुरुषोत्तम छह मास यहाँ।
कौन टालता विधान विधि का बल वह किसके पास कहाँ ॥११९॥

मातुर्गर्भागमनात्। पुरा प्रागेव। इन्द्रः सौधर्म-नामा। मुकुलितकरः प्राञ्जलिबद्धहस्तपुटः। मुकुलितं कमलदलसदृशं कृतम्। ''मृदो ध्वर्थे णिज्बहुलं'' इति णिच्। मुकुलयति मुकुलं करोति स्म मुकुलितम्। णिजन्तात्क्तः। यद्वा मुकुलं कमलदलं सञ्जातमस्य तत् मुकुलितम्। ''तदस्य सञ्जातं तारकादिभ्यः इतच्'' इति इतिच्। मुकुलितं करं हस्तयुगलं यस्य स तथोक्तः। ब० सः। कथमिव? किंकर इव भृत्यवदित्यर्थः। स्वयं पुरुदेवः। स्रष्टेः जगतः। स्रष्टा सृजति करोतीति स्रष्टा। करणार्थे तृच् प्रत्ययः। युगादौ राजनि सति षट्कर्मादेशेन मुनौ च धर्मोपदेशेन जगज्जनान् स्रजति करोति प्रेरयति वा तेन स्रष्टृत्वं; न चान्यथा लोकरचनादिकारणादिति । अथ तथा च। निजसुतः भरतचक्रवर्ती। कथम्भूतः सः? निधीनां पतिः नव-निधिविभूतेः स्वामी। क्षुधित्वा क्षुधार्त्तेन कष्टपरो भूत्वा। षण्मासान् षड्मासपर्यन्तम्। ''कालाध्वन्यभेदे'' इत्यनेनाऽत्यन्तसंयोगे इप् । किल निश्चये। क्व? जगतीं पृथ्वीम्। 'कर्त्राप्यम्' इत्यनेनाप्यार्थे इप्। ''जगती जगति क्ष्मायां छन्दोभेदे जनेऽपि च'' इति वि०लो०। आट भ्रमणं कृतवान् ।'अट गतौ' इति लिट्। अहो इति विस्मये। अस्मिन् संसारे। हतविधेः दुष्टभाग्यस्य। हता दुष्टा चासौ विधिस्तथोक्तस्तस्य। प्रथमपदे हतशब्दोऽधमार्थे वृत्तौ प्रयुज्यते । विलसितं विलासः चेष्टा वा। केन अपि अलंघ्यं न केनापीत्यर्थः। विधे र्विधानं कोऽपि नोल्लंघयितुमलमिति भावः। यदुक्तम्-

> **''जं जस्स जम्मि देसे जेण विहाणेण जम्मि कालम्मि।**
> **णादं जिणेण णियदं जम्मं वा अहव मरणं वा ॥''**
> **''तं तस्स तम्मि देसे तेण विहाणेण तम्मि कालम्मि।**
> **को सक्कदि वारेदुं इंदो वा तह जिणिंदो वा ॥''**

शिखरिणीवृत्तम् ॥११९॥

एवंविधे विधेर्विलसितेऽपि संयमी स्वावलम्बनाभिमुख्येन वर्त्तते इति प्रतिपादयन्नाह-

---

है, लोक की रचना करना आदि अन्य कारणों से स्रष्टा नहीं कहा जाता है। उनका पुत्र भरत चक्रवर्ती नौ निधियों का स्वामी था। क्षुधा से दु:खी होकर वे छह महीने तक पृथ्वी पर भ्रमण करते रहे। अहो आश्चर्य है कि इस अधम भाग्य की चेष्टाएँ किसी से भी नहीं टल सकती हैं। इस विधि का विधान कोई भी उल्लंघन करने में समर्थ नहीं है। कहा भी है-

''जिसका, जिस देश में, जिस विधान से, जिस काल में जो होना है जिनेन्द्र भगवान ने उस जन्म अथवा मरण को निश्चित जाना है।'' उसको, उस देश में, उस विधान से, उस काल में वह होता है। उसे रोकने में इन्द्र हो अथवा जिनेन्द्रदेव हो, कौन समर्थ हो सकता है ? कोई नहीं। यहाँ शिखरिणी छन्द है ॥११९॥

उत्थानिका—इस प्रकार से विधि का विलास होने पर भी संयमी स्वावलम्बन की मुख्यता से रहता है, यह कहते हैं-

(अनुष्टुप्)

प्राक् प्रकाशप्रधानः स्यात् प्रदीप इव संयमी।
पश्चात्तापप्रकाशाभ्यां भास्वानिव हि भासताम् ॥१२०॥

अन्वयः—संयमी प्राक् प्रदीप इव प्रकाशप्रधानः स्यात् पश्चात् तापप्रकाशाभ्यां भास्वान् इव हि भासताम्।

प्रागित्यादि। संयमी सम्यक् चारित्रवान्। सं सम्यग्दर्शनेन सह यमः पञ्चमहा-व्रतरूपो यस्यास्तीति स संयमी। प्राक् प्रव्रज्याग्रहणं कृत्वा प्रथमः कार्यः। प्रदीप इव दीपप्रकाशवत् स्वपरप्रकाशकत्वेन। प्रकाशप्रधानः स्यात् प्रकाशस्तेजो ज्ञानं वा स एव प्रधानो मुख्यः स तथात्मको भवेत्। सम्यग्ज्ञानाराधना-मुख्यत्वेन परमागमकुशलो भवितव्य इत्यर्थः। तेन प्राथमिकदशायां तपसश्चाराधना गौणत्वेन स्यादित्युक्तं भवति। पश्चात् सुविदितपदार्थसूत्रार्थस्तदनन्तरम्। तापप्रकाशाभ्यां प्रताप-प्रकाशाभ्याम्। तापस्तपः। प्रकाशो ज्ञानम्। तापश्च प्रकाशश्च तापप्रकाशौ ताभ्याम्। प्रत्येकपद-प्रधानत्वेन द्वन्द्ववृत्तौ योज्यम्।

अन्वयार्थ—(संयमी) संयमी पुरुष **(प्राक्)** प्रारम्भ में **(प्रदीप इव)** दीपक के समान **(प्रकाशप्रधानः स्यात्)** प्रकाश प्रधान होता है। **(पश्चात्)** बाद में **(तापप्रकाशाभ्यां)** ताप और प्रकाश से **(भास्वान इव)** सूर्य के समान **(हि)** ही **(भासताम्)** शोभित होता है।

अर्थ—संयमी पहले तो प्रकाश की प्रधानता वाले दीपक के समान रहता है फिर प्रकाश और प्रताप दोनों से सहित हो सूर्य के समान दीप्त-प्रकाशित होता है।

टीकार्थ—सम्यक्चारित्र वाला पुरुष संयमी है। सम्-सम्यग्दर्शन और यम-पाँच महाव्रत। इससे संयम शब्द को धारण करने वाला संयमी है। वह संयमी दीक्षा ग्रहण करके पहले तो दीपक के प्रकाश के समान स्वपर को प्रकाशित करने वाला होता है। प्रकाश अर्थात् तेज या ज्ञान। सम्यग्ज्ञान की आराधना की मुख्यता से उसे परमागम में निपुण होना चाहिए, यह तात्पर्य है। इससे समझाया गया है कि प्राथमिक दशा में तप की आराधना गौण है। जब उसे पदार्थ और सूत्रार्थ का अच्छी तरह ज्ञान हो जाय तब ताप और प्रकाश सहित होवे। ताप अर्थात् तप। प्रकाश यानी ज्ञान। सूर्य के समान तप और ज्ञान प्रकाश दोनों को धारण करे।

शंका—दीपक का दृष्टान्त ही पर्याप्त था, बाद में सूर्य का दृष्टान्त क्यों दिया ? दोनों में ही तो ताप और प्रकाश दोनों रहते हैं ?

समाधान—दीपक में प्रकाश होते हुए भी ताप की प्रधानता नहीं रहती है। दीपक में सदा

प्रथम संयमी स्वपर तत्त्व का अवभासक हो चलता है।
जिस विध सबको दीपक करता आलोकित है जलता है॥
तदुपरान्त वह सुतप ध्यान से और सुशोभित हो जाता।
प्रखर प्रभा आलोक ताप से जिस विध नभ में रवि भाता ॥१२० ॥

भास्वान् सूर्यः। इव उपमायाम्। हि वास्तवेन। भासतां प्रकाशतां विशोभतां वा। प्रदीपस्य दृष्टान्तमेवालं कथं भास्वत इति चेत्; द्वयो र्हि ताप-प्रकाशोलपम्भात्। नैष दोषः। प्रदीपे तेजसि सत्यपि तापोऽप्रधानत्वेन वर्त्तते। तत्र सदैवेकरूपता द्वयोर्दृश्यते। भास्वति द्वयं कालक्रमेण परिवर्त्तते। तत्राप्यत्र मध्याह्नकालागतविवस्वतः प्राधान्यं ततो विवर्णनं दृष्टान्तस्य पृथक्त्वेन युक्तम्। प्रथमतस्तु दीपवत् वर्तितैलापेक्षी भवति संयमी गुरुश्रुतसाधर्मिकादिसाहाय्यापेक्षी पश्चात् रविवत् स्वतेजःप्रभाभासुरो विभ्राजते। अनुष्टुप्छन्दः ॥१२०॥

पुनरपि तदेवाह–

(अनुष्टुप्)

भूत्वा दीपोपमो धीमान् ज्ञानचारित्रभास्वरः।
स्वमन्यं भासयत्येष प्रोद्वमन्कर्मकज्जलम् ॥१२१॥

अन्वयः—एष धीमान् दीपोपमः भूत्वा ज्ञानचारित्रभास्वरः कर्मकज्जलं प्रोद्वमन् स्वं अन्यं भासयति।

भूत्वेत्यादि। एष ज्ञानाराधनाप्रधानः। धीमान् बुद्धिमान्। दीपोपमः भूत्वा दीपस्योपमयोपमितः सन्। ज्ञानचारित्रभास्वरः ज्ञानचारित्रयोः सूर्य इव चकास्ति। कर्म कज्जलं कर्मरूपकिट्टिकालिमामलम्। तेन

एकसमान ताप और प्रकाश रहता है किन्तु सूर्य में दोनों चीजें कालक्रम से परिवर्तित होती हैं। फिर भी यहाँ मध्याह्न काल के सूर्य की प्रधानता है, इसलिए अलग से सूर्य का दृष्टान्त देकर समझाया है।

पहले तो दीपक को तैल और बाती की अपेक्षा रहती है उसी तरह संयमी को गुरु, श्रुत, साधर्मीजन की सहायता की अपेक्षा रहती है। बाद में सूर्य के समान अपने ही प्रकाश और प्रताप से देदीप्यमान होता है। यहाँ अनुष्टुप् छन्द है ॥१२०॥

उत्थानिका—पुनः वही कहते हैं–

अन्वयार्थ—(एष) यह **(धीमान्)** बुद्धिमान **(दीपोपमः भूत्वा)** दीपक की उपमा वाला होकर **(ज्ञानचारित्रभास्वरः)** ज्ञान, चारित्र से प्रकाशमान होता हुआ **(कर्मकज्जलं)** कर्मों के काजल को **(प्रोद्वमन्)** उगलता हुआ **(स्वं)** स्व और **(अन्यं)** पर को **(भासयति)** प्रकाशित करता है।

अर्थ—यह बुद्धिमान जीव दीपक के समान होकर ज्ञान और चारित्र से प्रकाशमान होता हुआ स्व और पर को कर्म कज्जल का वमन करते हुए प्रकाशित करता है।

टीकार्थ–यह ज्ञानाराधना-प्रधान बुद्धिमान जीव दीपक की उपमा को धारण करता है। ज्ञान और चारित्र में सूर्य के समान शोभित होता है। कर्मरूप किट्टिकालिमा मल ही कर्म कज्जल है। इसलिए

ज्ञान विभा से चरित चमक से भासुर धी-निधि यमी दमी।
दीप बने है उन्हें नमूँ मम-अघ-तम की हो कमी-कमी ॥
समीचीन आलोक-धाम से करा स्वपर को उजल रहें।
कर्म रूप अलि काला कज्जल फलतः पल-पल उगल रहें ॥१२१॥

द्रव्यभावाभ्यां द्विविधं कर्म निश्चेयम्। द्रव्यकर्म किट्टिरूपम्। भावकर्म रागादिकालुष्यकालिमा। ''कम्मं हवेइ किट्टं रागादि कालिया अह विभावो'' इति वचनात्। प्रोद्यमन् निर्जरां कुर्वन्। चारित्राराधनया विनाऽनवरतं कर्मनिर्जरा नायातीत्युक्तं भवति। तदैव स्वान् दोषानणुतुल्यानपि मेरोः सदृशं मन्यमानो विशुध्यति । इत्येवं प्रकारेण किम्? स्वं अन्यं भासयति आत्मप्रभावनया पराञ्च विभावयति। इयमेव समञ्जसा धर्मप्रभावना स्वपरप्रकाशने समर्थत्वादिति। अनुष्टुप्छन्दः ॥१२१॥

रविरिव विरतेर्वर्तनं प्रदर्शयितुकामः प्राह–

(अनुष्टुप्)

अशुभाच्छुभमायातः शुद्धः स्यादयमागमात्।
रवेरप्राप्तसन्ध्यस्य तमसो न समुद्गमः ॥१२२॥

अन्वयः—अयं आगमात् अशुभात् शुभं आयातः शुद्धः स्यात् अप्राप्तसन्ध्यस्य रवेः तमसः समुद्गमः न।

द्रव्य और भाव दोनों प्रकार का कर्म यहाँ कज्जल शब्द से कह दिया है। उसमें द्रव्यकर्म किट्टिरूप है और भाव कर्म राग आदि कालुष्य परिणामरूप कालिमा है। कहा भी है–''**कम्मं हवेइ किट्टं रागादिकालिया अह विभावो।**'' अर्थात् कर्म किट्टिमा है और रागादि की कालिमा विभाव है। इन द्रव्य, भावकर्मों की वह निर्जरा करता है। चारित्र की आराधना के बिना निरन्तर कर्म निर्जरा नहीं होती है, यह कहा है। चारित्र की आराधना करने वाला जीव ही अपने अणु तुल्य दोषों को भी मेरुपर्वत के समान मानता हुआ विशुद्ध होता है। इस प्रकार करने से आत्मप्रभावना के द्वारा स्वयं और पर दोनों को भावित करता है। यही वास्तविक धर्मप्रभावना है क्योंकि इसमें स्व और पर दोनों का लाभ होने का सामर्थ्य है। यहाँ अनुष्टुप् छन्द है ॥१२१॥

उत्थानिका—रवि के समान संयमी जीव का प्रवर्तन होता है, यह दिखाने की इच्छा से कहते हैं–

अन्वयार्थ—**(अयं)** यह जीव **(आगमात्)** आगम से **(अशुभात्)** अशुभ से **(शुभं)** शुभ को **(आयातः)** प्राप्त हुआ **(शुद्धः स्यात्)** शुद्ध हो जाता है। **(अप्राप्तसन्ध्यस्य)** जिसे सन्ध्या प्राप्त नहीं हुई है। **(रवेः)** उस सूर्य को **(तमसः)** अन्धकार का **(समुद्गमः)** उद्गम **(ना)** नहीं होता है।

अर्थ—यह जीव आगमज्ञान से अशुभ से बचकर, शुभ को प्राप्त होता हुआ शुद्ध होता है। जिस सूर्य को सन्ध्या अवस्था प्राप्त नहीं हुई है उसके अन्धकार प्रकट नहीं होता है।

सही सही आगम का भवि जब चिंतन मंथन करता है।
अशुभ असंयम तज शुभ संयम प्रथम यथाविधि धरता है॥
फिर बनता वह विशुद्धतम है सकल कर्म-मल धुलता है।
उचित रहा रवि प्रभात से जब मिलता फिर तम टलता है ॥१२२॥

अशुभादित्यादि। अयं आराधकः। आगमात् आगमज्ञाने सम्यगभ्यसात्। इत्यत्रागमाभ्यासो हेतुत्वेनावसेयः। 'हेतौ च' इति पञ्चमी। अशुभात् मनोवाक्काय-पापयोगात्। शुभं पापनिर्जरापुरस्सर-पुण्यादानहेतुकं मनोवाक्काययोगत्रयम्। आयातः प्राप्तः आश्रयति। अशुभयोगं परित्यज्य शुभमादत्ते। पश्चात् किम्? शुद्धः स्यात् शुभाशुभ-योगप्रयोगाप्रयोगी शुद्धोपयोगी। एष एव क्रमः शुद्धप्राप्तेः। अशुभाच्छुभे प्रवर्तनं व्यवहारचारित्रम्। शुभाच्छुद्धे संलग्नं निश्चयचारित्रम्। तदेव वीतरागचारित्रं वीतराग-सम्यग्दर्शनाविनाभावि निगद्यते तत्र शुभरागादिविकल्पाभावात्। एषः शुद्धरूपो दृष्टान्तेन प्रबोधयति–अप्राप्तसन्ध्यस्य रवेः तमसः समुद्गमो न यथा स्यात्तथा अप्राप्तशुभस्य शुद्धोपयोगिनो मोहरागादीनामिति। अत्र रात्रिकालोऽशुभस्थानीयः, अस्तप्रभातवेला सरक्तिमा शुभा; प्रचण्डमार्तण्डप्रभामयः शुद्धरूपो विज्ञेयः। यावद् भ्रमणपरिगतो गगनमणिर्गगनपथि सायंकालीनसन्ध्यानुरागाद्विरक्तस्तावदेव विरक्तः। सन्ध्याप्राप्तौ तिमिरप्रवेशः सानुरक्तता चावश्यंभाविनी। अतः शुद्धयोगे विश्रमणाय व्याख्यानमेतत्। शुभशुद्धयोगा-यागमाभ्यासे चेष्टा हि ज्येष्ठा। यदुक्तम्–

''एयग्गगदो समणो एयग्गं णिच्छिदस्स अत्थेसु।
णिच्छित्ती आगमदो आगमचेट्ठा तदो जेट्ठा॥''

अक्रमेणाचरणं रोगोपचारेण विना शक्तिवर्धकपेयपानमिवानर्थकरमिति। अनुष्टुप्छन्दः॥१२२॥

टीकार्थ–आगम का अभ्यास हेतु है। मन, वचन, काय के पाप योग–अशुभ हैं। पाप की निर्जरापूर्वक पुण्य का ग्रहण करने में हेतुभूत मन, वचन, काय के तीनों योग–शुभ हैं। आगमज्ञान के अभ्यास से जीव अशुभ से बचकर शुभ का आश्रय लेता है। बाद में वही जीव शुद्ध होता है। शुभ, अशुभ योग का प्रयोग करने में नहीं जुड़ने वाला आत्मा शुद्धोपयोगी है। यही शुद्ध की प्राप्ति का क्रम है। अशुभ से शुभ में प्रवर्तन करना व्यवहारचारित्र है। शुभ से शुद्ध में लगना निश्चयचारित्र है। निश्चयचारित्र ही वीतरागचारित्र है। वीतरागचारित्र वीतराग सम्यग्दर्शन का अविनाभावी कहा जाता है क्योंकि उसमें शुभ राग आदि के विकल्प का अभाव है। यह शुद्धरूप को दृष्टान्त से समझाते हैं–

संध्याकाल को नहीं प्राप्त हुए सूर्य को जैसे अन्धकार का उद्गम नहीं होता है वैसे ही शुभ को प्राप्त नहीं करने वाले शुद्धोपयोगी को मोह, राग आदि का उदय नहीं होता है।

यहाँ दृष्टान्त में रात्रिकाल अशुभ योग के समान जानना। अस्त समय या उदय समय की प्रभात बेला जो कुछ लालिमा लिये रहती है वह संध्या समय को नहीं प्राप्त हुआ सूर्य शुभ योग में जानना। प्रचण्ड सूर्य की प्रभा का होना शुद्धरूप जानना।

जब तक भ्रमण करता हुआ सूर्य आकाश मार्ग में सायंकालीन संध्या के अनुराग से दूर है तभी तक वह विरक्त (लालिमा रहित) है। संध्या प्राप्त होने पर अन्धकार का प्रवेश और अनुराग (लालिमा) से सहित सूर्य अवश्य हो जाता है। इसलिए शुद्धोपयोग में विश्राम के लिए यह व्याख्यान है। शुभ और शुद्ध योग के लिए आगम के अभ्यास में चेष्टा करना ही बहुत बड़ा कार्य है। कहा भी है–

शुद्धोपयोगेऽवस्थातुमशक्तस्य शुभोपयोगे प्रवृत्तिरप्रतिषिद्धा स्यादित्याह–

(अनुष्टुप्)

विधूततमसो रागस्तपः श्रुतनिबन्धनः।
सन्ध्याराग इवार्कस्य जन्तोरभ्युदयाय सः ॥१२३॥

अन्वयः—जन्तोः विधूततमसः सः रागः तपःश्रुतनिबन्धनः अर्कस्य सन्ध्यारागः इव अभ्युदयाय।

विधूतेत्यादि। जन्तोः शुद्धोपयोगाच्छुभोपयोगे समागतस्य। कथम्भूतस्य? विधूततमसः शुद्धोपयोगे विहरमाणस्य मोहरागादितमोऽनुपलब्धेः। विधूतं विनष्टं तमोऽन्धकारमज्ञानं मोहरागात्मकं वा येन तस्य। सः रागो लालिमा सरागचर्या वा। कथम्भूतः? तपःश्रुतनिबन्धनः अनशनादितपःशास्त्राध्ययनसम्बद्धः। श्रुते प्रवृत्तिदर्शनात् सरागत्वं युक्तं भाति; कथं पुनस्तपोविधान इति चेन्न; सदृशकारणत्वात्। यथा श्रुते प्रवृत्तिर्दृश्यते

''एकाग्रता को प्राप्त श्रमण ही श्रमण है। वह एकाग्रता पदार्थों में निश्चय से आती है। वह निश्चितपना आगम से आता है इसलिए आगम में चेष्टा करना श्रेष्ठ है।'' इसके अलावा अक्रम से आचरण करना रोग का उपचार किए बिना शक्तिवर्धक पेय (टॉनिक) को पीने की तरह अनर्थकारी है। यहाँ अनुष्टुप् छन्द है ॥१२२॥

उत्थानिका—शुद्धोपयोग में ठहरने के लिए असमर्थ पुरुष को शुभोपयोग में प्रवृत्ति करना निषिद्ध नहीं है, यह कहते हैं–

अन्वयार्थ–(जन्तोः) जीव के **(विधूततमसः)** जो अन्धकार को दूर कर चुका है उसका **(सः)** वह **(रागः)** राग जो **(तपः श्रुतनिबन्धनः)** तप और श्रुत से सहित है **(अर्कस्य)** सूर्य के **(संध्यारागः इव)** संध्या राग की तरह **(अभ्युदयाय)** वैभव के लिए है।

अर्थ—अज्ञान अन्धकार को दूर करने वाले प्राणी को तप, श्रुत सम्बन्धी राग, सूर्य के संध्या राग की तरह, अभ्युदय के लिए होता है।

टीकार्थ—यहाँ उस जीव की विवक्षा है जो शुद्धोपयोग से शुभोपयोग में आया है। शुद्धोपयोग में विहार करने वाले जीव को मोह, राग आदि अन्धकार नहीं रहता है। तम का अर्थ सूर्य के पक्ष में अन्धकार है और श्रमण के पक्ष में अज्ञान अथवा मोह, रागात्मक परिणति है। वह राग सूर्य के पक्ष में लालिमा और श्रमण के पक्ष में सराग चर्या है। श्रमण का वह राग अनशन आदि तप में और शास्त्र अध्ययन से सम्बद्ध रहता है।

विषय राग को मिटा रहा है तप श्रुति में अनुराग हुवा।
भविक-जनों का भाग्य खुला है सुख का ही अनुभाग हुवा ॥
प्रभात में जब बाल भानु की कोमल हलकी सी लाली।
अणु-अणु कण-कण खुलते खिलते, खिलती जग जीवन डाली॥१२३॥

तथा तपसि चापि। ध्यानातिरिक्तानि सर्वाणि तपांसि प्रवृत्तिमौख्यानि। ध्यानेऽपि सविकल्पध्यानं सरागात्मकम्। ततः तपसि सम्बद्धता सरागात्मिका युक्तैव। तत्र दृष्टान्तः–अर्कस्य सूर्यस्य। सन्ध्यारागः सन्ध्याकाललालिमा। इवोपमायाम्। अभ्युदयाय सर्वजनानुरागाय। रागदानादुदयंगतेऽस्तंगते वा भास्करे दर्शनानुरागोऽशेषाणां स्यात्। मध्याह्नकाले तपति तपने कोऽपि न द्रष्टुमुत्सहते तापप्रदानात् । तथैव शुभयोगे प्रवृत्तिः सहजा, शुद्धयोगे तु दुष्करा। शुभोपयोगस्य मुख्यफलं देवासुरमनुजराजवैभवं जनानुरागकरमभ्युदय-रूपमुपवर्णितं यत्तदपि युक्तं परम्पराकारणान्निर्वाणस्य तस्येति। अनुष्टुप्छन्दः ॥१२३॥

शुद्धोपयोगमुत्सृज्याशुभोपयोगे वृत्तिर्निषिद्धा सर्वथैवेत्याह–

विहाय व्याप्तमालोकं पुरस्कृत्य पुनस्तमः।
रविवद्रागमागच्छन् पातालतलमृच्छति ॥१२४॥

शंका—श्रुत में प्रवृत्ति देखी जाती है अर्थात् शास्त्र अध्ययन के काल में मन, वचन, काय की चेष्टाएँ होती हैं इसलिए शास्त्र अध्ययन को सरागपना कहना तो उचित लगता है किन्तु तप करने में सरागपना कैसा ?

समाधान—ऐसा नहीं है, श्रुत और तप दोनों में कारण समान है। जैसे श्रुत में प्रवृत्ति देखी जाती है उसी प्रकार तप में भी प्रवृत्ति देखी जाती है। ध्यान के अलावा सभी तप प्रवृत्ति की मुख्यता वाले हैं। ध्यान में भी सविकल्प ध्यान सरागात्मक है। इसलिए तप में लगना भी सराग रूप प्रवृत्ति है, यह ठीक ही कहा है। यहाँ सूर्य का दृष्टान्त है। जैसे सूर्य की संध्याकाल की लालिमा सभी जनों के अनुराग के लिए होती है। सूर्य के उदय समय में या अस्त समय में लालिमा (राग) होने के कारण ही सूर्य को देखने का अनुराग सभी लोगों को होता है। मध्याह्न समय में जब सूर्य तपता है तो कोई भी उसे देखने के लिए उत्साहित नहीं होता है क्योंकि वह उस समय ताप प्रदान करता है। इसी प्रकार शुभोपयोग में प्रवृत्ति सहज होती है और शुद्धोपयोग में दुष्कर होती है। तात्पर्य यह है कि शुभोपयोग में श्रमण रागसहित होता है तो अन्य लोगों को वह रागात्मक प्रवृत्ति अच्छी लगती है। शुभोपयोगी को देखने का राग सभी को होता है। शुद्धोपयोग प्राप्त करना भी कठिन है और शुद्धोपयोगी का दर्शन भी प्रत्येक व्यक्ति करने का उत्साह नहीं रखता है।

शुभोपयोग का मुख्य फल देवेन्द्र, असुरेन्द्र और मनुष्यों में इन्द्र (चक्रवर्ती) का वैभव प्राप्त करना है। जो लोगों को अनुराग पैदा करने वाला है। इसी वैभव को अभ्युदय कहा जाता है। वह शुभोपयोग भी उचित है क्योंकि निर्वाण प्राप्त करने के लिए वह परम्परा कारण है। यहाँ अनुष्टुप् छन्द है ॥१२३॥

तत्त्वज्ञान आलोक त्याग यदि विषय राग में रमन करो।
रवरव नारक निगोद आदिक गतियों में गिर भ्रमण करो ॥
संध्या की लाली को छूता सघन निशा सम्मुख करके।
प्रखर प्रभा तज, जाय रसातल दिनकर नीचे मुख करके ॥१२४॥

अन्वयः—व्याप्तं आलोकं विहाय पुनः तमः पुरस्कृत्य रविवत् रागं आगच्छन् पातालतलं ऋच्छति।

विहायेत्यादि। व्याप्तं जगद्व्यापि। आलोकं प्रकाशम् । विहाय परित्यज्य। पुनः तथा। तमः अन्धकारं घोरम्। पुरस्कृत्य अग्रे कृत्वा। रविवत् सूर्यवत्। रागं लालिमानम्। आगच्छन् दधानः। पातालतलं अस्तङ्गतक्षेत्रम्। ऋच्छति गच्छति। ''ऋ प्रापणे'' इत्यस्मद्धोः ''अर्ते ऋच्छः'' इत्यनेन ऋच्छादेशः। अस्तङ्गतस्य रवेर्वर्णनमेतत्। तत्कथमवसीयते? तमः पुरस्कृत्य पातालतलमृच्छतीति वचनेनैव। न चोदयाचले समागते सूर्ये तमोऽग्रे वर्तनं पाताललोकगमनमस्ति। अर्थान्तरेणा-शुभोपयोगस्य फलं नरकपतनरूप-पाताललोकमज्ञान-तिमिरात्मकं भवतीत्युक्तम्।

''असुहोदयेण आदा कुणरो तिरियो भवीय णेरइयो।
दुक्खसहस्सेहिं सदा अभिंदुदो भमदि अच्चंतं ॥''

इति वचनात्। अनुष्टुप्छन्दः ॥१२४॥

अथ तेषां शुभशुद्धोपयोगद्वये प्रवर्त्तमानानां मुनीनां मोक्षावाप्ति र्निरुपद्रवेति दर्शयन्नाह–

उत्थानिका—शुद्धोपयोग को छोड़कर अशुभोपयोग में प्रवृत्ति तो सर्वथा निषिद्ध है, यह कहते हैं–

अन्वयार्थ—(व्याप्तं) फैले हुए **(आलोकं)** प्रकाश को **(विहाय)** छोड़कर **(पुनः)** फिर **(तमः)** अन्धकार को **(पुरस्कृत्य)** आगे करके **(रविवत्)** सूर्य के समान **(रागं)** राग, लालिमा को **(आगच्छन्)** प्राप्त करता हुआ **(पातालतलं)** पाताल लोक को **(ऋच्छति)** चला जाता है।

अर्थ—व्याप्त आलोक को छोड़कर फिर अन्धकार को आगे करके रवि के समान राग को प्राप्त हुआ पाताल तल को चला जाता है।

टीकार्थ–यह अस्त होते हुए सूर्य का वर्णन है। सूर्य जब अस्तंगत होता है तो उससे पहले दोपहर में जो प्रकाश उसने संसार में फैलाया था, उस प्रकाश को छोड़कर अपने आगे अन्धकार को कर लेता है। इसी प्रकार यदि कोई श्रमण शुद्धोपयोग के आत्मव्यापी प्रकाश को छोड़कर अशुभोपयोग के घोर अन्धकार को आगे कर लेता है, तो वह सूर्य के समान राग–लालिमा को धारण करता हुआ पाताल तल में चला जाता है।

शंका—यहाँ पर अस्ताचल के सूर्य का वर्णन है, यह कैसे जाना ?

समाधान—अन्धकार सामने है और वह पाताल तल में जा रहा है, इसी वचन से जाना जाता है। दूसरी बात यह है कि उदयाचल के सूर्य के सामने अन्धकार और उसका पाताल लोक में गमन नहीं होता है। अर्थान्तर से यहाँ अशुभोपयोग का फल कहा है, जो नरक–पतनरूप पाताल–लोक तथा अज्ञान अन्धकाररूप है। कहा भी है–''अशुभोपयोग से आत्मा कुनर, तिर्यञ्च तथा नारकी होता है। हजारों दुःखों से सदा पीड़ित हुआ वह बहुत काल तक भ्रमण करता है।'' यहाँ अनुष्टुप् छन्द है ॥१२४॥

उत्थानिका—शुभोपयोग और शुद्धोपयोग में प्रवर्तमान मुनियों को मोक्ष की प्राप्ति होती है, सो कहते हैं–

(शार्दूलविक्रीडित)

ज्ञानं यत्र पुरःसरं सहचरी लज्जा तपः सम्बलं
चारित्रं शिविका निवेशनभुवः स्वर्गा गुणा रक्षकाः।
पन्थाश्च प्रगुणः शमाम्बुबहुलश्छाया दयाभावना
यानं तं मुनिमापयेदभिमतं स्थानं विना विप्लवैः ॥१२५॥

अन्वयः—यानं यत्र ज्ञानं पुरःसरं, लज्जा सहचरी, तपः सम्बलं, चारित्रं शिविका, स्वर्गाः निवेशनभुवः, गुणा रक्षकाः, च पन्थाः प्रगुणः शमाम्बुबहुलः, दयाभावना छाया, तं मुनिं अभिमतं स्थानं विप्लवैः विना आपयेत्।

ज्ञानमित्यादि। यानं यात्राकर्तृ विमानवत्। यत्र यात्रायाम्। ज्ञानं पुरःसरं पथप्रदर्शकम्। पुरोऽग्रे सरतीति पुरस्सरस्तम्। लज्जा मर्यादा । सहचरी सखी स्त्री वा। तपः इच्छानिरोधलक्षणः। सम्बलं समीचीनं बलं शक्तिः। चारित्रं व्यवहारनिश्चयरूपं । शिबिका पालकी। स्वर्गाः सौधर्मादयः। निवेशनभुवः विश्राम-गृहाः। गुणाः उत्तमक्षमादयः। रक्षकाः अंगरक्षोपमानाः। च तथा। पन्थाः मार्गाः। प्रगुणः ऋजुः प्राञ्जलं

अन्वयार्थ—(यानं) विमान **(यत्र)** जिसमें **(ज्ञानं)** ज्ञान **(पुरःसरं)** आगे चलने वाला है **(लज्जा)** लज्जा **(सहचरी)** साथ चलने वाली है **(तपः)** तपस्या **(सम्बलम्)** सहारा है **(चारित्रं)** चारित्र **(शिविका)** पालकी है **(स्वर्गाः)** स्वर्ग **(निवेशनभुवः)** ठहरने के स्थान हैं **(गुणाः)** गुण **(रक्षकाः)** रक्षक हैं **(च)** और **(पन्थाः)** मार्ग **(प्रगुणः)** सीधा और **(शमाम्बुबहुलः)** शम जल की बहुलता लिये है **(दयाभावना)** करुणा भाव **(छाया)** छाया है **(तं मुनिं)** उसी यानी उस मुनि को **(अभिमतं)** इष्ट **(स्थानं)** स्थान पर **(विप्लवैः)** उपद्रव के **(बिना)** बिना **(आपयेत्)** पहुँचा देता है।

अर्थ—जहाँ ज्ञान आगे चलने वाला हो, लज्जा सहचरी हो, तप संबल हो, चारित्र शिविका हो, स्वर्ग मार्ग के विश्राम गृह हों, गुणरक्षक हों, मार्ग सीधा हो और उपशमरूपी जल की बहुलता वाला हो, दया भावना छाया हो, वह यान बिना कष्ट के मुनि को अभिमत स्थान प्राप्त करा देता है।

टीकार्थ—जो यात्रा कराने वाला है वह विमान के समान है, वह यान है। यात्रा में ज्ञान पथप्रदर्शक है। जो आगे-आगे चलता है और रास्ता दिखाता है, वह ज्ञान ही है। लज्जा का अर्थ मर्यादा में रहना है। यह लज्जा ही सहचरी है, जो साथ-साथ चलती है। इच्छा को रोकना ही जिसका लक्षण है, वह तप है। वह तप ही जहाँ पर समीचीन बल है। व्यवहार और निश्चयरूप चारित्र ही ऊपर उठाकर ले जाने वाली पालकी है। सौधर्म आदि स्वर्ग ही यात्रा के पड़ाव गृह हैं। उत्तमक्षमा आदि गुण अंगरक्षक

चरित पालकी पड़ाव समुचित स्वर्ग रहा गुण रक्षक हैं।
तप संबल है सहचर-लज्जा ज्ञान रहा पथ-दर्शक है॥
सरल पंथ शम जल से सिंचित दया भाव ही छाँव रही।
बाधा बिन यह यात्रा मुनि को पहुँचाती शिव गाँव सही ॥१२५॥

मायारहितः इत्यर्थः। पुनश्च कथम्भूतः? शमाम्बुबहुलः उपशमभावशिशिरप्रधानः खेदापसारित्वात्। दयाभावना कारूण्यपरता। छाया धर्मवृक्षस्यातपत्रम्। तं एवंविधसामग्रीसहितम्। मुनिं श्रमणम्। अभिमतं स्थानं इष्टास्पदम्। विप्लवैः विना निरुपद्रवेण। आपयेत् प्राप्तिं भवेत्। सामस्तेन चतुर्विधाराधनास्वरूपमेतत्। 'आप्लृलम्भने' वि० लि०। शार्दूलविक्रीडितवृत्तम् ॥१२५॥

इदानीं मोक्षमार्गस्य विप्लवभूतसामग्रीं प्रतिपादयन्नाह–

(शार्दूलविक्रीडित)

मिथ्या दृष्टिविषान् वदन्ति फणिनो दृष्टं तदा सुस्फुटं
यासामर्धविलोकनैरपि जगद् दन्दह्यते सर्वतः।
तास्त्वय्येव विलोमवर्तिनि भृशं भ्राम्यन्ति बद्धक्रुधः
स्त्रीरूपेण विषं हि केवलमतस्तद् गोचरं मास्म गाः ॥१२६॥

अन्वयः—फणिनः दृष्टिविषान् वदन्ति (तत्) मिथ्या, यासां अर्धविलोकनैः अपि जगत् सर्वतः दंदह्यते तदा दृष्टं सुस्फुटं ताः बद्धक्रुधः त्वयि विलोमवर्तिनि एव भृशं भ्राम्यन्ति अतः स्त्रीरूपेण केवलं विषं हि तद् गोचरं मा स्म गाः।

के समान रक्षक हैं। यह मार्ग मायाचार से रहित सीधा सरल है। इस मार्ग में उपशम भावनाओं की ठण्डक निरन्तर बनी रहती है क्योंकि खेद, श्रम दूर होता रहता है। इस धर्म वृक्ष की छाया करुणा में तत्पर होना है। इसप्रकार की सामग्री के साथ रहने वाले श्रमण को उपद्रव के बिना यह यान अपने इष्ट स्थान पर पहुँचा देता है। यह पूर्णरूप से चारों प्रकार की आराधना का स्वरूप है। यहाँ शार्दूलविक्रीडित छन्द है ॥१२५॥

उत्थानिका—अब यहाँ मोक्षमार्ग में विप्लव उत्पन्न करने वाली सामग्री का प्रतिपादन करते हैं–

अन्वयार्थ—लोग **(फणिनः)** सर्पों को **(दृष्टिविषान्)** दृष्टि में विष रखने वाले **(वदन्ति)** कहते हैं **(मिथ्या)** यह झूठ है। **(यासां)** जिनकी **(अर्धविलोकनैः)** अर्ध अवलोकन दृष्टि से **(अपि जगत् सर्वतः दंदह्यते)** भी सारा जगत् बहुत जलता है **(तदा)** तब **(दृष्टं)** देखा **(सुस्फुटं)** स्पष्टरूप से कि **(ताः)** वे स्त्रियाँ **(बद्धक्रुधः)** क्रोध बाँधे हुए **(त्वयि)** तुम्हारे **(विलोमवर्तिनि)** प्रतिकूल हो जाने पर **(एव)** ही **(भृशं)** अत्यधिक **(भ्राम्यन्ति)** भ्रमण करती रहती हैं **(अतः)** इसलिए **(स्त्रीरूपेण)** स्त्रीरूप से **(केवलं)** केवल **(विषं)** जहर **(हि)** ही है **(तद्गोचरं)** उसके गोचर **(मा स्म गाः)** मत होओ।

नाग दृष्टि विष ना, पर नारी रही दृष्टि विष दुरित मही।
जिसके पल भर ही लखने से ही धू-धू जलता जगत सभी।
विलोम उनके तुम हो जिससे क्रुद्ध भटकती विवश सभी।
स्त्री के मिष विष वे उनके वश हो न वशी बस निमिष कभी ॥१२६॥

मिथ्येत्यादि । फणिनः फणवतः सर्पान् । दृष्टिविषान् दृष्टिविषजातिनामसर्पान्। दृष्टौ विषं येषां ते दृष्टिविषास्तान्। वीक्षणमात्रेण येषां विषयुक्ता भवन्ति मनुजास्ते दृष्टिविषाः कथ्यन्ते। एतन्नामधारिणी ऋद्धिरपि वर्त्तते तपःप्राप्तमुनीनाम्। 'णमो दिट्ठिविसाणं' इति गणधरवलयपाठात्। वदन्ति ये कथयन्ति। तत् किम्? मिथ्या असत्यं प्रलपन्तीत्यर्थः। कथं तन्मिथ्येति कारणमाह–यासां श्यामाङ्गीनाम्। अर्धविलोकनैः कटाक्षेक्षणैः। अपि सम्भावनायाम्। जगत् जगज्जनः। जननामाधारत्वाज्जगदेवाधाराधेयसम्बन्धात्तथोच्यते। सर्वतः सर्वप्रकारेण। दन्दह्यते भृशं पौनःपुन्यं वा दहति। 'दह भस्मीरणे' इति धोः चेक्रीयितसंज्ञका क्रिया। तदा तत्र तासामर्धविलोकनैः। दृष्टं दृष्टिविषत्वं वीक्षितम्। सुस्फुटं स्पष्टतया। ताः स्त्रियः। कथम्भूताः बद्धक्रुधः सञ्जातकोपाः। बद्धो निबद्धः क्रुध् क्रोधः याभिस्ताः। कुत्र? त्वयि प्रगृहीतदीक्षाचारिणि। कथम्भूते? विलोमवर्तिनि प्रतिकूलाचरणपरे। विलोमेन वैपरीत्येन वर्त्तत इत्येवं शीलमस्य तत्तथोक्तं तस्मिन्। ब्रह्मचर्यमहाव्रतधारिणस्तासां रूपं न विलोकयन्ति; अथ दृष्टे, न तासामर्धविलोकनैः पीडिता भवन्ति तेन कारणेन दृष्टि–विकाराणां विषशराणां निष्फलत्वमेव कोपकारणम्। एवावधारणे। भृशमत्यर्थम्। भ्राम्यन्ति व्याकुलीभूत्वा विचरन्ति। अतः अस्मात् कारणात्। स्त्रीरूपेण स्त्रीयोनिभेषेण। केवलं विषं हालाहलमात्रं सद्यो प्राणापहारकारणत्वात्। हि निश्चयेन। तद्गोचरं तद्विषयभूतम्। मास्म गाः मा भवेदित्यर्थः। ''सस्मे

अर्थ–सर्पों को दृष्टिविष कहते हैं फिर भी स्पष्टरूप से देखने में यह आता है कि जिनके कटाक्षों से संसार सब ओर से जल रहा है वे स्त्रियाँ ही मुझे विपरीत हो जाने पर क्रोध बाँध कर बहुत अधिक भ्रमण कर रही हैं। इसलिए विष केवल स्त्रीरूप ही है, इसलिए उनके विषय मत बनो।

टीकार्थ–फण वाले सर्पों को दृष्टिविष जाति के नाम वाले सर्प कहा जाता है। जिनकी दृष्टि में विष रहता है वे दृष्टिविष हैं। जिनके देखने मात्र से मनुष्य विष सहित हो जाते हैं वे दृष्टिविष कहे जाते हैं। इस नाम को धारण करने वाली एक ऋद्धि भी होती है जो तप धारण करने वाले मुनियों के पास होती है। **'णमो दिट्ठिविसाणं'** ''दृष्टिविषधारी श्रमणों को नमस्कार हो'', ऐसा गणधर–वलय का पाठ है। सर्पों को दृष्टिविष कहना असत्य है। संसार का अर्थ संसारी जीवों से हैं। यह संसार जल रहा है इसका अर्थ यही है कि संसारीजीव जल रहे हैं। चूँकि जीवों का आधार यह संसार है इसलिए संसार और संसारी जीवों में आधार–आधेय सम्बन्ध है। जिन श्यामांगियों के कटाक्षों से सब प्रकार से बार–बार संसारी जीव जल रहे हैं, इससे स्पष्टरूप से समझ आता है कि स्त्रियों का कटाक्ष अवलोकन ही दृष्टिविष है।

हे श्रमण! तुमने दीक्षा ग्रहण करके उनके प्रतिकूल आचरण किया है। ब्रह्मचर्य व्रत को धारण करने वाले उनके रूप को नहीं देखते हैं और अगर दिख भी जाय तो उनके कटाक्षों से कभी पीड़ित नहीं होते हैं। इसी कारण से दृष्टि का विकार ही विषबाण है। ये विषबाण तुम्हारे लिए निष्फल होते हैं इसलिए उन स्त्रियों को कोप उत्पन्न होता है। इस क्रोध को धारण करके वे व्याकुल होकर विचरण करती हैं। इसलिए वस्तुतः यह स्त्रीरूप ही विष है, हलाहल है, क्योंकि शीघ्र ही मनःप्राण का अपहरण करता

लङ् च'' इति सस्मे माङि वाचि 'इण् गतौ' इत्यस्माद्धोर्लुङ् । ''लुङ् लुङ् ऌङ् यट्'' 'न माङ्योगे' इति अडागमप्रतिषेधो लुङि। शार्दूलविक्रीडितम् ॥१२६॥

भुजङ्गाधिकदुःखप्रदायिनी वनिताप्रणयरीतिरिति प्रस्तौति–

(शार्दूलविक्रीडित)

क्रुद्धाः प्राणहरा भवन्ति भुजगा दष्ट्वैव काले क्वचित्
तेषामौषधयश्च सन्ति बहवः सद्यो विषव्युच्छिदः।
हन्युः स्त्रीभुजगाः पुरेह च मुहुः क्रुद्धाः प्रसन्नास्तथा
योगीन्द्रानपि तान् निरौषधविषा दृष्टाश्च दृष्ट्वापि च ॥१२७॥

अन्वयः—क्रुद्धाः भुजगाः क्वचित् काले दष्ट्वा एव प्राणहराः भवन्ति तेषां सद्यः विषव्युच्छिदः औषधयः बहवः सन्ति च स्त्रीभुजगाः निरौषधविषाः क्रुद्धाः तथा प्रसन्नाः पुरा च इह मुहुः तान् योगीन्द्रान् अपि दृष्ट्वा अपि च दृष्टाः च हन्युः।

क्रुद्धा इत्यादि। क्रुद्धाः कोपं प्राप्ताः। भुजगाः सर्पाः। क्वचित् काले येन केनचिदवसरे। दष्ट्वा

है। यहाँ शार्दूलविक्रीडित छन्द है ॥१२६॥

उत्थानिका—सर्प से भी अधिक दुःख देने वाली स्त्रियों की स्नेहरीति है, यह कहते हैं–

अन्वयार्थ—(क्रुद्धाः) क्रोधित हुए **(भुजगाः)** सर्प **(क्वचित् काले)** किसी समय **(दष्ट्वा एव)** डस कर ही **(प्राणहराः)** प्राण हरने वाले **(भवन्ति)** होते हैं। **(तेषां)** उनकी **(सद्यः)** शीघ्र **(विषव्युच्छिदः)** विष विनाशक **(औषधयः)** औषधियाँ **(बहवः)** बहुत **(सन्ति)** हैं **(च)** और **(स्त्रीभुजगाः)** स्त्रीरूपी सर्प **(निरौषधविषाः)** ऐसे हैं जिनके विष की औषधि नहीं है **(क्रुद्धाः)** क्रोधित हुई **(तथा)** तथा **(प्रसन्नाः)** प्रसन्न हुई वे स्त्रियाँ **(पुरा)** पर लोक में **(च)** और **(इह)** इस लोक में **(मुहुः)** बारबार **(तान्)** उन **(योगीन्द्रान्)** योगीन्द्रों को **(अपि)** भी **(दृष्ट्वा)** देखकर **(अपि च)** और **(दृष्टाः)** देखी जाने पर भी **(हन्युः)** घात करती है।

अर्थ—सर्प तो किसी समय क्रुद्ध होते हुए डसकर ही प्राण लेते हैं। सर्पों के विष को शीघ्र नाश करने वाली बहुत औषधियाँ हैं। स्त्रीरूप भुजंग तो आगे और यहाँ भी बार-बार मारने वाले ही हैं, चाहे वे क्रुद्ध रहें या प्रसन्न हों। उसी प्रकार उन योगीन्द्रों को भी मारती हैं। उनका विष देखने पर भी अथवा डसने पर भी चढ़ता है और उसकी कोई औषधि नहीं है।

टीकार्थ–क्रोध को प्राप्त सर्प जिस किसी अवसर पर अन्य जीव को अपने विषैले दाँतों से

कभी क्रुद्ध हो नाग काट कर प्राण हरे पर सदा नहीं।
लो औषध भी बहु मिलती झट विष हरती है सुधामयी ॥
किन्तु क्रुद्ध या प्रसन्न रह भी ''दिखी देख'' सबको मारे।
जिस पर औषध नहिं स्त्री-नागिन से योगी भी भय धारे ॥१२७॥

विषदन्तेन मुखमवाप्य। एवावधारणे। प्राणहराः प्राणविनाशकाः। भवन्ति। तेषां दशनदष्टानाम्। सद्यः शीघ्रमेव। विषव्युच्छिदः विषविनाशकाः। औषधयः भैषज–विशेषाः। बहवः अरण्यमूलादिरूपाः सन्ति। च तथा। स्त्रीभुजगाः स्त्रीरूपसर्पिण्यः। कथम्भूताः? निरौषधविषाः औषधरहितविषाः। यासां दष्टेविषाप्ते औषधयो न सन्ति तथाभूतास्ताः। तासां द्वयी दशा भवति तत्र प्रथमा। क्रुद्धाः कुपिताः असन्तुष्टा वा। तथा द्वितीया। प्रसन्नाः सन्तुष्टा मोहिता वा। पुरा आगामिभवे। च इह मुहुः अस्मिन् भवे बारम्बारम्। तान् योगीन्द्रान् मनोहृषीकविषयान् विजित्या मूर्तातीन्द्रियलोके विचरणशीलान्। अपि विस्मये। योगीन्द्रानपि अन्येषां क्षुद्राणां का कथा। दृष्ट्वा विलोक्य। अपि च तथा। दृष्टाः योगीन्द्रैरवलोकिताः। च समुच्चये। हन्युः मारयेयुः। 'हन हिंसागत्योः' इत्यस्मद्धोर्वि॰ लि॰ बहुवचनान्तम्। अत्र स्त्रीसर्पिण्यां त्रयी वार्ता विद्यते। तत्र प्रथमा भुजगाः क्वचित्काले एवाक्रामन्ति स्त्रीसर्पिण्यो यौवनादायुःपर्यन्तमिति। विषसर्पेण दंशिते वैद्याश्चौषधयश्च विद्यन्ते स्त्रीसर्पेण नेति द्वितीया। कुपिता भुजगा इहैव प्राणानपहरन्ति स्त्रियस्तु कुपिता अकुपिता वा इहैव मुहुर्मुहुरन्यजन्मनि वा दुःखहेतुत्वादिति तृतीया। तत्र कुपिता महाकालीव रुद्राणी भवति यथा यशोधर–महाराजस्य राज्ञी। अकुपिताः स्मितहावतरलैर्दृष्टिकटाक्षैः सम्मोहयन्ति; ततस्ते दर्शन–मात्राभिलाषिणो भावविलासान् सततं संस्मरन्तो दर्शयितुमिच्छत्ति। पुनः पुनो दर्शनमात्रेणासन्तुष्टास्तासां परिष्वङ्गक्षणं प्रतीच्छन्ति। उत्तरोत्तरविवर्धितज्वरा इव तत्राप्यतोषा रतमीप्सन्ति। रम्यमाणास्तृषानुषङ्गात्र

काटकर प्राणों का नाश कर देते हैं। उनके दंश की अरण्यमूल आदि रूप विषविनाशक बहुत सी औषधियाँ हैं। स्त्रीरूप सर्पिणी औषधि रहित विष हैं। जिनका विष चढ़ जाने पर किसी प्रकार की औषधियाँ नहीं हैं। उन स्त्रियों की दशा दो प्रकार की है। पहली तो क्रोधित हुई अथवा असन्तुष्टि की दशा है। दूसरी सन्तुष्टि अथवा मोहित करने की दशा है। मन और इन्द्रियों को जीत कर अमूर्त, अतीन्द्रिय लोक में विचरण करने वाले, योगीन्द्रों को भी ये डस लेती है। यह बड़े विस्मय की बात है। जब बड़े–बड़े योगीन्द्रों की यह बात है तो अन्य क्षुद्र जीवों की क्या बात ? योगीन्द्रों को देखकर अथवा योगीन्द्रों के द्वारा देखे जाने पर मरण तो योगीन्द्रों का ही होता है। स्त्री सर्पिणी की यहाँ तीन प्रकार की वार्ता है। पहली तो यह कि–सर्प तो किसी अवसर पर ही आक्रमण करते हैं किन्तु स्त्रीरूपी सर्पिणी तो यौवन अवस्था से लेकर आयुपर्यन्त तक आक्रामक रहती है। दूसरी बात यह है कि–विषैले सर्प के डस लेने पर वैद्य और औषधि दोनों मिल जाते हैं किन्तु स्त्री सर्प से डसे जाने पर कुछ भी नहीं मिलता है। तीसरी बात यह है कि–कुपित सर्प तो इस लोक में ही प्राणों का घात करते हैं परन्तु स्त्री सर्प तो कुपित हों अथवा कुपित न हों वे तो इस जन्म में और बार–बार अन्य जन्मों में भी दुःख देती हैं। उसमें यदि कुपित है तो महाकाली के समान महाभयंकर हो जाती है जैसे यशोधर महाराज की रानी। यदि कुपित नहीं है तो मन्दहास, हाव–भाव, चंचल दृष्टि के कटाक्षों से संमोहित करती है। इसलिए वे पुरुष उन्हें देखने के अभिलाषी हो जाते हैं। उनके भाव विलास को निरन्तर देखने की इच्छा करते हैं। पुनः पुनः देखने मात्र से सन्तुष्ट नहीं होने पर उनसे आलिंगन के क्षण की प्रतीक्षा करते हैं। इस तरह उत्तरोत्तर बढ़ते हुए ज्वर की तरह वहाँ भी असन्तुष्ट हुए रमण करने की इच्छा करते हैं। रमण करने पर भी तृष्णा की वृद्धि

तुष्यन्ति। दीर्घश्वासैर्निःशक्तिका वार्धक्येऽपि न विरमन्तीति मरणादपि कष्टकरं रतिसौख्यं कामिनां सम्पीड्य सम्पीड्य सन्तापयति। रुद्रविश्वामित्रमाघनन्दिप्रभृतियोगीन्द्रा अपि पुराणाख्यातास्तासां दृष्टिमृगया बभूवुरिति। शार्दूलविक्रीडितवृत्तम् ॥१२७॥

अथ कामिनीकामा मुक्तिकामिनीं कामयन्तामित्यत्राह–

(शार्दूलविक्रीडित)

एतामुत्तमनायिकामभिजनावर्ज्यां जगत्प्रेयसीं
मुक्तिश्रीललनां गुणप्रणयिनीं गन्तुं तवेच्छा यदि।
तां त्वं संस्कुरु वर्जयान्यवनितावार्तामपि प्रस्फुटं
तस्यामेव रतिं तनुष्व नितरां प्रायेण सेर्ष्याः स्त्रियः ॥१२८॥

से सन्तुष्ट नहीं होते हैं। फिर भी मरण से भी ज्यादा कष्टकर रतिसुख से विरक्त नहीं होते हैं। इस तरह यह स्त्रीरूपी सर्पिणी कामी जीवों को खूब पीड़ित करके सन्ताप देती है। रुद्र, विश्वामित्र, माघनन्दि आदि बड़े-बड़े तपस्वी जो पुराणों में विख्यात हैं, इन्हीं स्त्रियों की दृष्टि के शिकार हुए हैं। यहाँ शार्दूलक्रीड़ित छन्द है ॥१२७॥

उत्थानिका–अब कामिनी को चाहने वाले मुक्तिकामिनी की चाह करें, यह कहते हैं–

अन्वयार्थ–(तव) तुम्हारी **(इच्छा)** अभिलाषा **(यदि)** यदि **(एतां)** इस **(उत्तमनायिकां)** उत्तमनायिका **(अभिजनावर्ज्यां)** कुलीन लोगों के लिए वरण करने वाली **(जगत्प्रेयसी)** जगत् की प्रेमिका **(गुणप्रणयिनीं)** गुणों से स्नेह करने वाली **(मुक्ति-श्री-ललनां)** मुक्तिलक्ष्मी रूपी स्त्री को **(गन्तुं)** प्राप्त करने की हो तो **(त्वं)** तुम उसको **(संस्कुरु)** संस्कारित करो **(अन्यवनिता-वार्तां)** अन्य स्त्री की **(तां)** बात **(अपि)** भी **(वर्जय)** दूर रखो। **(प्रस्फुटं)** स्पष्टरूप से **(तस्यां)** उसी स्त्री में **(एव)** ही **(रतिं)** राग को **(नितरां)** खूब **(तनुष्व)** बढ़ाओ। **(प्रायेण)** प्रायः **(स्त्रियः)** स्त्रियाँ **(सेर्ष्याः)** ईर्ष्या सहित होती हैं।

अर्थ–गुणों से प्रेम करने वाली, जगत् की प्रेयसी, सामान्य जनों के लिए वर्जित, उत्तम नायिका इस मुक्तिरूपी लक्ष्मी को पाने की यदि तुम्हारी इच्छा हो तो तुम अन्य स्त्री की वार्ता करना भी छोड़कर अच्छे ढंग से उसी का संस्कार करो। उसी मुक्ति स्त्री में ही अधिक रति का विस्तार करो क्योंकि स्त्रियाँ प्रायः ईर्ष्यालु होती हैं।

यदि चाहो यह मुक्ति रमा है कुलीन जन को मिलती है।
परम नायिका जन-जन प्रिय है गुण-बगिया में खिलती है॥
इसे सजा गुणगण से इसमें रम जाओ पर मत बोलो।
अन्य स्त्रियों से लगभग महिला ईर्षा करती, दृग खोलो ॥१२८॥

अन्वयः—तव इच्छा यदि एतां उत्तमनायिकां अभिजनावर्ज्यां जगत्प्रेयसीं गुणप्रणयिनीं मुक्तिश्री-ललनां गन्तुं (स्यात्) त्वं तां संस्कुरु अन्यवनितावार्तां अपि वर्जय प्रस्फुटं तस्यां एव रतिं नितरां तनुष्व प्रायेण स्त्रियः सेर्ष्याः (सन्ति)।

एतामित्यादि। तव भवतः अहो भव्यस्य। इच्छा वाञ्छा अभिलाषा कामना आशा इति यावत्। यदि एताम्। कथम्भूताम्? उत्तमनायिकां सर्वश्रेष्ठस्त्रीरूपाम्। किं विशिष्टाम्? अभिजनावर्ज्यां कुलीनजन-विशेषवाञ्छाशीलाम्। अभिजनाः श्रेष्ठकुलोत्पन्नाः तेषां तै र्वाऽवर्ज्या निवारणरहिता सा ताम्। ''अभिजनः कुले ख्यातौ कुलध्वजे'' इति वि० लो०। कुलीनयोग्या स्त्री मुक्तिरेव, मुक्तिः कुलीनमेव वृणीते वाऽन्या तु पृथग्जनायैव दुर्लभेति प्रागुक्तत्वात्। किंभूतां च? जगत्प्रेयसीं सर्वलोकप्रियतमाम्। तथा च किम्? गुणप्रणयिनीं गुणेषु प्रेमकारिणीम्। किमपराम्? मुक्तिश्रीललनां मुक्तिरूपसुन्दरवनिताम्। श्रीर्लक्ष्मीः शोभा वा। ''भजिश्रिञ् सेवायां'' इत्यनेन पुण्यवन्तं पुमांसं संश्रयतीति श्रीरुच्यते। अत्र शोभार्थे योज्या। श्रीश्चासौ ललना प्रियतमा स्त्री श्रीललना मुक्तिरेव श्रीललना मुक्तिश्रीललना ताम्। गन्तुं प्राप्तुं रमयितुं वा। स्यादिति शेषः। तर्हि इत्यपि शेषः। त्वं हे भव्य! तां असाधारणलक्षणाम्। संस्कुरु संस्कारं कुरु तदर्थं प्रयत्नं कुर्वित्यर्थः। अन्यवनितावार्तां अन्यवनितानां साधारणलक्षणानां नीचोच्चभेदेन विना सर्वासक्तानां वार्ता चर्चा ताम्। अपि निश्चयेन। वर्जय मा कुरु। तथा च किम्? प्रस्फुटं स्पष्टतया व्यक्तरूपेण वा। तस्यां मुक्तिश्री-ललनायाम्। एवावधारणार्थम्। रतिं प्राप्त्यर्थं वाञ्छाम्। नितरामत्यर्थम्। तनुष्व विस्तारं मननाध्यासन-वार्तादिना कुरुतात्। ''तनु विस्तारे'' इति लोट्। अन्यवनितावार्तारतिनिषेधकारणमाह-प्रायेण आधिक्येन। स्त्रियः गुणाच्छादन-शीलाः। सेर्ष्याः ईर्ष्यासहिताः। सन्ति इत्याध्याहार्यः। एकस्यां रतिं विदधानेऽन्या कुप्यतीर्ष्याभावात्। ततश्चायाति ये पुरा सिद्धिंगता भविष्यति च सिद्धिं गमिष्यन्ति ते नूनं दृश्यमान-

---

टीकार्थ—मुक्तिरूपी सुन्दर स्त्री सर्वश्रेष्ठ स्त्री है। यह स्त्री कुलीन पुरुषों की ही विशेषरूप से इच्छा करती है। जो श्रेष्ठ कुल में उत्पन्न हुए हैं वे कुलीन हैं। कुलीन पुरुषों के योग्य स्त्री मुक्ति ही है। वह मुक्ति स्त्री कुलीन जनों का ही वरण करती है, अन्य स्त्री तो सामान्य लोगों को ही दुर्लभ है। यह स्त्री सभी लोगों को प्रिय है। वह स्त्री गुणों में प्रेम करने वाली है। मुक्तिरूपी श्री (स्त्री) अर्थात् लक्ष्मी या शोभा वाली है। पुण्यवान जीव का आश्रय लेती है। इसलिए यह श्री कहलाती है। यहाँ पर श्री शोभा अर्थ में है। हे भव्य! तुम ऐसी असाधारण लक्षण वाली मुक्तिस्त्री की अभिलाषा करो। इच्छा, वाच्छा, अभिलाषा, कामना, आशा एकार्थवाची हैं। उसी मुक्तिस्त्री को प्राप्त करने के लिए प्रयत्न करो। साधारण लक्षण वाली अन्य स्त्रियाँ तो नीच उच्च कुल का भेद किए बिना सभी में आसक्त हो जाती हैं, इसलिए उनकी चर्चा भी मत करो। स्पष्टरूप से अथवा व्यक्तरूप से उसी मुक्तिश्री स्त्री की प्राप्ति के लिए अत्यधिक मनन, विचारणा, वार्ता आदि से उसी में रति बढ़ाओ। अन्य स्त्री की वार्ता और रति में निषेध का कारण कहते हैं—प्रायः स्त्रियाँ ईर्ष्या सहित होती हैं। गुणों को आच्छादित करने का जिनका स्वभाव हो वे स्त्रियाँ हैं। एक स्त्री में राग रखने पर दूसरी उससे कुपित हो जाती है क्योंकि स्त्री में ईर्ष्या का भाव रहता है। इससे सिद्ध होता है कि जो पहले सिद्धि को प्राप्त हुए हैं और भविष्य में

वनिताव्यामोहव्याघादेव। ये च भवप्रतिबद्धास्ते लोलापाङ्गैराबद्धा इति पारिशेषात् ॥१२८॥

अथ स्त्रीचेष्टानां सरस्युपमाद्वारेण दर्शयन्नाह–

(हरिणी)

वचनसलिलै र्हासस्वच्छैस्तरङ्गसुखोदरै-
र्वदनकमलै र्बाह्ये रम्याः स्त्रियः सरसीसमाः।
इह हि बहवः प्रास्तप्रज्ञास्तटेऽपि पिपासवो
विषयविषमग्राहग्रस्ताः पुनर्न समुद्गताः ॥१२९॥

अन्वयः—स्त्रियः सरसीसमाः बाह्ये रम्याः तरङ्गसुखोदरैः हासस्वच्छैः वचन-सलिलैः वदनकमलैः इह हि बहवः प्रास्तप्रज्ञा पिपासवः तटे अपि विषयविषमग्राहग्रस्ताः पुनः न समुद्गताः।

वचनेत्यादि। स्त्रियः वनिताः। कथम्भूताः? सरसीसमाः अल्पसरोवरतुल्याः। सरसी कासारोऽल्पसरो वा तया समा सदृशा या ताः। 'कासारः सरसी सरः' इत्यमरः। किं विशिष्टाः? बाह्ये रम्याः बाह्यावलोकन-मात्रेण मनोहराः। तत्कथम्? तरङ्गसुखोदरैः। तरङ्गवच्चञ्चलसुखापूरितैः। तरङ्गवदुत्पन्नविनष्ट-स्वभावानि एव

होंगे वे निश्चित ही दिखाई देने वाली इन स्त्रियों के व्यामोह का नाश करने से हुए हैं। जो अभी इस संसार में बँधे हैं वे इन स्त्रियों के कटाक्षों से ही बंधे है, यह पारिशेषन्याय से सिद्ध होता है ॥१२८॥

उत्थानिका—अब स्त्री की चेष्टाओं को तालाब की उपमा के माध्यम से दिखाते हैं–

अन्वयार्थ—(वचन-सलिलैः) वचनरूपी जल **(वदनकमलैः)** मुखरूपी कमल के द्वारा **(स्त्रियः)** स्त्रियाँ **(सरसीसमाः)** तालाब के समान हैं। **(बाह्ये)** बाहर से **(रम्याः)** रमणीय हैं। **(तरङ्ग सुखोदरैः)** भीतर तरङ्ग रूप सुख से **(हासस्वच्छैः)** हास्य की निर्मलता से **(इह)** इस लोक में **(हि)** निश्चित ही **(बहवः)** बहुत से **(प्रास्तप्रज्ञाः)** विवेकहीन **(पिपासवः)** प्यासे जीव **(तटे अपि)** तट पर भी **(विषय-विषम-ग्राह-ग्रस्ताः)** विषयरूपी विषम जलीय जीवों से ग्रस्त होते हैं **(पुनः)** और फिर **(समुद्गताः न)** बाहर नहीं निकल पाते।

अर्थ—वचनरूपी जल, हास्यरूपी स्वच्छता अन्तःतरंग सुख और मुखरूपी कमल के द्वारा बाह्य में रमणीय स्त्रियाँ किसी छोटे पोखर के समान हैं। जिनकी प्रज्ञा का अस्त हो गया है, ऐसे पिपासु जीव तट पर ही विषय रूपी मगरमच्छों के ग्रास बन जाते हैं और फिर बाहर नहीं निकल पाते हैं।

टीकार्थ–स्त्रियाँ छोटे सरोवर के तुल्य हैं। वे बाहर से देखने मात्र में ही सुन्दर हैं। वे तरंग की तरह क्षणिक सुख से भरी रहती हैं। इनके अन्दर का सुख तरंग की तरह उत्पन्न होते ही विनष्ट स्वभाव

बाहर केवल कोमल कोमल वदन कमल से विलस रही।
तरल लहर सुख से स्त्री सरवर वचन सलिल से विहँस रही ॥
बालक सम हा! अज्ञ तृषित ही जिसके तट पर बस जाते।
विषय विषम कर्दम से फिर वे नहीं निकलते फँस जाते ॥१२९॥

सुखानि येषां वोदरे गर्भे मध्ये तैः। तथा च किम्? हासस्वच्छैः मन्दहास्यविलासनिर्मलैः। कैस्तैः? वचनसलिलैः वचनजलैः। वचनानि रागमिश्रितहावभावसहितवाक्यरचनानि एव सलिलानि जलानि तैः। यथा सरस्यां निर्मलस्वच्छजलोपरिसञ्चारितकल्लोलाः कमलैः सह दृष्टभङ्गुरा अपि हृदयाह्लादकरा अग्राह्या एव शोभनशीला दृष्टिमात्र विषयत्वात्तथा वनितामुखैर्वचनहासविलासांगिताः। इह इतस्ततः। हि निश्चयेन। बहवः बहुसंख्यकाः। प्रास्तप्रज्ञाः तत्त्वज्ञानशून्याः। प्रकर्षेणातिमोहेनास्तंगता प्रज्ञा विज्ञानं येषां ते। कथम्भूताः? पिपासवः पातुं इच्छवः। तटे तीरे सन्निधौ वा। अपि स्फुटम्। विषयविषमग्राहग्रस्ताः विषयरूप-भयङ्करजलचरगृहीताः। विषयाः पञ्चेन्द्रियरुचिराः एव विषमग्राहाः विकरालविषभृतजलचरा गोधिका वा तैर्ग्रस्ताः कवलिताः तथोक्ताः। पुनः न समुद्गताः न बहिर्यान्ति। सान्निध्यमात्रेण वनिताकाम-विषशरेण पीडिता भवन्ति पुनरुत्तरोत्तरकामवेगसमाक्रान्तास्तद्बाहुपाशान्न बहिरायातुं शक्नुवन्ति। ततो भगिनीभ्रातृजाया-मातृ-वृद्धबालरुग्णान्धबाधिरादिसर्वस्त्रीमात्रसंसर्ग काष्ठपुस्तलयनादिनिर्मितैः स्त्रीचित्रैः सहावश्यं परित्याज्यः पापभीरुभिः। अगारानगारशगिणामयमुपदेशः कामिवीतरागपुरुषाभ्यामप्रयोजनभूतत्वात्। हरिणीवृत्तम् ॥१२९॥

अथ कामव्याधस्याशेषसंसृतिवने विजयनं दर्शयन्नाह–

वाला होता है। मन्द हास्य विलासरूपी निर्मल वचनों के जल से युक्त हैं। राग मिश्रित हाव-भाव से सहित उनकी वाक्य रचना होती है। जैसे तालाब में निर्मल स्वच्छ जल के ऊपर उठने वाली तरंगें कमल के साथ देखते ही नष्ट हो जाती हैं। क्षणभंगुर होने पर भी हृदय को आह्लाद करने वाली होती हैं और ग्रहण करने योग्य नहीं होते हुए भी शोभायमान होती हैं। ये तरंगें दृष्टि मात्र का विषय होती हैं उसी प्रकार स्त्री के मुख से निकले वचनों का हास विलास होता है। इस लोक में बहुत से ऐसे तत्त्वज्ञान से शून्य जीव हैं जिनकी प्रज्ञा अत्यधिक मोह के कारण समाप्त हो गई है। ऐसे अविवेकी जीव इस पोखर के तट पर जल पीने की इच्छा करते हैं। उस जल में पंचेन्द्रियों को रुचिकर लगने वाले इन्द्रिय विषयरूप भयंकर जलचर जीव रहते हैं। उन विष से भरे जलचर जीवों से अथवा गोह नामक जीव से वे लोग मार दिये जाते हैं और फिर उनसे अपना पीछा नहीं छुड़ा पाते हैं।

सान्निध्य मात्र से ही स्त्री के कामरूप विषैले बाणों से प्राणी पीड़ित हो जाते हैं। फिर आगे-आगे काम-वेग से पीड़ित हुए उसके बाहु-जाल से बाहर आने में समर्थ नहीं होते हैं। इसलिए बहिन, भतीजी, माता, वृद्ध, बाल, रुग्ण, अन्धी, बहरी आदि समस्त स्त्री मात्र का संसर्ग तथा साथ में काठ, पुस्त, लयन (दीवाल आदि में उकेरे गए) आदि में निर्मित स्त्री-चित्रों का साथ पाप भीरुजनों को अवश्य छोड़ देना चाहिए।

सराग दशा में रहने वाले अगार और अनगार जीवों को यह उपदेश है। कामी और परम वीतरागी पुरुषों को यह उपदेश अप्रयोजनभूत है। यहाँ हरिणी छन्द है ॥१२९॥

उत्थानिका—अब समस्त संसारवन में कामरूपी बहेलिया की विजय दिखाते हुए कहते हैं–

(हरिणी)

पापिष्ठैर्जगतीविधीतमभितः प्रज्वाल्य रागानलं,
क्रुद्धैरिन्द्रियलुब्धकैर्भयपदैः सन्त्रासिताः सर्वतः।
हन्तैते शरणैषिणो जनमृगाः स्त्रीछद्मना निर्मितं,
घातस्थानमुपाश्रयन्ति मदनव्याधाधिपस्याकुलाः ॥१३०॥

अन्वयः—इन्द्रियलब्धकैः पापिष्ठैः क्रुद्धैः भयपदैः जगतीविधीतं अभितः रागानलं प्रज्वाल्य सर्वतः सन्त्रासिताः हन्त एते शरणैषिणः जनमृगाः स्त्रीछद्मना निर्मितं मदनव्याधाधिपस्य घातस्थानं उपाश्रयन्ति आकुलाः (भवन्ति)।

पापिष्ठैरित्यादि। इन्द्रियलुब्धकैः इन्द्रियव्याधैः। इन्द्रियाणि लुब्धका मृगाखेटका इव ते तथोक्तास्तैः। इन्द्रियोपमेया लुब्धकोपमानेनात्रोपमीयन्ते। कथम्भूतैस्तैः? पापिष्ठैः पापभूतैः। यथाऽऽखेटकाः पापिनस्तथेन्द्रियाणि निम्नस्थान-प्राप्तत्वात्। किमपरैः? क्रुद्धैः रौद्रैः। यथाखेटका रौद्रास्तथैवेन्द्रियाणि तीव्रविषयलोलत्वात्। तथा च किंभूतैः? भयपदैः भयप्रदायकैः। यथाऽऽखेटका भयोदीर्णकास्तथेन्द्रियाणि अवद्यहेतुत्वात्। जगतीविधीतं

अन्वयार्थ—(इन्द्रियलुब्धकैः) इन्द्रियरूपी शिकारियों ने **(पापिष्ठैः)** पापी **(क्रुद्धैः)** क्रुद्ध **(भयपदैः)** भय के स्थानों से **(जगतीविधीतं)** संसाररूपी स्थान के **(अभितः)** चारों ओर **(रागानलं)** राग की अग्नि को **(प्रज्वाल्य)** प्रज्वलित करके **(सर्वतः)** सब ओर से **(सन्त्रासिताः)** दुःखी किया है **(हन्त)** खेद है कि **(एते)** ये **(शरणैषिणः)** शरण चाहने वाले **(जनमृगाः)** प्राणीरूपी मृग **(स्त्रीछद्मना)** स्त्री रूपी छल से **(निर्मितं)** निर्मित **(मदन-व्याधाधिपस्य)** कामबहेलिए के **(घातस्थानं)** घात स्थान का **(उपाश्रयन्ति)** आश्रय लेते हैं और **(आकुलाः)** आकुल होते हैं।

अर्थ—पापी, क्रोधी, इन्द्रियरूपी बहेलियों द्वारा शिकार-स्थान के चारों ओर रागाग्नि को प्रज्वलित करके मनुष्यरूपी हिरण सब ओर से भयस्थानों के द्वारा दुःखी किए गए हैं। खेद है कि शरण चाहने वाले और कामदेवरूपी शिकारी से आकुलित हुए जीव स्त्रीरूपी छल से निर्मित किए गए घातस्थान का आश्रय लेते हैं।

टीकार्थ—यहाँ इन्द्रियों को शिकारी की उपमा दी गई है। ये इन्द्रियाँ पापरूप हैं। जैसे शिकारी पापी होते हैं उसी प्रकार इन्द्रियाँ निम्न स्थान को प्राप्त होने से पापी कहलाती हैं। जैसे शिकारी क्रूर होते हैं उसी प्रकार इन्द्रियाँ विषयों की तीव्र लोलुपता से क्रूर हैं। जैसे शिकारी भय प्रदन करते हैं उसी प्रकार इन्द्रियाँ भय की उदीरणा करती हैं क्योंकि पाप का कारण हैं। इस संसाररूपी क्रूर पशुओं के निवास स्थान

भयद क्रुद्ध पापिन इन्द्रिय सब राग आग अति जला जला।
अस्त व्यस्त कर त्रस्त, किया है पूर्ण रूप से धरातला॥
स्त्री मिष निर्मित घात थान का श्रय लेते हा! मरण जहाँ।
मदन व्याधपति से पीड़ित जन-मृग ढूँढत सुख शरण यहाँ ॥१३० ॥

संसृतिक्रूरपशुनिवासस्थानम्। जगती जगद् सैव विधीतं निवासस्थानं चतुष्पथं विडम्बितं वा तम्। अभितः परिवृतं कृत्वा। ''अभितः परितः...'' इत्यादिनेब् भवति। रागानलं रागाग्निम्। रागोऽनल इव। तम्। तापदाहकारणत्वादनलेनोपमितम्। प्रज्वाल्य प्रज्वलनं कृत्वा। सर्वतः सर्वप्रकारेण। सन्त्रासिताः सन्त्रस्तं दुःखितं कृताः। एवमिन्द्रियलुब्धकैर्दुखिताः कुत्र शरणं प्राप्नुवन्तीत्यत्र प्राह–हन्त खेदस्य विषयोऽयम्। एते दृश्यमानाः रागिणो वन्या वा। शरणैषिणः शरणमिच्छवः। के ते? जनमृगाः कामपीडितवन्यपशवः। जनाः संसारिणोऽत्र मृगवराकत्वेन तुलितमबोधत्वात्। स्त्रीछद्मना स्त्रीच्छलेन। निर्मितं विरचितम्। किं तत्? मदनव्याधाधिपस्य घातस्थानं कामव्याधनिर्मितास्पदम्। मदनो व्याधरूपाधिपः व्याधानां स्वामीव सर्वसमर्थत्वात्। यथा सन्त्रासिता मृगा इतस्ततो धावन्तः कुवलयेऽशरणभूता व्याधनिर्मितस्थानमभ्युप-गच्छन्ति तथेन्द्रियैर्जना स्त्रीरूपविनाशस्थानम्। उपाश्रयन्ति संसेवन्ते। तेन किम्? आकुलाः तत्रस्थानेऽपि दुःखिनो भवन्तीति। शार्दूलविक्रीडितवृत्तम् ॥१३०॥

अधुना मुनिमनोजनितरागापोहनार्थमाह–

(पृथ्वी)

अपत्रप तपोऽग्निना भयजुगुप्सयोरास्पदं,
शरीरमिदमर्धदग्धशववन्न किं पश्यसि।
वृथा व्रजसि किं रतिं ननु न भीषयस्यातुरो,
निसर्गतरलाः स्त्रियस्त्वदिह ताः स्फुटं बिभ्यति ॥१३१॥

को घेरकर राग–आग को लगाकर सब ओर से दुःखी करती हैं। इस प्रकार इन्द्रिय शिकारियों से दुःखी हुए कहाँ शरण को प्राप्त करते हैं, यह कहते हैं–संसारी प्राणियों की तुलना यहाँ बेचारे मृगों से की गई है। ये दिखाई देने वाले रागी जीव अथवा वन्य पशु शरण की इच्छा करते हैं। काम–व्याध के द्वारा निर्मित किया हुआ स्थान स्त्री के छल से बना है। सभी व्याधों का स्वामी काम–व्याध है क्योंकि यही सबसे अधिक शक्तिशाली है। जैसे दुःखी हुए मृग आदि वन्य–पशु जब कहीं शरण नहीं पाते हैं तो शिकारी के द्वारा बनाये गये शिकार स्थान को पा जाते हैं उसी प्रकार इन्द्रियों के द्वारा दुःखी हुए जीव स्त्रीरूप विनाशस्थान को प्राप्त करते हैं और उस स्थान पर भी दुःखी होते हैं। यहाँ शार्दूलविक्रीडित छन्द है ॥१३०॥

उत्थानिका–अब मुनि के मन में उत्पन्न हुए राग को दूर करने के लिए कहते हैं–

अन्वयार्थ–(अपत्रप!) हे निर्लज्ज **(इदं)** यह **(शरीरं)** शरीर **(तपोऽग्निना)** तप अग्नि से

हे निर्लज्जित! सुतप अनल से अधजल शवसम तव तन है।
बना घृणा का भय का आस्पद ज्ञात नहीं क्या जड़घन है॥
तव तन को लख महिला डरती चूँकि सहज कातर रहती।
क्या न डराता उन्हें वृथा तव रति उनमें क्यों कर रहती ॥१३१॥

अन्वयः—अपत्रप! इदं शरीरं तपोऽग्निना भयजुगुप्सयोः आस्पदं अर्धदग्ध-शववत् किं न पश्यसि आतुरः किं वृथा रतिं व्रजसि ननु न भीषयसि ताः स्त्रियः निसर्गतरलाः इह त्वत् स्फुटं बिभ्यति।

अपत्रपेत्यादि। अपत्रप हे निर्लज्ज! त्रपा लज्जा। अपगता विर्निगता लज्जा यस्मात्स तस्य सम्बुद्धौ। इदं प्रतीयमानम्। शरीरं हीनस्थानगतम्। तपोऽग्निना तपःरूपवह्निना। भयजुगुप्सयोः भीतिघृणयोः। आस्पदं स्थानम्। कथमिव? अर्धदग्ध-शववत् श्मसानस्थितार्धदग्धमृतकलेवरवत्। तपोऽनुष्ठानेन केशलुञ्चनादि-नाऽस्नान-निरावरणादन्तधावनविधिना वा जल्लमल्लपटलपाटितवपुःवराहशिरोरुह इव शिरसिजो दीर्घा-समानाकृतिकररुहः क्वचिदर्धकर्तितशिरसिजस्तपःक्षीणाङ्गयष्टिरस्थिमात्रावशिष्टसृष्टिर्भयजुगुप्सयोरास्पद-मञ्चति। तेनार्धदग्धमृतकवदवभासते। इत्थंभूतं स्वशरीरं हे मुने! किं न पश्यसि इत्यद्भुतमाचीकटत्। आतुरः आकुलीभूतः। किं वृथा रतिं व्रजसि रागान्वितो भवसि। ननु इति प्रश्ने न भीषयसि भीतिं न करोषि। तस्य कारणमाह—ताः स्त्रियः निसर्गतरलाः स्वभावतश्चञ्चला-स्ततः सन्ततभीताः। इह अस्मिन् लोके। त्वत् त्वत्तः सकाशात्। ''अत् पञ्चम्यद्वित्वे'' इत्यनेन युष्मदः पञ्चम्यामेकवचनान्तरूपम्। स्फुटं निश्चितम्। बिभ्यति भीतिं कुर्वन्ति। ''ञिभी भये'' इत्यस्माद्धोर्लट् बहुवचनान्तरूपम्। पृथ्वीच्छन्दः ॥१३१॥

(भय-जुगुप्सयोः) भय और जुगुप्सा का **(आस्पदं)** स्थान **(अर्धदग्धशववत्)** अर्ध जले शव के समान **(किं न)** क्या नहीं **(पश्यसि)** देख रहे हो? **(आतुरः)** आतुर हुआ **(किं)** क्यों **(वृथा)** व्यर्थ में **(रतिं)** रति को **(व्रजसि)** प्राप्त हो रहे हो? **(ननु न)** क्यों नहीं **(भीषयसि)** डरते हो? **(ताः स्त्रियः)** वे स्त्रियाँ **(निसर्गतरलाः)** स्वभाव से चंचल है **(इह)** यहाँ **(त्वत्)** तुमसे **(स्फुटं)** स्पष्ट ही **(बिभ्यति)** डरती हैं।

अर्थ—अरे निर्लज्ज! तपरूपी अग्नि से तेरा यह शरीर आधे जले हुए मुर्दे के समान भय और ग्लानि का स्थान बना हुआ है। क्या तुझे यह दिखाई नहीं दे रहा है। फिर भी तू क्यों व्यर्थ में राग करता है और आतुर हुआ उन स्त्रियों को डराता है। स्वभाव से चंचल वे स्त्रियाँ तुमसे निश्चित रूप से यहाँ बहुत डरती हैं।

टीकार्थ—यह शरीर हीन स्थान को प्राप्त है। तपरूपी अग्नि से जला हुआ तेरा शरीर भय और घृणा का स्थान बना है। जैसे श्मशान में स्थित आधा जला हुआ मृत प्राणी का कलेवर होता है वैसा ही तेरा शरीर है। केशलुंचन आदि के द्वारा अथवा अस्नान व्रत, निरावरण रहना, दाँत नहीं माँजना आदि के द्वारा जल्ल (सर्वांगमल) और मल्ल (कहीं-कहीं लगा मल) के पटल से युक्त शरीर और सूकर की तरह बालों का दिखना, बड़े, असमान आकृति के नाखून दिखाई देते हैं। कभी आधे कटे हुए बाल वाला दिखाई देता है। तप से शरीर क्षीण हुआ है, हड्डी मात्र बची हुई शरीर-रचना से यह शरीर डरावना और बीभत्स दिखाई देता है। इस कारण से आधे जले मुर्दे की तरह दिखाता है। क्यों व्यर्थ में रागान्वित होते हो और इन स्त्रियों से क्यों नहीं डरते हो ? स्वभाव से चंचल ये स्त्रियाँ तुमसे निरन्तर डरती हैं। यहाँ पृथ्वी छन्द है ॥१३१॥

दुर्गमपथगमनमिव वनितागमनं खेदकरमत्रोच्यते–

उत्तुंगसङ्गतकुचाचलदुर्गदूर–
माराद्वलित्रयसरिद्विषमावतारम् ।
रोमावलीकुसृतिमार्गमनङ्गमूढाः
कान्ताकटीविवरमेत्य न केऽत्र खिन्नाः ॥१३२॥

अन्वयः—कान्ताकटीविवरं उत्तुंगसङ्गतकुचाचलदुर्गदूरं आरात् वलित्रयसरिद्विषमावतारम्, रोमावली-कुसृतिमार्गं एत्य के अनङ्गमूढाः अत्र न खिन्नाः?

उत्तुङ्गेत्यादि। कान्ताकटीविवरं कान्ताकटिमध्यदेशस्थितच्छिद्रं योनिरूपम्। कथम्भूतम्? उत्तुंग-सङ्गतकुचाचलदुर्गदूरं अत्युन्नतपरस्परमिलितस्तनद्वयगिरिदुर्गवद्दुर्गमम्। उत्तुंगौ अत्युन्नतौ च सङ्गतौ अति-मांसलस्थूलतया मिथः समाश्लिष्टौ संलग्नौ च तौ कुचौ स्तनयुगमं तावेवाचलदुर्गौ पर्वतीयदुरधिगमप्रदेशौ

उत्थानिका—दुर्गममार्ग पर चलने की तरह स्त्री के साथ रतिक्रीड़ा खेद करने वाली होती है, यह यहाँ कहते हैं–

अन्वयार्थ—(कान्ताकटीविवरं) स्त्री की कमर का विवर यानी योनि **(उत्तुंग-संगत-कुचाचल-दुर्गदूरं)** ऊँचे मिले हुए कुचरूपी पर्वत के दुर्ग से दूर हुआ है **(आरात्)** उसी के निकट **(वलित्रय-सरिद्विषमाव तारम्)** त्रिवलीरूप नदी से जहाँ नीचे उतरना कठिन हुआ है और **(रोमावलीकुसृतिमार्गं)** रोमावलियों के कारण कंटकाकीर्ण मार्ग को **(एत्य)** पाकर के **(के अनङ्गमूढाः)** कौन काममूढ़ जन **(अत्र)** इस लोक में **(न खिन्नाः)** खिन्न नहीं हुए हैं?

अर्थ—ऊँचे-ऊँचे पास-पास मिले हुए कुचरूपी पर्वत के गढ़ों से जहाँ पहुँचना बहुत दूर लगता है। उन गढ़ों के पास तीनवलयरूपी नदी से उतरना और कठिन है। रोमावली के कुटिल मार्ग से उस स्त्री के कटिमध्यदेश के छिद्र को पाकर काम से मोहित हुए कौन इस संसार में खेदखिन्न नहीं हुए हैं? अर्थात् सभी हुए है।

टीकार्थ—स्त्री के कटि मध्यस्थान में स्थित छिद्र योनिरूप है जो कि अति उन्नत परस्पर में मिले हुए दोनों स्तनरूपी पर्वतों को पार करने वाले दुर्ग के समान दुर्गम है। अति मांसल और स्थूलता से परस्पर में संलग्न वह स्तनयुग्म ही अचल दुर्ग के समान हैं। जो दुःख से अर्थात् अतिकष्ट से पार किया जाता है वह दुर्ग कहलाता है। ऐसे दो पर्वतों रूपी दुर्ग से गमन करने के समान योनिस्थान दुष्प्राप्य

उन्नत दो दो स्तन पर्वतमय दुर्ग परस्पर मिले वहीं।
रोमावलिमय कुपथ बहुत हैं भ्रमत करें पथ दिखे नहीं ॥
दुखद त्रिवलियाँ सरितायें है जिसे घिरी, नहिं पार कहीं।
स्त्री-योनी पा विषय-मूढ़! क्या खिन्न हुवा बहु बार नहीं? ॥१३२॥

ताभ्यां दूरं दु:प्राप्यं तम्। दु:खेनातिकष्टेन गम्यते स दुर्गोऽभिधीयते। गिरिद्वियसमाश्लिष्ट-दुर्गगमन-वद्दुष्प्राप्ययोनि इति। पुनश्च किंभूतम्? आरात् समीपतरवर्ति। किं तत्? बलित्रयसरिद्विषमावतारं तदनन्तरं त्रिवलीरूपनदीकुटिलप्रवाह-तरणवद्दु:खागमनम्। वलित्रयो यौवनमदभारेण घनपीनपयोधराणां क्षामोदर-परिवृतवलय-त्र्याकृतय एव सरितो नद्यस्ताभिर्विषमो दु:ख-करो नरकादिप्रापणकारणत्वात् अवतार: समागमो यत्र तम्। अपरञ्च किम्? रोमावली-कुसृतिमार्गं रोमपङ्क्तिरूपानृजुवर्त्मसदृशम्। रोमावल्या एव कुसृतिमार्गा: कपटपन्थानो यत्र तम्। ''कुसृतिर्निकृति: शाठ्यं'' इत्यमर:। एत्य प्राप्य। के इति प्रश्ने। अनङ्गमूढा: काममदविमोहिता:। अत्र लोके। न खिन्ना: खेदं प्राप्ता:। अपि तु सर्व एवेति। लीलावती-नामित्थम्भूतेन वपुषा येषां मनो न विकृतिमितं ते धन्या इति भाव:। वसन्ततिलकावृत्तम् ॥१३२॥

पुनरप्यत्राह-

(वसन्ततिलका)

वर्चोगृहं विषयिणां मदनायुधस्य
नाडीव्रणं विषमनिर्वृतिपर्वतस्य।
प्रच्छन्नपादुकमनङ्गमहाहिरन्ध्र माहुर्बुधा:
जघनरन्ध्रमद: सुदत्या: ॥१३३॥

है। उस योनिस्थान का समीपवर्ती स्थान तीन वलयों रूपी नदियों का अवतार है अर्थात् त्रिवलीरूपी नदी के कुटिल प्रवाह को तैरने के समान दु:ख से वहाँ पहुँचा जाता है। यौवन मद के भार से घनीभूत तीन पयोधरों के कृश उदर में तीनवलय या तीन आकृतियाँ ही नदी हैं। उनके द्वारा अतिविषम अर्थात् दु:खकर वह त्रिवली है क्योंकि नरक आदि की प्राप्ति का वह कारण है। वह योनिस्थान रोमावली रूप कुटिल मार्ग के समान है। रोमावलि ही वह कपट मार्ग है ऐसे मार्ग को प्राप्त करके काम और मद से मोहित हुए मूढ़जन क्या लोक में खेद को प्राप्त नहीं हुए हैं? अर्थात् सभी जन खेद को प्राप्त हुए हैं। लीलावती स्त्रियों के ऐसे शरीर के द्वारा जिनका मन विकृति को प्राप्त नहीं हुआ वे धन्य हैं। यहाँ वसन्ततिलका छन्द है ॥१३२॥

उत्थानिका—पुन: यहाँ पर उसी विषय को कहते हैं-

अन्वयार्थ—**(बुधा:)** बुद्धिमान् लोग **(आहु:)** कहते हैं कि **(सुदत्या:)** सुन्दर दाँतों वाली स्त्री का **(अद:)** यह **(जघनरन्ध्रं)** जाँघों के बीच बना छिद्र **(विषयिणां)** विषयी जीवों की **(वर्चोगृहं)**

मदन शस्त्र का नाड़ी व्रण है जहाँ पटकता मल कामी।
काम सर्प को निवास करने बनी हुई है वह बाँमी॥
उन्नत तम शिव मुक्ति शैल का ढका गर्त है बुध गाते।
रम्य-दान्त-वाली स्त्री जन का योनिथान तू तज तातैं ॥१३३॥

अन्वयः—बुधाः आहुः सुदत्याः अदः जघनरन्ध्रं, विषयिणां वर्चोगृहं, मदनायुधस्य नाडीव्रणं, विषमनिर्वृतिपर्वतस्य प्रच्छन्नपादुकं, अनङ्गमहाहिरन्ध्रं।

वर्चोगृहमित्यादि। बुधाः तत्त्वज्ञानिनः। आहुः कथयन्ति जानन्ति। सुदत्याः सुन्दरस्त्रियाः। सु शोभना दन्ता यस्याः सुजाता वा साऽसौ सुदती। ''वयसि दन्तस्य दतृ'' इत्यनेन बसे दन्तशब्दस्य दतृ इत्ययमादेशः। अदः तत्। ''अदसस्तु विप्रकृष्टे'' इत्यदस्शब्दस्य नपुंसकलिङ्गरूपम्। जघनरन्ध्रं योनिम्। कथम्भूतम्? विष-यिणां वर्चोगृहं कामिनां योनिस्थानं विष्ठागृहं वदन्ति। तथा किम्? मदनायुधस्य नाडीव्रणं कामदेवशस्त्रस्य सततशोणितपूतिबुद्‌बुद्‌बिन्दुझरणस्थानोत्थजीर्णविस्फोटः। अपरञ्च किम्? विषमनिर्वृति-पर्वतस्य निर्वृतिः मोक्षः, विषमा सा चासौ निर्वृति दुःसाध्यत्वात् सैव पर्वतस्तस्य दुरधिगममोक्षपर्वतस्य। प्रच्छन्नपादुकं तिरोहितपतन-स्वभावस्थानम्। प्रच्छन्नपातुकमिति पाठोऽत्रोचितो भाति पादुकशब्दस्य गर्तार्थेऽनुपलम्भात्। ''पातुकः पतयालौ स्यात् प्रपाते जलहस्तिनि'' इति वि० लो०। तथा किं-भूतम्? अनङ्गमहाहिरन्ध्रं कामरूप-महासर्पस्य विवरम्। इत्यनेन बीभत्सभयकष्टहेतुभूतं जघनविवरं प्रदर्श्य विषयिणां तत्र रममाणानां तदहेतुकमित्याश्चर्यं प्रकटितम्। वसन्ततिलकावृत्तम् ॥१३३॥

अथ दुष्टकवीनां वञ्चनां प्रदर्शयन्नाह—

विष्ठा का घर है **(मदनायुधस्य)** कामदेव के शस्त्र का **(नाडीव्रणं)** घाव है **(विषमनिर्वृतिपर्वतस्य)** कठिन मोक्षरूपी पर्वत के **(प्रच्छन्नपादुकं)** आड़े आना वाला खड्डा है **(अनङ्ग-महाहि-रन्ध्रं)** काम रूपी महासर्प के रहने का बिल है।

अर्थ—तत्त्वज्ञानी सुन्दर स्त्री के योनिस्थान के बारे में कहते हैं कि यह कामियों का विष्ठागृह है। कामदेव का बाण लगने से निरन्तर दुर्गन्धित बहने वाला घाव है। दुःसाध्य मोक्षरूपी पर्वत के आड़े आने वाला एक ऐसा स्थान है जो छिपा रहता है और उसमें गिरकर कोई पर्वत तक नहीं पहुँच पाता है। कामरूपी भयंकर सर्प के रहने का बिल है।

टीकार्थ—जिनके दाँत शोभनीय हैं वे सुदती हैं। उनका यह योनिस्थान कामीजनों के लिए विष्ठागृह है। कामदेव के शस्त्र का निरंतर रक्त दुर्गंधयुक्त बुद-बुद बिन्दुओं के झरने के स्थान पर उठा हुआ पुराना आघात है इसलिए वह वृण के समान है। अत्यन्त दुःसाध्य होने से मोक्ष रूपी पर्वत विषम है उस पर्वत को तिरोहित करने और गिराने के स्वभाव का वह स्थान है। यहाँ प्रच्छन्न पादुकम् के स्थान पर प्रच्छन्न पातुकम् पाठ भी उचित लगता है क्योंकि पादुकम् शब्द गड्ढे के अर्थ में उपलब्ध नहीं होता जबकि विश्वलोचन कोश में पातुक शब्द का अर्थ गड्ढे के अर्थ में मिलता है। वह योनिस्थान कामरूपी महासर्प का छिद्र है। इस विशेषण से बीभत्स, भय तथा कष्ट का हेतुभूत वह स्थान दिखाकर वहाँ रमण करने वाले भोगीजनों के लिए रमण करने का कोई हेतु नहीं है यह आश्चर्य प्रकट किया है। तत्त्वज्ञानी इस योनिछिद्र को इस प्रकार जानते हैं। यहाँ वसन्ततिलका छन्द है॥१३३॥

उत्थानिका—अब दुष्ट कवियों की वञ्चना को दिखाते हुए कहते हैं—

अध्यास्यापि तपोवनं बत परे नारीकटीकोटरे,
व्याकृष्टाः विषयैः पतन्ति करिणः कूटावपाते यथा।
प्रोचे प्रीतिकरीं जनस्य जननीं प्राग्जन्मभूमिं च यो
व्यक्तं तस्य दुरात्मनो दुरुदितै र्मन्ये जगद्वञ्चितम् ॥१३४॥

अन्वयः—बत परे तपोवनं अध्यास्य अपि नारीकटीकोटरे विषयैः व्याकृष्टाः पतन्ति यथा करिणः कूटावपाते, यः जनस्य जननीं प्राग्जन्मभूमिं च प्रीतिकरीं प्रोचे, तस्य दुरात्मनः दुरुदितैः व्यक्तं जगत् वञ्चितं मन्ये।

अध्यास्येत्यादि। बत खेदविषयोऽयम्। किं तत्? परे केचिन् मुनयः। तपोवनं सूरिचरणसन्निधौ व्रतसन्धारणम्। तपसो निमित्तं वनं कान्तारं तपोवनम्। यत्र तपस्विनस्तपश्चरन्ति तत्तपोवनमुच्यते। अध्यास्य सेवनं कृत्वा तपोऽङ्गीकृत्येत्यर्थः। अपि इति विस्मये। नारीकटीकोटरे स्त्रीकटिस्थितयोनिस्थाने। विषयैः स्पर्शना-दीन्द्रियाणां स्व-स्वाभिलषितवस्तुविशेषैः। व्याकृष्टा विशेषेण मोहादाकृष्टाः स्वकीय-कर्तुं

अन्वयार्थ—(बत) खेद है कि **(परे)** कितने ही लोग **(तपोवनं)** तपोवन में **(अध्यास्य)** रहकर के **(अपि)** भी **(नारीकटी कोटरे)** नारी के योनिस्थान में **(विषयैः)** विषयों के द्वारा **(व्याकृष्टाः)** आकृष्ट हुए **(पतन्ति)** गिर पड़ते हैं **(यथा)** जैसे **(करिणः)** हाथी **(कूटावपाते)** किसी ढके गड्ढे में गिरते हैं **(यः जनस्यजननीं प्राग्जन्मभूमि च)** और जो योनिस्थान पहले जन्मभूमि होने से माता के समान है **(प्रीतिकरीं)** उसे जो प्रीति करने का स्थान **(प्रोचे)** कहते हैं **(तस्य दुरात्मनः)** उस दुष्ट आत्मा के **(दुरुदितैः)** दुर्वचनों से **(व्यक्तं)** स्पष्टरूप से **(जगत्)** वह संसार **(वञ्चितं)** ठगा गया है **(मन्ये)** ऐसा मैं मानता हूँ।

अर्थ—खेद है कि कितने ही जन तपोवन में रहकर भी विषयों से आकर्षित हुए स्त्री के योनि स्थान में वैसे ही गिर पड़ते हैं जैसे हाथी गड्ढे में गिर पड़ते हैं। जो योनि पहले जन्मभूमि होने से जीव की माता है उसी को दुष्ट पुरुष अपने दुष्ट कारणों से प्रीति करने का स्थान कहते हैं। सचमुच ऐसे ठगों से यह जगत् ठगा गया है, ऐसा मैं मानता हूँ।

टीकार्थ—आचार्य के चरण सान्निध्य में व्रतों को धारण करना तपोवन है। अथवा तप के लिए वन, जंगल में जाना तपोवन है। जहाँ तपस्वी लोग तप करते हैं वह तपोवन कहा जाता है। कितने ही मुनि ऐसे तप को स्वीकार करके भी स्पर्शन आदि इन्द्रियों के अपने-अपने इष्ट वस्तु-विशेषों द्वारा मोह से आकृष्ट हुए विषयों को अपना बनाने की चेष्टा से तपरूपी उत्तुंग शिखर से स्त्री के योनिस्थान में

कृत्रिम गड्ढे में जिस विध गज! तप धारक भी गिरते हैं।
स्त्रीजन के उस योनिथान में विषयों से जब घिरते हैं॥
प्रथम जन्म थल अतः मात वह रागथान! पर जड़ कहते।
उन दुष्टों के दुष्ट वचन से ठगा जगत है हम कहते ॥१३४॥

चेष्टिताः। पतन्ति तपःसमुत्तुंगशिखरात् च्युतिं विदधते।

यथाऽत्र दृष्टान्तमाह–करिणः गन्धहस्तिनः। हस्तिषु विशेषो गन्धहस्तिजातिरास्ते गुणविशिष्टात्। ते गजा अत्र ग्राह्याः तपोजनतुल्यात्वात्। कूटावपाते कुटिलगर्ते। स्वैराः सदासुखिनो गन्ध-हस्तिनो मधुकराकर्षणकारिकपोलजल-वाहिताः सर्वविशिष्टा हि छद्मनिर्मितकुट्टिनी-चित्रेण यथा व्यामूढास्तत्-प्रतिपित्सवो धावन्तः कपटक्रियाकलितमहागर्ते निपतन्ति तथा केचित्तपोगृहीता जघनविवरे। केन कारणेनैवं भवतीत्यत आह–यः कोऽपि कुकविः। जनस्य जननीं मनुजस्योत्पत्तिस्थानं स्त्रीयोनिम्। कथम्भूताम्? प्राग्जन्मभूमिं प्रागस्मिन् भवे पूर्वभवे वा जन्मस्थानम्। च तथापि। प्रीतिकरीं रमणशीलाम्। प्रोचे कथितवान्। प्र पूर्वकं ''ब्रूञौ व्यक्तायां वाचि'' इत्यस्माद्धोर्लिट्। जनस्य जननीमिव जननी माता तामिव योनिमाख्यत्। प्राग्भवे च सर्वासां मातृत्वेनाभ्युपगमः स्यात्। एतावता स्त्रीयोनिं प्रतिसमादरं समाकलत्। यो यस्मात्सूते स तत्र मलबीजं न शिष्टः क्षिपति समादरस्थानात्। तथापि ये एवं कुर्वन्ति तस्य कारणमाह–तस्य दुरात्मनः स्वपरघातिनः कुकविनः। दुरुदितैः दुष्टवचनैः। दुः दुष्टं उदितं वचनं यस्य स तैः। व्यक्तं स्पष्टम्। जगत् लोकोऽयम्। वञ्चितं वञ्चनास्थानं गतम्। मन्येऽहं कविः गुणभद्रदेवः। युवतिशरीरा-वयवानां सरसालङ्कारानुपमोपमाव्यावर्णनवाचा कुकविप्रणीतं व्यावर्णनं तपोभ्रंशाय लोकानुरञ्जनायैवेति ॥१३४॥

लोकोक्त्या स्त्रिय एव विषमित्याख्याति–

कण्ठस्थः कालकूटोऽपि शम्भोः किमपि नाकरोत्।
सोऽपि दन्दह्यते स्त्रीभिः स्त्रियो हि विषमं विषम् ॥१३५॥

गिर पड़ते हैं, यह बड़े खेद का विषय है। यहाँ दृष्टान्त कहते हैं–हाथियों में गन्धहस्ती विशेष जाति के होते हैं क्योंकि उनके गुण सामान्य हाथियों से विशिष्ट होते हैं। वे हाथी सदा सुखी होते हैं, स्वच्छन्द गमन करते हैं,उनके कपोलों पर भ्रमरों को आकर्षित करने वाली जलधारा बहती है ऐसे विशिष्ट गन्धहस्ती भी छल से बनाई गई हथिनी के चित्त से व्यामूढ हुए उसे पाने की इच्छा से दौड़ते हैं और कपट क्रिया से रचे गए एक बड़े गड्ढे में गिर पड़ते हैं। स्त्रीयोनि पिछले भव में या इसी भव में उत्पत्ति का स्थान होने से जननी है। यह आत्मा पिछले जन्म में सभी की योनियों को मातृरूप से स्वीकार कर चुका है। इस कथन से स्त्रीयोनि का समादर किया है। जो जहाँ उत्पन्न होता है वह सभ्य पुरुष वहाँ मलबीज (वीर्य) को नहीं छोड़ता है क्योंकि वह समादर का स्थान है। फिर भी जो ऐसा करते हैं उसका कारण कहते हैं कि स्व-पर का नाश करने वाले कुकवियों के दुष्ट वचनों से यह जगत् स्पष्टरूप से ठगा गया है ऐसा मैं कवि गुणभद्र मानता हूँ। युवती के शरीर के अंगों का सरस, अलंकार और उत्कृष्ट उपमा के द्वारा सौन्दर्य वर्णन तप भ्रष्ट करने के लिए और लोक का घटिया रंजन करने के लिए ही है ॥१३४॥

कराल काला काल कूट वह महादेव के गला पड़ा।
पर उस विषधर का विष उस पर नहीं चढ़ा क्या भला चढ़ा ॥
तथापि वह तो स्त्री संगति से अति जलता दिन-रात रहे।
निश्चित ही बस विषम विषमतम विष हैं स्त्री जन, ज्ञात रहे ॥१३५॥

अन्वयः—शम्भोः कण्ठस्थः कालकूटः अपि किमपि न अकरोत्, सः अपि स्त्रीभिः दन्दह्यते, स्त्रियः हि विषमं विषम्।

कण्ठस्थ इत्यादि। शम्भोः महादेवस्य शंकरस्य समुद्रमन्थनजनितविषपायिनः। कण्ठस्थः गलेस्थितः। कालकूटः हालाहलः। अपि विस्मये। किमपि न अकरोत् अकिञ्चित्करोऽभवत्। सः शम्भुः। अपि पुनः। स्त्रीभिः पार्वतीप्रभृतिकन्याभिः। दन्दह्यते अतिशयेन सन्तप्यते। 'दह भस्मीकरणे' इत्यनेन क्रियासमभिहारे चेक्रीयितं कार्यम्। ततः सत्यमुक्तम्—स्त्रियः हि विषमं विषं विषकटुकताऽहिताधिक्यात्। स्त्रीणां विषमचिकित्स्यम्। स्त्रीणां विषं विपाककटुकमपि स्वादुमधुरम्। स्त्रीणां विषं तापकमपि प्रापकम्। स्त्रीणां विषं सर्वापदापदमपि कल्पपादपम्। स्त्रीणां विषं विवेकविकलमपि ललितम्। स्त्रीणां विषं सर्वदोषाकरमपि सुखकरम्। ततः कारणात् विषममिति सुभाषितम्। अनुष्टुप्छन्दः॥१३५॥

अथ कुकवीनां सम्बोधनार्थमाह–

उत्थानिका—स्त्रियाँ ही विष हैं यह लोकोक्ति से कहते हैं–

अन्वयार्थ—(शम्भोः) शम्भू के **(कण्ठस्थः)** कण्ठ में स्थित **(कालकूटः)** कालकूट ने **(किमपि न)** कुछ भी नहीं **(अकरोत्)** किया था **(सः अपि)** वह भी **(स्त्रिभिः)** स्त्रियों से **(दन्दह्यते)** जलता है क्योंकि **(स्त्रियः हि)** स्त्रियाँ ही **(विषमं)** विषम **(विषं)** विष हैं।

अर्थ—शम्भू के गले में स्थित कालकूट कुछ नहीं कर पाया परन्तु वह शम्भू भी स्त्रियों से सन्तप्त हुआ। ठीक ही है स्त्री ही विषमविष है।

टीकार्थ—समुद्र के मंथन से उत्पन्न होने वाले विष का पान करने वाले शंकर के गले में स्थित हालाहल विष भी उनका कुछ बिगाड़ नहीं कर पाया, यह विस्मय की बात है। किन्तु पार्वती आदि कन्याओं के द्वारा वे शंकर भी संतप्त हुए। इसलिए सत्य ही कहा है कि विष की कटुकता से ज्यादा स्त्री का विष है जिसकी कोई चिकित्सा नहीं है। स्त्री का विष अन्त में कटुक फलदायी होकर भी स्वाद में मधुर है। स्त्री का विष ताप देने वाला होकर भी प्राप्त करने जैसा लगता है। स्त्री का विष सभी आपदाओं का स्थान होने पर भी कल्पवृक्ष लगता है। स्त्री का विष विवेक रहित करता है फिर भी सुन्दर लगता है। स्त्री का विष सभी दोषों की खान होकर भी सुखकर लगता है। इसी कारण से इस विष को जो विषम कहा है, वह ठीक ही कहा है। यहाँ अनुष्टुप् छन्द है॥१३५॥

उत्थानिका—अब कुकवियों को सम्बोधित करते हैं—

तव युवतिशरीरे सर्वदोषैकपात्रे
रतिरमृतमयूखाद्यर्थसाधर्म्यतश्चेत्।
ननु शुचिषु शुभेषु प्रीतिरेष्वेव साध्वी
मदनमधुमदान्धे प्रायशः को विवेकः॥१३६॥

अन्वयः—तव युवतिशरीरे सर्वदोषैकपात्रे चेत् अमृतमयूखाद्यर्थसाधर्म्यतः रतिः, ननु एषु शुचिषु शुभेषु प्रीतिः एव साध्वी, प्रायशः मदनमधुमदान्धे कः विवेकः।

तवेत्यादि। तव भव्यस्य। युवतिशरीरे स्त्रीदेहे। कथम्भूते? सर्वदोषैकपात्रे सकलगुणहननकारणभूते। सर्वेषां दोषाणां एकं प्रमुखं पात्रं तस्मिन्। यस्याः संसर्गमात्रेण यतिभावोऽपि दूष्यते। यस्याः कथावार्ताऽपि व्रतदूषिका। याभिः साकं विहरणमपि जनानां संशयहास्यकरम्। श्रुतधरा अपि माघनन्दिसदृशा याभिरत्र वञ्चिताः। यस्याः सहवासो देवानामपि पूज्यतां विखण्डयति, लौकान्तिकानामेव देवर्षित्वेनाख्यानात्। जीर्णवयसः पुंसोऽपि यत्सन्निधौ तृषायते। मातृपितृगुरुजना अपि कामिनाममित्रायन्ते। तपस्विनोऽपि भ्रष्टा भवन्ति सात्यकिविश्वामित्रवत्। स्वपुत्रीषु भगिनीषु भ्रातृजायासु च विगतत्रपा यदृच्छया रमन्ते। सहस्रजिह्वो

अन्वयार्थ—(तव) तुमको **(युवतिशरीरे)** युवती के शरीर में **(सर्वदोषैकपात्रे)** जो सभी दोषों का एक मात्र स्थान है **(चेत्)** यदि **(अमृत-मयूखाद्यर्थ-साधर्म्यतः)** चन्द्रमा आदि पदार्थों के साधर्म्य से **(रतिः)** रति है **(ननु)** तो फिर **(एषु)** इन **(शुचिषु)** पवित्र और **(शुभेषु)** शुभ पदार्थों में **(प्रीतिः)** प्रीति करना **(एव)** ही **(साध्वी)** उचित है **(प्रायशः)** प्रायः **(मदनमधुमदान्धे)** मदन मदिरा के मद में अन्धे हुए व्यक्ति में **(कः विवेकः)** कहाँ विवेक रहता है ?

अर्थ—युवती का शरीर सभी दोषों का प्रमुख स्थान है। इसमें यदि चन्द्रमा आदि पदार्थों के साधर्म्य से रति करते हो तो फिर तुमको इन शुचि, शुभ पदार्थों में प्रीति करना ही उचित है। परन्तु काम की मदिरा से मदान्ध पुरुष में प्रायः विवेक कहाँ रहता है ? अर्थात् नहीं रहता।

टीकार्थ—स्त्री का शरीर सभी गुणों का नाश करने के लिए कारणभूत एक पात्र है। सभी दोषों का एक मुख्य पात्र स्त्री है। जिसके संसर्ग मात्र से यतिभाव भी दूषित हो जाता है। जिस स्त्री की कथा-चर्चा भी व्रतों में दूषण करने वाली है। जिस स्त्री के साथ चलना भी लोगों को संशय और हास्य उत्पन्न करने वाला है। माघनन्दी जैसे श्रुतधर भी स्त्री से ठगे गए। स्त्री के साथ रहना देवों की भी पूज्यता को खण्डित कर देता है इसीलिए तो लौकान्तिक देवों की ही देवर्षि नाम से ख्याति है। बूढ़ा आदमी भी स्त्री की सन्निधि में तृष्णा वाला हो जाता है। स्त्री के माता, पिता और गुरुजन भी कामियों को अपने

सकल दोष के कोष यदपि स्त्री-काया की परिणति होती।
शशि आदिक सम सुंदर दिखती जिससे यदि तव रति होती॥
शुचितम शुभतम पदार्थ भर में करो भली फिर प्रीति यहाँ।
किन्तु काम रत मदान्ध जन में कहाँ बोध शुभ रीति कहाँ॥१३६॥

ब्रह्माऽपि यद्दोषान् गणयितु-मशक्यो भवति किं पुनर्मनुष्यस्य वार्ता ततः सर्वदोषैकपात्रमभणीत्। चेत् यदि। अमृतमयूखाद्यर्थसाधर्म्यतः पयोधरावमृतकलशवच्च मुखं चन्द्रमयूखवदित्यादि परपदार्थसादृश्यप्रकारेण प्रतिपादयन्ति। ततः किं भवति? रतिः मूढानां तासु रिरंसा जायते। ननु तर्हि। एषु उपमानपदार्थेषु अमृतकलशचन्द्रादिषु। कथम्भूतेषु? शुचिषु पवित्रेषु। शुभेषु मङ्गलभूतेषु। प्रीतिः प्रेम। एवावधारणे। साध्वी उचिता। उपमानमप-हायोपमेयेषु प्रीतिं किं कुर्यात् इति भावः। यतः सत्यमुक्तम्-प्रायशः अतिशयेन। मदनमधुमदान्धे कामरूपमदिराजनिताविवेके जने। मदन एव मधुमदजनकत्वात् तेन मदान्धो यः स तस्मिन्। कः विवेकः युक्तायुक्तविचारः, नैवेत्यर्थः। उक्तं च-

''किमु कुवलयनेत्राः सन्ति नो नाकनार्यस्त्रिदशपतिरहल्यां तापसीं यत् सिषेवे।
हृदयतृणकुटीरे दीप्यमाने स्मराग्नावुचितमनुचितं वा वेत्ति कः पण्डितोऽपि॥''

मालिनीवृत्तम् ॥१३६॥

अथ पुरुषेणात्मना मनोऽवश्यं जेतव्यं शब्दार्थतो नपुंसकत्वात्तस्येत्यत्राह-

प्रियामनुभवत्स्वयं भवति कातरं केवलं
परेष्वनुभवत्सु तां विषयिषु स्फुटं ह्लादते।
मनो ननु नपुंसकं त्विति न शब्दतश्चार्थतः
सुधीः कथमनेन सन्नुभयथा पुमान् जीयते ॥१३७॥

शत्रु के समान दिखते हैं। स्त्री के सहवास से सात्यकि और विश्वामित्र जैस तपस्वी भी भ्रष्ट हो जाते है। स्त्री के सहवास से अपनी पुत्रियों में, अपनी बहनों में, अपनी भाभी में भी निर्लज्ज हुए जीव इच्छानुसार रमण करते हैं। हजार जीभ वाला ब्रह्मा भी स्त्री के दोषों की गणना में समर्थ नहीं है फिर मनुष्य की क्या बात है! इसलिए स्त्री को सभी दोषों का एक पात्र कहा है। कुकवि स्त्री के पयोधरों की उपमा अमृत कलश से और मुख की उपमा चन्द्रमा से इन पदार्थों की सदृशता के कारण देते हैं जिससे कामान्ध पुरुषों को स्त्री में रमण करने की इच्छा उत्पन्न होती है तो फिर इन उपमा वाले अमृत कलश और चन्द्र आदि पदार्थों में जो पवित्र हैं, मंगलभूत है इन्हीं में प्रेम करना उचित है। इन उपमानों को छोड़कर अशुभ और अपवित्र उपमेय में प्रीति क्यों की जाए ? सत्य ही कहा है कि शुभ और शुचि कामरूप मदिरा पीने से अविवेक उत्पन्न होता है, ऐसे व्यक्ति को उचित-अनुचित का विचार कहाँ रहता है। कहा भी है-''क्या स्वर्ग की देवियाँ नीलकमल के समान नेत्रों वाली नहीं हैं जो स्वर्ग के इन्द्र ने अहल्या तापसी का सेवन किया। हृदय की तृण कुटिया में जब कामाग्नि जलने लग जाती है तो पण्डित होकर भी उचित, अनुचित क्या है, यह कौन जान पाता है ?'' यहाँ मालिनी छन्द है ॥१३६॥

यदा प्रिया को अनुभवता मन केवल कातर बने दुखी।
किन्तु प्रिया को विषयी-इन्द्रिय अनुभवती तब बने सुखी ॥
मात्र शब्द से नहीं नपुंसक रहा अर्थ से भी मन ओ।
शब्द अर्थ से पुरुष बने फिर मन के साथी बुधजन हो? ॥१३७॥

अन्वयः—मनः प्रियां अनुभवत् स्वयं केवलं कातरं भवति परेषु विषयिषु तां अनुभवत्सु (तत्) स्फुटं ह्लादते ननु (मनः) नपुंसकं न शब्दतः तु च अर्थतः इति उभयथा अनेन कथं सुधीः सन् पुमान् जीयते?

प्रियामित्यादि। मनः नोइन्द्रियावरणवीर्यान्तरायकर्मक्षयोपशमाजनितमनोलब्धिसन्निधानाद् भाव-मनसो द्रव्यमनः समुत्पद्यते ततो द्वयमपि पौद्गलिकमवसीयते। प्रियां कान्ताम्। अनुभवत् भोगं भुञ्जानः। स्वयं मनः। केवलं कातरं क्लीबं। भवति अस्ति। भोगानुभवक्षणे मनः साक्षाद् भोक्तुं न शक्नोति सामर्थ्याभावात्। तर्हि कोऽनुभवतीत्याह-परेषु इन्द्रियेषु चक्षुरादिषु स्वभिन्नत्वात् परमित्युक्तम्। विषयिषु विषयानुभवकर्तृषु। विषयाननुभवन्ति तानि विषयीणि इन्द्रियाणि तेषु। तां प्रियाम्। अनुभवत्सु भोगमापन्नेषु। तत् मनः स्फुटं निश्चितम्। ह्लादते प्रसन्नो भवति। ननु निश्चयार्थे। 'ननु प्रश्नावधारणे' इति वि॰ लो॰। तन्मनः

उत्थानिका—अब पुरुष आत्मा के द्वारा नपुंसक मन अवश्य जीत लिया जाना चाहिए क्योंकि शब्द और अर्थ से मन नपुंसक है, यह कहते हैं–

अन्वयार्थ—**(मनः)** मन **(प्रियां)** प्रिया का **(अनुभवत्)** भोग करते हुए **(स्वयं)** स्वयं **(केवलं)** मात्र **(कातरं)** कातर- अधीर, व्याकुल **(भवति)** होता है **(परेषु विषयेषु)** अन्य इन्द्रियों के विषयों में **(तां)** उसी प्रिया का **(अनुभवत्सु)** भोग होने पर **(स्फुटं)** निश्चित ही **(ह्लादते)** आनन्दित होता है **(ननु)** वास्तव में मन **(नपुंसकं)** नपुंसक **(न शब्दतः)** शब्द से ही नहीं है **(तु च अर्थतः)** अपि तु अर्थ से भी है **(इति)** इस प्रकार **(उभयथा)** दोनों प्रकार से नपुंसक **(अनेन)** मन के द्वारा **(कथं)** कैसे **(सुधीः)** बुद्धिमान् **(सन्)** होते हुए भी **(पुमान्)** मनुष्य **(जीयते)** जीता जा सकता है?

अर्थ—यह मन स्वयं प्रिय स्त्री का भोग करते समय भी केवल अधीर बना रहता है। अन्य इन्द्रियों के विषयों में भी उस स्त्री का भोग करते हुए मन आनंदित होता है। वस्तुतः यह मन शब्द और अर्थ दोनों से ही नपुंसक है। इस तरह दोनों दृष्टियों से नपुंसक मन ज्ञानवान् पुरुष आत्मा को कैसे जीत सकता है, अर्थात् नहीं जीत सकता।

टीकार्थ—नो इन्द्रियावरण और वीर्यान्तराय कर्म के क्षयोपशम से उत्पन्न मनःलब्धि के सन्निधान से भाव मन होता है। भाव मन से द्रव्य मन उत्पन्न होता है। भाव मन और द्रव्यमन दोनों ही पौद्गलिक हैं। स्त्री के साथ भोग भोगता हुआ मन स्वयं कातर, नपुंसक बना रहता है। भोगों के अनुभव के समय पर भी मन साक्षात् भोगने में समर्थ नहीं होता है क्योंकि मन में भोगने की सामर्थ्य का अभाव है।

शंका—यदि मन में भोग भोगने की सामर्थ्य का अभाव है तो फिर विषयों का अनुभव कौन करता है अर्थात् कौन भोग भोगता है ?

समाधान—चक्षु आदि इन्द्रियाँ पर हैं। ये इन्द्रियाँ मन से भिन्न हैं इसलिए इन्हें पर (अन्य) कहते हैं। पाँचों इन्द्रियों के अपने-अपने भोग के लिए जो पदार्थ हैं, वे विषय हैं। इन विषयों का सेवन करने वाली इन्द्रियाँ विषयी कहलाती हैं। इन्द्रियाँ साक्षात् स्त्री आदि विषयों का अनुभव करती हैं। मन तो यह देखकर केवल प्रसन्न होता है। वह मन इसीलिए वास्तव में न पुरुष है, न स्त्री है किन्तु नपुंसक

नपुंसकं न पुमान् न स्त्रीति। न शब्दतः लिङ्गानुशासनतः। शब्दशास्त्रे मनःशब्दो नपुंसकलिङ्गे प्रयुज्यते। 'चित्तं तु चेतो हृदयं स्वान्तं हृन्मानसं मनः' इत्यमरः। तु च तथाऽन्यपक्षे। अर्थतः भावतः। इति एवप्रकारेण। उभयथा उभयप्रकारेण शब्दार्थाभ्याम्। नपुंसकं सिद्धम्। अनेन मनसा। कथं तथापि किम्? सुधीः विविक्तार्थी विवेकी। सन्। पुमान् पुरुषो भवन्। जीयते पराभूयते तेनेति विस्मयम्। एतावता पुरुषस्य स्वाभिमानस्मरणं कृतम्। यश्च पुरुषः पुरुषार्थशीलः स कथं मनसा नपुंसकेन जीयत इति लज्जाकरम्। मनः एव विषयान् प्रतिप्रेरयत्यात्मानम्। तदनुसरणं पुरुषाय न शोभतेऽतः विषयान् माऽभिलषतु ॥१३७॥

अतो मनो विजित्य तपस्कृत्यं महार्घत्वादित्यत्र प्रेरयन्नाह–

राज्यं सौजन्ययुक्तं श्रुतवदुरुतपः पूज्यमत्रापि यस्मात्
त्यक्त्वा राज्यं तपस्यन् न लघुरतिलघुः स्यात्तपः प्रोह्य राज्यम्।
राज्यात्तस्मात्प्रपूज्यं तप इति मनसालोच्य धीमानुदग्रं,
कुर्यादार्यः समग्रं प्रभवभयहरं सत्तपः पापभीरुः ॥१३८॥

है। मन नपुंसक की तरह कुछ भी भोग नहीं पाता है। देखो! शब्द शास्त्र में अर्थात् व्याकरण में भी मन शब्द नपुंसक लिंग का है। अमरकोश में कहा है–"चित्तं तु चेतो हृदयं स्वान्तं हृन्मानसं मनः ?" अर्थात् चित्त, चेतस्, हृदय, स्वान्त, हृत्, मानस और मन ये सभी मन के पर्यायवाची शब्द हैं जो नपुंसक लिंग में प्रयुक्त होते हैं। इस तरह वस्तुतः शब्द और अर्थ दोनों तरीके से मन नपुंसक ही सिद्ध होता है। ऐसा होने पर भी आश्चर्य तो इस बात का है कि इस नपुंसक मन ने ज्ञानवान् विवेकी पुरुष आत्मा को भी जीत लिया है। तात्पर्य यह है कि पुरुष हो या स्त्री दोनों ही इस नपुंसक से हारे हैं। पुरुष और स्त्री परस्पर भोगसुख का अनुभव कर लेते हैं किन्तु नपुंसक नहीं कर पाता है। ऐसा कहकर आत्मा के स्वाभिमान का स्मरण कराया है। जो पुरुषार्थ शील पुरुष है वह नपुंसक के द्वारा जीत लिया जाय यह बात बड़ी लज्जावाली है। यह मन विषयों को ग्रहण करने के लिए आत्मा को प्रेरित करता है। इस मन का अनुसरण करना, इसकी बात मानना पुरुष आत्मा के लिए शोभा नहीं देता है। इसलिए हे आत्मन्! विषयों की अभिलाषा मत करो ॥१३७॥

उत्थानिका–इसलिए मन को जीतकर तप करना श्रेयस्कर है, ऐसी प्रेरणा देते हुए कहते हैं–

अन्वयार्थ–(अत्र अपि) इस संसार में भी **(राज्यं)** राज्य **(सौजन्य युक्तं)** सौजन्य सहित तथा **(श्रुतवत् उरुतपः)** श्रुतज्ञान के साथ श्रेष्ठ तप **(पूज्यम्)** पूज्य है **(यस्मात्)** चूँकि **(राज्यं)** राज्य को

न्याय युक्त ही राज्य पूज्य है पूज्य ज्ञान-युत सुतप महा।
राज्य त्याग तप करे महा, लघु करे राज्य, तज सुतप अहा ॥
राज्य कार्य से सुतप पूज्य है इस विध बुधजन समझ सभी।
पाप भीत वे आर्य करें बस भव-भय हर तप सहज अभी ॥१३८॥

अन्वयः—अत्र अपि राज्यं सौजन्ययुक्तं श्रुतवदुरुतपः पूज्यं, यस्मात् राज्यं त्यक्त्वा तपस्यन् न लघुः, (अपि तु) तपः प्रोह्य राज्यं अतिलघुः स्यात् तस्मात् राज्यात् तपः प्रपूज्यं इति मनसा आलोच्य धीमान् आर्यः पापभीरुः सत्तपः प्रभवभयहरं उदग्रं समग्रं कुर्यात्।

राज्यमित्यादि। अत्रास्मिन् लोके। अपि स्फुटम्। राज्यं राजयोग्यं प्रजाशासनं वा। कथम्भूतम्? सौजन्ययुक्तं सुजनतासहितं क्रूरतारहितं वा। श्रुतवदुरुतपः सम्यग्ज्ञानसहितसम्यक्तपः। श्रुतमस्यास्तीति श्रुतवान्। उरुः महत् च तत्तपः उरुतपः। श्रुतवत् च तदुरुतपः श्रुतवदुरुतपः। एतद्द्वयं किं स्यात्? पूज्यं पूजार्हम्। अविशेषतया लोके नययुतो राजा सम्यगुरुतपस्वी मुनिमहाराजा च पूज्यतामापद्यते। तथापि विशेषेण कस्य पूज्यता समधिकेति निर्णयार्थं युक्त्या विचारोऽत्र क्रियते। तद्यथा–यस्मात् कारणात्। राज्यं पूज्यमपि। त्यक्त्वा परित्यज्य। तपस्यन् तपःकुर्वन् न लघुः अर्थात् महान् भवति। अपि तु इति शेषः। तपः प्रव्रज्याम्। प्रोह्य त्यक्त्वा। राज्यं राजशासनं कुर्वन्। अतिलघुः अतिशयेन निन्द्यः। स्यात् भवति। तस्मात् कारणात्। राज्यात् तपः प्रपूज्यं राजशासनात् तपश्चरणं प्रकर्षेण पूज्यतामायाति। महत्तमं वस्तु विहाय महत्तरं स्वीक्रियमाणस्यापेक्षातो महत्तरं वस्तु विहाय महत्तममङ्गीक्रियमाणस्य श्लाघताद्वारेण विशिष्यते तदिति

(त्यक्त्वा) छोड़कर **(तपस्यन्)** तपस्या करता हुआ **(न लघुः)** वह छोटा नहीं होता है अपितु **(तपः)** तप को **(प्रोह्य)** छोड़कर **(राज्यं)** राज्य करने वाला **(अतिलघुः)** अति लघु **(स्यात्)** हो जाता है **(तस्मात्)** इसलिए **(राज्यात्)** राज्य से **(तपः)** तप **(प्रपूज्यं)** पूज्य है **(इति)** इस प्रकार **(मनसा)** मन से **(आलोच्य)** विचार कर **(धीमान्)** बुद्धिमान् **(आर्यः)** गुणी पुरुष **(पापभीरुः)** पाप से भयभीत **(सत्तपः)** समीचीन तप जो **(प्रभवभयहरं)** संसार भय का विनाशक है **(उदग्रं)** उत्कृष्ट है **(समग्रं)** समग्र है **(कुर्यात्)** उसे करे।

अर्थ—इस संसार में सुजनता अर्थात् न्यायपूर्वक किया गया राज्य और आगम ज्ञानपूर्वक उत्कृष्ट तप ये दोनों कार्य पूज्य हैं। इसमें भी राज्य का त्याग करके तप करने वाला जीव महान् है किन्तु तप को छोड़कर राज्य करने वाला बहुत निम्न या हीन माना जाता है, इसलिए राज्य करने से भी बढ़कर तप करना पूज्य है। ऐसा अच्छी तरह विचार करके बुद्धिमान्, गुणी, पापभीरु मनुष्य को संसार के भय का नाश करने वाला, सम्पूर्ण और उत्कृष्ट समीचीन तप करना चाहिए।

टीकार्थ—राजाओं के योग्य प्रजा का शासन ही राज्य है। वह राज्य सुजनता से सहित हो अर्थात् क्रूरता से रहित हो। जिसके पास श्रुतज्ञान है उस ज्ञानी का तप ही सम्यग्ज्ञान से सहित समीचीन तप है। ऐसा राज्य और ऐसा तप दोनों ही पूजा के योग्य है। सामान्यरूप से लोक में न्याय-नीति से युक्त राजा और समीचीन श्रेष्ठ तपस्वी मुनि महाराज पूज्यता को प्राप्त होते हैं। फिर भी विशेषरूप से किसकी पूज्यता अधिक है इस बात का निर्णय करने के लिए यहाँ युक्तिपूर्वक विचार किया जाता है। चूँकि राज्य पूज्य है किन्तु उस राज्य को छोड़कर तपस्या करने वाला आत्मा छोटा नहीं हो जाता है अपितु और पूज्य हो जाता है। इसके विपरीत तप यानि दीक्षा को छोड़कर राज्य शासन करने वाला अत्यधिक निन्द्य माना

युक्तिः। इति एवं प्रकारेण। मनसा आलोच्य मनसि युक्त्या लोकरीत्या च श्रेयोऽश्रेयःसम्बन्धितर्कणं कृत्वा। धीमान् बुद्धिमान्। आर्यः पूज्यः। पापभीरु र्निजाहितकार्यविभीतः। सत्तपः सत् शोभनं च तत् तपः स्त्री-वाञ्छारहितं दृष्टश्रुतभोगाकांक्षाशून्यं च समीचीनं तपः। कथम्भूतं तत्? प्रभवभयहरं चतुर-शीतिल-क्षयोनिबाहुल्यसंसृतिनिपतन-भयविनाशकम्। प्रभवः चतुर्गतिरूपसंसार-स्तस्य भयं दुःखहेतुत्वात्तं हरतीति हरं विनाशकं तथोक्तम्। तथा कथम्? उदग्रं महत् त्रिदशपतिनरपतियतिपतिभिः पूज्यत्वात्। अपरं च किम्? समग्रं बाह्याभ्यन्तरभेद-युक्तम्। कुर्यात् आचरेदिति। स्रग्धरावृत्तम् ॥१३८॥

यश्च तपोऽपोह्य राज्ये प्रविशति स निन्दनीयो भवतीत्यत्र दृष्टान्तेन प्रबोधयति-

(अनुष्टुप्)

पुरा शिरसि धार्यन्ते पुष्पाणि विबुधैरपि।
पश्चात् पादोऽपि नास्प्राक्षीत् किं न कुर्याद् गुणक्षतिः ॥१३९॥

अन्वयः—विबुधैः अपि पुष्पाणि पुरा शिरसि धार्यन्ते पश्चात् पादः अपि न अस्प्राक्षीत् गुणक्षतिः किं न कुर्यात्।

जाता है। अतः राज्य करने से अधिक पूज्यता तप करने में है। यह युक्ति है कि महानतम वस्तु को छोड़कर महत्तर वस्तु को ग्रहण करने की अपेक्षा महत्तर वस्तु को छोड़कर महानतम वस्तु को स्वीकार करने वाले की प्रशंसा अधिक होती है। इस तरह युक्ति से और लोकरीति से पूज्यता-अपूज्यता सम्बन्धी तर्कणा मन से अच्छी तरह करके बुद्धिमान्, गुणी व्यक्ति और पापभीरु जीव को समीचीन तप करना चाहिए। जो अपना अहित करते हैं ऐसे कार्यों से भयभीत प्राणी पापभीरु कहलाता है। जो तप स्त्री की वांछा से रहित हो तथा देखे हुए, सुने हुए भोगाकांक्षा से रहित हो वह समीचीन तप है। चौरासी लाख योनियों की बहुलता वाला जो संसार है, उस संसार में गिरने के भय को दूर करने वाला तप है। वह तप देवेन्द्र, नरेन्द्र (चक्रवर्ती) और मुनियों के स्वामियों से पूज्य होने से महान् है। वह तप बाह्य और अभ्यन्तर भेदों से रहित है। यहाँ स्रग्धरा छन्द है ॥१३८॥

उत्थानिका—जो तप को छोड़कर राज्य में प्रवेश करता हैं वह निंद्य है, यह कहते हैं-

अन्वयार्थ—(विबुधैः) देवों के द्वारा **(अपि)** भी **(पुष्पाणि)** पुष्पों को **(पुरा)** पहले **(शिरसि)** शिर पर **(धार्यन्ते)** धारण किया जाता है **(पश्चात्)** बाद में **(पादः अपि)** पैर भी उन्हें **(न अस्प्राक्षीत्)** नहीं छूते हैं **(गुणक्षतिः)** गुणों से हीनता **(किं न कुर्यात्)** क्या नहीं करती है ?

पूर्ण खिले हों पूर्ण सुगंधित फूल महकते जब तक हैं।
देव सुबुध तक मस्तक पर भी धारण करते तब तक हैं॥
छूते पैरों से तक पुनि ना, गंध फूल से नहिं झरता।
अहो जगत् में नाश गुणों का क्या क्या अनर्थ नहिं करता ॥१३९॥

पुरेत्यादि। विबुधैः देवैः श्रुतधरैर्वा। 'विबुधः पण्डिते देवे' इति वि० लो०। अपि श्लाघ्येऽर्थे। अन्यस्य किं वार्तेति। पुष्पाणि कमलानि। पुरा प्राक्। शिरसि स्वमूर्ध्नि सर्वोत्तमाङ्गे। धार्यन्ते धारणं कुर्वते। पश्चात् पुष्पगुणविलयात्। पादः चरणम्। अपि निन्द्येऽर्थे। न अस्प्राक्षीत् न स्पृशेत्। ततः सूक्तम्–गुणक्षतिः किं न कुर्यात्? अर्थात् सर्ववाच्यतामाप्नुयात्। प्रफुल्लताकोमलतासुगन्धतालक्षणैः पुष्पाणि विबुधानामपि सम्मानार्हाणि प्रत्युत तद्गुणन्यूनैरस्पृश्यभूतानि भवन्ति यथा तथा खलु संयमाहिंसातपोलक्षणैः श्रमण-कदम्बकानि। ततः सिध्यति सर्वत्र गुणा एव प्रपूज्यन्ते, न च द्रव्याणि पर्याया वा। अनुष्टुप्छन्दः ॥१३९॥

स्वोन्नतिमभीप्सुना श्रमणेन स्वल्पोऽपि दोषः परित्यज्यतामित्याह–

(वसन्ततिलका)

हे चन्द्रमः किमिति लाञ्छनवानभूस्त्वं,
तद्वान् भवेः किमिति तन्मय एव नाभूः।
किं ज्योत्स्नया मलमलं तव घोषयन्त्या,
स्वर्भानुवन्ननु तथा सति नासि लक्ष्यः ॥१४०॥

अर्थ–पुष्पों को देव लोग भी पहले शिर पर धारण करते हैं और बाद में उन्हें पैरों से भी नहीं छूते हैं, सो ठीक ही है गुणों की क्षति क्या नहीं करती है ? अर्थात् सब कुछ हानि कर देती है।

टीकार्थ–देव अथवा श्रुत को धारण करने वाले विद्वान् विबुध हैं। विबुध जीव अपने शिर के ऊपर, सर्वोत्तम अंग पर कमल पुष्पों को धारण करते हैं। बाद में उन पुष्पों के गुणों का विलय हो जाने से उन्हें किसी के चरणों पर भी नहीं रखा जाता है। इसीलिए ठीक ही कहा है कि–गुणों की हानि क्या नहीं करती है ? अर्थात् गुणों की हानि से प्राणी समस्त निन्दा को प्राप्त होता है। प्रफुल्लता, कोमलता, सुगन्धता लक्षणों के द्वारा पुष्प देवों को भी सम्मान योग्य होते हैं। इसके विपरीत इन गुणों से रहित हो जाने पर वे ही पुष्प अस्पृश्य हो जाते हैं। जिस तरह पुष्पों की स्थिति है उसी तरह संयम, अहिंसा, तप-रूप लक्षणों से रहित हो जाने पर श्रमण समूह भी अपूज्य हो जाता है। इससे सिद्ध होता है कि सर्वत्र गुण ही पूजे जाते हैं। न द्रव्य की पूजा होती है और न पर्याय की पूजा होती है। तात्पर्य यह है कि गुण होने पर ही द्रव्य और पर्याय पूज्य बन जाती है। यहाँ अनुष्टुप् छन्द है ॥१३९॥

उत्थानिका–अपनी उन्नति की इच्छा रखने वाले श्रमण को स्वल्प दोष भी छोड़ देना चाहिए, यह कहते हैं–

अरे चन्द्र तू तूझे हुआ क्या बता समल क्यों बना कुधी।
बनना तुझको समल इष्ट था पूर्ण समल क्यों बना नहीं ॥
तव मल को प्रकटाती ज्योत्स्ना व्यर्थ रही बदनाम रही।
मलिन राहु सम यदि बनता तो अदृश्य होता शाम कहीं ॥१४० ॥

अन्वयः—हे चन्द्रमः त्वं किमिति लाञ्छनवान् अभूः, तद्वान् भवेः, तन्मय एव किमिति न अभूः, तव मलं अलं घोषयन्त्या ज्योत्स्नया किं? तथा सति स्वर्भानुवत् ननु न लक्ष्यः असि।

हे चन्द्रम इत्यादि। हे चन्द्रमः! चन्द्रस्य सम्बोधनमेतत्। त्वं किमिति एवंप्रकारेण। लाञ्छनवान् कलङ्कसहितः। अभूः अजनिष्ठाः। 'भू सत्तायाम्' इति लुङ् । तद्वान् भवेः यदि कलङ्कसहितत्वमिच्छेत् तर्हि। तन्मय एव किमिति नाभूः अशेषतया लाञ्छनयुक्तमेव भवितव्यम्। तव मलं भवत्कलङ्कम्। अलमतिशयेन। घोषयन्त्या घोषणां प्रकटनं वा कुर्वन्त्या। कया? ज्योत्स्नया चन्द्रदीधितप्रभया। किं? किं प्रयोजनमित्यर्थः। तथा सति साकल्येन मलिनतामापन्ने सति। स्वर्भानुवत् कालिमा-कलितराहुवत्। ननु निश्चयेन। न लक्ष्यः असि न दर्शनीयोऽसि।

चन्द्रमसि शिशिरप्रभासितकान्त्यौषधगुणत्वकुमुदिनीविकासित्वाशेषजनाह्लादत्वाद्यनेकगुण-निचितेऽपि शशलाञ्छनेन कालिमानमादधानः कलङ्कीत्याकल्यते। तज्ज्योत्स्नया तस्य मलिनता किलातिशयेन सर्वेषां नयनपथगोचरतामेति। तव दृश्यमानस्याद्यक्षणे लाञ्छनता हि दृश्यते ततः तन्मयः किं नाभूस्त्वमिति

अन्वयार्थ—(हे चन्द्रमः) हे चन्द्रमा! **(त्वं)** तू **(किमिति)** क्यों इस प्रकार से **(लाञ्छनवान्)** कलंक युक्त **(अभूः)** हुआ है। **(तद्वान्)** तुझे कालिमा वाला **(भवेः)** ही होना था तो **(तन्मय एव)** पूर्णतः तन्मय कालिमामय ही **(किमिति)** क्यों **(न अभूः)** नहीं हुआ। **(तव)** तुम्हारी **(मलं)** मलिनता को **(अलं)** खूब **(घोषयन्त्या)** कहने वाली **(ज्योत्स्नया)** चांदनी से **(किम्)** क्या होगा ? **(तथा सति)** कालिमामय होने पर **(स्वर्भानुवत्)** राहु की तरह **(ननु)** तो **(न लक्ष्यः असि)** देखने में नहीं आता।

अर्थ—हे चन्द्र! तू क्यों इस तरह कलंकरूप चिह्न से सहित है। तू मलिन चिह्न वाला क्यों हुआ है ? पूर्ण रूप से मलिन-काला ही क्यों नहीं हो गया ? स्पष्टरूप से मलिनता को प्रकट करने वाली तेरी चाँदनी से क्या लाभ है ? यदि तू पूर्णरूप से काला होता तो राहु की तरह किसी के भी देखने में तो नहीं आता।

टीकार्थ—हे चन्द्र! तुम किसलिए इस प्रकार कलंक सहित हुए हो ? यदि कलंक सहित होने की ही इच्छा थी तो पूर्ण रूप से कलंकमय हो जाना चाहिए था। तुम्हारा कलंक तुम्हारी किरणों की प्रभा से और अधिक प्रकट होता है इसलिए तुम्हारी चाँदनी से भी क्या प्रयोजन है ? यदि तुम कालिमा सहित राहु की तरह पूर्ण रूप से मलिन होते तो निश्चय से दाग सब को दिखाई तो नहीं देता।

चन्द्रमा में शीतल प्रभा, धवल कान्ति, औषधीयगुण, कुमुदिनी को खिलाना और समस्त जनों को आह्लाद उत्पन्न करना आदि अनेक गुणसमूह होने पर भी खरगोश के चिह्न से अपने अन्दर कालिमा धारण करता है इसलिए कलंकी कहलाता है। उसी चन्द्रमा की चाँदनी से उसकी मलिनता और अधिक उजागर होकर सभी को आँखों में दिखाई देती है। हे चन्द्र! जब तुम देखने में आते हो तो सबसे पहले तुम्हारी मलिनता ही दिखाई पड़ती है इसलिए तुम पूर्णरूप से मलिन क्यों नहीं हो गए। इस प्रकार कवि

विप्रलम्भः कवेरत्र। अर्थान्तरेण प्रचुरक्लेशकारिव्रततपःपरिपाल्य-मानस्य श्रमणस्य स्वल्पदोषानुषङ्गोऽपि जुगुप्साहेतुक इत्याविरबीभवत्। निर्ग्रन्थलिङ्गमवधार्य मिथ्यात्वपोषणं द्रविणग्रहणं कान्ताकटाक्षैर्वैराग्यलोपनं श्रमणाप्रायोग्यपरिग्रहधारण श्रुत्वापि मित्यादिदोषास्तं कलङ्कयन्ति। तेन लोकोपहासविलासपात्रम्। संयमपात्रेऽसंयमच्छिद्रो न सह्यः। यथा पूर्णमास्यां स्वज्योत्स्नया स्वकलङ्क एवात्यन्त-स्पष्टीभवति तथा तपोज्ञानसंघपरिचय-जिनपूजादिना लोके विश्रुतेन साकमहो स एष, तेनैवं कृतमित्यादिः। यथा चन्द्रमसो लाञ्छनं स्वयं स न पश्यति प्रत्युत पर एव तथा यमिनो दोषलेशम्। यथा कलङ्कयुतराहुः परैरदृश्य एव श्रेयः तथा गृही तद्योग्यत्वात्। न चात्र पुनर्गृहस्थधर्मङ्गीकरणायोपदेशः प्रत्युत दोषोऽणोरणीयानपि निवार्यतामिति भावः ॥१४०॥

अथ शिष्यदोषप्रच्छादकस्य गुरोः खलादधस्तादिति निवेदयति-

दोषान् कांश्चन तान् प्रवर्तकतया प्रच्छाद्य गच्छत्ययं,
सार्धं तैः सहसा म्रियेद्यदि गुरुः पश्चात्करोत्येष किम्।
तस्मान्मे न गुरुर्गुरुर्गुरुतरान् कृत्वा लघूंश्च स्फुटं,
ब्रूते यः सततं समीक्ष्य निपुणं सोऽयं खलः सद्गुरुः ॥१४१॥

की उलाहना है। अर्थान्तर से यहाँ यह कहा गया है कि जो श्रमण बहुत क्लेशकारी व्रत, तप का परिपालन करता है उसका थोड़ा भी दोष सहित होना घृणा का कारण हो जाता है। निर्ग्रन्थ लिङ्ग को धारण करके मिथ्यात्व का पोषण करना, धन ग्रहण करना, स्त्री के कटाक्षों से वैराग्य की हानि करना, श्रमण के अयोग्य परिग्रह धारण करना इत्यादि दोष श्रमण को कलंकित करते हैं। जिससे वह श्रमण संसार में उपहास का पात्र बन जाता है। संयम के पात्र में असंयम का छिद्र होना असहनीय होता है। जैसे पूर्णमासी की रात्रि में अपनी चाँदनी से चन्द्रमा का कलंक ही अत्यन्त स्पष्ट होता है उसी प्रकार तप, ज्ञान, संघवृद्धि, जिनपूजा आदि के द्वारा लोक में तपस्वी प्रसिद्ध होता है और उसके साथ ही दोष सहित होने पर यह भी कहा जाता है-अहो! इसने ही ऐसा किया है, यह अपराधी है। जैसे चन्द्रमा अपने दोष को स्वयं नहीं देखता है, किन्तु दूसरे ही लोग देखते हैं, उसी प्रकार तपस्वी का थोड़ा भी दोष दूसरों के देखने में आ जाता है। जैसे राहु मलिनता से सहित हुआ, दूसरों के द्वारा नहीं देखा जाता है, वही उसके लिए श्रेयस्कर है उसी प्रकार गृहस्थ दोषी भी रहे तो उसे कोई भी नहीं देखता है क्योंकि गृहस्थ उसके योग्य है। इससे यह नहीं समझना कि यहाँ पुनः गृहस्थ धर्म को अंगीकार करने का उपदेश दिया जा रहा है किन्तु अणु से भी सूक्ष्म दोष का निवारण करना चाहिए, यह भाव है ॥१४०॥

दोष छिपा कुछ शिष्य जनों के स्वयं मनो गुरु चले चला।
दोष सहित यदि शिष्य मरे तो फिर वह गुरु क्या करे भला ॥
इसीलिये वह किसी तरह भी हितकारी गुरु नहीं रहा।
स्वल्प दोष भी बढ़ा चढ़ा खल भले कहें गुरु वही महा ॥१४१॥

अन्वयः—यदि अयं गुरुः तान् कांश्चन दोषान् प्रवर्तकतया प्रच्छाद्य गच्छति तैः सार्धं सहसा म्रियेत् एष पश्चात् किं करोति, तस्मात् मे न गुरुः गुरुः, यः निपुणं सततं समीक्ष्य स्फुटं लघून् च गुरुतरान् कृत्वा ब्रूते सः अयं खलः सद्गुरुः।

दोषानित्यादि। यदि अयं दृश्यमानः। गुरुः आचार्यः प्रवर्तको वा। तान् कांश्चन् स्थूलसूक्ष्मरूपान्। दोषान् अनुचिताचरणान्। प्रवर्तकतया यथा तथा विधिना संघसंचालनमनस्कतया। 'हेत्वर्थे' इति का. सूत्राद् हेत्वर्थे तृतीया। प्रवर्तनं करोति गुणदोषपोषणनिवारणतया स प्रवर्तकः। तस्य भावः प्रवर्तकता तया। प्रच्छाद्य प्रच्छानं अप्रकाशनं कृत्वा। गच्छति संघस्थशिष्यान् वाहयति। यश्च शिष्यान् दीक्षां दत्ते स दीक्षागुरुरुच्यते। यश्च तान् सल्लेखनादिना रत्नत्रयमार्गे भृशं प्रेरयति स गुरुर्निर्यापकः कथ्यते। स च निर्यापको दीक्षागुरुश्चान्यो वा भवति। तस्य गुण पापभीरुत्वादयो बहवो मूलाचारे निर्दिष्टाः। तेषु शिष्याणामनुग्रह–

उत्थानिका—शिष्य के दोषों को ढकने वाला गुरु दुर्जन से भी गया बीता है, यह कहते हैं–

अन्वयार्थ—**(यदि)** यदि **(अयं गुरुः)** यह गुरु **(तान् कांश्चन दोषान्)** उन किन्हीं दोषों को **(प्रवर्तकतया)** संघ चलाने की अपेक्षा से **(प्रच्छाद्य)** प्रच्छादित करके **(गच्छति)** चलता है। **(तैः सार्धं)** उन दोषों के साथ **(सहसा म्रियेत)** सहसा मर जावे **(एष पश्चात्)** तो यह बाद में **(किं करोति)** क्या करेगा ? **(तस्मात्)** इसलिए **(मे)** मेरा **(गुरुः)** गुरु **(न गुरुः)** गुरु नहीं है **(यः)** जो **(निपुणं)** निपुण गुरु **(सततं)** निरन्तर **(समीक्ष्य)** विचारकर **(स्फुटं)** स्पष्टरूप से **(लघून्)** छोटे दोष को **(च गुरुतरान्)** भी बहुत बड़ा **(कृत्वा)** करके **(ब्रूते)** कहते हैं **(सः)** वह **(अयं)** यह **(खलः)** दुर्जन भी **(सद्गुरुः)** सद्गुरु है।

अर्थ—यदि यह मेरा गुरु जिन किन्हीं दोषों को संघ चलाने की अपेक्षा से उन दोषों को ढककर चलना है, तो उन दोषों के साथ अचानक मेरा मरण हो जावे तो फिर कौन क्या करेगा ? इसलिए ऐसा गुरु मेरा गुरु नहीं है। जो निरन्तर दोषों को विचारकर छोटे भी दोषों को बड़ा करके स्पष्टरूप से समझाता है वही गुण-दोषों में प्रवीण दुर्जन भी मेरा सद्गुरु है।

टीकार्थ—जो समक्ष गुरु आचार्य या प्रवर्तक रूप में है। वह स्थूल या सूक्ष्म अनुचित आचरण को जिस किसी भी विधि से संघ को चलाना है, इस मानसिकता से चलाता है और उन दोषों को बताता नहीं है वह शिष्य की हानि करता है।

गुणों का पोषण और दोषों का निवारण करके जो प्रवर्तन करता है वह प्रवर्तक है। जो शिष्यों को दीक्षा देता है वह दीक्षागुरु कहा जाता है। जो शिष्यों को सल्लेखना आदि के द्वारा रत्नत्रय मार्ग में अत्यधिक प्रेरित करता है वह गुरु निर्यापक कहा जाता है। वह निर्यापक गुरु दीक्षागुरु भी हो सकता है और अन्य कोई भी हो सकता है।

उस गुरु के पापभीरुता आदि बहुत से गुण हैं जो मूलाचार में कहे हैं–

उन गुणों में शिष्यों का उपकार करने में और उन्हें प्रायश्चित्त आदि दण्ड देने की कुशलता होना

निग्रहकुशलता श्रेष्ठतमो गुणः सर्वेषां तथायोग्यताऽभावात्। यश्च संघस्य वृद्धिमात्रभावनयाऽपरीक्षिततया वा संघे प्रव्राज्य स्वीकरोति सोऽविवेकी दोषभाग् भवति। स एव संघहानिलोकनिन्दाप्रतिष्ठान्यूनताभयेन शिष्यस्य दोषानप्रकाश्य प्रवर्तते। यश्च दीक्षां दत्वा संघान्निर्घाटयति, दीक्षोपरान्तमहं संघे न वत्स्यामीति प्रतिज्ञां श्रुत्वापि दीक्षया सहैवाचार्योपाध्यायाद्युपाधिप्रदानानुबन्धं विधायापि शिष्यस्य दीक्षां प्रदत्ते स गुरुरपि स्वोत्तरदायित्वं न निर्वहति ततः स दोषास्पदमुपलभते। स एव प्रवर्तकतया दोषान् प्रच्छाद्य प्रवर्तते शिष्यमोहत्वात्। दोषैः शिष्यस्य का हानिरित्याह–तैः दोषैः। सार्धं सह। सहसा आकस्मिकेन। म्रियेत् मरणं गच्छेत्। एष गुरुः। पश्चात् मरणोपरान्तम्। किं करोति किं हितं करिष्यति। तस्मात् कारणात्। मे मम। न गुरुः मोक्षसुखप्रदायकः। गुरुः अस्तीति शिष्येण विचार्यते। यः गुरुः। निपुणं दोषान्वेषणे प्रवीणः। सततमनवरतम्। समीक्ष्य समालोच्य। स्फुटं निश्चितम्। लघून् स्वल्पान्। च स्थूलांश्च। गुरुतरान् पर्वतीकृत्याणुदोषान्। कृत्वा एवंविधाय। ब्रूते कथयति। स अयं खलो दुष्टो धूर्तो वा। सद्गुरुः समीचीनगुरुः दोषप्रकाशनात्। इति सच्छिष्यस्याभिप्रायः। शार्दूलविक्रीडितवृत्तम् ॥१४१॥

श्रेष्ठतम गुण हैं। उपकार करना और दण्ड देना, यह गुण सभी में नहीं होता है क्योंकि इस गुण की योग्यता का सभी गुरुओं में सद्भाव नहीं होता है।

जो गुरु संघ को बढ़ाने मात्र की भावना से या बिना परीक्षा किये ही शिष्य को दीक्षा देकर स्वीकार कर लेता है वह अविवेकी है और दोष का भागी है।

ऐसा गुरु ही संघ कम न हो जाय, लोक में निन्दा न हो, प्रतिष्ठा में कमी न आ जाय, इस भय से शिष्य के दोषों को न दिखाकर उनका वहन करता है।

जो दीक्षा देकर संघ से शिष्य को निकाल देता है मैं दीक्षा के उपरान्त संघ में नहीं रहूँगा, ऐसी शिष्य की प्रतिज्ञा को सुनकर भी और दीक्षा के साथ ही आचार्य, उपाध्याय आदि उपाधि प्रदान करने का अनुबंध करके भी दीक्षा प्रदान करता है वह गुरु भी अपने उत्तरदायित्व का निर्वाह नहीं करता है, इसलिए वह दोषों के स्थान को प्राप्त करता है।

शंका—शिष्य के मोह से दोषों को ढककर जो प्रवृत्ति करता है, उससे शिष्य को क्या हानि है?

समाधान—यदि दोषों के साथ अकस्मात् मरण हो जावे तो मरण के बाद वह गुरु मेरा क्या हित करेगा? इस कारण से उस शिष्य का परलोक बिगड़ जाना ही सबसे बड़ी हानि है। वह शिष्य विचार करता है कि मेरा यह गुरु मोक्षसुख का प्रदायक नहीं है।

जो गुरु दोषों के अन्वेषण में निपुण है वही निरन्तर स्वल्प भी दोषों की समीक्षा करके अणु समान दोषों को पर्वत के समान बड़ा करके कहता है, वह ही मेरा समीचीन गुरु है चाहे वह दुर्जन हो अथवा धूर्त हो। अर्थात् दोषों के प्रकाशन से वह भले ही मुझे उस समय दुर्जन लगे, ऐसा गुणी शिष्य का अभिप्राय रहता है। यहाँ शार्दूलविक्रीडित छन्द है ॥१४१॥

यश्च सद्गुरुः स्यात्तस्य वचनपीयूषशीकराणि सच्छिष्यस्य कथयायभूतानि भवन्तीत्यत्राह–

(अनुष्टुप्)

विकाशयन्ति भव्यस्य मनोमुकुलमंशवः।
खेरिवारविन्दस्य कठोराश्च गुरूक्तयः ॥१४२॥

अन्वयः—कठोराः गुरूक्तयः भव्यस्य च रवेः अंशवः अरविन्दस्य इव मनोमुकुलं विकाशयन्ति।

विकाशयन्तीत्यादि। कठोराः कटुकाः रविपक्षे तीक्ष्णाः। गुरूक्तयः गुरोर्वचनानि। भव्यस्य निर्वाणार्हस्य रविपक्षे विकसनशीलस्य। च तथा। रवेः सूर्यस्येव। अंशवः किरणाः। अरविन्दस्य कमलस्य इव। मनोमुकुलं मनःकमलम्। मनश्च मुकुलंच मनोमुकुलं तेन भव्यस्य मनश्चारविन्दस्य मुकुलमिति योज्यम्। अथवा मन एव मुकुलं भव्यस्य तम्। ''कुड्मलो मुकुलोऽस्त्रियाम्'' इत्यमरः। अर्धविकसित-कमलमेव विकसनयोग्यतां बिभर्ति तदुपादानयोग्यत्वादित्यनेन ध्वनितं। विकाशयन्ति विकाशं प्रसन्नमुन्नतिं वा कुर्वन्ति। इति श्लोको गुरुशिष्ययोः समञ्जसीं योग्यतां च मिथः सहजसम्बन्धतां व्यनक्ति। तद्यथा–स्वकीयसत्पथे सततगमनशीलो भास्करो यथा स्वात्माधिकृताध्यात्मप्रभया भुवनतलं प्रभासयति तथा

उत्थानिका—सद्गुरु के वचनामृत के शीतल कण अच्छे शिष्य को कैसे लगते हैं, यह कहते हैं–

अन्वयार्थ—**(कठोराः)** कठोर **(गुरूक्तयः)** गुरु वचन **(भव्यस्य च)** भव्य जीव के **(रवेः अंशवः अरविन्दस्य इव)** जिस प्रकार सूर्य की किरणें कमल की कली को विकसित करती हैं। **(मनोमुकुलं)** मन तथा कली को **(विकाशयन्ति)** विकसित करते हैं।

अर्थ—कठोर गुरु वचन भव्य जीव के मन को उसी तरह विकसित करते हैं जैसे सूर्य की कठोर किरणें कमल की कली को विकसित करती हैं।

टीकार्थ—निर्वाण के योग्य भव्यजीव हैं। गुरु के वचन कठोर होते हैं और सूर्य की किरणें भी कठोर होती हैं। भव्यजीव का मन कमल की कली की तरह सुकोमल होता है। कली जिस तरह खिलने की योग्यता रखती है उसी तरह भव्यजीव का मन विकास की योग्यता रखता है। यहाँ मन को कली की उपमा देकर उस शिष्य की उपादान योग्यता को दर्शाया है। गुरु के कठोर वचन भी भव्यजीव के मन की प्रसन्नता अथवा उन्नति को वृद्धिंगत करते हैं। यह श्लोक गुरु-शिष्य की वास्तविक योग्यता और परस्पर के सहज सम्बन्ध को दर्शाता है। वह इस प्रकार है–अपने सत्पथ पर निरन्तर गमनशील

गुरु के वचनों में यद्यपि वह कठोरता भी रहती है।
भविकजनों के मन की कलियाँ तथापि खुलती खिलती हैं॥
प्रखर प्रखरतर दिनकर की वे किरणें अगनी बरसातीं।
कोमल कोमलतम कमलों को किन्तु खुल खिला विहँसाती ॥१४२॥

श्रमणसूरिर्नान्यथा। जगदातापक्लेशदायिनो रवेः कठोरांशवो यथा कमलदलानामभ्युदयाय तथा दूरभव्यस्या-भव्यस्य चारुचिकरा अपि सूक्तयो सद्गुरूणां प्रत्यासन्ननिष्ठस्य भव्यस्य मनोजलजदलानाम्। यथा खलु दृश्यते कमलबन्धुकमलयोः सहजाऽलौकिकी मैत्री तथा हि गुरुशिष्ययोः परस्परं निरापेक्षत्वात् ॥१४२॥

अथ हितोपदेशकोपदेष्टारोऽनुष्ठायिश्रोतारश्च दुर्लभा इत्यत्राह–

(अनुष्टुप्)

लोकद्वयहितं वक्तुं श्रोतुं च सुलभाः पुरा।
दुर्लभा कर्तुमद्यत्वे वक्तुं श्रोतुं च दुर्लभाः ॥१४३॥

अन्वयः–पुरा लोकद्वयहितं वक्तुं श्रोतुं च सुलभाः, कर्तुं दुर्लभाः, अद्यत्वे वक्तुं श्रोतुं च दुर्लभाः।

लोकेत्यादि। पुरा सुःषमदुःषमकाले। लोकद्वयहितं इहपरलोकसुखकारण-भूतम्। वक्तुं कथयितुं। श्रोतुं श्रवणं कर्तुम्। च समुच्चये। सुलभाः बहुसंख्यकाः। कर्तुं दुर्लभाः इति पदमुभयत्र देहलीदीपकन्यायेन

सूर्य जैसे अपनी स्वयं की प्रभा से भुवनतल को प्रकाशित करता है उसी प्रकार श्रमण आचार्य अपने तप, ज्ञान से भव्यजीवों को प्रकाशित करते हैं, अन्य प्रकार से नहीं। जगत् को आताप से क्लेश देने वाली सूर्य की कठोर तीक्ष्ण किरणें जैसे कमल-दलों के विकास के लिए होती हैं उसी प्रकार दूर भव्य और अभव्य को अरुचिकर होती हुई भी सद्गुरुओं की श्रेष्ठ उक्तियाँ निकट भव्य जीव के हृदय कमल को खिलाने वाली होती हैं। जैसे सूर्य और कमल में सहज अलौकिक मैत्री देखी जाती है वैसे ही सद् गुरु-शिष्य के बीच में परस्पर मैत्री भाव बिना किसी अपेक्षा के होता है ॥१४२॥

उत्थानिका–अब हितोपदेशक उपदेष्टा और अनुष्ठान करने वाले और श्रोता दुर्लभ है, यह कहते हैं–

अन्वयार्थ–(पुरा) पहले **(लोकद्वयहितं)** दोनों लोक का हित **(वक्तुं)** बताने वाले और **(श्रोतुं च)** सुनने वाले **(सुलभाः)** सुलभ थे **(कर्तुं दुर्लभाः)** करने वाले दुर्लभ थे **(अद्यत्वे)** आजकल तो **(वक्तुं श्रोतुं च)** वक्ता और श्रोता दोनों ही **(दुर्लभाः)** दुर्लभ हैं।

अर्थ–पहले तो लोकद्वयहितकारी ऐसे धर्म को कहने वाले और सुनने वाले तो सुलभ थे, करने वाले दुर्लभ थे, अब वर्तमान काल में तो कहने वाले और सुननेवाले भी दुर्लभ हो गये हैं।

टीकार्थ–पहले सुखमा दुःखमा काल में इस लोक और परलोक सम्बन्धी सुख के कारणभूत हितकारी वचन कहने वाले और सुनने वाले सुलभ होते थे, बहुसंख्यक होते थे। किन्तु धर्म से हित

उभय लोक के हित की बातें कई सुनाते सुनते थे।
विगत काल में भी दुर्लभ थे सुनते सुनते गुणते थे॥
धर्म सुनाता कौन सुने अब ये भी दुर्लभ विरल मिले।
हित पथ पर चलने वाले तो 'ईद चन्द्र' सम विरल खिले ॥१४३॥

योज्यम्। तेन पुराकालेऽपि तथानुष्ठातुं दुर्लभा एवेति प्रोक्तम्। अद्यत्वे इदानींतनकाले। वक्तुं श्रोतुं च दुर्लभा तथानुष्ठातुं च दुर्लभा इति विज्ञेयम्। नयविज्ञानसम्पन्नाः सद्धर्मदेशकाः कलौ नितान्तं खद्योतवत्क्व- चित्क्वचिद् दृश्यन्ते च श्रोतारः कालुष्यरहिताश्च। यतश्च प्रोक्तम्–

''कालः कलिर्वा कलुषाशयो वा श्रोतुः प्रवक्तुर्वचनानयो वा।
त्वच्छासनैकाधिपतित्वलक्ष्मी - प्रभुत्वशक्तेरपवादहेतुः॥''

साम्प्रतं तु प्रतिपादयितारो नयविज्ञानविपन्नैः सह दण्डनीतिरहिता अपि सञ्जाता शिष्यवृद्धिव्यामोहात्। श्रोतारश्च कुतर्ककाष्ठामापन्ना विवेकविकला विगततल-भाण्डवत् इतस्ततो लुठ्यन्ति। कर्तुमुद्यताश्चातीव- विरलाः सन्ति पुरातनकालवत्। अनुष्टुप्छन्दः ॥१४३॥

स्वपरहितपरायणैर्गुरुभि र्दोषोद्घाटनमपि वरं प्रशंसनादज्ञैरित्यत्राह–

(पृथ्वी)

गुणागुणविवेकिभि-र्विहितमप्यलं दूषणं
भवेत् सदुपदेशवन्मतिमतामतिप्रीतये।
कृतं किमपि धाष्र्यतः स्तवनमप्यतीर्थोषितैः
न तोषयति तन्मनांसि खलु कष्टमज्ञानता ॥१४४॥

साधने वाले तो तब भी दुर्लभ होते थे। इस पंचम काल में तो हितकारी उपदेश करने वाले तथा सुनने वाले भी दुर्लभ हैं, हित का अनुष्ठान करने वाले तो दुर्लभ हैं ही। नीति और विशेष ज्ञान से सम्पन्न समीचीन धर्म के देशक कलिकाल में बहुत कुछ जुगनू के समान कहीं-कहीं दिखते हैं और श्रोता भी कलुषता रहित इसी तरह कहीं-कहीं दिखते हैं। कहा भी है–

''यह कलिकाल है। श्रोता का आशय कलुष रहता है और वक्ता के वचन नयों से रहित हैं। हे भगवन्! आपके शासन पर एकाधिपतित्व रखने वाली लक्ष्मी की प्रभुता शक्ति का अपवाद होने का यही कारण है।''

वर्तमान में उपदेश देने वाले नय, विज्ञान से रहित होने के साथ दण्डनीति से रहित भी हो गए हैं, क्योंकि शिष्यों की वृद्धि का उन्हें व्यामोह रहता है। श्रोताजन भी कुतर्क की पराकाष्ठा को प्राप्त हुए विवेक रहित होते हुए बिना पैंदी के लोटे की तरह इधर-उधर लुढ़कते रहते हैं। करने के लिए उद्यत होने वाले तो प्राचीन काल की तरह आज भी अत्यन्त विरल हैं। यहाँ अनुष्टुप् छन्द है ॥१४३॥

दोष गुणन का ज्ञान जिन्हें है जबकि दिखाते दूषण हैं।
बुधजन को वह सदुपदेश सम प्रिय लगता है भूषण है॥
बुधजन की जो करें प्रशंसा बिन आगम का ज्ञान अहा।
विज्ञ तुष्ट नहिं होते उससे खेद कष्ट अज्ञान रहा ॥१४४॥

अन्वयः—गुणागुणविवेकिभिः दूषणं अपि अलं विहितं मतिमतां सदुपदेशवत् अतिप्रीतये भवेत् अतीर्थोषितैः किमपि कृतं स्तवनं अपि धाष्टर्यतः तत् मनांसि न तोषयति अज्ञानता खलु कष्टम्।

गुणागुणेत्यादि। गुणागुणविवेकिभिः गुणदोषानुष्ठानपरिहारप्रवीणैः सत्पुरुषैः। गुणा विनयाज्ञा-पालनानुत्सेकतादयः। अगुणा दोषा मात्सर्यवाच्यतादयः। गुणाश्चा-गुणाश्च गुणागुणास्तेषु विवेकिनः कुशला ये तैः। दूषणं दोषाः। अपि यदि अलमतिशयेन। विहितमुद्भावितम्। मतिमतां हिताहित-परत्वापरत्वशालिनाम्। मतिर्बुद्धि-र्येषामस्ति ते मतिमन्तस्तेषाम्। सदुपदेशवत् हितोपदेशवत् प्रियत्वेन। अतिप्रीतये अतिशयेन मोदाय। भवेत् स्यात्। अतीर्थोषितैः कापथस्थैः सुजनैर्दुर्जनैर्वा। अर्हत्प्रणीतागम एव तीर्थः। न तीर्थोऽतीर्थस्तेनोषिताः सेविताः स्थितास्तत्र वा तैरिति। किमपि कृतं स्तवनं। अपि प्रशंसावचनम्। कस्मात्? धाष्टर्यतः स्वार्थतो बलाद्वा। धृष्टस्य भावो धाष्टर्यम्। 'यण् च प्रकीर्तितः'। तस्मादिति यण्

उत्थानिका—स्वपरहित में कुशल गुरुओं के द्वारा दोषों का उद्घाटन श्रेष्ठ है, अज्ञानियों द्वारा की गई प्रशंसा भी श्रेष्ठ नहीं है, यह कहते हैं–

अन्वयार्थ—(गुणागुणविवेकिभिः) गुण-दोष का विवेक रखने वालों के द्वारा **(दूषणं अपि)** दूषण भी **(अलं विहितं)** खूब कहा गया हो तो वह **(मतिमतां)** बुद्धिमानों को **(सदुपदेशवत्)** सदुपदेश की तरह **(अतिप्रीतये)** अतिप्रीति के लिए **(भवेत्)** होता है। **(अतीर्थोषितैः)** धर्म से रहित लोगों के द्वारा **(किमपि)** कुछ भी **(कृतं)** किया हुआ **(स्तवनं)** स्तवन **(अपि)** भी **(धाष्टर्यतः)** धृष्टता से **(तत् मनांसि)** उसके मन को **(न तोषयति)** तुष्ट नहीं करता है। **(अज्ञानता खलु कष्टम्)** वस्तुतः अज्ञान ही कष्ट है।

अर्थ—गुण-दोषों का विचार रखने वाले सज्जन पुरुषों के द्वारा यदि बहुत दोष भी बताया गया हो तो वह ज्ञानवानों को सदुपदेश की तरह अति प्रीति का कारण होता है। मिथ्यादृष्टियों के द्वारा किया हुआ स्तुति कारक वचन (स्तवन) भी धृष्टतापूर्वक होने से उन ज्ञानियों के मन को सन्तुष्ट नहीं करता है। निश्चित ही अज्ञानता सबसे बड़ा कष्ट है।

टीकार्थ—विनय, आज्ञा का पालन करना, उद्रेकता नहीं होना इत्यादि अच्छी प्रवृत्तियाँ गुण हैं। मात्सर्य, निन्दा वचन आदि दोष हैं। जो गुणों का अनुष्ठान करते हैं अर्थात् आचरण करते हैं और दोषों से बचते हैं वे ही विवेकी मनुष्य हैं। ऐसे कुशल, विवेकी जनों के द्वारा यदि कोई दूषण प्रकट किया गया है तो वह भी हित में तत्पर रहने वाले और अहित से बचने वाले बुद्धिमान मनुष्यों के लिए हितोपदेश की तरह प्रिय लगता है। उस दोष को सुनने से भी उसे प्रसन्नता होती है। किन्तु जो कुपथ पर चल रहे हैं वे चाहे सज्जन हों या दुर्जन हों उनके द्वारा कहे हुए प्रशंसा वचन भी उसे अच्छे नहीं लगते हैं। अर्हत् भगवान् के द्वारा कहा हुआ आगम ही तीर्थ है। उस तीर्थ में स्थित या उस आगम को जानने वाले मनुष्यों के निन्दा वचन भी अच्छे हैं किन्तु उस तीर्थ को न जानने वाले के प्रशंसा वचन भी हितकर नहीं हैं क्योंकि वह व्यक्ति प्रशंसा किसी स्वार्थ से अथवा बलात्, जबरदस्ती करता है। ऐसी प्रशंसा

प्रत्ययात्। तत् मति-मताम्। मनांसि हृदयानि। न तोषयति सन्तोषाय न भवति। ततः सिद्धम्-अज्ञानता स्वहिताकुशलता। खलु निश्चयेन। कष्टं दुःखप्रदम्। गुरुजनेषु कालुष्यपरिणामः किलाज्ञानता विपर्यास-चिन्तनात्। तद्यथा-

अयं तु मे सच्चारित्रे दोषानुद्भावयति, यथान्यान् प्रसीदतया प्रतिपाद्यते न मे तथाऽस्मद्बद्धक्रोधात्, मया विश्वं दृष्टं, यथा मे विधिस्तथा घटेत्, निर्ग्रन्थोऽहम्, तपःप्रवीणोऽहम् मे महाव्याधिरप्युपेक्ष्यतेऽन्यस्य चर्मराजिरपि बहुधाऽवेक्ष्यते, तीर्थयात्राप्रतिष्ठामहोत्सवेऽन्यान् कनिष्ठानपि समाज्ञापयति प्रत्युत मां निवारयति। इत्यादि विपर्यासचिन्तनं गुरून् प्रति स्वाहितकरं पापप्रणिधानात्। स्वात्महिताकांक्षिणः पीयूष-वत्कटुकमपि वचनमापिबन्ति। सद्गुरोर्वचनं कटुकं वा मधुरं वा भव्यो हि प्रतीक्षतेऽन्येषाम-प्रयोजनत्वाच्चातकस्य मेघाम्बुपानवदिति। यदुक्तम्-

''संजमजणावमाणं पि वरं दुज्जणकदादु पूजादो।
सीलविणासं दुज्जण संसग्गी कुणदि ण दु इदरं ॥''

पृथ्वीच्छन्दः ॥१४४॥

बुद्धिमानों के हृदय को सन्तुष्ट नहीं करती है। इससे सिद्ध है कि निश्चय से अज्ञानता ही दुःखप्रद है। अपने हित में निपुण नहीं होना ही अज्ञानता है। गुरुजनों के विषय में विपरीत सोचना ही कलुषता का परिणाम है और यही अज्ञानता है। जो इस प्रकार है-

ये गुरु मेरे सच्चरित्र में दोषों को दिखाते हैं, जैसे अन्य शिष्यों को प्रसन्नता पूर्वक समझाते हैं वैसे मुझे नहीं समझाते हैं क्योंकि मेरे प्रति उनका क्रोध ही बना रहता है, मैंने भी दुनिया देखी है, जैसा मेरा भाग्य होगा वैसा होगा, मैं भी निर्ग्रन्थ हूँ, तपस्या करने में कुशल हूँ। ये गुरु मेरी महाव्याधि का भी ध्यान नहीं रखते हैं और दूसरे के शरीर पर लकीर भी दिख जाय तो बहुत बार देखते हैं, तीर्थयात्रा, प्रतिष्ठा महोत्सव आदि में अन्य जो मुझसे छोटे हैं उन्हें भी आगे कर देते हैं, उन्हें आज्ञा देते हैं और मुझे रोकते हैं इत्यादि रूप से विपरीत चिन्तन गुरु के प्रति करना अपने आत्मा के लिए अहितकर हैं क्योंकि इस चिन्तन में उपयोग पाप भाव में लगा है। जो अपनी आत्मा के हित की इच्छा रखता है वह सद्गुरु के कटुक वचन भी अमृत के समान समझकर पी जाता है। सद्गुरु के वचन चाहे कटुक हों अथवा मधुर हों भव्यजीव तो चातक द्वारा मेघ के जल का पान करने की तरह सदैव उन वचनों की प्रतीक्षा करता है, अन्य जीवों को उससे कोई प्रयोजन नहीं रहता है। कहा भी है-

''संयमी जनों के द्वारा किया गया अपमान भी श्रेष्ठ है किन्तु दुर्जन व्यक्ति के द्वारा की हुई पूजा भी श्रेष्ठ नहीं है। अपने शील का विनाश दुर्जन की संगति करती है और कोई नहीं।'' यहाँ पृथ्वी छन्द है ॥१४४॥

यस्य सदुपदेशोऽतिप्रीतये भवति स हि विदांवर इत्यावेदयति–

(अनुष्टुप्)

त्यक्तहेत्वन्तरापेक्षौ गुणदोषनिबन्धनौ।
यस्यादानपरित्यागौ स एव विदुषां वरः ॥१४५॥

अन्वयः—यस्य आदानपरित्यागौ गुणदोषनिबन्धनौ त्यक्तहेत्वन्तरापेक्षौ स एव विदुषां वरः।

त्यक्तेत्यादि। यस्य भव्यस्य। आदानपरित्यागौ ग्रहणविसर्गौ। कौ हेतुकौ? गुणदोषनिबन्धनौ गुणदोषकारणभूतौ। गुणश्च दोषश्च गुणदोषौ तौ च तौ निबन्धनौ कारणभूतौ यस्य तत्। कथम्भूतौ? त्यक्तहेत्वन्तरापेक्षौ अन्यकारणानपेक्षौ। त्यक्ता हेत्वन्तरेऽपेक्षा ययोस्तौ तथोक्तौ। यद्येन विना नोत्पद्यते तत्तस्य हेतुरभिधीयते। अन्यो हेतुर्हेत्वन्तरम्। हेत्वन्तरस्यापेक्षायास्त्यजनमेव सद्धेतुग्रहणमिति निर्दिष्टम्। अगृहीत-पथस्य सम्यग्दर्शनादयो गुणाः। तन्निबन्धनाः सद्धेतवो वीतरागदेवागमगुरूपासनारूपाः। तेषामादानामात्म-सात्करणम्। तस्य च दोषा मिथ्यादर्शनादयः। तन्निबन्धनाः सद्धेतवः कुदेवागमगुरुशंसनरूपाः। तेषां परित्यागो बुद्ध्योपेक्षणम्। गृहीतपथस्य तु स्वात्मश्लाघापरिवादरूपा दोषाः। तन्निबन्धनाः सद्धेतवः ख्यातिपूजाभावनास्तासां परित्यागः। तस्य च गुणास्तद्विपरीताः। तन्निबन्धनाः सद्धेतवोऽपि विपर्यस्तास्तेषा-

---

उत्थानिका—जिसको सदुपदेश अति प्रीति के लिए होता है, वह ही बुद्धिमानों में श्रेष्ठ है, यह कहते हैं–

अन्वयार्थ–(यस्य) जिस जीव का **(आदानपरित्यागौ)** ग्रहण और त्याग **(गुणदोष-निबन्धनौ)** गुण और दोषों के कारण हैं **(त्यक्तहेत्वन्तरापेक्षौ)** तथा अन्य किसी हेतु की अपेक्षा नहीं रखता है **(स एव)** वह ही **(विदुषां वरः)** बुद्धिमानों में श्रेष्ठ है।

अर्थ—जिसका गुणग्रहण और दोषत्याग गुण, दोषों को समझने के कारण है, अन्य किसी कारण की अपेक्षा नहीं है, वही श्रेष्ठ ज्ञानी है।

टीकार्थ—दो तरह के भव्यजीव होते हैं। एक तो वह भव्यजीव जिन्होंने सम्यग्दर्शन आदि गुणों के मार्ग को ग्रहण नहीं किया है। उन जीवों के लिए गुणों का कारण वीतरागदेव, आगम और वीतरागी-गुरु की उपासना है। इन देव, आगम, गुरु को आत्मसात् करना ही गुणग्रहण है। इन जीवों के लिए दोषों का कारण कुदेव, कुआगम और कुगुरु की प्रशंसा करना है। बुद्धि से उनकी उपेक्षा कर देना ही दोषों का त्याग है। दूसरा भव्यजीव वह है जिसने सम्यक्त्व के मार्ग को ग्रहण कर लिया है। उसके लिए आत्म-प्रशंसा करना और दूसरे का अपवाद करना दोष है। इन दोषों का कारण ख्याति, पूजा की भावना

सद्गति सुख के साधक गुण-गण जिन्हें अपेक्षित प्यारे हैं।
दुर्गति दुख के कारण सारे हुए उपेक्षित खारे हैं॥
फलतः साधक को भजते हैं अहित विधायक को तजते।
सुबुधजनों में श्रेष्ठ रहे वे जन-जन हैं उनको भजते ॥१४५॥

मादानमिति। स एव विदुषां सम्यग्ज्ञानिनाम्। वरो मध्ये श्रेष्ठ इत्यभिलप्यते। अनुष्टुप्छन्दः ॥१४५॥

अयमेव सुखदुःखोपाय इति प्रदर्श्यते–

(अनुष्टुप्)

हितं हित्वाऽहिते स्थित्वा दुर्धीर्दुःखायसे भृशम् ।
विपर्यये तयोरेधि त्वं सुखायिष्यसे सुधीः ॥१४६॥

अन्वयः–दुर्धीः हितं हित्वा अहिते स्थित्वा भृशं दुःखायसे त्वं सुधीः तयोः विपर्यये एधि सुखायिष्यसे।

हितमित्यादि। दुर्धीः दुर्बुद्धिः! दु दुर्ष्या विपर्यस्ता हठगृहीता वा धीर्बुद्धिर्यस्य सः तस्य सम्बोधनम्। हितं सम्यग्दर्शनादिकमगृहीतपथस्य, गृहीतपथस्य तु मनोनियमनम्। हित्वा त्यक्त्वा। अहिते हिताद्विपरीते।

है, इसलिए इनका त्याग करना दोषों का त्याग है। इस के विपरीत आत्मनिन्दा और परप्रशंसा गुण हैं। इन गुणों का ग्रहण करना ही गुणग्रहण है।

भव्य जीव गुण, दोषों को अच्छी तरह जानकर गुणों को ग्रहण कर लेता है और दोषों को छोड़ देता है। अन्य किसी कारण से वह गुण, दोषों में प्रवृत्ति नहीं करता है। ऐसा जीव सम्यग्ज्ञानियों में श्रेष्ठ है। जो कार्य जिसके बिना न हो वह उसका हेतु कहलाता है। अन्य हेतु को हेत्वन्तर कहते हैं। हेत्वन्तर को छोड़ने का अर्थ है, समीचीन हेतु को ग्रहण करना। यहाँ अनुष्टुप् छन्द है ॥१४५॥

उत्थानिका–यही सुख, दुःख का उपाय है, यह दिखाते हैं–

अन्वयार्थ–(दुर्धीः) हे दुर्बुद्धे! **(हितं)** तुम हित को **(हित्वा)** छोड़कर **(अहिते)** अहित में **(स्थित्वा)** स्थित होकर **(भृशं)** बहुत अधिक **(दुःखायसे)** दुःखी हो रहे हैं **(त्वं सुधीः)** तुम बुद्धिमान होकर **(तयोः)** दोनों की **(विपर्यये)** विपरीतता में **(एधि)** बढ़ो **(सुखायिष्यसे)** जिससे सुखी हो जाओगे।

अर्थ–हे दुरात्मन्! हित को छोड़कर अहित में स्थित होकर तुम बहुत दुःखी हो रहे हो। तुम बुद्धिमान हो तो हित में स्थित होकर अहित को छोड़कर स्थित होओ जिससे सुखी हो जाओगे।

टीकार्थ–जिसकी बुद्धि दुष्ट है, विपरीत है अथवा हठग्राही है, ऐसा दुर्बुद्धि जीव हित को छोड़कर अहित में स्थित रहता है। जिस भव्यजीव ने सम्यक्त्व पथ को ग्रहण नहीं किया है, उसके लिए

अविनश्वर शिव सुखप्रद पथ तज अहित पंथ पर चलता है।
कुधी बना है दुःख दाह से फलतः पल-पल जलता है॥
कुटिल चाल तज सरल चाल से शिव पथगामी यदि बनता।
सुधी नियम से बन अनुभवता तू शाश्वत शिव सुख-धनता ॥१४६॥

स्थित्वा स्वीकृत्य। भृशमत्यर्थम्। दुःखायसे दुःखमात्मनः करोषि। 'दुःख तत्क्रियायाम्' इति लट्। त्वं भवान्। सुधीः बुद्धिमान्। तयोः हिताहितयोस्त्यागादाने। विपर्यये वैपरीत्ये। एधि भव। 'असु भुवि' इति धोर्लोट्। सुखायिष्यसे सुखी भविष्यसि। 'सुख तत्क्रियायाम्' इत्यस्माद्धोर्लृट्टि मध्यमपुरुषस्यैक-वचनान्तरूपम्। आत्मोत्थानाकुललक्षणाख्यसौख्यमेव सुखं पारमार्थिकत्वात्। तदत्र सुखशब्देन व्यञ्जितम्। कर्मविपाकभिद्यमानसातासातफलं दुःखमेवापारमार्थिकत्वात्। अनुष्टुप्छन्दः ॥१४६॥

तत्प्राप्त्यर्थं प्रेरयन्नाह–

(शिखरिणी)

इमे दोषास्तेषां प्रभवनममीभ्यो नियमतो
गुणाश्चैते तेषामपि भवनमेतेभ्य इति यः।
त्यजंस्त्याज्यान् हेतून् झटिति हितहेतून् प्रतिभजन्
स विद्वान् सद्वृत्तः स हि स हि निधिः सौख्ययशसोः ॥१४७॥

अन्वयः—इमे दोषाः, तेषां प्रभवनं नियमतः अमीभ्यः, च एते गुणाः, तेषां अपि भवनं एतेभ्यः, इति यः त्याज्यान् हेतून् त्यजन् झटिति हितहेतून् प्रतिभजन्, स विद्वान्, स हि सद्वृत्तः, स हि सौख्ययशसोः निधिः।

सम्यग्दर्शन हितकर है। जिसने सम्यक्त्व पथ को ग्रहण कर लिया है उसके लिए मन का नियमन (रोकना) ही हितकर है। हित को छोड़कर अहित में प्रवृत्ति करने से ही तू अपनी आत्मा को दुःखी कर रहा है। तुम बुद्धिमान् हो इसलिए हित का त्याग और अहित के ग्रहण में विपरीतता धारण करो अर्थात् हित को ग्रहण करो और अहित का त्याग करो जिससे सुखी हो जाओगे। आत्म उत्थान की आकुलता लक्षण वाला सुख ही पारमार्थिक होने से वास्तव में सुख है। उसी को यहाँ सुख शब्द से कहा है। कर्म के फल से साता और असाता दो रूप फल मिलना वस्तुतः पारमार्थिक नहीं होने से दुःख ही है। यहाँ अनुष्टुप् छन्द है ॥१४६॥

उत्थानिका—उस सुख की प्राप्ति के लिए प्रेरणा देते हुए कहते हैं–

अन्वयार्थ—(इमे दोषाः) ये दोष हैं **(तेषां)** उनकी **(प्रभवनं)** उत्पत्ति **(नियमतः)** नियम से **(अमीभ्यः)** इन्हीं कारणों से होती है **(च)** और **(एते)** ये **(गुणाः)** गुण हैं **(तेषां अपि)** उनकी भी **(भवनं)** उत्पत्ति **(एतेभ्यः)** इनसे है। **(इति)** इस प्रकार **(यः)** जो **(त्याज्यान् हेतून्)** छोड़ने योग्य हेतुओं को **(त्यजन्)** छोड़ता हुआ **(झटिति)** शीघ्र ही **(हितहेतून्)** हितकारी हेतुओं का **(प्रतिभजन्)**

मिथ्यात्वादिक दोष रहे हैं मोहादिक से उदित हुए।
सम्यक्त्वादिक गुण लसते हैं मोहादिक जब शमित हुए॥
समझ त्याज्य तज अहित हेतु को हित साधन को गह पाता।
सुख निधि यश निधि वही, वही बुध, वही सुचारित कहलाता ॥१४७॥

इम इत्यादि। इमे प्ररूपिताः। दोषाः अहितकारकाः। तेषां दोषाणाम्। प्रभवन-मुत्पत्तिः। नियमतः निश्चयेन। अमीभ्यः मिथ्यादर्शनज्ञानचारित्रेभ्योऽगृहीतपथस्यमिथ्यादर्शनज्ञान-चारित्रेभ्योऽगृहीतपथस्य गृहीतपथस्य तु चारित्राय कर्षणेन निगूहितवीर्यात्। च तथा। एते गुणाः सम्यग्-दर्शनादयः। तेषां अपि भवनं प्रादुर्भावः। एतेभ्यः सदायतनसेवनविषयकषाय-विजयनादिभ्यः। इति एवं प्रकारेण मनसि समालोच्य। यः कोऽपि स्वात्महितैषी। त्याज्यान् त्यक्तुं योग्यान्। हेतून् कारणानि। त्यजन् अभिसन्धितया द्रव्यभावाभ्यां दूरीकुर्वन्। झटिति शीघ्रम्। हितहेतून् हितकारणानि। प्रतिभजन् दृढश्रद्धया स्वीकुर्वन्। तिष्ठतीति शेषः। सः जनो हि विद्वान् सम्यग्ज्ञानी। मिथ्याकारणानि परित्यज्य सम्यक्कारणानि स्वीक्रियमाणो हि जनः सम्यग्ज्ञानी भवति सद्दर्शनस्यान्यथोपलब्धेरभावात्। न च निश्चयेन गुणदोषविज्ञानमात्रेण सम्यग्ज्ञानमुद्भवति मिथ्यादृष्टेरपि तथासम्भवाद् व्यभिचारप्रसङ्गः। स हि सद्वृत्तः सच्चारित्रवान्। यश्चातिचारान् समुत्सृज्य निरतिचारेण समाचरति स हि सद्वृत्तः। अनुष्ठानेन विना गुणदोषपरिज्ञानमात्रं न हिताय कल्पते सर्वेषां

सेवन करता है **(स विद्वान्)** वह विद्वान् है **(स हि सद्वृत्तः)** वह ही सच्चरित्रवान् है **(स हि)** वह ही **(सौख्ययशसोः)** सुख और यश की **(निधिः)** निधि है।

अर्थ—ये दोष हैं, इन दोषों की उत्पत्ति नियम से इन कारणों से होती है। ये गुण है, उनकी उत्पत्ति इन कारणों से होती है। इस प्रकार गुण, दोष के कारणों का विचार करके जो जीव छोड़ने योग्य हेतुओं को छोड़ता हुआ हितकारी हेतुओं को शीघ्र ही स्वीकारता है। वह ही विद्वान है, वह ही चरित्रवान् है और वह ही सुख और यश का भण्डार है।

टीकार्थ—ये दोष अहितकारक हैं। जिसने पथ को यानी मोक्षमार्ग को ग्रहण नहीं किया है, उस जीव के लिए दोषों की उत्पत्ति नियम से मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान और मिथ्याचारित्र से होती है। जिन्होंने मोक्षमार्ग को ग्रहण किया है उनके लिए दोषों की उत्पत्ति शक्ति छिपाने के कारण चारित्र की हानि करने से होती है। ये सम्यग्दर्शन आदि गुण हैं। इन गुणों की उत्पत्ति सम्यग्दर्शन आदि के कारणभूत आयतन (स्थान) का आश्रय लेने से और विषय-कषायों की विजय करने से होती है। इस प्रकार गुण-दोषों का विचार करके जो कोई भी आत्महित का इच्छुक जीव त्यागने योग्य कारणों को संकल्प पूर्वक द्रव्य और भाव दोनों से छोड़ देता है तथा कल्याणकारी कारणों को दृढ़ श्रद्धा से स्वीकार कर लेता है, वह मनुष्य ही विद्वान् अर्थात् सम्यग्ज्ञानी है। जो जीव मिथ्या कारणों को छोड़कर समीचीन कारणों को स्वीकार कर लेता है, वह ही सम्यग्ज्ञानी हैं क्योंकि सम्यग्दर्शन की उपलब्धि अन्यथा नहीं हो सकती है। वास्तव में केवल गुण, दोषों का ज्ञान होने मात्र से सम्यग्ज्ञान उत्पन्न नहीं हो जाता है क्योंकि ऐसा होने पर तो मिथ्यादृष्टि जीव को भी सम्यग्ज्ञानी होने का प्रसंग आ जाएगा। जो जीव अतिचारों (दोषों) को छोड़कर निरतिचाररूप से समीचीन आचरण करता है वह ही सम्यक्चारित्रवान् है। सम्यक्चारित्र का अनुष्ठान किये बिना गुण-दोष का ज्ञान मात्र हित के लिए नहीं है क्योंकि ऐसा होने पर सभी जीवों को सम्यक्चारित्र होने का प्रसंग बनेगा। इसलिए जो जीव दोषों का त्याग करके गुणों का आश्रय लेता है

तथापत्तेः। स हि सम्यग्ज्ञानचारित्राराधको निश्चयेन। सौख्ययशसोः निराकुलस्वाधीनसुखसम्पन्नाबाधित-यशःकीर्तिपात्रयोः। निधिः आकरः। भवतीति शेषः। रत्नत्रयाराधनेन सिद्धसुखमिति भावः। शिखरिणीवृत्तम् ॥१४७॥

यश्चैवं करोति स हि ज्ञानी नान्य इति ब्रूते–

(वसन्ततिलका)

साधारणौ सकलजन्तुषु वृद्धिनाशौ
जन्मान्तरार्जितशुभाशुभकर्मयोगात् ।
धीमान् स यः सुगतिसाधनवृद्धिनाश-
स्तद्व्यत्ययाद्विगतधीरपरोऽभ्यधायि ॥१४८॥

अन्वयः—सकलजन्तुषु जन्मान्तरार्जितशुभाशुभकर्मयोगात् वृद्धिनाशौ साधारणौ स धीमान् यः सुगतिसाधनवृद्धिनाशः अपरः तत् व्यत्ययात् विगतधीः व्यधायि।

साधारणावित्यादि। सकलजन्तुषु संसारे संसरदशेषप्राणिगणेषु। जन्मान्तार्जितशुभाशुभ-कर्म-योगात् पूर्वजन्मोपार्जितपुण्यपापफलकारणात्।

वह ही निश्चय से सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र का आराधक है। वह जीव ही निराकुल, स्वाधीन सुख से सम्पन्न अबाधित यश और कीर्ति का पात्र होता है। रत्नत्रय की आराधना से ही सिद्धसुख होता है, यह भाव है। यहाँ शिखरिणी छन्द है ॥१४७॥

उत्थानिका—जो ऐसा करता है, वह ही ज्ञानी है, अन्य नहीं, यह कहते हैं–

अन्वयार्थ—**(सकलजन्तुषु)** समस्त जीवों में **(जन्मान्तरार्जित-शुभाशुभ-कर्मयोगात्)** जन्मान्तरों में अर्जित शुभ, अशुभ कर्म के योग से **(वृद्धि-नाशौ)** वृद्धि और नाश **(साधारणौ)** साधारण हैं **(स धीमान्)** वह बुद्धिमान है **(यः)** जो **(सुगति-साधन-वृद्धिनाशः)** सुगति के साधन की वृद्धि और नाश को जानता है **(अपरः)** अन्य **(तद्व्यत्ययात्)** उसका विपरीत होने से **(विगतधीः)** बुद्धिरहित **(व्यधायि)** कहा जाता है।

अर्थ—पूर्व जन्म में अर्जित पुण्य-पाप कर्म के योग से सभी प्राणियों में वृद्धि, नाश समानरूप से होते रहते हैं। बुद्धिमान् वह है जो सुगति के साधनों की वृद्धि और नाश को समझता है। दूसरा व्यक्ति जो यह नहीं जानता है, बुद्धि-शून्य कहा जाता है।

टीकार्थ—संसार में भ्रमण करने वाले समस्त प्राणियों में पूर्व जन्म में अर्जित किए गए पुण्य-पाप के फल के कारण से ही इस जन्म में फल देखा जाता है।

बढ़न किसी के घटन किसी के आयु धनादिक हैं चलते।
पूर्व उपार्जित पुण्य पाप फल साधारण सबमें मिलते॥
किन्तु दृगादिक बढ़े, घटे अघ जिनके वे ही विज्ञ रहे।
इससे उल्टा जीवन जिनका सुबुध कहें वे अज्ञ रहे॥१४८॥

जन्मान्तरे प्राग्जन्मनि अर्जितानि यानि शुभाशुभकर्माणि तेषां योगात् विपाकात् तदुक्तम्– समुपार्जितपुण्यफलेन जीवस्य स्वस्थदेहनयविज्ञानसुखवैभवादिसम्प्राप्तिपौरुषिकी तस्योभय-विपाकित्वात्। समार्जितपापफलेन तद्वैपरीत्यम्। वृद्धिनाशौ वृद्धिर्लाभः। नाशो हानिः। वृद्धिश्च नाशश्च वृद्धिनाशौ। पुण्यपापपरिपाकाधिकृतौ इत्यर्थः। साधारणौ सामान्यौ पौरुषेण विना सर्वेषां तत्फलोपलम्भात्। स जनः। धीमान् सम्यग्ज्ञानी। यः सुगतिसाधनवृद्धिनाशः मुक्तिहेतुभूतविषये वृद्धिनाशः। सुगतिर्मुक्तिः तस्य साधने हेतुविषये वृद्धिनाशौ यस्य विद्यते सः। बसः। अपरः अन्यः। तत् सुगतिसाधने वृद्धिनाशौ। व्यत्ययात् विनाशात्। विगतधीः विमूढबुद्धिः। व्यधायि कथितः। ''धाञ् धारण-पोषणयोः'' इति धोः कर्मणि लुङ् । पुरुषार्थमन्तरेण चतुर्गतिगमनमनवरतं विद्यते। ततस्तदेव पुरुषार्थं यत्सुगतिशब्दवाच्यभूतमोक्षायान्यत्रगमनस्य कर्मनिर्भरात्। वसन्ततिलकावृत्तम् ॥१४८॥

साम्प्रतमुत्पन्नदोषाणां नाशो न प्रायेण सम्भाव्यते तत्कारणमत्र विचार्यते–

(शिखरिणी)

कलौ दण्डो नीतिः स च नृपतिभिस्ते नृपतयो,
नयन्त्यर्थार्थं तं न च धनमदोऽस्त्याश्रमवताम्।
नतानामाचार्या न हि नतिरताः साधुचरिताः
तपस्थेषु श्रीमन्मणय इव जाताः प्रविरलाः ॥१४९॥

पूर्व जन्म में अर्जित हुए पुण्य के फल से स्वस्थ देह, नीतिविज्ञान, सुख वैभव आदि की प्राप्ति बिना पुरुषार्थ के भी होती है। पुण्य-फल की प्राप्ति पुरुषार्थ और भाग्य दोनों के विपाक से होती है। तथा अर्जित हुए पाप के फल से इससे विपरीत फल मिलता है। पुण्य के फल से स्वस्थ-देह आदि सामग्री की वृद्धि होना तथा पाप के फल से इस सामग्री का नाश हो जाना यह सामान्य बात है, क्योंकि पुरुषार्थ के बिना ही समस्त जीवों को पुण्य-पाप के फल की प्राप्ति देखी जाती है। वही सम्यग्ज्ञानी है जो मुक्ति के कारणभूत साधन सामग्री की वृद्धि और नाश दोनों को जानता है। जो यह ज्ञान नहीं रखता है वह मूढ़बुद्धि है। पुरुषार्थ के बिना चारों गति में गमन निरन्तर चल रहा है। इसलिए वह ही पुरुषार्थ है जो सुगति शब्द के द्वारा कहे जाने वाले मोक्ष के लिए किया जाए, अन्यत्र गमन तो कर्म पर निर्भर रहता है। यहाँ वसन्ततिलका छन्द है ॥१४८॥

उत्थानिका—वर्तमान में उत्पन्न दोषों का नाश प्रायः करके नहीं हो पाता है, उसका कारण यहाँ कहा जाता है–

दण्ड नीति ही चलती केवल नरपतियों से कलियुग में।
धनार्थ नरपति इसे चलाते किन्तु नहीं धन मुनिपद में॥
इधर ख्याति रत गुरु शिष्यों को नहिं शिवपथ दिखला सकता।
मूल्य मणी सम महामना मुनि महि में है विरला दिखता ॥१४९॥

अन्वयः—कलौ दण्डः नीतिः, स च नृपतिभिः, ते नृपतयः तं अर्थार्थं नयन्ति, अदः धनं आश्रमवतां न च अस्ति, आचार्याः नतानां नतिरताः साधुचरिताः हि न (सन्ति), तपस्थेषु (साधुचरिताः) श्रीमन्मणयः इव प्रविरलाः जाताः।

कलावित्यादि। कलौ कलिकाले। दण्डः नीतिः अपराधिषु दण्डविधानः। सामदामदण्ड-भेदाभिधेयेषु चतुर्विधनीतिषु कलौ दण्डनीतिरेव मुख्यतया क्षेमाय सङ्गच्छते दुर्जनबाहुल्यात्। सज्जनेषु सामनीतिर्हि विधेया। दण्डनीतिमन्तरेण दुष्टचित्तवतां भयाभावादातङ्को जायते। सतामपि पीडा सन्ततं तैश्च स्यात् मात्स्यन्याय-प्रवर्तनात्। स च दण्डः। नृपतिभिः नृपैः। दीयत इति शेषः तदधिकृतत्वात्। ते नृपतयो राजानः। तं दण्डम्। अर्थार्थं धनार्थम्। नयन्ति विदधति। इदमपि कलेः प्राभवं यद्धनार्थं नृपतिभिर्दण्डो विधीयते, प्रजारक्षार्थमेव तद्विधानात्। न च राजाऽपराधिषु दण्डेन प्राप्तद्रविणमुपभुञ्जतेऽग्राह्यत्वात्। अतः

अन्वयार्थ—(कलौ) कलिकाल में **(दण्डः नीतिः)** दण्डनीति है **(स च)** वह भी **(नृपतिभिः)** राजाओं से है **(ते नृपतयः)** वे राजा लोग **(तं)** उसे **(अर्थार्थं)** धन प्राप्ति के लिए **(नयन्ति)** चलाते हैं। **(अदः)** यह **(धनं)** धन **(आश्रमवतां)** आश्रम वालों के पास **(न च अस्ति)** नहीं हैं। **(आचार्याः)** आचार्य **(नतानां)** नत हुए जीवों के **(नतिरताः)** नमस्कार में रत रहते हैं, वे **(साधुचरिताः)** अच्छे चरित्र वाले **(हि)** नहीं है। **(तपस्थेषु)** तपस्वियों में अच्छे चारित्र वाले **(श्रीमन्मणयः)** शोभायमान मणियों की **(इव)** तरह **(प्रविरलाः जाताः)** विरल होते हैं।

अर्थ—कलियुग में राजाओं के द्वारा दण्डनीति चलाई जाती है। वे राजा लोग इस दण्ड नीति को धन ग्रहण के लिए चलाते हैं। यह धन श्रमणों के पास नहीं है। इधर आचार्यगण शिष्यों की विनय आदि में अनुराग रखने से समीचीन आचरण नहीं करते हैं। तपस्वीजनों में समीचीन साधु शोभायमान मणियों के समान विरले ही रह गये हैं।

टीकार्थ—अपराधियों में दण्ड का विधान करना दण्डनीति कहलाती है। साम, दाम, दण्ड और भेद नाम की चार प्रकार की दण्डनीतियाँ हैं। इनमें से कलिकाल में दण्डनीति ही मुख्य रूप से कल्याण के लिए है क्योंकि कलिकाल में दुर्जन लोगों की बहुलता है। सामनीति सज्जनों में ही कार्यकारी है। दण्डनीति के बिना दुष्टचित्त वाले प्राणियों में भय नहीं रह जाने से वे आतंक मचाने लगते हैं। उन दुर्जनों से सज्जनों को भी कष्ट होने लगता है। धीरे-धीरे मत्स्यन्याय की तरह प्रवृत्ति होने लगती है अर्थात् दुष्ट लोग सज्जनों को सताते हैं फिर सज्जन भी दुष्ट होकर दूसरे सज्जनों को सताते हैं। बड़ी मछली छोटी मछली को निगल जाती है, यह मात्स्यन्याय है। राजाओं को ही दण्ड देने का अधिकार है। राजा भी धन खींचने के लिए दण्ड देने का विधान करते हैं। यह भी कलिकाल की विडम्बना है कि जिस दण्ड नीति का विधान प्रजा की रक्षा के लिए था उस दण्डनीति का प्रयोग धन के लिए किया जाता है। पहले राजा लोग अपराधियों से दण्ड के रूप में प्राप्त धन का उपयोग नहीं करते थे क्योंकि वह धन उनके लिए ग्रहण करने योग्य नहीं होता था। इसलिए इस कलिकाल में बुरे राजाओं का साम्राज्य

कलौ किंराजानो वर्तन्ते इति प्ररूपितम्। साम्प्रतं प्रजातन्त्रात्मके साम्राज्ये सम्भवेऽपि न्यायपालिकाविहित-दण्डविधानं राजतुल्याधिरूढे प्रतिष्ठितपदे जनाः प्रोल्लंघन्ते। अदः धनं। एतद्दण्डकारण-भूतं वित्तम्। आश्रमवतां मुनीनाम्। आत्मार्थं श्रमो यत्र वर्तते स आश्रमः। यद्वा श्रमणा यत्रात्मार्थ-माश्रयन्ते स आश्रमः। आश्राम्यन्ति तपस्यन्ति अस्मिन्निति वाऽऽश्रमः। एष आश्रमो येषां सन्ति ते आश्रमवन्तस्तेषाम्। न च अस्ति निर्धनत्वमेवधनत्वात्। यतश्च यतीनां पार्श्वे धनं नास्ति ततो नृपतयस्तेषां दण्डं नोपयुञ्जते, तेन राजभयाभावात्स्वच्छन्द-प्रवृत्तिर्यतीनामिति प्रथमं कारणम्। इदानीं द्वितीयकारणमाह- आचार्याः स्वयं पञ्चाचारमाचरन्ति समाचारयन्ति चान्यान् ते। नतानां नम्रीभूतानां चाटुकारोक्तिनिपुणानां वा शिष्याणाम्। नतिरताः स्वचरणप्रणतभावमात्रसन्तुष्टाः। हेतुगर्भविशेषणमेतत्। आचार्याः शिष्याणां दोषान्न प्रवदन्ति निवारयन्ति वा दण्डेन चरणनतिरागादिति भावः। ततस्ते-साधुचरिताः साधुः सुष्ठु प्रशस्यं वा चरितमाचरणं येषां ते तथोक्ताः आचार्या मुनयश्चोभयानां विशेषणमेतत्। हि निश्चयेन। न सन्तीति योज्यम्। दण्डाप्रदानेनाचार्याः साधुचरिता न सन्ति मुनयश्च स्वेच्छाचारेणेति। तपःस्थेषु प्रायश्चित्तादितपश्चरणेषु स्थिता ये ते तेषु आचार्येषु साधुषु च। साधुचरिताः इति योज्यम्। श्रीमन्मणय इव कान्तियुतमणिप्रभववत्।

है, यह कहा है। वर्तमान में प्रजातन्त्रात्मक साम्राज्य होने पर भी न्यायपालिका के द्वारा बनाये गये दण्ड विधान का राजाओं के तुल्य प्रतिष्ठित पद पर बैठे हुए मन्त्री आदि उल्लंघन करते हैं। अर्थात् वर्तमान में उच्चपदस्थ मन्त्री आदि दण्डसंहिता का उचित अनुपालन नहीं करते हैं। दण्ड के लिए कारणभूत धन मुनियों के पास नहीं रहता है। जहाँ आत्मा के कल्याण के लिए श्रम किया जाय वह आश्रम है। अथवा श्रमणजन जहाँ आत्मोपलब्धि के लिए आश्रय लेते हैं वह आश्रम है। अथवा जहाँ रहकर सब ओर से श्रम किया जाता है, तप किया जाता है वह आश्रम है। ऐसा तप, व्रतरूप श्रम जिन आत्माओं में है वे आश्रम वाले मुनिगण कहलाते हैं। उन मुनियों के पास वह धन नहीं होता है क्योंकि निर्धनपना ही उनका धन है। चूँकि यतियों के पास धन नहीं होता है इसलिए राजा लोग उन्हें दण्ड भी नहीं देते हैं। इसलिए राजाओं का भय नहीं होने से यतियों की प्रवृत्ति स्वच्छन्द हो जाती है। स्वच्छन्द प्रवृत्ति होने का यह प्रथम कारण है। अब दूसरा कारण कहते हैं–जो स्वयं पंचाचार का पालन करते हैं और अन्य शिष्यों को भी आचरण कराते हैं वे आचार्य हैं। वे आचार्य भी नम्र हुए, चापलूस शिष्यों में अनुराग रखते हैं। अपने चरणों में नमस्कार, विनय आदि करने मात्र से वे आचार्य उनसे सन्तुष्ट रहते हैं। 'नतिरताः' यह विशेषण ही हेतु है जो आचार्यों के द्वारा दण्ड न दिया जाने का कारण बताता है। अर्थात् आचार्यगण शिष्यों के दोषों को न तो कहते हैं और न उन्हें दण्ड देकर रोकते हैं क्योंकि चरणों में नमस्कार करने मात्र से उन्हें शिष्यों से राग हो जाता है। इस कारण से वे आचार्य और वह शिष्य मुनि दोनों का आचरण समीचीन या प्रशस्य नहीं रहता है। दण्ड नहीं देने के कारण आचार्य समीचीन चारित्र वाले नहीं रहते हैं और मुनिगण स्वेच्छाचारी हो जाने से समीचीन चारित्र वाले नहीं रहते हैं। जो प्रायश्चित आदि तपश्चरण में स्थित रहते हैं, ऐसे आचार्य और साधु आदि उसी तरह दुर्लभ है जैसे मणियों में कान्तियुक्त मणियाँ दुर्लभ हैं। दोषों के निष्कासन के बिना मणियों में चमक और शोभा कैसे आ सकती

प्रविरलाः जाताः अतीव दुर्लभा दृश्यन्ते। दोषनिष्कासनं विना कुतो मणिशोभा साधुता सूरिशासननता वेति भावः। शिखरिणीवृत्तम् ॥१४९॥

तेषां सङ्गतिमत्र प्रतिषेधयन्नाह–

(शार्दूलविक्रीडित)

एते ते मुनिमानिनः कवलिताः कान्ताकटाक्षेक्षणै-
रङ्गालग्नशरावसन्नहरिणप्रख्या भ्रमन्त्याकुलाः।
सन्धर्तुं विषयाटवीस्थलतले स्वान् क्वाप्यहो न क्षमाः
मा व्राजीन् मरुदाहताभ्रचपलैः संसर्गमेभिर्भवान् ॥१५०॥

अन्वयः—एते ते मुनिमानिनः कान्ताकटाक्षेक्षणैः कवलिताः (सन्तः) अङ्गालग्न-शरावसन्न-हरिणप्रख्याः आकुला भ्रमन्ति, अहो विषयाटवीस्थलतले स्वान् क्वापि सन्धर्तुं न क्षमाः, भवान् एभिः मरुदाहताभ्रचपलैः संसर्गं मा व्राजीत्।

है ? तथा दोषों के निष्कासन के बिना आचार्य के शासन की शोभा कैसे रह सकती है ? यहाँ शिखरिणी छन्द है ॥१४९॥

उत्थानिका—समीचीन आचरण से रहित साधु की संगति का यहाँ निषेध करते हुए कहते हैं–

अन्वयार्थ—(एते) ये **(ते)** वे मुनि **(मुनिमानिनः)** जो अपने को मुनि मानते हैं **(कान्ता-कटाक्षेक्षणैः)** स्त्रियों के कटाक्ष अवलोकन से **(कवलिताः)** कवलित हुए हैं **(अङ्ग-लग्न-शरावसन्न-हरिण-प्रख्याः)** वे शरीर में लगे हुए बाणों से पीड़ित हरिण के समान **(आकुलाः)** आकुल होकर **(भ्रमन्ति)** भ्रमण करते हैं **(अहो)** अहो! **(विषयाटवीस्थल-तले)** विषय रूपी अटवी के स्थल पर **(स्वान्)** अपने आपको **(क्वापि)** कही भी **(सन्धर्तुं)** बनाये रखने के लिए **(न क्षमाः)** समर्थ नहीं होते हैं **(भवान्)** आप **(एभिः)** इन साधुओं के साथ जो **(मरुदाहताभ्र-चपलैः)** हवा से ताड़ित मेघों के समान चंचल हैं **(संसर्गं)** संसर्ग को **(मा व्राजीत्)** मत प्राप्त होओ।

अर्थ—जो कोई अपने आपको मुनि मानते हैं और स्त्रियों के कटाक्ष नेत्रों से भिदे हुए ऐसे आकुलित होकर रहते हैं जैसे किसी हिरण के शरीर में बाण लग जाने से पीड़ित होकर वह भ्रमण करता है। अहो! विषयों के जंगल में अपने आपको स्थिर रख पाने में समर्थ नहीं हो पाते हैं। हवा से बहते हुए मेघों के समान अस्थिर मन वाले इन साधुओं के साथ आप संगति मत करो।

निज को मुनि माने अति आकुल महिलाजन के लखने से।
भ्रमते व्याकुल बाण लगे उन घायल मृग के गण जैसे॥
विषय वनी में जिन्हें कभी भी बना असंभव स्थिर रहना।
तूफानी बादल सम चंचल उनकी संगति मत करना ॥१५०॥

एत इत्यादि। एते ते प्रवर्तमानाः। मुनिमानिनः द्रव्यलिङ्गधारिणः। 'मनः पुंवच्चात्र' का. सूत्रात्। इत्यनेन आत्मानं मुनिं मन्यन्ते ते मुनिमानिनो मन्यन्ते। बाह्यभेषेण नग्नत्वं सन्धार्यमाणा दर्शनक्रिया-चरित्रक्रियाः महामोहप्रजम्भितत्वेन विषयतृष्णाजनितप्रसभदाहासहनादेवाकुर्वाणा देहपरिवार-वनितोपकरण-सम्बन्धिजनेषु संसजन्ति ये ते भावविशुद्धिविधुराः पार्श्वस्थकुशील-संसक्तापगतसंज्ञमृगचारिणः पञ्चप्रकारा मुनयो मुनिमानित्वेनापलप्यन्ते। कथम्भूताः पुनस्ते? कान्ताकटाक्षेक्षणैः कवलिताः श्यामाङ्गीनां लोलनयनायतापङ्गैर्भक्ष्यमाणवैराग्यविभवाः। पुनश्च किमिव? अङ्गालग्नशरावसन्न-हरिणप्रख्याः देहसंलग्न-तीक्ष्णवाणपीडितहरिणसदृशाः। अङ्गे देहे आलग्नः संसक्तः शरः कटाक्षेक्षणरूपो मुनिपक्षे तेनावसन्नः पीडितो मूर्च्छितो वा हरिणो मृगस्तेन तत्सदृशाः। आकुलाः भ्रमन्ति चित्तास्थिरत्वात्। अहो खेदविषयोयम्। विषयाटवीस्थलतले विषयग्रामरूपवनस्थलीतले। स्वान् स्वकीयचित्तभावान्। क्वापि कुतोऽपि कुत्रापि वा। सन्धर्तुं न क्षमाः अवस्थातुं न समर्थाः भवन्ति। अनिरुद्धविषयाभिलाषस्य पञ्चेन्द्रियसामग्रीसमग्राग्रे लोके लोलाङ्गनासङ्गेन स्वैरालापहासविलासं सुविधाय पौनःपुन्यं दिदृक्षा षडावश्यककालेषु चित्तव्यासङ्गा-दन्तस्तापं जनयति। भवान् अतस्त्वं भव्यः स्वात्महिताय गृहपरित्यक्तः साधुः। एभिः भ्रष्टाचरणचरितैः सह। कथम्भूतैः? मरुदाहताभ्रचपलैः वायुवेगप्रतारितमेघसमूहवदस्थिरभूतैः। मरुत् वायुस्तेनाहतं च तदभ्रं मेघसमूहं तद्वच्चपलैरस्थिरैरप्रतिज्ञातव्रतव्रातशपथैरित्यर्थः। संसर्गं सङ्गतिं तैः सह शयना-सनगमनादिकम्। मा व्राजीत् न विदध्यात्। यतश्च संसर्गादवाञ्छितप्रीतिस्ततो निन्द्यकार्यं प्रति जुगुप्सकोऽपि शनैः शनैरसंयमपरो भवति

टीकार्थ—द्रव्यलिङ्ग धारी साधु अपने आपको मुनि मानते हैं। बाह्य भेष से नग्नत्व को धारण करने वाले महामोह की अत्यधिक वृद्धि होने से विषयों की तृष्णा से उत्पन्न भारी-दाह को सहन नहीं कर पाने से सम्यग्दर्शन और सम्यक्चारित्र सम्बन्धी क्रियाओं को नहीं करते हैं तथा शरीर, परिवार, स्त्री, उपकरण और सम्बन्धीजनों में लिप्त रहते हैं वे भावों की विशुद्धि से रहित मुनि द्रव्यलिंगी हैं। पार्श्वस्थ, कुशील, संसक्त, अपगत संज्ञ और मृगचारी के भेद से ये पाँच प्रकार के होते हैं। कामिनी स्त्रियों के चंचल नयनों के कटाक्ष अवलोकन से इनके वैराग्य की सम्पत्ति काल कवलित हो गयी है। जैसे शरीर में लगे बाणों से पीड़ित मृग मूर्च्छित हो जाता है उसी प्रकार चित्त स्थिर न होने से आत्महित को भूलकर इधर-उधर भ्रमण करते रहते हैं। पंचेन्द्रियों की विषय समूह रूप वनस्थली में अपने मनोगत भावों को किसी भी तरह आत्मा में टिकाने में समर्थ नहीं हो पाते हैं। जिन्होंने विषयों की अभिलाषा नहीं रोकी है वे मुनि पंचेन्द्रियों की सामग्री से भरे इस लोक में चंचल स्त्रियों के संग से बिना रोक-टोक के बातचीत और हास-विलास करते हैं। जिससे उन्हें पुनः पुनः देखने की इच्छा होती है। षट् आवश्यक के समय पर भी चित्त में चंचलता बनी रहने से अंतरंग में संताप बना रहता है। हे भव्यात्मन्! तुमने आत्महित के लिए गृहत्याग किया है इसलिए इन भ्रष्ट आचरण वाले साधुओं के साथ मत रहो। ऐसे साधुओं के साथ शयन, बैठना, गमन आदि मत करो। चूँकि संसर्ग से उनसे भी प्रीति हो जाती है जिनसे कभी कोई चाहना नहीं रहती है। जिससे निन्दनीय कार्य के प्रति घृणा रखने वाला भी धीरे-धीरे चारित्र

चारित्रमोहोदयोद्रेकात्। स एव तत्सांगत्येन विश्वस्तो लोकनिन्दामपि न पश्यति। अशुचिशरीरसंसर्गतः शुचि वस्तु अप्यशुचित्वमेति, पात्रानुरूपं पानीयाकृतिः, दधिलेशेन दुग्धस्य तदनुरूपपरिणमनम्, सुरभिद्रव्येषु दुरभिगन्धसंयोगात्तथागन्धनम्, अनलसंयोगात् शीतलमपि जलमौष्ण्यम् मृतकलेवरसंयोगात् कोमलसुगन्धि-पुष्पाण्यपि अस्पृश्याणि, निर्मलस्फटिकमणिरपि रक्तानुरूपपरिणमनं यातीति। आस्तामेतत् मदिरालये दुग्धपानमपि निन्द्यं यथा तथा सुजनानां दुर्जनसङ्गतमिति मत्वाऽवश्यं परिहर्त्तव्यं लोकविरुद्धात्। यदुक्तम्–

''दुज्जणसंसग्गीए संकिज्जदि संजदो वि दोसेण।
पाणागारे दुद्धं पियंतओ बम्भणो चेव॥''

शार्दूलविक्रीडितवृत्तम् ॥१५०॥

एवं सच्चारित्रपरः श्रमणः सर्वगुणगणभृतो याञ्चादोषलेशमपि परिहरेदिति प्ररूपयन्नाह–

(वसन्ततिलका)

गेहं गुहा परिदधासि दिशो विहायः
संव्यानमिष्टमशनं तपसोऽभिवृद्धिः।
प्राप्तागमार्थ तव सन्ति गुणाः कलत्र-
मप्रार्थ्यवृत्तिरसि यासि वृथैव याञ्चाम् ॥१५१॥

अन्वयः–प्राप्तागमार्थ! गुहा तव गेहं, दिशः विहायः संव्यानं परिदधासि, तपसः अभिवृद्धिः इष्टं अशनं, गुणाः कलत्रं सन्ति, अप्रार्थ्यवृत्तिः असि, वृथा एव याञ्चां यासि।

मोहनीय कर्म के उद्वेग से असंयम में तत्पर हो जाता है। वह व्यक्ति उनकी संगति से इतना विश्वस्त हो जाता है कि लोकनिन्दा को भी नहीं देखता है। अपवित्र शरीर के संसर्ग से पवित्र वस्तु भी अपवित्रता को प्राप्त हो जाती है, जल की आकृति पात्र के अनुरूप हो जाती है, दही के जामुन से दूध का दही के रूप में परिणमन हो जाता है, सुगन्धित द्रव्य में दुर्गन्धित द्रव्य के संयोग से दुर्गन्ध ही आने लगती है। अग्नि के संयोग से शीतलजल भी उष्ण हो जाता है। मृत कलेवर के संयोग से कोमल सुगन्धित पुष्प भी छूने लायक नहीं रहते हैं। निर्मल स्फटिक मणि भी लाल रंग के अनुरूप परिणमन करके लाल हो जाती है। यह सब तो ठीक ही है–मदिरालय में दुग्धपान करना भी निन्दनीय है उसी तरह श्रेष्ठजनों को दुर्जन की संगति भी निन्दनीय है, ऐसा मानकर लोकविरुद्ध कार्यों से अवश्य बचना चाहिए। कहा भी है– ''दुर्जन की संगति से संयत भी दोषी है, ऐसी शंका होने लगती है, जैसे मदिरा की दुकान पर दूध पीने वाला ब्राह्मण शंकित हुआ।'' यहाँ शार्दूलविक्रीडित छन्द है ॥१५०॥

गेह गुफा हो गगन दिशायें तेरे हो बस वसन सदा।
द्वादशविध तप विकास मधुरिम इष्ट उड़ा ले अशन सुधा॥
परमागम का अर्थ प्राप्त तुझ गुणावली तव वनिता है।
वृथा याचना मत कर अब तू मुनियों की यह कविता है॥१५१॥

गेहमित्यादि। प्राप्तागमार्थ साधोर्विशेषेण सम्बोधनमेतत्। प्राप्तः परिज्ञातः आगमस्य प्राभृत-सिद्धान्तसारस्य अर्थो धनमिवार्थो भावो वा येन स तत्सम्बुद्धौ। गुहा गेहम्। तव सम्यगाचरितस्य। गुहाऽत्रोपलक्षणमवसेयम्। तेन देवालयविश्रामगृहसन्तनिवासधर्मशाला-विद्यालय-विमोचितभवन-तीर्थक्षेत्र-कोटरवृक्षमूलादिकमस्वामिकं सर्वजनोपयोगविषयाद् ग्राह्यम्। तदेव गेहं गृहम्। एतावताऽऽवासविषये स्वायत्तं प्रोक्तम्। दिशः पूर्वादि दश। विहायः आकाशः। यद्यपि दिशो विहायोऽतिरिक्तं न सन्ति तद्व्यतिरिक्तानुपलम्भात् तथापि पर्यायनयार्पणया पृथक्त्वं न दोषाय। उभयमपि संव्यानमुत्तरीयवस्त्रं प्रावरणम्। परिदधासि त्वं एतान् भूयिष्ठान् गुणान् धारणं करोषि। इत्यनेन नैर्ग्रन्थ्यं प्रतिष्ठितं कृत्रिमकटपटादिप्रावरणानां प्रतिषिद्धेः। तपसः अभिवृद्धिः उत्तरोत्तरविशुद्धिप्रकर्षः। इष्टं अशनं भोजनम्।

उत्थानिका—इस प्रकार सम्यक्चारित्र में तत्पर श्रमण समस्त गुणसमूह से भरा हुआ थोड़ी-सी याचना के दोष को छोड़ देवे, यह कहते हैं-

अन्वयार्थ—(प्राप्तागमार्थ!) आगमार्थ को प्राप्त हे मुने! **(गुहा)** गुफा **(तव गेहं)** तुम्हारा घर है **(दिशः)** दिशाएँ और **(विहायः)** आकाश **(संव्यानं)** तुम्हारे वस्त्र हैं **(परिदधासि)** उन्हीं को धारण करते हो **(तपसः)** तप की **(अभिवृद्धिः)** वृद्धि होना ही **(इष्टं)** इष्ट **(अशनं)** भोजन है **(गुणाः)** गुण ही **(कलत्रं)** स्त्रियाँ **(सन्ति)** है **(अप्रार्थ्यवृत्तिः असि)** इस तरह तुम अयाचक वृत्ति वाले हो **(वृथा एव)** फिर व्यर्थ ही **(याञ्चां)** याचना **(यासि)** कर रहे हो।

अर्थ—आगम के अर्थ को जानने वाले हे साधो! गुफा ही तुम्हारा घर है। तुम दिशाओं और आकाश रूपी वस्त्र धारण करते हो। तप की बढ़ोत्तरी होना तुम्हारा प्रिय भोजन है। गुण समूह ही तुम्हारी स्त्रियाँ हैं। इस तरह तुम्हारी पूर्ण चर्या याचना रहित है फिर व्यर्थ में ही याचना क्यों करते हो ?

टीकार्थ—प्राप्तागमार्थ! यह साधु का सम्बोधन विशेषण के साथ है। अर्थात् हे साधो! तुमने प्राभृत (कषाय प्राभृत, समय प्राभृत आदि) सिद्धान्त सार का अर्थ धन की तरह ग्रहण कर लिया है। इस तरह सम्यग्ज्ञान ही तुम्हारा धन है। तुम सम्यक्चारित्र को धारण करते हो। तुम्हारा घर तुम्हारी गुफा ही है। यहाँ गुफा उपलक्षणमात्र है। इससे देवालय, विश्रामगृह, सन्तनिवास, धर्मशाला, विद्यालय, विमोचित भवन, तीर्थक्षेत्र, कोटर, वृक्षमूल आदि स्थान जो किसी एक मालिक के नहीं हैं तथा समस्तजनों के उपयोग का स्थान होने से इन सबका ग्रहण करना चाहिए। इससे साधु की आवास सम्बन्धी स्वाधीनता कही है अर्थात् साधु को रहने, ठहरने के लिए किसी से याचना नहीं करनी पड़ती है। पूर्व आदि दश दिशाएँ और आकाश वस्त्र के रूप में धारण करते हो। यद्यपि दिशाएँ आकाश के अतिरिक्त नहीं होती हैं क्योंकि आकाश को छोड़कर अलग से दिशा उपलब्ध नहीं होती है। फिर भी पर्यायार्थिकनय की अपेक्षा दिशाओं को अलग से कहना दोष के लिए नहीं है। इस तरह तुम बहुत भारी गुणों को धारण करते हो। इन गुणों से यहाँ निर्ग्रन्थता को दिखाया है और कृत्रिम चटाई, वस्त्र आदि आवरणों का निषेध किया है। उत्तरोत्तर विशुद्धि को बढ़ाना ही तप की वृद्धि है। यह तप वृद्धि ही इष्ट

एतदपि स्वायत्तम्। गुणाः मूलोत्तररूपाः। कलत्रं स्त्री। सन्ति। इदमपि स्वतन्त्रेण सङ्गतम्। यत एव ततः अप्रार्थ्यवृत्तिः अयाचितवृत्तिः। न विद्यते प्रार्थ्यं याचनीयं यस्यां वृत्तौ चर्यायां सा तथोक्ता। 'ओऽभ्रादिभ्यः' इत्यः मत्वर्थीयः। तेन सा यस्यास्तीति स त्वम्। यद्वा न विद्यते प्रार्थ्ये याचनीये विषये वृत्तिरस्येति स त्वम्। असि भवसि। यद्येतत् सर्वं स्वाधीनं तर्हि किमर्थं स्वल्पमूल्यबाह्यवस्तुनि वृथाऽप्रयोजनेनैव याञ्चां यासि प्राप्नोसि तुभ्यमशोभनीयत्वात्। रत्नत्रयमेव जगत्त्रये बहुमूल्यरत्नमनन्तमृद्रत्नद्युतितोऽधिकतरमात्म-द्युतिद्योतनात्। अनात्मार्थावाप्त्यर्थं किमर्थमात्मार्थं कदर्थयति। स्वस्वकर्मानुभावेन प्राणिनोऽनिष्टेष्टफल-मवाप्नुवन्ति, इति मौलिकसिद्धान्तं किं विस्मृतं येन बलात् परात् किमपि वाञ्छितम्। स्वाभिमान एव धनं मुनीनाम्। याचनाविधिना तद्धनं नश्यति। कुतः शोभसे भोः श्रमण! तदभावे निर्लूननासिकेवाननम्। वसन्ततिलकावृत्तम् ॥१५१॥

पुनरपि याञ्चादोषान् वक्तुकाम आह–

(अनुष्टुप्)

परमाणोः परं नाल्पं नभसो न महत्परम्।
इति ब्रुवन् किमद्राक्षीन्नेमौ दीनाभिमानिनौ ॥१५२॥

भोजन है। इस तरह तुम्हारा भोजन भी स्वाधीन है। मूलगुण और उत्तरगुण ही तुम्हारी स्त्रियाँ हैं। ये भी स्वतंत्रता से तुम्हारे साथ हैं। इस तरह तुम्हारी चर्या में कहीं भी याचना नहीं है। तुम अयाचित वृत्ति वाले हो। यदि यह सबकुछ स्वाधीन है तो फिर किसलिए स्वल्प मूल्य वाली बाह्य वस्तुओं में व्यर्थ में बिना प्रयोजन के याचना को प्राप्त हो रहे हो ? तुम्हारे लिए यह शोभनीय नहीं है। रत्नत्रय ही तीन जगत् में बहुमूल्य रत्न हैं क्योंकि अनन्त मिट्टी के (पृथ्वी के) रत्नों की चमक से बढ़कर आत्मा की चमक दिखती है। जो धन आदि अपने नहीं हैं उन अनात्म पदार्थों की प्राप्ति के लिए किसलिए आत्मपदार्थ की हिंसा करते हो? अपने-अपने कर्म की शक्ति से प्राणियों को इष्ट-अनिष्ट फल की प्राप्ति होती है, इस मौलिक सिद्धान्त को क्या भुला दिया है जो जबरदस्ती दूसरे से कुछ प्राप्त करने की इच्छा की है। स्वाभिमान ही मुनियों का धन है। याचना करने से उस स्वाभिमान धन का नाश होता है। भो श्रमण! उस स्वाभिमान धन के अभाव में कटी हुई नाक के समान मुख कैसे शोभा को प्राप्त होगा? यहाँ वसन्ततिलका छन्द है ॥१५१॥

उत्थानिका–पुनः याचना के दोषों को कहने की इच्छा से कहते हैं–

सकल विश्व में और दूसरा नभ सम गुरुतम नहीं रहा।
उसी तरह बस यह भी निश्चित अणु सम लघुतम नहीं रहा ॥
मात्र इसी पर ध्यान दे रहे सूक्ति यहाँ जो प्रचलित है।
स्वाभिमान मंडित जन औ क्या नहीं दीन से परिचित है ॥१५२॥

अन्वयः—परमाणोः परं अल्पं न, नभसः परं महत् न इति ब्रुवन् इमौ दीनाभि-मानिनौ किं न अद्राक्षीत्?

परमाणोरित्यादि। परमाणोः अविभागिपुद्गलद्रव्याणोः। परं अन्यम्। अल्पं लघुः। न अस्तीति शेषः। तथैव हि—नभसः आकाशात् परं अन्यत् महत् महाकृतिः न अस्तीति शेषः। इति एवं प्रकारेण ब्रुवन् ब्रूत इति कथयति यः कोऽपि जनः। इमौ दीनाभिमानिनौ याचकायाचकौ। किं न अद्राक्षीत् दृष्टवान् वास्तवेन न दृष्टवानित्यर्थः यत एवं ततो ब्रूते। ''दृशिर् प्रेक्षणे'' इत्यस्माद्धोर्लुङ्रूपम्। अत्राह तात्पर्यम्—यश्च दीनः स परमाणोरपि लघुतामधिकतामेति। यश्चाभिमानी स आकाशादपि महत्त्वं विदधाति। अत्राभिमानिशब्देन मानकषायकलुषितो जीवो नाभिप्रेतः प्रत्युत स्वाभिमानाभिप्रेतः। चारित्रचणः श्रमणः स्वाभिमानप्रणः कृतस्ववशलोभकषायकणः। परिसोढव्यो याचनापरीषहः सर्वंसहैः सर्वगुणरक्षणशक्यत्वात्। याचनां कुर्वति सति याचनापरीषहो स्यादिति केचित्। तन्न युक्तं परीषहपरिभाषणानवबोधात्। वस्तु-प्राप्तीच्छानिरोधनं परीषहः। यदि याचिते वाञ्छापूर्तौ माननिरसनाद् याचनापरीषहो भवेत्तर्हि रथ्याभ्रमितानां याचकानामपि परीषहविजयस्य प्रसङ्गः प्रसजेत्। वस्तुप्राप्तीच्छा हि परिग्रहः स्यात्। सा यस्य नास्ति स निष्परिग्रही। तस्यैव परीषहाः चारित्रोपेतत्वात्। याञ्चायां रतानां गेहिनामप्यन्यथा सपरिग्रहाणां परीषहप्रसङ्गः केन वार्यते। न चैवम्, मोक्षमार्गस्य विपरीतप्ररूपणात्। ननु चैवं सति अयाचनापरीषहाभिधा भवितव्या, तन्न, यथा

अन्वयार्थ—(परमाणोः) परमाणु से **(परं)** बढ़कर दूसरी कोई **(अल्पं न)** अल्प छोटी वस्तु नहीं है **(नभसः)** आकाश से **(परं)** बढ़कर कोई **(महत्)** महान् विशाल **(न)** नहीं है **(इति ब्रुवन्)** इस प्रकार कहने वाले ने **(इमौ)** इन दोनों **(दीनाभिमानिनौ)** दीन और अभिमानियों को **(किं न अद्राक्षीत्)** क्या नहीं देखा है ?

अर्थ—जो कोई इस प्रकार कहता है कि परमाणु से बढ़कर कोई दूसरा लघु नहीं है और आकाश से बढ़कर कोई दूसरा बड़ा नहीं है, शायद उस व्यक्ति ने दीन और अयाचक लोगों को नहीं देखा है ?

टीकार्थ—अविभागी पुद्गल द्रव्य अणु को परमाणु कहते हैं। इस परमाणु से लघु, छोटा कोई दूसरा नहीं है और उसी तरह आकाश से बढ़कर कोई महान् आकार वाला विशाल नहीं है। इस प्रकार से जो कोई व्यक्ति कहता है उसने वास्तव में याचकों और अयाचकों को क्या नहीं देखा है ? जो ऐसा कहता है। तात्पर्य यह है कि जो याचक है वह परमाणु से भी और छोटा हो जाता है और जो माँगता नहीं है वह अयाचक आकाश से भी बड़ा होता है। जो श्रमण चारित्र में प्रवण होता है वह स्वाभिमान का प्रण रखता है और वह अपनी लोभ कषाय की कणिका को भी वश में रखता है। जो सभी कुछ सहन करते हैं उन सर्वंसह श्रमण को याचना परीषह भी सहन करना चाहिए क्योंकि इस याचना परीषह से सभी गुणों की रक्षा करना शक्य हो जाता है। कोई कहता है कि याचना करने पर ही याचना परीषह होता है, इसलिए याचना करनी चाहिए, उनका इस प्रकार कहना ठीक नहीं है क्योंकि उन्हें अभी परीषह की परिभाषा का भी ज्ञान नहीं है। वस्तु को प्राप्त करने की इच्छा को रोकने का नाम परीषह है। याचना करने पर अपनी इच्छा की पूर्ति हो जाने पर भी मान कषाय का अभाव होता है जिससे याचना परीषह

क्षुत्पिपासां सहमानस्य क्षुत्पिपासापरीषहस्तथा याचनेच्छा पदार्थावश्यकतायां सत्यामपि तज्जयो याचनापरीषहः सूक्तः। कथं परमाणोरत्र लघुत्वमाकाशस्य च महत्वं प्रदर्शितं? दानासद्भावसद्भाव-भावापेक्षया। परमाणौ दानशक्त्यसद्भावोऽन्त्याविभाज्यकणत्वात् पुनस्त्वाकाशेऽनन्तानन्तार्थानामवकाश-दानात् महिमानं विवर्धितम्। एतेन दृष्टान्तेन दातव्यं दातव्यमिति प्रदर्शितं, न च याचयितव्यम्। दृश्यन्ते किल लोके महिमाऽनपेक्षितदानिनाम्। सहस्रकरैर्दिनकरो विकरति प्रकाशम्, प्रददते च जीमूतसंघाता जीविताय जलम्, सततं सरितोऽपसरन्ति सार्वम्, महीरुहाः प्रयच्छन्ति सच्छायामनिच्छया, भूधरा लोकैकानुपमसम्पदः, रत्नाकरा नितरां रत्नागारा अपि असंवृताः, तीर्थकराः स्वसम्पदं विददति सार्वजनीनवृत्तेः, वितरन्ति च पुष्पाणि मनोहारिगन्धम्, ऋद्धिसमृद्धा अपि निर्विषीकुर्वन्ति सांगतम्, आचार्या हिताय प्रवर्तन्ते शिष्याय, मुनयो विहरन्ति समीरवत् प्रजानां विभूत्यै, काव्यं कुर्वन्ति कवयः सतां हितायेत्यादि। अनुष्टुप्छन्दः ॥१५२॥

भी हो जाता है, इस प्रकार यदि कहते हो तो गली में घूमने वाले भिखारियों को भी परीषह विजयी करने वाला कहा जाएगा, किन्तु ऐसा नहीं है। देखो! वस्तु की प्राप्ति की इच्छा ही परिग्रह है। वह इच्छा जिसके नहीं है, वह निष्परिग्रही है। उस निष्परिग्रही जीव के ही परीषह होते हैं क्योंकि उनके पास ही चारित्र होता है। यदि ऐसा नहीं मानोगे तो याचना में संलग्न सपरिग्रही गृहस्थों को भी परीषह का प्रसंग आएगा, उसे अन्यथा कैसे रोका जाएगा ? और सपरिग्रही के परीषह नहीं होता है क्योंकि ऐसा मानना मोक्षमार्ग के विपरीत कथन करना है।

शंका—ऐसा होने पर अयाचना नाम के परीषह का कथन करना चाहिए ? **समाधान**—ऐसा नहीं है, जैसे क्षुधा, पिपासा को सहन करने से ही क्षुधा, पिपासा नाम के परीषह हैं उसी तरह पदार्थ की आवश्यकता होने पर याचना की इच्छा होती है। इस इच्छा को भी जीतना ही याचना परीषह कहा है।

शंका—यहाँ परमाणु से भी हल्कापन और आकाश से भी बड़ापन कैसे दिखाया है?

समाधान—दान का सद्भाव नहीं होना और सद्भाव होने की अपेक्षा, यह दिखाया है।

परमाणु अन्त्य अविभाजित कण होने से उसमें दानशक्ति का अभाव है। किन्तु आकाश में अनन्तानन्त पदार्थों को अवकाश दान देने की क्षमता होने से उसकी महिमा बढ़ी हुई है। इस दृष्टान्त से यह दिखाया है कि दान देना चाहिए, दान देना चाहिए किन्तु याचना नहीं करना चाहिए। लोक में भी महिमा उनकी देखी जाती है जो बिना अपेक्षा के दान देने वाले हैं।

देखो! सूर्य अपनी हजारों किरणों से प्रकाश फैलाता है। मेघ समूह जीवन के लिए जल प्रदान करते हैं। नदियाँ सर्व हित के लिए सतत् बहती हैं। वृक्ष बिना इच्छा के अच्छी घनी छाया प्रदान करते हैं। पर्वत तो इस संसार की अनुपम सम्पदा हैं, समुद्र तो अनेक रत्नों के भण्डार होने पर भी खुले फैले हैं। तीर्थंकर अपनी सम्पदा सभी जीवों का हित करने की चाह से दे देते हैं। फूल मनोहर गन्ध को सर्वत्र फैलाते हैं। ऋद्धि सम्पन्न मुनि भी अपनी संगति में आए जीवों के विष को निर्विष कर देते हैं। आचार्य गण शिष्यों के हित के लिए प्रवृत्ति करते हैं। मुनिजन प्रजा के वैभव के लिए वायु के समान विहार करते हैं। कवि लोग सज्जनों के हित के लिए काव्य रचना करते हैं। यहाँ अनुष्टुप् छन्द है ॥१५२॥

एतदेव पुनर्विभाव्यते–

(अनुष्टुप्)

याचितुर्गौरवं दातुर्मन्ये संक्रान्तमन्यथा।
तदवस्थौ कथं स्यातामेतौ गुरुलघू तदा ॥१५३॥

अन्वयः—याचितुः गौरवं दातुः संक्रान्तं मन्ये, अन्यथा एतौ तदवस्थौ तदा कथं गुरुलघू स्याताम्।

याचितुरित्यादि। याचितुः याचनां कर्तुः। गौरवं महत्वम्। दातुः दानं कर्तुः। संक्रान्तं परिवर्ततम्। मन्ये एवमहं ग्रन्थकर्ता जानामि। अन्यथा यद्येवं न स्यात् तर्हि एतौ याचकदानिनौ तदवस्थौ याचनादानकरणस्थितौ। तदा अवस्थायाम्। कथं केन प्रकारेण । गुरुलघू ज्येष्ठहीनौ। स्यातां भवेताम्। याचितुर्गौरवं दातुः संक्रान्तमित्यनेन याचकस्य वाणीबुद्धिस्वैश्वर्यं गौरवशब्दवाच्यं दातुः प्रदत्तम्। ''स्त्रीगवि भूमिदिग्नेत्रे वाग्वाणसलिले स्त्रियः'' इति वि० लो०। तेन गोशब्देन वाणीति। ''रे धीरस्त्रियां च करके'' इति धनञ्जयः। तेन रशब्देन बुद्धिरिति। ''वः कुम्भे वरुणे'' इति वि० लो०। तेन वशब्देन दिगेन्द्रं वरुणमैश्वर्यद्योतकमिति। तस्मात् दाता गुरु र्भवति च याचको लघु-रिति। युगादौ श्रेयो राजा दानतीर्थस्य

उत्थानिका—इसी भाव को पुनः कहते हैं–

अन्वयार्थ—**(याचितुः)** याचक का **(गौरवं)** गौरव **(दातुः)** दाता को **(संक्रान्तं)** संक्रान्त हो जाता है **(मन्ये)** ऐसा मैं मानता हूँ **(अन्यथा)** अन्यथा **(एतौ)** ये दोनों **(तदवस्थौ)** उस अवस्था में **(तदा)** उस समय **(कथं)** कैसे **(गुरुलघू)** बड़े-छोटे **(स्याताम्)** हो जाते ?

अर्थ—मैं ऐसा मानता हूँ कि याचना करने वाले का गौरव दाता में चला जाता है, अन्यथा उस अवस्था में दाता बड़ा और याचक लघु कैसे हो जाता ?

टीकार्थ—माँगने वाला याचक है। दान करने वाला दाता कहलाता है। याचक का बड़प्पन दान देने वाले के पास चला जाता है, ऐसा मैं मानता हूँ अन्यथा उस दशा में दाता बड़ा और याचक हीन कैसे हो जाता? अर्थात् नहीं हो पाता।

गौरव शब्द का अर्थ है–वाणी, बुद्धि और अपना ऐश्वर्य। याचक ये तीनों दाता को दे देता है। **विश्वलोचन कोश** में 'गौ' शब्द का वाणी अर्थ है। **धनंजय नाममाला** में 'र' शब्द से बुद्धि को लिया है और **विश्वलोचन कोश** में ही 'व' शब्द से दिशाओं के इन्द्र वरुण को ऐश्वर्य का द्योतक माना है। इसी कारण से दाता बड़ा हो जाता है और याचक लघु हो जाता है। युग की आदि में राजा श्रेयांस

याचक बनकर दीन याचना दीन भाव से करता है।
मैं मानूँ तब उसका गौरव दाता में जा भरता है॥
मेरा निर्णय मानो यदि यह प्रमाण पन नहिं रखता है।
दान समय में दाता गुरु औ याचक लघु क्यों दिखता है ॥१५३॥

प्रणेतेति विश्रुतं, न च दानस्य ग्राहकम्। येषां च गृहे तीर्थकरऋद्धिधृतमुनिजनानामाहारस्तेषां हि गृहे नगरे च रत्नवृष्टिकुसुमवृष्टिसुगन्धिवायुदेवदुन्दुभिजयवादाख्यपञ्चाश्चर्यसञ्चारः। तीर्थकरोऽपि स्वकरं दातुरधः स्वदृष्टिं स्वकरे च कुरुते लज्जाकारणत्वात्। अद्यत्वेऽपि छत्रशालजीवराजातिमब्बेसदृशा बहवो जना दानप्रदानात् गौरवगाथां प्रथयन्ति। अनुष्टुप्छन्दः ॥१५३॥

तदेव दृष्टान्तेन दृढयति–

(अनुष्टुप्)

अधो जिघृक्षवो यान्ति यान्त्यूर्ध्वमजिघृक्षवः।
इति स्पष्टं वदन्तौ वा नामोन्नामौ तुलान्तयोः ॥१५४॥

अन्वयः—जिघृक्षवः अधः यान्ति, अजिघृक्षवः ऊर्ध्वं यान्ति, इति वा तुलान्तयोः नामोन्नामौ वदन्तौ स्पष्टम्।

दानतीर्थ के प्रणेता के रूप में विख्यात हुए हैं, न कि दान को ग्रहण करने वाला कोई ख्यात हुआ। जिनके घर में तीर्थंकर, ऋद्धिधारी मुनिराज आहार लेते हैं उनके ही घर-नगर में रत्नवृष्टि, कुसुमवृष्टि, सुगन्धित वायु, देवदुन्दुभि, जय-जयकार नाम के पाँच आश्चर्य होते हैं। तीर्थंकर भी अपने हाथ को दाता के हाथ के नीचे और अपनी दृष्टि को अपने हाथ में लज्जा के कारण से करते हैं। आज भी छत्रशाल, जीवराज, अतिमब्बे जैसे बहुत से लोगों की गौरवगाथा दान देने के कारण ही फैली है। यहाँ अनुष्टुप् छन्द है ॥१५३॥

उत्थानिका—उसी को दृष्टान्त से दृढ़ करते हैं–

अन्वयार्थ—(जिघृक्षवः) ग्रहण करने की इच्छा करने वाले **(अधः)** नीचे **(यान्ति)** जाते हैं **(अजिघृक्षवः)** ग्रहण करने की इच्छा नहीं करने वाले **(ऊर्ध्वं)** ऊपर **(यान्ति)** जाते हैं **(इति वा)** इस प्रकार ही **(तुलान्तयोः)** तराजू के दोनों पलड़ों का **(नामोन्नामौ)** नीचापन और ऊँचापन **(वदन्तौ)** कहना **(स्पष्टं)** स्पष्ट है।

अर्थ—तराजू के दोनों पलड़ों का नीचापन और ऊँचापन इस बात को स्पष्टरूप से बतला रहा है कि जो पर पदार्थों को ग्रहण करने की इच्छा करते हैं वे नीचे जाते हैं और जो परपदार्थों को ग्रहण करने की इच्छा नहीं करते हैं वे ऊपर जाते हैं।

ग्रहण भाव को रखने वाले नीचे जाते दिखते हैं।
ग्रहण भाव को नहिं रखते वे ऊपर जाते दिखते हैं।
इसी बात को स्पष्ट रूप से तुला हमें बतलाती है।
भरी पालड़ी नीचे जाती खाली ऊपर जाती है ॥१५४॥

अध इत्यादि। जिघृक्षवः गृहीतुमिच्छवो याचका। अधः निम्नताम् यान्ति गच्छन्ति। अजिघृक्षवः अगृहीतुमिच्छवो दातारः। ऊर्ध्वं उच्चताम् यान्ति गच्छन्ति इति एवं प्रकारम्। वा इव। वाशब्दोऽत्रोपमायाम्। 'वा स्याद् विकल्पोपमेयोरेवार्थेऽपि समुच्चये' इति वि०लो०। तदाह–तुलान्तयोः तुलापात्रयोः। तुलायाः अन्तौ भागौ ययोस्तयोरिति। कथम्भूतौ? नामोन्नामौ नीचोच्चभूतौ। वदन्तौ कथयन्तौ। स्पष्टं स्फुटम् 'दृष्टान्तेन स्फुटायते मतिः' इति स्पष्टं भवति। रिक्तं तुलान्तमूर्ध्वं गमयति सातिरिक्तमधस्तात्तथा हि दातृयाचकयोर्गतिर्विसर्गग्रहणविशेषात्। भक्त्या शक्त्या स्वतो दत्तं दानं हि दुग्धवन्मिष्टम्। याचनया प्रदत्तं नीरवन्नीरसम्। आयासेन दत्तं शोणितशोषणमिव शुष्कम्। ततो दानमेव वरं स्वपरसन्तोषाच्चोन्नति-हेतुत्वाच्च। अनुष्टुप्छन्दः ॥१५४॥

किमर्थं दानस्याशंसनं मुक्तकण्ठेनाशस्यत इति शास्ति–

(अनुष्टुप्)

सस्वमाशासते सर्वे न स्वं तत्सर्वतर्पि यत्।
अर्थिवैमुख्यसम्पादिसस्वत्वान्निःस्वता वरम् ॥१५५॥

अन्वयः–सर्वे सस्वं आशासते, न तत् स्वं यत् सर्वतर्पि, अर्थिवैमुख्यसम्पादि-सस्वत्वात् निःस्वता वरम्।

टीकार्थ–ग्रहण करने के इच्छुक याचक निम्नता को प्राप्त होते हैं और जो ग्रहण करने की इच्छा नहीं रखते हैं वे दाता लोग उच्चता को प्राप्त होते हैं। 'वा' शब्द यहाँ उपमा अर्थ में है। तराजू का जो पलड़ा खाली होता है वह ऊपर की ओर जाता है। इसी तरह दाता और याचक की गति त्याग तथा ग्रहण करने से होती है। जो दान अपनी भक्ति और शक्ति से स्वतः दिया जाता है वह दूध के समान मीठा होता है। याचना से जो प्रदान किया जाता है वह जल के समान नीरस होता है। जो प्रयास करने से दिया जाता है वह खून चूसने के समान शुष्क होता है। इसलिए दान ही श्रेष्ठ है क्योंकि स्वपर को सन्तोष होना ही उच्चता और उन्नति का हेतु है। यहाँ अनुष्टुप् छन्द है ॥१५४॥

उत्थानिका–मुक्तकण्ठ से दान की इतनी प्रशंसा क्यों की जाती है, यह कहते हैं–

अन्वयार्थ–(सर्वे) सभी लोग **(सस्वं)** धनवान पुरुष की **(आशासते)** आशा रखते हैं **(न तत् स्वं)** किन्तु ऐसा कोई धन नहीं है **(यत्)** जो **(सर्वतपि)** सबको सन्तुष्ट कर सकता हो। **(अर्थि-वैमुख्य-सम्पादि-सस्वत्वात्)** याचकों को विमुख कर देने वाले धन से तो **(निःस्वता)** निर्धन होना

धनी-जनों से धन की इच्छा सभी निर्धनी करते हैं।
धनी बनाकर किन्तु तृप्त भी उन्हें धनी कब करते हैं।
याचक की ना प्यास बुझाता धनिकपना क्या काम रहा।
धनिकपना से निर्धनपनमय मुनिपन वर अभिराम रहा ॥१५५॥

सस्वमित्यादि। सर्वे सागारानगाराः। सस्वं धनसहितजनम्। स्वं धनं तेन सह वर्तते यः स सस्वः कथ्यते। 'वा नीचः' इति सहस्य सः। तम् आशासते याचितुं वाञ्छन्ति। 'शासु इच्छायाम्' इत्यस्माद्धोः आङ् पूर्वं लट्बहुवचनान्तं रूपम्। न तत् स्वं तद्धनं नास्ति। यत् सर्वतर्पि सर्वजनतृप्तिकरम्। सर्वं तर्पयतीत्येवं शीलं यस्य तत् सर्वतर्पि। 'शीलेऽजातौ णिन्' इति शीलार्थे णिन्। कथं न तत्सर्वतर्पीत्याह–अर्थिवैमुख्यसम्पादिसस्वत्वात्। याचकप्रार्थनापूर्तिकरणासमर्थधनात्। अर्थिनो याचकस्य वैमुख्यं प्रार्थना-भङ्गतां सम्पादयतीत्येवं शीलं अस्य तदर्थिवैमुख्यसम्पादि तच्च तत् सस्वत्वं सधनता तस्मात्। निःस्वता निर्धनता वरं श्रेष्ठम्। ननु च चक्रवर्तिनो नवनिधीनामीशा भवन्ति। ते च निधयो वाञ्छानुरूपधन-प्रदानशीलाः। तेनैव चक्री किमिच्छकं दानं प्रदत्ते। तद्दानेन सर्वेऽर्थिनः सन्तुष्टा भवन्ति तस्माच्चक्रवर्ति-वैभवधनं सर्वतर्पि स्यादिति तन्न, तदपि तथा करणाशक्यत्वात्। अर्थिनश्चक्रवर्तिप्रदानेन चक्रि-पदकामा लब्धकामा न स्युरिति सर्वमनवद्यम्। अथवा यत् यस्मात् कारणात्। स्वं धनम्। कथम्भूतम्? अर्थिवैमुख्यसम्पादि अर्थिनोऽर्थदानेन तुष्टकरम्। न नास्ति। तत् तस्मात् कारणात् सस्वत्वात् धनसहितत्वात्। निःस्वता निर्धनता वरम्। प्रथमपादे पूर्ववदर्थो योज्यः। इति द्वितीयव्याख्यानम्। अनुष्टुप्छन्दः ॥१५५॥

याचनयेच्छापूर्तिर्न भवति तर्हि कथमित्यत्रोपायं समाख्याति–

(वरम्) श्रेष्ठ है।

अर्थ—सभी लोग धनवानों से आशा रखते हैं किन्तु कितना भी धन क्यों न हो, कोई धनी सबको सन्तुष्ट नहीं कर सकता है। जिस धन से याचक का मनोरथ पूर्ण न हो सके उस धन से तो निर्धनता ही भली है।

टीकार्थ—सभी सागार और अनगार धन सहित जन से याचना करने की इच्छा करते हैं। किन्तु वह धन सभी को सन्तुष्ट नहीं कर सकता है। याचकों की प्रार्थना की पूर्ति करने में धन समर्थ नहीं है। वह धन याचकों की प्रार्थना भंग कर देता है। इसलिए ऐसे धन से तो निर्धनता श्रेष्ठ है।

शंका—चक्रवर्ती नौ निधियों के स्वामी होते हैं। वे निधियाँ किमिच्छक (क्या इच्छा है, ऐसी इच्छा पूर्ति करने वाला) दान देती हैं। उस दान से सभी याचक सन्तुष्ट हो जाते हैं। इस कारण से चक्रवर्ती का वैभव धन सभी को सन्तुष्टि करने वाला है।

समाधान—ऐसा नहीं है क्योंकि चक्रवर्ती भी वैसा करने में समर्थ नहीं होता है। जो याचक चक्रवर्ती पद की ही इच्छा करे तो क्या उसे चक्रवर्ती की सर्व सम्पदा प्राप्त हो सकती है ? अर्थात् नहीं हो सकती है। इसलिए ठीक ही कहा है कि धन सभी को सन्तुष्ट नहीं कर सकता है। अथवा जो धनी याचक को धन देकर तुष्ट न कर सके ऐसे धनी होने की अपेक्षा तो निर्धन होना ही श्रेष्ठ है। यह दूसरा अर्थ भी लगाना चाहिए। यहाँ अनुष्टुप् छन्द है ॥१५५॥

उत्थानिका—यदि याचना से इच्छापूर्ति नहीं होती है तो फिर कैसे होती है, वह उपाय यहाँ कहते हैं–

(अनुष्टुप्)

आशाखनिरतीवाभूदगाधा निधिभिश्च या।
सापि येन समीभूता तत्ते मानधनं धनम् ॥१५६॥

अन्वयः—या आशाखनिः निधिभिः च अतीवा अगाधा अभूत् सा अपि येन समीभूता तत् धनं ते मानधनम्।

आशेत्यादि। या यदो रूपं स्त्रीलिङ्गे प्रथमैकवचने। आशाखनिः आशारूप-महागर्तः। आशा तृष्णा एव खनिः अप्राप्तप्रान्तगर्तः सा निधिभिः धनवैभवैः। च शब्दोऽन्येन्द्रिविषयसमुच्चये। अतीवा अत्यन्ता। अगाधा अधोऽधोगता। अभूत् सञ्जाता। ''भू सत्तायाम्'' इति धो लुॅङन्तस्य रूपम्। सा आशाखनिः। अपि एव। अवधारणार्थेऽव्ययपदम्। येन मानधनेन। समीभूता पूरिता। असमः समः सम्पद्यमानो भवतीति समीभवति। समीभवति स्म या सा समीभूता। ''कृभ्वस्तिज्योगेऽभूततद्भावे सम्पद्यकर्त्तरि च्विः'' इति च्विः। तत् तदो रूपं नपुंसकलिङ्गे प्रथमैकवचने। सर्वनामपद-मेतत्। धनं निधिर्वैभवो वा। ते तव। युष्मदस्तान्त-रूपम्। मानधनं स्वाभिमानधनम्। मान एव धनं मानधनं तत्। या खलु विषयाशाखनिरनादि-काल-तस्तत्पूरणाभिलाषया मया खन्यमानेनाज्ञानात् विपरीतपुरुषार्थवशेनात्यगाधा खनिता सापि येन स्वाभिमानवित्तवृत्तेन पूरितुमर्हति तदेव मे शरण्यमनन्यभूतम्। को नाम स्वाभिमानः? अपरिणतलोभ-

---

अन्वयार्थ—(या आशाखनिः) जो आशा की खान है वह **(निधिभिः)** निधियों के द्वारा **(च अतीवा अगाधा)** अत्यन्त अगाध **(अभूत्)** हुई है **(सा अपि)** वह खान भी **(येन)** जिससे **(समीभूता)** समान हुई है **(तत् धनं)** वह धन **(ते)** तुम्हारा **(मानधनम्)** मानधन है।

अर्थ—जो तृष्णा की खान है, वह निधियों के द्वारा बहुत गहरी की गई है, वह खान भी जिसके द्वारा पूरी जाती है, पाटी जाती है, वह धन तुम्हारा अभिमान धन है।

टीकार्थ—आशारूपी महा गड्ढा अभी तक धन-वैभव के द्वारा अन्त को प्राप्त नहीं हुआ है किन्तु नीचे-नीचे और गहरा होता जाता है। वह गर्त जिससे सम हुआ है, वह तेरा स्वाभिमान धन है।

अनादिकाल से मैंने अज्ञान से जिस विषयतृष्णारूपी खान को पूरने की अभिलाषा से खोदा है, वह विपरीत पुरुषार्थ के कारण अति गहरी खुद गई है। वह भी जिस स्वाभिमानरूपी धन की वृत्ति (चर्या) से पूरने योग्य है। वह ही मेरे लिए अनन्यभूत शरण योग्य है।

शंका—स्वाभिमान क्या है ?

समाधान—लोभ कषाय की परिणति में मन का परिणमन नहीं होना ही स्वाभिमान है। यह स्वाभिमान

अतल अगम पाताल छू रही आशा की जो खाई है।
तीन लोक की सब निधियाँ भी जिसे नहीं भर पाई हैं॥
किन्तु उसे बस पूर्ण रूप से स्वाभिमान धन भरता है।
इसीलिये तू मान! मानधन ही धन भव-दुख हरता है॥१५६॥

कषायमनस्कता। सैवायाचकवृत्तिः। सा च चारित्रमोहनीयोदयविजयात्। तत्कथं विनिर्ज्ञातमिति चेत्? तत्त्वार्थसूत्रात्। कस्मात्? 'चारित्रमोहे नाग्न्यारतिस्त्रीनिषद्याक्रोशयाचनासत्कारपरस्काराः' इत्यनेन ज्ञायते याचना चारित्र-मोहोदयेन जनिता। तस्य विजयनं हि स्वाभिमानधनम्। अन्येऽपि दैन्यागौरवादिकार्यं तमसो लिङ्गं, अनभिष्वङ्गता सत्वस्य लिङ्गमिति मन्यन्ते। अनुष्टुप्छन्दः ॥१५६॥

तत्कर्तुं कः समायातीत्याह–

(अनुष्टुप्)

आशाखनिरगाधेयमधःकृतजगत्त्रया ।
उत्सर्प्योत्सर्प्य तत्रस्थानहो सद्भिः समीकृता ॥१५७॥

अन्वयः—इयं आशाखनिः अगाधा अधःकृतजगत्त्रया, अहो तत्रस्थान् उत्सर्प्य उत्सर्प्य सद्भिः समीकृता।

ही अयाचक वृत्ति है। यह अयाचक वृत्ति चारित्र मोहनीय कर्म के उदय को जीतने से आती है।

शंका—यह कहाँ से जाना कि चारित्र मोहनीय कर्मोदय को जीतने से अयाचक वृत्ति होती है?

समाधान—तत्त्वार्थ सूत्र से।

शंका—कैसे ?

समाधान—चारित्र मोहनीय कर्म के उदय से नाग्न्य, अरति, स्त्री, निषद्या, आक्रोश, याचना, सत्कार-पुरस्कार परीषह होते हैं। इस सूत्र से जाना जाता है कि चारित्रमोह के उदय से याचना परीषह होता है। उस कर्मोदय को जीतना ही स्वाभिमान धन है। अन्य लोग भी दीनता, गौरव आदि कार्य को तमस का चिह्न मानते हैं और अनासक्ति को सत्त्व का चिह्न मानते हैं। यहाँ अनुष्टुप् छन्द हैं ॥१५६॥

उत्थानिका—इस खान को सम करने के लिए कौन है, यह कहते हैं–

अन्वयार्थ—(इयं) यह **(आशाखनिः)** आशा की खान **(अगाधा)** अगाध है **(अधः कृतजगत्त्रया)** इसने तीन जगत को अधोगामी कर दिया है **(अहो)** अहो! **(तत्रस्थान्)** उस स्थान पर स्थित पदार्थों को **(उत्सर्प्य उत्सर्प्य)** बाहर निकालकर, बाहर निकालकर **(सद्भिः)** सज्जनों ने **(समीकृता)** समान बनाया है।

अर्थ—जिसने तीन लोक के जीवों को अधोगामी किया है। अहो! आश्चर्य है कि वहाँ रहने वाले पदार्थों को बाहर निकालकर, बाहर निकालकर साधु पुरुषों ने उसे पूर दिया है, सम कर दिया है।

तीन लोक के नीचे जिसने किया थाह किसने पाई।
थाह नहीं है अथाह आशा खाई दुखदाई भाई ॥
किन्तु यही आश्चर्य रहा है किया इसे भी समतल है।
तज तज विषयों को भविकों ने धार तोष धन संबल है ॥१५७॥

आशेत्यादि। इयं अनुभूयमाना। आशाखनिः तृष्णारूपभूमिगतमहागर्तः। कथम्भूता? अगाधा अनादिकालतोऽपि तदन्तप्राप्तये पुरुषकारेण न पूरिता। पुनश्च किं विशिष्टा? अधःकृतजगत्त्रया अशेषात्मकेषु आशासत्तात्मकैकच्छत्रराज्याधिपत्येन स्ववशीकृता। जगतां त्रयाणां समूहो जगत्त्रयः। अधःकृतः अधरीकृतो जगत्त्रयो यया सा। अत्र जगत्शब्देन जगद्वासिनां जन्तूनां ग्रहणं कर्तव्यमाधारे आधेयोपचारात्। अहो आश्चर्यम्। तत्रस्थान् यत्र यत्राशोत्पत्तिस्तत्र तत्र पदार्थान्। उत्सर्प्य उत्सर्प्य परित्यज्य परित्यज्य। उत्पूर्वकं 'सृप्लृ गतौ' इति धो र्ल्यप्प्रत्ययरूपम्। ''प्राग्भृशाभीक्ष्णाविच्छेदे'' इत्यनेनाविच्छेदेऽर्थे द्विः। तावत्कालपर्यन्तं परित्यजनं यावन्न पूरितमित्यर्थः। केः? सद्भिः सत् शोभने, तेन विशुद्धचारित्रवद्भिरिति। समीकृता पूरिता। असमः समः सम्पद्यमानः करोतीति समीकरोति। समीकरोति स्म समीकृता। च्विः प्रयोगनिष्पन्नम्। आकाशान्तोत्सर्पणाशापाशनिबद्धदुराशाखनिशालातः चिति समुदयं-गते लोभकषायचक्र-क्रोडीकृतेप्ययाचकवृत्या तत्कर्मानास्वाद्यमानो हर्षामर्षाभ्यां चैतन्यं तावद् वेदयते यावन्निखिलात्मज्ञानवैभवो न समुत्पद्यते इत्यर्थः। तदैवात्मा किलाशावश्यतातः समूर्ध्वं तरति। इयमेव समीकरणपद्धतिरन्योपायाभावात्। महतामाशा महत्सु जायते। भिक्षुकेषु भिक्षा लब्धाऽपि न शस्या। यतश्चोक्तम्-''मोघा वाञ्छा वरमधिगुणे नाधमे लब्धकामा।'' प्रार्थ्यते स्वामिनाऽपि यथा-''धामस्वयममेयात्मा मतयादभ्रयाश्रिया। स्वया जिन विधेया मे यदनन्तमविभ्रमः॥'' ''जिनश्रियं मे भगवान् विधत्ताम्।'' इत्यादि। अनुष्टुप्छन्दः ॥१५७॥

टीकार्थ—अनादिकाल से इस तृष्णारूप भूमि के भीतर हुए महागर्त का अन्त पाने के लिए पुरुषार्थ करने से भी वह भर नहीं पाया है। इस आशा (तृष्णा) की सत्ता का एक छत्र राज्य संसार के सभी जीवों पर है। तीन जगत् के जीवों को इस तृष्णा ने अपने आधीन कर रखा है। यहाँ जगत् शब्द से जगत् में रहने वाले जन्तुओं का ग्रहण किया है। आधार में आधेय का उपचार करने से जगत् शब्द से जगत के जीवों का ग्रहण किया है। आश्चर्य है कि जहाँ-जहाँ तृष्णा की उत्पत्ति होती है, उन-उन पदार्थों को छोड़-छोड़कर तब तक इस तृष्णा के गड्ढे को विशुद्ध चारित्र वालों ने भरा है, जब तक कि यह पूरा समान न हो गया हो। तात्पर्य यह है कि आकाश के अन्त तक फैले आशा-पाश से बंधे दुष्ट तृष्णारूपी खान की शाला से आत्मा में उदय को प्राप्त लोभकषाय समूह ने आत्मा को व्याप्त कर लिया है। अयाचक वृत्ति से उन कर्मों का फल हर्ष और शोक से नहीं भोगता हुआ चैतन्य का अनुभव तब तक करता है जब तक कि सम्पूर्ण तृष्णा के वशीभूत न होने से संसार से ऊपर तैरती है। यह ही तृष्णा की खान को पूरने की समीकरण पद्धति है क्योंकि इसके अतिरिक्त अन्य कोई उपाय नहीं है। महान पुरुषों की आशा महत्त्व के पदार्थों में ही होती है। भिखारियों से यदि भीख मिल भी जाय तो भी वह प्रशंसनीय नहीं है। कहा भी है—कि अधिक गुणवालों से की गई वाञ्छा विफल होना भी श्रेष्ठ है और अधम पुरुषों में की गई वाञ्छा पूर्ण होने पर भी श्रेष्ठ नहीं है। इसीलिए आचार्य समन्तभद्र स्वामी ने भी प्रार्थना की है कि-''मुझे जिनेन्द्र भगवान् का वैभव प्राप्त हो—**स्वयंभूस्तोत्र** इत्यादि रूप से उत्कृष्ट पुरुषों से उत्कृष्ट प्रार्थना करना योग्य है।'' यहाँ अनुष्टुप् छन्द है ॥१५७॥

अपि श्रमणाः परिग्रहान् किमर्थं गृह्णन्तीति विस्मयन्नाह–

(हरिणी)

विहितविधिना देहस्थित्यै तपांस्युपबृंहय-
न्नशनमपरै-र्भक्त्या दत्तं क्वचित्कियदिच्छति।
तदपि नितरां लज्जाहेतुः किलास्य महात्मनः
कथमयमहो गृह्णात्यन्यान् परिग्रहदुर्ग्रहान् ॥१५८॥

अन्वयः—तपांसि उपबृंहयन् विहितविधिना देहस्थित्यै अपरैः भक्त्या दत्तं अशनं क्वचित् कियत् इच्छति तदपि अस्य महात्मनः किल नितरां लज्जाहेतुः अहो अयं अन्यान् परिग्रहदुर्ग्रहान् कथं गृह्णाति।

विहितेत्यादि। तपांसि समतामूलद्वादशविधानि। उपबृंहयन् अभिवर्धयन्। उप पूर्वकं 'बृहि वृद्धौ शब्दे च' इत्यनेन णिजन्तात् शतृत्यः। उपबृंहयतीत्युपबृंहयन्। कथम्? विहितविधिना मूलाचारशास्त्रप्रणीतरीत्या।

उत्थानिका—श्रमण परिग्रह को क्यों ग्रहण करते हैं, यह विस्मय करते हुए कहते हैं–

अन्वयार्थ—(तपांसि) तपों को **(उपबृंहयन्)** बढ़ाते हुए **(विहितविधिना)** आगमोक्त विधि से **(देहस्थित्यै)** देह की स्थिति के लिए **(अपरैः)** अन्य के द्वारा **(भक्त्या)** भक्ति से **(दत्तं)** दिये हुए **(अशनं)** भोजन की **(क्वचित्)** कभी **(कियत्)** थोड़ी सी **(इच्छति)** इच्छा करता है **(तदपि)** फिर भी **(अस्य महात्मनः)** इस महात्मा को **(किल)** निश्चय से **(नितरां)** यह अत्यन्त **(लज्जाहेतुः)** लज्जा का हेतु है **(अहो)** आश्चर्य है कि **(अयं)** यह **(अन्यान्)** अन्य **(परिग्रह दुर्ग्रहान्)** परिग्रहरूपी दुष्टग्रहों को **(कथं)** कैसे **(गृह्णाति)** ग्रहण करता है।

अर्थ—दिगम्बर साधु शरीर को बनाए रखने के लिए तप की वृद्धि करते हुए किसी भक्त के द्वारा भक्ति से दिया गया थोड़ा भोजन कभी करता है। वह भोजन भी उसके लिए लज्जा का कारण होता है। अहो! आश्चर्य है कि वह साधु फिर दूसरे परिग्रहरूपी दुष्ट पिशाच को कैसे ग्रहण कर सकता है? अर्थात् नहीं कर सकता है।

टीकार्थ—मूलाचार शास्त्र में कही हुई विधि से शरीररूपी यन्त्र (मशीन) को चलाने के लिए समता मूलक बारह प्रकार के तपों की वृद्धि करता है अर्थात् साधु उन्हीं तपों को शक्ति अनुसार करता है जिनसे परिणामों में समता बनी रहे। अन्तरंग में समता रखे बिना ऊपर से तपों को करना निरर्थक है। इसलिए यहाँ समता मूलक बारह प्रकार के तपों से अभिप्राय है।

भाव-भक्ति से शुद्ध अशन यदि यथासमय श्रावक देते।
तन की स्थिति, तप की उन्नति हो तभी स्वल्प कुछ मुनि लेते ॥
महामना मुनियों को वह भी लज्जा का ही कारण है।
अन्य परिग्रह को फिर किस विध कर सकते वे धारण हैं ॥१५८॥

किमर्थम्? देहस्थित्यै शरीरयन्त्र-चालनार्थम्। देहस्य स्थितिः देहस्थितिस्तस्मै। 'तादर्थ्ये' इत्यनेन तदर्थभावे द्योत्ये चतुर्थी। तपोऽभिवृद्धिप्रभृतिषट्कारणार्थं षट्कारणानि परिहृत्य भुङ्क्ते श्रमणः। अत्र तु संक्षेपेणेयं गाथा स्मर्तव्या-

''ण बलाउसाहणट्ठं ण सरीरस्स य चयट्ठतेजट्ठं।
णाणट्ठं संजमट्ठं झाणट्ठं चेव भुंजंति॥''

अपरैर्गृहचारिभिः। भक्त्या नवकोटिविशुद्ध्या। दत्तं करपात्रे निक्षिप्तम्। अशनं भोजनम्। क्वचित् कालविशेषे स्थानविशेषे च। कियत् नाममात्रमुदर-गर्तपूरणार्थम्। इच्छति भुङ्क्ते। तदपि अशनं बहुनियमेन नियमितं शास्त्रानुरूपं सर्वज्ञाज्ञाप्रणीतं तीर्थकरैश्चरितमपि। अस्य भुञ्जानस्य। महात्मनः महाव्रतिनः। किल स्फुटम्। नितरां भृशम्। लज्जाहेतुः स्वाभिमानघातप्रतीतिप्रत्ययः। संसारेऽस्मिन् मम खलु जीवात्माऽयं ज्ञानदर्शनवीर्यसुखसमन्वितो दुर्जनवदपकारस्थानीय देहस्वभावान्निजभावं पृथक्त्वेन प्रतीत्यानुभाव्य पुनस्तदर्थं स्वीकरोति सदशनपानं यदनुपकारकं भूतार्थेन देहदेहिनोरुभयम्। किञ्चालौकिकीवृत्तिमभ्युपगम्य सद्बोधभारपीयूषरसनिर्भर-मात्मानमास्वसद्बोध-भारपीयूषरसनिर्भरमात्मानमास्व सतृणाभ्यवहारकारी मतंगज इवाज्ञानिजनसमानो निरभिमान इव परगृहे भोक्तुं बालोऽपि लजते यत् किं ततोऽहं विवेकीत्यादि

श्रमण तप की वृद्धि आदि छह कारणों से भोजन ग्रहण करता है और छह कारणों का परिहार करके भोजन करता है। यहाँ संक्षेप से इस गाथा के द्वारा कुछ कारणों को जानना-''साधु न बल के लिए, न आयु को साधने के लिए, न शरीर की वृद्धि के लिए और न शरीर के तेज (कांति) के लिए आहार ग्रहण करता है किन्तु ज्ञान के लिए, संयम के लिए और ध्यान के लिए भोजन करता है।''

विशेष-जिन छह कारणों से भोजन करता है, वे इस प्रकार हैं-

गृहस्थों के द्वारा नवकोटि (नौ प्रकार) की विशुद्धि से भोजन किसी समय विशेष और स्थान विशेष पर दिया जाता है, वह भोजन भी नाम मात्र का होता है, उदररूपी गड्ढे को भरने के लिए किया जाता है। वह भोजन भी बहुत से नियमों से बँधा होता है, शास्त्र के अनुरूप होता है, सर्वज्ञ की आज्ञा के द्वारा कहा होता है और तीर्थंकर के द्वारा आचरित होता है। इतने उत्कृष्ट भावों से किया गया यह भोजन भी उस महाव्रती महात्मा के लिए निश्चित ही लज्जा का कारण होता है क्योंकि उस भोजन से भी उस महात्मा को स्वाभिमान के घात की प्रतीति होती है। वह विचारता है कि-इस संसार में मेरा यह जीवात्मा निश्चित ही ज्ञान, दर्शन, वीर्य और सुख से सहित है। यह आत्मा दुर्जन के समान अपकारस्थानीय देह के स्वभाव से अपने भाव को पृथक् रूप से प्रतीति करके, अनुभव करके पुनः उसी पदार्थ को स्वीकार करता है। अच्छा भोजन-पान जीव स्वीकारता है किन्तु निश्चय से देह और आत्मा दोनों के लिए यह भोजन-पान उपकारी नहीं है। अहो अलौकिकी वृत्ति को स्वीकार करके समीचीन ज्ञान से भरे अमृत रस से पूर्ण आत्मा का आस्वादन करके तृण सहित भोजन करने वाले हाथी के समान अज्ञानी लोगों की तरह स्वाभिमान छोड़कर परगृह में भोजन करने के लिए बालक भी लज्जा

चिन्तनात्। अहो आश्चर्यम्। अयं निर्ग्रन्थः। अन्यान् श्रमणयोग्यानयोग्यान् वा। परिग्रहदुर्ग्रहान् बाह्यवस्तु-ग्रहणरूपदुष्टपिशाचादिग्रहान्। परिग्रहा एव दुष्टा ग्रहा दुर्ग्रहास्तान् प्राणविनाशापकारकारणत्वात्। कथं गृह्णाति स्वीकरोति। यतश्च देहाश्रिता हि सर्वपरिग्रहास्तथापि निर्ममत्वेन तं तपसि नियुज्यापकर्षति उत्कर्षति च पृथग्भूतानन्यान् परिग्रहानिति विस्मापकं मीनस्य महीतलगमनाय भीतेऽपि वह्निगमनवत्। यदुक्तम्– ''शमसुखशीलितमनसामशनमपि द्वेषमेति किमु कामाः। स्थलमपि दहति झषाणां किमङ्ग! पुनरङ्गमङ्गाराः॥'' हरिणीवृत्तम् ॥१५८॥

अथाहारविषये कलिप्रभावादुत्पन्नदोषानाह–

(शार्दूलविक्रीडित)

दातारो गृहचारिणः किल धनं देयं तदत्राशनं,
गृह्णन्तः स्वशरीरतोऽपि विरताः सर्वोपकारेच्छया।
लज्जैषेव मनस्विनां ननु पुनः कृत्वा कथं तत्फलं
रागद्वेषवशीभवन्ति तदिदं चक्रेश्वरत्वं कलेः ॥१५९॥

करता है फिर क्या मुझ विवेकी को लज्जा न आये, इस प्रकार विचार करता है। आश्चर्य है कि यह निर्ग्रन्थ श्रमण के योग्य अथवा अयोग्य परिग्रहरूपी दुष्ट ग्रह को ग्रहण करता है। बाह्य वस्तु को ग्रहण करने रूप परिग्रह ही दुष्ट पिशाच आदि ग्रह है क्योंकि ग्रह की तरह परिग्रह भी प्राणों के विनाश का और अपकार का कारण है। चूँकि समस्त परिग्रह देह के आश्रित है इसलिए परिग्रह का ग्रहण श्रमण को कैसे हो सकता है ? यही तो आश्चर्य की बात है कि वह निर्ग्रन्थ अपनी देह से निर्ममता धारण करके देह को तप में लगाकर उस देह को सुखाता है और अपने से पृथग्भूत अन्य परिग्रह को बढ़ाता है। आश्चर्य होता है कि जिस मछली को धरती पर गमन करने में डर लगता है वह आग में कैसे चल सकती है? कहा भी है–''जिनका मन समता सुख से संस्कारित है उनके लिए भोजन भी विरक्ति का कारण है फिर उन्हें काम-वासना से कैसे राग हो सकता है ? अहो! जब पृथ्वी भी मछली को जला देती है तो क्या अंगार नहीं जलायेंगे? अर्थात् अवश्य जला देंगे।'' यहाँ हरिणी छन्द है ॥१५८॥

उत्थानिका–अब आहार के विषय में कलिकाल के प्रभाव से उत्पन्न दोष कहते हैं–

अन्वयार्थ–(दातारः) दाता जन **(गृहचारिणः)** गृहस्थ हैं **(देयं)** देने योग्य **(धनं)** धन **(किल)** निश्चित ही **(तत्)** वह **(अशनं)** आहार है **(अत्र)** यहाँ **(सर्वोपकारेच्छया)** सभी जीवों का उपकार

देह अशन-धन गृही व्रती है दाता इस विध शास्त्र कहें।
निज पर हित हो अशन गहें मुनि निरीह तन से पात्र रहें॥
पात्र दान दे पात्र दान ले रागद्वेष यदि वे करते।
कलियुग की यह महिमा कहते बुध जिस पर लज्जा करते ॥१५९॥

अन्वयः—दातारः गृहचारिणः देयं धनं किल तत् अशनं अत्र सर्वोपकारेच्छया गृह्णन्तः स्वशरीरतः अपि विरताः, ननु तत्फलं कृत्वा कथं पुनः रागद्वेषवशीभवन्ति मनस्विनां एषा एव लज्जा, तत् इदं कलेः चक्रेश्वरत्वम्।

दातार इत्यादि। दातारः दानप्रदानपराः। गृहचारिणः गृहस्थाः। गृहे भवने स्त्रियां वा चरन्तीति गृहचारिणो निरुच्यन्ते। देयं दातुं योग्यम्। धनं उत्तमं वस्तु। किल निश्चयेन। तत् अशनं भोजनपानम्। अत्र इह लोके। यतश्च मुनयोऽशनादन्यत्र न किमपि गृहीतुमिच्छन्ति ततस्ते देयमशनरूपधनमेव गृहमेधिभिः। सर्वोपकारेच्छया स्वपरोपकाराशया। गृह्णन्तः ग्रहणं कुर्वन्तः। स्वशरीरतः अपि विरताः स्वशरीरेऽपि वैराग्यपरा यतयो भवन्ति। ननु वितर्के। तत्फलं तदशनफलं। कृत्वा विधाय। कथं पुनः रागद्वेषवशीभवन्ति दातारो यतयश्च। मनस्विनां सम्यग्ज्ञानिनाम्। एषा एव लज्जा अप्रीतिकरविषया। तत् इत्थम्भवनम्। इदं प्रवर्तमानम्। कलेः हुण्डावसर्पिणीनामपञ्चमकालस्य। चक्रेश्वरत्वं प्रभुत्वं महिमा इत्यर्थः।

अयं तु विशेषः—दातारो भक्त्या पात्राणां प्रतिग्रहं कुर्वन्ति प्रतिविधाने पात्राणि भुक्त्युपरान्तं सरागेण

करने की इच्छा से **(गृहृणन्तः)** ग्रहण करते हुए **(मुनि)** मुनि **(स्वशरीरतः)** अपने शरीर से **(अपि)** भी **(विरताः)** विरक्त रहते हैं **(ननु)** तो **(तत्फलं)** उसके परिणाम स्वरूप **(कृत्वा)** होकर **(कथं पुनः)** कैसे फिर **(रागद्वेषवशी भवन्ति)** राग, द्वेष के वशीभूत होते हैं **(मनस्विनां)** बुद्धिमानों को **(एषा एव)** यह ही **(लज्जा)** लज्जा का विषय है **(तत्)** वह **(इदं)** साक्षात् दिखने वाला यह प्रभाव **(कलेः)** कलिकाल का **(चक्रेश्वरत्वम्)** प्रभाव है।

अर्थ—देने वाला गृहस्थ दाता है। दान योग्य धन आहार है। वह मुनि भी सर्वोपकार की इच्छा से उस आहार को ग्रहण करता हुआ अपने शरीर से भी निःस्पृह है। बुद्धिमानों के लिए ऐसी उत्कृष्ट आहारचर्या भी लज्जा का विषय है फिर उस चर्या के फल से पुनः राग-द्वेष के वशीभूत होना तो और अधिक लज्जा का विषय है। यह सब कलिकाल का प्रभाव है।

टीकार्थ—गृह का अर्थ मकान अथवा स्त्री है। उस मकान में अथवा स्त्री में विचरण करने वाला गृहस्थ गृहचारी कहलाता है। ऐसे गृहस्थ दान प्रदान करने में सदैव तत्पर रहते हैं, इसलिए दाता है। देने योग्य वस्तु देय कहलाती है। धन का अर्थ यहाँ पैसा-रुपया नहीं है अपितु श्रेष्ठ वस्तु से है। मुनियों के लिए श्रेष्ठ देय पदार्थ इस क्षेत्र में भोजन-पान है। चूँकि मुनिजन भोजन-पान के अलावा कुछ भी ग्रहण करने की इच्छा नहीं करते हैं इसलिए उनको देने योग्य अशनरूप श्रेष्ठ वस्तु ही गृहस्थ के पास होती है। स्व और पर उपकार की आशा से भोजन-पान को ग्रहण करते हुए भी यतिजन अपने शरीर से वैराग्य धारण करते हैं। उस अशनरूप फल को प्राप्त करके भी पुनःराग-द्वेष के वशीभूत होना सम्यग्ज्ञानियों को अच्छा नहीं लगता है। फिर भी इस प्रकार वर्तमान में चल रहा है, सो यह हुण्डावसर्पिणी नामक पंचम काल की महिमा है।

यहाँ कुछ विशेष कहते हैं-दाता लोग भक्ति से पात्रों का पड़गाहन करते हैं इसके बदले में पात्र

''बहुषु दातृषु मध्ये त्वामेव गृहीतवानस्मीत्याभारं'' प्रकटयन्ति। दात्रोच्चासनविधाने प्रतिविधाने ''आगच्छ आगच्छ, तिष्ठ अत्रैव पार्श्वे, मा भैषीः, कुतः समागतस्त्वमित्यादि'' भुक्त्युपरान्तं पात्रैः सरागेण प्रतिविधीयन्ते। इतो भवति पादप्रक्षालनं भक्त्या ततो भवति धनादिवस्तुप्रक्षालनं सरागेण। पूजयन्ति दातारो मंगलद्रव्येण, अपि च पात्राणि तान् विविधपुस्तकाद्यर्थान् तेषां समर्पयन्ति। भक्त्या नमनं स्वीकृत्य प्रतिविधाने करेणाशीर्वादः स्वभक्तभवनात्, न च धर्माभिवर्धनात्। योगत्रयशुद्धिना गृहीताशनेऽपि शुद्धे मनसि प्रमादाधिक्येन वचसा विकथां प्रकुर्वाणो विचित्रहावभावाङ्गितेन लौकिकपरिचयमुपचयन् संमोहयञ्चान्यानालस्यनिद्रादेवताभि-भूतोऽशुद्धात्मा शुद्धात्मानं न क्वाप्युपलभते, रागद्वेषप्रवृत्तौ कालकवलनात्। दातारोऽपि वयमुत्कृष्टाः पात्रलाभात्, अन्ये जघन्याः, अयं मे एको यति नान्यः, वयं तु तमैव प्रतिगृह्णामस्तेनैव सह गमनासनदानादिकं करिष्यामः इत्यादिभावेन रागद्वेषवश्या भवन्ति। एवमुभयोर्दुरावस्था कलिकालस्य महिमा। यस्माच्च दानप्रदानमात्रं दातुः कार्यं पात्रस्य चोदरपूरणमात्रं तथाप्येवं घटत इति विदुषां लज्जाविषयः इति। शार्दूलविक्रीडितवृत्तम् ॥१५९॥

भोजन के बाद राग सहित होकर ''अनेक दाताओं के बीच मैंने तुम्हें पड़गाहन दिया है'' ऐसा एहसान प्रकट करते हैं। दाता लोग यतियों को उच्चासन देते हैं तो उसके बदले में भोजन के बाद पात्र सरागी होकर कहता है—''आओ-आओ। यहीं मेरे पास बैठो, डरो मत। तुम कहाँ से आये हो ? इत्यादि।'' इधर दाता लोग भक्ति से पादप्रक्षालन करते हैं तो बाद में सरागी होकर उनसे धन आदि वस्तु का प्रक्षालन (ग्रहण) कर लेते हैं। दाताजन मंगलद्रव्य से यतियों की पूजा करते हैं तो पात्र भी उन दातारों को अनेक प्रकार की पुस्तक आदि बहुमूल्य वस्तुएँ प्रदान करते हैं। दाता पात्र को भक्ति से नमस्कार करता है तो पात्र भी अपने हाथ से उसे आशीर्वाद देते हैं ताकि ''यह मेरा भक्त बन जाये'' न कि इसके धर्म की वृद्धि हो ऐसा आशीर्वाद देते हैं। मन-वचन-काय तीनों योग की शुद्धि बुलवाकर शुद्ध अशन ग्रहण करता है फिर भी मन में प्रमाद की अधिकता रहती है, वचनों से विकथा करता हुआ विचित्र हाव-भाव और चेष्टाओं से लौकिक परिचय को बढ़ाता हुआ, उन्हें सम्मोहित करता हुआ, निद्रा और आलस्य देवता से अभिभूत हुआ वह अशुद्धात्मा शुद्धात्मा को कभी भी प्राप्त नहीं करता है क्योंकि राग-द्वेष की प्रवृत्ति में ही उसका काल कवलित होता है। दाता लोग भी पात्र का पड़गाहन करके ''हम उत्कृष्ट हैं और अन्य जघन्य है, मेरा तो यही एक यति है, अन्य नहीं, हम तो उसका ही पड़गाहन करेंगे और उन्हीं के साथ गमन, बैठना, दान आदि करेंगे।'' इत्यादि भाव से राग-द्वेष के वशीभूत होते हैं। इस प्रकार श्रावक और श्रमण दोनों की दुर्दशा होना कलिकाल की महिमा है। चूँकि दाता का कार्य दान करना मात्र है और पात्र का कार्य उदरपूरण करना मात्र है, फिर भी यदि उपर्युक्त प्रकार से राग-द्वेष होते हैं तो यह विद्वानों को लज्जा का विषय है। यहाँ शार्दूलविक्रीडित छन्द है ॥१५९॥

अपि च रागद्वेषकरणं कलेः प्रभावम्, कलौ किल कर्मविलासोऽति-शयेनोल्लसति योग्यद्रव्य-क्षेत्राद्यभावात्, ततो नास्ति मे कोऽपि दोषः कर्मकृतेन्द्रिय-सुखानुलिप्तस्येति दैन्यतां व्यामोहतमोलिङ्ग-तामत्रापाकुर्वन्नाह पुरुषायत्तपरुषोपाये रोषेण प्रेरयितुकामः–

(शार्दूलविक्रीडित)

आमृष्टं सहजं तव त्रिजगतीबोधाधिपत्यं तथा,
सौख्यं चात्मसमुद्भवं विनिहतं निर्मूलतः कर्मणा।
दैन्यात्तद्विहितैस्त्वमिन्द्रियसुखैः सन्तृप्यसे निस्त्रपः,
स त्वं यश्चिरयातनाकदशनैर्बद्धस्थितस्तुष्यसि ॥१६०॥

अन्वयः–तव कर्मणा त्रिजगतीबोधाधिपत्यं सहजं आमृष्टं तथा च आत्म-समुद्भवं सौख्यं निर्मूलतः विनिहतं, त्वं निस्त्रपः तद्विहितैः इन्द्रियसुखैः दैन्यात् सन्तृप्यसे, स त्वं यः बद्धस्थितः चिरयातनाकदशनैः तुष्यसि।

उत्थानिका–कोई कहता है कि राग, द्वेष करना कलिकाल का प्रभाव है। कलिकाल में निश्चित रूप से कर्म का विलास ही अत्यधिक दिखाई देता है क्योंकि योग्य द्रव्य, क्षेत्र आदि का अभाव है। इसलिए इसमें मेरा कोई दोष नहीं है यदि मैं कर्मकृत इन्द्रियों के सुख में अनुलिप्त हो जाता हूँ। इस प्रकार व्यामोह रूपी अन्धकार से उत्पन्न दैन्य को यहाँ पौरुष के अधीन कठोर उपायों के द्वारा प्रेरित करने की इच्छा से रोष से निराकरण करते हुए कहते हैं–

अन्वयार्थ–**(तव)** आपके **(कर्मणा)** कर्म से **(त्रिजगतीबोधाधिपत्यं)** तीन जगत् के ज्ञान का आधिपत्य **(सहजं)** सहज **(आमृष्टं)** मिट गया है **(तथा च)** तथा **(आत्मसमुद्भवं)** आत्मा से उत्पन्न **(सौख्यं)** सुख **(निर्मूलतः)** निर्मूल रूप से **(विनिहतं)** नष्ट हुआ है **(त्वं)** तुम **(निस्त्रपः)** निर्लज्ज होते हुए **(तद्विहितैः)** उनके द्वारा किए हुए **(इन्द्रियसुखैः)** इन्द्रिय सुखों से **(दैन्यात्)** दीनता से **(संतृप्यसे)** सन्तुष्ट हो रहे हो **(स)** वह **(त्वं)** तुम **(यः)** जो **(बद्धस्थितः)** बँधे हुए **(चिरयातनाकदशनैः)** चिर पीड़ा से बुरे भोजन के द्वारा **(तुष्यसि)** तुष्ट हो रहे हो।

अर्थ–कर्म के कारण तेरा जो तीन जगत् का ज्ञान है उसका स्वामित्वपना नष्ट किया गया है। तथा आत्मा से उत्पन्न सुख जड़ मूल से नष्ट हुआ है। फिर भी तुम निर्लज्ज बने हुए कर्म के द्वारा किये हुए इन्द्रिय सुखों के द्वारा दीनता के कारण तृप्त हो रहे हो। तुम जो इस प्रकार से कर्म से बँधे हुए स्थित

त्रिभुवन आलोकित जिससे हो तव वर केवलज्ञान सही।
सहज आत्म सुख इन्हें मिटाया विधि ने विधि पहिचान यही ॥
विधि निर्मित इन्द्रिय पा इन्द्रिय सुख तू चखता लाज नहीं।
दीन क्षुधित कुछ खा पीकर ज्यों सुखित बने दुख भाजन ही ॥१६० ॥

आमृष्टमित्यादि। तव भव्यात्मनः। कर्मणा ज्ञानावरणाद्यष्टपुद्गलकर्मवर्ग-रिपुणा। त्रिजगती-बोधाधिपत्यं त्रैलोक्यापूरितसकलपदार्थावबोधनसमत्रैलोक्यापूरितसकलपदार्थावबोधन-सम। त्रिजगत्या बोधो ज्ञानमेवाधिपत्यं साम्राज्यं यत्तत्। सहजमप्रयासजनितम्। आमृष्टं विनष्टम्। सहजमिति विशेषणपद-मुभयत्र योज्यम्। तद्यथा तवात्मनः सहजं केवलज्ञानं कर्मणा सहजमप्रयासेन विनष्टम्। यद्वा सहजातमुत्पन्नं यत्तत् सहजं, तेनात्मज्ञानकर्मणोर्घात्यघातकभावेन भवनमेककालिकमित्युक्तं भवति। तथा चोक्तम्-

''का वि अपुव्वा दीसइ पोग्गलकम्माण एरिसी सत्ती।
केवलणाणसहावं विणासदो जाइ जीवस्स ॥''

तथा च ज्ञानगुण इव। आत्मसमुद्भवं स्वाधीनात्मनः समुत्पन्नं यत्तत्। सौख्यं निराकुलत्वलक्षणम्। निर्मूलतः स्वात्मोत्थाव्याबाधानन्तसुखस्य लवोऽप्यननुभवनात् समूलविनाशभावः। विनिहतं विनाशितम्। इत्यात्मनोः सुखज्ञानगुणस्य मूलभूतस्य विलोपोऽवलपितः। गुणद्वय विलोपोऽनन्तगुणस्वभावस्यात्मन इति चेन्न, अनन्तगुणानामपि तयोरेव निलीनत्वात्। तद्यथा ज्ञानगुणश्चेतनात्मकस्तन्मुख्यत्वेना-शेषचौतन्य-

---

हो व चिरकाल की यातना सहकर अर्थात् उपवासादिक के कष्ट सहकर फिर मिलने वाले नीरस भोजन से सन्तुष्ट हो रहे हो।

टीकार्थ—तुम भव्यात्मा हो। ज्ञानावरण आदि आठ पुद्गल कर्म तुम्हारे शत्रु हैं। तीन लोक के समस्त पदार्थों का त्रिकालवर्ती ज्ञान कराने में समर्थ जो दिव्य ज्ञान है वही आत्मा का साम्राज्य है। ऐसा वह साम्राज्य बिना प्रयास के ही सहज ही नष्ट हुआ है। 'सहज' इस विशेषण को दोनों ओर लगाना चाहिए। वह इस प्रकार है-कि तेरी आत्मा का ज्ञान भी सहज है अर्थात् आत्मा के साथ ही उत्पन्न हुआ है। अर्थात् जब से आत्मा है तब से ही ज्ञानावरण है जो ज्ञान को ढके है। वह ज्ञान कर्म के द्वारा सहज ही याने बिना प्रयास के विनष्ट हुआ है अथवा जो सह-साथ में उत्पन्न हो वह सहज है। इस कारण से आत्मज्ञान और कर्म के बीच घात्यघातक भाव से होना समानकालवर्ती है, यह कहा गया है। कहा भी है-

''पुद्गल कर्मों की कुछ ऐसी अपूर्व शक्ति देखी जाती है जिसके द्वारा जीव का केवलज्ञान स्वभाव विनष्ट हुआ है।''

उसी प्रकार ज्ञानगुण के समान आत्मा का स्वाधीन जो निराकुल लक्षण वाला आत्मा से उत्पन्न हुआ सुख है वह सुख भी नष्ट हुआ है क्योंकि अपनी आत्मा से उत्पन्न अव्याबाध-अनन्तसुख का लेशमात्र भी अनुभव में नहीं आने से उसके विनाश का भाव देखा जाता है। इस तरह आत्मा के ज्ञान और सुखगुण का विलोप कहा गया है।

शंका—अनन्तगुण स्वभाव वाली आत्मा के दो ही गुणों का विलोप क्यों हुआ है ?

समाधान—ऐसा नहीं है क्योंकि अनन्तगुणों का इन ज्ञान और सुख इन दोनों गुणों में ही अन्तर्भाव हो जाता है। वह इस प्रकार है-ज्ञान गुण चेतनात्मक है। उस ज्ञान गुण की मुख्यता से समस्त

गुणसमावेशोऽत्रैव तथा च सुखमचेतनात्मकगुणस्तन्मुख्यत्वेनाशेषाच्चैतन्य-गुणसमावेशोऽत्रैव कृतः। ननु चात्मा नित्यं चैतन्यस्वभावस्तस्य गुणा अपि चैतन्यात्मका एव भवेयुश्चिदचिदात्मकानामेकस्मिन् सहावस्थानलक्षणविरोधापत्तेः, तन्न युक्तमनेकान्तविवक्षाऽनवगमात्। का सा विवक्षा? उच्यते-शृणु, ज्ञानदर्शने द्वे हि चैतन्यगुणात्मके स्तः उपयोगस्वभावत्वात्। उपयोगस्तु चैतन्यानुविधायिपरिणामः समुच्यते। स द्विविधोऽष्टचतुर्भेदभिन्नत्वादित्यागमेन सिद्धः। ततश्चैतद्गुणद्वया-पेक्षातश्चात्मा कथञ्चिच्चेतनात्मकः स्यात्। इतरापेक्षया कथञ्चिदचेतनात्मक इति विवक्षातः सिद्धिरनवद्या। उक्तञ्च भट्टाकलङ्कदेवैः- ''प्रमेयत्वादिभिर्धर्मैरचिदात्मा चिदात्मकः ज्ञानदर्शनतस्तस्माच्चेतनाचेतनात्मकः॥''

केवलज्ञानज्योतिःप्रज्वलिते सति हि सौख्ये परिणमति केवली भगवान् यौग-पद्येनातः कर्मणा गुणद्वयं विनाशितमिति सुभाषितम्। एवं स्वगुणसम्पत्तेर्विनाशेऽपि किं स्यादित्याह-त्वं भवान्। निस्त्रपः निर्लज्जः सन्नित्यर्थः। निर्गता त्रपा लज्जा यस्मात् यस्य वा सः। तद्विहितैः तत् कर्म तेन विहितः रचितः प्रदत्तस्तैः कर्मपरवशाधीनैरित्यर्थः। इन्द्रियसुखैः पञ्चेन्द्रियविषयगवाक्षतृप्तैः। दैन्यात् दीनः क्लीबः कथ्यते। तस्य भावो

चैतन्य गुणों का समावेश इसी चैतन्यगुण में हो जाता है। तथा सुख अचेतनात्मक गुण है उस गुण की मुख्यता से समस्त अचेतन गुणों का समावेश एक इसी सुख गुण में हो जाता है।

शंका—आत्मा नित्य चैतन्य स्वभाव वाला है तो उसके गुण भी चैतन्य स्वरूप होने चाहिए। चैतन्य और अचैतन्य गुणों का एक ही आत्मा में रहने से सहावस्थान लक्षण विरोध की प्राप्ति होती है?

समाधान—यह कहना ठीक नहीं है क्योंकि आप अनेकान्त विवक्षा का ज्ञान नहीं रखते है।

शंका—वह विवक्षा क्या है ?

समाधान—सुनो! ज्ञान, दर्शन दो ही गुण चैतन्यात्मक हैं क्योंकि आत्मा उपयोग स्वभाव वाला है। चैतन्य के अनुविधायी परिणाम को उपयोग कहा जाता है। वह उपयोग आगम में मूलरूप से ज्ञान, दर्शन के भेद से दो प्रकार का है। उसमें ज्ञानोपयोग आठ प्रकार का और दर्शनोपयोग चार प्रकार का आगम से सिद्ध है। इसलिए इन दो गुणों की अपेक्षा से आत्मा कथंचित् चेतनात्मक है। अन्य गुणों की विवक्षा से आत्मा कथंचित् अचेतनात्मक है। इस प्रकार विवक्षा से निर्दोष सिद्धि होती है। **भट्टाकलंकदेव** ने **स्वरूपसम्बोधन पंचविंशति** में कहा भी है-''आत्मा प्रमेयत्व आदि धर्मों के द्वारा कथंचित् अचेतनात्मक है तथा ज्ञान, दर्शन की अपेक्षा कथंचित् चेतनात्मक है। यह आत्मा कथंचित् चेतनात्मक और कथंचित् अचेतनात्मक है।''

केवलज्ञान ज्योति के प्रज्वलित होने पर ही केवली भगवान् सुख में एक साथ परिणमन कर जाते हैं। अतः कर्म के द्वारा दोनों ही गुण आवृत किए गए हैं, यह ठीक ही कहा है। इस प्रकार अपने गुणों की सम्पत्ति कर्मशत्रु द्वारा अपहृत होने पर भी तुम क्या कर रहे हो, यह कहते हैं-तुम निर्लज्ज हुए हो। कर्म की परवशता से पंचेन्द्रियों के विषय-सुखों से सन्तुष्ट होने से दीनहीन या पुरुषार्थहीन हो गए हो

दैन्यं तस्मात् विनष्टस्वाभिमानादित्यर्थः। सन्तृप्यसे सन्तुष्टिं कुरुषे। कथमिवेति निदर्शनमत्र दर्शयन्नाह–सः तदो रूपम् परोक्षभूतस्वात्मस्वभावस्मरणार्थम्। त्वं युष्मदोरूपम् प्रत्यभिज्ञानेन सादृश्यप्रदर्शनार्थम्। यः यदो रूपम्, प्रवर्तमानस्थितेरव-बोधनार्थम्। कथम्भूतः? बद्धस्थितः बद्धेन कर्मणा रिपुणा स्थितः सः। चिरयातनाकदशनैः अनादिकालसञ्जातकारागार-पीडासहात्यल्परुक्षभुक्तैः। चिरं अनादिकालेन यातनायां कारागारपीडायां प्राप्तं यत् कदशनं कुत्सिताहारस्तत्तैः। तुष्यसि सन्तुष्टो भवसि। इन्द्रः आत्मा, कर्म महारिपुः, सम्पत् ज्ञानसुखं, संसारो यातना स्थानीयः, इन्द्रियसुखं कदशनरूपमिति विज्ञेयम्। कारागारमुपेत्य रिपुणा यथा यातनां सहमानो दैन्यात् कदशनैस्तुष्यसि तथा त्वं संसारे कर्मजनितेन्द्रियसुखैरिति भावः॥१६०॥

अधुनेन्द्रियविषयलुब्धकस्य तपःकर्तुमशक्तस्य सारमेयस्येव विबुधावबुध्यमानपङ्कनिमग्नस्य कारुणिको निर्ग्रन्थभट्टारको भोगप्रलोभेन समुद्धरणविधिमाह–

(अनुष्टुप्)

तृष्णा भोगेषु चेद्भिक्षो सहस्वाल्पं स्वरेव ते।
प्रतीक्ष्य पाकं किं पीत्वा पेयं भुक्तिं विनाशयेः ॥१६१॥

क्योंकि तुम्हारा स्वाभिमान नष्ट हो गया है। फिर भी तुम किस तरह सन्तुष्टि करते हो, यह बात यहाँ उदाहरण देकर कहते हैं–'सः' यह तत् का रूप है जो परोक्षभूत स्वात्म स्वभाव का स्मरण करने के लिए है।'त्वं' यह युष्मद् का रूप है जो प्रत्यभिज्ञान से सादृश्य दिखाने के लिए है।'यः' यह यत् का रूप है जो वर्तमान की स्थिति का ही ज्ञान कराने के लिए है। अनादिकाल से कारागार (जेल) की पीड़ा को प्राप्त हुआ कोई पुरुष जैसे कुत्सित (रूक्ष, रूखे) आहार को खाकर सन्तुष्ट हो रहा हो वैसे ही तुम्हारा आत्मा इन्द्र है, कर्म महान् शत्रु है। ज्ञान और सुख सम्पत्ति हैं। संसार यातना (कष्ट) देने वाला है और इन्द्रियों के सुख कुत्सित आहार हैं, इस प्रकार जानना। कारागार को प्राप्त करके शत्रु के द्वारा जैसे कष्टों को दीनता से सहता हुआ और रूखे-सूखे भोजन को खाकर सन्तुष्ट हो रहा हो वैसे ही तुम संसार में कर्मजनित इन्द्रिय सुखों के द्वारा सन्तुष्ट हो रहे हो, यह भाव है ॥१६०॥

उत्थानिका–अब यहाँ जो इन्द्रियों के विषयों में लुब्ध है, वह तप करने में असमर्थ है, ऐसे पुरुष को कारुणिक निर्ग्रन्थ भट्टारक भोगों का प्रलोभन देते हुए उसके उद्धार की विधि वैसे ही कहते हैं जैसे कीचड़ में पड़े कुत्ते को कोई देवता समझाता है–

अन्वयार्थ–(भिक्षो) हे भिक्षु! **(चेत् ते)** यदि तुम्हारी **(भोगेषु)** भोगों में **(तृष्णा)** तृष्णा है तो **(अल्पं)** थोड़ा **(सहस्व)** सहन कर लो **(स्वः)** स्वर्ग में **(एव)** ही हैं **(पाकं)** भोजन की **(प्रतीक्ष्य)**

व्रत तप पालो सहो परीषह स्वर्गों में तुम जावोगे।
विषयों की यदि रुचि है मन में विषयों को बस पाओगे ॥
भोजन पाने यदपि प्रतीक्षित क्षुधित क्षुधा की व्यथा सहो।
किन्तु पेय पी नष्ट कर रहे भोजन को क्यों वृथा अहो ॥१६१॥

अन्वयः—भिक्षो! चेत् ते भोगेषु तृष्णा (तर्हि) अल्पं सहस्व, स्वः एव पाकं प्रतीक्ष्य पेयं पीत्वा भुक्तिं किं विनाशयेः।

तृष्णेत्यादि। भिक्षो! हे यते! भिक्षयाऽटतीति भिक्षुः। तस्य सम्बोधनम्। चेत् यदि। ते तव। भोगेषु मनश्चापल्येषु। तृष्णा कांक्षा। तर्हि इति योज्यं यदिना सह सम्बन्धात्। अल्पं क्रियाविशेषणमेतत्। सहस्व सहनं कुरु। 'षहै मर्षणे' इति धोर्लोट्। स्वः स्वर्गे। अव्ययपदमेतत्। ''स्वर्द्यौः स्वर्गोऽथ नाकश्च'' इति धनञ्जयः। ते काकाक्षिन्यायवदत्रापि योज्यम्। ते भोगाः तदः जसन्तरूपम्। एवावधारणे। अत्र दृष्टान्तम्—पाकं भोजनपचनकालं बहुतरम्। प्रतीक्ष्य प्रतीक्षां कृत्वा। पेयं जलम्। पीत्वा आपीय। भुक्तिं भोजनेच्छाम्। किं अप्रयोजनार्थे। अयं किं शब्दोऽनेकार्थे प्रयुज्यते। तद्यथा—क्वचित् निन्दार्थे किं राजा नीतिवर्जितः, किं सखा शाठ्यवान्। क्वचित् प्रश्ने—''मणिना भूषितः सर्पः किमसौ न भयंकरः।'' क्वचिदप्रयोजनार्थे—''किं तेन मानुष्यभवेन लोके।'' क्वचिदपलापे ''किं तेऽहं धारये।'' क्वचिदनुनये—''किं ते कुशलं करोमि।'' क्वचिदवज्ञार्थे ''पश्यामि स किं मे करोति।'' क्वचित् वितर्के—''शुक्लं रूपं किं बलाका पताका वेति।'' अत्राप्रयोजनार्थे विज्ञेयः। विनाशयेः विनाशं कुरुषे। 'णशि नाशने' वि०लि० मध्यमपुरुषस्यैकवचनम्। इदं तु

प्रतीक्षा करके **(पेयं)** पेय पदार्थ को **(पीत्वा)** पीकर **(भुक्तिं)** भूख का **(किं)** क्यों **(विनाशयेः)** विनाश करते हो?

अर्थ—हे भिक्षो! यदि तुमको भोगों में तृष्णा है तो थोड़ा सहन करो। स्वर्ग में ही वे भोग तुझे प्राप्त होंगे। पकते हुए भोजन की प्रतीक्षा करके पानी पीकर अपनी भूख का क्यों विनाश कर रहे हो?

टीकार्थ—भिक्षा से जो भोजन ग्रहण करता है वह भिक्षु है, ऐसे हे यते! हे भिक्षो! यदि तुम्हारी भोगों में तृष्णा है, तो भी थोड़ा अभी तुम सहन कर लो, वे भोग स्वर्ग में भी हैं। यहाँ पचन शब्द से दो अर्थ निकलते हैं। एक तो भोजन के पकने (बनने) का काल बहुत अधिक है, ऐसी प्रतीक्षा में जल पीकर भूख मारना उचित नहीं है। दूसरा भोजन को पचने में बहुत समय लगता है, ऐसी प्रतीक्षा करके जल पीकर भोजन करने की इच्छा को मिटाना उचित नहीं है। यहाँ 'किम्' शब्द एक तो प्रश्नवाचक होने से अप्रयोजन में है अर्थात् ऐसा करने से तुम्हें क्या प्रयोजन है। यह 'किं' शब्द अनेक अर्थों में प्रयुक्त होता है। **१.** कहीं पर निन्दा अर्थ में है—जैसे कि वह किं राजा है क्योंकि वह नीति रहित है। वह मूर्ख किं सखा है। **२.** कहीं पर प्रश्न अर्थ में है—मणि से भूषित यह सर्प भी क्या भयंकर नहीं है? **३.** कहीं पर अप्रयोजन अर्थ में है—इस संसार में उसके मनुष्य भव से क्या है ? अर्थात् कोई प्रयोजन नहीं है? **४.** कहीं पर अपलाप अर्थ में है—तेरा मैं क्या रखे हूँ ? **५.** कहीं पर अनुनय अर्थ में है—मैं तुम्हारी क्या सेवा करूँ ? **६.** कहीं पर अवज्ञा अर्थ में है—देखता हूँ वह मेरा क्या करेगा ? **७.** कहीं पर तर्क करने में है—'यह सफेद रूप क्या है ? बलाका है या पताका है ?'

इन अर्थों में से यहाँ अप्रयोजन अर्थ में जानना चाहिए।

इस जीवन को तुम भोगों की इच्छा के बिना व्यतीत करो, यह उपदेश है। ऐसा करने से क्या सिद्ध

जीवितं भोगेच्छया विना गमयेदित्युपदेशः। तेन किं सिध्यति? संस्कारविनाशसिद्धिः। प्रतिज्ञातव्रतस्यैकमपि जीवितं भोगेच्छया विना गमनेन चिरवासनानिरोधादात्मलाभस्यावसरः सञ्जायते। एकदा यस्यात्मार्थे श्रद्धा रुचिर्वा समुत्पद्येत तस्य निःश्रेयसस्यावाप्तिः सुकरेति मनसि सम्प्रधार्य सम्प्रेरणावचनम्। यदुक्तम्–

''अयि कथमपि मृत्वा तत्त्वकौतूहली सन् अनुभव भवमूर्तेः पार्श्ववर्ती मुहूर्तम्। पृथगथ विलसन्तं स्वं समालोक्य येन त्यजसि झगिति मूर्त्या साकमेकत्वमोहम्॥'' अनुष्टुप्छन्दः ॥१६१॥

तृष्णाविनिवृत्तस्य चित्तस्य विधिविधानोऽप्यकिञ्चित्करः स्यादित्यत्राह–

(अनुष्टुप्)

निर्धनत्वं धनं येषां मृत्युरेव हि जीवितम्।
किं करोति विधिस्तेषां सतां ज्ञानैकचक्षुषाम् ॥१६२॥

अन्वयः—येषां सतां ज्ञानैकचक्षुषां धनं निर्धनत्वं, जीवितं मृत्युः, एव हि तेषां विधिः किं करोति?

होगा ? यदि यह कहो तो ऐसा करने से तुम्हारे कुसंस्कारों के विनाश की सिद्धि होगी। प्रतिज्ञा किए हुए व्रत में एक व्रत को भी भोगों की इच्छा के बिना जीवनभर व्यतीत करने से चिरकालीन वासना रुक जाती है। जिससे आत्मलाभ का अवसर प्राप्त होता है। जिसकी एक बार आत्मा के विषय में श्रद्धा या रुचि उत्पन्न हो जाती है उसको मोक्ष की प्राप्ति सुलभ हो जाती है, ऐसा मन में विचार करके यहाँ समीचीन प्रेरणा दी है। कहा भी है–

''अरे! किसी भी तरह मरके भी तत्त्व में कौतूहल करते हुए संसार की मूर्ति (शरीर) को अन्तर्मुहूर्त तक पड़ौसी अनुभव करो। पृथक्‌रूप से शोभायमान उस आत्मा को देखो जिससे इस शरीर के साथ एकता रखने वाले मोह को शीघ्र ही छोड़ सको।'' यहाँ अनुष्टुप् छन्द है ॥१६१॥

उत्थानिका—जिसका चित्त तृष्णा से रहित हुआ है उसके लिए विधि का विधान भी कुछ कार्यकारी नहीं है, यह यहाँ कहते है–

अन्वयार्थ—(येषां) जिन **(सतां)** सज्जन पुरुषों को **(ज्ञानैकचक्षुषां)** ज्ञान की एक आँख रखने वालों को **(धनं)** धन **(निर्धनत्वम्)** निर्धनपना है **(जीवितं)** जीवन **(मृत्युः)** मरण **(एव)** ही है **(हि)** निश्चय से **(तेषां)** उनका **(विधिः)** विधि **(किं)** क्या **(करोति)** कर सकती है ?

अर्थ—ज्ञान ही एकमात्र नेत्र है जिनका ऐसे सत्पुरुषों का निर्धनपना ही धन है जीवन मरण ही जीवन है, उनका विधि (कर्म) क्या कर सकता है ?

बाहर भीतर संग रहितपन मुनिपन ही धन बना हुवा।
मृत्यु महोत्सव सदा मनाना जिनका जीवन बना हुवा॥
साधु-जनों को एक मात्र बस विशद सुलोचन ज्ञान सही।
फिर विधि उनको क्या कर सकता विचलित या भयवान कभी ॥१६२॥

निर्धनत्वमित्यादि। येषां यदस्तान्तस्य रूपम्। केषाम्? सतां साधूनाम्। किं विशिष्टानाम्? ज्ञानैकचक्षुषां तत्त्वज्ञानरूपप्रमुखनेत्राणाम्। ज्ञानं तत्त्वज्ञानं शुद्धनयायत्तं एकः प्रधानं चक्षुर्नेत्रं दृष्टिर्वा यस्य स ज्ञानैकचक्षुस्तेषाम्। धनं मनोवाञ्छितपदार्थः। किं तत्? निर्धनत्वं निरीहता निष्परिग्रहत्वमित्यर्थः। तथा च किम्? जीवितं प्राणेनापि प्रियवस्तु। किं तत्? मृत्युः समाधिमरणम्। एवावधारणे। अथवा येषां धनं निर्धनत्वं तेषामेव मृत्युर्जीवितं निःशंकितत्वादित्यर्थोऽपि भाव्यः। हि निश्चयेन। तेषां सताम्। विधिः स्वात्मनिबद्धपुद्गलकर्मशक्तिः। किमिति प्रश्ने। करोति करिष्यतीत्यर्थः। 'वर्तमानसामीप्ये वर्तमानवद्वा' इति वर्तमानसामीप्ये वर्तमानप्रयोगः। तेन भविष्यत्काले न किमपि करिष्यतीति। यद्वा वर्तमानेऽपि किं कर्तुं शक्नोतीत्यर्थः। यश्च कर्मजनितमशुभं शुभं वा विभावस्वरूपेण गणयनवमन्यते स ज्ञानचक्षुषा सर्वथाऽनिबद्धस्पृष्टमात्मानं जले जलजपत्रमिव निर्विकल्पसमाधौ स्थित्वा निरीक्षते। तस्य पूर्वबद्धकर्म सत्तायां मृत्पिण्डवदवभासते। उदयागतकर्मफलमवेद्यमानो निष्फलं कुरुते। अभिनवकर्मबन्धनाभावेन भविष्यति काले कर्मणा नो सोऽभिभूयते। स एव समाधेः प्रच्युतेऽपि शयनासनभोजनगमनवाचनादि-चेष्टायामनीहिवृत्त्या सातकर्माश्रयन् विधिं पराभवति भेदविज्ञानसंस्कारपरिणतत्वात्। अनुष्टुप्छन्दः ॥१६२॥

टीकार्थ—शुद्धनय के आश्रित तत्त्वज्ञान ही ज्ञान है। जिनके पास यह तत्त्वज्ञानरूपी प्रमुख नेत्र है उनके लिए मनोवाञ्छित धन निरीहता और निष्परिग्रहपना ही है। उनके लिए जीवन अर्थात् प्राणों से भी प्रियवस्तु समाधिमरण है। अथवा दूसरा अर्थ यह भी है कि जिसका निर्धनता ही धन है मृत्यु ही जीवन है क्योंकि वे निःशंकितपने को या निर्भीकता को धारण करते हैं। ऐसे सत्पुरुषों का वह विधि या कर्म क्या करेंगे जो उनकी अपनी आत्मा में निबद्ध पुद्गल कर्मों की शक्ति के रूप में है। यहाँ करोति क्रिया वर्तमानकालिक होते हुए भी उसका भविष्यत्कालीन अर्थ ''वर्तमान सामीप्ये वर्तमानवद्वा'' इस सूत्र से जानना। जो साधु कर्म से उत्पन्न हुए अशुभ या शुभभाव को विभाव स्वरूप से जानता हुआ उसको कुछ न समझता हुआ (अर्थात् उसके फल को न भोगता हुआ) उसकी अवमानना करता है वह ज्ञाननेत्र के द्वारा कर्मों से अनिबद्ध और अस्पृष्ट आत्मा को जल में कमलपत्र की तरह सर्वथा भिन्न निर्विकल्प समाधि में स्थित होकर देखता है। निर्विकल्प समाधि में स्थित उस साधु को सत्ता में पहले के बँधे हुए कर्म मिट्टी के ढेले के समान प्रतीत होते हैं। वह साधु उदय में आए हुए कर्मफल का वेदन न करता हुआ उन्हें निष्फल कर देता है। नवीन कर्मबन्ध का अभाव होने से भविष्यत् काल में कर्म से वह पराजित नहीं होता है। ऐसा साधु ही निर्विकल्प समाधि से च्युत हो जाने पर भी शयन, आसन, भोजन, गमन, वाचना आदि चेष्टाओं में निरीह वृत्ति से साताकर्म का आश्रय (आस्रव) लेता हुआ कर्म (विधि) को पराजित कर देता है क्योंकि वह भेदविज्ञान के संस्कारों से परिणत होता है। यहाँ अनुष्टुप् छन्द है ॥१६२॥

अथ विधिः केषामुपकारापकारं विदधातीति विवदति–

(अनुष्टुप्)

जीविताशा धनाशा च येषां तेषां विधिर्विधिः।
किं करोति विधिस्तेषां येषामाशा निराशता ॥१६३॥

अन्वयः—येषां जीविताशा धनाशा तेषां विधिः विधिः, येषां आशा निराशता तेषां विधिः किं करोति?

जीवितेत्यादि। येषां जनानाम्। जीविताशा जीवनेच्छा। धनाशा धनेच्छा। च तथा। धनशब्दोऽत्रोपलक्षणं तेन जीवनपोषणकरणसकलवस्तुग्रहणमवधेयम्। तेषां आशापिशाचवशीकृताम्। विधिः कर्म सातासातरूपम्। अष्टकर्मसु वेदनानुभवः सातासातकृतो यतस्ततो वेदनीयकर्ममौख्यम्। विधिः विधित्वेन फलति इष्टानिष्टफलापेक्षत्वात्। येषां विनाशितेष्टानिष्टफलापेक्षाणाम्। आशा तृष्णा लोभ-कषायोदयपरिणतिः। कामरागनिदानच्छन्दसुतप्रेयोद्वेषस्नेहानुरागाशेच्छामूर्च्छागृद्धिशाश्वतप्रार्थनालालसा-विरतितृष्णाविद्या-जिह्वाभिधानानि विंशत्येकार्थानि श्रीवर्द्धमानभट्टारकगिरिमुखनिर्गत पूतादिव्यध्वनिसित-

---

उत्थानिका—वह विधि किनका उपकार और अपकार करती है, यह कहते हैं–

अन्वयार्थ–(येषां) जिनके **(जीविताशा)** जीवन की बनी हुई आशा **(धनाशा च)** और धन की आशा है **(तेषां)** उनको **(विधिः)** यह भाग्य **(विधिः)** भाग्य है। **(येषां)** जिनकी **(आशा)** आशा **(निराशता)** नष्ट हुई है **(तेषां)** उनका **(विधिः)** भाग्य **(किं करोति)** क्या करेगा ?

अर्थ—जिनके जीने की आशा और धन की आशा बनी हुई है उनके लिए ही यह विधि विधि है। जिनकी आशा नष्ट हो गई है उनका विधि क्या कर सकती है ?

टीकार्थ—धनशब्द यहाँ उपलक्षण है। धन से जीवन का पोषण करने वाली समस्त वस्तुओं का ग्रहण जानना चाहिए। जिनके जीवन की आशा और धन की इच्छा है उन आशा पिशाच के वशीभूत जीवों को साता-असातारूप कर्म इष्ट-अनिष्ट फल की अपेक्षा से फलता है। आठों कर्मों में वेदना का अनुभव साता और असाता के द्वारा ही किया जाता है इसलिए वेदनीय कर्म की मुख्यता से कथन किया है। आशा या तृष्णा यह लोभ कषाय के उदय की परिणति है। काम, राग, निदान, छन्द, सुत, प्रेय, द्वेष, स्नेह, अनुराग, आशा, इच्छा, मूर्छा, गृद्धि, शाश्वत, प्रार्थना, लालसा, विरति, तृष्णा, विद्या और जिह्वा ये बीस नाम आशा के पर्यायवाची हैं। श्रीवर्धमान भट्टारक (जिनेन्द्रदेव) के मुखरूपी पर्वत से निकली हुई पवित्र दिव्यध्वनि के स्वच्छ जल का झरना केवली, श्रुतकेवली, गणधरपरमेष्ठी से आता

जीवन जीने की अभिलाषा आशा धन की जिन्हें रही।
कर्म उन्हें पीड़ित कर सकता भीति कर्म से उन्हें रही॥
जिनकी आशा निराशता में किन्तु ढली फिर कर्म भला।
उन्हें दुखी क्या कर सकता है सुखमय आतम धर्म भुला ॥१६३॥

जल-निर्झरकेवलिश्रुतकेवलिगणधरधारायातगुणधरवदनकुण्डगाथाकारपरिणतकषायप्राभृताख्यग्रन्थ-व्यञ्जनार्थाधिकारसमुपलब्धानि लोभस्य नामानि वेदितव्यानि। निराशता निःकांक्षता। निर्गता विनष्टा आशा लोभो यस्मात् यस्य वा स निराशस्तस्य भावो निराशता। ''तत्त्वौ भावे'' इति भावे ताप्रत्ययः। सर्वलोभपर्यायपरिणतिरहिततेत्यर्थः। तेषां पूर्वोदितानाम्। विधिः कर्म। किं करोति न किमपि इत्यर्थः। जीविताशा देहाश्रिता येन व्यवहारनयविषयभूतदशप्राणरूपा पौद्गलिकत्वं बिभर्ति तेन ज्ञाने ज्ञानिनां नाविर्भवति। यस्य च जीविताशा विनष्टा तस्य धनाशापि तन्मूलफलत्वात्। विधेरुपकारापकारविधि-र्विविधोऽवबुद्धात्मनो व्यतिरिक्तः, तत एव ज्ञानिनामकिञ्चित्करः इति। अनुष्टुप्छन्दः ॥१६३॥

कः लभते स्तुतिनिन्दोत्कर्षतामिति कथयति-

(अनुष्टुप्)

परां कोटिं समारूढौ द्वावेव स्तुतिनिन्दयोः।
यस्त्यजेत्तपसे चक्रं यस्तपो विषयाशया ॥१६४॥

हुआ गुणधर आचार्य के मुखकुण्ड में आकर गाथा के रूप में परिणत 'कषायप्राभृत' ग्रन्थ बना। उसके व्यञ्जन अर्थाधिकार में लोभ के ये बीस नाम उपलब्ध हुए हैं, उन्हें जानना। जिनसे या जिनके आशा या लोभ निकल गया है वह निराश है। निराश का भाव ही निराशता है। समस्त लोभ पर्याय की परिणति से रहित होना ही निराशता है। जिनके पास ऐसी निराशता है उनका विधि (कर्म) क्या करेगा? अर्थात् कुछ नहीं करेगा। जीवन की आशा देह के आश्रित है। चूँकि यह आशा व्यवहारनय के विषयभूत दश प्राणरूप है इसलिए पुद्गलपने को धारण करती है। इसी कारण से यह जीवन की आशा ज्ञानियों के ज्ञान में उत्पन्न नहीं होती है। जिनकी जीविताशा विनष्ट हो गई है उनकी धन की आशा भी नष्ट हुई समझना क्योंकि जीवन के मूल पर ही धनाशा का फल उत्पन्न होता है। विधि की यह उपकार करने की रीति अनेक प्रकार की है जो ज्ञानस्वरूप आत्मा से भिन्न है इसलिए ही ज्ञानियों को यह अकिंचित्कर है। यहाँ अनुष्टुप् छन्द है ॥१६३॥

उत्थानिका—स्तुति और निन्दा की उत्कर्षता को कौन प्राप्त करता है, यह कहते हैं-

अन्वयार्थ-**(यः)** जो **(तपसे)** तप के लिए **(चक्रं)** चक्र को **(त्यजेत्)** छोड़ देता है और **(यः)** जो **(तपः)** तप को **(विषयाशया)** विषयों की आशा से छोड़ देता है **(द्वौ एव)** ये दोनों ही **(स्तुतिनिन्दयोः)** स्तुति और निन्दा की **(परां कोटिं)** उत्कृष्ट कोटि पर **(समारूढौ)** आरूढ़ हैं।

चक्री पद को पाकर भी तज तापस बन तप तपते हैं।
परम पूज्य वे बनते, जन-जन नाम उन्हीं के जपते हैं॥
पुरुष बने हैं किन्तु तपों को तज विषयन में झूल रहें।
पद-पद पर उनकी निंदा हो हित का साधन भूल रहें॥१६४॥

अन्वयः—यः तपसे चक्रं त्यजेत्, यः तपः विषयाशया (त्यजेत्), द्वौ एव स्तुतिनिन्दयोः परां कोटिं समारूढौ।

परामित्यादि। यः भवतटनिकटः कश्चित् विरक्तः। तपसे तपोऽर्थम्। तपोऽबन्तरूपम्। चक्रं षट्खण्डधराधिपतिपपथदर्शकम्। त्यजेत् त्यागं करोति। इत्येकतश्चक्रवर्ती। यः भवतटविकटः कश्चिद् रक्तः। तपः निर्ग्रन्थदीक्षाम्। विषयाशया भोगलिप्सया। 'हेत्वर्थे' इत्यनेन भाऽत्र हेत्वर्थे विजानीयात्। त्यजेदिति क्रियापदमत्रापि सम्बन्धनीयम्। इति द्वितीयश्चक्रार्थी। द्वौ चक्रवर्तिचक्रार्थिनौ। एव क्रमार्थम्। स्तुतिनिन्दयोः परां कोटिं समारूढौ क्रमेण योज्यम्। चक्रवर्ती स्तुतेः परां कोटिं समारूढो भोगाद्योगाभिगामित्वात्। चक्रार्थी निन्दायाः परां कोटिं समारूढो योगाद् भोगाभिगामित्वात्। अनुष्टुप्छन्दः ॥१६४॥

द्वयोरिहविषययोः कश्चाश्चर्यकर इत्याह–

(हरिणी)

त्यजतु तपसे चक्रं चक्री यतस्तपसः फलं,
सुखमनुपमं स्वोत्थं नित्यं ततो न तदद्भुतम्।
इदमिह महच्चित्रं यत्तद्विषं विषयात्मकं,
पुनरपि सुधीस्त्यक्तं भोक्तुं जहाति महत्तपः ॥१६५॥

अर्थ—जो तप के लिए चक्र का त्याग कर देता है वह स्तुति की उत्कृष्ट कोटि पर आरूढ़ है और जो विषयों की तृष्णा से तप को छोड़ देता है वह निन्दा की प्रकृष्ट कोटि पर आरूढ़ है।

टीकार्थ—संसार तट के निकट जो कोई विरक्त जीव है, वह तप के लिए चक्र का भी त्याग कर देता है। षट्खण्डाधिपति चक्रवर्ती का पथ-प्रदर्शक वह चक्र होता है। इस प्रकार एक ओर यह चक्रवर्ती है और दूसरी ओर जिसका संसार तट बहुत दूर है ऐसा कोई रागी जीव है जो भोगों की लिप्सा के कारण निर्ग्रन्थ-दीक्षा (तप) को त्याग देता है। यह दूसरा व्यक्ति चक्र की प्राप्ति के लिए ऐसा करता है। चक्रवर्ती तो स्तुति की उत्कृष्ट कोटि में गिना जाता है। क्योंकि वह भोग से योग की ओर आता है और चक्रार्थी (भोगों को चाहने वाला) निन्दा की उत्कृष्ट कोटि में गिना जाता है जो योग से भोग की ओर आ जाता है। यहाँ अनुष्टुप् छन्द है ॥१६४॥

उत्थानिका—इन दोनों विषयों में क्या आश्चर्यकर है, यह कहते हैं–

अन्वयार्थ–**(चक्री)** चक्रवर्ती **(चक्रं)** चक्र को **(तपसे)** तप के लिए **(त्यजतु)** छोड़ देवे

चक्री, चक्रीपन तज तपता विस्मय करना विफल रहा।
अनुपम अव्यय आत्मिक सुख यह चूँकि सुतप का सुफल रहा ॥
समझ विषम विष विषयों को तज तपधर, पुनि तज तप मोही।
सुधी उन्हीं का सेवन करते रहा महा विस्मय सो ही ॥१६५॥

अन्वय:—चक्री चक्रं तपसे त्यजतु, यतः तपसः फलं अनुपमं सुखं स्वोत्थं नित्यं ततः न तत् अद्‌भुतं, इह इदं महत् चित्रं, यत् तत् विषयात्मकं विषं त्यक्तं पुनरपि सुधीः भोक्तुं (तत्) महत् तपः जहाति।

त्यजत्वियादि। चक्री चक्रवर्ती। चक्रं चक्राश्रितराजसम्पदाम्। तपसे तपोनिमित्तम्। त्यजतु त्यागं करोतु। न चेदमाश्चर्यात्मकं कुत इत्याह–यतः यस्माद्धेतोः। तपसः तपः आराधनायाः। फलं सारम्। अनुपमं उपमारहितम्। सुखं आह्लाद परिणामः। कथम्भूतम्? स्वोत्थं स्वात्मनः समुत्पन्नम्। स्वतः स्वस्य स्वेन स्वस्मिन् वोत्थं समुत्पन्नं तत्। किंभूतम्? नित्यं शाश्वतम्। ततः तस्माद्धेतोः। न तत् चक्रिणश्चक्रपरित्यजनम्। अद्‌भुतं विस्मापकम्। इह प्राकरणिकम्। इदं वक्ष्यमाणम्। महत् अत्यधिकम्। चित्रं विचित्रम्। यत् यदोरूपम्। तत् तदो रूपम्। विषयात्मकं पञ्चेन्द्रियतृप्तिकारकम्। विषयाः स्पर्शादय एवात्मा येषां तत्। कथम्भूतम्? विषं कालकूटम्। पुनश्च किं भूतम्? त्यक्तं प्राक् त्यागः कृतो यस्य तम्। पुनरपि त्यजनोपरान्तम्। सुधीः बुद्धिमान्। भोक्तुं भोगानुभवनं कर्तुम्। महत्तपः महाजनानुष्ठितत्वात् भगवद्भिरर्हद्भिः प्रणीतत्वात् महाजनैरिन्द्राहमिन्द्रादिभिरर्चितत्वात् तपः महनीयम्। जहाति तमपि परित्यजति। 'ओहाक् त्यागे'

(यतः) क्योंकि **(तपसः)** तप का **(फलं)** फल **(अनुपमं)** अनुपम **(सुखं)** सुख **(स्वोत्थं)** है जो आत्मा से उत्पन्न है और **(नित्यं)** शाश्वत है **(ततः)** इसलिए **(न तत् अद्‌भुतं)** वह कुछ अदभुत नहीं है। **(इह)** इस संसार में **(इदं महत् चित्रं)** यह बहुत बड़ा आश्चर्य है **(यत्)** कि **(व्यक्तं)** छोड़े गये **(तत्)** उस **(विषयात्मकं)** विषयरूप **(विषं)** विष को **(पुनरपि)** पुनः फिर **(सुधी)** बुद्धिमान् पुरुष **(भोक्तुं)** भोगने के लिए **(महत् तपः)** महान् तप को **(जहाति)** छोड़ देता है।

अर्थ—चक्रवर्ती चक्र को तप के लिए छोड़ देता है तो छोड़ देवे, इसमें कुछ भी आश्चर्य की बात नहीं है क्योंकि तप का फल आत्मा से उत्पन्न हुआ अनुपम, नित्य सुख है। इस संसार में आश्चर्य तो यह है कि विषय भोगरूप विष को जिसने पहले छोड़ा है वह बुद्धिमान पुनः उसे भोगने के लिए महान् तप को छोड़ देता है।

टीकार्थ—चक्रवर्ती चक्र को छोड़ देता है इसका अर्थ यह है कि वह चक्र के आश्रित रहने वाली समस्त राज्य सम्पदा को तप के निमित्त त्याग कर देता है। इसमें कुछ आश्चर्यात्मक इसलिए नहीं है कि उसे तप आराधना के फलस्वरूप स्वकीय आत्मा से उत्पन्न उपमा रहित, आह्लाद परिणाम प्राप्त होता है। स्व आत्मा से स्व को स्व के द्वारा स्व में जो सुख उत्पन्न होता है उसे आत्मा से उत्पन्न सुख कहते हैं। वह सुख शाश्वत होता है। इस कारण से चक्रवर्ती का चक्र त्याग करना आश्चर्यकारी नहीं है।

इस प्रकरण में अत्यधिक विचित्र बात तो यह है कि पंचेन्द्रियों को तृप्त करने वाले स्पर्श आदि जो विष कालकूट विष के समान है ऐसा सोचकर जिसने पहले उनका त्याग किया था; पुनः फिर वही सुधी उन्हीं भोगों का अनुभवन करने के लिए महान् तप को छोड़ देता है। यह तप भगवान् अरहन्तदेव के द्वारा कहा गया है और इन्द्र अहमिन्द्र आदि महान् व्यक्तियों के द्वारा पूजित है, इसलिए पूज्य है। अल्प

इति लट्। अल्पार्घ्यार्थमपहायानर्घ्यार्थादानात् नाद्भुतं चक्रिचक्रेश्वरत्वापहानं प्रत्युताल्प-सुखार्थायानल्प-सुखोत्सर्जनातप्रत्युताल्प-सुखार्थायानल्पसुखोत्सर्जनात स्याददद्भुतं गृहीततपस्त्यजनं परदेशमुद्रानिमित्तं गोवधकरणवत्, प्रसाधनपदार्थायातार्थं गोवंशमांसनिर्यातवत्, मद्यनिमित्तं द्राक्षशस्यवत्, आम्रबीज-निमित्तमाम्रशोषणवत्, महावन्निमित्तं राजशय्यात्यजनवत्, क्षुत्पूर्त्यर्थं छर्दितभक्षणवत्, भस्मनिमित्तं रत्नराशि-दहनवत्, विदेहोत्पत्तिनिमित्तं सद्दर्शनवञ्चनवत् हरिणीवृत्तम् ॥१६५॥

पुनरपि विषयाशया विरक्तादरक्तमुपगतस्य दृढीकरणार्थमाह–

(वसन्ततिलका)

शय्यातलादपि तुकोऽपि भयं प्रपातात्
तुङ्गात्ततः खलु विलोक्य किलात्मपीडाम्।
चित्रं त्रिलोकशिखरादपि दूरतुङ्गाद्
धीमान् स्वयं न तपसः पतनाद्बिभेति ॥१६६॥

अन्वयः—अपि तुकः अपि प्रपातात् शय्यातलात् तुङ्गात्, ततः खलु आत्मपीडां विलोक्य किल भयं (अस्ति), चित्रं धीमान् तपसः पतनात् त्रिलोकशिखरात् अपि दूरतुङ्गात् स्वयं न बिभेति।

मूल्य वाली वस्तु को छोड़कर अनर्घ्य वस्तु को ग्रहण करने के कारण चक्री का चक्रवर्तित्व छोड़ना कोई अद्भुत बात नहीं है किन्तु अल्प सुख के लिए बहुत सुख को छोड़ देने के कारण गृहीत तप को छोड़ देना आश्चर्य उत्पन्न करने वाली बात है। यह बात ऐसे ही आश्चर्य उत्पन्न करती है जैसे परदेश की मुद्रा के लिए अपने देश की गोसम्पदा का वध करना आश्चर्यकारी है, प्रसाधन की वस्तुओं को लाने के लिए गोवंश के मांस का निर्यात करना विचित्र बात है, मदिरा के लिए अंगूर की खेती करना आश्चर्यकारी है, आम के बीज के लिए पके हुए आम को सुखाने की तरह आश्चर्यकारी है, महावत के लिए राजा की शय्या को छोड़ने की तरह आश्चर्यकारी है, क्षुधापूर्ति के लिए वमन भक्षण की तरह अद्भुत है, भस्म के लिए रत्नों की राशि को जलाने की तरह अद्भुत है, विदेह में जन्म लेने के लिए सम्यग्दर्शन से वंचित रहने की तरह आश्चर्यकारी है। यहाँ हरिणी छन्द है ॥१६५॥

उत्थानिका—विषयों की आशा से विरक्त होकर पुनः राग को प्राप्त करने वाले को दृढ़ करने के लिए कहते हैं–

अन्वयार्थ–**(अपि)** अरे **(तुकः)** बालक **(अपि)** भी **(शय्यातलात् तुङ्गात्)** ऊँचे शय्यातल से

उन्नत शैया तल से नीचे भू तल पर आ शिशु गिरता।
संभावित पीड़ा लखकर तब कँपता भय से है घिरता॥
त्रिभुवन से भी उन्नत तप गिरि से गिरते मतिवर यति हैं।
किन्तु भीति नहिं होती उनको होते विस्मित हम अति हैं॥१६६॥

शय्येत्यादि। अपि गर्हायाम्। तुकः बालकस्य। 'पुत्रः सूनुरपत्यं च, तुक् तोकं चात्मजः प्रजा' इति धनञ्जयः। तुक्शब्दस्य तान्तरूपम्। अपि विस्मये। प्रपातात् प्रपतनात्। कस्मात्? शय्यातलात् आदोलन-फलकत्वात्। कथम्भूतात्? तुङ्गात् अधरीभूतात्। हेतुगर्भविशेषणमेतत्। यतस्तुङ्गः शय्यातलः ततः तस्मात् कारणात्। खलु स्फुटम्। आत्मपीडां पतनभयजनितदुःखम्। विलोक्य विचिन्त्य। किल पादपूर्तौ। भयं प्रीतिः। अस्तीत्यध्याहार्यम्। तुकशब्दोऽजन्तान्तो न मया दृष्टः। तथापि प्राभाचन्द्रीयटीकायां तुकशब्दो अजन्तः स्वीकृतः। चित्रं आश्चर्यकरम्। धीमान् सम्यग्ज्ञानी। तपसः पतनात् तपोगर्भितचारित्राराधना-परित्यजनात्। कथम्भूतात्? त्रिलोकशिखरात् अपि दूरतुङ्गात् सिद्धशिलातोऽपि पूज्यतापेक्षायामुन्नतं तपः सिद्धेः कारणत्वात्। सा शिलापि सिद्धाधारत्वादेव पूज्या नेतरथा। तस्मात् बालस्य शय्यातलादप्युतुङ्गात्। स्वयं न बिभेति महातपस्वी अपि तु बालः स्वयं बिभेति तेन बालस्याप्यतिबालत्वं तस्य प्रदर्शितम्। सम्यग्ज्ञानी अपि सम्यक्चारित्रशिखरान्निपतति विषयलिप्सया तत् स्वीयप्रज्ञापराधादेव कर्मनोकर्मणाम-ज्ञानमयभावात्। न च तेऽज्ञानमयभावा हठात् तं विषयेषु योजयन्ति तथा सति सिद्धेरभावप्रसङ्गात्। तस्मादयं ज्ञानिनो दोष इति वेदितव्यः। वसन्ततिलकावृत्तम् ॥१६६॥

(प्रपातात्) गिरने से **(ततः खलु)** उससे **(आत्मपीडां)** अपनी पीड़ा को **(विलोक्य)** देखकर **(किल)** निश्चित ही **(भयं)** भयग्रस्त होता है **(चित्रं)** विचित्र है कि **(धीमान्)** बुद्धिमान् **(त्रिलोक-शिखरात्)** तीन लोक के शिखर से **(अपि)** भी **(दूरतुङ्गात्)** अधिक ऊँचाई **(तपसः)** तप से **(पतनात्)** पतन से, गिरने से **(स्वयं)** स्वयं **(न बिभेति)** नहीं डरता है।

अर्थ—देखो! बालक भी ऊँचे शयन स्थान से गिरने से होने वाली अपनी पीड़ा को देखकर डरता है किन्तु विचित्र बात यह है कि बुद्धिमान् पुरुष तीन लोक के शिखरभूत तप से इतना ऊँचा होते हुए भी गिरने से नहीं डरता है।

टीकार्थ—यहाँ बालक के लिए तुक् शब्द का प्रयोग किया है, तुकः–यह षष्ठी का एकवचन है। प्रभाचन्द्रजी की टीका में तुकः शब्द प्रथमा का एकवचन माना है। अकारान्त तुक शब्द का प्रयोग अन्यत्र नहीं देखा जाता है। यहाँ शय्यातल से बच्चों के सोने के लिए पालना समझना। बच्चा गिरने के भय और उससे उत्पन्न दुःख को भी जानता है। बालक भी ऊँचे स्थान से गिरने के भय से अपने शय्यातल में प्रीति करता है। किन्तु आश्चर्य है कि सम्यग्ज्ञानी जीव तप आराधना से सहित चारित्र आराधना को छोड़ने से भी नहीं डरता है।

शंका—यह चारित्र आराधना शय्यातल से भी ऊँची कैसे है ?

समाधान—तीन लोक का शिखर जो बहुत दूर ऊँचाई पर है, उस शिखर से यानी सिद्धशिला से भी पूज्यता की अपेक्षा से तप ऊँचा है क्योंकि यह तप ही सिद्धि का कारण है। वह सिद्धशिला भी सिद्धों के आधार के कारण ही पूज्य है, अन्यथा नहीं है इसलिए बालक के शय्यातल से चारित्राराधना ऊँची है।

यस्य सम्पर्केणाशुद्धोऽपि शुद्धो भवति, तथाभूतं शुद्धतपोपदार्थमपि योऽशुद्धं कुरुते स महापातकी-त्याह–

(अनुष्टुप्)

विशुद्ध्यति दुराचारः सर्वोऽपि तपसा ध्रुवम्।
करोति मलिनं तच्च किल सर्वाधरः परः ॥१६७॥

अन्वयः—तपसा सर्वः अपि दुराचारः ध्रुवं विशुद्ध्यति तत् च परः सर्वाधरः किल मलिनं करोति।

विशुद्ध्यतीत्यादि। तपसा निर्ग्रन्थलिङ्गोचितानुष्ठानेन। सर्वः अशेषः पुराकृतः। अपि विस्मये। दुराचारः पापाचरणम्। ध्रुवं निश्चयेन। विशुद्ध्यति विशुद्धिमवाप्नोति। तत् तपः। च अपि। परः कोऽपि। सर्वाधरः सर्वनिकृष्टो जनः। किलाहो। मलिनं पापात्मकम्। करोति तत्तपस्त्यागेन। इयं तु निर्ग्रन्थता लोके

यह महातपस्वी गिरने से नहीं डरता है किन्तु बालक तो स्वयं ही डरता है इसलिए बालक से भी अतिबालपन इस साधु का दिखाया है। सम्यग्ज्ञानी भी सम्यक्चारित्र के शिखर से जो विषयों की तृष्णा से गिरता है वह अपनी प्रज्ञा का अपराध होने से ही है क्योंकि कर्म, नोकर्म तो अज्ञानमयभाव हैं। और वे कर्म या नोकर्म से उत्पन्न हुए अज्ञानमय भाव जबरदस्ती उस आत्मा को विषयों में नहीं पटक देते हैं। यदि ऐसा होवे तो फिर सिद्धि की प्राप्ति का ही अभाव हो जाने का प्रसंग आ जाएगा। इसलिए यह पतन उसी ज्ञानी का दोष है, यह जानना चाहिए। यहाँ वसन्ततिलका छन्द है ॥१६६॥

उत्थानिका—जिसके सम्पर्क से अशुद्ध भी शुद्ध हो जाता है ऐसा शुद्ध तपरूपी पदार्थ भी जो अशुद्ध कर देता है वह महापापी है, यह कहते हैं–

अन्वयार्थ–(तपसा) तप के द्वारा **(सर्वः अपि)** समस्त ही **(दुराचारः)** दुराचार **(ध्रुवं)** निश्चय से **(विशुद्ध्यति)** विशुद्ध हो जाता है **(तत् च)** उस तप को भी **(परः)** कोई **(सर्वाधारः)** सर्व निकृष्ट जीव **(किल)** निश्चित ही **(मलिनं करोति)** मलिन कर देता है।

अर्थ—तप के द्वारा जो कुछ भी दुराचार है वह निश्चित ही शुद्ध हो जाता है किन्तु उस तप को भी अन्य अतिनिकृष्ट व्यक्ति मलिन कर देता है।

टीकार्थ—निर्ग्रन्थ लिंग के अनुरूप उचित आचरण करना ही तप है। पहले का अर्थात् पूर्व जन्मों में किया गया पाप आचरण भी निश्चय से तप के द्वारा विशुद्ध हो जाता है। फिर कोई अतिनिकृष्ट जन उस तप का त्याग करके उस तप को ही पापरूप बना देता है, यह बहुत निंदनीय कृत्य है।

अतीचार से अनाचार से हुवा महाव्रत दूषित हो।
योग सुतप का उसे मिले तो शुचिपन से झट भूषित हो॥
विमल विमलतम उस तप को भी मलिन मलिनतम करता है।
सदाचार से दूर दुष्ट जो दुराचार भर धरता है॥१६७॥

विश्रब्धता हेतुः। तामाश्रित्य जनाः पुराकृतनिकृष्टदुराचारमपि सम्यगनुष्ठानेन पवित्रयन्ति, तत एव लोकास्तान् सदाचारित्वेन विश्वसन्ति। एवंविशुद्धतपो विषयिणो मलिनी कुर्वन्ति व्रतभङ्गात्। अत एव व्रतभङ्गी महाभङ्गीति लोकोक्तिः प्रचलिता। अनुष्टुप्छन्दः ॥१६७॥

सत्सु बहुषु अपि कौतुकेषु जगति द्वयमेवाश्चर्यकरमस्माकमित्याह–

सन्त्येव कौतुकशतानि जगत्सु किन्तु
विस्मापकं तदलमेतदिह द्वयं नः।
पीत्वामृतं यदि वमन्ति विसृष्टपुण्याः
सम्प्राप्य संयमनिधिं यदि च त्यजन्ति ॥१६८॥

अन्वयः—जगत्सु कौतुकशतानि सन्ति एव, किन्तु तत् एतत् इह नः द्वयं अलं विस्मापकं, यदि विसृष्टपुण्याः अमृतं पीत्वा वमन्ति, यदि च संयमनिधिं सम्प्राप्य त्यजन्ति।

सन्त्येवेत्यादि। जगत्सु लोकत्रयेषु। कौतुकशतानि आश्चर्यकारिघटनासहस्रचक्रम्। कौतुकानां शतं कौतुकशतं तानि। अत्र शतशब्दः संख्यावैपुल्य-वाची ज्ञातव्यः। यद्यपि लोके सप्ताश्चर्याणि स्थानानि

यह निर्ग्रन्थता लोक में विश्वास का कारण है। इस निर्ग्रन्थता का आश्रय लेकर जीव पहले किए हुए निकृष्ट पाप आचरण को भी सम्यक् अनुष्ठान के द्वारा पवित्र बना लेते हैं। इसलिए ही संसार के लोग उन तपस्वियों को ये सदाचारी है, ऐसा विश्वास करते हैं। इस प्रकार का विशुद्ध तप भी विषय आसक्त साधु व्रत भंग होने से मलिन कर लेते हैं। इस कारण से ही 'व्रतभंगी महाभंगी' यह लोकोक्ति प्रचलित हुई है। यहाँ अनुष्टुप् छन्द है ॥१६७॥

उत्थानिका—इस जग में बहुत से कौतुक हैं किन्तु उनमें हमारे लिए दो कौतुक ही आश्चर्यकारी हैं, यह कहते हैं–

अन्वयार्थ–**(जगत्सु)** संसार में **(कौतुकशतानि)** सैकड़ों कौतुक **(सन्ति एव)** निश्चित ही हैं **(किन्तु)** किन्तु **(तत् एतत्)** उनमें से ये **(इह)** यहाँ **(नः)** हमको **(द्वयं अलं विस्माकं)** विस्मय के लिए दो पर्याप्त है। **(यदि)** यदि **(विसृष्टपुण्याः)** पुण्यहीन लोग **(अमृतं)** अमृत **(पीत्वा)** पीकर के **(वमन्ति)** उगलते हैं **(यदि च)** और यदि **(संयमनिधिं)** संयम निधि को **(सम्प्राप्य)** प्राप्त करके **(त्यजन्ति)** छोड़ देते हैं।

अर्थ—तीन लोक में सैकड़ों कौतुक हैं। परन्तु इन सबमें इसलोक में ये दो ही कार्य विस्मय वाले हैं कि एक तो यदि कोई भाग्यहीन अमृत पीकर उगल देते हैं और दूसरा यदि संयम निधि को प्राप्त करके

जहाँ कहीं भी मिलते सौ सौ कौतुक विस्मयकारी हैं।
उन सबमें भी इन दो पर ही होता विस्मय भारी है॥
परमामृत का प्रथम पानकर पुनः उसे जो वमन करें।
सुकृत रहित वे व्रतधर व्रत तज फिर विषयन में रमण करें ॥१६८॥

विश्रुतानि तथापि घटनानि बहुसंख्यकानि विज्ञेयानि। सन्ति भवन्ति। एव निश्चितम्। किन्तु परन्तु। तत् कौतुकम्। एतत् वक्ष्यमाणस्वरूपम्। इह अस्मिन् जगति। नः अस्माकम्। अस्मदः तान्तरूपम्। द्वयं द्विसंख्यकम्। अलमत्यर्थम्। विस्मापकमाश्चर्यकर्तृकम्। प्रथमं तावत्–यदि अमृतं पीत्वा वमन्ति वमनं छर्दितं कुर्वन्ति। [ते के भवन्ति? विसृष्टपुण्याः पुण्यविहीनाः। विस्रष्टं विनिर्गतं पुण्यं येषां ते।] द्वितीयं तु यदि संयमनिधिं सम्प्राप्य त्यजन्ति, दीक्षां प्रगृह्य पश्चात् परित्यजन्ति इत्यर्थः। लौकिकाऽपेक्षयाऽमृतं सर्वरसेषु बहुमूल्यकमजरामरकारणत्वात्। अलौकिकापेक्षया तु संयम एव सर्वनिधिषु बहुमूल्यवानजरामरकारणत्वात्। कथमपि हि लभते पुण्यवान् द्वयमेतदन्धकवर्तकीन्यायेन। तत्रापि स तां खे उत्पतति तेन निश्चितं भवति सोऽन्ध एव मूढो वा पुण्यरहितो वेति। वसन्ततिलकावृत्तम् ॥१६८॥

अत एव हे भव्य! त्वं संयमरक्षार्थं यतस्वेति व्याचष्टे–

इह विनिहतबह्वारम्भबाह्योरुशत्रो–
रुपचितनिजशक्ते र्नापरः कोऽप्यपायः।
अशनशयनया – नस्थानदत्तावधानः
कुरु तव परिरक्षामान्तरान् हन्तुकामः ॥१६९॥

छोड़ देते हैं।

टीकार्थ–कौतुक का अर्थ आश्चर्य में डालने वाली घटनाएँ हैं। सैकड़ों यह शब्द विपुल संख्यावाची है अर्थात् बहुत संख्या में ऐसे कौतुक तीन जगत् में होते हैं। यद्यपि संसार में सात ही आश्चर्यकारी स्थान विख्यात हैं फिर भी आश्चर्यकारी घटनायें तो बहुत संख्या में होती रहती हैं। किन्तु उन सभी में जो हम कहने जा रहे हैं, ऐसे दो ही कौतुक आश्चर्यजनक दिखते हैं। जिनका पुण्य क्षीण हो चुका है वे भाग्यहीन लोग हैं, वे संयम निधि अर्थात् दीक्षा को ग्रहण करके उसे छोड़ देते हैं। लौकिक दृष्टि से तो सभी रसों में अमृत बहुमूल्य है जो अजर–अमर बनने का कारण है किन्तु अलौकिक दृष्टि से सभी निधियों (खजानों) में संयम ही बहुमूल्यवान है जो वास्तव में अजर अर्थात् बुढ़ापे से रहित होने का और अमर अर्थात् मृत्यु से रहित होने का कारण है।

कोई पुण्यवान मनुष्य इन दोनों को जिस किसी प्रकार प्राप्त कर पाता है जैसे कि कहावत है ''अन्धे के हाथ बटेरी लगी'' इतनी दुर्लभता से प्राप्त होने पर भी वह फिर आकाश में उस बटेर (संयम और अमृत) को छोड़ दे तब तो निश्चित ही ऐसा व्यक्ति या तो अन्धा है, या मूर्ख है या पुण्यहीन ही है। यही सबसे बड़े आश्चर्य हैं। यहाँ वसन्ततिलका छन्द है ॥१६८॥

बाह्य शत्रु आरंभादिक को पूर्ण रूप से त्याग दिया।
निज बल संग्रह करने वाला अब थोड़ा बस जाग जिया॥
अशन शयन गमनादिक में हो जागृत निज रक्षण करना।
रागादिक का क्षय करना हो व्रत पालन हर क्षण करना ॥१६९॥

अन्वयः—इह तव विनिहतबह्वारम्भबाह्योरुशत्रोः उपचितनिजशक्तेः कः अपि अपरः अपायः न (अस्ति), अशनशयनयानस्थानदत्तावधानः (सन्) आन्तरान् हन्तुकामः परिरक्षां कुरु।

इहेत्यादि। इह संयमप्रसङ्गे। तव श्रमणस्य। कथम्भूतस्य? विनिहत-बह्वारम्भबाह्योरुशत्रोः महारम्भ-परिग्रहसमूहबाह्यदुष्टद्विष्घातकस्य। बहवः सावद्यकर्मणः आरम्भः प्राणिपीडाकारणभूतव्यापारो बह्वारम्भः स एव बाह्यो बहिर्भूतः उरुर्महान् शत्रुर्वैरी बह्वारम्भबाह्योरुशत्रुः। विनिहतो विनष्टो येन स तथोक्तस्तस्य। निर्ग्रन्थलिङ्गरक्षणस्य बहिरुपायोऽयम्। हेतुगर्भितविशेषणमेतत् श्रमणस्य। तेन हेतुना किं साध्यमित्याह-उपचितनिजशक्तेः निजराज्यशक्तिवर्धकस्य। उपचिता वर्धिता निजीया शक्तिर्यस्य येन वा स तस्य। संयमरक्षणाय पापशत्रुनिष्कासनद्वारेणात्मनि पुण्यशक्तिवर्धनं स्यात् श्रमणस्येति। कः अपि अपरः अन्यः। अपायः कष्टः। न अस्तीति शेषः। अपायः स्यात् सङ्गात्। सङ्गस्य कारणमारम्भः। तेनैवोदितं निरारम्भस्य श्रमणस्य परिजितपरराज्यराजराजस्येव बहिर्दुःखं नास्ति। अशनशयनयानस्थानदत्तावधानः अशनादि-क्रियासु प्रयत्नपरचित्तः। तत्र अशनं भोजनम्, शयनं स्वापः, यानं गमनम्, स्थानमुपवेशनम्, द्वन्द्ववृत्त्या एतेषु

उत्थानिका—इसलिए हे भव्य! तुम संयम की रक्षा के लिए प्रयत्न करो, यह कहते है—

अन्वयार्थ–**(इह)** अब यहाँ **(तव)** तुमने जो **(विनिहतबह्वारम्भबाह्योरुशत्रोः)** बहुत आरम्भ और बाहरी बड़े शत्रुओं को नष्ट किया है **(उपचित-निजशक्तेः)** अपनी शक्ति को इकट्ठा किया है ऐसे तुमको **(कः अपि)** कोई भी **(अपरः अपायः)** दूसरा कष्ट **(न)** नहीं है **(अशन-शयन-यान-स्थान-दत्तावधानः)** अब भोजन, शयन, गमन, बैठना इनमें सावधान होते हुए **(आन्तरान्)** अन्तरंग शत्रुओं का **(हन्तुकामः)** नाश करने की इच्छा से सहित हो **(परिरक्षां कुरु)** सब ओर से अपनी रक्षा करो।

अर्थ—इस संयम में तुमने बहुत आरंभ आदि बाह्य बड़े शत्रुओं को समाप्त कर दिया है और अपनी शक्ति को बढ़ाया है। अब तुमको कोई दूसरा कष्ट तो है नहीं। अपने अंतरंग शत्रुओं को नाश करने की इच्छा से भोजन, शयन, चलना, बैठना इन क्रियाओं में सावधान होते हुए अपनी आत्मा की रक्षा करो।

टीकार्थ—प्राणियों की पीड़ा में कारणभूत व्यापाररूपी पाप कर्म ही बाहरी महान् वैरी था उसको तो तुमने नष्ट कर दिया है और अपनी निजी आत्मिक शक्ति को बढ़ाया है। आरम्भ परिग्रह के समूह-रूपी बाह्य दुष्टों से निर्ग्रन्थलिंग की रक्षा का उपाय जो कहा है वह श्रमण के लिए वस्तुतः निर्ग्रन्थ लिंग की रक्षा करने का हेतु बताया है। इस हेतु से क्या साधने योग्य है ? अपनी शक्ति बढ़ाना योग्य है। जैसे कोई राजा बाह्य शत्रु से रक्षा करता हुआ अपनी मंत्री, सेना आदि शक्ति को बढ़ाता है उसी तरह तुम भी बढ़ाओ। श्रमण की आत्मा में संयम की रक्षा के लिए पापरूपी शत्रु का निष्कासन होने से पुण्य-शक्ति का वर्धन होता है। अब बाह्यपरिग्रह से होने वाला कष्ट भी तुम्हारे लिए नहीं है क्योंकि परिग्रह का कारण आरम्भ (हिंसा) है। इससे यह कहा गया है कि आरम्भ रहित भ्रमण शत्रु राज्य के राजा को जीतने वाले की तरह होता है, इसलिए उसे बाहरी दुःख नहीं होता है। अब भोजन, निद्रा, गमन, बैठना इन क्रियाओं में अप्रमत्त भाव से प्रयत्नशील होते हुए ध्यान दो। इसी से अन्तरंग प्रमाद, आवेग, काम,

दत्तं अवधानं अप्रमत्ततया ध्यानं येन सः। आन्तरान् प्रमादावेगकामक्रोधलोभप्रणयहर्षादीन्। अन्तरे भवा आन्तरास्तान्। हन्तु-कामः हन्तुं वाञ्छन्। हन्तुं कामः इच्छा यस्य सः। ''सक्तुमो मनःकामे'' इति तुमो मकारस्योप्। परिरक्षां तव स्वकीयस्येति। कुरु विधेहि। 'डुकृञ् करणे' इति लोट्। अपरीक्षित-भोजनाति-शयनानावश्यकगमनानिरीक्षतासनं महाराजस्य पारतन्त्र्याकस्मिकापद्विपन्नप्राणनाश-कारणाय भवेत्तथा श्रमण-राजस्यापीति सकलसमितिषु सावधनतया प्रवर्तस्वेति भावः। मालिनीवृत्तम् ॥१६९॥

स्वात्मनो रक्षा मनोनियन्त्रणात्, तच्च कथं स्यादित्युपायोऽत्र प्रोच्यते–

(शिखरिणी)

अनेकान्तात्मार्थप्रसव - फलभारातिविनते,
वचःपर्णाकीर्णे विपुलनयशाखाशतयुते।
समुत्तुङ्गे सम्यक्प्रततमतिमूले प्रतिदिनं,
श्रुतस्कन्धे धीमान् रमयतु मनोमर्कटममुम् ॥१७०॥

अन्वयः—धीमान् अमुम् मनोमर्कटं प्रतिदिनं रमयतु श्रुतस्कन्धे अनेकान्तात्मार्थ-प्रसवफलभाराति-विनते वचःपर्णाकीर्णे विपुलनयशाखाशतयुते समुत्तुङ्गे सम्यक्प्रततमतिमूले।

क्रोध, लोभ, स्नेह, हर्ष आदि अंतरंग शत्रुओं का नाश करने की इच्छा करते हुए आत्मरक्षा करो। जैसे किसी राजा के लिए बिना परीक्षा किए भोजन करना, अत्यधिक निद्रा लेना, अनावश्यक इधर-उधर घूमना, बिना निरीक्षण किए हुए बैठना आदि क्रियाएँ परतन्त्रता, आकस्मिक आपत्ति, विपत्ति, प्राणों के नाश के लिए कारण होती हैं उसी प्रकार श्रमणराज (मुनिराज) के लिए होती हैं, इस विचार से सभी समितियों में सावधानी से प्रवृत्ति करो, यह भाव है। यहाँ मालिनी छन्द है ॥१६९॥

उत्थानिका—अपनी आत्मा की रक्षा मन के नियन्त्रण से होती है, मन का नियन्त्रण कैसे होगा, इस उपाय को यहाँ कहते हैं–

अन्वयार्थ—(धीमान्) बुद्धिमान जन **(अमुं)** इस **(मनोमर्कटं)** मनरूपी बन्दर को **(प्रतिदिनं)** प्रतिदिन **(रमयतु)** रमण कराओ **(श्रुतस्कन्धे)** उस श्रुतस्कन्ध पर **(अनेकान्तात्मार्थ-प्रसव-फल-भारातिविनते)** जो अनेकान्तस्वरूप अर्थ के फूल-फल के भार से झुका हुआ है, **(वचः-पर्णाकीर्णे)** वचनों के पत्तों से भरा हुआ है, **(विपुलनय शाखा शतयुते)** अनेक प्रकार के नयों की शाखाओं सहित है, **(समुत्तुङ्गे)** बहुत ऊँचा है, **(सम्यक् प्रतत मतिमूले)** भली प्रकार विस्तार लिये जो मतिज्ञान है

कतिपय नयमय शाखाओं में वचन पत्र से सजा हुवा।
अमित धर्म के निलय अर्थमय फूल फलों से लदा हुवा ॥
उन्नत 'श्रुत-तरु' समकित मतिमय जड़ जिसकी अति दृढ़तर भी।
बुधजन अपने मन मर्कट नित रमण करावे उस पर ही ॥१७० ॥

अनेकान्तेत्यादि। धीमान् सम्यग्ज्ञानवान्। अमुमनुभूयमानम्। किं तत्? मनो मर्कटं मनोवानरम्। मनः मर्कटमिव चपलताधर्मसाधर्म्यात्। न सर्वेषां मनः चापल्यं सदृशम्। रागिणां मनस्तु वृश्चिकदंष्ट्र-मदिरापानपीतमर्कटमिव वीतरागिणां पुनः सामान्यमर्कटमिव प्रमत्तं मन्तव्यम्। प्रतिदिनं अहर्निशमिति स्थूलनयेन, सूक्ष्मनयेन तु प्रतिक्षणमिति भावः। रमयतु रमणं कारयतु। 'रमु क्रीडायाम्' इति धोर्णिजन्ताल्लोट्। क्व? श्रुतस्कन्धे द्रव्यभावश्रुतवृक्षे। अत्र स्कन्धो वृक्षार्थे द्रष्टव्यः अवयवस्यावयविनि वृत्तिदर्शनात्। श्रुतं एव स्कन्धः श्रुतस्कन्धः तस्मिन्। किं विशिष्टे? अनेकान्तात्मार्थप्रसवफलभारातिविनते विभिन्नधर्मात्मक-वस्तुरूपपुष्प-फलसमूहभारकारणातिनम्रे। अनेका विभिन्ना अन्ता धर्मा यत्र सोऽनेकान्त एवात्मा येषामर्थानां वस्तूनां तेऽनेकान्तात्मार्थाः। ते च ते प्रसवफलानि कुसुमफलानि, तेषां भारः समूहस्तेनाति अतिशयेन विनतो यः स तथोक्तस्तस्मिन्। यतश्च वृक्षे पुष्पं च फलं च विद्यते ततो हि श्रुते धर्मश्च धर्मी च। पुष्पं यथा फलत्वेन परिणमति तथानन्तधर्मसमुदायो हि धर्मित्वेन। अतः प्रतिवस्तु अनन्तधर्मात्मकमित्यवस्थितम्। पुनश्च कथम्भूते? वचः पर्णाकीर्णे द्रव्यश्रुतात्मकशब्दविन्यास-पत्रनिचिते। वचांसि संस्कृतप्राकृतापभ्रंशादीनि द्रव्यश्रुतात्मकानि। तान्येव पर्णानि पत्राणि तैराकीर्णो निचितो व्याप्तो युक्तो वा स तस्मिन्। यथा वृक्षो विचित्रपत्रवान् तथा श्रुतमपि विधिप्रतिषेधात्मकवाक्यभृतमिति। पुनश्च किंभूते? विपुलनयशाखाशतयुते

उसका मूल है।

अर्थ—जो अनेकान्त स्वरूप पदार्थों के फूल-फलों के भार से नम्र है, वचनों के पत्तों से भरा है, अनेक नयों की शाखाओं से युक्त है, अतिउत्तुंग है और जो बहुत विस्तृत मतिज्ञान का मूल (जड़) है ऐसे इस श्रुत (शास्त्र) रूपी वृक्ष पर मनरूपी बन्दर को रमण कराओ।

टीकार्थ—मन बन्दर के समान है। चपलता के कारण दोनों में समानता है। सभी के मन की चंचलता समान नहीं होती है। रागियों का मन उस बन्दर के समान होता है जिस बन्दर को पहले तो बिच्छू ने काट लिया हो, फिर उस बन्दर को मदिरा पिला दी हो और वह उन्मत्त हो गया हो। वीतरागियों का मन सामान्य बन्दर की तरह प्रमत्त मानना चाहिए। यहाँ प्रतिदिन मन लगाने को कहा है। स्थूलनय से प्रतिदिन लगाना किन्तु सूक्ष्मनय से प्रतिक्षण लगाना, यह भाव है। द्रव्यश्रुत और भावश्रुतरूपी वृक्ष श्रुतस्कन्ध कहा गया है। यहाँ स्कन्ध शब्द वृक्ष के अर्थ में जानना चाहिए क्योंकि अवयव की भी अवयवी में वृत्ति देखी जाती है। अनेक या विभिन्न धर्म जहाँ रहते हैं वह अनेकान्त है। अनेकान्त ही आत्मा (स्वरूप) वस्तुओं का होता है इसलिए वे अनेकान्तात्म अर्थ कहलाते हैं। ये अनेकान्त स्वरूप धर्म ही फूल, फल हैं, जिनके भार से श्रुतस्कन्ध अति झुका हुआ है। चूँकि वृक्ष में पुष्प और फल रहते हैं इसलिए श्रुत में धर्म और धर्मी दोनों रहते हैं। पुष्प जैसे फलरूप से परिणमन करता है उसी प्रकार अनन्त धर्म का समुदाय ही धर्मी के रूप से परिणमन करता है। अतः प्रत्येक वस्तु अनन्त धर्मात्मक है, यह सिद्ध होता है। वह श्रुतस्कन्ध द्रव्यश्रुतरूप शब्दविन्यास के पत्तों से परिपूर्ण है। संस्कृत, प्राकृत और अपभ्रंश आदि द्रव्यश्रुतात्मक वचन हैं। इन वचनों रूप पत्तों से वह व्याप्त है अथवा युक्त है। जैसे वृक्ष अनेक पत्तों से सहित होता है उसी प्रकार श्रुत भी विधिप्रतिषेधात्मक वाक्यों से भरा हुआ है।

गणनातिगनयशाखाबहुलयुक्ते। विपुलाः गणनातिगाः प्रचुराः। ते च ते नया मिथः सापेक्षा वस्त्वंशावबोधने समर्थाः। त एव शाखाशतानि शाखाबहुलानि। शतशब्दो वैपुल्यवाची विज्ञेयः। तैर्युतो युक्तो यः स तस्मिन्। यथा वृक्षे शाखास्तथा श्रुते विपुलनया राजन्ते। परस्परविरुद्धधर्माणा-मेकत्र वस्तुनि निर्विरोधेन सत्ताऽनेकान्तात्मकताऽभिमता। तदनन्तधर्मात्मकवस्तुनो निरूपणं केनोपायेन भवितव्यं येन विरोधो न स्यादित्याकूतमपोहनार्थं नयप्रतिपत्तिः। सर्वैः प्रतिवादिभिः स्वस्वमनीषया वस्तु एकाधिकधर्मसत्ताद्वारेण प्रतिपादितम्। सन्ति वस्तूनि न तथा, तथाविधानुपलम्भात्। विभिन्नधर्मवर्णमालाकलापकलितवस्तुसमाकलनं सर्वज्ञविज्ञप्तिं विना न समीचीनतामञ्चति। प्रमाणेनाऽखण्डवस्तुविज्ञानमक्रमेणायाति नयेन तु क्रमेण इति युक्त्या, प्रमाणनयैरधिगमः इति श्रुत्या च दृष्टेष्टा-विरोधकं वस्तु प्रतिष्ठिम्। ते नया विपुला वस्तुधर्मनिर्भराः सन्ति। ''नैगमसङ्ग्रह-व्यवहारर्जुसूत्रशब्दसमभिरूढैवम्भूतानयाः'' इति सूत्रेण किं न विरोधः स्यात्। न स्यात्। कथम्? विवक्षावशात्। का विवक्षा? नयप्रतिपादनविवक्षा। कथम्भूता सा? सामान्यविशेषात्मिका। तेन सामान्यप्ररूपणायां सप्तनयप्ररूपणम्। विशेषेण तु सर्वस्य वस्तुनोऽनन्तधर्मात्मकस्य एकैकांशावधारण-वाचकशब्दप्रकारा यावन्तस्तावन्त एव नयाः प्रतिपत्तव्याः। ते सर्वेऽपि निरापेक्षाः सन्तो दुर्नयाः परदर्शन-

---

गणनातीतनय सापेक्ष होते हैं जो वस्तु के एक अंश (धर्म) को समझाने में समर्थ होते हैं। वे नय ही सैकड़ों शाखाएँ हैं। यहाँ 'शत' शब्द विपुलता के अर्थ में है। उन सैकड़ों शाखाओं से युक्त यह श्रुतस्कन्ध है। जैसे वृक्ष में शाखायें होती है उसी प्रकार शास्त्र में बहुत से नय शोभित होते हैं। परस्पर विरुद्ध धर्मों की एक वस्तु में निर्विरोधरूप से सत्ता ही अनेकान्तात्मकरूप से स्वीकृत है। उस अनेक धर्मात्मक वस्तु का निरूपण किस उपाय से होगा जिससे विरोध न हो, इस जिज्ञासा को दूर करने के लिए नयों का ज्ञान है। सभी प्रतिवादियों ने अपनी-अपनी बुद्धि से वस्तु को एक या अधिक धर्मों की सत्ता युक्त प्रतिपादित किया है। वस्तुएँ उस प्रकार की नहीं हैं क्योंकि वैसी उपलब्धि नहीं होती है। विभिन्न धर्मरूपी वर्णमाला के समूह से सहित वस्तु का ज्ञान सर्वज्ञ की वाणी के बिना समीचीनता को प्राप्त नहीं होता है। प्रमाण-अखण्ड वस्तु का विज्ञान एक साथ होता है किन्तु नय से क्रम से होता है यह युक्ति है। ''प्रमाण नयैरधिगमः'' प्रमाण और नयों से पदार्थ का ज्ञान होता है, यह श्रुति (शास्त्र) प्रमाण है। इस आगम प्रमाण से वस्तु प्रत्यक्ष और परोक्ष प्रमाण से निर्विरोध सिद्ध होती है। वे नय बहुत से वस्तुधर्मों पर निर्भर होते हैं। कोई कहता है कि तत्त्वार्थसूत्र में ''नैगम, संग्रह, व्यवहार, ऋजुसूत्र, शब्द, समभिरूढ़ और एवंभूत'' ये सात नय कहे हैं। क्या इस सूत्र से विरोध नहीं आता है ? नहीं आता है। कैसे नहीं आता है। विवक्षा के कारण से। क्या विवक्षा है ? नयों के कथन की विवक्षा है। वह विवक्षा भी कैसी है ? सामान्य-विशेषात्मक है। इस कारण से सामान्य प्ररूपणा से तो सप्त नयों का कथन किया है। विशेष प्ररूपण से तो अनन्तधर्मात्मक सभी वस्तुओं के एक-एक अंश (धर्म) का अवधारण करने वाले जितने वाचक शब्दों के भेद हैं उतने ही नय जानना चाहिए। वे सभी निरपेक्ष होते हुए दुर्नय होते हैं जो अन्य दर्शन में कहे जाते हैं। वे ही नय परस्पर में सापेक्ष होते हुए सुनय होते हैं

प्ररूपका भवन्ति सापेक्षाः सन्तः सुनयाः प्रामाण्यं बिभ्रति। यदुक्तम्–

''जावदिया णयवादा तावदिया चेव होंति वयणपहा।
जावदिया वयणपहा तावदिया चेव होंति परसमया॥''

ततः प्रमाणनयशाखोपशाखाबहुलयुक्तः श्रुतस्कन्ध इति ज्ञातव्यः प्रमाणेन विना नयप्रामाण्याभावात्। किञ्च प्रमाणं यत्सर्वांशेन कलयति तमेव नयोंऽशेन यतः ''प्रमाणपरिगृहीतार्थैकदेशे वस्त्वध्यवसायो नयः'' इति वचनात्तत्। प्रमाणाधारेण नय-योजनाप्रवर्तनम्। पुनश्च किं विशिष्टे? समुत्तुङ्गे समुन्नते। यथा वृक्षः समुत्तुङ्गः स्यात्तथा श्रुतमपि सम्यग्ज्ञानाराधनाया दुर्लभत्वाच्च निकटभव्यजनप्रापकत्वाच्च। तथा च किं विशिष्टे? सम्यक् प्रततमतिमूले कुटिलसरलागाधमतिज्ञानबाहुल्याधिष्ठिते। सम्यक् समीचीनतया प्रतता विस्तृता द्विचतुरादिभेदादारभ्य षट्त्रिंशदधिकत्रिशतीपर्यन्ता चासौ मतिश्च तस्याः मूलं कारणं यस्य स तस्मिन् मतिज्ञानस्य सर्वेषु मूलकारणत्वात्। यद्वा सम्यक्प्रततं मतिरेव मूलं यस्य वृक्षस्येव स तस्मिन्। यद्वा अतिशायितं मूलं अतिमूलम्। इति ष० स०। तस्मिन्। सम्यक्प्रततं सम्यक्त्वविस्तीर्णम्। सम्यक्त्वस्य प्रसारेण वृक्षस्य मूलमप्यतिशयितमित्यर्थः। यद्वा सम्यक् सम्यक्त्वं तेन प्रततं विस्तृतं यदति अतिशयेन मूले भूमेरधोभागे। मूले अति सम्यक्प्रततमिति विग्रहात्। तेन सम्यग्दर्शनं ज्ञानाराधनस्य मूलमित्युक्तम्। तन्मूलत्वेन विना पत्रपुष्पफलाद्युत्पत्तेरभाववत् श्रुतस्कन्धे दशपूर्वभिन्नतासहितैकादशाङ्गशाखामुपगतस्य

और प्रामाण्य को धारण करते हैं। कहा भी है–''जितने नयवाद हैं उतने ही वचनों के मार्ग हैं। जितने वचनों के मार्ग हैं उतने ही पर समय होते हैं।''

इसलिए यह श्रुतस्कन्ध प्रमाण और नयों की अनेक शाखा–उपशाखाओं सहित है, यह जानना। प्रमाण के बिना नयों के प्रामाणिकता का अभाव है। दूसरी बात यह है कि प्रमाण जिसे सर्वांशरूप से जानता है उसी वस्तु को नय एक अंश से जानता है। इसीलिए कहा गया है कि ''प्रमाण से परिगृहीत पदार्थ के एकदेश में वस्तु का अध्यवसाय (जानना) नय है।'' अतः प्रमाण के आधार से ही नय योजना बनती है। पुनः यह श्रुतस्कन्ध कैसा है ? बहुत समुन्नत (ऊँचा) है। जिस प्रकार वृक्ष ऊँचा होता है उसी प्रकार श्रुतज्ञान भी है क्योंकि एक तो सम्यग्ज्ञान की आराधना बहुत दुर्लभ है, दूसरा यह निकट भव्यजनों को ही प्राप्त होती है। और कैसा है श्रुतस्कन्ध ? कुटिल, सरल, अगाध मतिज्ञान की बहुलता से स्थित है। दो, चार आदि भेदों से होकर ३३६ भेद विस्तार वाला होने से यह मतिज्ञान सभी ज्ञानों में मूल कारण वाला है। अथवा अच्छी तरह विस्तार को प्राप्त बुद्धि ही इस श्रुतस्कन्ध का मूल है। अथवा अन्य सभी मूलों को जिसने तिरस्कृत किया है ऐसा श्रुतस्कन्ध का मूल है। सम्यक् शब्द सम्यक्त्व के अर्थ में भी प्रयुक्त होता है जिससे सम्यक्त्व के फैलाव से वृक्ष का मूल भी अतिशय प्राप्त है, यह अर्थ भी होता है। अथवा सम्यक्त्व का विस्तार ही इस श्रुतस्कन्ध की नीव है। बिना इसके श्रुतस्कन्ध ठहर नहीं सकता है इसलिए मूल में यह बहुत अच्छी तरह फैला है, यह अर्थ भी है। इस तरह सम्यग्दर्शन ज्ञानाराधना का मूल है, यह कहा है। जड़ के बिना पत्ते, फूल, फल आदि की उत्पत्ति

भव्यस्य चाभव्यस्यैका-दशाङ्गशाखाकाण्डमधीतस्य ज्ञानाराधनाभवनेऽपि मोघत्वं सद्दर्शनमूलत्वाभावात्। सति च सद्दर्शने बहुश्रुतमनधीतोऽपि लभते ज्ञानाराधना सिद्धिं सम्यग्ज्ञानाराधनाविनाभावित्वात्तस्येति। तेनैव प्रोक्तम्-''दंसणमाराहंतेण णाणमाराहियं हवे णियमा, णाणं आराहंतेण दंसणं होइ भयणिज्जं॥'' सम्यग्ज्ञानेन श्रुतस्कन्धे समारूढस्य दर्शनाराधना नियमेनोपपद्यते। तस्यैव भव्यस्य मनोनियम-नायात्रोपदेशोऽवगन्तव्य इतरस्य फलाऽभावात्। शिखरिणीवृत्तम् ॥१७०॥

तत्र रमयन् किं भावयेदित्यत आह-

(अनुष्टुप्)

तदेव तदतद्रूपं प्राप्नुवन्न विरंस्यति।
इति विश्वमनाद्यन्तं चिन्तयेद्विश्ववित् सदा ॥१७१॥

अन्वयः–तत् एव तत् अतद्रूपं प्राप्नुवन् न विरंस्यति इति विश्ववित् अनाद्यन्तं विश्वं सदा चिन्तयेत्।

का अभाव जिस प्रकार होता है उसी प्रकार भव्यजीव को सम्यग्दर्शन मूल के अभाव में ज्ञानाराधना होने पर भी ग्यारह अंगों के साथ भिन्नदशपूर्व तक की शाखा प्राप्त हो जाती है तथा अभव्य जीव को ग्यारह अंगों की शाखा तक का अध्ययन हो जाता है। किन्तु सम्यग्दर्शन होने पर बहुत श्रुत का अध्ययन नहीं होने पर भी ज्ञानाराधना की सिद्धि हो जाती है क्योंकि सम्यग्दर्शन की आराधना सम्यग्ज्ञान की आराधना की अविनाभावी है। अर्थात् सम्यग्दर्शन की आराधना होने पर सम्यग्ज्ञान की आराधना भी हो जाती है। इसीलिए कहा गया है–

''सम्यग्दर्शन की आराधना करने वाले के ज्ञान की आराधना नियम से होती है किन्तु ज्ञान की आराधना करने वाले को सम्यग्दर्शन की आराधना होती भी है और नहीं भी होती है अर्थात् भजनीय है, होने का नियम नहीं है।'' तथा सम्यग्ज्ञान के साथ श्रुतस्कन्ध पर आरोहण करने वाले को सम्यग्दर्शन की आराधना भी नियम से प्राप्त होती है। उसी भव्य के लिए जो सम्यग्ज्ञान पूर्वक श्रुत आराधना करता है यहाँ मन को रोकने का उपदेश दिया है, अन्य के लिए नहीं क्योंकि उसे इसके फल की प्राप्ति नहीं होती है, यह जानना चाहिए। यहाँ शिखरिणी छन्द है ॥१७०॥

उत्थानिका–उस वृक्ष पर मन को रमण कराते हुए क्या भावना करें, यह कहते हैं–

अन्वयार्थ–(तत्) वह वस्तु **(एव)** ही **(तत्)** तत् रूप है **(अतद्रूपं)** वही अतद्रूप को

अव्यय व्ययमय एक नैक भी विलसित होती निज सत्ता।
वही द्रव्य पर्यय वश लसती गौण मुख्य हो मतिमत्ता॥
आदि रहित है मध्य रहित है अन्त रहित भी जगत रही।
इस विध चिंतन बुधजन कर लो रहो जगत में जगत सही ॥१७१॥

तदेवेत्यादि। तत् वस्तु जीवाजीवात्मकम्। एवावधारणे। तत् पुनरपि तदेव। कथम्भूतम्? अतद्रूपं अनित्यात्मकम्। तदेवेदमिति प्रतिपत्तिः प्रत्यभिज्ञानजनिता वस्तु नित्यात्मकमिति निश्चिनोति। न तदेवेदं रूपं स्वरूपं वस्तु इति प्रतिपत्तिरनित्यात्मकमिति प्रवक्ति। प्राप्नुवन् प्राप्तिं कुर्वन्। न विरंस्यति वस्तुनः परिणमनं न विरमति। इति एवं प्रकारेण। विश्ववित् द्रव्यस्वभावस्य ज्ञाता। विश्वं षड्द्रव्यात्मकं सगुणपर्यायात्मकं वेत्तीति विश्ववित्। क्विप् प्रत्ययात्। अनाद्यन्तं आद्यन्तरहितम्। किं तत्? विश्वं सर्वपदार्थप्रपञ्चम्। सदा सर्वकालम्। चिन्तयेत् भावयेत्। द्रव्यार्थिकनयेन सर्वे हि पदार्थाः नित्यात्मकाः सतो विनाशाभावात्। पर्यायार्थिकनयेन तेषां स्वभावविभाव-पर्यायाः प्रतिक्षणमुत्पन्नविध्वंसस्वभावाः सञ्जायन्ते तेनानित्यात्मक-वस्तुप्रतीतिः। एवं प्रकारेण भाव्यमानो जीवो विश्वविदिति कथ्यते। यश्च विश्ववित् स वस्तुस्वरूपं विचिन्तयन् रागादिषु न प्रवर्तते। स हि श्रुतस्कन्धे समारुह्य ज्ञानफलमनन्तसौख्यमुपभुङ्क्ते इति भावः। अनुष्टुप्छन्दः ॥१७१॥

एकमेव वस्तु तदतद्रूपेण कथमवतिष्ठत इति हेतुरत्राह-

(प्राप्नुवन्) प्राप्त करती हुई **(न विरंस्यति)** विराम नहीं पाती है **(इति)** इस प्रकार **(विश्ववित्)** समस्त तत्त्व को जानने वाला **(अनाद्यन्तं)** अनादि-अनन्त **(विश्वं)** विश्व को **(सदा)** सदा **(चिन्तयेत्)** चिन्तन में लावें।

अर्थ—जो वस्तु तद्रूप है वही वस्तु अतद्रूप भी है। इस तरह तत्-अतत् धर्मों से वस्तु कभी छूटती नहीं है। तत्त्वज्ञानी सभी पदार्थों का अनादि अनन्तरूप से इस प्रकार चिन्तन करें।

टीकार्थ—जीव-अजीव जो कोई भी पदार्थ (वस्तु) है, वह तत्रूप अर्थात् नित्य और अतद्रूप अर्थात् अनित्य भी है। ''यह वही वस्तु है''। इस प्रकार का ज्ञान प्रत्यभिज्ञान से उत्पन्न होता है। यह प्रत्यभिज्ञान ही वस्तु के नित्यधर्म का निश्चय करता है। ''वस्तु का यही रूप या स्वरूप नहीं है'' इस तरह का ज्ञान वस्तु के अनित्यधर्म को कहता है। इस प्रकार नित्यानित्यात्मक वस्तु का परिणमन कभी रुकता नहीं है। द्रव्य के ऐसे स्वरूप का ज्ञाता विश्व का ज्ञाता है। यह विश्व छह द्रव्यात्मक है। छहों द्रव्य अपनी गुण-पर्यायों सहित है। ये सभी पदार्थ आदि और अन्त रहित हैं। इस प्रकार सदा चिन्तन करने वाला विश्ववित् होता है अर्थात् विश्व को जानने वाला होता है।

द्रव्यार्थिकनय से सभी पदार्थ नित्यात्मक ही हैं क्योंकि जो सत् है उसके विनाश का अभाव है। पर्यायार्थिकनय से उन पदार्थों की स्वभाव, विभाव पर्यायें होती हैं। ये पर्यायें प्रतिक्षण उत्पन्न और विध्वंस स्वभाव वाली होती हैं। इससे उस वस्तु की अनित्यात्मक प्रतीति होती है। इस प्रकार द्रव्य, गुण, पर्यायों की भावना करता हुआ जीव विश्ववित् कहा जाता है। जो विश्ववित् होता है वह वस्तु के स्वरूप का समीचीन चिन्तन करता हुआ रागादि में नहीं लगता है। वही श्रुतस्कन्ध पर आरूढ़ होकर ज्ञान का फल अनन्त सुख भोगता है। यह भाव है। यहाँ अनुष्टुप् छन्द है ॥१७१॥

उत्थानिका—एक ही वस्तु तत् और अतत् रूप से कैसे रहती है ? यहाँ इसका कारण कहते हैं-

(अनुष्टुप्)

एकमेकक्षणे सिद्धं ध्रौव्योत्पत्तिव्ययात्मकम्।
अबाधितान्यतत्प्रत्ययान्यथानुपपत्तितः ॥१७२॥

अन्वयः—एकं एकक्षणे ध्रौव्योत्पत्तिव्ययात्मकं अबाधितान्यतत्प्रत्ययान्यथानुपपत्तितः सिद्धम्।

एकमेकेत्यादि। एकं जीवादिवस्तु। एकक्षणे एकस्मिन् काले। ध्रौव्योत्पत्ति-व्ययात्मकं स्थितोत्पन्ननाशस्वरूपम्। ध्रौव्यं ध्रुवस्य भावो वस्तुनस्तद्रूपं प्रदर्शयति। उत्पत्तिः अविद्यमानस्य पर्यायस्यात्मलाभः। व्ययो विद्यमानस्य पर्यायस्य विगमः। ध्रौव्यं च उत्पत्तिश्च व्ययश्च तेषां द्वन्द्वं कृत्वा तदेवात्मकं स्वरूपं यत्तत्तथोक्तम्। ध्रौव्योत्पत्तिव्ययात्मकं वस्तु एव तदतद्रूपात्मकम्। यत्तदतद्रूपात्मकं तदेव सत्। सदेव वस्तुनो लक्षणम्। सद्द्रव्यस्य लक्षणमित्यभिधानात्। सद्रूपात्मकं वस्तु प्रतीते र्विषयस्तत्त्रयात्मकमेव। ध्रौव्यादिलक्षणत्रयमेव परस्परसापेक्षत्वेन वस्तुनस्तदतद्रूपं साधयति, न चान्यथा। यतः—उत्पादः केवलो नास्ति स्थितिविनाशलक्षणधर्म-व्यतिरिक्तः, सर्वथाऽसतः आत्मलाभाभावादभव्ये

अन्वयार्थ—(एकं) एक ही वस्तु **(एकक्षणे)** एक ही काल में **(ध्रौव्योत्पत्तिव्ययात्मकम्)** ध्रौव्य, उत्पत्ति और व्यय इन तीनों स्वरूप है, यह **(अबाधितान्यतत्प्रत्ययान्यथानुपपत्तितः)** जो अन्य है ऐसी प्रतीति और यह वही है ऐसी प्रतीति—इन दोनों की अन्यथा असिद्धि है।

अर्थ—एक वस्तु एक ही क्षण में उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य इन तीनों रूप होती है। यह बात अन्य रूप तथा तत् रूप कारणों में कोई बाधा नहीं देने वाले अन्यथानुपपत्ति हेतु से सिद्ध है।

टीकार्थ—जीव आदि प्रत्येक वस्तु एक ही समय में स्थित भी है, उत्पन्न भी हो रही है और नाश स्वरूप भी है। इसमें ध्रौव्य ध्रुव का भाव है जो वस्तु के तत्‌रूप (नित्य स्वरूप) को प्रदर्शित करता है। जो पर्याय नहीं है उसका आत्मलाभ होना उत्पत्ति है। जो पर्याय विद्यमान है उसका चले जाना व्यय है। इन तीनों धर्मों के एकात्मक स्वरूप ही कोई वस्तु है। ध्रौव्य, उत्पाद और व्यय इन तीनों रूप वस्तु ही तत्-अतत्‌रूप होती है। जो तत्-अतत्‌रूप है वही सत् है। सत् ही वस्तु का लक्षण है। 'सद् द्रव्यलक्षणम्' सत् द्रव्य का लक्षण है, यह तत्त्वार्थसूत्र में कहा है। सत्‌रूप जो वस्तु हमें प्रतीति में आती है (दिखाई देती है) वह इन तीनों रूप होती है। ध्रौव्य आदि तीनों लक्षण ही परस्पर सापेक्षता के साथ वस्तु के तत् अतत्‌रूप को साधते हैं, अन्य प्रकार से नहीं। क्योंकि—

स्थिति और विनाश लक्षण वाले धर्म से भिन्न केवल उत्पाद नहीं हो सकता है क्योंकि सर्वथा

एक द्रव्य ही एक समय में ध्रौव्य रूप भी लसता है।
नाश रूप भी वही दिखाता जन्म धार-कर हँसता है॥
यदि इस विधि ना स्वीकृत करते फिर यह निश्चित थोथा है।
नित्यपने का अनित्यपन का ज्ञान हमें जो होता है॥१७२॥

भव्यलाभवत्। तथा विनाशः केवलो नास्ति उत्पादस्थितिलक्षणधर्मव्यतिरिक्तः, सतः सर्वथाविनाशाभावात् तद्वत्। तथैव स्थितिरपि केवला न विद्यते उत्पादव्ययलक्षणधर्मव्यतिरिक्ताः, कूटस्थनित्यवस्तुनः सर्वथा-सद्रूपेणाभावात्तद्वत्। मिथः सापेक्षतामभ्युपगमे हि लक्षणत्रयी वार्ता सम्पद्यते। तथा सति हि लक्षणत्रयेषु विगमप्रभवनित्येषु कथंचिद् भिन्नत्वं संज्ञालक्षणप्रयोजनपर्यायापेक्षया सम्भवति च कथंचिदभिन्नत्वं तदेववस्तुसमाश्रयणापेक्षयेति। तदर्थं हि निराबाधहेतुरत्र प्रस्तूयते–अबाधितान्यतत्प्रत्ययान्यथानुपपत्तितः

नित्यानित्यात्मकनिराबाधप्रत्ययप्रतीतेरन्योपायाभावात्। अन्यः भेदः, तत् अभेदः, तौ च तौ प्रत्ययौ अन्यतत्प्रत्ययौ। अबाधितौ च तौ अबाधितान्यतत्प्रत्ययौ। तयो–रन्यथानुपपत्तिरेव हेतोर्लक्षणं यत्र सा तथोक्ता तस्मात् सिद्धम्। अन्यप्रत्ययः उत्पादव्ययौ च तत्प्रत्ययः स्थितिं व्यञ्जयति।

संसारिसत्वेषु रोषहर्षादिक्रमपरिवर्तनेन च मुक्तभूतेषु अगुरुलघुगुणकारणेन च घटपटादिपुद्गलद्रव्येषु पुराणाभिनवरूपेण चान्यधर्माद्यमूर्तद्रव्येषु मुक्तद्रव्यवत् पूर्वाकारोत्तराकारविनाशाविर्भावाजहत्-स्थिति-परिणामाविनाभावि-परिवर्तनं निराबाधं सदाकालं कल्पितेश्वरप्रेरणाविमुक्तं प्रत्यक्षागमप्रमाणाभ्यां सिद्धं

असत् पदार्थ को भी सत् लाभ का अभाव है जैसे अभव्य में भव्य के लाभ (प्राप्ति) का अभाव है। उसी प्रकार उत्पाद और स्थिति लक्षणवाले धर्मों से भिन्न मात्र विनाश भी नहीं है क्योंकि सत् को सर्वथा विनाश का अभाव है जैसे अभव्य का अभव्यरूप से विनाश नहीं होता है।

उसी प्रकार उत्पाद और व्यय लक्षण वाले धर्मों को छोड़कर मात्र ध्रुवता (स्थिति) भी नहीं रहती है क्योंकि कूटस्थनित्य वस्तु का सर्वथा सत्रूप से अभाव है जैसे कि अभव्य आदि जीव का। परस्पर में सापेक्षता को स्वीकार करने पर ही तीनों लक्षण वाली यह वार्ता बनती है। ऐसा होने पर उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य इन तीनों लक्षणों में संज्ञा, लक्षण, प्रयोजन, पर्याय की अपेक्षा से कथंचित् भिन्नपना संभव है और उसी वस्तु के आश्रय लेने की अपेक्षा से कथंचित् अभिन्नपना भी है। इसी की सिद्धि के लिए यहाँ निराबाध हेतु कहा गया है कि–''अबाधित रूप से अन्य प्रत्यय और तत्प्रत्यय की अन्यथा सिद्धि नहीं है।''

नित्य-अनित्यात्मक निराबाध प्रत्यय की प्रतीति होती है जिससे अन्य उपाय (हेतु) का अभाव होता है। अन्य अर्थात् भेद प्रतीति और तत् अर्थात् अभेद प्रतीति। ये दो ही प्रत्यय अर्थात् हेतु हैं। और ये दोनों ही हेतु अबाधित हैं अर्थात् इनमें कोई बाधा उत्पन्न नहीं कर सकता है। इन दोनों हेतुओं की अन्य प्रकार से उत्पत्ति नहीं होना ही अन्यथानुपपत्ति लक्षण वाला हेतु है। इसी हेतु से यह वस्तुस्वरूप सिद्ध है। यहाँ उत्पाद, व्यय इन दोनों धर्मों को अन्य प्रत्यय दिखाते हैं और तत्प्रत्यय स्थिति धर्म को प्रकट करता है।

संसारी जीवों में क्रोध, हर्ष आदि क्रम से परिवर्तन चलता रहता है, मुक्त जीवों में अगुरुलघुगुण के कारण क्रम परिवर्तन होता है, घट-पट (कपड़ा) आदि पुद्गल द्रव्यों में पुराने, नये रूप से परिवर्तन होता है और अन्य धर्म आदि अमूर्त द्रव्यों में मुक्तात्मा की तरह पूर्वपर्याय का नाश, अगली पर्याय का उत्पाद और अपनी स्थिति को नहीं छोड़ने रूप अविनाभावी (एक के बिना दूसरा नहीं होने वाला) परिवर्तन निराबाध, सदाकाल, किसी कल्पना द्वारा किए गए ईश्वर को प्रेरणा बिना ही प्रत्यक्ष और

कस्यचिद् बाधकस्याभावात्। तथा चोक्तम्–

"घटमौलिसुवर्णार्थी नाशोत्पत्तिस्थितिष्वयम्।
शोकप्रमोदमाध्यस्थं जनो याति सहेतुकम्॥"
"पयोव्रतो न दध्यत्ति न पयोऽत्ति दधिव्रतः।
अगोरसव्रतो नोभे तस्माद्वस्तु त्रयात्मकम्॥"

उत्पादव्ययध्रौव्यात्मकवस्तुनः प्रसिद्धौ सत्यां हि नानाधर्मात्मकत्वस्य प्रसिद्धिः स्यात्। नाना-धर्मात्मकत्वानभ्युपगमे प्रभवादित्रयमपि न घटेत सर्वथैकान्तधर्मार्थेऽर्थक्रियाकारित्वात्। एवं ज्ञापनायैवानेकान्तात्मार्थप्रसवफलभारातिविनते इति पूर्वोक्तपदस्य सिध्यर्थमत्रोपन्यस्तम्। अनुष्टुप्छन्दः ॥१७२॥

सर्वथैकान्ताभिप्रेतमतनिराकरणपुरस्सररानेकान्तधर्मस्थापनायान्नाह–

न स्थास्नु न क्षणविनाशि न बोधमात्रं
नाभावमप्रतिहत-प्रतिभासरोधात्।
तत्त्वं प्रतिक्षणभवत्तदतत्स्वरूप-
माद्यन्तहीनमखिलं च तथा यथैकम् ॥१७३॥

आगम प्रमाणों के द्वारा सिद्ध है क्योंकि किसी भी प्रकार के बाधक कारण का अभाव है। कहा भी है–

"मनुष्य स्वर्ण घट के नाश होने पर शोक को, स्वर्ण मुकुट के बनने पर प्रमोद को और स्वर्णमात्र चाहने वाला माध्यस्थ भाव को हेतु सहित प्राप्त होता है। जिसका दूध नहीं पीने का व्रत है वह दही को खाता है, जिसका दही नहीं खाने का व्रत है वह दूध पीता है किन्तु जिसको दूध, दही दोनों को नहीं खाने का व्रत है वह गोरस का सेवन नहीं करता है। इस तरह वस्तु उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य इन तीनों रूप है।"

उत्पाद, व्यय, ध्रौव्यात्मक वस्तु की प्रसिद्धि होने पर ही अनेक धर्मात्मक वस्तु की सिद्धि होती है। अनेक धर्मात्मक वस्तु को नहीं स्वीकारने पर उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य ये तीनों परिणाम भी घटित नहीं होते है। सर्वथा एकान्त धर्म वाले पदार्थ में अर्थक्रिया कारित्व संभव नहीं है। इस प्रकार समझाने के लिए जो पूर्व श्लोक १७० में कहा था कि "अनेकान्तरूप पदार्थ के पुष्प, फल आदि के भार से श्रुत अत्यधिक झुका हुआ है।" इस पद की सिद्धि के लिए ही यहाँ उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य की सिद्धि की है। यहाँ अनुष्टुप् छन्द है ॥१७२॥

बोधधाम ही क्षणिक नित्य ही अभावमय ही तत्त्व रहा।
चूँकि उचित ना इस विध कहना उस विध दिखता तत्त्व कहाँ ॥
भेदाभेदात्मक हो लसता किन्तु तत्त्व वह प्रतिपल है।
इसी भाँति सब आदि अन्त बिन समझो मिलता शिवफल है ॥१७३॥

अन्वयः—तत्त्वं न स्थास्नु, न क्षणविनाशि, न बोधमात्रं, न अभावं अप्रतिहत-प्रतिभासरोधात् यथा एकं प्रतिक्षणभवत्तदतत्स्वरूपं आद्यन्तहीनं तथा च अखिलम्।

नेत्यादि। तत्त्वं जीवादिद्रव्यम्। तदिति सर्वनामपदम्। तस्य भावस्तत्त्वम्। न स्थास्नु न सर्वथा कूटस्थनित्यैकरूपं यथा सांख्यादिकल्पितमात्मा व्यावर्णितः—''अमूर्तश्चेतनो भोगो नित्यः सर्वगतोऽक्रियः। अकर्ता निर्गुणः सूक्ष्मः आत्मा कापिलदर्शने॥'' न क्षणविनाशि न क्षणमात्रविनश्वरम्। सर्वनिकृष्टकाल-पर्यायः क्षणः। 'व्याप्तौ' इति सूत्रेण क्षणं विनाशि क्षणविनाशि द्वितीयातत्पुरुषसमासविधिः। तथा चाहुः—''क्षणिकाः सर्वसंस्कारा अस्थिराणां कुतः क्रिया। भूतिर्येषां क्रिया सैव कारणं सैव चोच्यते।'' इति बौद्धदर्शनम्। न बोधमात्रं न ज्ञानमात्रम्। एतावता ज्ञानाद्वैतवादिनस्ताथागताः निरुक्ताः। तेषां मते ज्ञानात्पृथग् बाह्यार्थस्य सत्ता न विद्यते। ज्ञानमेव ग्राह्यग्राहकाकाररूपे प्रतिभासते। अतो ज्ञानमेवानादिवासना-विचित्रविपाकाद् बहिरर्थे तथा तथा नीलपीतादिप्रतिभासनादनुभूयते बहिरर्थस्य सर्वथाऽभावात्तद्ग्राहक-

---

उत्थानिका—अब यहाँ सर्वथा एकान्त ही जिन्हें इष्ट है ऐसे मत के निराकरण पूर्वक अनेकान्त धर्म की स्थापना के लिए कहते हैं—

अन्वयार्थ—(तत्त्वं) तत्त्व **(न स्थास्नु)** न तो स्थिर है **(न क्षणविनाशि)** न क्षणभर में विनष्ट होने वाला है **(न बोधमात्रं)** न ज्ञानमात्र है **(न अभावं)** न ही उसका अभाव है **(अप्रतिहत-प्रतिभासरोधात्)** क्योंकि निरन्तर ऐसा प्रतिभास नहीं होता है **(यथा एकं)** जैसे एक वस्तु **(प्रतिक्षणभवत्तदतत्स्वरूपं)** प्रतिक्षण होने वाले तत्-अतत् स्वरूप वाली है **(आद्यन्तहीनं)** आदि और अन्त से रहित है **(तथा च अखिलम्)** उसी प्रकार सभी तत्त्व **(पदार्थ)** हैं।

अर्थ—वस्तु तत्त्व न तो सर्वथा स्थिर नित्य है, न सर्वथा क्षण-क्षण में विनष्ट होता है, न ज्ञानमात्र है न ही उसका अभाव है क्योंकि अविरुद्धरूप से ऐसा प्रतिभास नहीं होता है जैसे एक वस्तु प्रतिक्षण नित्य-अनित्य स्वरूप वाली है, उसी प्रकार समस्त वस्तुएँ जानना।

टीकार्थ—जीव आदि द्रव्य तत्त्व हैं क्योंकि उन द्रव्यों का भाव ही तत्त्व कहलाता है। वे द्रव्य न तो सर्वथा कूटस्थनित्य, एक रूप हैं जैसा कि सांख्य आदि मत में आत्मा की कल्पना की गई है—''कापिल दर्शन में आत्मा अमूर्त है, चेतन है, भोग है, नित्य है, सर्वगत है, क्रिया रहित है, अकर्ता है, निर्गुण है और सूक्ष्म है।'' न क्षण भर में विनष्ट होने वाला तत्त्व है। काल की सर्वजघन्य पर्याय क्षण है। जैसा कि बौद्ध दर्शन में कहा है—''सभी संस्कार क्षणिक हैं, ऐसे अस्थिर पदार्थों में क्रिया कैसे हो? जिन पदार्थों की उत्पत्ति है, वही क्रिया है और वही कारण कहा जाता है।'' वह तत्त्व ज्ञान मात्र भी नहीं है। इससे ज्ञानाद्वैतवादी तथागत (बौद्धों) का निराकरण किया है। उनके मत में ज्ञान से भिन्न किसी बाह्य पदार्थ की सत्ता नहीं है। इसलिए ज्ञान ही अनादि वासना के विचित्र विपाक से बाह्य अर्थ में उस-उस प्रकार के नील-पीत आदि प्रतिभासन से अनुभव में आता है क्योंकि बाह्य अर्थ का सर्वथा

ज्ञानाभावाच्चेति। न अभावं शून्यरूपम्। यथा शून्यवादिकल्पितं बुद्धवादम्। कथमेवं न युक्तमिति चेदाह– अप्रतिहतप्रतिभासरोधात् प्रत्यक्षादि–प्रमाणविरोधिवस्तुपरिज्ञानबाध्यमानत्वात्। यथावद्वस्तु प्रतिभासनमव- बोधनं प्रतिभासः। तस्य रोधोऽभावः प्रतिभासरोधः। प्रतिहतं बाधितम्। न प्रतिहतमप्रतिहतम–विरोधिः। अप्रतिहतश्चासौ प्रतिभासरोधश्च स तथोक्तस्तस्मात्। तद्यथा सर्वथा स्थास्नुकल्पनायां पुरुषस्य पुण्यपापबन्धमोक्षकल्पना हि न विद्यते। वस्तुनि परिवर्तनप्रादुर्भवनाभावे चतुर्विधानामभावानामभावो भवेत्तेन सकललोकस्य व्यवस्था प्रत्यक्षेण विरोधमापद्येत। शब्दरूपरसादिपञ्चतन्मात्रेभ्यः सूक्ष्माख्येभ्यो जलाग्निप्रभृतिपञ्चमहाभूतानामुत्पत्तिरपि नित्यैकान्तवादविरोधिनी स्यात् स्ववचनविरोधात्। तथैवैकतः प्रकृतेः कूटस्थनित्यत्वैषिणस्तेऽन्यतः तस्या बन्धमोक्षौ च मन्यन्ते तेन माता मे वन्ध्या इति वचनवद्- हास्यपात्रतामुपलभन्ते। बालयौवनवार्धक्याननवलनपलितावस्थादयो नित्यात्मवादमध्यक्षेण प्रतीय- मानत्वादुत्क्षिपन्ति। न च क्षणिकात्मवादे क्षणमात्रमर्थावस्थानं प्रत्यक्षेण युज्यते तथाविधस्याबालगोपाला- नामप्यनुपलम्भात्। हस्तस्थवलयस्य किमादर्शे दर्शनेन इति सर्वप्रसिद्धन्यायस्य हानौ सकलजगद्- व्यवहारोच्छेदप्रसक्तिः। न चानुमानेन तत्सिद्धिरविनाभावसम्बन्धस्य क्षणक्षयिणि वस्तुनि नित्यानुपलब्धेः। न

अभाव है और उसको ग्रहण करने वाले ग्राहक ज्ञान का भी अभाव है। तत्त्व अभावरूप अर्थात् शून्य रूप नहीं है। शून्यवादियों के द्वारा कल्पित यह शून्यवाद बुद्धवाद है। यह सब उचित क्यों नहीं है ? प्रत्यक्ष आदि प्रमाण से विरुद्ध वस्तु का परिज्ञान कराने वाली यह तत्त्व व्यवस्था बाधा को प्राप्त है। जो वस्तु जैसी है उसका वैसा ही प्रतिभासन अर्थात् जानना प्रतिभास है। उस प्रतिभास का रोध अर्थात् अभाव होना यथावत् वस्तु ज्ञान का अभाव कहलाया। प्रतिहत बाधित होने को कहते हैं। जो बाधा से रहित हो वह अप्रतिहत हुआ। अर्थात् निर्बाधरूप से यथावत् वस्तुस्वरूप के ज्ञान का अभाव एकान्त तत्त्व को मानने से होता है। वह इस प्रकार है–सर्वथा नित्य की कल्पना में आत्मा को पुण्य, पाप, बन्ध, मोक्ष की कल्पना ही नहीं ठहरती है। वस्तु में परिवर्तन और प्रादुर्भाव के अभाव में चारों प्रकार के अभावों का ही अभाव होगा। जिससे पूरे विश्व की व्यवस्था प्रत्यक्ष से विरोध को प्राप्त होती दिखती है। फिर ये सांख्य सूक्ष्म तत्त्व के रूप में शब्द, रूप, रस आदि पाँच तन्मात्रायें मानते हैं और इन्हीं तन्मात्राओं से जल, अग्नि आदि पाँच महाभूतों की उत्पत्ति होती है। यह कथन नित्य एकान्तवाद के विरुद्ध है क्योंकि ऐसा मानना स्ववचन से ही विरोध है। उसी प्रकार एक ओर तो ये लोग प्रकृति के कूटस्थ, नित्यपने की इच्छा करने वाले हैं और दूसरी ओर उस प्रकृति का बन्ध, मोक्ष भी मानते हैं। इस कारण से जैसे कोई कहे कि ''मेरी माँ बाँझ है।'' उसी प्रकार से इन सांख्यों के वचन हास्य के पात्र हैं। बचपन, यौवन, बुढ़ापा, मुख की झुर्रियाँ, सफेद बाल होना आदि अवस्थाएँ प्रत्यक्ष से प्रतीति में आने के कारण नित्यात्मवाद का खण्डन कर देती हैं। इसी तरह क्षणिकात्मवाद में ''पदार्थ क्षणमात्र टिकता है'', यह बात प्रत्यक्ष प्रमाण से युक्त नहीं है क्योंकि ऐसा तो आबालगोपाल किसी को भी उपलब्ध नहीं होता है। ''हाथ कंगन को आरसी क्या'' इस जगत्प्रसिद्ध न्याय की हानि होने पर सकल

च हेतुसिद्धिस्तन्मते सम्भवति नाशोदयस्यैकक्षणताभ्युपगमेऽन्वयव्यतिरेकसम्बन्धाभावात्। तदभावे निर्वाणप्रसिद्धेरभावः स्यादाकस्मिककार्योत्पत्तौ हेतुताया विनष्टत्वात्। ततोऽसिद्धं दृष्टेष्टबाधनात् क्षणभङ्गुर-मात्रत्वम्। तथा च ज्ञानाद्वैतवादे बाह्यार्थानामस्तित्वमप्रयत्नेन प्रतीयमानं प्रत्यक्षप्रमाणं प्रदुष्यति। यदि बाह्यार्थाः सर्वेऽवास्तवास्तर्हि स्वज्ञानसन्तानादन्यानि सन्तानान्तराण्यपि न मन्तव्यानि, ज्ञानसन्तानं हि चित्तलुठितवासनात्तथा तथा प्रतिभासयेत्, बहिरर्थवत्। यदि ज्ञानमेकं किल ग्राह्यग्राहकाकारेणानुभूयते तर्हि अद्वैते द्वैतोत्पत्तेः स्वयमेव स्वहस्तेन स्वपादकुठाराघातवद् विघटितम्। अवशिष्टस्य शून्यवादस्य का कल्पना, तेऽपि स्वमतस्य सिद्धेरसमर्थत्वात्। कुत इति चेत्? सर्वथा शून्यवादे प्रमाणप्रमेयविचारणमनर्थकं शून्यफलत्वात्। यदि शून्याद् भिन्नं प्रमेयादिकमभ्युपगम्यते तर्हि स्वयं शून्यस्य स्वीकृतिः क्वचित् शून्ये हेलया विलीयते। यदि नाभ्युपगम्यते तर्हि विचारसरणिर्हि न क्रमते गगनग्रहणप्रयासवत्। ततः खलु सर्वेऽर्थाः संसृतौ प्रतिहतप्रतिभासरोधहेतुतायां नित्यानित्यसदसत्सामान्यविशेषैकानैकसापेक्षनिरपेक्षवाच्या-वाच्याद्यन्त-

---

जगत् के व्यवहार का ही विनाश हो जायेगा। इस क्षणिकात्मवाद की सिद्धि अनुमान प्रमाण से भी नहीं होती है क्योंकि क्षणक्षयी वस्तु में नित्य धर्म की उपलब्धि नहीं होने से अविनाभाव सम्बन्ध ही नहीं बन सकता है अर्थात् जब तक साधन और साध्य की व्याप्ति बताई जायेगी तब तक तो दोनों ही नष्ट हो जावेंगे। और इनके मत में किसी हेतु की सिद्धि या हेतु से सिद्धि भी नहीं हो सकती है क्योंकि नाश और उत्पाद एक क्षण में ही होना स्वीकारने से अन्वय-व्यतिरेक सम्बन्ध ही नहीं बनता है। अन्वय-व्यतिरेक सम्बन्ध के अभाव में निर्वाण की सिद्धि का अभाव होगा क्योंकि किसी भी कार्य की आकस्मिक उत्पत्ति होने पर हेतुता ही विनष्ट हो जायेगी। इसलिए दृष्ट-इष्ट प्रमाण से बाधा उत्पन्न होने के कारण क्षणभंगुर का एकान्त असिद्ध है। उसी प्रकार ज्ञानाद्वैत वाद में प्रत्यक्ष प्रमाण दूषित होता है जब कि बाह्य पदार्थों का अस्तित्व बिना प्रयत्न के प्रतीति में आता है। यदि सभी बाह्य पदार्थ वास्तव में नहीं है तो फिर अपनी ज्ञानसन्तान से अन्य सन्तानों को भी नहीं मानना चाहिए। बाहरी पदार्थ के समान ज्ञान सन्तान भी चित्त में उत्पन्न वासना से उस-उस प्रकार की दिखाई देती है। यदि एक ज्ञान ही निश्चय से ग्राह्य-ग्राहक के आकार से अनुभूत होता है तो फिर अद्वैत में भी द्वैत की उत्पत्ति तो हो ही गई जिससे स्वयं ही अपने हाथ से अपने पैर पर कुल्हाड़ी मारने के समान यह मत खण्डित हो जाता है। अब बचा हुआ तो शून्यवाद है उसकी क्या कल्पना करना ? वे शून्यवादी भी अपने मत की सिद्धि करने में असमर्थ हैं। ऐसा क्यों है ? सर्वथा शून्यवाद में प्रमाण-प्रमेय का विचार करना ही निरर्थक है क्योंकि उसका फल शून्य ही आएगा। यदि शून्य से भिन्न प्रमेय आदिक स्वीकार करते हो तो फिर स्वयं शून्य की स्वीकृति कहीं भी शून्य में अपने आप ही विलीन हो जाती है। यदि प्रमेय आदि की भिन्न रूप से स्वीकारता नहीं है तो फिर विचार आगे बढ़ाने की बात ही नहीं बनती है क्योंकि यह तो आकाश को पकड़ने के प्रयास के समान असंभव है। एकान्तमत में इसलिए संसार के सभी पदार्थ निर्बाधरूप से वस्तु स्वरूप के ज्ञान के अभाव को दिखाते हैं, इस हेतु के सिद्ध हो जाने पर नित्य-अनित्य, सत्-

धर्मरूपा निराग्रहबुद्धिमतः कस्यचित् प्रतीतिविषया भवन्ति। यद्यथारूपेण प्रतीतेर्विषयस्तत्तथा-रूपेणैव-प्रमाणविषयोऽवगन्तव्यो यथा घटपटकटादीनां घटपटकटादितयाऽवभासमाना तद्रूपतया प्रमाण-गोचरत्वम्। यथा एकं वस्तु। प्रतिक्षणभवत्तदतत्स्वरूपं प्रतिसमय-प्रवर्तमान-नित्यानित्यादि-रूपम्। प्रतिक्षणं प्रतिसमयं भवन्ति प्रवर्तमानानि नित्यानित्यादिस्वरूपाणि यस्य तत्। आद्यन्तहीनं पूर्वापरनिरवधि। तथा च अखिलं वस्तुजातं पुद्गलधर्माधर्माकाशकालद्रव्यम्। मन्तव्यमिति शेषः। वसन्ततिलकावृत्तम् ॥१७३॥

तेषु निखिलेषु वस्तुषु स्वार्थाय किं यन्मुक्तेर्हेतुरिति वक्तुकामो ब्रूते–

(अनुष्टुप्)

ज्ञानस्वभावः स्यादात्मा स्वभावावाप्तिरच्युतिः।
तस्मादच्युतिमाकांक्षन् भावयेज्ज्ञानभावनाम् ॥१७४॥

अन्वयः–आत्मा ज्ञानस्वभावः स्यात् स्वभावावाप्तिः अच्युतिः तस्मात् अच्युतिं आकांक्षन् ज्ञानभावनां भावयेत्।

असत्, सामान्य-विशेष, एक-अनेक, सापेक्ष-निरपेक्ष, वाच्य-अवाच्य आदि अनन्तधर्म किसी निराग्रह बुद्धि वाले पुरुष की प्रतीति में आते हैं। जो जिस रूप से प्रतीति का विषय है, उसे उसी रूप से प्रमाण का विषय जानना चाहिए। जिस प्रकार घट-पट (कपड़ा) कट (चटाई) आदि घट, पट, कट आदि रूप से दिखाई देते हैं तो वे उसी रूप से प्रमाण के गोचर होते हैं। जिस प्रकार एक आत्म वस्तु में प्रति समय नित्य-अनित्य आदि स्वरूप प्रवर्तमान और अनादि अनन्त काल से चल रहे हैं उसी प्रकार पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और कालद्रव्य सभी वस्तु समूह में जानना चाहिए। यहाँ वसन्ततिलका छन्द है ॥१७३॥

उत्थानिका–उन सभी वस्तुओं में अपने लिए प्रयोजनीय क्या है जो मुक्ति का कारण हो, ऐसा कहने की इच्छा करते हुए आचार्यदेव कहते हैं–

अन्वयार्थ–(आत्मा) आत्मा **(ज्ञानस्वभावः स्यात्)** ज्ञान स्वभावी है **(स्वभावावाप्तिः)** स्वभाव की प्राप्ति **(अच्युतिः)** छूटती नहीं है **(तस्मात्)** इसलिए **(अच्युतिं)** मोक्ष की **(आकांक्षन्)** आकांक्षा करने वाला **(ज्ञानभावनां)** ज्ञान भावना को **(भावयेत्)** भावे।

अर्थ–आत्मा ज्ञान स्वभाव वाला है और स्वभाव कभी छूटता नहीं है, इसलिए मोक्ष को चाहने वाला ज्ञानभावना भाए।

रवि सम भाता आतम का है स्वभाव केवलज्ञान रहा।
उसका मिलना ही मिलना बस शिवसुख है अभिराम रहा ॥
इसीलिए तुम सुचिर काल से शिव सुख की यदि चाह करो।
ज्ञान भावना के सरवर में संग त्याग अवगाह करो ॥१७४॥

ज्ञानेत्यादि। आत्मा जीवपदार्थः। कथम्भूतः? ज्ञानस्वभावः सर्वत्रज्ञानगुणा-कीर्णः। ज्ञानमेव स्वस्यात्मनो भावो ज्ञानस्वभावः। सकलमतिश्रुतादिज्ञानविकल्प-विकलो ज्ञप्तिमात्रोऽयमात्मेति। यस्मादित्यनुक्तेऽपि योज्यं नित्यसम्बन्धात् यत्तदोः। यस्मात् कारणात् स्वभावावाप्तिः स्वभावस्य अवाप्तिः प्राप्तिः ज्ञप्तिस्वभावोपलब्धि-रित्यर्थः। अच्युतिर्मोक्षः। न च्युतिः स्खलनं यस्मात् विद्यते सा। तस्मात् कारणात्। अच्युतिं निःश्रेयसम्। आकांक्षन् वाञ्छन्। ज्ञानभावनां संयोगापन्नाशेषभावनानि द्रव्यक्षेत्रकाल-भावविशेषविशेषितानीति मत्वा स्वात्मभावनामेव। भावयेत् चिन्तयेत् अनुभवेद्वा। यद्यपि च खलु विद्यतेऽद्यापि भगवानात्मा भगवन्मयः तथापि न तस्य तथा व्यक्तिः परदेशगतव्यक्तिवत्। न भवति सन्तृप्तिः शक्तिमात्रविज्ञानेन करस्थगुडखण्डवत्। अहो किल महता भाग्येन भगवत्कृपया विज्ञाता भगवती शक्तिर्यदद्यावधि विस्मृता। ततस्तदुद्घाटनाय प्रयासः प्रेक्षावतामेक एव ज्ञानभावनाभ्यासः। तेनैव सञ्जायते दर्शनं स्वात्मभगवतः स्वगृहागतव्यक्तिवत् सुखानुभूतिश्च मुखस्थगुडखण्डवत्। अनुष्टुप्छन्दः ॥१७४॥

अथ ज्ञानस्य फलं किं स्यादित्याह–

ज्ञानमेव फलं ज्ञाने ननु श्लाघ्यमनश्वरम्।
अहो मोहस्य माहात्म्यमन्दप्यत्र मृग्यते ॥१७५॥

टीकार्थ—आत्मा एक जीवपदार्थ है जो सर्वत्र ज्ञानगुण से भरा होने से ज्ञानस्वभावी है। ज्ञान ही आत्मा का भाव है इसलिए ज्ञान स्वभाव है। यह आत्मा समस्त मतिज्ञान, श्रुतज्ञान आदि के विकल्पों से रहित ज्ञप्ति (जानना) मात्र है। इसी से आत्मा को ज्ञप्ति स्वभाव की प्राप्ति होती है। जिससे कभी छूटना नहीं हो वह निःश्रेयस मोक्ष है। संयोग से प्राप्त समस्त भाव द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव विशेष के कारण विशेष रूप से होते हैं, ऐसा मानकर स्वात्मभावना करना ही ज्ञानभावना है। इसी ज्ञान भावना का अनुभव करो। यद्यपि आज भी भगवान् आत्मा भगवान् मय है फिर भी उस भगवान् आत्मा की आज परदेश में गए व्यक्ति के समान व्यक्ति नहीं है। शक्ति मात्र का यदि ज्ञान भी हो जावे तो भी हाथ में रखे गुड के समान उससे तृप्ति नहीं होती है। अहो! महान् भाग्य से भगवान की कृपा से आज यह भगवती शक्ति ज्ञात हुई है जो आज तक विस्मृत थी। इसलिए उस शक्ति के उद्घाटन के लिए प्रयास ही विवेकी जनों को करना है, यही ज्ञानभावना का अभ्यास है। इसी प्रयास से भगवान् आत्मा का दर्शन होता है। जैसे किसी परदेश गये व्यक्ति को अपने घर में आने पर ही शान्ति मिलती है सुख की अनुभूति होती है जैसे मुख में रखे गुड़ की डली से सुखानुभूति होती है। यहाँ अनुष्टुप् छन्द है ॥१७४॥

उत्थानिका—अब ज्ञान का फल क्या है, यह कहते हैं–

ज्ञान भावना का फल भी वह ज्ञान मात्र बस भास्वर है।
श्लाघनीय है अर्चनीय है नश्वर नहिं अविनश्वर है॥
किन्तु ज्ञान की सतत भावना अज्ञ करे भव सुख पाने।
अहो! मोह की महिमा न्यारी सुख दुख क्या है ना जाने ॥१७५॥

अन्वयः—ज्ञाने फलं ज्ञानं एव ननु श्लाघ्यं अनश्वरं अहो मोहस्य माहात्म्यं अत्र अन्यत् अपि मृग्यते।

ज्ञानमेवेत्यादि। ज्ञाने ज्ञानभावनां भाव्यमाने सति। फलं परिणामः। ज्ञानं ज्ञानरूपभवनम्। एवावधारणे। ननु वितर्के। श्लाघ्यं प्रशंसनीयम्। अनश्वरं अक्षयं। अहो आश्चर्ये। मोहस्य सकलदर्शन-चारित्रमोहविकल्पस्य। माहात्म्यं प्रभावम्। अत्र कलौ। अन्यत् लाभपूजाप्रदर्शनमदादि विद्याधर-सुरचक्रवर्तिसुखं वा। अपि सम्भावनायाम्। मृग्यते अन्वेष्यते वाञ्छ्यते प्राप्यते वा। 'मृग अन्वेषणे' इति कर्मणि लट्। द्रव्यश्रुतज्ञाने भावना संसारव्युच्छित्तिहेतुत्वात् श्लाघ्यं भावश्रुतज्ञाने च ज्ञानस्वभावमात्रावभासने भावनाऽनन्तसुखप्रदानार्हत्वादनश्वरं तथापि मोहमदविह्वल इहामुत्रसुखार्थं मृगयते तदाश्चर्यं तस्याश्लाघ्यत्व-मविनश्वरत्वात्। अनुष्टुप्छन्दः ॥१७५॥

अथ भावनां भाव्यमाने फलवैचित्र्यमुपादानयोग्यताः स्यादित्यत्र प्रदर्श्यते—

(अनुष्टुप्)

शास्त्राग्नौ मणिवद्भव्यो विशुद्धो भाति निर्वृतः।
अङ्गारवत् खलो दीप्तो मली वा भस्म वा भवेत् ॥१७६॥

अन्वयार्थ—(ज्ञाने) ज्ञान में **(फलं)** फल **(ज्ञानं एव)** ज्ञान ही **(ननु)** जब **(श्लाघ्यं)** श्लाघ्य एवं **(अनश्वरं)** अविनश्वर है तो **(अहो)** अहो **(मोहस्य)** मोह की **(माहात्म्यं)** महिमा है जो **(अत्र)** यहाँ **(अन्यत् अपि)** अन्य फल भी **(मृग्यते)** खोजा जाता है।

अर्थ—ज्ञान में फलरूप ज्ञान ही जब प्रशंसनीय और अविनश्वर है। अहो! मोह का माहात्म्य है जो यहाँ अन्य फल भी ढूँढ़ा जाता है।

टीकार्थ—ज्ञान की भावना होने पर ज्ञानरूप होना ही निश्चय से प्रशंसनीय है और अक्षय है। समस्त दर्शन मोहनीय और चारित्र मोहनीय कर्मरूप मोह की यह सामर्थ्य है कि ज्ञानी ज्ञान के फल से अन्य लाभ, पूजा, प्रदर्शन, मद आदि अथवा विद्याधर, चक्रवर्ती के सुख भी चाहता है। द्रव्य श्रुतज्ञान में भावना संसार की व्युच्छित्ति का हेतु होने से प्रशंसा योग्य है तथा भावश्रुत ज्ञान में अर्थात् ज्ञान स्वभाव मात्र का अवभासन करने में भावना होना अनन्तसुख प्रदान कराने के योग्य होने से अविनश्वर है। फिर भी मोह, मद से दुःखी हुआ यह जीव इस लोक और परलोक के सुख के लिए वाञ्छा करता है यह आश्चर्य है क्योंकि यह सुख न तो प्रशंसनीय है और न अविनश्वर है। यहाँ अनुष्टुप् छन्द है ॥१७५॥

शास्त्र अग्नि में भविजन निज को जला-जला शुचि हो लसते।
मणिसम बनकर मनहर सुखकर लोक शिखर पर जा बसते ॥
उसी अग्नि में मलिन मुखी हो राख-राख बनकर नशते।
किन्तु दुष्ट वे विषयी निज को विषय पाश से हैं कसते ॥१७६॥

अन्वयः—भव्यः शास्त्राग्नौ मणिवत् विशुद्धः निर्वृतः भाति, खलः दीप्तः अङ्गारवत् मली वा भस्म वा भवेत्।

शास्त्राग्नौ इत्यादि। भव्यः आसन्नभव्यः सम्प्राप्तत्रिविधकाललब्धिकः। शास्त्राग्नौ शास्त्रं वीतराग-सर्वज्ञोपदिष्टागमः तदेवाग्निः प्रकाशदाहधर्मसाधर्म्यात् तत्र। यथाग्निः प्रकाशयति वस्तुसंघातं दहति च काष्ठेन्धनं तथा शास्त्रं लोकालोक-स्वरूपं संसृतिहेतुबीजञ्च। मणिवत् रत्नवत्। विशुद्धः मलापगमो भूत्वा। निर्वृतः सकलकलाशोभासम्पन्नमणिवत् पूर्णसुखीभूतो मुक्तो वा सन्। भाति शोभते। खलः दूरभव्योऽभव्यो वा। दीप्तः प्रज्वलितस्तत्राग्नौ। अङ्गारवत् तीव्रवेगेनातीवप्रकाशप्रज्वलितकाष्ठतीव्रवेगेनातीवप्रकाश-प्रज्वलितकाष्ठ। मली वा पश्चात् कालिमाशकलम्। भस्म काष्ठदाहावशिष्टमृत्। वा भवेत् इति परिणतिद्वयम्। अत्र प्रथमो वाशब्दो विकल्पार्थे द्वितीयो वाशब्दः समुच्चयार्थे विज्ञेयः। सम्प्राप्तज्ञान-तपोबलर्द्धिफलं पूजालाभमहत्त्वख्यापनार्थमुपदर्श्य मलिनयति इन्द्रियकषायानुपरोधेन च भस्मसात् करोति ॥१७६॥

उत्थानिका—भावनाओं को भाने पर फल में विचित्रता उपादान की योग्यता से आती है, अतः इसी को यहाँ दिखाते हैं–

अन्वयार्थ—(भव्यः) भव्यजीव **(शास्त्राग्नौ)** शास्त्र की अग्नि में **(मणिवत्)** मणि के समान **(विशुद्धः)** विशुद्ध होता हुआ **(निर्वृतः)** सुखी **(भाति)** सुशोभित होता है **(खलः)** दुष्ट **(दीप्तः)** दीप्त होते हुए **(अङ्गारवत्)** अंगारे के समान **(मली वा)** मलिन होता है **(भस्म वा भवेत्)** अथवा भस्म रूप हो जाता है।

अर्थ—शास्त्ररूपी अग्नि में मणि के समान विशुद्ध होता हुआ भव्य जीव सुखी होता है किन्तु दुष्ट जीव अंगार के समान जलता हुआ मलिन बना रहता है अथवा भस्मरूप हो जाता है।

टीकार्थ—आसन्न भव्य जीव वह है जिसने तीन प्रकार की काललब्धियों को प्राप्त किया है। उसी भव्य की यहाँ चर्चा है। वीतरागसर्वज्ञ द्वारा कथित आगम ही शास्त्र है। वह शास्त्र ही अग्नि है क्योंकि प्रकाश और दाह धर्म की समानता अग्नि और शास्त्र दोनों में है। जैसे अग्नि वस्तु समूह को प्रकाशित करती है तथा काठ के ईंधन को जलाती है उसी प्रकार शास्त्र लोक-अलोक के स्वरूप को दिखाते हैं और संसार के कारणभूत बीजों को जलाते हैं। वह आसन्नभव्य जीव रत्न के समान कर्ममल रहित होकर विशुद्ध होता है। जैसे कोई मणि अपने सभी पहलुओं से शोभा सम्पन्न दिखती है वैसे ही वह भव्यजीव पूर्ण सुखी होता है अथवा मुक्त हो जाता है। दूसरी ओर कोई दूरभव्य अथवा अभव्य उस अग्नि में प्रज्वलित होता हुआ अंगारे के समान होता है। तीव्र वेग से अत्यधिक प्रकाश से जलते हुए काष्ठ को अंगार कहते हैं। वह अंगारा जलकर या तो कोयला बन जाता है अथवा राख हो जाता है, इस प्रकार की दो परिणतियाँ होती हैं। यहाँ श्लोक में प्रथम 'वा' शब्द विकल्प के लिए तथा दूसरा 'वा' शब्द समुच्चय अर्थ में जानना चाहिए। उस अभव्य जीव को ज्ञान, तप, बल और ऋद्धियों का फल पूजा-लाभ का महत्त्व दिखाने के लिए होता है, यह फलासक्ति उस आत्मा को मलिन करती है तथा इन्द्रिय और कषायों के सहयोग से उसे भस्मसात् कर देती है ॥१७६॥

अथ भव्यस्य ज्ञानादिऋद्धिसमन्वितस्य किं कर्त्तव्य इति प्रवदति–

(अनुष्टुप्)

मुहुः प्रसार्य संज्ञानं पश्यन् भावान् यथास्थितान्।
प्रीत्यप्रीती निराकृत्य ध्यायेदध्यात्मविन्मुनिः ॥१७७॥

अन्वयः—मुनिः अध्यात्मवित् संज्ञानं मुहुः प्रसार्य यथास्थितान् भावान् पश्यन् प्रीत्यप्रीती निराकृत्य ध्यायेत्।

मुहुरित्यादि। मुनिः भावश्रमणः। कथम्भूतः? अध्यात्मवित् स्वात्महितोत्सुकः। आत्मन्यधिकृत्य वर्तमानमध्यात्मम्। 'अनः' इति सूत्रादव्ययीभावसमासेऽद्भवनात्। तं वेत्ति जानातीति स अध्यात्मवित्। क्विप् प्रत्ययात्। संज्ञानं सम्यग्-ज्ञानम्। मुहुः बारम्बारम्। प्रसार्य विस्तीर्य। यथास्थितान् भावान् यथावस्थितपदार्थान् न्यूनाधिकरहितेन। पश्यन् भावयन् चिन्तयन्। प्रीत्यप्रीती रत्यरती। प्रीतिः रागः। अप्रीतिर्द्वेषः। प्रीतिश्चाप्रीतिश्च प्रीत्यप्रीती। इतरेतर द्वन्द्ववृत्तेः। ते निराकृत्य दूरं कृत्वा। ध्यायेत् चिन्तयेत्। तान् भावानिति सम्बन्धः कार्यः। सम्यग्ज्ञानिनस्तत्त्वं विजानन्तोऽपि पूर्ववासनावासितहृदया दृढसंस्कार-कारणेनानिच्छन्तोऽपि विभावस्वरूपं पर्याय-मोहितात्मानं द्रव्यस्वभावस्य वितर्कतया तदा तदा रागद्वेषं

उत्थानिका—अब ज्ञान आदि ऋद्धि युक्त भव्य को क्या करना चाहिए, यह कहते हैं–

अन्वयार्थ—(अध्यात्मवित्) अध्यात्म के ज्ञाता **(मुनिः)** मुनि **(संज्ञानं)** सम्यग्ज्ञान को **(मुहुः)** बार-बार **(प्रसार्य)** विस्तारित करके **(यथावस्थितान् भावान्)** जो पदार्थ जिस प्रकार स्थित हैं वैसा **(पश्यन्)** देखते हुए **(प्रीत्यप्रीती)** प्रीति और अप्रीति को **(निराकृत्य)** दूर करके **(ध्यायेत्)** ध्यान करे।

अर्थ—अध्यात्म का जानकार मुनि सम्यग्ज्ञान को बार-बार फैलाकर जो पदार्थ जैसे स्थित हैं उन्हें वैसे ही देखते हुए राग-द्वेष को दूर करके ध्यान करे।

टीकार्थ—भावश्रमण मुनि स्व आत्मा के हित में उत्सुक होता है। जो आत्मा में अधिकार करके अर्थात् आत्मा को ही अधिकरण, आधार बनाकर रहता है वह अध्यात्म है। उस अध्यात्म को जानने वाला वह अध्यात्मवृत्ति मुनि होता है। जो पदार्थ जैसे स्थित हैं उन्हें वैसे ही न्यून, अधिकता से रहित चिन्तन करता हुआ बार-बार अपने सम्यग्ज्ञान का विस्तार करता है। राग, द्वेष, इन दोनों को हटाकर या दूर करके उन पदार्थों का ध्यान करता है।

सम्यग्ज्ञानी जीव तत्त्व को जानते हुए भी पहले की वासना (संस्कार) से सहित हृदय वाले होते हैं तथा उसी दृढ़ संस्कार के कारण नहीं चाहते हुए भी विभाव स्वरूप पर्याय में मोहित आत्मा के द्रव्य

बार-बार बस ज्ञान नेत्र को फैला-फैला लखना है।
पदार्थ दल जिस विध है उस विध उसको केवल चखना है॥
आतम-ज्ञाता मुनि वे केवल ध्यान सुधा का पान करें।
किन्तु भूल भी राग-रोष के कभी नहीं गुणगान करें॥१७७॥

निराकुर्वन्ति यदा यदा व्याहन्ति परपरिणतिहेतुभूतमोहः सम्यक् स्वभावमिति। अनुष्टुप्छन्दः ॥१७७॥

यद्येवं न करोति तदा जन्तोः संसारे भ्रमणमिति निगदति–

(अनुष्टुप्)

वेष्टनोद्वेष्टने यावत्तावद् भ्रान्तिर्भवार्णवे।
आवृत्तिपरिवृत्तिभ्यां जन्तोर्मन्थानुकारिणः ॥१७८॥

अन्वयः—जन्तोः मन्थानुकारिणः यावत् वेष्टनोद्वेष्टने तावत् भवार्णवे आवृत्ति-परिवृत्तिभ्यां भ्रान्तिः।

वेष्टनेत्यादि। जन्तोः कल्मषकलितजीवस्य। कथम्भूतस्य? मन्थानुकारिणःमन्थनदण्ड-सदृशस्य। मन्थानं मन्थदण्डकं 'वैशाखमन्थमन्थानमन्थानो मन्थदण्डके' इत्यमरः। तमनुकरोतीत्येवंशीलो मन्थानुकारी तस्य। यावत् कालपर्यन्तम्। वेष्टनोद्वेष्टने आकर्षणविकर्षणे। जीवपक्षे कर्मणां प्रीत्यप्रीतिवशात् बन्धननिर्जरे। तावत् कालपर्यन्तम्। भवार्णवे संसारसमुद्रे। भवः पञ्चपरावर्तनरूपप्रसिद्धः एव अर्णवः समुद्रस्तस्मिन्। काभ्याम्? आवृत्तिपरिवृत्तिभ्यां आगमनगमनक्रियाभ्याम्। मन्थे रज्जुवत् कर्मणामास्रवण-

---

स्वभाव के चिन्तन से राग-द्वेष का निराकरण करते हैं, जब-जब पर परिणति में कारणभूत मोह आत्मा के सम्यक् स्वभाव का घात करता है। यहाँ अनुष्टुप् छन्द है ॥१७७॥

उत्थानिका—यदि ऐसा नहीं करता है तो उस प्राणी का संसार में परिभ्रमण होता रहता है, यह कहते हैं–

अन्वयार्थ—(मन्थानुकारिणः) मथानी का अनुसरण करने वाले **(जन्तोः)** इस प्राणी का **(यावत्)** जब तक **(वेष्टनोद्वेष्टने)** सँधना और खुलना होता है **(तावत्)** तब तक **(भवार्णवे)** संसार सागर में **(आवृत्ति-परिवृत्तिभ्यां)** गमन-आगमन के द्वारा इसका **(भ्रान्तिः)** भ्रमण चालू रहता है।

अर्थ—मथानी का अनुकरण करने वाले इस जीव की जब तक बंध और निर्जरा चलती है तब तक संसार सागर में आने-जाने के द्वारा इसका भ्रमण चलता रहता है।

टीकार्थ—पाप से युक्त यह संसारी प्राणी मथानी के डण्डे का अनुकरण करता है। जैसे मथानी के डंडे से रस्सी का पास में आना, फिर दूर जाना चलता रहता है उसी प्रकार संसारी जीव में प्रीति-अप्रीति से कर्मों का बंधन और निर्जरा चलते रहते हैं। पंचपरावर्तनरूप संसार यह प्रसिद्ध है। यह संसार ही समुद्र है। इस संसार में कर्मों के आस्रव और निर्जरा के द्वारा भ्रान्ति बनी रहती है अथवा इस संसार में निरन्तर आने-जाने के द्वारा भ्रमण होता रहता है। गृहस्थाश्रम में गृहस्थों को कभी कर्मबन्ध तो कभी

कर्म निर्जरा सहित किन्तु वह जब तक विधि बंधन पलता।
तब तक भवदधि में आतम का भ्रमण नियम से है चलता ॥
एक छोर से रस्सी बँधती एक ओर से खुलती है।
तब तक निश्चित मथनी की वह भ्रमण क्रिया बस चलती है ॥१७८॥

निर्जराभ्यामित्यर्थः अथवा गमनागमनक्रियाभ्यां भ्रमणम्। भ्रान्तिर्भ्रणम् गेहाश्रमे गेहिनां क्वचित् बन्धनं क्वचित् निर्जरणं क्वचिदुभयमिति विचित्रा करंबिताचारिणी चर्या। सानुबन्धिनी निर्जरा संसृतिकारिणी। तपोधनानामेवं न सम्भाव्यते निरनुबन्धिनिर्जरापात्रत्वात्। सैवाविपाकजा कुशलमूलेत्युच्यते पुरुषायत्तत्वात्। तेनानवरतनिर्जरणाय प्रेरितमत्र। ननु च आसूक्ष्मसाम्परायपर्यन्तं कषायानुबन्धनं योगसहितं तेन कर्मबन्धन-मप्यस्ति निरन्तरं ततः कथं सम्भवेत् निरास्रवणमूला निर्जरा? तन्न, युक्तमभिप्रायानवबोधात्। तद्यथा-रागद्वेषमोहा एवास्रवाः बुद्धिपूर्वकभाविता हि प्रत्ययद्वारेण कर्माणि संसृतिमूलानि बध्नन्ति। तदभावे संज्वलनमन्दकषाययोगैः प्रत्ययैर्बन्धमास्कन्दन्नपि ज्ञानी निर्बन्धो निर्विकल्पदशायां ज्ञायकैकस्वभाव-संवेदनात्। आ अप्रमत्तात् सूक्ष्मसाम्परायपर्यन्तं यद्बन्धनं तद्भवति, न च करोति। तस्मादिह करणरूपं रागादिकं परिहर्त्तव्यमित्यभिप्रायो वेदितव्यो, युगपदशेषबन्धनिर्मोक्षोपायाभावात्। तत एव प्रोक्तम्-

''भावो रागादिजुदो जीवेण कदो दु बंधगो भणिदो।
रागादिविप्पमुक्को अबंधगो जाणगो णवरि॥''

रागादिप्रवृत्तिविरहिता निर्वृत्त्यात्मिका एकान्तविरतिरूपा चर्या योगिनामपि न सर्वदा सम्भवेत्,

---

कर्मनिर्जरा और कभी दोनों होते हैं ऐसी यह चित्रल आचरण वाली प्रवृत्ति चलती रहती है। अनुबन्ध से सहित निर्जरा संसार की कारण होती है। तपोधनों को इस प्रकार नहीं होता है क्योंकि वे निरन्तर निरनुबन्धी निर्जरा के पात्र होते हैं। अनुबन्ध रहित निर्जरा ही अविपाक से हुई निर्जरा है और वही कुशलमूला कही जाती है क्योंकि वह पुरुषार्थ की प्रधानता से होती है। इसलिए यहाँ अनवरत निर्जरा के लिए प्रेरणा दी है।

शंका—सूक्ष्मसम्पराय गुणस्थान तक कषायों का बन्ध तीनों योगों के साथ होता है इसलिए दसवें गुणस्थान तक भी कर्मबन्ध निरन्तर चलता रहता है इसलिए तपस्वियों आस्रवरहित निर्जरा कैसे संभव है?

समाधान—यह कहना उचित नहीं है क्योंकि आपने अभिप्राय नहीं समझा है। वह इस प्रकार है-राग, द्वेष ही प्रत्ययों (मिथ्यात्व आदि) के द्वारा संसार मूलक कर्मों का बन्ध करते हैं। इन राग, द्वेष आदि का अभाव हो जाने पर संज्वलन की मन्दकषाय और योगप्रत्ययों के द्वारा बन्ध होता रहता है फिर भी ज्ञानी निर्विकल्पदशा में निर्बन्ध होता है क्योंकि वह ज्ञायक एक स्वभाव का संवेदन करता है। अप्रमत्तगुणस्थान से लेकर सूक्ष्मसाम्परायपर्यन्त जो बन्ध है वह होता है, ज्ञानी उसे करता नहीं है। इसलिए इस श्लोक में यह अभिप्राय है कि करने रूप रागादि का परिहार करना चाहिए। एक साथ सभी बन्ध और मोक्ष के उपाय का अभाव है। इसलिए ही कहा है-

''जीव के द्वारा किया गया रागादि से सहित भाव ही बंधक कहा गया है जो रागादि करने के भाव से रहित है वह तो अबंधक है, ज्ञायक है।''

शंका—रागादि की प्रवृत्ति से रहित, मात्र निवृत्तिरूप, सर्वथा विरक्ति रूप चर्या तो योगियों को

ततस्तेषामपि क्वचित् काले रागादिजनितकर्मलेपो नियतं नियम्यते। तथा सति कथं निरास्रवणनिर्जरेति मे बुद्धौ न सन्तिष्ठते। सत्यमुक्तं भवता सत्यमुक्तम्। अवधानतया श्रृणु। ते योगिनोऽपि प्रवृत्तिरूपं व्यवहारनयमवलम्बन्ते। तद्व्यवहारोऽपि निश्चयस्य साधकतमकरणत्वेन वर्तनादुचितएव। तत्रकृतकर्मबन्धनं न भवाभिनन्दि प्रशस्तरागमात्ररूपत्वात्। चैत्यश्रुताचार्यार्हद्साधुभक्तिसूत्रानुसारि-प्रवृत्तिप्रभृतिभर्विहित-कर्माश्लेषः शुभोपयोगत्वादप्रतिषिद्धः। तद्यथा-''चैत्यानामस्तु सङ्कीर्तिः सर्वास्रवनिरोधिनी'', ''एवमभिष्टुवतो मे... ज्ञानफलं सौख्यमच्यवनम्'', ''गुरुभत्तिसंजमेण य तरंति संसारसायरं घोरं। छिण्णंति अट्ठकम्मं जम्मणमरणं ण पावेंति' इत्यादिपरमाचार्यवचनामृतानि प्रत्येतव्यानीति। तेन कारणेन ते नितान्तं निरास्रवा निगद्यन्ते इति ॥अनुष्टुप्छन्दः॥१७८॥

तद् दृढीकरणायैव पुनराह-

(अनुष्टुप्)

मुच्यमानेन पाशेन भ्रान्तिर्बन्धश्च मन्थवत्।
जन्तोस्तथासौ मोक्तव्यो येनाभ्रान्तिरबन्धनम् ॥१७९॥

भी संभव नहीं है इसलिए उनको भी कभी रागादि से उत्पन्न कर्मबन्ध नियम से होता है। फिर कर्मबन्ध होने पर बिना आस्रव के निर्जरा कैसे होती है ? यह बात मेरी बुद्धि में नहीं ठहरती है।

समाधान-आपने सत्य कहा है, सत्य कहा है फिर भी सावधानी से सुनो। वे योगी भी प्रवृत्ति रूप व्यवहार नय का आलंबन लेते हैं। वह व्यवहार भी निश्चय का साधक तम कारण होने से व्यवहार में प्रवर्तन उचित ही है। यहाँ होने वाला या किया गया कर्म बन्ध संसार बढ़ाने वाला नहीं है क्योंकि यह प्रशस्त रागमात्र वाला है। चैत्यभक्ति, श्रुतभक्ति, आचार्यभक्ति, अर्हत्भक्ति, साधुभक्ति, सूत्र के अनुसार प्रवृत्ति करने आदि के द्वारा कर्म का बन्ध जो कहा है वह शुभोपयोग में निषिद्ध नहीं है। उसको भी इस प्रकार पूर्वाचार्यों ने समर्थित किया है-''जिनचैत्यों की स्तुति सभी आस्रवों को रोकने वाली है।'' ''श्रुतभक्ति का फल मुझे ज्ञान के फलरूप अनन्त सुख की प्राप्ति हो।'' ''गुरुभक्ति और संयम से यह घोर संसार सागर तरा जाता है। यह गुरुभक्ति अष्टकर्मों का छेदन करती है और इससे जन्म-मरण की प्राप्ति नहीं होती है।'' इस तरह ये परम (उत्कृष्ट) आचार्यों के वचनामृत जानने चाहिए। इसी कारण से प्रवृत्ति में भी योगी नितान्त आस्रव रहित कहे गये हैं। यहाँ अनुष्टुप् छन्द है ॥१७८॥

उत्थानिका-उसी को दृढ़ करने के लिए ही पुनः कहते हैं-

एक ओर से भले छोड़ दो रस्सी, मथनी नहिं रुकती।
और छोर से नियम रूप से बँधती भ्रमती है रहती॥
उसी भाँति कुछ कर्म छोड़ते बंध भ्रमण पर नहिं मिटते।
पूर्ण निर्जरा यदि करते हो बंध भ्रमण तब सब मिटते ॥१७९॥

अन्वयः—जन्तोः मुच्यमानेन पाशेन मन्थवत् भ्रान्तिः बन्धः च (भवति) तथा असौ मोक्तव्यः येन अभ्रान्तिः अबन्धनं (भवेत्)।

मुच्यमानेनेत्यादि। जन्तोः संसारे परिभ्रमज्जीवस्य। मुच्यमानेन निर्जीर्यमाणेन श्लिथ्यमानेन। पाशेन बन्धनेन। सनिर्जरणबन्धनेन कर्मपक्षे, मन्थपक्षे मुच्यमानपाशेन। मन्थवत् मन्थनमिव। भ्रान्तिः भ्रमणम्। बन्धः पुनर्बन्धनम्। च समुच्चये। भवतीति क्रियाध्याहारः। तथा तेन कारणेन। असौ भ्रान्तिर्बन्धश्च। मोक्तव्यः परिहर्त्तव्यः। येन कारणेन। अभ्रान्तिः संसृतिभ्रमणाभावः। अबन्धनं कर्मानादानम्। भवेदिति क्रियाध्याहारः। पूर्वनिबद्धकर्मणामवस्था द्वितयी विद्यते। तेषामुदयमागतानां बन्धपुरस्सरनिर्जरणं स्वरस-सहितमकुशलमूलं सविपाकाख्यं समाख्यातं, भोगभूमि-युगलानां मरणकाले सन्तानोत्पत्तिवत्। अन्यत्तु तेषामेव निर्बन्धनिर्जरणं स्वरसरहितं कुशलमूलमविपाकाख्यं समाख्यातं, देवगतिजीवमरणवत्। तत्र प्रथमाऽवहेयाऽन्या ग्राह्येति भावः। अनुष्टुप्छन्दः ॥१७९॥

तस्योपायोऽत्र प्रक्रम्यते–

अन्वयार्थ—(जन्तोः) इस प्राणी को **(मुच्यमानेन पाशेन)** छूटने वाली रस्सी से **(मन्थवत्)** मथानी के समान **(भ्रान्तिः)** भ्रमण **(बन्धः च)** और बन्धन दोनों होते हैं **(तथा)** उसी प्रकार **(असौ)** इस जीव को **(मोक्तव्यः)** छुड़ाना भी चाहिए **(येन)** जिससे **(अभ्रान्तिः)** भ्रमण न हो **(अबन्धनं)** और बन्धन रहित हो जावे।

अर्थ—इस संसारी प्राणी को छोड़ने वाली रस्सी से मथानी के समान भ्रमण और बन्धन होता है। उसी प्रकार जीव को इस भ्रमण से छुड़ाना चाहिए जिससे जीव के भ्रमण और बन्धन न हों।

टीकार्थ—संसार में परिभ्रमण करते हुए जीव को बन्ध की निर्जरा होने से पुनः कर्मबन्ध होता है जिससे संसार में भ्रमण होता है। इस कारण से इस जीव को संसारभ्रमण का अभाव तथा कर्म ग्रहण का अभाव करना चाहिए। जो कर्म पूर्व में बँधे हैं उन कर्मों की अवस्था दो प्रकार की होती है। उन उदयागत कर्मों की बन्धपूर्वक निर्जरा अपने रस सहित होती है। वह कुशलमूलक नहीं है। अर्थात् अपने पुरुषार्थ की कुशलता से नहीं होती है। वह निर्जरा सविपाक निर्जरा कहलाती है। जैसे–भोगभूमि युगलों को मरणकाले सन्तान उत्पत्ति होकर ही मरण होता है वैसे ही सविपाक निर्जरा में वह कर्म निर्जरित होकर पुनः कर्मबन्ध कराकर जाता है। दूसरी दशा यह है कि उन्हीं कर्मों की निर्जरा बन्धरहित होती है, उस समय कर्मों का अनुभाग अपने रस से रहित होता है। यह निर्जरा कुशल मूलक है जो अविपाक निर्जरा के नाम से कही जाती है। जैसे देवगति के जीव का मरण होता है तो सन्तान बिना ही उनका अभाव हो जाता है वैसे ही अविपाक निर्जरा में होता है। उनमें से पहली निर्जरा छोड़ने योग्य है तथा दूसरी ग्राह्य है, यह भाव है। यहाँ अनुष्टुप् छन्द है ॥१७९॥

उत्थानिका—उस अविपाक निर्जरा का उपाय यहाँ कहा जाता है–

(आर्या)

रागद्वेषकृताभ्यां जन्तोर्बन्धः प्रवृत्त्यवृत्तिभ्याम्।
तत्त्वज्ञानकृताभ्यां ताभ्यामेवेक्ष्यते मोक्षः ॥१८०॥

अन्वयः—जन्तोः प्रवृत्त्यवृत्तिभ्यां रागद्वेषकृताभ्यां बन्धः ताभ्यां तत्त्वज्ञानकृताभ्यां मोक्षः ईक्ष्यते एव।

रागद्वेषेत्यादि। जन्तोः प्राणिनः। प्रवृत्त्यवृत्तिभ्यां तत्र प्रवृत्तिः प्रवर्तनं योगत्रयाणां व्रतनियमादिग्रहणे। अवृत्तिः निवृत्तिर्निवर्तनं योगत्रयाणां तपोध्यानादिग्रहणे। प्रवृत्तिश्चावृत्तिश्च प्रवृत्त्यवृत्ती ताभ्याम्। किं भूताभ्याम्? रागद्वेषकृताभ्यां कषायभावविहिताभ्याम्। रागश्च द्वेषश्च रागद्वेषौ ताभ्यां कृता रागद्वेषकृता ताभ्याम्। तेन रागेण प्रवर्तनं द्वेषेण निवर्तनमिति योज्यम्। अथवा रागद्वेषद्वयाभ्यां प्रवर्तनं निवृत्तिश्चेति योज्यम्। दृश्यते च द्वेषाशयेन नियमादिषु प्रवृत्तिश्चान्तारागाशयेन योगनिवृत्तिः। बन्धः बन्धनं संसारपरिभ्रमणं वा। भवतीति शेषः। ताभ्यां प्रवृत्त्यवृत्तिभ्याम्। किं विशिष्टाभ्याम्? तत्त्वज्ञानकृताभ्यां भेदविज्ञानाभ्यास-जनिताभ्याम्। मोक्षः मुक्तिः। ईक्ष्यते सर्वदर्शिभिः दृश्यत इत्यर्थः। एवावधारणार्थम्। आर्यावृत्तम् ॥१८०॥

केन कारणेनैवं स्यादित्यत्र प्रस्तौति–

अन्वयार्थ—(जन्तोः) प्राणी की **(प्रवृत्त्यवृत्तिभ्यां)** प्रवृत्ति और अप्रवृत्ति **(रागद्वेषकृताभ्यां)** राग, द्वेष कृत हैं तो उनके द्वारा **(बन्धः)** बन्ध है **(ताभ्यां)** वे ही प्रवृत्तियाँ-अप्रवृत्तियाँ **(तत्त्व-ज्ञानकृताभ्यां)** तत्त्वज्ञान के द्वारा की गई हैं तो **(मोक्षः)** मोक्ष **(ईक्ष्यते एव)** नियम से देखा जाता है।

अर्थ—राग, द्वेष भावों से की गई प्रवृत्ति और निवृत्ति से तो कर्मबन्ध होता है किन्तु तत्त्वज्ञान पूर्वक की गई प्रवृत्ति और निवृत्ति से मोक्ष ही होता है।

टीकार्थ—व्रत, नियम आदि के ग्रहण करने में जो तीनों योगों का प्रवर्तन है वह प्रवृत्ति है। तप, ध्यान आदि के ग्रहण में तीनों योगों का रुक जाना निवृत्ति है। यह प्रवृत्ति और निवृत्ति राग और द्वेष के द्वारा कषाय भाव से भी की जाती है। अथवा राग, द्वेष दोनों के द्वारा प्रवृत्ति और निवृत्ति दोनों होती हैं, यह भी लगाना चाहिए। देखा भी जाता है कि द्वेषबुद्धि से भी नियम आदि ले लिये जाते हैं और अन्तरंग में राग आदि के कारण तप आदि से योगों की प्रवृत्ति रोकी भी जाती है। भेदविज्ञान से जनित प्रवृत्ति-निवृत्ति के द्वारा सर्वज्ञ भगवान ने मोक्ष देखा है। एवकार नियम बताने के लिए है। यहाँ आर्या छन्द है ॥१८०॥

उत्थानिका—किस कारण से इस प्रकार होता है, यह कहते हैं–

भले पालते समिति गुप्तियाँ तुम बहुविध तप हो धरते।
बहुविध विधि का बँधन बँधता राग-द्वेष यदि हो करते॥
तत्त्वज्ञान को किन्तु धारते राग-रोष यदि नहिं करते।
उन्हीं समितियाँ गुप्ति पालकर मुक्ति-रमा को झट वरते ॥१८०॥

(आर्या)

द्वेषानुरागबुद्धिर्गुणदोषकृता करोति खलु पापम्।
तद्विपरीता पुण्यं तदुभयरहिता तयो र्मोक्षम् ॥१८१॥

अन्वयः—गुणदोषकृता द्वेषानुरागबुद्धिः खलु पापं करोति तत् विपरीता पुण्यं तदुभयरहिता तयोः मोक्षम्।

द्वेषानुरागेत्यादि। गुणदोषकृता गुणदोषपोषणार्थस्वीकृता। द्वेषानुरागबुद्धिः अप्रीतिप्रीतिपरिणामः। खलु निश्चयेन। पापमशुभकर्म। करोति जनयति। तद्यथा–गुणाः सम्यग्दर्शनादयः। दोषाः मिथ्यादर्शन–शास्त्रादयः। गुणार्थं द्वेषबुद्धि–र्मिथ्यादृष्ट्यादिषु दोषार्थमनुरागबुद्धिः सम्यक्त्वायतनेषु च पापप्रदा। तत्कथं भवति, 'वयं सम्यग्दृष्टय' इति मदाविष्टेन द्वेषबुद्ध्या मिथ्यादेवश्रुतिसाधुविषये निन्दन–प्रहरणादिकरणं च चैत्यापहरणसाधुशीलभङ्गधर्मापवादकरणार्थं तेष्वनुरागप्रदर्शनमपि पापकरणमिति। तत् विपरीता पुण्यं शुभकर्म करोतीति क्रियासम्बन्धः। दोषार्थं कृता द्वेषबुद्धिरसंयतादिषु च गुणार्थं कृताऽनुरागबुद्धिः संयतादिषु पुण्यहेतुकेति। तदुभयरहिता गुणदोषार्थं रागद्वेषपरिणामेन विना तत्त्वज्ञानसहिता। तयोः पापपुण्यकर्मणोः।

अन्वयार्थ—(गुणदोषकृता) गुण, दोष के द्वारा की गई **(द्वेषानुरागबुद्धिः)** द्वेष और अनुराग की बुद्धि **(खलु)** निश्चित ही **(पापं)** पाप **(करोति)** करती है **(तत् विपरीता)** उसके विपरीत बुद्धि **(पुण्यं)** पुण्य करती है **(तदुभयरहितं)** तथा इन दोनों से रहित बुद्धि **(तयोः)** पाप-पुण्य दोनों से **(मोक्षम्)** मोक्ष करती है।

अर्थ—गुणों में द्वेष और दोषों में अनुराग की बुद्धि निश्चित ही पाप करती है। इसके विपरीत गुणों में अनुराग और दोष में द्वेष की बुद्धि पुण्य करती है। गुण, दोष में रागद्वेष से रहित बुद्धि पुण्य, पाप दोनों से मुक्त करती है।

टीकार्थ—सम्यग्दर्शन आदि गुण हैं। मिथ्यादर्शन, मिथ्याशास्त्र आदि दोष हैं। मिथ्यादृष्टि आदि जनों में गुणों के लिए द्वेष बुद्धि करना और सम्यक्त्व के आयतनों में दोषों के लिए अनुराग बुद्धि पाप देने वाली है। वह किस प्रकार होता है–''हम सम्यग्दृष्टि हैं'' इस मद के आवेश से द्वेषबुद्धि से मिथ्यादेव, मिथ्याशास्त्र और मिथ्या साधु के विषय में निन्दा करना उन पर प्रहार आदि करना तथा जिन प्रतिमा का अपहरण, साधु का शील भंग करना और धर्म का अपवाद करने के लिए अनुराग बुद्धि रखना पापबन्ध का कारण है। इसके विपरीत बुद्धि पुण्य यानी शुभकर्म का बन्ध करती है। असंयत

हित पथ के प्रति अरुचि भाव औ अहित पंथ का राग वही।
पाप कर्म का बंध कराता अतः उसे तू त्याग यहीं।
इससे जो विपरीत भाव है पाप मिटाता पुण्य मिले।
दोनों मिटते शिव मिलता पर प्रथम पाप पुनि पुण्य मिटे ॥१८१॥

मोक्षं विनाशनम्। करोति इति क्रियासम्बन्धः। ततस्तत्त्वज्ञानेन गुणदोषविवेकं विधाय प्रवर्तितव्यमिति भावः। न चात्र शुद्धोपयोगस्य मात्रस्य तदुभयविनाशाय प्रोक्तमिति निश्चेतव्यं तत्र प्रवृत्तिमात्रस्याभावात् ॥१८१॥

तत्त्वज्ञानमेवाग्निर्मोहबीजदहनायेत्यत्र कथयति–

(अनुष्टुप्)

मोहबीजाद्रतिद्वेषौ बीजान्मूलाङ्कुराविव।
तस्माज्ज्ञानाग्निना दाह्यं तदेतौ निर्दिधिक्षुणा ॥१८२॥

अन्वयः—बीजात् मूलाङ्कुरौ इव मोहबीजात् रतिद्वेषौ, एतौ निर्दिधिक्षुणा तस्मात् तत् ज्ञानाग्निना दाह्यम्।

मोहेत्यादि। बीजात् मूलाङ्कुरौ प्रभवतः इति शेषः। मह्यां बीजवपनात्तस्य गतिरुभयी स्यात्। महीतलेऽधोऽधो मूलस्य प्रसारः कुटिलश्चोपर्युपरि अङ्कुरादयः। इव औपम्यार्थे। यथा एवं तथा–

आदि के विषय में दोषों के लिए की गई द्वेषबुद्धि तथा संयत आदिकों में गुणों के लिए की गई अनुराग बुद्धि पुण्य का कारण है तथा राग, द्वेष के बिना गुण, दोषों के लिए की गई बुद्धि तत्त्वज्ञान से सहित होती है जो पाप-पुण्य दोनों प्रकार के कर्म-बन्ध का नाश करती है इसलिए तत्त्वज्ञान के द्वारा गुण, दोषों में विवेक को करके प्रवृत्ति करनी चाहिए, यह तात्पर्य है। यहाँ शुद्धोपयोग मात्र को पाप, पुण्य दोनों के विनाश के लिए नहीं कहा है, ऐसा निश्चय करना चाहिए क्योंकि शुद्धोपयोग में प्रवृत्ति मात्र का अभाव है ॥१८१॥

उत्थानिका—मोह बीज को जलाने के लिए तत्त्वज्ञान ही एक मात्र अग्नि है, यह कहते हैं–

अन्वयार्थ—(बीजात्) बीज से **(मूलाङ्कुरौ इव)** जड़ और अंकुर की तरह **(मोहबीजात्)** मोह बीज से **(रतिद्वेषौ)** राग और द्वेष उत्पन्न होते हैं **(एतौ)** इन दोनों को **(निर्दिधिक्षुणा)** जलाने की इच्छा करने वाले को **(तस्मात्)** इसलिए **(तत्)** मोहबीज को **(ज्ञानाग्निना)** ज्ञानाग्नि से **(दाह्यम्)** जलाना चाहिए।

अर्थ—जैसे बीज से जड़ और अंकुर निकलते हैं वैसे ही मोह के बीज से राग, द्वेष उत्पन्न होते हैं। इसलिए इन राग, द्वेष को जो जलाना चाहे उसे मोह के बीज को ज्ञानरूपी अग्नि से जलाना चाहिए।

टीकार्थ—धरती में बीजवपन करने से उसकी दो प्रकार की गति होती है। पृथ्वी में नीचे-नीचे मूल का फैलना होता है और कुटिल रूप से ऊपर-ऊपर अंकुर आदि दिखने लगते हैं। जैसे यह होता

मूल और अंकुर जिस विध वे सदा बीज से उदित रहें।
मोह बीज से राग-द्वेष भी उदित हुए हैं विदित रहें॥
तत्त्वज्ञान के तेज अनल से उन्हें जला कर शान्त करो।
तप्त क्लान्त निज जीवन को तुम सुधा पिलाकर शान्त करो ॥१८२॥

मोहबीजात् रतिद्वेषौ। अत्र बीजशब्दः कारणार्थेऽवसेयः। मोहकारणेन रतिद्वेषोत्पत्तिरित्यर्थः। स च मोहो दर्शनचारित्रमोहभेदाद्द्विधा भिद्यते। तेन यावद्रागद्वेषसमुद्भूतिस्तावद्मोहप्रसूतिरिति व्याप्तिः। एतौ रतिद्वेषौ। निर्दिधिक्षुणा निःशेषतया दग्धुमिच्छुना। निःपूर्वस्य दग्धुमिच्छु निर्दिधिक्षुः। ''तुमीच्छायां धोर्वोम्'' इतीच्छायां कृतस्य तुम उप् संश्च। सन्नन्ताच्चास्मात्। ''सन्भिक्षाशंस्विन्दिच्छादुः'' इत्युः। तेन तस्मात् कारणात्। तत् मोहबीजम्। ज्ञानाग्निना तत्त्वज्ञानर्चिषा। ज्ञानमेवाग्निर्ज्ञानाग्निः पचनदहनतुल्यधर्मत्वात्। दाह्यं प्रज्वलितव्यम्। ''कारणाभावे कार्याभावः'' इति न्यायमवधार्य रतिदोषहन्तुकामो मोहं तावत् सन्दह्याद्यावन्नापायो भवेत्। श्रूयते च तपसा कृतकर्म दन्दह्यते। किं पुनर्ज्ञानाग्निना तद्घटेतेति चेत्, न, तपसा सामान्येन पापस्य प्रलयो जायते, मोहस्य विशेषेण पुनराध्यात्मयोगेन। विवेकविज्ञानविकलतपोविधानं पुण्यमात्रं सम्पद्यते। स्वपरार्थान् प्रकाशयति ज्ञानं तपस्तु पापकर्ममलं विशुध्यति। यदुक्तम्–

''तवेण धीरा विधुणंति पावं अज्झप्पजोगेण खवंति मोहं।
संखीणमोहा धुदरागदोसा ते उत्तमा सिद्धिगदिं पयांति॥''

सिद्धान्तेन मोहकर्मापि पाप्म; घातिकर्मणां पापमात्रत्वात्, तथापि रागद्वेषमूलाङ्कुरसहमोहबीज–

है वैसे ही मोह बीज से राग, द्वेष उत्पन्न होते हैं। यहाँ 'बीज' शब्द कारण के अर्थ में है। वह मोह दर्शनमोहनीय और चारित्रमोहनीय के भेद से दो प्रकार का होता है। इससे जब तक राग, द्वेष की उत्पत्ति हो रही है तब तक मोह की उत्पत्ति हो रही है, यह व्याप्ति घटित होती है। इन राग और द्वेष दोनों को जलाने का जो इच्छुक है वह मोह के बीज को ज्ञान की अर्थात् तत्त्वज्ञान की अग्नि से जलाए। ज्ञान ही अग्नि है क्योंकि अग्नि की तरह ज्ञान में भी पकाना और जलाना ये दोनों धर्म समान रूप से पाये जाते हैं। ''कारण के अभाव में कार्य का अभाव होता है'' इस न्याय को अवधारित करके रति, दोष को नष्ट करने की इच्छा करने वाला मोह को तब तक जलावे जब तक कि उस मोह का नाश न हो जावे।

शंका—सुना जाता है कि तप से पूर्वकृत कर्म जल जाते हैं। फिर यहाँ ज्ञानाग्नि से जलाने की बात कैसे घटित होवे ?

समाधान—ऐसा नहीं है, तप के द्वारा सामान्यरूप से पाप का विनाश होता है किन्तु मोह का विनाश विशेष रूप से अध्यात्म योग से होता है। जो तप भेदविज्ञान से रहित होता है वह पुण्य मात्र को देता हैं, किन्तु ज्ञान स्वपर–पदार्थ का प्रकाशन करता है और तप पापकर्म के मल का शोधन करता है। मूलाचार में कहा भी है–

''धीर पुरुष तप के द्वारा पाप को धो देते हैं और अध्यात्म के योग से मोह को नष्ट कर देते हैं। जिनके मोह नष्ट हुए हैं और राग द्वेष धुल गये हैं वे उत्तम पुरुष सिद्धगति को प्राप्त करते हैं।''

सिद्धान्त की दृष्टि से मोहकर्म भी पापकर्म है क्योंकि घातिकर्म पापमात्र ही होते हैं फिर भी राग,

महीरुहदहनमध्यात्मज्ञानानलेन भवति; मोहस्य सर्वकर्मसु भिन्नजातित्वात्। निश्चयनयेन तज्ज्ञानमेवध्यानं यन्निर्विकल्पकम्, तदेव तपश्चेत्यनेकान्तविवक्षायामविरुद्धम्। अनुष्टुप्छन्दः ॥१८२॥

इदानीं मोहो महाव्रणेनोपमीयते ततः आह–

पुराणः ग्रहदोषोत्थो गम्भीरः सगतिः सरुक्।
त्यागजात्यादिना मोहव्रणः शुध्यति रोहति ॥१८३॥

अन्वयः—मोहव्रणः पुराणः, ग्रहदोषोत्थः, गम्भीरः, सगतिः, सरुक्, त्यागजात्यादिना शुध्यति रोहति।

पुराणः इत्यादि। मोहव्रणः मोहस्फोटकः। मोह एव व्रणो मोहव्रणः। यद्वा मोहो व्रण इव। स कथम्भूतः? पुराणः मोहस्यानादिकालिकत्वात् बहुकालीनव्रणवत्। पुनश्च किम्? ग्रहदोषोत्थः मोहस्य परिग्रहरूपमहादोषात्समुद्भूतिः शनिकेत्वादिग्रहदोषादुत्पन्नव्रणवत्। तथा किम्? गम्भीरः अगाधो गहनो वा मोहस्य व्रणवत्। अपरं किम्? सगतिः मोहस्य नरकादिचतुर्गतिसहितत्वं नाडीयुक्तव्रणवत्। किं विशिष्टम्?

द्वेष रूपी मूल और अंकुर के साथ मोहरूपी बीज के वृक्ष को जलाना अध्यात्म ज्ञान (निर्विकल्प आत्मध्यान) से ही होता है क्योंकि सभी कर्मों में मोह भिन्न जाति वाला है। निश्चयनय से वह ज्ञान ही ध्यान है जो निर्विकल्प है। वह ध्यान ही तप है। इस तरह अनेकान्त विवक्षा में कोई भी कथन विरुद्ध नहीं है। यहाँ अनुष्टुप् छन्द है ॥१८२॥

उत्थानिका—अब यहाँ मोह की महाव्रण से उपमा दी जाती है, इसलिए कहते हैं–

अन्वयार्थ—(मोहव्रणः) मोह का घाव **(पुराणः)** पुराना है। **(ग्रहदोषोत्थः)** ग्रह दोष से उत्पन्न हुआ है **(गम्भीरः)** गहरा है **(सगतिः)** गति सहित है **(सरुक्)** पीड़ा सहित है **(त्यागजात्यादिना)** खून निकालने और घृत लगाने आदि के द्वारा **(शुध्यति)** शुद्ध होता है **(रोहति)** भरता है।

अर्थ—मोहरूपी घाव बहुत पुराना है, ग्रह दोष से उत्पन्न हुआ है, बहुत भीतरी है, बहता रहता है, पीड़ादायक है और पीवादि साफ करने तथा घी आदि लगा के उपचार करने से शुद्ध होता है तथा पूरता है।

टीकार्थ—मोह ही घाव है अथवा मोह घाव के समान है। बहुत समय के पुराने घाव की तरह मोह भी अनादिकाल का है। शनि, केतु आदि ग्रहों के दोष से उत्पन्न घाव की तरह मोह भी परिग्रहरूप महादोष से उत्पन्न होता है। घाव की तरह मोह भी गहरा या गहन है। नाड़ी सहित घाव (रिसने वाला होता है) की तरह मोह भी नरक आदि चारों गतियों में घुमाने वाला है। पीड़ा दायी घाव की तरह मोह

नस पर गहरा घाव पुराना पल-पल पीड़ाप्रद होता।
सदुपचार घृत-आदिक का हो मिटता सीधा पद होता॥
मोह घाव भी संग ग्रहण से सुचिर काल से सता रहा।
संग त्याग से वह भी मिटता शिव मिलता गुरु बता रहा ॥१८३॥

सरुक् पीडाप्रदव्रणः कथ्यते। यस्मिन् शबलशोणितधाराप्रवाहोऽनारतं च बहिर्नीलरक्तवर्णश्च समन्ततः शोथयुक्तश्च सगलितमांसश्च विद्यते। तद्वत् मोहोऽतिकष्टप्रदः। अन्यच्च किम्? त्यागजात्यादिना शुध्यति रोहति त्यागरूपजात्यादितैलोपचारेण शोधनपूरणं भवति। त्यागः सर्वसङ्गविनिर्मुक्तिः एव जात्यादिः तैलः जातीपत्रमुख्यत्वात् कथ्यते स तथोक्तस्तेन। कर्ममलशुद्धिश्चात्मस्वभावावाप्तिश्च स्यात् व्रणस्य शुद्धिपूर्तिवत्। अनुष्टुप्छन्दः ॥१८३॥

तन्मोहव्रणं विशोधयितुकामो बन्धुवियोगे शुचं न दध्यादित्याह–

(अनुष्टुप्)

सुहृदः सुखयन्तः स्युर्दुःखयन्तो यदि द्विषः।
सुहृदोऽपि कथं शोच्या द्विषो दुःखयितुं मृताः ॥१८४॥

अन्वयः–यदि सुहृदः सुखयन्तः द्विषः दुःखयन्तः स्युः। सुहृदः अपि दुःखयितुं मृताः द्विषः कथं शोच्याः।

सुहृदः इत्यादि। यदि सुहृदः बन्धु मित्राणि। 'अथ मित्रं सखा सुहृत्' इत्यमरः। सुखयन्तः सुखं

भी कष्टदायक है। जिसमें पीव-खून की धार निरन्तर बहती रहती है, बाहर नीला, लाल रंग का होता है, चारों ओर सूजन सहित होता है तथा जिसमें मांस गलता है ऐसे पीड़ादायी घाव की तरह मोह अत्यधिक कष्ट देने वाला है। त्यागरूप क्रिया और जात्यादि तैल के उपचार से उस घाव का जैसे शोधन-पूरण होता है वैसे ही समस्त परिग्रह के त्यागरूप जाति के पत्रों की मुख्यता से बनाए गए तैल के द्वारा कर्ममल की शुद्धि होती है तथा आत्मस्वभाव की प्राप्ति होती है। यहाँ अनुष्टुप् छन्द है ॥१८३॥

उत्थानिका–मोह के घाव को शुद्ध करने की इच्छा रखने वाले को बन्धुजन के वियोग में शोक धारण नहीं करना चाहिए, यह कहते हैं–

अन्वयार्थ–(यदि) यदि **(सुहृदः)** मित्र **(सुखयन्तः)** सुख देने वाले और **(द्विषः)** शत्रु **(दुःखयन्तः)** दुःख देने वाले हैं तो **(सुहृदः अपि)** मित्र भी **(दुःखयितुं मृताः)** दुःखी करने के लिए मर गए **(द्विषः)** तो ऐसे शत्रु भी **(कथं शोच्याः)** कैसे शोक करने योग्य हुए ?

अर्थ–यदि सुख देने वाले मित्र और दुःख देने वाले शत्रु कहे जाते हैं तो मित्र भी दुःख देने के लिए मर गए फिर उन शत्रुओं के लिए शोक करना उचित कैसे हुआ ?

टीकार्थ–मोहीजन अपने बन्धु-मित्रों को सुख देनेवाले तथा द्वेषी, शत्रुओं को दुःख देने वाले

मित्र मानते तुम उनको यदि सुखित तुम्हें जो करते हैं।
तथा शत्रु यदि उन्हें मानते दुखित तुम्हें जो करते हैं॥
किन्तु मित्र जब मरते तब तुम विरह दुःख अति सहते हो।
अतः मित्र भी शत्रु हुए फिर शोक वृथा क्यों करते हो ॥१८४॥

कुर्वन्तः। सुखयतीति सुखयन्। शतृप्रत्ययः। तस्य बहुवचनम्। सुखकारिण इत्यर्थः। द्विषः शत्रवः। कथम्भूताः? दुःखयन्तः दुःखं कुर्वन्तः। दुःखकारिण इत्यर्थः। स्युः भवेयुः। सुहृदः मित्राणि। अपि तथा च। दुःखयितुं दुःखं कर्तुम्। मृताः विगताः। ततः इति शेषः। द्विषः शत्रव एव। अतः इति शेषः। कथं शोच्याः शोचनीयाः। मोहिनः सुहृदां सुखकरञ्च द्विषां दुःखकरमिति मन्यन्ते। तेषां प्रबोधनार्थमत्रोक्तम्, भो जनाः सुहृदां विपन्नेऽपि शुचं मा कुरुत परमार्थदृष्ट्या तेषामपि संयोगो दुःखस्वभावात्। अनुष्टुप्छन्दः ॥१८४॥

अथ मरणे स्वपरयोः शोकं विहायाचरेदित्यत्राह–

(हरिणी)

अपरमरणे मत्वात्मीयानलङ्घ्यतमे रुदन्,
विलपतितरां स्वस्मिन् मृत्यौ तथाऽस्य जडात्मनः।
विभयमरणे भूयः साध्यं यशः परजन्म वा,
कथमिति सुधीः शोकं कुर्यान्मृतेऽपि न केनचित् ॥१८५॥

मानते हैं। उन्हीं को समझाने के लिए यहाँ कहा गया है। हे जन! अपने बन्धु, मित्रों के मरण हो जाने पर भी उनके लिए शोक मत करो क्योंकि वे मरकर शत्रुओं की तरह दुःख देने वाले हो गये हैं। शत्रुओं के लिए तो कोई शोक नहीं करता। परमार्थदृष्टि से उन बन्धु-मित्रों का संयोग भी दुःख स्वभाव वाला है। यहाँ अनुष्टुप् छन्द है ॥१८४॥

उत्थानिका—अपने या अन्य के बन्धुओं के मरण होने पर शोक नहीं करें, यह यहाँ कहते हैं–

अन्वयार्थ—**(अपरमरणे)** दूसरों के मरण में जो **(अलंघ्यतमे)** टाला न जा सके उन्हें **(आत्मीयान्)** अपने **(मत्वा)** मानकर **(तथा)** तथा **(स्वस्मिन् मृत्यौ)** स्वयं की मृत्यु के समय में **(रुदन्)** रोता हुआ **(विलपतितराम्)** बहुत विलाप करता है। **(अस्य)** इस **(जडात्मनः)** जड़ बुद्धि को **(भूयःयशः)** बहुत यश **(परजन्म वा)** अथवा उत्कृष्ट परलोक **(कथं)** कैसे **(विभयमरणे)** भय रहित मरण होने से **(साध्यम्)** साध्य होगा **(इति)** इसलिए **(सुधीः)** बुद्धिमान् जन **(मृते अपि)** मरण होने पर भी **(केनचित्)** किसी प्रकार से **(शोकं)** शोक **(न कुर्यात्)** नहीं करें।

अर्थ—जिनका मरण निश्चित है ऐसे अन्य जनों के मरण में उन्हें अपना मानकर तथा उसी प्रकार अपनी मृत्यु निकट आने पर जो रोता हुआ विलाप (चिल्लाता) करता है, उस जड़ बुद्धि को न यश मिलता है और न दूसरा जन्म अच्छा मिलता है, क्योंकि ये दोनों चीजें निर्भय होकर मरण करने वाले

मरण टले ना टाले, मरते अपने परिजन पुरजन हैं।
विलाप कर-कर रोते खुद भी मरण समय में जड़ जन हैं।
उन्हें सुगति यश किस विध मिलते वीर-मरण के सुफल रहें।
सुधी करें ना शोक मरण में फलतः शिव सुख विमल गहें ॥१८५॥

अन्वयः—अपरमरणे अलंघ्यतमे आत्मीयान् मत्वा तथा स्वस्मिन् मृत्यौ रुदन् विलपतितराम्। अस्य जडात्मनः भूयः यशः परजन्म वा कथं विभयमरणे साध्यम्। इति सुधीः मृते अपि केनचित् शोकं न कुर्यात्।

अपरेत्यादि। अपरमरणे सम्बन्धिजनमृते। अपरेषां पुत्रमित्रकलत्रादीनां मरणमपरमरणं। तस्मिन् सति। ''यद्भावाद्भावगतिः'' इति ईप्। कथम्भूते? अलंघ्यतमे अशक्यप्रतीकारे। प्रकृष्टोऽतिशयेनालङ् घ्यः अलङ् घ्यतमः। 'प्रकृष्टे तमतररूपाः' इत्यनेन तमट्प्रत्ययः। आत्मीयान् मत्वा तानपरान् स्वकीयान् मत्वेति। एते पुत्रमित्रादयो मदीया मृता इति विचार्येत्यर्थः। तथा तथैव। स्वस्मिन् मृत्यौ स्वकीयमरणेऽपि। सम्प्राप्तमरणकाले स्वीयस्य सति चेत्यर्थः। किं करोति? रुदन् विलपतितरां गलगर्जितं कृत्वाऽऽक्रन्दति। अतिशयेन विलपति विलपतितराम्। ''इन्येन्मिङ् किं ङादामद्रव्ये'' इति ङान्तान् मिङन्तादाम्। अस्य एवं कुर्वतः। जडात्मनः मूढस्य। भूयो महान्। यशः गुणाख्यापनम्। परजन्म परलोको मोक्षः। वा समुच्चये। कथं केन प्रकारेण। विभयमरणे भयरहितमरणे समाधिमरणे वीरमरणे वा सति। साध्यं साधितुं योग्यं भवेदिति। विभयमरणेन विना यशो मुक्तिर्वा न भवेदित्यर्थः। इति एवंप्रकारेण विचिन्त्य। सुधीः बुद्धिमान्। मृते अपि मरणे सत्यपि। केनचित् प्रकारेण। शोकं शोकश्चित्तवसादस्तम्। न कुर्यात् खेदखिन्नो मा भूरित्यर्थः ॥१८५॥

अथ सुखीभवनस्योपायमत्र कथयति—

(अनुष्टुप्)

हानेः शोकस्ततो दुःखं लाभाद्रागस्ततः सुखम्।
तेन हानावशोकः सन् सुखी स्यात् सर्वदा सुधीः ॥१८६॥

को ही मिलती हैं। इसलिए मरण हो जाने पर बुद्धिमान् व्यक्ति को किसी तरह का शोक नहीं करना चाहिए।

टीकार्थ—अपने पुत्र, मित्र, स्त्री आदि सम्बन्धी जनों का मरण हो जाने पर, जिनके मरण को टाला नहीं जा सकता था उनको अपना मान-मानकर रोता हुआ विलाप करता है और विचार करता है कि मेरा बेटा, मेरा मित्र आदि मर गया। ऐसे ही अपने मरण का समय आने पर भी रोता है। ऐसा करने वाले मूढ़ात्मा को एक तो गुणों का यशगान होना और दूसरा उत्कृष्ट परलोक मोक्ष मिलना किस प्रकार हो ? अर्थात् नहीं हो सकता है। कारण कि यशगान और उत्कृष्ट जन्म ये दोनों ही चीजें समाधिमरण यानी वीरमरण होने पर साधी जाती हैं। भयरहित मरण हुए बिना यश और मुक्ति दोनों नहीं मिलती, ऐसा विचार करके बुद्धिमान् किसी प्रकार से अपने चित्त को अवसादग्रस्त न करें, खेद-खिन्न नहीं होवें। यहाँ हरिणी छन्द है ॥१८५॥

इष्ट वस्तु जब मिटती तब हो शोक, शोक से दुख होता।
इष्ट वस्तु जब मिलती तब हो राग, राग से सुख होता॥
अतः सुधीजन इष्ट हानि में शोक किये बिन मुदित रहें।
सदा सर्वदा सुखी सर्वथा उन पद में हम नमित रहें॥१८६॥

अन्वय:—हाने: शोक: तत: दु:खं, लाभात् राग: तत: सुखं, तेन हानौ अशोक: सन् सुधी: सर्वदा सुखी स्यात्।

हानेरित्यादि। हाने: वस्तुपर्यायविगमात्। शोकोऽवसाद:। तत: तस्मात् कारणात्। दु:खं स्यादिति सम्बन्धनीय:। ततो दु:खस्य साक्षात्कारणं चेतसि शोकभावोदीरणा पुनरसाक्षात्कारणं बाह्यवस्तुनो व्यय: इति सिध्यति। तथैव सुखं कथमित्याह लाभात् वस्तुप्राप्ते:। राग: मोहपरिणति:। तत: तस्मात् कारणात्। सुखं एतत् सुखं सुखाभासं मोहपरिणते र्विलासात्। तेन कारणेन। हानौ वस्तुव्यपगमे सत्याम्। अशोक: सन् शोकरहितो भवन्। सुधी: बुद्धिमान्। सर्वदा सर्वकालम्। सुखी स्यात् सुखी भवेत्। अत: किमुक्तं भवतीत्याह—मोहाभिभूतेन सुखं परवस्तुनि मृग्यते। वस्तुन: परिणति सदाऽवस्थायिनी न जायते वस्तुस्वभावत्वात्। ततो हानिर्दु:खदायिनी। क्वचित् स्वकर्मविपाकादपि वस्तुहानि: स्यात्। अभिलषित-वस्तुप्राप्तौ च रागस्तृषाभिवर्धक:। तेनापि दु:खं सुखप्रतीतिकरम्। तस्मात् हानावशोकता लाभेऽननुबन्धता च हि सत्सुखस्यावाप्तिता ॥१८६॥

उत्थानिका—अब यहाँ सुखी होने का उपाय कहते हैं—

अन्वयार्थ—(हाने:) हानि से **(शोक:)** शोक होता है **(तत:)** जिससे **(दु:खं)** दु:ख होता है **(लाभात्)** लाभ से **(राग:)** राग होता है **(तत:)** जिससे **(सुखं)** सुख होता है **(तेन)** इस कारण से **(हानौ)** हानि में **(अशोक: सन्)** शोक रहित होता हुआ **(सुधी:)** बुद्धिमान् **(सर्वदा)** सदैव **(सुखी)** सुखी **(स्यात्)** हो।

अर्थ—इष्ट सामग्री की हानि से शोक होता है जिससे दु:ख होता है। इष्ट सामग्री का लाभ होने से राग होता है जिससे सुख होता है। इसलिए बुद्धिमान को इष्ट की हानि होने पर भी शोक रहित होकर सदा सुखी रहना चाहिए।

टीकार्थ—वस्तु की पर्याय का निकल जाना हानि है। मन में अवसाद होना शोक है। इस कारण से दु:ख होता है। इसलिए दु:ख का साक्षात् कारण चित्त में शोकभाव (नो कषाय) की उदीरणा होना है और परोक्ष कारण बाह्य वस्तु का नष्ट हो जाना है, यह सिद्ध होता है। इसी प्रकार सुख कैसे होता है, यह कहते हैं—वस्तु की प्राप्ति के लाभ से राग होता है। यह राग मोह की परिणति है। इसी से सुख होता है। यह सुख सुखाभास होता है क्योंकि यह सब मोह की परिणति का विलास है। इस कारण से वस्तु के नष्ट होने पर शोकरहित होता हुआ बुद्धिमान् पुरुष सर्वकाल सुखी होवे। इस पर से यह कहा गया है कि मोह से अभिभूत प्राणी पर वस्तु में सुख खोजता है। वस्तु की परिणति सदा एक सी नहीं रहती है क्योंकि यह वस्तु का स्वभाव है। इससे हानि दु:ख देने वाली होती है। कभी-कभी अपने कर्म के फल से भी परवस्तु की हानि देखी जाती है और जो इच्छित वस्तु की प्राप्ति में राग होता है। वह भी तृष्णा को बढ़ाने वाला होता है। उससे भी दु:ख ही होता है। इस कारण से हानि में शोक नहीं करना और लाभ में तृष्णा का अनुबन्ध नहीं रखना ही समीचीन सुख की प्राप्ति है ॥१८६॥

अयमेवेहामुत्र सुखोपायः स्थायीति प्रतिपादयति–

(अनुष्टुप्)

सुखी सुखमिहान्यत्र दुःखी दुःखं समश्नुते।
सुखं सकलसन्न्यासो दुःखं तस्य विपर्ययः ॥१८७॥

अन्वयः—सुखी इह अन्यत्र सुखं समश्नुते, दुःखी (इह अन्यत्र) दुःखं (समश्नुते)। सकलसन्न्यासः सुखं तस्य विपर्ययः दुःखम्।

सुखीत्यादि। सुखी वस्तुपरिणतेर्दृष्टा। इह अस्मिन् लोके। अन्यत्र परजन्मनि। सुखं साम्यतां। समश्नुते प्राप्नोति। दुःखी वस्तुपरिणतेस्तुष्टरुष्टः। इहाऽन्यत्रेत्यत्रापि सम्बन्धनीयम्। दुःखं समश्नुते दुःखं लभते। ततः आयाति–सकलसन्न्यासः सकलस्य वस्तुनः सन्न्यासस्त्यागस्तथोक्तः। बाह्याभ्यन्तरपरिग्रहत्याग-परिणतिरित्यर्थः। सुखं सुखस्य लक्षणम्। तस्य सुखलक्षणस्य। विपर्ययः वैपरीत्यम्। दुःखं क्लेशः सकलाप्तिप्रयासः। 'दुःखमेव वा' इति सूत्रानुरोधात् सुखमेव वेत्यर्थापत्तिन्यायेनापि। अनुष्टुप्छन्दः ॥१८७॥

जन्मोत्सवविधायिनो मृत्युनः पक्षपातिन एवेति ब्रूते–

उत्थानिका—इस लोक और परलोक में सुख का यह उपाय स्थायी है, यह कहते हैं–

अन्वयार्थ—(सुखी) सुखी जीव **(इह)** इस लोक में **(अन्यत्र)** और परलोक में **(सुखं)** सुख **(समश्नुते)** प्राप्त करता है **(दुःखी)** दुःखी जीव **(दुःखं)** दुःख प्राप्त करता है। **(सकलसन्न्यासः)** सकलसंन्यास **(सुखं)** सुख है **(तस्य)** उसके **(विपर्ययः)** विपरीत **(दुःखम्)** दुःख है।

अर्थ—सुखी जीव इस लोक तथा परलोक में सुख प्राप्त करता है और दुःखी जीव इस लोक तथा परलोक में दुःख पाता है। इसलिए सर्वप्रकार से त्याग करना सुख है और उसके विपरीत दुःख है।

टीकार्थ—जो वस्तु की परिणति (परिणमन) को मात्र देखने वाला है वह सुखी है। वह यहाँ भी सुखी है और अन्यत्र परलोक में भी सुखी है। जो वस्तु के परिणमन से तुष्ट और रुष्ट होता है वह यहाँ भी दुःखी रहता है और अन्यत्र भी दुःख पाता है। इससे सिद्ध होता है कि बाह्य और अभ्यन्तर त्याग की परिणति ही सकल संन्यास है और वही सुख का लक्षण है। इसके विपरीत सब कुछ प्राप्त करने का प्रयास क्लेश है। जैसे परिग्रह आदि पाँच पापों से ''दुःख ही होता है'' इसलिए तत्त्वार्थसूत्र में ''दुःखमेव वा'' कहा है। उसी प्रकार सकल सन्न्यास से सुख ही होता है अतः अर्थापत्तिन्याय से ''सुखमेव वा'' यह भी लगा लेना चाहिए। यहाँ अनुष्टुप् छन्द है ॥१८७॥

उत्थानिका—जन्मोत्सव करने वाले एक तरह से मृत्यु के पक्षपाती ही हैं, यह कहते हैं–

इस भव में जो सुखी हुवा हो वही सुखी पर भव में हो।
दुखी रहा है इस जीवन में वही दुखी पर भव में हो ॥
उचित रहा है सुख का कारण सकल संग का त्याग रहा।
उससे उलटा दुख का कारण ग्रहण संग का राग रहा ॥१८७॥

(अनुष्टुप्)

मृत्यो मृत्यन्तरप्राप्तिरुत्पत्तिरिह देहिनाम्।
तत्र प्रमुदितान् मन्ये पाश्चात्ये पक्षपातिनः ॥१८८॥

अन्वयः—इह देहिनां मृत्योः मृत्यन्तरप्राप्तिः उत्पत्तिः (स्यात्)। तत्र प्रमुदितान् पाश्चात्ये पक्षपातिनः मन्ये।

मृत्योरित्यादि। इह अस्मिन् जगति। देहिनां दशप्राणधारिणाम्। मृत्योः मरणात्। शरीरादात्मनिर्गमनं मृत्युस्तस्मात्। मृत्यन्तरप्राप्तिः पुनर्मरणोत्पत्तिः। मृतेरन्तरं मृत्यन्तरमागामिमरणं तस्य प्राप्तिरुत्पत्तिस्तथोक्तम्। उत्पत्तिः जन्म। इति जन्मनः परिभाषा। तत्र मृत्योर्मृत्यन्तरप्राप्तौ। प्रमुदितान् हर्षितान् जनान्। पाश्चात्ये पश्चाद्भवे। 'यण् च प्रकीर्तितः इत्यनेन यण् प्रत्ययः। पक्षपातिनः स्वीकुर्वन्तः। मन्येऽहं जानामीत्यर्थः ॥१८८॥

अथ संयमनिधिमनुपालयतां सकलश्रुतज्ञानापन्नानां घोरातिघोरतपस्तपस्यतां मुनीनां सम्यगाराधनाय सम्प्रेरयन्नाह–

अन्वयार्थ—(इह) इस संसार में **(देहिनां)** प्राणियों को **(मृत्योः)** मृत्यु से **(मृत्यन्तर प्राप्तिः)** अन्य मृत्यु की प्राप्ति होना **(उत्पत्तिः)** जन्म है **(तत्र)** इस विषय में **(प्रमुदितान्)** जो प्रमुदित होते हैं उनको **(पाश्चात्ये)** बाद में होने वाली मृत्यु के विषय में **(पक्षपातिनः)** मैं पक्षपाती **(मन्ये)** मानता हूँ।

अर्थ—संसार में एक मरण से अन्य मरण होने को जन्म कहते हैं। इस जन्म के विषय में जो हर्षित होते हैं वे मानो बाद में होने वाली मृत्यु के पक्षपाती हैं, ऐसा मैं मानता हूँ।

टीकार्थ—दश प्राणों को धारण करने वाला प्राणी है। उन प्राणियों के एक मरण से दूसरा मरण होने के बीच का अन्तर जन्म है। शरीर से आत्मा का निकल जाना मृत्यु है। एक मृत्यु के बाद दूसरी मृत्यु होना अर्थात् अगले मरण की प्राप्ति करना जन्म है। जन्म की यह परिभाषा उनको मालूम नहीं है इसलिए इस जन्म के होने पर हर्षित होने वाले शायद बाद में होने वाली मृत्यु को ही स्वीकार कर रहे हैं, मैं यह मानता हूँ अर्थात् वे मानों होने वाली मृत्यु का ही हर्ष मना रहे हैं ॥१८८॥

उत्थानिका—अब संयमनिधि का अनुपालन करने वाले समस्त श्रुतज्ञान को प्राप्त, घोर से भी घोर तप तपने वाले मुनियों को समीचीन आराधना के लिए प्रेरित करते हुए कहते हैं–

मरण प्राप्त कर पुनः मरण को जग प्राणी जो पाते हैं।
उनका वह ही जनम रहा है साधु संत यों गाते हैं॥
किन्तु जन्म में जन्म दिवस में होते मोही प्रमुदित हैं।
मना रहे वे भावी मृति का उत्सव यह मम अभिमत हैं॥१८८॥

अधीत्य सकलं श्रुतं चिरमुपास्य घोरं तपो,
यदीच्छसि फलं तयोरिह हि लाभपूजादिकं।
छिनत्सि सुतपस्तरोः प्रसवमेव शून्याशयः,
कथं समुपलप्स्यसे सुरसमस्य पक्वं फलम् ॥१८९॥

अन्वयः—सकलं श्रुतं अधीत्य चिरं घोरं तपः उपास्य यदि तयोः फलं इह लाभपूजादिकं हि इच्छसि (तर्हि) शून्याशयः सुतपस्तरोः प्रसवं एव छिनत्सि, सुरसं पक्वं फलं अस्य कथं समुपलप्स्यसे?।

अधीत्येत्यादि। सकलं श्रुतं न्यायव्याकरणसिद्धान्ताध्यात्मशास्त्रं द्वादशाङ्गं साम्प्रतं पुण्यसम्प्राप्तम् वा। अधीत्य अध्ययनमननचिन्तनव्याख्यानलेखनादिकं विधाय। चिरमिति विशेषणमुभयत्र योज्यम्। घोरं तपः मासोपवासाभ्रावकाश-कायोत्सर्गरसपरित्यागादिकं। उपास्य आराध्य। चिरं बहुतरकालमाजन्म-पर्यन्तमित्यर्थः। यदि एवं कृत्वापि। तयोः ज्ञानतपसोः। फलं प्रतिफलम्। इह अस्मिन् जन्मनि। लाभपूजादिकं महाप्रभावसम्मानख्यातिविद्यासिद्धिसंघ-वृद्धिप्रभुत्वैश्वर्यरूपम्। हि खलु स्फुटं प्रतीतं वा। इच्छसि वाञ्छसि।

अन्वयार्थ—(सकलं श्रुतं) समस्त श्रुत का **(अधीत्य)** अध्ययन करके **(चिरं घोरं तपः)** चिरकाल तक घोर तप की **(उपास्य)** उपासना करके **(यदि)** यदि **(तयोः)** श्रुत और तप का **(फलं)** फल **(इह)** इस लोक में **(लाभपूजादिकं)** लाभ, पूजा आदि की **(हि)** ही **(इच्छसि)** इच्छा करते हो तो **(शून्याशयः)** तुम बुद्धिशून्य हुए **(सुतपस्तरोः)** श्रेष्ठ तप रूप वृक्ष के **(प्रसवं)** फूल को **(एव)** ही **(छिनत्सि)** नष्ट कर रहे हो **(सुरसं)** अच्छे रसदार **(पक्वं)** पके **(फलं)** फल **(अस्थ)** इस वृक्ष के **(कथं)** कैसे **(समुपलप्स्यसे)** प्राप्त करोगे ?

अर्थ—समस्त शास्त्रों का अध्ययन करके और चिरकाल तक घोरतप करके यदि इस ज्ञान का और तप का फल इस लोक में पूजा-प्रतिष्ठा चाहते हो तो तुम बुद्धिशून्य हो जो इस श्रेष्ठ तपरूपी वृक्ष का फूल ही छेद देना चाहते हो, फिर इस वृक्ष के रसदार पके फल कैसे प्राप्त होंगे?

टीकार्थ—न्याय, व्याकरण, सिद्धांत और अध्यात्म शास्त्र या पुण्य से प्राप्त हुआ जो कुछ वर्तमान में द्वादशांग है उन सबको पढ़कर, मनन, चिन्तन, व्याख्यान, लेखन आदि चिरकाल तक करके और चिरकाल तक मासोपवास, अभ्रावकाशयोग, कायोत्सर्गतप, रसपरित्याग आदि करके यदि इन ज्ञान और तप दोनों का प्रतिफल इस जन्म में महाप्रभाव, सम्मान, ख्याति, विद्यासिद्धि, संघवृद्धि, प्रभुत्व और ऐश्वर्यरूप लाभ पूजादि चाहते हो तो फिर मैं यह मानता हूँ कि तुम जड़ बुद्धि हो। ध्यान,

---

सकल श्रुतामृत पी डाला है चिर से खरतर तप धारा।
उनका फल यदि नाम यशादिक चाह रहा गत-मतिवाला॥
तप तरु में जो लगा फूल है उसे तोड़ता वृथा रहा।
सरस पक्व फल किस विध फिर तू खा पायेगा व्यथा रहा ॥१८९॥

तर्हि अहं मन्य इति शेषः। शून्याशयः जडबुद्धिस्त्वं यतः। सुतपस्तरोः ध्यानाध्ययनवृद्धिंगत-सुतपोवृक्षस्य। सु शोभनं तप एव तरुर्वृक्षस्तस्य। प्रसवं प्रसव उत्पत्तिकालजनितः पुष्पकुड्मलस्यतम्। एव निश्चयेन। छिनत्सि त्रुटसि वाञ्छसि वा। येन किं हानिरित्याह-सुरसं उत्कटरससहितम्। पक्वं फलं परिपूर्णपरिणतपरिणामम्। अस्य सुतपस्तरोः। कथं समुपलप्स्यसे कथं प्राप्तिं करोषि इति प्रश्नः। प्रसवस्य हि फलत्वेन परिणतिरग्रे स्यात्तदभावे सति फलाभावः कारणाभावे कार्याभावत्वात्। अतः प्रसवसदृशं लाभपूजादिकं वाञ्छितस्य शिवसुखसरसफलस्य व्यवच्छेदो निश्चीयते। संयमिनः खलु द्वयमेतद्धनं ज्ञानतपोरूपं लाभपूजादिप्रदाने क्षमं, ज्ञानवीर्यान्तरायावरणक्षयोपशमवर्धनात् पूर्वाप्ताद्वा। ततो वृद्धिंगतंधनमिव तयोः परिणतिः परिणेतृनिर्भरा। ज्ञानस्य समाराधनाफलमभिनवसंवेगो जिनमते दृढप्रत्ययता च हि सदपयोगिता नेतरथा तथा हि तपसश्चारित्रविशुद्धता विज्ञैरभिमता। अर्थात् ज्ञानाराधना दर्शनाराधनाय तपसः आराधना च चारित्रायेति। ज्ञानमाराध्यमाने दर्शनाराधना भाज्या यथा पूर्वोदिता तथा हि तपः समाराधितस्य वृत्ताराधनाऽवबोद्धव्या। ननु चैतद्व्याख्यानुसारेण दृग्वृत्तरूपा हि समाराधना बुद्धिपथगोचरतामेति, तस्मादाराधना चतुर्विधेति वचनं विरुध्यते, नैष दोषः, अनेकान्तमते संक्षेपविस्ताररुचिशिष्याणामवबोधनार्थसंक्षेपविस्ताररुचिशिष्याणा-

---

अध्ययन से बढ़े हुए श्रेष्ठ तपरूपी वृक्ष की उत्पत्ति काल में उत्पन्न पुष्प और कुड्मल को तोड़ रहे हो। जिससे क्या हानि होगी, यह कहते हैं-उत्कृष्ट रस से सहित, परिपूर्ण परिणत फल इस शास्त्र और तप रूपी वृक्ष के कैसे प्राप्त होंगे? यह प्रश्न है। फूल की ही फलरूप से आगे परिणति होती है। फूल के अभाव में फल का भी अभाव होता है क्योंकि कारण के अभाव में कार्य का अभाव होता है। इसलिए फूल के समान लाभ, पूजा आदि की चाहना करने वाले का मोक्षसुख का रसफल छूट गया, यह निश्चय होता है।

संयमी को निश्चित ही ज्ञान और तपरूप ये दोनों धन ही लाभ, पूजा आदि देने में समर्थ होते हैं। ज्ञानावरण और वीर्यान्तराय कर्म के क्षयोपशम की वृद्धि होने से या पहले से ही यह क्षयोपशम प्राप्त होने से ज्ञान और तप की प्राप्ति होती है इसलिए बढ़ते हुए धन की तरह ज्ञान और तप की परिणति परिणेता (आत्मा) पर निर्भर करती है। ज्ञान की आराधना का फल नया-नया संवेग उत्पन्न होना और जिनमत में दृढ़ विश्वास होना ही ज्ञान का सही उपयोग है, अन्य कुछ नहीं तथा तप आराधना का फल बुद्धिमानों ने चारित्र की विशुद्धता ही माना है अर्थात् ज्ञान की आराधना दर्शन की आराधना के लिए है और तप की आराधना चारित्र के लिए है। ज्ञान की आराधना होने पर दर्शन की आराधना भजनीय है अर्थात् होती भी है और नहीं भी होती है। जैसा पहले कहा है उसी प्रकार तप की आराधना करने पर चारित्र की आराधना भजनीय है, यह जानना चाहिए।

शंका—इस व्याख्या के अनुसार तो दर्शन और चारित्र की आराधना ही बुद्धि का विषय बनती हैं फिर आराधना चार प्रकार की है, ऐसे वचन विरोध को प्राप्त होते हैं ?

समाधान—यह कोई दोष नहीं है, अनेकान्त मत में संक्षेप और विस्तार रुचि वाले शिष्यों को

मवबोधनार्थं समाप्यते सर्वोपकारभावत्वात्। किञ्चातिसंक्षेपेण त्वात्माराधना हि प्रवेकाऽन्येषां तत्परिकरत्वात्। अतः एकद्वित्रिचतुरादिभेदेनानेकधाऽऽराधना परमागमेऽवसेया। पृथ्वीच्छन्दः ॥१८९॥

अधुना समासेन ज्ञानतपसोः समाराधनाफलं समुच्यते–

(पृथ्वी)

तथा श्रुतमधीष्व शश्वदिह लोकपंक्तिं विना
शरीरमपि शोषय प्रथितकायसंक्लेशनैः।
कषायविषयद्विषो विजयसे यथा दुर्जयान्
शमं हि फलमामन्ति मुनयस्तपःशास्त्रयोः ॥१९०॥

अन्वयः—तथा इह श्रुतं लोकपंक्तिं विना शश्वत् अधीष्व, (तथा) प्रथितकायसंक्लेशनैः शरीरं अपि शोषय यथा दुर्जयान् कषायविषयद्विषः विजयसे। मुनयः तपःशास्त्रयोः फलं शमं हि आमनन्ति।

तथेत्यादि। तथा तेन प्रकारेण। इह जन्मनि। श्रुतं शास्त्रमागमो वा। लोकपंक्तिं विना लाभपूजाप्रतिष्ठां

ज्ञान कराने के लिए उपदेश प्राप्त होता है क्योंकि सभी पर उपकार करने का भाव रहता है। और दूसरी बात यह है कि अतिसंक्षेप से तो आत्म आराधना ही श्रेष्ठ है, अन्य सब तो इसके परिकर (सहयोगी) हैं। अतः एक, दो, तीन, चार आदि के भेद से अनेक प्रकार की आराधना परमागम से जाननी चाहिए। यहाँ पृथ्वी छन्द है ॥१८९॥

उत्थानिका—अब संक्षेप से ज्ञान और तप की आराधना का फल कहते हैं–

अन्वयार्थ—(तथा) इस कारण से **(इह)** इस पर्याय में **(श्रुतं)** शास्त्र को **(लोकपंक्तिं विना)** लोकख्याति के बिना **(शश्वत्)** निरन्तर **(अधीष्व)** अध्ययन करो **(प्रथितकायसंक्लेशनैः)** खूब कायक्लेश के द्वारा **(शरीरं अपि)** शरीर को भी **(शोषय)** सुखाओ **(यथा)** जिससे **(दुर्जयान् कषायविषयद्विषः)** दुर्जय कषाय-विषयरूपी शत्रुओं को **(विजयसे)** जीत लो **(मुनयः)** मुनिजन **(तपः शास्त्रयोः)** तप और शास्त्र का **(फलं)** फल **(शमं)** शान्ति **(हि)** ही **(आमनन्ति)** कहते हैं।

अर्थ—इस जन्म में शास्त्र का पठन लोकैषणा के बिना निरन्तर करो तथा इस शरीर को भी खूब काय-क्लेश के द्वारा शोषित करो, जिससे कि विषय-कषायरूपी दुर्जय शत्रुओं को जीत पाओ। मुनियों ने तप और शास्त्र का फल परम शान्ति ही कहा है।

टीकार्थ—इस जन्म में उस प्रकार से लाभ पूजा प्रतिष्ठा के बिना निरन्तर शास्त्र-अध्ययन करो

सदा सर्वदा लोकेषण बिन श्रुत का आलोडन कर लो।
उचित तपों से तन शोषण कर निज का अवलोकन कर लो ॥
इन्द्रिय विषयों कषाय रिपुओं जीत विजेता तभी बनो।
तप श्रुत का फल शम है मुनिजन गीत सुनाते सभी सुनो ॥१९० ॥

विना। शश्वदनवरतम्। अधीष्व अध्ययनं कुरु। तथाऽत्रापि योज्यम्। तेन प्रकारेण। प्रथितकायसंक्लेशनैः प्रसिद्धकायक्लेशादितपोभिः। प्रथितानि प्रसिद्धानि च तानि कायसंक्लेशनानि विविक्तशय्यासनोपवासादीनि तथोक्तं तैः। शरीरं देहम्। अपि तथा हि। शोषय शोषणं विधेहि। यथा येन प्रकारेण। दुर्जयान् शक्तिमापन्नान्। दुर्दुःखेन जीयत इति दुर्जयस्तान्। कान् तान्? कषाय-विषयद्विषः कषायपञ्चेन्द्रियविषयरूपशत्रून्। कषायाः क्रोधादयः प्रसिद्धाः, विषया पञ्चेन्द्रियार्थाः। कषायाश्च विषयाश्च कषायविषयास्त एव द्विषः शत्रवस्तान्। विजयसे विजयनं कुरुषे त्वं हे भव्य!। विषयकषायविजयनार्थं हि तपःश्रुताराधना यदि स्यात् कुतः स्थानं लोकपंक्तेः। का नाम लोकपंक्तिः? मायालोभवशीकृतात्मनो लोकरञ्जनाय व्यापृतिर्लोकपंक्तिः। यदुक्तम्– ''आराधनाय लोकानां मलिनेनान्तरात्मना। क्रियते या क्रिया बालैर्लोकपंक्तिरसौ मता॥'' मुनयः गणधरदेवादयः। तपःशास्त्रयोः तपःज्ञानाराधनयोः। फलं परिणामः सारो वा। शमं आत्मनः साम्यम् मोहक्षोभ-विनाशोत्पादिता। हि निश्चयेन। आमनन्ति कथयन्ति। मन् माने लट्। शमं हि स्वात्मनो धर्मश्चारित्राभिधानेनाभिधीयते। ''चारित्तं खलु धम्मो धम्मो जो सो समो त्ति णिद्दिट्ठो'' इति वचनात्। व्यवहारनिश्चयचारित्रं हि फलं तपःशास्त्रयोरित्या-वेदितम्। अर्थान्तरेण चारित्राराधना हि सर्वज्येष्ठा, यतो यामाराध्यमाने सर्वाराधना-फलत्वात्। उक्तञ्च–

''अहवा चारित्ताराहणाए आराहियं हवे सव्वं।
आराहणाए सेसस्स चारित्ताराहणा भज्जा॥'' ॥१९०॥

और उस प्रकार से ही प्रसिद्ध कायक्लेश आदि तपों के द्वारा जिनमें विविक्त शय्यासन, उपवास आदि प्रमुख हैं, उनसे शरीर को सुखाओ जिससे क्रोधादि कषाय और पंचेन्द्रिय के विषयरूप शत्रु जो बहुत दुःख से जीते जाते हैं उनको तुम जीत सको। विषय, कषायों को जीतने के लिए वास्तव में तप, श्रुत की आराधना यदि है तो फिर उसमें लोकैषणा के लिए स्थान कैसे हो सकता है ? अर्थात् नहीं हो सकता है।

शंका—लोकपंक्ति क्या कहलाती है ?

समाधान—माया और लोभ के वशीभूत आत्मा का लोकरंजन हेतु जो व्यापार होता है वह लोकपंक्ति है। कहा भी है–''अन्तरात्मा की मलिनता से लोगों की आराधना प्राप्त करने के लिए जो क्रिया अज्ञानियों के द्वारा की जाती है वह लोकपंक्ति मानी गई है।''

गणधरदेव आदि इस तप और ज्ञान आराधना का फल आत्मा का साम्यभाव कहते हैं जो मोह और क्षोभ के विनाश से उत्पन्न होता है, शम भाव स्व आत्मा का धर्म है जो चारित्र नाम से कहा जाता है। कहा भी है–''चारित्र ही धर्म है जो समभावरूप कहा है।'' तप और शास्त्र का फल व्यवहार और निश्चय चारित्र ही है। अर्थान्तर से कहा जाये तो चारित्र की आराधना ही सभी में उत्कृष्ट है क्योंकि चारित्र की आराधना करने पर सभी आराधनाएँ फलती हैं। कहा भी है–

''अथवा चारित्र की आराधना करने पर सभी आराधनाएँ हो जाती हैं किन्तु शेष आराधनाओं को करने पर चारित्र की आराधना भजनीय है अर्थात् हो भी सकती है और नहीं भी होती है ॥१९०॥

क्वचित् क्वचित् स्त्रीरूपतत्कामुकचित्रादिभोग्यवस्तुलोकनाभिलाषा मुहुर्जायते तदपि महापातकीत्यत्राचष्टे–

(वसन्ततिलका)

दृष्ट्वा जनं व्रजसि किं विषयाभिलाषं
स्वल्पोप्यसौ तव महज्जनयत्यनर्थम्।
स्नेहाद्युपक्रमजुषो हि यथातुरस्य
दोषो निषिद्धचरणं न तथेतरस्य ॥१९१॥

अन्वयः—जनं दृष्ट्वा किं विषयाभिलाषं व्रजसि, असौ स्वल्पः अपि तव महत् अनर्थं जनयति, यथा हि आतुरस्य स्नेहाद्युपक्रमजुषः दोषः निषिद्धचरणं तथा न इतरस्य।

दृष्ट्वेत्यादि। जनं सरागिप्राणिनम्। दृष्ट्वा अवलोक्य। किं इति प्रश्ने। विषयाभिलाषं विषयतृषाम्। व्रजसि प्राप्नोसि। असौ विषयाभिलाषः। स्वल्पः क्वचित् असत्समोऽवसरप्राप्तौ। अपि सम्भावनायाम्। तव श्रमणस्य विषयकषायविजयनपरस्य। महत् अत्यधिकम्। अनर्थं पापम् विपत्तिं वा। न अर्थः अनर्थः इति

उत्थानिका—कभी-कभी स्त्रियों के रूप, उनके कामुक चित्र आदि भोग्य वस्तुओं को देखने की अभिलाषा बार-बार उत्पन्न होती है, वह महापाप कराने वाली है, यह कहते हैं–

अन्वयार्थ—**(जनं)** लोगों को **(दृष्ट्वा)** देखकर **(किं)** क्यों **(विषयाभिलाषं)** विषयों की अभिलाषा **(व्रजसि)** करता है **(असौ)** यह इच्छा **(स्वल्पः अपि)** थोड़ी भी **(तव)** तुमको **(महत् अनर्थं)** महान् अनर्थ **(जनयति)** उत्पन्न कराने वाली है **(यथा)** जैसे **(हि आतुरस्य)** रोगी को **(स्नेहाद्युपक्रमजुषः)** घी आदि से उपचार **(दोषः)** दोष है **(निषिद्धचरणं)** निषिद्ध आचरण **(तथा)** उस प्रकार से **(न इतरस्य)** अन्य को दोषकारक नहीं है।

अर्थ—तुम लोगों को देखकर विषयों की अभिलाषा क्यों करते हो? यह विषयाभिलाषा थोड़ी भी बड़े-बड़े पाप उत्पन्न कराती है। जैसे रोगी को घी आदि का सेवन दोष उत्पन्न करता है वैसा दोष अन्य के लिए नहीं होता है।

टीकार्थ—सरागी प्राणियों को देखकर विषयों की तृष्णा क्यों करता है? अरे श्रमण! तुम तो विषय-कषायों के विजयी हो। यह विषयाभिलाषा तुम्हारे अन्दर थोड़ी भी, नहीं के बराबर भी, अवसर पाकर होने वाली भी जब कभी यदि उत्पन्न होती है तो वह अत्यधिक पाप या विपत्ति को उत्पन्न कराती है। इसी को दृष्टान्त देकर कहते हैं–जैसे कोई बुखार रोग से पीड़ित है तो उसके लिए घी, दूध, तेल

विषय रसिक को लखकर क्यों कर विषय भाव मन में लाते।
भले अल्प हो विषय भाव अति अनर्थ जीवन में लाते॥
उचित रहा यह तैलादिक तो अपथ्य रोगी को जैसे।
निषिद्ध मानो निषिद्ध ना है सशक्त भोगी को वैसे॥१९१॥

नस्य तत्पुरुषसमासे 'स्वरेऽक्षरविपर्ययः' इति सूत्रेणाक्षरविपर्ययो विज्ञेयः। तम्। अत्र बहुब्रीहिसमासो न युज्यतेऽसिद्धत्वात् तस्य। जनयति उत्पादयति। दृष्टान्तमाह–यथोपमायाम्। हि निश्चितम्। आतुरस्य ज्वररोगाक्रान्तस्य। कथं भूतस्य? स्नेहाद्युप-क्रमजुषः घृतदुग्धदध्यादिसेवनप्रीतस्य। स्नेहादेः घृतदुग्ध-तैलादेरपथ्यकारिणः उपक्रम-मारम्भं सेवनं वा जुषते प्रीत्या सेवते स स्नेहाद्युपक्रमजुष्। तस्य। दोषः कष्टप्रदः। निषिद्धचरणं निषिद्धानुष्ठानम्। निषिद्धं चरणं यस्मिन् कर्मणि तत्। तथा न इतरस्य स्वस्थ-चेतस्कस्य। किमुक्तं भवति–आह–यथाऽस्थिरचित्तस्य विषयाभिलाषा महतीं हानिं जनयति हीयमान-लेश्यावदनाचारकारणत्वात्, न तथा स्थिरीकृतात्मतत्त्वस्य स्वस्थभूतस्य वर्धमानलेश्यावद् वृषवर्धन-कारणत्वात्। अथवा यथाऽसौ विषयाभिलाषः श्रमणानामपथ्यसेवनवद्दोषकृत्तथा नेतरस्य गृहचारिणः तस्य तु निम्नभूमेरवस्थानात्। अस्मिन्नर्थे श्रमणस्य भवरोगातुरस्य स्नेहो रागोऽनर्थकर इति योज्यम्। वसन्ततिलकावृत्तम् ॥१९१॥

आत्मज्ञानामृतमापीयापि संस्कारवशाद् मध्ये मध्ये विषयविषपानाय रोचत इति विस्मापयन्नाह–

आदि अपथ्यकारी हैं। इन अपथ्य (नहीं खाने योग्य)का यदि वह प्रीति से सेवन करता है यानी खाता है तो उसके लिए यह बहुत कष्टदायी होता है। उसी रोगी को यह भोजन निषिद्ध है किसी स्वस्थ चित्त वाले को नहीं। इस उदाहरण से यह कहा गया है कि अस्थिर चित्त वालों को विषयाभिलाषा जितनी महान् हानि करती है उतनी अपने आत्मतत्त्व में मन को स्थिर करने वाले स्वस्थभूत (आत्मस्थित) को नहीं करती है क्योंकि अस्थिर चित्त वाला हीयमान लेश्या (गिरती हुई लेश्या) वाला होता है उसके लिए यह थोड़ीभी विषयाभिलाषा अनाचार का कारण बन जाती है किन्तु स्थिरचित्तवाला वर्धमान लेश्या वाला होता है उसके लिए थोड़ी सी विषयाभिलाषा धर्म बढ़ाने के लिए कारण बन जाती है। तात्पर्य यह है कि यदि स्थिरमना कभी कोई विषयों सम्बन्धी देखने आदि का विकल्प करता है तो वह शीघ्र ही अपने मन के अतिचार को जान लेता है और आत्मगर्हा करता हुआ पहले से अधिक उत्कृष्ट ध्यान, सामायिक आदि में लग जाता है, किन्तु अस्थिरचित वाला उन्हीं विकल्पों में उलझा रहकर पाप में प्रवृत्त हो जाता है।

अथवा इस उदाहरण का दूसरा अर्थ यह है कि–जिस प्रकार यह विषयाभिलाषा श्रमणों के लिए अपथ्यसेवन के समान दोष करने वाली है, उस प्रकार गृहस्थों के लिए नहीं है क्योंकि वे तो निचली भूमिका में स्थित हैं ही। संसाररूपी रोग से पीड़ित श्रमण को यह थोड़ा भी स्नेह या राग अनर्थ करने वाला है, यह अर्थ जानना। यहाँ वसन्ततिलका छन्द है ॥१९१॥

उत्थानिका–आत्मज्ञान का अमृत पीकर भी संस्कार के कारण बीच-बीच में विषयरूपी विष का पान करने की रुचि होती है, इस प्रकार विस्मय दिखाते हुए कहते हैं–

(हरिणी)

अहितविहितप्रीतिः प्रीतं कलत्रमपि स्वयं,
सकृदपकृतं श्रुत्वा सद्यो जहाति जनोऽप्ययम्।
स्वहितनिरतः साक्षाद्दोषं समीक्ष्य भवे भवे,
विषयविषवद्ग्रासाभ्यासं कथं कुरुते बुधः ॥१९२॥

अन्वयः—अयं जनः अपि अहितविहितप्रीतिः सकृद् अपकृतं श्रुत्वा प्रीतं कलत्रं अपि सद्यः स्वयं जहाति। बुधः स्वहितनिरतः साक्षात् दोषं भवे भवे समीक्ष्य विषयविषवद्ग्रासाभ्यासं कथं कुरुते?

अहितविहितेत्यादि। अयं जनः अज्ञानी। अपि आश्चर्ये। कथम्भूतः सः? अहितविहितप्रीतिः अहिताचरणाचरितः। अहिते पापे दुराचरणे वा विहिता सम्पादिता प्रीतिर्येन सः। सकृद् एकवारम्। अपकृतं अनाचरणम्। अपगतं निष्कासितं कृतं कृत्यं यस्मात् यस्मिन् वा स तथोक्तस्तम्। श्रुत्वा साक्षादसाक्षाद्वा। श्रुतिपथं कृत्वा। प्रीतं वल्लभं प्रियं वा। कलत्रं स्त्रीं नवोढां वा प्रौढां वा। अपि निश्चयार्थे। सद्यः शीघ्रम्।

अन्वयार्थ—(अयं) यह **(जनः)** मनुष्य **(अपि)** भी **(अहितविहितप्रीतिः)** जिसने अहित में अपनी प्रीति बना रखी हो वह **(सकृद्)** एक बार भी **(अपकृतं)** दुराचार को **(श्रुत्वा)** सुनकर **(प्रीतिं कलत्रं)** प्यारी स्त्री को **(अपि)** भी **(सद्यः)** शीघ्र **(स्वयं)** स्वयं **(जहाति)** छोड़ देता है **(बुधः)** बुद्धिमान पुरुष **(स्वहितनिरतः)** जो स्वहित में लगा है **(साक्षात्)** यह प्रत्यक्ष दिखने वाले **(दोषं)** दोषों को **(भवे-भवे)** भव-भव में **(समीक्ष्य)** देखकर **(विषयविषवद्ग्रासाभ्यासं)** विषयरूपी विष वाले ग्रासों का अभ्यास **(कथं)** कैसे **(कुरुते)** करता है।

अर्थ—स्वयं अहित का आचरण करने वाला यह मनुष्य यदि एक बार भी अपनी प्यारी स्त्री के दुराचार को सुन लेता है तो वह उसे भी छोड़ देता है किन्तु अपने आत्महित में संलग्न ज्ञानी आत्मा सामने दिखने वाले इन विषयों के दोषों को प्रत्येक पर्याय में देखकर विषयरूपी विष वाले ग्रासों का सेवन कैसे कर लेता है ? यह आश्चर्य है!

टीकार्थ—आश्चर्य है कि कोई अज्ञानी व्यक्ति भी जो स्वयं पाप में या दुराचरण में आसक्ति रखता हो किन्तु अपनी अति प्यारी स्त्री के अनाचरण (पाप) को एक बार सुन भी लेता है तो वह नवविवाहित हो या प्रौढ़ हो उस स्त्री को बिना सोच-विचार के दूसरे लोगों की अपेक्षा किए बिना छोड़

अहित विधायक विषयों में रत विषयीजन भी त्याग करें।
निज प्रमदा यदि पर पुरुषन में एक बार भी राग करें॥
भव-भव में वे जिनने परखे विषय विषम विष से सारे।
निज हित में रत बुध किस विध फिर विषयों में रत हो प्यारे ॥१९२॥

वितर्केण विना। स्वयं परं लोकमनपेक्ष्य। जहाति त्यजति। स्वयमितिशब्दो जनस्य विशेषणेऽपि योज्यम्। अर्थात् जनः स्वयमपि अहितविहितप्रीतिः सन्नपि कलत्रमपकृतं श्रुत्वा जहातीत्यर्थः। बुधः हिताहितान्वेषणवान् जनः। कथम्भूतः? स्वहितनिरतः स्वकीयहितरूपाचरणसंलग्नः। साक्षात् प्रत्यक्षेण। दोषं विषय-सम्भावितहानिम्। भवे भवे प्रतिपर्याये नरकपशुदेवमनुष्ये। समीक्ष्य सम्यग्विचिन्त्य हिंसाशत्रुताप-मानादिकमठरावणादिवत्। विषयविषवद्ग्रासाभ्यासं विषयाः स्पर्शादय एव विषवन्तो ग्रासा तेषामभ्यासं मुहुरशनं सेवनं सामीप्यं वा तथोक्तम्। कथं कुरुते कथं सेवत इत्याश्चर्यम्। सकृत्स्त्रीदोषं श्रुत्वा तां त्यजति न विषयान्, तद्दोषान् जानन्नपीत्याश्चर्यम् ॥१९२॥

संस्कारवशादेवमभिलाषाजन्यमानेऽप्येवं भाव्यतामित्याह–

(शार्दूलविक्रीडित)

आत्मन्नात्मविलोपनात्मचरितैरासी दुरात्मा चिरं
स्वात्मा स्याः सकलात्मनीनचरितैरात्मीकृतैरात्मनः।
आत्मेत्यां परमात्मतां प्रतिपतन् प्रत्यात्मविद्यात्मकः
स्वात्मोत्थात्मसुखो निषीदसि लसन्नध्यात्ममध्यात्मना ॥१९३॥

देता है। फिर तो अपने हित के आचरण में लगा हुआ, हित-अहित को अच्छी तरह जानने वाला प्रत्यक्ष से विषयों से होने वाली संभावित हानियों को नरक, पशु, देव और मनुष्य की प्रत्येक पर्याय में देखता है। इन विषयों के दोषों से होने वाली हिंसा, शत्रुता, अपमान आदि को देखता है जैसा कि कमठ ने अपनी भाभी के साथ किया, रावण ने सीता के साथ किया। और यह सब देखकर विचार करके भी स्पर्श आदि विष वाले ग्रास को सेवन करने की या उनका सामीप्य पाने की इच्छा कैसे कर लेता है? यह आश्चर्य की बात है। एक बार स्त्री के दोष को सुनकर उस स्त्री को छोड़ देता है किन्तु जिनके कारण दोष हुए उन विषयों को नहीं छोड़ता है। आश्चर्य की बात तो यह है कि वह उन विषयों के दोषों को जानता भी है।

विशेषार्थ–प्रत्येक भव में चाहे वह नरक की पर्याय हो या देव हो या मनुष्य हो या पशु हो, स्त्री की आसक्ति के कारण होने वाले फल से कमठ का कितना अपमान हुआ। रावण को कितना अपयश मिला और उसी कारण मरा। कमठ ने कई भवों तक अपने भाई से शत्रुता धारण कर ली। अपने भाई के ऊपर पाषाण की चट्टान गिराकर उसे मार डाला और यह सब आज भी दिखाई दे रहा है ॥१९२॥

दुराचार कर दूषित निज को कर चिर बहिरातम रुलता।
अब तुम मुनि बन निज चारित जल से अंतर आतम धुलता ॥
मिले आत्म से परमातम पद मिलता केवलज्ञान महा।
आतम से आतम में आत्मिक सुख का कर अनुपान अहा ॥१९३॥

अन्वयः—आत्मन्! आत्मविलोपनात्मचरितैः चिरं दुरात्मा आसीः, आत्मनः आत्मीकृतैः सकलात्मनीनचरितैः स्वात्मा स्याः, आत्मेत्यां परमात्मतां प्रतिपतन् प्रत्यात्मविद्यात्मकः (सन्), अध्यात्मना अध्यात्मं लसन् स्वात्मोत्थात्मसुखः निषीदसि।

आत्मन्नेत्यादि। आत्मन् हे मम चित्त! आत्मार्थं सम्बोधनमेतत्। आत्मविलोपनात्मचरितैः विषयाटवीभ्रमणकारणदुःप्रवृत्तिभिः। आत्मानो विलोपनं विशेषेण मोहकषायद्वारेण विभावपरिणमन-मेवात्मचरितं स्वकीयानुष्ठानं तैः। चिरं गणनातिगकालपर्यन्तम्। दुरात्मा बहिरात्मा। आसीः अभवस्त्वम्। 'अस् भुवि' इति लङ् । आत्मनः निजात्मस्वभावस्य। आत्मीकृतैः स्वयंकृतैः। सकलात्मनीनचरितैः सम्पूर्णात्महितकारणभूतकार्यैः। सकलानि निश्चयव्यवहाररूपाणि च तानि आत्मने हितानि आत्मनीनानि ''विश्वजनात्मभोगान्तात्खः'' इत्यनेन खप्रत्ययः। च तानि चरितानि गुप्तिसमितिव्रतादीनि तैः। स्वात्मा अन्तरात्मा। सुष्ठु शोभन आत्मा स्वात्मा। स्याः भवेस्त्वम्।''अस् भुवि'' इति वि० लि०। आत्मेत्यां आत्मना

उत्थानिका—संस्कारों के कारण यदि ऐसी अभिलाषा उत्पन्न होवे भी तो इस प्रकार भावना करनी चाहिए—

अन्वयार्थ—(आत्मन्) हे आत्मन्! **(आत्मविलोपनात्मचरितैः)** अपनी आत्मा का विलोपन करने वाले अपने चारित्र के द्वारा **(चिरं)** चिरकाल तक **(दुरात्मा)** तुम दुष्ट आत्मा **(आसीः)** रहे हो **(आत्मनः)** आत्मा के **(आत्मीकृतैः)** आत्मा द्वारा किए गए **(सकलात्मनीनचरितैः)** सभी का हित करने वाले चारित्र के द्वारा **(स्वात्मा)** अच्छा आत्मा **(स्याः)** होओ। **(आत्मेत्यां)** आत्मा को ही पाने योग्य **(परमात्मतां)** परमात्मपने को **(प्रतिपतन्)** प्राप्त करते हुए **(प्रत्यात्मविद्यात्मकः)** आत्मिक विद्या वाले होते हुए **(अध्यात्मनां)** आत्माधीन होने से **(अध्यात्मं लसन्)** अपने आत्मा में शोभा पाते हुए **(स्वात्मोत्थात्मसुखः)** अपनी आत्मा में उत्पन्न सुख में **(निषीदसि)** ठहरो।

अर्थ—हे आत्मन्! अपनी आत्मा को भुलावे में डालने वाले अपने ही दुश्चरित्र के द्वारा तू चिरकाल तक दुरात्मा बना रहा। अब आत्मा का आत्मा द्वारा किये गए, सर्वात्माओं को हितकारी चरित्र के द्वारा तुम सुआत्मा (स्वात्मा) बनो। आत्मा के द्वारा ही पाने योग्य परमात्म दशा को प्राप्त करते हुए केवलज्ञान स्वरूप होते हुए अपनी आत्मा से अपनी आत्मा में ही शोभापाते हुए अपनी आत्मा से उत्पन्न सुख में रुके रहो।

टीकार्थ—हे आत्मन्! हे मेरे चित्त! यहाँ अपनी आत्मा को ही संबोधन किया गया है। विषय-रूपी जंगल में भ्रमण के कारणभूत दुःप्रवृत्तियों के द्वारा गणनातीत कालपर्यन्त तू बहिरात्मा बना रहा है। विशेषरूप से मोह और कषाय के द्वारा वैभाविक परिणमन ही आत्मा का अपना दुश्चरित्र है। अब निज आत्मस्वभाव के स्वयं किए हुए सम्पूर्ण आत्महित के कारणभूत कार्यों के द्वारा तुम अन्तरात्मा होओ। समस्त निश्चय-व्यवहाररूप आत्मा के लिए हितकर चारित्र, गुप्ति, समिति, व्रत आदि हैं उनके द्वारा अन्तरात्मा होओ। आत्मा के द्वारा प्राप्त करने योग्य अर्हत् अवस्था को प्राप्त करते हुए केवलज्ञान

एत्यां प्राप्यां ताम्। आत्मना प्राप्तुं योग्यामित्यर्थः। परमात्मतां अर्हदवस्थाम्। परमश्चासौ आत्मा परमात्मा तस्य भावः परमात्मता ताम्। प्रतिपतन् प्राप्नुवन्। प्रत्यात्मविद्यात्मकः केवलज्ञानरूपः। आत्मानं प्रति वर्तते सा प्रत्यात्मविद्या। तदेवात्मा तथोक्तः। केवलज्ञानी सन्नित्यर्थः। अध्यात्मना अध्यात्मयोगेन तृतीयतुरीय-शुक्लध्यानेन। अध्यात्मं आत्मनि अधिकृत्य वर्त्तनम्। लसन् शोभमानः सन्। स्वात्मोत्थात्मसुखः सर्वकर्म-कलङ्कपङ्कोत्तीर्णात्माव्याबाधानन्तसुखतृप्तः। स्वात्मन उत्थमुद्भूतं यदात्मसुखमव्याबाधरूपं यस्य सः। निषीदसि तिष्ठसि पुनर्न भुवमवतरतीति भावः। शार्दूलविक्रीडितवृत्तम् ॥१९३॥

एषा परमात्मता यतो देहाभावे सञ्जाता ततो देहकदर्थनार्थमुपदिशन्नाह–

अनेन सुचिरं पुरा त्वमिह दासवद्वाहित-
स्ततोऽनशनसामिभक्तरसवर्जनादिक्रमैः ।
क्रमेण विलयावधि स्थिरतपोविशेषैरिदं
कदर्थय शरीरकं रिपुमिवाद्य हस्तागतम् ॥१९४॥

रूप हो जाओ। जो आत्मा में ही रहती है वह प्रत्यात्मविद्या केवलज्ञान है। फिर अध्यात्म योग से अर्थात् तृतीय-चतुर्थ शुक्लध्यान से अपनी ही आत्मा में शोभायमान होते हुए स्व आत्मा से उत्पन्न समस्त कर्म कलंक के पंक से पार आत्मा के अव्याबाधरूप आत्मसुख वाले हुए सदैव उसी में विराजमान रहो; जिससे पुनः पृथ्वी पर अवतरण न होवे, यह भाव है। यहाँ शार्दूलविक्रीडित छन्द है ॥१९३॥

उत्थानिका—यह परमात्मपना चूँकि देह के अभाव में उत्पन्न होता है इसलिए देह को क्षीण करने के लिए उपदेश देते हुए कहते हैं–

अन्वयार्थ—(त्वं) तुम **(इह)** इस संसार में **(पुरा)** प्राक् काल में **(सुचिरं)** बहुत काल तक **(अनेन)** इस शरीर से **(दासवद्)** दास के समान **(वाहितः)** ढोये गये हो। **(ततः)** इसलिए **(स्थिरतपोविशेषैः)** स्थिर तप विशेषों के द्वारा **(अनशन-सामिभक्त-रसवर्जनादिक्रमैः)** अनशन, ऊनोदर, रसपरित्याग आदि के क्रम से **(क्रमेण)** क्रम पूर्वक **(विलयावधि)** मरण पर्यन्त **(इदं)** इस **(शरीरकं)** शरीर को **(हस्तागतं)** हाथ में आए **(रिपुं इव)** शत्रु की तरह **(अद्य)** आज ही **(कदर्थय)** पीड़ित करो।

अर्थ—चूँकि तुम संसार में इस शरीर के कारण दास के समान भ्रमण कराये गए हो इसलिए अब अनशन, ऊनोदर, रसत्याग आदि तप के क्रम से क्रमपूर्वक स्थिरता से तप विशेष करते हुए इस शरीर

दास बनाकर तन ने अब तक कष्ट दिया अति कटुतर है।
अनशनादि तप से इसको अब कृश कृशतर कर अवसर है॥
जब तक तन की स्थिति है तब तक ले लो तुम इससे बदला।
स्वयं शत्रु आ मिला मिटा ले भीतर का बाहर बल ला ॥१९४॥

अन्वयः—(यतः) त्वं इह पुरा सुचिरं अनेन दासवद् वाहितः ततः स्थिरतपोविशेषैः अनशनसामिभक्त-रसवर्जनादिक्रमैः क्रमेण विलयावधि इदं शरीरकं हस्तागतं रिपुं इव अद्य कदर्थय।

अनेनेत्यादि। यतः यस्मात् कारणात् इत्यनुक्तेऽपि योज्यं तत् सम्बन्धात्। त्वं हे भव्य! इह अस्मिन् संसारे। पुरा प्राक्काले सुचिरं चिरकालपर्यन्तम्। अनेन शरीरेण। दासवद् भृत्य इव। वाहितः परिभ्रामितः। त्वमात्मा इन्द्रः स्वामी तथापि इन्द्रियात्मकशरीरेण जाड्येन भृत्येन वाहितोऽनुचरितः। यथान्तः कलुषितो दुष्टो नियोगी सर्वानर्थोत्पादनद्वारेण पार्थिवायते तथेदं शरीरम्। स्ववशीकृतराजकोशद्रव्येण शरीरेण कामक्रोध-भटैरात्मवित्तं विनाशितम्। ततः तस्मात् कारणात्। स्थिरतपोविशेषैः दृढधारणान्विततपोविधान-विशेषैः। सावधानेन कृतव्रतपरिकर्मा हि नीत्याऽऽगमविहितविधानेन योजनाबद्धमहीधर इव निगूढघातनकुशलो यत्कर्म विनियमयति तत्स्थिरतपः प्रोच्यते। तस्य विशेषोऽन्यप्रयोजनाभावस्तैः। किमात्मकैः? अनशनसामि-भक्तरसवर्जनादिक्रमैः अनशनावमौदर्यरसपरित्यागादिक्रमैः। अयमेव क्रमः सम्यगुपन्यस्तोऽन्यथा हानि-प्रत्ययात्। तत्रानशनं नवकोटिभिरुपवसनम्। सामिभक्तमीषद्भोजनम्। 'सामि इत्यर्द्धवाचि झि संज्ञम्'। रसवर्जनं यथालब्धम्। अनशनमादौ येषां क्रमे तत्तैः। क्रमेण कालविभाजनेन। विलयावधि मरणपर्यन्तम्। इदं प्रत्यक्षीभूतम्। शरीरकं कुत्सितं शरीरम्। कुत्सार्थे कत्यः। 'कुत्साऽज्ञातयोः' इतिवचनात्। कथमिव? हस्तागतं रिपुं इव सहजं स्वयं प्राप्तशत्रुमिव। अद्य वर्तमानसमये। कदर्थय कदर्थनं कुरु पीडय मोहविनाशाय इत्यर्थः। 'शठे शाठ्यं समाचरेत्' इति नीतिरिह प्रयोक्तव्या। पृथ्वीच्छन्दः ॥१९४॥

को मरण तक ले जाओ और हाथ में आए शत्रु की तरह इस शरीर को क्षीण करो।

टीकार्थ—तुम आत्मा हो। आत्मा इन्द्र है, स्वामी है फिर भी इन्द्रियात्मक शरीर जड़ है। और इस जड़ नौकर ने इस आत्मा को चलाया है। जिस प्रकार अन्तरंग में कोई कलुषित दुष्ट व्यक्ति नियोगी (मंत्री) सभी प्रकार के अनर्थ उत्पन्न कराके राजा बन बैठे उसी प्रकार यह शरीर है। इस दुष्ट ने राजकोष का सारा द्रव्य अपने वश में कर लिया है अर्थात् शरीर ने आत्मा के गुणशक्ति कोषों को अपने वश में कर लिया है तथा दुष्ट शरीर ने काम, क्रोध योद्धाओं के माध्यम से आत्मधन को विनष्ट कर दिया है। इस कारण से दृढ़ धारणा से युक्त विशेष तप-विधान के द्वारा सावधानी के साथ किसी अच्छे व्रतसमूह का आचरण करने वाला ही आगम में कही नीति से योजनाबद्ध राजा की तरह उसके गूढ़ स्थान का घात करने में कुशल आत्मा जो कर्म को अपने वश में कर लेता है वह स्थिर तप कहा जाता है। उस तप का विशेष यही है कि उसके लिए अन्य प्रयोजन का अभाव है। उस तप का क्रम जो कहा गया है उसी रूप से करना उचित है अन्यथा हानि हो सकती है। सर्वप्रथम उसमें अनशन तप है जिसमें नवकोटि से आहारत्याग रूप उपवास होता है। फिर आधा भोजन करने रूप ऊनोदर तप है। फिर रस त्याग तप है। इत्यादि तपों को क्रम से कालविभाजन के साथ करते हुए मरण पर्यन्त तक करना चाहिए। अब यह शरीर रूपी शत्रु सहज तुम्हारे हाथ में आ गया है इसलिए वर्तमान समय में अब इसे पीड़ित रहने दो ताकि शरीरगत मोह का विनाश हो। ''शठे शाठ्यं समाचरेत्'' अर्थात् दुष्ट के साथ दुष्टता का व्यवहार करो, यह नीति शरीर के लिए लागू करनी चाहिए। यहाँ पृथ्वी छन्द है ॥१९४॥

अथ शरीरमेव सर्वानर्थानामाद्यकारणमिति प्रतिपादयति–

(वसन्ततिलका)

आदौ तनोर्जननमत्र हतेन्द्रियाणि
कांक्षन्ति तानि विषयान् विषयाश्च मान।
हानिप्रयासभयपापकुयोनिदाः स्यु-
र्मूलं ततस्तनुरनर्थपरम्पराणाम् ॥१९५॥

अन्वयः—मान! आदौ तनोः जननं अत्र तानि हतेन्द्रियाणि विषयान् काङ्क्षन्ति, च विषयाः हानिप्रयासभयपापकुयोनिदाः स्युः, ततः तनुः अनर्थपरम्पराणां मूलम्।

आदावित्यादि। मान! मानः स्वाभिमानः अस्याऽस्तीति मानः स्वाभिमानजन! इत्यर्थः। 'ओऽभ्रादिभ्य' इत्यस्त्यो मत्वर्थीयः। तस्य सम्बोधनमेतत्, मनुष्ययोने र्मानकषायबहुलात्। आदौ प्रथमक्रमे। तनोः शरीरस्य। जननमुत्पत्तिः। अत्र शरीरे। तानि इन्द्रियाणि, शरीरस्येन्द्रियमयत्वात्। कथम्भूतानि तानि? हतेन्द्रियाणि हतानि निकृष्टानि च तानि तथोक्तानि। विषयान् स्वस्वयोग्यपदार्थान्। कान्ति अभिलषन्ति

उत्थानिका—शरीर ही सभी अनर्थों का प्रथम कारण है, यह कहते हैं–

अन्वयार्थ—(मान!) हे मानी! **(आदौ)** पहले तो **(तनोः)** शरीर की **(जननं)** उत्पत्ति होती है। **(अत्र)** फिर शरीर में **(तानि)** वे **(हतेन्द्रियाणि)** दुष्ट इन्द्रियाँ उत्पन्न होती हैं **(विषयान्)** वे विषयों की **(काङ्‌क्षन्ति)** आकांक्षा करती हैं **(च विषयाः)** और विषय **(हानि प्रयास भय पाप कुयोनिदाः स्युः)** हानि, क्लेश, भय, पाप तथा कुयोनि में उत्पन्न कराने वाले होते हैं **(ततः)** इसलिए **(तनुः)** शरीर **(अनर्थ परम्पराणां)** अनर्थ की परम्पराओं का **(मूलम्)** मूल कारण है।

अर्थ—हे मानी आत्मन्! इस संसार में पहले तो शरीर की उत्पत्ति होती है फिर उस शरीर में दुष्ट इन्द्रियाँ बनती हैं, वे इन्द्रियाँ विषयों की आकांक्षा करती हैं और विषय हानि, कष्ट, भय या पाप तथा कुयोनि में जन्म देते हैं इसलिए शरीर ही अनर्थ की परम्पराओं का मूल है।

टीकार्थ—हे स्वाभिमान जन! यहाँ स्वाभिमान को जाग्रत करने के लिए 'मान' सम्बोधन किया है क्योंकि मनुष्ययोनि में मान कषाय की बहुलता होती है। सबसे पहले तो शरीर की उत्पत्ति होती है। उस शरीर में ही इन्द्रियाँ होती हैं क्योंकि शरीर इन्द्रियमय होता है। वे इन्द्रियाँ बहुत निकृष्ट होती हैं। वे इन्द्रियाँ अपने-अपने योग्य पदार्थों की अभिलाषा या इच्छा करती हैं। वे विषय स्पर्श आदि हैं। ये विषय

प्रथम जनन हो तन का तन में भाँति-भाँति इन्द्रिय उगती।
इन्द्रिय निज-निज विषय चाहती विषय वासना अति जगती ॥
फलतः होती मानहानि हो श्रम भय अघ हो दुर्गति हो।
अनर्थ जड़ है तन यह तेरा, तप तपता यदि शिवगति हो ॥१९५॥

वाञ्छन्ति वा। च तथा। विषयाः स्पर्शादयः। किं प्रदाः? हानिप्रयासभयपापकुयोनिदाः तत्र हानि वयोव्ययः। प्रयासः आयासः कष्टो विषयोत्पादने इत्यर्थः। भयो भीतिः। पापं दुःखदातृकर्म। कुयोनिः नरकनिगोदादिः। एतेषामितरेतर द्वन्द्ववृत्तिः। तान् ददतीति तथोक्ताः। 'आतोऽनुपसर्गात्कः' इति कर्मण्युपपदे कप्रत्ययः। स्युः भवेयुः। ततः तस्मात् कारणात्। तनुः शरीरम्। अनर्थपरम्पराणां अनर्थाः विपत्तयस्तेषां परम्परा सरणिः तेषाम्। मूलं बीजमाद्यकारणम्। भवतीति शेषः। एवं साक्षादसाक्षात्तया तनुरेव कष्टकारणमित्युक्तं भवति। यदाख्यायि पञ्चास्तिकायप्राभृते–''गदिमधिगदस्स देहो देहादो इंदियाणि जायंते। तत्तो विसयग्गहणं तत्तो रागो व दोसो वा॥'' वसन्ततिलकावृत्तम् ॥१९५॥

तस्य पोषणरक्षणादि विषवद् घातकमिति प्रवदति–

(अनुष्टुप्)

शरीरमपि पुष्णन्ति सेवन्ते विषयानपि।
नास्त्यहो दुष्करं नृणां विषाद्वाञ्छन्ति जीवितम् ॥१९६॥

अन्वयः–शरीरं अपि पुष्णन्ति, विषयान् अपि सेवन्ते, अहो नृणां दुष्करं नास्ति विषात् जीवितं वाञ्छन्ति।

ही आयु की व्ययरूप हानि करते हैं। विषय उत्पादन में कष्ट देते हैं। भय देते हैं। दुःख देने वाले कर्म का बीज बोते हैं। नरक, निगोद आदि कुयोनियों में ले जाते हैं। इन सब अनर्थों या विपत्तियों का मूल कारण शरीर है। इस प्रकार प्रत्यक्ष में दुःख का कारण तथा परोक्ष में आगामी भव में दुःख देने वाला यह शरीर ही है, यह कहा गया है। **पंचास्तिकाय** में भी कहा गया है–''गति को प्राप्त आत्मा के देह उत्पन्न होती है, देह से इन्द्रियाँ उत्पन्न होती है उनसे विषय ग्रहण होता है उससे राग व दोष होते हैं।'' यहाँ वसन्ततिलका छन्द है ॥१९५॥

उत्थानिका–इस शरीर का पोषण, रक्षण आदि विष के समान घातक है, यह कहते हैं–

अन्वयार्थ–**(शरीरं)** शरीर को तो **(पुष्णन्ति)** पुष्ट करते हैं **(विषयान्)** विषयों की **(अपि)** भी **(सेवन्ते)** सेवन करते हैं **(अहो!)** अहो! **(नृणां)** मनुष्यों को **(दुष्करं)** कुछ भी दुष्कर **(नास्ति)** नहीं है **(विषात्)** विष से **(जीवितं)** जीवन **(वाच्छन्ति)** चाहते हैं।

अर्थ–मनुष्य शरीर को भी पुष्ट करते हैं और विषयों का भी सेवन करते हैं। अहो! इन मनुष्यों को, कुछ भी कठिन नहीं है जो ये विष से जीवन चाहते हैं।

मोह भाव से मंडित जन ही तन का पोषण करते हैं।
विषयों का सेवन करते हैं आतम शोषण करते हैं।
सब कुछ उनको सुलभ रहे हैं कोई दुष्कर कार्य नहीं।
विष पीकर भी जीवन जीना चाह रहे वे आर्य नहीं ॥१९६॥

शरीरमित्यादि। शरीरं शीर्यत इति शरीरं शश्वज्जीर्णम्। अपि आश्चर्ये। पुष्णन्ति पोषणं कुर्वन्ति। ये जना इति कर्तृपदं योज्यम्। विषयान् इन्द्रियमनोऽर्थान्। अपि च तथा। सेवन्ते सेवनं कुर्वते। अहो खेदार्थे। नृणां तेषां मनुष्याणाम्। दुःकरं असाध्यम्। नास्ति किमपि इत्यर्थः। केन कारणेन? विषात् प्राणापहारिद्रव्यात्। जीवितं आयुषम्। वाञ्छन्ति वाञ्छां कुर्वन्ति। यस्मिन् शरीरे तत्त्ववेत्तारो नित्यमुदासते निःसारभार-भूतमात्रपरिज्ञानात् तस्मिन्नेव मोहिनो नितरामुत्प्लवन्ते। भुजङ्गकल्पान् भोगानिति मत्वा परिहरन्ति विरागिणो यत्र तत्रैवोपप्लवधियस्तानुत्कयन्तः शिश्रयिषन्ति। शलभमुग्धा मुग्धा देहाशुशुक्षणिज्वलायामुल्वणमाव-र्ज्यावर्ज्यापि यत्रानिवार्यकामतप्ताः पिपित्सन्ति तत्र बुधा दूराद्धि विरंसन्ति। एवं विपरीतपरिणमनं लोकानामालोच्य मोहिनां प्रत्यपादि 'विषाद्वाञ्छन्ति जीवितम्'। अनुष्टुप्छन्दः ॥१९६॥

न चोपरि यदसूचि सूरिणा तत्सर्वं मोहिने लोकाय प्रत्युत निर्मोहिनेऽपि स्यादिति संसूचनायात्राह-

(अनुष्टुप्)

इतस्ततश्च त्रस्यन्तो विभावर्यां यथा मृगाः।
वनाद्विशन्त्युपग्रामं कलौ कष्टं तपस्विनः ॥१९७॥

टीकार्थ—जो निरन्तर जीर्ण होता चला जाए वह शरीर है। आश्चर्य है कि शरीर को भी ये लोग पुष्ट करते हैं और इन्द्रियों तथा मन के विषयों का सेवन भी करते हैं। खेद है कि इन मनुष्यों को कुछ भी असाध्य नहीं है। विष जो प्राणों का नाश करने वाला पदार्थ है उसके सेवन से भी वे आयु की इच्छा करते हैं। जिस शरीर से तत्त्ववेत्ता नित्य उदासीन रहते हैं क्योंकि यह निःसारभूत है, इसका उन्हें परिज्ञान होता है उसी शरीर में मोही लोग खूब उछलते हैं। तत्त्वज्ञानी सर्प के समान भोगों को मानकर उनसे बचते हैं। उन्हीं भोगों में मूढ़बुद्धिजन उत्कण्ठित होकर उनका आश्रय लेते हैं। पतंगे के समान मूढ़ जन देहरूपी अग्नि की ज्वाला में बार-बार रोके जाने पर भी अपने काम ताप को रोकने में असमर्थ होने से जहाँ गिरने की इच्छा करते हैं उस अग्नि में बुद्धिमान जन दूर से ही विराम पा लेते हैं। इस प्रकार का विपरीत परिणमन लोगों को दिखाकर मोहियों के प्रति कहा है कि 'ये विष से जीवन चाहते हैं।' यहाँ अनुष्टुप् छन्द है ॥१९६॥

उत्थानिका—जो ऊपर आचार्यदेव ने कहा है वह केवल मोही जनों के लिए ही नहीं है किन्तु निर्मोही के लिए भी है, यहाँ कहते हैं-

अन्वयार्थ—(यथा) जैसे **(मृगाः)** मृग **(इतः ततः च)** इधर-उधर **(त्रस्यन्तः)** दुःखी होते हुए

इधर-उधर दिन भर मृगगण वे दुखित हुए वन में भ्रमते।
किन्तु रात में ग्रामादिक के निकट थान में आ जमते॥
इसी भाँति कलियुग में मुनिगण दिन में रहते हैं वन में।
किन्तु खेद! यह निशा बिताते नगर निकट के उपवन में ॥१९७॥

अन्वयः—यथा मृगाः इतः ततः च त्रस्यन्तः वनात् उपग्रामं विभावर्यां विशन्ति(तथा) कलौ तपस्विनः कष्टम्।

इत इत्यादि। यथा दृष्टान्तेनाह। मृगाः कुरङ्गाः। इतः अस्मात् स्थानात्। 'तत्रेदमिः' इत्यनेन इदमिति सर्वनाम्न इकारता तश्च। ततः तस्मात् स्थानात्। ''पञ्चम्यास्तस्'' इति सूत्रेण तदिति सर्वनाम्नः परस्तस् प्रत्ययात् ततः। इतस्ततः अत्र तत्रेत्यर्थः। चशब्दोऽन्यप्राणिसमुच्चयार्थः। त्रस्यन्तः दुःखयन्तः। 'त्रसी उद्वेगे' इति धोः शतृप्रत्ययः। त्रस्यतीति त्रस्यन् ते। वनात् अरण्यात्। उपग्रामं ग्रामस्य समीपमित्यर्थः। उप ग्राममुपग्रामम्। हसः। कदा? विभावर्यां निशायाम्। विशन्ति आयान्ति। ''विश प्रवेशने'' इति लट्। तथेति योज्यः। कलौ कलिकालेऽस्मिन्। तपस्विनः श्रमणाः। उपग्रामं प्रविशन्ति इत्यर्थः। कष्टं खेदविषयोऽयम्। तदानींतनकालगतस्थिति-रियमादर्शि, इदानींतनसमये तु अन्तःपुरं मध्येग्रामं च निवसन्ति। 'विशन्तीति' क्रियापदं तेषामुपग्रामागमनमुद्योतयति। तेन निकषा ग्राममागमनस्य प्रारब्धता तपस्विनां ध्वनिता भवति। साम्प्रतं तु प्रायेण सर्वे हि सन्तिष्ठन्ते मध्येनगरम्। किमर्थं कष्टमेतदिति चेत्? शैथिल्यवृत्तित्वात्। क्षुत्तृषाशीतोष्णारतिप्रभृतिपरीषहानसहमानाः स्वैरं स्वव्यवस्थाव्यस्थिता भुक्तिशयनविहरणमलोत्सर्जन-सम्मेलनविधायशिविरादिक्रियासु सत्सु गुप्तिव्रतसमितिषु केचित् सातिचारेण केचिदनाचारेण च प्रवर्तन्ते दरीदृश्यमानत्वात्। अनुष्टुप्छन्दः ॥१९७॥

(वनात्) वन से **(उपग्रामं)** ग्राम के निकट आकर **(विभावर्यां)** रात्रि में **(विशन्ति)** रुक जाते हैं उसी प्रकार **(कलौ)** कलि काल में **(तपस्विनः)** तपस्वियों को रुकना पड़ता है, **(कष्टं)** कष्ट है।

अर्थ—जैसे हिरण दिन में इधर-उधर दुःखी होते हुए रात्रि में वन से गाँव के पास आकर रुक जाते हैं उसी प्रकार कलिकाल में कष्ट की बात है कि तपस्वियों को भी गाँव के समीप आकर रहना पड़ता है, यह खेद की बात है।

टीकार्थ—जैसे हिरण आदि जंगली जानवर दुःखी होते हुए रात में गाँव के निकट आकर रह जाते हैं उसी प्रकार इस कलिकाल में श्रमण गाँव के निकट आकर रहते हैं। यह खेद की बात है। यह उस समय की स्थिति दर्शायी है, इस समय तो नगर में और गाँव के बीच आकर निवास करते हैं। इससे उस समय (लगभग ८वीं शताब्दी में) ग्राम के निकट आकर रहने लगे थे, यह ज्ञात होता है। इस कथन से ग्राम के निकट आकर रहना तपस्वियों का तब प्रारम्भ हो गया था, यह ध्वनित होता है। वर्तमान में तो प्रायः सभी तपस्वी नगरों में ही रहते हैं। फिर इसमें कष्ट की क्या बात है? चारित्र की शिथिलता आ जाना कष्ट की बात है। क्षुधा, तृषा, शीत, उष्ण, अरति आदि परीषहों को सहन नहीं कर पाने वाले श्रमण अपनी मर्जी से अपनी-अपनी व्यवस्थाओं से व्यवस्थित रहते हैं। वे कितने ही श्रमण भोजन, शयन, विहार, मलत्याग, सम्मेलन, विधान, शिविर आदि क्रियाओं के होने पर गुप्ति, व्रत और समितियों में अतिचार (दोष) सहित प्रवृत्ति करते हैं और कितने ही अनाचार (व्रतभंग) के साथ प्रवृत्ति करते हैं क्योंकि ऐसा खूब देखने में आता है। यहाँ अनुष्टुप् छन्द है ॥१९७॥

एतस्मादपि समधिकं दोषं स्वयं प्रतिपादयन्ति महोदयाः–

(अनुष्टुप्)

वरं गार्हस्थ्यमेवाद्य तपसो भाविजन्मनः।
श्वः स्त्रीकटाक्षलुण्टाकलोप्यवैराग्यसम्पदः ॥१९८॥

अन्वयः–स्त्रीकटाक्षलुण्टाकलोप्यवैराग्यसम्पदः श्वः भाविजन्मनः तपसः अद्य गार्हस्थ्यं एव वरम्।

वरमित्यादि। स्त्रीकटाक्षलुण्टाकलोप्यवैराग्यसम्पदः स्त्रीणां कटाक्षा एव लुण्टाकाश्चौरा स्तैः लोप्याः वैराग्यस्य सम्पदो यस्य सा तस्याः। श्वः प्रत्यग्रपर्याये। भाविजन्मनः आगामिकाले संसारपरिभ्रमणकारणात्। तपसः अष्टाविंशतिमूलगुणरूपस्य। अद्य सम्प्रतिकाले। गार्हस्थ्यं गृहस्थस्य धर्मः। एव अवधारणे। वरं श्रेष्ठम्। किमुक्तं भवतीत्याह–दीक्षाक्षणे गृहीतं महाव्रतं ब्रह्मरूपं पश्चाद्यो वराङ्गनासहसम्बन्धं विदधाति स भवाट्व्यामटति मायाचारत्वात्। गृहीतसङ्कल्पोऽपि विषयवासनायामनुरयमानो नियमेन मिथ्यादृष्टिर्वैराग्याभावात्। वैराग्याभावे कुतो भेदज्ञानस्यावस्थितिः। न च सम्यग्दृष्टिस्तपः पथमभ्युपगच्छति, तत्र गमनशक्त्यभावे सति। चरणसोपाने समारोहणं सद्दृष्टेर्नियतं रागद्वेषनिर्वृत्त्यर्थम्। सज्ञानवैराग्यमेव यतीनां सम्पत्तिः। सा

उत्थानिका–इससे भी बढ़कर जो दोष होता है उसे आचार्य महोदय कहते हैं–

अन्वयार्थ–(स्त्रीकटाक्षलुण्टाकलोप्यवैराग्यसम्पदः) जिसमें स्त्री कटाक्ष के लुटेरों से वैराग्य सम्पदा लुप्त हो गई है ऐसे **(श्वः)** आगामी काल में **(भाविजन्मनः)** भावि जन्म को देने वाले **(तपसः)** तप से **(अद्य)** आज **(गार्हस्थ्यं एव वरम्)** गृहस्थापना ही श्रेष्ठ है।

अर्थ–स्त्री कटाक्षों के चोरों ने जिसकी वैराग्य सम्पदा लूट ली है और जो तप आगामी संसार का कारण है उससे तो गृहस्थ दशा ही श्रेष्ठ है।

टीकार्थ–अट्ठाईस मूलगुण का पालन ही तप है। यह तप भी संसार भ्रमण का कारण बन जाता है। स्त्रियों के कटाक्षरूपी चोरों से जिनकी वैराग्य सम्पदा लूट ली जाती है। उससे तो इस काल में गृहस्थ का धर्म ही श्रेष्ठ है। इससे क्या कहा गया है ? कहते हैं–दीक्षा के समय तो जिसने ब्रह्मचर्यरूप महाव्रत को धारण किया बाद में जो सुन्दर स्त्रियों के साथ सम्बन्ध बनाता है वह इस संसाररूपी जंगल में घूमता है क्योंकि उसने मायाचार किया है। संकल्प ग्रहण करने के बाद भी विषय–वासना में अनुरंजित रहने वाला नियम से मिथ्यादृष्टि होता है क्योंकि उसमें वैराग्य का अभाव है। वैराग्य का अभाव होने से भेदज्ञान कैसे ठहर सकता है ? यदि वह सम्यग्दृष्टि है और उसके चारित्रपथ पर गमन करने की शक्ति का अभाव है तो वह तप को स्वीकार नहीं करता है। चारित्र की सीढ़ी चढ़ना सम्यग्दृष्टि के लिए नियम

यदपि आज तुम तप धरते हो बचकर रागी बनने से।
यदि लुटती वैराग्य संपदा कल स्त्रीजन के लखने से॥
जनन मरण तो नहीं मिटाता किन्तु बढ़ाता उस तप से।
श्रेष्ठ रहा वह गृहस्थपन ही शास्त्र कह रहा तुम सबसे ॥१९८॥

च योषित्सङ्गमभिलषतोऽन्ता रागकालुष्येण धर्ममपि प्रतिपादयतो कथावार्तां सम्पादयतो विनश्यते। वैराग्यन्यून: शून्यमुरज इव श्रमण: केवलं कुवलये। स हि महापथमादाय यदि गृहपथादपि निकृष्टतामाचरति तर्हि गार्हस्थ्यमेव वरमिति सूक्तं भवति। अनुष्टुप्छन्द: ॥१९८॥

महापथमङ्गीकृत्य मा मुञ्च, अपि तु तत्रैव दृढीभवेति भावयन्नुपदिशति–

(मन्दाक्रान्ता)

स्वार्थभ्रंशं त्वमविगणयंस्त्यक्तलज्जाभिमान:
सम्प्राप्तोऽस्मिन् परिभवशतै दु:खमेतत्कलत्रम्।
नान्वेति त्वां पदमपि पदाद्विप्रलब्धोऽसि भूय:
सख्यं साधो यदि हि मतिमान् मा ग्रहीर्विग्रहेण ॥१९९॥

अन्वय:—साधो! यदि हि मतिमान् विग्रहेण सख्यं मा ग्रही:। अस्मिन् त्वं स्वार्थभ्रंशं अविगणयन् त्यक्तलज्जाभिमान: परिभवशतै: दु:खं सम्प्राप्त:। एतत् कलत्रं त्वां पदं अपि न अन्वेति। पदात् भूय: विप्रलब्ध: असि।

से राग, द्वेष की निवृत्ति के लिए होता है। ज्ञान और वैराग्य से सहित होना ही यतियों की सम्पत्ति है। स्त्रियों के संग की अभिलाषा करने वाले के अन्तरंग में राग की कलुषता रहती है जिससे यदि वह धर्म का बखान भी करे तो भी कथावार्ता (चर्चा) करने से वह वैराग्य सम्पदा विनष्ट होती है। वैराग्य रहित हुआ श्रमण इस पृथ्वी पर केवल ढोल के समान खोखला है। वह श्रमण इस महापथ को ग्रहण करके यदि गृहस्थ मार्ग से भी निकृष्टता का आचरण करता है तो फिर गृहस्थ का धर्म ही ठीक है, यह उचित ही कहा है।

विशेषार्थ—यहाँ श्रमण को श्रमण धर्म छोड़ने के लिए और गृहस्थ धर्म स्वीकारने के लिए नहीं कहा है किन्तु उसे गृहस्थ धर्म की श्रेष्ठता बताते हुए मुनिमार्ग पर स्थिर होने के लिए प्रेरणा दी है। देखो! गृहस्थ तो एक स्त्री में ही संतुष्ट हो जाता है और तू क्या कर रहा है ? यह ज्ञान कराने के लिए निर्दोष तप करने के लिए प्रेरणा दी है। मुनि मार्ग पर कामभाव की पुष्टि किसी भी तरह करना महापाप है। जैसे कोई पिता अपने पुत्र से कहे कि 'कल से स्कूल जाना बंद कर बिना वजह पैसा बरबाद कर रहा है।' तो इसका तात्पर्य उसका स्कूल छुड़ाना नहीं है किन्तु स्कूल की पढ़ाई पर मन लगाने के लिए कहना है, वैसा ही यहाँ कहा है। यही आगे कहते हैं। यहाँ अनुष्टुप् छन्द है ॥१९८॥

स्वाभिमान औ लज्जा तजकर जीवन जीता स्वार्थ बिना।
स्त्री के वश अपमानित शत शत बार हुआ अति आर्त्त बना ॥
ठगा हुआ है स्त्री तन से तू किन्तु साथ वे नहीं चलते।
रहा सुधी यदि अत: राग तज तन का जिससे विधि पलते ॥१९९॥

स्वार्थेत्यादि। साधो! भो श्रमण! यदि हि मतिमान् अहं ज्ञानीति स्वमनसि स्वीकरोषि त्वम्। तर्हि किं कर्त्तव्यम्। विग्रहेण शरीरेण स्वस्य कलत्रस्य वा सह। सख्यं मैत्रीमेकत्वम् मा ग्रहीः मा स्वीकुरु। 'ग्रहञ् उपादाने' इति धोर्लुङन्तस्य रूपम्। माङ् योगेऽकारलोपात्। अस्मिन् संसारे अथवा अस्मिन् शरीरे सति। त्वं भवान्। स्वार्थभ्रंशं स्वहितविनाशम्। स्वस्यात्मनोऽर्थः पदार्थः प्रयोजनं वा स्वार्थः। तस्य भ्रंशं विनाशं तत्। अविगणयन् अवितर्कयन्। अवि पूर्वं गणयतीति अविगण-यन्। शतृत्यः। त्यक्तलज्जाभिमानः लज्जा मानसिकोच्चता, अभिमानो गौरवः। त्यक्तौ तौ लज्जाभिमानौ येन स त्वम्। परिभवशतैः तिरस्कार-बहुलताभिः। परिभवानां शतं बाहुल्यं तत् तैः। शतशब्दो वैपुल्यवाचित्वम्। दुःखं कष्टम्। सम्प्राप्तः प्राप्तवान्। अथवाऽस्मिन् संसारे त्वं स्वार्थभ्रंशमविगणयन् त्यक्तलज्जाभिमानो भूत्वा परिभवशतैः सम्प्राप्तः ततः दुःखमेतत्कलत्रमित्यर्थोऽपि योज्यः। एतत् कलत्रं भाव्यमानस्त्री। कलं शरीरं स्वपरयोः त्रायते तत्कलत्रम्। शृङ्गारादिना स्वस्य शरीरं परस्य च वाञ्छादिना रक्षतीति। अथवा कलं शरीरं स्वपरयोः त्रासयति

उत्थानिका—इस महान् श्रमणमार्ग को अंगीकार करके इसे मत छोड़, अपितु उसी में दृढ़ हो, इस भावना से यहाँ उपदेश देते हैं–

अन्वयार्थ—(साधो!) हे साधो! **(यदि हि)** यदि तू **(मतिमान्)** बुद्धिमान है तो **(विग्रहेण)** शरीर के साथ **(सख्यं)** मित्रता **(मा ग्रहीः)** मत कर। **(अस्मिन्)** इस शरीर में **(त्वं)** तू **(स्वार्थभ्रंशं)** अपने स्वार्थ नाश को **(अविगणयन्)** नहीं देखता हुआ **(त्यक्त लज्जाभिमानः)** लज्जा, अभिमान छोड़कर **(परिभवशतैः)** सैकड़ों पराभवों के द्वारा **(दुःखं)** दुःख को **(सम्प्राप्तः)** प्राप्त हुआ है **(एतत् कलत्रं)** यह स्त्री **(त्वां)** तुझे **(पदं अपि)** एक कदम भी **(न अन्वेति)** साथ नहीं देगी। **(पदात्)** तुम निजपद से **(भूयः)** अनेक बार **(विप्रलब्धः असि)** ठगाये गए हो।

अर्थ—हे साधो! यदि तुम बुद्धिमान हो तो शरीर की संगति मत करो। इस शरीर में तुम अपने प्रयोजन नाश को नहीं समझ रहे हो और अपनी लज्जा तथा स्वाभिमान को छोड़े हुए सैकड़ों पराभवों से दुःख को प्राप्त हुए हो। तुम्हारी स्त्री तुम्हारे साथ एक कदम भी नहीं चलेगी। तुम अपने आत्महित से ठगे जा रहे हो।

टीकार्थ—भो श्रमण! यदि तुम बुद्धिमान हो और अपने मन में यह स्वीकारते हो कि मैं ज्ञानी हूँ तो तुम्हारा क्या कर्तव्य है ? अपने शरीर से और स्त्री के साथ मैत्री स्वीकार मत कर। इस संसार में अथवा इस शरीर में तुम्हारे स्वहित का विनाश हो रहा है, इस बात का चिंतन नहीं कर रहे हो। मानसिक उच्चता को लज्जा कहते हैं तथा अभिमान गौरव को कहते हैं। तुमने लज्जा और गौरव छोड़कर सैकड़ों पराभवों से अर्थात् अनेक प्रकार के तिरस्कार आदि के द्वारा कष्ट प्राप्त किया है। अथवा इस काव्य का दूसरा अर्थ यह है कि–इस संसार में अपने स्वार्थ नाश को नहीं समझते हुए लज्जाभिमान छोड़कर सैकड़ों पराभव प्राप्त किए हैं इसलिए यह स्त्री दुःख (कष्टरूप) ही है। जो अपने शरीर की शृंगार आदि के द्वारा रक्षा करती है और दूसरे के शरीर की चाहना आदि के द्वारा रक्षा करती है वह कलत्र है। अथवा

संघट्टयति सा कलत्रमुच्यते। त्वां भवन्तम्। पदं पादं षष्ठाङ्गुलप्रमाणम्। अपि निश्चयेन। न निषेधार्थे। अन्वेति अन्वगच्छति। अनुपूर्वमिणगतौ इति लट्। मरणोपरान्तेऽपि गृहस्य देहलीमन्वेतीत्यर्थः। पदात् निजस्वरूपात्। भूयः बाहुल्यार्थे। विप्रलब्धो वञ्चितः। असि भवसि त्वमिति सम्बन्धः। तनुरपि स्वतनुरागो वनितातनुरागं वितनुते तेन निस्त्रपः सन् स्वगौरवमवमत्य गुरुसंघसतीर्थ्यकुलमर्यादादीनपहृत्य स्वात्मानमपकुरुते। तस्माद् भो श्रमण! निर्ममत्वेन स्वदेहेऽपि समाचरेत्युक्तम्। मन्दाक्रान्तावृत्तम् ॥१९९॥

आत्मनो देहेन सङ्गो हि सर्वदुःखप्रसङ्ग इति प्ररूप्यते–

(शिखरिणी)

न कोऽप्यन्योऽन्येन व्रजति समवायं गुणवता,
गुणी केनापि त्वं समुपगतवान् रूपिभिरमा।
न ते रूपं ते यानुपव्रजसि तेषां गतमतिः,
ततश्छेद्यो भेद्यो भवसि बहुदुःखो भववने ॥२००॥

जो स्व–पर दोनों के शरीर को दुःखी करती है, वह कलत्र है। छह अंगुल का एक पाद होता है। वह कदम भी तुम्हारे साथ नहीं चलती है क्योंकि मरने के बाद वह घर की देहली तक ही जाती है। तुम अपने निजस्वरूप से बहुत बार ठगे गये हो। थोड़ा भी अपने शरीर का राग तथा स्त्री का अनुराग बढ़ता चला जाता है जिससे निर्लज्ज हुआ अपने गौरव की अवमानना करके गुरु, संघ, साधर्मी भाइयों, कुल की मर्यादा आदि को छोड़कर अपनी आत्मा का अपकार करता है इसलिए भो! श्रमण! निर्ममता से अपनी देह से भी आचरण कर। यह कहा गया है। यहाँ मन्दाक्रान्ता छन्द है ॥१९९॥

उत्थानिका—आत्मा को देह की संगति से ही सभी दुःखों का प्रसंग आता है, यह कहते हैं–

अन्वयार्थ—(कः अपि अन्यः) कोई भी दूसरा **(गुणी)** गुणी **(केन अपि)** किसी भी **(अन्येन गुणवता)** अन्य गुणवान् द्रव्य के साथ **(समवायं)** एकत्व को **(न व्रजति)** नहीं प्राप्त होता है। **(त्वं)** तुम **(रूपिभिः अमा)** रूपी पदार्थों के साथ **(समुपगतवान्)** एकत्व को प्राप्त किये हो। **(ते)** वे पुद्गल पदार्थ **(ते रूपं न)** तुम्हारे स्वरूप नहीं हैं **(यान्)** जिनको **(उपव्रजसि)** तुम प्राप्त हुए हो **(तेषां)** इसलिए **(भववने)** भववन में **(छेद्यः)** छेदन योग्य **(भेद्यः)** भेदन योग्य **(बहुदुःखः भवसि)** बहुत दुःख को प्राप्त हुए हो।

अर्थ—कोई भी अन्य द्रव्य किसी भी अन्य द्रव्य के साथ एकत्व को प्राप्त नहीं होता है किन्तु

एक गुणी से एक गुणी का हो सकता समवाय नहीं।
किन्तु काय से ऐक्य रहा तव कष्ट खेद बस हाय यही ॥
तव तन नहिं है तन में रचता अभेद जिसको मान रहा।
छिदता भिदता भव वन में तू बहुत दुखी भयवान रहा ॥२०० ॥

अन्वयः—कः अपि अन्यः गुणी केन अपि अन्येन गुणवता समवायं न व्रजति, त्वं रूपिभिः अमा समुपगतवान् , ते ते रूपं न, (त्वं) यान् उपव्रजसि, तेषां गतमतिः ततः भववने छेद्यः भेद्यः बहुदुःखः भवसि।

नेत्यादि। कः अपि अन्यः यः कश्चिद्। अपि एवकारार्थे। गुणी गुणवान् द्रव्यम्। गुणोऽस्यास्तीति गुणी। केन अपि अन्येन गुणवता येन केनेतरेण द्रव्येण सह। समवायमेकत्वयोगम्। न व्रजति न प्राप्नोति। सैद्धान्तिकी नीतिरियम्। त्रैकाल्येऽपि द्रव्यस्यैकस्यान्येनासमवायता हि दृश्यते। आस्तां तावदजीवद्रव्येषु अपि ज्ञानगुणशून्येषु एवमेव सम्पाद्यते नियामः। त्वं हे आत्मन् ज्ञानगुणघनधनसम्पन्न! रूपिभिः जडकर्मभिः देहादिनोकर्मभि र्वा। अमा सह। समुपगतवान् प्राप्तवान्। समवायमिति सम्बन्धः। ते रूपिणः पुद्गलाः। ते तव। रूपं स्वरूपम्। न प्रतिषेधार्थे। त्वमिति पुनः सम्बन्धः। यान् पुद्गलान् देहादिकान्। उपव्रजसि अहमहमिक-तया प्रतिपद्यसे। अत्र छन्दभङ्गोऽपि न दोषाय, भावनाग्रन्थत्वात्। तेषां तेषु वा सर्वजीवेषु। त्वमिति गतमतिः मूढः। 'यतश्च निर्धारणम्' इत्यनेन ता वा ईप् वा। ततस्तेन कारणेन भववने संसारकान्तारे। भव एव वनं भववनं तस्मिन्। छेद्यः छेत्तुं योग्यः। भेद्यः भेत्तुं योग्यः। बहुदुःखः प्रभूतदुःखवानित्यर्थः। बहुदुःखमस्यास्तीति स बहुदुःखः। 'ओऽभ्रादिभ्यः' इत्यस्त्यो मत्वर्थीयः। त्वमिति सम्बन्धः। भवसि असि स्म बहुशः इत्यर्थः ॥२००॥

एवम्भूतं शरीरं परीवारप्रतिपादनद्वारेण निन्दयन्नाह—

माता जातिः पिता मृत्युराधिव्याधी सहोद्गतौ।
प्रान्ते जन्तोर्जरा मित्रं तथाप्याशा शरीरके ॥२०१॥

तुम रूपी पदार्थों के साथ एकत्व को प्राप्त हुए हो। वस्तुतः ये पुद्गल तुम्हारे स्वरूप नहीं हैं जिनमें तुम आसक्त हुए हो। तुम बुद्धिहीन हुए हो जिससे इस संसार वन में छेदन योग्य, भेदन योग्य अनेक दुःख पा रहे हो।

टीकार्थ—गुण जिनके होते हैं वे गुणी है। द्रव्य ही गुणी कहलाता है। वह गुणी अन्य जिस किसी भी द्रव्य के साथ एकत्व सम्बन्ध को नहीं प्राप्त करता है। यह सैद्धान्तिक नीति है। तीन काल में भी एक द्रव्य की अन्य के साथ समवायपना (एकत्वपना) नहीं देखा जाता है। जीव द्रव्य की बात तो छोड़ो अजीव द्रव्यों में भी जो ज्ञानगुण से शून्य होते हैं, उनमें भी यही नियम लागू होता है। हे आत्मन्! तुम तो ज्ञानगुण के घनीभूत धन से सम्पन्न हो। फिर भी जड़कर्मों के साथ या देह आदि नोकर्मों के साथ सम्बन्ध को प्राप्त किए हो। वे रूपी पुद्गल तुम्हारे स्वरूप नहीं हैं। जिन देह आदि पुद्गलों में तुम 'यह मैं हूँ, यह मैं हूँ' इस भावना को प्राप्त कर रहे हो, इन सभी जीवों में तुम ही मूर्ख बने हो, जो इस संसार रूपी जंगल में कभी छेदे जाते हो, कभी भेदन किए जाते हो, इस तरह अनेक दुःख उठा रहे हो ॥२००॥

जनन रहा जो मात वही तव मरण रहा ओ तात रहें।
विविध आधियाँ दुखद व्याधियाँ तथा सगे तव भ्रात रहें॥
अन्त समय में साथ दे रहा परम मित्र है जरा वही।
फिर भी तन में आशा अटकी भला सोच तू जरा सही ॥२०१॥

अन्वयः–(अस्य शरीरस्य) जातिः माता, मृत्युः पिता, आधिव्याधी सहोद्गतौ, प्रान्ते जरा मित्रं, तथा अपि जन्तोः शरीरके आशा।

मातेत्यादि। अस्य शरीरस्येति सम्बन्धोऽध्याहार्यः। जातिरुत्पत्तिः। माता जननी, योनिस्थानत्वात्। मृत्युर्मरणम्। पिता जनकमविनाभाविसम्बन्धत्वात् तयोरिति। आधिव्याधी आधिर्मानसिकपीडा। ''अधयस्तु स्मृताः प्राज्ञैश्चित्तोत्पन्ना उपद्रवा'' इति वचनात्। व्याधिः शारीरिकी पीडा। ''व्याधयश्चामयाः प्रोक्ताः'' इति वचनात् आधिश्च व्याधिश्च आधिव्याधी। सहोद्गतौ सह युगपदेवोद्गतौ समुत्पन्नौ तौ तस्मात् भ्रातारौ। प्रान्ते मरणनिकटे। जरा वार्धक्यम्। मित्रं सखा। तथा अपि एवम्भूते सत्यपि। जन्तोः प्राणिनः। शरीरके कुत्सिते शरीरे। आशा तृष्णा वर्तत इति क्रियाध्याहारः। तस्मात् भ्रातौ। इत्याश्चर्यम् अस्य शरीरस्य स्वयमेवेत्थम्भूतो मातृपितृमित्रादिपरिवारः समुत्पद्यते तथापि मोहात्तजनस्यान्यदाशापि वर्तते। तेन दुःखो विवर्धते संयोगवर्धनात्। अतः सौख्यैषी शरीरस्य संयोग एव दुःखमित्यवधार्य तत्राशानिरोधनार्थं प्रयतेत। अनुष्टुप्छन्दः ॥२०१॥

अथ दोषं प्रदर्श्य शरीरस्य प्रबोधयति–

उत्थानिका–इस शरीर के परिवार का कथन करते हुए इस शरीर की निन्दा करते हुए कहते हैं–

अन्वयार्थ–(जातिः) इसकी उत्पत्ति होना ही **(माता)** इसकी माता है **(मृत्युः)** मृत्यु **(पिता)** पिता है **(आधिव्याधी सहोद्गतौ)** आधि–व्याधि साथ में उत्पन्न हुए भाई हैं **(प्रान्ते)** अन्त में **(जरा)** बुढ़ापा **(मित्रं)** मित्र है **(तथा अपि)** फिर भी **(जन्तोः)** जन्तु को **(शरीरके)** शरीर में **(आशा)** आशा है।

अर्थ–इस शरीर की उत्पत्ति ही इसकी माँ है, मृत्यु पिता है, आधि–व्याधि दो भाई हैं, अन्त में बुढ़ापा मित्र है फिर भी जन्तु को शरीर में आशा है।

टीकार्थ–इस शरीर की उत्पत्ति ही इस शरीर की माँ है क्योंकि उत्पत्ति का स्थान यह शरीर है। मरण ही इस शरीर का पिता है क्योंकि जन्म के साथ मरण का अविनाभावी संबन्ध होता है। मानसिक पीड़ा को आधि कहते हैं और शरीर की पीड़ा को व्याधि कहते हैं। कहा भी है–'चित्त में उत्पन्न हुए उपद्रव ही प्राज्ञ पुरुषों ने आधि कहे हैं' और 'शारीरिक रोगों को व्याधि कहा गया है।' ये दोनों उस शरीर के साथ ही साथ उत्पन्न हुए हैं इसलिए भाई हैं। मरण के निकट आने पर बुढ़ापा सखा हो जाता है। इस प्रकार होने पर भी इस प्राणी की इस दुष्ट शरीर में तृष्णा रहती है, यह आश्चर्य है। शरीर का स्वयं ही इस प्रकार का माता, पिता, मित्र आदि परिवार उत्पन्न हुआ है फिर भी मोह से सहित मनुष्य की आशा अन्य भी रहती है अर्थात् अन्यों को भ्राता, मित्र बनाता है। इससे इसका दुःख बढ़ता है क्योंकि संयोगों के बढ़ने से दुःख बढ़ता है। अतः सुख चाहने वाला पुरुष 'शरीर का संयोग ही दुःख है' ऐसा अवधारित करके उस शरीर में आशा को रोकने के लिए प्रयत्न कर। यहाँ अनुष्टुप् छन्द है ॥२०१॥

उत्थानिका–अब शरीर के दोष दिखाकर समझाते हैं–

(वसन्ततिलका)

शुद्धोप्यशेषविषया-वगमोऽप्यमूर्तो -
ऽप्यात्मन् त्वमप्यतितरामशुचीकृतोऽसि ।
मूर्तं सदाऽशुचि विचेतनमन्यदत्र
किं वा न दूषयति धिग्धिगिदं शरीरम् ॥२०२॥

अन्वयः—आत्मन् त्वं अपि शुद्धः अपि अशेषविषयावगमः अपि अमूर्तः अपि अतितरां अशुचीकृतः असि। धिक् धिक् इदं शरीरं मूर्तं सदा अशुचि, विचेतनं अत्र अन्यत् किं वा न दूषयति?

शुद्धोऽप्येत्यादि। आत्मन् हे शुद्धजीवद्रव्य! स्वस्य सम्बोधनमेतत्। त्वं अपि। शुद्धः अपि परमार्थदृष्ट्या रागद्वेषमोहात्मकद्रव्यभावकर्मकलङ्कपङ्कविकलत्वात् शुद्धः सन्नपि। अशेषविषयावगमः अपि समस्तवस्तुसमूहविज्ञानः सन्नपि निश्चयेन केवलज्ञानस्वभावत्वात्। अशेषाणां गुणपर्यायाणां विषयाणां द्रव्याणां अवगमो विज्ञानं यस्य स त्वमिति। अमूर्तः अपि स्पर्शरसगन्धवर्णरहितोऽपि भूतार्थेनाभूतार्थिजना-गोचरत्वात्। अतितरां अत्यर्थम्। अशुचीकृतः शुचि अशुचिकृतं येन स त्वम्। च्विप्रत्ययात्। असि भवसि।

अन्वयार्थ—(आत्मन्) हे आत्मन्! **(त्वं अपि)** तुम भी **(शुद्धः अपि)** शुद्ध होते हुए भी **(अशेष-विषयावगमः)** समस्त विषयों का ज्ञान रखते हुए **(अपि)** भी **(अमूर्तः अपि)** अमूर्त होकर भी **(अतितरां)** अत्यधिक **(अशुचीकृतः असि)** अशुचि किये गये हो। **(धिक्-धिक्)** धिक्कार है, धिक्कार है **(इदं शरीरं)** यह शरीर **(मूर्त्तं)** मूर्त है **(सदा अशुचि)** सदा अपवित्र है **(विचेतनं)** चेतन रहित है **(अत्र)** यहाँ **(अन्यत्)** अन्य और **(किं वा न दूषयति)** क्या है जिसे यह दूषित नहीं करता है।

अर्थ—हे आत्मन्! तुम शुद्ध हो, तुम समस्त विषयों के ज्ञाता हो, तुम अमूर्त हो फिर भी इस शरीर से अत्यधिक अपवित्र किये गये हो। इस शरीर को धिक्कार है, धिक्कार है, यह शरीर मूर्त है, सदा अशुचि है, चेतना रहित है। इस संसार में दूसरा कौन सा पदार्थ बचा है जिसे इस शरीर ने दूषित न किया हो।

टीकार्थ—हे आत्मन्! हे शुद्ध जीव द्रव्य! स्वयं अपनी आत्मा को यह सम्बोधन है। तुम परमार्थ दृष्टि से राग, द्वेष, मोहात्मक द्रव्यकर्म, भावकर्मरूपी कलंक के पंक से रहित होने से शुद्ध हो। निश्चय से ज्ञान स्वभाव वाले होने से तुम समस्त वस्तु समूह के ज्ञाता हो। जिसको समस्त द्रव्य और उनकी विशेष गुण-पर्यायों का ज्ञान है, वह तुम हो। भूतार्थ से स्पर्श, रस, गंध, वर्ण रहित हो, अमूर्त हो फिर भी व्यवहारी लोगों के गोचर (ज्ञान का विषय) बन रहे हो। जिसने तुम्हें पवित्र से अपवित्र किया है

स्वभाव से ही विषय बनाता त्रिभुवन को तव ज्ञान महा।
अमूर्त शुचि हो अशुचि मूर्त तू तन वश तज निज भान अहा ॥
मूर्त रहा तन रहा अचेतन अशुचिधाम मल झरता है।
किस किस को ना दूषित करता धिक धिक सबको करता है ॥२०२॥

धिक् धिक् भृशार्थे द्विः। इदं प्रतीयमानम्। शरीरं पुद्गलपिण्डम्। 'द्वितीयैनेन' इति सूत्रेण चकाराधिकारादिप्। कथम्भूतम्? मूर्तं स्पर्श-रसगन्धवर्णसहितम्। सदा सर्वकालम्। अशुचि अशुद्धंमपवित्रं वा। विचेतनं ज्ञानरहितं जाड्यमित्यर्थः। अत्र संसारे। अन्यत्र आत्मानं विहायान्यद्रव्यम्। किं प्रश्ने। वा वितर्के। न दूषयति अपवित्रीकरोति, सर्वमेव दूषयत्येवेत्यर्थः। वसन्ततिलकावृत्तम् ॥२०२॥

साम्प्रतं किं नाम साहसमिति शास्ति–

(अनुष्टुप्)

हा हतोऽसि तरां जन्तो येनास्मिंस्तव साम्प्रतम्।
ज्ञानं कायाशुचिज्ञानं तत्त्यागः किल साहसम् ॥२०३॥

अन्वयः—जन्तो! हा हतः असि तरां अस्मिन्, ज्ञानं कायाशुचिज्ञानं, तव साम्प्रतं येन तत् त्यागः किल साहसम्।

हेत्यादि। जन्तो! हे आत्मन्! हा इति खेदवार्ता। हतः विनष्टः क्लिष्टो वा। दुःखं गत इत्यर्थः। असि भवसि तरामत्यर्थम्। त्वमिति सम्बन्धः। क्व? अस्मिन् शरीरे। ज्ञानं विज्ञानम्। किं तत्? कायाशुचिज्ञानं

वह यह शरीर है। दिखाई देने वाले इस शरीर को धिक्कार हो, धिक्कार हो। यह शरीर स्पर्श, रस, गन्ध, वर्ण सहित है। यह शरीर अशुचि, अशुद्ध या अपवित्र है। यह शरीर जड़ है, ज्ञान रहित है। इस संसार में आत्मा को छोड़कर ऐसी और अन्य कौन-सी वस्तुयें बची हैं जिन्हें इस शरीर ने अपवित्र न किया हो? अर्थात् सभी को अपवित्र किया है। यहाँ वसन्ततिलका छन्द है ॥२०२॥

उत्थानिका—अब साहस क्या है, सो कहते हैं–

अन्वयार्थ—(जन्तो!) अरे प्राणिन् **(हा हतः असि तरां अस्मिन्)** खेद है कि तुम इस काया में अत्यधिक ठगाये गये हो **(ज्ञानं)** ज्ञान तो यह है कि **(कायाशुचिज्ञानं)** काया की अपवित्रता का ज्ञान हो **(तव)** तुमको **(साम्प्रतम्)** अब **(येन)** जिस कारण से **(तत् त्यागः)** उसका त्याग हो **(किल)** वही निश्चय से **(साहसम्)** साहस है।

अर्थ—हे प्राणिन्! तुम इस शरीर में बहुत नष्ट हुए हो। ज्ञान तो यह है कि काया की अशुचिता का ज्ञान हो। अब जिस कारण से उसका त्याग हो यही साहस करना है।

टीकार्थ—हे आत्मन्! हाँ! बड़ी खेद की बात है कि तुम दुःख को प्राप्त हुए हो। इस शरीर में इस शरीर की अपवित्रता का ज्ञान ही वास्तविक ज्ञान है। काया की अशुचिता का ज्ञान ही ज्ञान है, प्रमाण

नर सुर पशु नारक गतियों में सुचिर काल से दुखित हुवा।
उसका कारण तन-धारण तन-पालन में तू निरत हुवा ॥
विदित हुवा है तुझे अचेतन अशुचि निकेतन तव तन है।
अब यह साहस! तन तजना तन-राग मिटा, तब शिवधन है ॥२०३॥

शरीरापवित्रताज्ञानम्। कायाया अशुचिनो ज्ञानमेव ज्ञानं प्रमाणमित्यर्थः। अन्यस्य अङ्गपूर्वस्य ज्ञानस्य प्रयोजनाभावान्मोक्षमार्गे प्रमाण्याभावाद्वा। कथमङ्गपूर्वज्ञानस्याप्रामाण्यमिति चेन्न, अङ्गपूर्वाणि शास्त्र-रूपाणि प्रमाणभूतानि सन्ति एव, तथापि तद्वेत्तारः प्रमाणविषये संशयास्पदाः। ये च शास्त्रसङ्केतं मोक्षपथस्थ-दूरीविज्ञापक-प्रस्तरमिवावधार्यात्मार्थं प्रयतते तेषां ज्ञानं समञ्जसं प्रामाण्यात्। इतरे तु तज्ज्ञा अप्यप्रामाण्याः। ततः कायाशुचिज्ञानं हि ज्ञानमिति सुभाषितम्। तथा चागमाच्छब्दज्ञानं सङ्गृह्य मतिमात्रावधारणं न प्रयोजनीभूतं स्यात् करस्थदीपस्य पुंसः कूपपतनमिव। तव भव्यस्य। साम्प्रतमधुनातनम्। येन कारणेन त्वं हतोऽसि। तत् कारणस्य। त्यागः परिहरणम्। किल निश्चयेन। साहसमद्भुतं कार्यम्। बहुशः सम्पादितं साहसिकं कार्यमत्र जन्तुना साम्प्रतं तु कायस्याशुचित्व-मनुभाव्य तत्त्यजनं कार्यमिति भावः ॥२०३॥

तत्साहसमेवामयोपनिपाते आर्त्तध्यानान्मोचयतीत्याह-

(अनुष्टुप्)

अपि रोगादिभिर्वृद्धैर्न यतिः खेदमृच्छति।
उडुपस्थस्य कः क्षोभः प्रवृद्धेऽपि नदीजले ॥२०४॥

है। अन्य अंग पूर्व के ज्ञान में प्रयोजन का अभाव है और प्रमाण का अभाव है।

शंका—अंग-पूर्व के ज्ञान को इससे अप्रमाणता कैसे हुई ?

समाधान—ऐसा नहीं है, अंगपूर्व रूप जो शास्त्र हैं वे प्रमाणभूत ही हैं। फिर भी उस शास्त्र को जानने वाले प्रमाण के विषय में संशयास्पद रहते हैं। कारण यह है कि जो शास्त्रों के संकेत को मोक्षपथ पर स्थित दूरी बताने वाले मील के पत्थर के समान उसका अवधारण करके आत्मा के लिए प्रयत्न करते हैं तो उनका ज्ञान सम्यक् है क्योंकि प्रमाणभूत है। अन्य जो आत्मा के लिए प्रयत्न नहीं करते या शरीर की अशुचिता का ज्ञान नहीं रखते हैं वे उन अंगपूर्व शास्त्रों के ज्ञाता होते हुए भी अप्रामाणिक हैं। इसलिए काया की अशुचिता का ज्ञान ही ज्ञान है, यह ठीक कहा है तथा आगम से शब्दज्ञान को संग्रह करके बुद्धि मात्र में अवधारण करना प्रयोजनीभूत नहीं है क्योंकि हाथ में लिये दीपक वाले पुरुष का कुए में गिर पड़ने के समान यह बात है। अब तुम भव्यात्मा जिस कारण से ठगे गये हो उस कारण का त्याग कर दो। निश्चय से यह साहसिक अद्भुत कार्य है। बहुत प्रकार के साहसिक कार्य तुमने इस संसार में किए है किन्तु अब इस प्राणी को काय की अशुचिता का विचार करके इसे त्यागने का साहस करना चाहिए ॥२०३॥

जिनके तन में असहनीय हों कर्म योग से रोग रहे।
विचलित यति ना होते फिर भी उनका शुचि उपयोग रहे॥
उचित रहा यह भले बढ़ रहा नीर नदी में बड़ी नदी।
छिद्र रहित नौका में बैठा यात्री डरता कभी नहीं ॥२०४॥

अन्वयः—यतिः रोगादिभिः वृद्धैः अपि खेदं न ऋच्छति, उडुपस्थस्य नदीजले प्रवृद्धे अपि कः क्षोभः।

अपीत्यादि। यतिः मोक्षाय यतते सः। 'यती प्रयत्ने' इति इत्यः। 'सर्वधातुभ्य इ' इतिवचनात्। रोगादिभिः रोग आदिर्येषामतिक्लेशाकस्मिकसङ्कटादीनां तैराधि-व्याधिभिरित्यर्थः। कथम्भूतैः? वृद्धैः महद्भिरनिदानभैषजैर्बहुतरकालयापनै र्वा। अपि सम्भावनायाम्। खेदं हा कष्टं, क्वास्य रोगोपचारः, कदा स्यान्निवृत्तिः, तद्वैद्यमानय, मां रक्ष इत्यादि चित्तविक्षिप्तिम्। न प्रतिषेधार्थे। ऋच्छति प्राप्नोति। 'ऋ प्रापणे' इति लट्। 'अर्तेः ऋच्छः' इति ऋच्छादेशः। उडुपस्थस्य प्लवस्थस्य नावि स्थितस्येत्यर्थः। मुनिपक्षे ज्ञानस्थस्य। नदीजले नदीपूरे। प्रवृद्धे अतिवेगसम्भृते। अपि तथापि। कः क्षोभः चित्ताकुलता। न कोऽपीत्यर्थः। यथा न जायते क्षोभः कुशलकर्णधारस्य साहसिकसैनिकस्य वायुयानचालकस्य वा विक्रियाहेतौ अपि तथा न श्रमणसिंहस्य स्वात्मरक्षणोपाये प्रशासितत्वात्। यश्च किल प्रवर्तते वर्त्मनि स महत्यपि प्रत्यूहे सति तद्व्युपरमोपायं प्रति बद्धव्यवसायः स्यात्। तस्य कुशलस्यैव विक्षुब्धता न स्यादित्यर्थः। अनुष्टुप्छन्दः ॥२०४॥

देहस्य द्विधा एव गतिः स्यादिति कथयति–

उत्थानिका—वह साहस ही रोगों के आने पर आर्तध्यान से छुड़ाता है, यह कहते हैं–

अन्वयार्थ—(यतिः) यति **(रोगादिभिः)** रोग आदि के **(वृद्धैः)** बढ़ जाने पर **(अपि)** भी **(खेदं न ऋच्छति)** खेद को प्राप्त नहीं होता है **(उडुपस्थस्य)** नौका में स्थित व्यक्ति को **(नदीजले)** नदीजल के **(प्रवृद्धे)** बढ़ जाने पर **(अपि)** भी **(कः क्षोभः)** क्या क्षोभ होगा ?

अर्थ—यति रोगादि के बढ़ जाने पर भी खेद नहीं करते हैं, नाव में स्थित मनुष्य को नदी-जल के बढ़ जाने पर भी क्या क्षोभ होता है ? अर्थात् कुछ नहीं।

टीकार्थ—जो मोक्ष के लिए प्रयत्न करता है वह यति है। अतिक्लेश, आकस्मिक संकट, रोग आदि जब इतने बढ़ गये हों कि उसके लिए कोई औषधि न हो और उस आपत्ति में बहुत सा काल व्यतीत कर चुके हों। खेद हो कि इस के रोग का उपचार कहाँ हो, कब इस रोग से मुक्ति हो, उस वैद्य को बुलाओ, मेरी रक्षा करो, इत्यादि चित्त में व्याकुलता को वह यति प्राप्त नहीं होता है। जो नाव में स्थित है, उसके लिए यदि अत्यधिक वेग वाला नदीपूर हो तो क्या चित्त में कोई आकुलता होगी ? अर्थात् नहीं होगी। जैसे किसी कुशल कर्णधार को या साहसिक सैनिक को या वायुयान के चालक को आपत्ति के कारण होने पर भी क्षोभ नहीं होता है उसी प्रकार श्रमण सिंह को भी अपने आत्मरक्षण के उपाय में प्रशासित होने से क्षोभ नहीं होता है। जो मार्ग में प्रवर्तन करता है वह बड़े-बड़े संकटों के उपस्थित हो जाने पर भी उन विघ्नों से दूर होने के उपाय के प्रति संकल्पित होता है, उस कुशल को विक्षोभ नहीं होता है। यहाँ अनुष्टुप् छन्द है ॥२०४॥

उत्थानिका—देह की दो प्रकार की गति है, यह कहते हैं–

(वसन्ततिलका)

जातामयः प्रतिविधाय तनौ वसेद्वा
नो चेत्तनुं त्यजतु वा द्वितयी गतिः स्यात्।
लग्नाग्निमावसति वह्निमपोह्य गेहं
निर्याय वा व्रजति तत्र सुधीः किमास्ते॥२०५॥

अन्वयः—जातामयः प्रतिविधाय तनौ वसेत् वा नो चेत् तनुं त्यजतु द्वितयी गतिः वा स्यात्, गेहं लग्नाग्निं वह्निं अपोह्य आवसति, निर्याय वा व्रजति, तत्र सुधीः किं आस्ते?

जातामय इत्यादि। जातामयः रुग्णजनः। जातः उत्पन्नः आमयो यस्य स जातामयः। प्रतिविधाय प्रतीकारं कृत्वा। तनौ देहे। वसेत् तिष्ठेत्। वा विकल्पे। नो चेत् यदि प्रतीकारं कर्तुं न शक्यात। तनुं देहम्। त्यजतु त्यजनं करोतु। द्वितयी अन्या। गतिः दशा। वा विकल्पे। स्यात् भवेत्। दृष्यान्तेनेदं समर्थयति—गेहं गृहम्। लग्नाग्निं दहनोपेतम्। वह्निं अग्निम्। अपोह्य अपोहनं कृत्वा सम्यक्तया निवार्य। आवसति

अन्वयार्थ—(जातामयः) जिसे रोग हुआ है वह **(प्रतिविधाय)** चिकित्सा करके **(तनौ)** शरीर में **(वसेत्)** रहे **(वा)** अथवा **(नोचेत्)** नहीं तो **(तनुं)** शरीर को **(त्यजतु)** छोड़ दे **(द्वितयी)** यह दूसरी **(गतिः)** गति **(वा स्यात्)** होवे। **(गेहं)** घर में **(लग्नाग्निं)** अग्नि लगी हो तो **(वह्निं)** अग्नि को **(अपोह्य)** बुझाकर **(आवसति)** वहीं आ रहने लगता है **(निर्याय वा)** अथवा निकलकर **(व्रजति)** चला जाता है **(तत्र)** उस घर में **(सुधीः)** बुद्धिमान् **(किं आस्ते)** क्या रहता है!

अर्थ—जिसे रोग हुआ है वह उसका प्रतीकार करके शरीर में आत्मा को बनाये रखे। यदि ऐसा संभव न हो तो दूसरी पद्धति को अपनाके शरीर को छोड़ दे। देखो! घर में आग लगी हो तो या तो अग्नि को बुझाकर उसमें रहे अथवा उस घर से निकलकर चला जाये। आग लगे घर में क्या बुद्धिमान् ठहरता है ? अर्थात् नहीं ठहरता है।

टीकार्थ—यह देह घर के समान है। उस घर में स्थित आत्मा गृह में रहने वाले की तरह है। अग्नि रोग की तरह है। जब मुनि की देह नीरोग हो तो उसी में रहकर रत्नत्रय की आराधना करता है। कभी असाता कर्म की उदीरणा से रोग आदि उत्पन्न हो तो उनका समीचीन (अहिंसक) विधि से प्रतीकार करे क्योंकि ऐसा करना आगम के विरुद्ध नहीं है जैसे कि घर में अग्नि लग गई हो तो उसे बुझाया जाता है। जब रोग का कोई उपचार न हो तब शरीर का त्याग करना ही श्रेष्ठ है। जैसे लगी अग्नि को बुझाना

साधक तन में रोग हुवा हो उचित रूप उपचार करें।
यदि नहिं मिटता तन तज निज पर समता धर उपकार करें॥
आग लगी हो घर में यदि तो जल से उसका शमन करें।
नहीं बुझे तो वहीं रहें क्या? और कहीं झट गमन करें॥२०५॥

आतिष्ठति। निर्याय निर्गमनं कृत्वा। वाऽथवा व्रजति गच्छति। तत्र लग्नाग्निगेहे। सुधीः बुद्धिमान्। किं आस्ते किं तिष्ठति, नास्ते इत्यर्थः। देहोऽयं गृहवत् तत्रस्थः आत्मा गृहीवत्। अग्निरामयस्थानीयः। निरुपद्रवे देहे समुपविष्ट्य रत्नत्रयाराधितस्यासातोद्रेकात् रोगादिजाते सति सम्यग्विधानेन प्रतीकारं कुर्यात् शास्त्र-मार्गाविरुद्धत्वात् लग्नाग्निगेहेऽग्निनिर्वापनवत्। आमयस्य तु निःप्रतिविधातुस्तद्देहत्याग एव वरोऽनिवार्य-लग्नाग्नेस्तत्त्यजनमिव। इत्थम्भूता विधिर्विचक्षणैः साध्या, न तु मूढैरिति भावः। वसन्ततिलकावृत्तम् ॥ ॥२०५॥

रोगस्य प्रतीकारे सुखं मन्यमानोऽज्ञानीत्यावेदयन्नाह–

(अनुष्टुप्)

शिरःस्थं भारमुत्तार्य स्कन्धे कृत्वा सुयत्नतः।
शरीरस्थेन भारेण अज्ञानी मन्यते सुखम् ॥२०६॥

अन्वयः—अज्ञानी शिरःस्थं भारं उत्तार्य सुयत्नतः स्कन्धे कृत्वा शरीरस्थेन भारेण सुखं मन्यते।

शिरःस्थेत्यादि। अज्ञानी मोही जीवः। मोक्षमार्गेऽध्यात्ममूले मोह एवाज्ञानं निगद्यते। तन्निबद्धो जीवो ह्यज्ञानी। शिरःस्थं शिरसि मूर्ध्नि स्थितं। भारं कमपि वस्तु। उत्तार्य अपहृत्य। सुयत्नतः श्रेष्ठोपायेन। स्कन्धे भुजशिरसि। कृत्वा विधाय। शरीरस्थेन एवं कृत्वाऽपि यतो भारो देहे हि स्थितस्तेन। भारेण वस्तुना। अज्ञानी

संभव न होने पर उस घर को छोड़कर अपने प्राण बचाये जाते हैं। इस प्रकार की विधि ज्ञानी लोग ही साध पाते हैं, मूढ़ नहीं। यह भाव है। यहाँ वसन्ततिलका छन्द है ॥२०५॥

उत्थानिका—रोग के प्रतीकार में सुख मानने वाला अज्ञानी है, यह कहते हैं–

अन्वयार्थ–(अज्ञानी) अज्ञानी जीव **(शिरस्थं)** सिर पर स्थित **(भारं)** भार को **(उत्तार्य)** उतारकर **(सुयत्नतः)** बड़े प्रयत्न से **(स्कन्धे)** कंधे पर **(कृत्वा)** करके **(शरीरस्थेन)** शरीर पर स्थित **(भारेण)** भार से **(सुखं)** सुख **(मन्यते)** मानता है।

अर्थ—अज्ञानी जीव सिर पर रखे भार को उतारकर बड़े प्रयत्न से कंधे पर लेकर उस शरीर पर रखे भार से सुख मानता है।

टीकार्थ—अध्यात्म मूलक मोक्षमार्ग में मोह ही अज्ञान कहलाता है। इसलिए अज्ञानी जीव मोही जीव कहलाता है। जैसे कोई सिर पर रखे किसी भार को श्रेष्ठ उपायों से उतार कर अपने कंधे पर लेकर कुछ आनन्द मानता है फिर भी भार तो उसके शरीर पर है ही। यहाँ अर्थान्तरन्यास अलंकार

सर पर भारी भार स्वयं ले पथिक चल रहा पथ पर हो।
किसी तरह कंधे पर उसको उतार कर चलता फिर वो॥
यदपि भार तन पर से उतरा नहीं तदपि वह अज्ञानी।
सुख का अनुभव करता इस पर निश्चित हँसते सब ज्ञानी ॥२०६॥

मूढः। सुखं आनन्दं। मन्यते स्वीकुरुते। अत्रार्थान्तरन्यासेन किमुक्तं भवतीत्याह–शिरस्थभारं स्कन्धे कृत्वा स्वल्पभारहीनताऽनुभूयते यतस्तथापि न सुखं भारसहितत्वात्। एवमेव भैषज्यादिप्रतिविधानेन किञ्चित् सुखे जातेऽपि न तत्सुखं शरीरभारवहनात्। यावत् शरीरं तावत् दुःखं तस्य व्याधिमयत्वात्। मृत्युना तत्त्यजनमपि न सौख्याय पुनः प्राप्तित्वात्। ततः पुनर्जन्म पुनर्मरणमेव दुःखं देहबीजत्वात्। तन्नाशे हि सुखं मन्तव्यम्। एवं न मनुते सोऽत्राज्ञानित्वेनोक्तः इति। अनुष्टुप्छन्दः ॥२०६॥

ननु च यदि रोगापनयने सुखं न स्यात्तर्हि किं प्रयोजनं प्रतीकारेणेत्याशङ्कायामाह–

(अनुष्टुप्)

यावदस्ति प्रतीकारस्तावत्कुर्यात्प्रतिक्रियाम्।
तथाप्यनुपाशान्तानामनुद्वेगः प्रतिक्रिया ॥२०७॥

अन्वयः—यावत् प्रतीकारः अस्ति तावत् प्रतिक्रियां कुर्यात्, तथा अपि अनुपशान्तानां अनुद्वेगः प्रतिक्रिया।

से यह कहा है कि सिर का भार कंधे पर आ जाने से थोड़ी भारहीनता का अनुभव होता है फिर भी सुख तो नहीं है क्योंकि वह भार सहित ही होता है। इसी तरह औषधि आदि से रोग का उपचार कर लेने पर सुख होता है किन्तु वस्तुतः वह सुख नहीं है क्योंकि शरीर का भार तो आत्मा वहन कर ही रहा है। जब तक शरीर है तब तक दुःख है क्योंकि शरीर व्याधिमय है। मरने से उस शरीर का छूट जाना भी सुखकारक नहीं है क्योंकि शरीर तो पुनः प्राप्त हो जाता है। इसलिए पुनः जन्म और पुनः मरण ही दुःख है क्योंकि देह रूपी बीज से ये दोनों उत्पन्न होते हैं। इस देह के बीज का नाश होने से सुख मानना चाहिए। ऐसा जो नहीं मानता है वह यहाँ अज्ञानी कहा है। यहाँ अनुष्टुप् छन्द है ॥२०६॥

उत्थानिका—यहाँ कोई कहता है कि यदि रोग के दूर हो जाने पर भी सुख नहीं होता है तो फिर प्रतीकार से क्या प्रयोजन हुआ ? इस आशंका का उत्तर देते हैं–

अन्वयार्थ–(यावत्) जब तक **(प्रतीकारः)** प्रतीकार **(अस्ति)** होता है **(तावत्)** तब तक **(प्रतिक्रियां)** प्रतिक्रिया **(कुर्यात्)** करनी चाहिए **(तथा अपि)** उसके बाद भी **(अनुपशान्तानां)** रोगों को ठीक नहीं कर पाने वाले रोगियों को **(अनुद्वेगः)** व्याकुलता नहीं करना ही **(प्रतिक्रिया)** प्रतीकार है।

अर्थ—जब तक प्रतीकार होता है तब तक उस रोग का प्रतीकार करना चाहिए किन्तु रोग ठीक

सदुपचार से रोगों का यदि प्रतीकार वह हो सकता।
तब तक उनका प्रतीकार भी यथायोग्य बस कर सकता ॥
प्रतीकार करने से भी वे यदि ना होते प्रशमित हैं।
क्लेश क्षोभ बिन रहना ही फिर प्रतीकार है, समुचित है ॥२०७॥

यावदित्यादि। यावत् स्थितिपर्यन्तम्। प्रतीकारो रोगोपशमनोपायः। अस्ति भवेत्। तावत् स्थितिपर्यन्तम्। प्रतिक्रियां भिषग्भैषजादिना प्रतिविधानम्। कुर्यात् विदध्यात्। तथा अपि एवं कृतेऽपि। अनुपशान्तानां रोगाणां नियमनरहितानाम्। अनुद्वेगो माध्यस्थ्यमुदासीनता वा। प्रतिक्रिया रोगस्यौषधिः। यदुक्तं समन्तभद्रस्वामिभिः–

''उपसर्गेदुर्भिक्षे जरसि रुजायां च निःप्रतीकारे।
धर्माय तनुविमोचनमाहुः सल्लखनामार्याः॥''

इति नियतेन सल्लेखना विधेया? शरीरं व्याधिमन्दिरमित्यनुश्रुतिं मानसेऽवधार्य क्रमशोऽन्नपान-निरोधनेन रोगस्यावेगः प्रशाम्यति रोगवृद्धिकारकतत्त्वाप्राप्तेः। पुनश्च शरीरस्य स्वभावं मुहुः संभाव्य माध्यस्थ्येन तत् परिहर्त्तव्यमिहामुत्रैकहितौषधिप्रकारत्वात्। अनुष्टुप्छन्दः ॥२०७॥

कुतोऽनुद्वेग एव प्रतिक्रिया इति दर्शयन्नाह–

(अनुष्टुप्)

यदादाय भवेज्जन्मी त्यक्त्वा मुक्तो भविष्यति।
शरीरमेव तत्त्याज्यं किं शेषैः क्षुद्रकल्पनैः ॥२०८॥

अन्वयः—यत् आदाय जन्मी भवेत्, (यत्) त्यक्त्वा मुक्तः भविष्यति, तत् शरीरं एव त्याज्यं, शेषैः क्षुद्रकल्पनैः किम्?

नहीं होने वाले रोगियों को उद्वेग धारण नहीं करना ही उस रोग की प्रतिक्रिया (उपचार) है।

टीकार्थ—रोग को शान्त करने का उपाय ही प्रतीकार कहलाता है। जब तक वैद्य, औषधि आदि के द्वारा रोग को ठीक करने का उपाय बने तब तक उन उपायों से रोग को ठीक करना चाहिए। इस प्रकार करने पर भी जब रोग नियन्त्रण में न आए तो रोगियों को शरीर से माध्यस्थ परिणाम या उदासीनता रखना ही उस रोग की औषधि है। जैसा कि आचार्य समन्तभद्र स्वामी ने रत्नकरण्डश्रावकाचार में कहा है–''उपसर्ग आने पर, दुर्भिक्ष होने पर, बुढ़ापा होने पर और रोगों का प्रतीकार नहीं होने पर धर्म के लिए शरीर को छोड़ देने को आर्यजन सल्लेखना कहते है।'' इस नियम से सल्लेखना धारण करनी चाहिए। 'शरीर तो रोगों का घर है।' इस कहावत को मन में रखकर क्रमशः भोजन-पान को रोकते जाने से रोग का आवेश शान्त हो जाता है क्योंकि शरीर को रोग बढ़ाने वाले तत्त्वों की प्राप्ति नहीं होती है। फिर शरीर के स्वभाव को बार-बार समझते हुए माध्यस्थ भाव से उसको छोड़ देना चाहिए। यही इस लोक तथा परलोक में एकमात्र हित की औषधि का तरीका है। यहाँ अनुष्टुप् छन्द है ॥२०७॥

तन रति रखता फिर-फिर तन धर यह भव वन में भ्रमता है।
निरीह तन से बन तन तजता मुक्ति भवन में रमता है॥
इसीलिए बस इस जीवन में त्याज्य रहा तन रति तन है।
अर्थहीन शत अन्य विकल्पों से तो केवल बंधन है॥२०८॥

यदित्यादि। यत् शरीरम्। आदाय गृहीत्वा। जन्मी संसारी। जन्म यस्य विद्यते सः। भवेत् स्यात्। यदित्यत्रापि योज्यम्। यत् शरीरं त्यक्त्वा परित्यज्य। मुक्तः मोक्षभाक्। भविष्यति। तत् शरीरं। एव निश्चयेन। त्याज्यं त्यागार्हम्। शेषैः क्षुद्रकल्पनैः दीनहीनभावनैः। किं स्यात् न किमपीत्यर्थः। प्रयोजनसिद्धेरभावात्तेन। शरीरमेव भाविजन्मनो मुख्यकारणम्। भक्तप्रत्याख्यानेन विना शरीरप्रत्याख्यानं न भवति। शरीरत्यागं विना जन्ममरणपरम्पराऽपि न त्रुट्यति। भक्तप्रत्याख्यानेन तनुविमोचनात् जघन्येन द्वित्रिभवेषु उत्कृष्टेन सप्ताष्ट-भवेषु मुक्तिरवश्यमेव स्यात्। जघन्यकालेनमुक्तिरुत्कृष्टसल्लेखना। उत्कृष्टकालेन मुक्तिर्जघन्य-सल्लेखना। यदुक्तं प्रतिक्रमणपाठे ''**उक्कस्सेण दो तिण्णि भवगहणाणि जहण्णेण सत्तट्ठभव-गहणाणि**।'' अनुष्टुप्छन्दः ॥२०८॥

अथ शरीरस्यापकारैकस्वभावत्वात् तस्य दुश्चरित्रमुद्योतयन्नाह–

नयेत् सर्वाशुचिप्रायं शरीरमपि पूज्यताम्।
सोऽप्यात्मा येन न स्पृश्यो दुश्चरित्रं धिगस्तु तत् ॥२०९॥

अन्वयः–(यः) शरीरं सर्वाशुचिप्रायं अपि पूज्यतां नयेत् सः अपि आत्मा येन न स्पृश्यः तत् दुश्चरित्रं धिक् अस्तु।

उत्थानिका–इस तरह शरीर में अनुद्वेग धारण करना ही प्रतिक्रिया है, यह दिखाते हुए कहते हैं–

अन्वयार्थ–(यत्) जिसको **(आदाय)** धारण करके **(जन्मी)** जीव संसारी **(भवेत्)** होता है और जिसे **(त्यक्त्वा)** छोड़कर के **(मुक्तः)** मुक्त **(भविष्यति)** होगा **(तत् शरीरं)** वह शरीर **(एव)** ही **(त्याज्यं)** छोड़ने योग्य है **(शेषैः)** शेष **(क्षुद्रकल्पनैः)** क्षुद्र विकल्पों से **(किम्)** क्या ?

अर्थ–जिस शरीर को धारण करके जीव संसारी होता है और जिसे छोड़कर के मुक्त होगा वह शरीर ही छोड़ने योग्य है। शेष क्षुद्र विचारणाओं से क्या होगा ?

टीकार्थ–जिस शरीर को ग्रहण किए रहने से संसार मिले और जिस शरीर को छोड़ देने से मुक्ति मिले तो वह शरीर छोड़ना ही श्रेष्ठ है। अन्य दीनहीन भावनायें करने से क्या होगा! उससे किसी प्रयोजन की सिद्धि नहीं होगी। शरीर ही आगामी जन्म का मुख्य कारण है। भक्त प्रत्याख्यान के बिना शरीर का प्रत्याख्यान नहीं होता है। शरीर के त्याग के बिना जन्म-मरण की परम्परा भी नहीं टूटती है। भक्त प्रत्याख्यान से शरीर छोड़ने से जघन्य से दो-तीन भवों में और उत्कृष्ट से सात-आठ भवों में मुक्ति अवश्य ही होती है। जघन्य काल से मुक्ति होना उत्कृष्ट सल्लेखना है। उत्कृष्ट काल से मुक्ति होना जघन्य सल्लेखना है। प्रतिक्रमण पाठ में भी कहा है–''उत्कृष्ट से दो तीन भव ग्रहण होते हैं और जघन्य से सात, आठ भव ग्रहण सल्लेखना से होते हैं।'' यहाँ अनुष्टुप् छन्द है ॥२०८॥

रहा अपावन स्वभाव से ही काय रहा यह जड़मय है।
पूज्य बनाता उसे चरित से आतम का यह अतिशय है॥
किन्तु काय तो आतम को भी निंद्य बनाता नीच अहा।
इसीलिये धिक्कार उसे हो कीच रहा भव बीच रहा ॥२०९॥

नयेदित्यादि। यः इति शेषः आत्मा। शरीरं अद्यावधि आत्मनोऽभिलषितं वस्तु। कथम्भूतम्? सर्वाशुचिप्रायं समन्तादशुद्धरूपम्। सर्वतोऽशुचि अशुद्धं प्रायो यत् तत्। अपि निकृष्टार्थे। पूज्यतां पूजनार्चनविषयम्। नयेत् प्रापयेत्। सः अपि आत्मा इत्थम्भूतोत्कृष्टभावगतः। येन शरीरेण। न स्पृश्यो गुणेन नानुकृतः। तत् एतदुदितम्। दुश्चरित्रं मिथ्यानुष्ठानम् दुर्व्यवहारो वा। धिक् निन्दाविषयः। किमुक्तं भवतीत्याह–सर्वतोऽशुद्धं सदाऽपकारकं नरकनिगोदादिगतिप्रदानाच्च दुर्जनवद्धीनस्थानगतमपि शरीरं पूज्यतामैति यदात्मा रत्नत्रयेणानुचरति प्रत्युत शरीरेण न कदापि जीवः समुपकृतः इति शरीरस्य दुष्टत्वम्। अस्तु भवतु ॥२०९॥

संसारिणो जीवस्य शरीरमुपगतस्य त्रयो भागा विद्यन्ते तानत्राह–

रसादिराद्यो भागः स्याज्ज्ञानावृत्त्यादिरन्वतः।
ज्ञानादयस्तृतीयस्तु संसार्येवं त्रयात्मकः ॥२१०॥

उत्थानिका–चूँकि अपकार करना ही शरीर का एक मात्र स्वभाव है इसलिए इस शरीर का दुश्चरित्र दिखाते हैं–

अन्वयार्थ–(शरीरं) शरीर **(सर्वाशुचिप्रायं)** सभी ओर से अशुचि से भरा है **(अपि)** उसको भी **(पूज्यतां नयेत्)** आत्मा पूज्य बना देता है। **(सः अपि आत्मा)** वह आत्मा भी **(येन)** जिस शरीर के कारण से **(न स्पृश्यः)** छूने योग्य न हो **(तत्)** उस शरीर का **(दुश्चरित्रं)** दुश्चरित्र **(धिक् अस्तु)** धिक्कार हो।

अर्थ–सभी प्रकार की अपवित्रता से भरा हुआ यह शरीर है। इस शरीर को भी आत्मा पूज्य बना देता है किन्तु शरीर आत्मा को भी न छूने योग्य (अस्पृश्य) बना देता है, इस शरीर के दुश्चरित्र को धिक्कार हो।

टीकार्थ–यह शरीर आत्मा की आज तक अभिलषित (प्रिय) वस्तु रही है। सभी ओर से अशुद्ध यह निकृष्ट शरीर भी पूजन-अर्चन का विषय बन जाता है। आत्मा तो इस प्रकार उत्कृष्ट भाव वाला है किन्तु फिर भी शरीर ने इस आत्मा के गुणों को नहीं छुआ है, आत्मा के गुणों का कोई अनुकरण नहीं किया। इस शरीर का यही दुश्चरित्र या दुर्व्यवहार निन्दा का विषय है। इससे क्या कहा गया, यह कहते हैं–यह शरीर नरक, निगोद आदि गतियों में आत्मा को ले जाता है। ऐसा यह शरीर सभी ओर से अशुद्ध और सदा अपकार करने वाला है। दुर्जन के समान निम्नस्थान को प्राप्त शरीर को भी आत्मा पूज्य बना देता है जब आत्मा रत्नत्रय का आचरण करता है किन्तु शरीर से यह जीव कभी भी उपकृत नहीं हुआ, यही इस शरीर का दुष्टपना है। यहाँ अनुष्टुप् छन्द है ॥२०९॥

रस रुधिरादिक सप्त धातुमय जिसका आदिम भाग रहा।
ज्ञानावरणादि कार्मिक वह जड़मय मध्यम भाग रहा ॥
ज्ञानादिक गुण-गण ले चिर से भाग तीसरा वह भाता।
रहा त्रयात्मक इसविध प्राणी भव-भव भ्रमता दुख पाता ॥२१० ॥

अन्वयः—आद्यः भागः रसादिः स्यात् अतः अनु ज्ञानावृत्त्यादिः, तृतीयः तु ज्ञानादयः एवं संसारी त्रयात्मकः।

रसेत्यादि। आद्यः प्रथमः। भागः अवयवः। रसादिः रसः आदिर्येषां रक्तादीनां सः पुद्गल-शरीरपिण्डात्मकः। स्यात् भवेत्। अतः अनु अस्मात् पश्चात् ज्ञानावृत्त्यादिः ज्ञानावरणादिः कर्मपुद्गल-पिण्डात्मकः। तृतीयः तु ज्ञानादयः ज्ञानदर्शनादयः आत्मनः प्रकटितगुणः एवं इत्यनेन प्रकारेण। संसारी कर्मनिबद्धजीवः। त्रयात्मकः त्रिभागयुक्तः। तत्राद्यो भागो रसादिर्नोकर्म कथ्यते। ज्ञानावृत्त्यादिर्द्वितीयो द्रव्यकर्म समुच्यते। रागादिरूपभावकर्मणामत्रैवान्तर्भावित्वाद्भावकर्मोऽपि कथितम् तृतीयो ज्ञानादयो निजभावो निगद्यते। त्रिभिरेतैर्भावैर्युक्तो जीवः संसारीति प्रतिपादितम्। अनुष्टुप्छन्दः ॥२१०॥

किमर्थमेतद्विभागेन प्ररूपणमिति प्ररूपयति—

भागत्रयमयं नित्यमात्मानं बन्धवर्तिनम्।
भागद्वयात्पृथक् कर्तुं यो जानाति स तत्त्ववित् ॥२११॥

अन्वयः—यः बन्धवर्तिनं नित्यं भावत्रयमयं आत्मानं भागद्वयात् पृथक् कर्तुं जानाति स तत्त्ववित्।

उत्थानिका—शरीर को प्राप्त संसारी जीव के तीन भाग हैं, उन्हीं को यहाँ कहते हैं—

अन्वयार्थ—(आद्यः) पहला **(भागः)** भाग **(रसादिः)** रसादि **(स्यात्)** है **(अतः)** इसके **(अनु)** बाद **(ज्ञानावृत्त्यादिः)** ज्ञानावरण आदि हैं **(तृतीयः तु)** तीसरा तो **(ज्ञानादयः)** ज्ञान आदि हैं **(एवं)** इस प्रकार **(संसारी)** संसारी जीव **(त्रयात्मकः)** तीनरूप है।

अर्थ—संसारी जीव त्रयात्मक है। प्रथम भाग रसादि है। इसके बाद ज्ञानावरण आदि हैं और तीसरा भाग ज्ञानादि है।

टीकार्थ—रस, रक्त आदि का बना हुआ यह पुद्गल शरीर पिण्ड है। यह संसारी जीव का प्रथम भाग है। इसके बाद दूसरा भाग ज्ञानावरण आदि कर्म पुद्गलों का पिण्ड है। इसके बाद तीसरा भाग आत्मा के प्रकट हुए गुण ज्ञान, दर्शन आदि हैं। इस प्रकार से कर्म से बँधा हुआ जीव संसारी है। इन तीन भागों में पहला भाग जो रसादि है वे नोकर्म कहे जाते हैं। ज्ञानावरण आदि जो द्वितीयभाग है वे द्रव्यकर्म कहे जाते हैं। रागादि रूप भावकर्मों का इसी द्वितीय भाग में अन्तर्भाव जानने से भाव कर्म भी कह दिया है और तीसरा जो ज्ञानादि हैं वे आत्मा के निज भाव कहे जाते हैं। इन तीनों भावों से सहित जीव संसारी है, यह कहा है। यहाँ अनुष्टुप् छन्द है ॥२१०॥

रहा त्रयात्मक भाग सहित यह आतम जीवन जीता है।
नित्य रहा है वसु विध विधि के कलुषित पीवन पीता है॥
सही जानकर दो भागों से पृथक् जीव को कर सकता।
तत्त्व ज्ञान का अवधारक वह शीघ्र भवोदधि तिर सकता ॥२११॥

भागत्रयमयमित्यादि। यः कश्चिद् भव्यः। आत्मानं स्वगुणात्मकद्रव्यम्। कथम्भूतम्? बन्धवर्तिनं सम्प्रति चतुःप्रत्ययैर्ज्ञानावरणाद्यष्टकर्मबन्धनमापन्नम्। नित्यं सततम्। पुनश्च किं विशिष्टम्? भागत्रयमयं पूर्वोक्तम्। भागद्वयात् नोकर्मद्रव्यकर्म-रूपात्। पृथक् कर्तुं विश्लेषितुम्। जानाति भेदविज्ञानबलेनानुभवति सञ्चेतयति। स जीवः। तत्त्ववित् तत्त्वमात्मा तं वेत्तीति। क्विप्। भवतीति क्रियाशेषः। भावकर्म ज्ञानस्य तत्र क्षायोपशमिकं रागादिसमाश्लिष्टम्। क्षायिकं तु निजं तद्रहितम्। नानाभावेषु अपि ज्ञानभावस्य मुख्यत्वादत्र क्षायोपशमिकज्ञानेन छद्मस्थावस्था क्षायिकज्ञानेन च सर्वज्ञावस्था ज्ञेया। तस्मिन् क्षायोपशमिकं ज्ञानमपि पृथक् कर्तुमर्हमवसेयं भावकर्म। अतो नोकर्मद्रव्यकर्मभावकर्मपङ्कसंयुक्तमप्यात्मानं शुद्धनयकतक-द्रव्यनिक्षेपेण सर्वथाऽबद्धमस्पृष्टमसंयुक्तमविशेषमनन्यरूमनुभवति स एव तत्त्वविदिति ॥२११॥

एवं क्रियमाणस्यैव विज्ञता तपोनिष्ठता चान्यतरस्य नेत्याह–

करोतु न चिरं घोरं तपः क्लेशासहो भवान्।
चित्तसाध्यान् कषायारीन् न जयेद्यत्तदज्ञता ॥२१२॥

उत्थानिका—इस प्रकार का विभाजन करके प्ररूपण किस लिए किया गया है, यह कहते हैं–

अन्वयार्थ—(यः) जो **(बन्धवर्तिनं)** बन्ध को प्राप्त **(नित्यं)** हमेशा **(भावत्रयमयं)** तीन भाव मय **(आत्मानं)** आत्मा को **(भागद्वयात्)** दोनों भागों से **(पृथक् कर्तुं)** अलग करना **(जानाति)** जानता है **(स)** वह **(तत्त्ववित्)** तत्त्व को जानने वाला है।

अर्थ—नित्य बन्ध में रहने वाले तीन भावमय आत्मा को दो भागों से भिन्न करना जो जानता है वह तत्त्व का जानकार है।

टीकार्थ—नित्य चार प्रत्ययों के द्वारा ज्ञानावरणादि अष्ट कर्मबन्ध को प्राप्त और पहले कहे गये तीन भागों से संयुक्त अपने गुणों सहित आत्मद्रव्य को नोकर्म और द्रव्यकर्मरूप दो भागों से अलग करना जानता है वह भव्य आत्मा भेदविज्ञान के बल से आत्मा का अनुभव करता है। आत्मा ही तत्त्व है। उस आत्मा को जानने वाला, अनुभव करने वाला ही तत्त्ववित् है। राग आदि सहित ज्ञान का क्षायोपशमिक भाव यहाँ भावकर्म से जानना। ज्ञान का क्षायिकभाव रागादि से रहित होता है वह जीव का निजभाव है। आत्मा के अनेक भावों में भी ज्ञानभाव की मुख्यता है। इसलिए यहाँ क्षायोपशमिक ज्ञान से छद्मस्थ अवस्था और क्षायिकज्ञान से सर्वज्ञ अवस्था जानना। उसमें क्षायोपशमिकज्ञान वाला भावकर्म भी भिन्न करने योग्य है, यह जानना। अतः नोकर्म, द्रव्यकर्म और भावकर्मरूपी कीचड़ संयुक्त आत्मा को भी शुद्धनय के विषयभूत कतकद्रव्य के डालने से सर्वथा अबद्ध, अस्पृष्ट, असंयुक्त, अविशेष और अनन्यरूप आत्मा का जो अनुभव करता है वह ही तत्त्वेत्ता है ॥२११॥

घोर घोरतर विविध तपों को मतकर यदि नहिं कर सकता।
क्योंकि दीर्घ संहनन नहीं है क्लेश सहन नहिं कर सकता ॥
मन निग्रह कर कषाय रिपु पर विजय प्राप्त यदि नहिं करता।
विज्ञ कहें तव यही अज्ञता मैं समझूँ यह कायरता ॥२१२॥

अन्वयः—भवान् क्लेशासहः घोरं तपः चिरं न करोतु, यत् चित्तसाध्यान् कषायारीन् न जयेत् तत् अज्ञता।

करोत्वित्यादि। भवान् अहो भव्यः। क्लेशासहः कष्टमसहिष्णुः। क्लेशं न सहते सः। घोरं आतापनतरुमूलाभ्रावकाशादि। तपः देहमनोऽवतापि। चिरं बहुतर कालपर्यन्तम्। न करोतु मा तपश्चरतु। यत् यदि। चित्तसाध्यान् मनसा साध्यभूतान्। चित्तैः साधितुमर्हं साध्यं ये तान्। यद्वा चित्तमेव साध्यं यत्र तान्। कषायारीन् कषाय-शत्रून्। न जयेत् न निवारयेत्। तत् अज्ञता मूढता। योगत्रयेण शरीरस्य कष्टतामसहमानः श्रमणो यदि क्रुधादिकषायरिपून् न विजयते तर्हि सोऽज्ञ इत्यभिधीयते भावशुद्धेरभावात्। भावस्य विशुद्धता हि तपसः प्रयोजनम्। तपश्चरतु माऽचरतु वा कषायजयनं तु साध्यम्। कथमत्र तपः प्रतिषिद्धं तद्विना मूलोत्तरगुणनिर्वहनमसम्भवत्वात्। गुणधारणेन विना कुतोऽवस्थीयते श्रावकत्वं श्रामण्यं वेति चेन्न, अभिप्रायानवबोधात्। अत्र तूत्तरगुणरूपातापनादियोगदीर्घकालिकोपवासादिमात्रस्य प्रतिषेधः साम्प्रत-

---

उत्थानिका—इस प्रकार करने वाले की ही तपोनिष्ठता और विज्ञता है, अन्य की नहीं, यह कहते हैं–

अन्वयार्थ—**(भवान्)** आप **(क्लेशासहः)** क्लेश सहन नहीं करपाते हैं **(घोरं तपः)** घोर तप **(चिरं)** चिर काल तक **(न करोतु)** नहीं कर पाते हैं **(यत्)** तो **(चित्तसाध्यान्)** चित्त से साध्य **(कषायारीन्)** कषायरूपी शत्रुओं को तो जीतो यदि **(न)** नहीं **(जयेत्)** जीत पाओ **(तत्)** यह **(अज्ञता)** अज्ञानता है।

अर्थ—आप क्लेश सहन नहीं कर पाते हैं इसलिए चिरकाल तक घोर तप मत करो किन्तु यदि चित्त से जीते जाने वाले कषाय शत्रुओं को नहीं जीतते हैं तो यह अज्ञानता है।

टीकार्थ—कष्ट सहन करने में आप सहनशील नहीं हैं तो आप बहुत काल तक चलने वाले आतापनयोग, तरुमूलयोग और अभ्रावकाश आदि योग मत करो जिनसे शरीर और मन दोनों ताप को प्राप्त हों। किन्तु यदि चित्त के द्वारा साधने योग्य अथवा चित्त को ही साधने योग्य कषाय शत्रुओं को नहीं रोकते हो तो वह मूढ़ता है। तीन योगों से शरीर के कष्ट को नहीं सह सकने वाला श्रमण यदि क्रोध आदि कषाय शत्रुओं को नहीं जीतता है तो फिर वह वशिष्ठ मुनि के समान अज्ञ कहा जाता है क्योंकि वह भावशुद्धि से रहित है।

भावों की विशुद्धता ही तप का प्रयोजन है। दीर्घकालिक तपश्चरण करो अथवा मत करो किन्तु कषायों को जीतना ही साध्य है।

शंका—यहाँ तप का निषेध क्यों किया है जब कि तप के बिना तो मूलगुण, उत्तरगुणों का निर्वाह करना असंभव है और गुणों को धारण किए बिना श्रावकपना या श्रामण्यपना कैसे टिक सकता है ?

समाधान—ऐसा नहीं है क्योंकि आपने अभिप्राय नहीं समझा। यहाँ तो उत्तरगुणरूप आतापन योग आदि, दीर्घकालीन उपवास आदि का निषेध किया है क्योंकि वर्तमान में उत्कृष्ट संहनन का

मुत्कृष्टसंहननाभावात्। न चात्र मूलगुणानां निर्दोषाचरणाय कालस्य बाधा तथाविधानुपलम्भात्। सर्वथा नोत्तरगुणानामपि प्रतिषेधो ज्ञातव्यः केषुचित्तत्पालनमपि दर्शनात्। बाह्यतपोऽपेक्षयान्तरङ्गतपस्सु निष्ठा वर्धितव्या साक्षात्कर्मक्षयसमर्थत्वात्। ततोऽत्र चित्तसाध्यकषायजयनायोपदेशः। ननु च कथं बाह्यतपसो वृद्धिं विनाऽन्तरङ्गतपोऽभिवृद्धिर्जायते मिथः सापेक्षिकत्वात्? सत्यमुक्तम्, तथापि तद्व्रतमाचरितव्यं येन संशयतुलां नारोहतः शरीरमनसीति नीतिमनुसर्त्य बाह्यतपोऽपि विधेयम्। भेतव्यं न कदापि बाह्यतपसः प्रत्युत तदाचरितव्यं यथाशक्ति। क्रमशः कायक्लेशेन विवर्धित-बलस्य तपनानुसारि तपः प्रसीदति, विषीदति च मार्जाररवानुसारि। तस्माद् भावशुद्ध्या कषायरहितः श्रमणः प्रवर्तेदित्याशयः ॥२१२॥

कथं कषायाणां जयोऽनिवार्य एवेत्यत आह-

हृदयसरसि यावन्निर्मलेऽप्यत्यगाधे
वसति खलु कषायग्राहचक्रं समन्तात्।
श्रयति गुणगणोऽयं तन्न तावद्विशङ्कं
सयमशमविशेषैस्तान् विजेतुं यतस्व ॥२१३॥

अभाव है। यहाँ मूलगुणों के निर्दोष आचरण के लिए कोई बाधा भी उपलब्ध नहीं है और उत्तरगुणों का भी निषेध सर्वथा नहीं किया गया है क्योंकि कितने ही श्रमणों में उन उत्तरगुणों का पालन भी देखा जाता है। बाह्य तपों की अपेक्षा अन्तरंगतपों में निष्ठा बढ़ानी चाहिए क्योंकि अन्तरंग तपकर्म का क्षय करने में साक्षात् (उसी समय) समर्थ हैं। इसलिए यहाँ चित्त से साधने योग्य कषायों को जीतने का परामर्श दिया है।

शंका—बाह्य तप की वृद्धि के बिना अन्तरंग तप की वृद्धि कैसे हो सकती है क्योंकि दोनों तप परस्पर सापेक्ष हैं ?

समाधान—आपने ठीक कहा है, फिर भी ''उस व्रत का आचरण करना चाहिए जिससे शरीर और मन संशय में न पड़ जायें'' इस नीति का अनुसरण करके यथा सम्भव बाह्य तप भी करना चाहिए।

बाह्यतपों से कभी डरना नहीं चाहिए किन्तु यथाशक्ति उनको करना चाहिए। क्रमपूर्वक कायक्लेश के द्वारा जिसका बल बढ़ जाता है उसका तप भी प्रसन्नता देता है जैसे सूर्य धीरे-धीरे बढ़ता जाता है किन्तु जो बिल्ली की आवाज के अनुसार तप करता है वह खेदखिन्न होता है। इसलिए भावशुद्धि के साथ श्रमण कषाय रहित होकर तप में प्रवृत्ति करे, यह आशय है ॥२१२॥

अगाध यद्यपि हृदय सरसि शुचि चेतन जल से भरित रहा।
कषायमय हिंसक जलचर से किन्तु पूर्ण यदि क्षुभित रहा ॥
क्षमादि उत्तम दशलक्षण गुण, निश्चित तब तक नहिं मिलते।
यम दम शम सम क्रमशः पालो फलतः पल में ये मिटते ॥२१३॥

अन्वयः—यावत् निर्मले हृदयसरसि अपि अत्यगाधे कषायग्राहचक्रं समन्तात् खलु वसति तावत् अयं गुणगणः तत् न विशङ्कं श्रयति, सयमशमविशेषैः तान् विजेतुं यतस्व।

हृदयेत्यादि। यावत् कालपरिच्छेदार्थे। हृदयसरसि हृदयं एव सरस्तस्मिन् मनो रूपसरोवरे। कथम्भूते? निर्मले पङ्करहिते। अपि च तथा। कथम्भूते? अत्यगाधे अत्यन्ताधोदीर्घे। कषायग्राहचक्रं कषायजलचर-जीवसमूहम्। कषाया एव ग्राहा मलिनहिंस्रजलजन्तवस्तेषां चक्रं समूहं तत्। समन्तात् सर्वतः। खलु स्फुटम्। वसति तिष्ठति। तावत् कालपर्यन्तम्। अयं गृहीतः। गुणगणः गुणानामुत्तमक्षमार्जवादीनां गणः समूहः तथोक्तः। तत् हृदयसरः। न प्रतिषेधार्थे। विशङ्कं विनष्टा शङ्का चिन्ता यस्मिन् कर्मणि तत् निश्चिन्तित-मित्यर्थः। क्रियाविशेषणमेतत्। श्रयति वसति। ततः किं कार्यमित्याह—सयमशमविशेषैः तत्र यमो व्रतमाजीवितम्। शमः प्रशान्तभावः। यमश्च शमश्च यमशमौ ताभ्यां विशेषो विशिष्टभावनाद्वारोद्यतः तेन सहितो यः स तथोक्तस्तैरिति। 'वा नीचः' इति सहस्य स। यमस्य विशेषो यमस्य भावना शमविशेषोऽत्र शमभावनार्थम्। पञ्चमहाव्रतस्य भावनया मुहुर्मुहुः कालुष्यरहितात्मस्वभावेन चेति। तान् कषायग्राहान्। विजेतुं विजयनार्थम्। यतस्व प्रयत्नं कुरु। मालिनीवृत्तम् ॥२१३॥

उत्थानिका—कषायों को जीतना अनिवार्य क्यों है ? यह कहते हैं–

अन्वयार्थ—(यावत्) जब तक **(निर्मले)** निर्मल **(हृदयसरसि)** हृदय सरोवर में **(अपि अत्यगाधे)** जो अति अगाध है उसमें **(कषायग्रह चक्रं)** कषायों रूपी मगरमच्छों का समूह **(समन्तात्)** चारों ओर **(खलु)** निश्चित ही **(वसति)** रहता है **(तावत्)** तब तक **(अयं)** यह **(गुणगणः)** गुणों का समूह **(तत् न विशंकं श्रयति)** वहाँ निश्चिन्त होकर नहीं रहता है **(सयम-शमविशेषैः)** यम, शम की विशेषता के साथ **(तान्)** उन्हें **(विजेतुं)** जीतने का **(यतस्व)** यत्न करो।

अर्थ—जब तक अत्यधिक गहरे और निर्मल हृदय सरोवर में कषायरूपी मगरमच्छों के समूह का वास है तब तक गुणों का यह समूह निःशंक होकर वहाँ नहीं ठहरता है। इसलिए यम और शम भाव की विशेषता के साथ उन कषायों को जीतने का प्रयत्न करो।

टीकार्थ—यह मनरूपी सरोवर बहुत गहरा है और कीचड़ रहित निर्मल है। इस सरोवर में कषाय रूपी मलिन, हिंसक जलचर प्राणियों का समूह जब तक रहता है तब तक उत्तमक्षमा, मार्दव, आर्जव आदि गुणों का समूह बिना चिन्ता के नहीं ठहरता है। इसलिए क्या करना चाहिए, यह कहते हैं–जीवन पर्यन्त के लिए व्रत ग्रहण करना यम है। प्रशान्त भाव होना शम है। इन यम, शम के विशिष्ट भावना द्वारों से उद्यत होना चाहिए। यम विशेष का अर्थ यम भावना है। शम विशेष का अर्थ शम भावना है। पाँचों महाव्रतों की भावना के द्वारा और कालुष्यरहित आत्मस्वभाव के चिन्तन के द्वारा उन कषायरूपी जलचरों को जीतने का प्रयत्न करो। यहाँ मालिनी छन्द है ॥२१३॥

मनसोऽनगढपाषाणवतः प्रयत्नेन विना ये शुद्धं मन्यन्ते तेषामीहितमत्राचक्षते–

हित्वा हेतुफले किलात्र सुधियस्तां सिद्धिमामुत्रिकीं,
वाञ्छन्तः स्वयमेव साधनतया शंसन्ति शान्तं मनः।
तेषामाखुविडालिकेति तदिदं धिग्धिक्कलेः प्राभवं
येनैतेऽपि फलद्वयप्रलयनाद् दूरं विपर्यासिताः ॥२१४॥

अन्वयः—अत्र सुधियः किल हेतुफले हित्वा तां आमुत्रिकीं सिद्धिं वाञ्छन्तः स्वयं एव साधनतया शान्तं मनः शंसन्ति तेषां आखुविडालिका इति तत् इदं कलेः प्राभवं धिक् धिक् येन एते अपि फलद्वय-प्रलयनात् दूरं विपर्यासिताः।

हित्वेत्यादि। अत्र दुःषमकाले। सुधियः विद्वान्सः सम्यग्ज्ञानिमन्या वा। किल निश्चयेन। हेतुफले कारणकार्यव्यवस्थाम्। हेतुश्च फलं च हेतुफले। तत्र हेतुः सयमशमविशेषैः प्रयत्नपरता। फलं त्वात्म-

---

उत्थानिका—जो अनगढ़ पाषाण समान इस मन को प्रयत्न के बिना शुद्ध होना मानते हैं उनकी चेष्टाएँ यहाँ कहते हैं–

अन्वयार्थ—(अत्र) इस जगत् में **(सुधियः)** ज्ञानीलोग **(किल)** निश्चय से **(हेतुफले)** हेतु और उसके फल को **(हित्वा)** छोड़कर **(तां आमुत्रिकीं सिद्धिं)** उस परलोक की सिद्धि की **(वाञ्छन्तः)** इच्छा करते हुए **(स्वयं एव)** स्वयं ही **(साधनतया)** होने वाले साधनभाव से **(शान्तं मनः)** शान्त मन की **(शंसन्ति)** प्रशंसा करते हैं **(तेषां)** उन लोगों की यह **(आखुविडालिका)** बिल्ली चूहे की क्रीड़ा है **(इति)** इस प्रकार **(तत इदं)** वह यह **(कलेः)** कलिकाल का **(प्राभवं)** प्रभाव है **(धिक् धिक्)** धिक्कार है, धिक्कार है **(येन)** जिससे कि **(एते अपि)** ये लोग भी **(फल द्वय प्रलयनात्)** दोनों फलों के नष्ट होने से **(दूरं)** बहुत काल तक **(विपर्यासिताः)** विपरीत बुद्धि वाले हुए हैं।

अर्थ—इस संसार में जो बुद्धिमान् लोग हेतु और हेतुफल को छोड़कर उस परलोक की सिद्धि (मोक्ष) की इच्छा करते हैं और अपने आप ही होने वाले साधन से मन में अपनी प्रशंसा करते हैं। उनकी यह बात बिल्ली-चूहे की तरह परस्पर विरुद्ध है। इस प्रकार इस कलिकाल के प्रभाव को बारम्बार धिक्कार हो जिससे ये बुद्धिमान् भी इसलोक और परलोक के नष्ट हो जाने से अत्यन्त ठगे गए हैं।

टीकार्थ—इस दुःषमकाल में विद्वान् लोग या अपने आप को सम्यग्ज्ञानी मानने वाले निश्चय से कारण-कार्य की व्यवस्था को छोड़कर रहते हैं। उसमें कारण या हेतु तो यमशम की विशेषता के द्वारा

शांत मनस की करे प्रशंसा यदपि मोक्ष सुख इष्ट रहा।
किन्तु संग तज समता धरना बुधजन को भी कष्ट रहा॥
बिल्ली चूहा सम उनकी यह दशा यही कलियुग फल है।
जिससे इहभव परभव सुख से वंचित जीवन निष्फल है ॥२१४॥

विशुद्धिः। हित्वा त्यक्त्वा। 'ओहाक् त्यागे' इति धोः। क्त्वाप्रत्ययान्तरूपम्। तां परोक्षभूताम्। आमुत्रिकीं परलोक-सम्बन्धिनीम्। सिद्धिं स्वात्मोपलब्धिम्। वाञ्छन्तः वाञ्छां कुर्वन्तः। वाञ्छन्तीति वाञ्छन्तः शतृत्यः। स्वयं पुरुषार्थेन विना काललब्ध्या निष्पन्नम्। एव अवधारणार्थे। साधनतया हेतुरूपतया। काललब्धिरेव पुरुषार्थानपेक्षिकी साधनता तया। शान्तं मनः कषायग्राहरहितोऽयमात्मा स्वयमेव त्रैकालिक-स्वभावत्वादिति निश्चयात् चित्तमपि शान्तमित्यर्थः। शंसन्ति प्रशंसां कुर्वन्ति व्याख्यायन्ति वा। तेषां एवं मन्यमानानाम्। चेष्टेति शेषः। कथम्भूता? आखुविडालिका मूषकमार्जारीसम्बन्धसदृशी। आखुर्मूषकश्च विडालिका मार्जारी च तयोरिव वैरसम्बन्धम् यत्र सा। इति एवं प्रकारम्। तत् चेष्टितम्। इदं दृश्यमानम्। कलेः कलिकालस्य। प्राभवं प्रभुत्वम्। प्रभुशब्देऽण् प्रत्ययात्। येन कारणेन। एते सुधियः स्वकीयं सम्यग्ज्ञानिन इति मन्यमानाः। अपि विस्मये। फलद्वयप्रलयनात् इहपरलोकफलविनाशात्। इहलोकफलं चक्रवर्तिश्रेष्ठ-मनुजदेवादिविभवात्मकं पुण्यरूपम्। परलोकफलं सिद्धसुखम्। एतत्द्वयस्य प्रलयनं विनाशनं तस्मात् कारणादिति। दूरं विपर्यासिताः अतिशयेन वञ्चिताः। हेतुं च हेतुफलं च परित्यज्य सिद्धसुखमभीप्सितपुंसां चेष्टा क्रोधादि दोष क्षान्त्यादि गुणेषु परस्परविरुद्धाऽऽखुविडालिकावत् सर्वत्र दुःखप्रदायिनीति भावः। यत्फलं येन हेतुना सम्पद्यते तत्तेनैव सञ्जायते। हेतौ विपर्यस्ते फलविपर्यासः। न च बदरिकोप्ते क्वाप्याम्रलाभः। तत एव बाह्यपरिग्रहत्यागेन विनान्तरङ्गसङ्गविनाशो न स्यात्। तदभावे स्वात्मसिद्धिर्नेति। शार्दूलविक्रीडितम् ॥२१४॥

प्रयत्नशील होना है और उसका फल आत्मविशुद्धि है। इस कारण-कार्य के बिना ही स्वात्मोपलब्धि चाहते हैं। उनकी यह सिद्धि स्वयं ही पुरुषार्थ के बिना काललब्धि से हो जाएगी। काललब्धि ही बिना पुरुषार्थ की अपेक्षा रखने वाला साधन (हेतु) है। इसी साधन से उनका मन शान्त हुआ है। यह आत्मा तो कषायों रूपी जलचरों से रहित स्वयं ही है क्योंकि निश्चय से आत्मा स्वयं ही त्रैकालिक शुद्ध स्वभाव वाला है और निश्चय से मेरा मन भी शान्त है, इस तरह अपनी प्रशंसा करते हैं अथवा व्याख्यान करते हैं। ऐसा मानने वालों की चेष्टा बिल्ली और चूहे के वैर सम्बन्ध वाली है। यह दिखाई देने वाली चेष्टा कलिकाल का प्रभुत्व है। जिस कारण से अपने को सम्यग्ज्ञानी मानने वाले इह लोक और परलोक के फल का विनाश करते हैं। चक्रवर्ती, श्रेष्ठ मनुष्य, देव आदि वैभवरूप पुण्यफल इस लोक का फल है और सिद्ध सुख देने वाला परलोक फल है।

ये लोग अत्यधिक ठगे गये हैं। हेतु और हेतुफल को छोड़कर सिद्ध सुख की इच्छा करने वाले लोगों की चेष्टा परस्पर विरुद्ध है और वह क्रोधादि दोष तथा क्षान्ति आदि गुणों में चूहे-बिल्ली के समान द्वेष रखने वाली है। जो फल जिस हेतु से मिलता है वह उससे ही उत्पन्न होता है। हेतु के विपरीत होने पर फल भी विपरीत मिलता है। बेर का बीज बोने से आम का लाभ नहीं होता है। इसलिए बाह्य परिग्रह के त्याग के बिना अन्तरंग परिग्रह का विनाश नहीं होता है। उस परिग्रह त्याग के अभाव में स्वात्मसिद्धि नहीं होती है। यहाँ शार्दूलविक्रीडित छन्द है ॥२१४॥

मुहुः संज्ञानं प्रसार्य कषायविद्विषो विजेतुरपि मनः प्रबोधयन्नाह–

उद्युक्तस्त्वं तपस्यस्यधिकमभिभवं त्वामगच्छन् कषायाः
प्राभूद्बोधोऽप्यगाधो जलमिव जलधौ किं तु दुर्लक्ष्यमन्यैः।
निर्व्यूढेऽपि प्रवाहे सलिलमिव मनाग्निम्नदेशेष्ववश्यं
मात्सर्यं ते स्वतुल्ये भवति परवशाद् दुर्जयं तज्जहीहि ॥२१५॥

अन्वयः–त्वं तपसि उद्युक्तः असि, कषायाः त्वां अधिकं अभिभवं अगच्छन् जलधौ जलं इव बोधः अपि अगाधः प्राभूत्, किन्तु निम्नदेशेषु प्रवाहे निर्व्यूढे अपि अन्यैः दुर्लक्ष्यं मनाक् अवश्यं सलिलं इव मात्सर्यं ते स्वतुल्ये परवशात् भवति तत् दुर्जयं जहीहि।

उद्युक्त इत्यादि। त्वं हे मुनिकुञ्जर! तपसि बाह्याभ्यन्तरेऽनेकभेदभिन्ने। उद्युक्तः उत्कर्षेण युक्तः। असि भवसि। कषायाः क्रोधमानमायालोभसहनोकषायाः। त्वां भवन्तम्। अधिकं अतिशयेन। अभिभवं

उत्थानिका–बारबार अपने सम्यग्ज्ञान को बढ़ाकर कषायरूपी शत्रुओं को जीतने वाले पुरुष के मन को समझाते हुए कहते हैं–

अन्वयार्थ–**(त्वं)** तुम **(तपसि)** तप में **(उद्युक्तः)** उद्यत **(असि)** हुए हो। **(कषायाः)** कषायें **(त्वां)** आपकी **(अधिकं)** बहुत अधिक **(अभिभवं)** पराजित **(अगच्छन्)** हुई हैं **(जलधौ)** समुद्र में **(जलं इव)** जल के समान **(बोधः अपि)** ज्ञान भी **(अगाधः)** बहुत गहरा **(प्राभूत्)** हो गया है **(किंतु)** किन्तु **(निम्नदेशेषु)** निम्न स्थानों में **(प्रवाहे)** प्रवाह में **(निर्व्यूढे अपि)** नहीं होते हुए भी **(अन्यैः)** दूसरों को **(दुर्लक्ष्यं)** नहीं दिखने वाला **(मनाक्)** थोड़ा **(अवश्यं)** अवश्य रहे **(सलिलं)** जल की तरह **(मात्सर्यं)** मात्सर्यभाव **(स्वतुल्ये)** अपने बराबर वाले में **(परवशात्)** दूसरे के कारण **(भवति)** होता है **(तत्)** वह **(दुर्जय)** दुर्जय है **(जहीहि)** उसे छोड़ दो।

अर्थ–तुम तप में प्रयत्नशील हुए हो। कषायें भी तुम्हारी बहुत अधिक पराजित हो गई हैं। समुद्र में जल की तरह तुम्हारा ज्ञान भी अगाध हो गया है, किन्तु जैसे तलस्थल में बहने वाले गहरे प्रवाह को भी दूसरे लोग देख नहीं पाते हैं उसी तरह थोड़े जल की तरह तुम्हारा अपने बराबर के साधर्मी में उसके कारण से मात्सर्य होता है वह जीतना कठिन है, उस मात्सर्य को भी छोड़ दो।

टीकार्थ–हे मुनिकुञ्जर! तुम बाह्य और अभ्यन्तर अनेक प्रकार के उत्कृष्ट तप सहित हो। क्रोध, मान, माया, लोभ ये अत्यधिक विनाश को प्राप्त हुए हैं। समुद्र में रहने वाले जल की तरह

सागर जल सम यद्यपि तुम में बोध, शास्त्र का मनन किया।
कठिन तपस्या में भी रत हो कषाय का भी हनन किया॥
फिर भी ईर्षा साधर्मी से तुममें उसको शीघ्र तजें।
जिस विधि सर सूखे ऊपर, नहिं दिखता नीचे नीर बचे ॥२१५॥

विनाशं। अगच्छन् प्राप्तवन्तः। 'गम्लृ गतौ' इति धोर्लङन्तरूपम्। जलधौ समुद्रे। जलं धीयन्ते यस्मिन् स जलधिस्तत्र। जलं पानीयम्। इव औपम्यार्थे। बोधः ज्ञानम्। अपि च। अगाधः तलस्पर्शी। प्राभूत् अभवत्। प्रकृष्टेन अभूत् इत्यर्थः। किं तु परन्तु। निम्नदेशेषु अत्यधःप्रदेशेषु। प्रवाहे नदीपूरे। निर्व्यूढे निश्चयेन व्यूढे विनष्टे ''व्यूढः पृथुलविन्यस्तु संहतेषु हते त्रिषु'' इति वि० लो०। अपि सम्भावनायाम्। अन्यैः मनुजानां दृष्टिपथैः। दुर्लक्ष्यं अदृश्यम्। दुः दुःखेन लक्ष्यं साध्यं दृश्यं वा तत् दुर्लक्ष्यम्। मनाक् अल्पार्थेऽव्ययपदम्। 'मनागल्प-मन्दयो' रिति वि० लो०। अवश्यं निश्चितम्। सलिलं जलम्। इव उपमायाम्। मात्सर्यं परगुणासहनता। ते भव्यश्रमणस्य। स्वतुल्ये साधर्मिके। स्वस्य तुल्यं समानं तपोज्ञान-प्रभावादिषु तत् तस्मिन्। परवशात् परजनकारणात्। भवति अन्तस्तिष्ठति। तत् मात्सर्यम्। दुर्जयं दुःखेन महता कष्टेन जयं विजेतुं शक्यम्। जहीहि मुञ्च त्वमिति सम्बन्धः। 'ओहाक् त्यागे' इति धोर्लोडन्तरूपम्। स्वपुण्यविपाके सति समीचीन-पुरुषार्थतया हि ज्ञानतपोधर्मादिषु वृद्धिः स्यान्नान्यथेति मनसि मरालेऽवधार्यान्तःस्थितं दुर्लक्ष्यं परैरपि स्वगम्यं मात्सर्यं विरम्यताम्। तथा च तद्गुणेषु प्रशंसितस्य पुण्यबन्धपुरस्सरचित्तविशुद्धताऽन्यथा मनोमालिन्यं भवति। किञ्च ''परवृद्धिष्वसतां हि मत्सरः'' इति वचनमापीयासत् कार्यं दूरात् परिहर्त्तव्यम्। यत्रेर्ष्या तत्र मानः। यत्र मानस्तत्र तन्म्लानताभयम्। ततो निरापेक्षवृत्तितीव्रघर्मघस्मरतापेन निम्नप्रदेशस्थ-मात्सर्यसलिलं शोषयितव्यम्। स्रग्धरावृत्तम् ॥२१५॥

तलस्पर्शी अगाधज्ञान तुम्हें हुआ है। फिर भी उस नदीपूर के बहुत निचले स्थानों में विनष्ट सा हुआ वह गहरा प्रवाह अन्य मनुष्यों को देखने में बड़ी कठिनता से आता है। निश्चित रहने वाले उस जल की तरह मत्सरता अर्थात् दूसरे के गुणों को सहन नहीं कर पाना, यह भी रहता है। हे भव्य श्रमण! तुम्हारे ही समान साधर्मी जनों में जिनका तप, ज्ञान, प्रभाव आदि अपने समान हैं उनमें दूसरों के कारण मात्सर्य भीतर रहता है। उसे जीतना बहुत कष्ट से ही संभव है। मात्सर्य को तुम छोड़ दो।

अपने पुण्य के फल से समीचीन पुरुषार्थ के द्वारा ज्ञान, तप, धर्म आदि में वृद्धि होती है, अन्यथा नहीं ऐसा मनरूपी हंस में अवधारित करके अपने भीतर स्थित, किसी को नहीं दिखने पर भी स्वयं जानने में आने वाले मात्सर्य को रोक दो तथा उस साधर्मी के गुणों में प्रशंसा करने वाले को पुण्यबन्ध पूर्वक चित्त में विशुद्धता उत्पन्न होती है अन्यथा मन की मलिनता होती है और ''दूसरों की वृद्धि में मत्सर दुर्जनों को होता है।'' इन वचनों को पीकर असत् (अनुचित) कार्य को दूर से ही छोड़ देना चाहिए। जहाँ ईर्ष्या होती है वहाँ मान होता है। जहाँ मान होता है वहाँ म्लानता का (मान में कमी आने का) भय रहता है। इसलिए निरपेक्ष चारित्र (उपेक्षा चारित्र) रूपी तीव्र घाम के प्रचण्ड प्रताप से मन के निचले प्रदेशों में स्थित मात्सर्य जल को भी सुखा देना चाहिए। यहाँ स्रग्धरा छन्द है ॥२१५॥

अधुना हानिविज्ञानं विना तस्य परिहारो न भवेदित्यङ्गीकृत्य कषायाणां हानिकार्यं वक्तुकामः प्रथमं क्रोधस्य कथयति–

(इन्द्रवज्रा)

चित्तस्थमप्यनवबुद्ध्य हरेण जाड्यात्
क्रुद्ध्वा बहिः किमपि दग्धमनङ्गबुद्ध्या।
घोरामवाप स हि तेन कृतामवस्थां
क्रोधोदयाद् भवति कस्य न कार्यहानिः ॥२१६॥

अन्वयः—हरेण क्रुद्ध्वा जाड्यात् चित्तस्थं अपि अनवबुद्ध्य किमपि बहिः अनङ्गबुद्ध्या दग्धं, स तेन कृतां अवस्थां हि घोरां अवाप, कस्य क्रोधोदयात् कार्यहानिः न भवति?

चित्तस्थमित्यादि। हरेण शङ्करेण। लौकिकाख्यानमेतत्। क्रुद्ध्वा क्रोधं कृत्वा। जाड्यात् मूढतया। जडस्य भावो जाड्यं मूर्खता तस्मात्। करोति यः कोऽपि कोपं स स्यात् जाड्यः पुद्गलजडकर्मभावे चिदुपयोगस्य तन्मयत्वात्। चित्तस्थं अनङ्गमित्यनुक्तेऽपि विज्ञेयं तस्य तत्स्थानत्वात्। अपि निश्चितम्।

उत्थानिका—अब हानि के विशिष्ट ज्ञान के बिना उस हानि से बचना भी नहीं होता है। ऐसा अंगीकार करके कषायों की हानि के कार्य को कहने की इच्छा से पहले क्रोधकषाय के हानिकार्य को कहते हैं–

अन्वयार्थ—**(हरेण)** शंकर ने **(क्रुद्ध्वा)** क्रोध करके **(जाड्यात्)** जड़बुद्धि से **(चित्तस्थं)** चित्त में स्थित को **(अपि)** भी **(अनवबुध्य)** नहीं जानकर **(किमपि बहिः)** किसी बाहरी को **(अनंगबुद्धया)** काम बुद्धि से **(दग्धं)** जला दिया **(स)** वह शंकर **(तेन)** उस कामदेव से **(कृतां अवस्थां)** की गई अवस्था की **(हि)** निश्चित ही **(घोरां अवाप)** वेदना को प्राप्त हुआ **(कस्य)** किसकी **(क्रोधोदयात्)** क्रोध के उदय से **(कार्यहानिः)** कार्यहानि **(न भवति)** नहीं होती है।

अर्थ—शंकर ने क्रोध करके मूर्खता से चित्त में स्थित काम को नहीं जानकर किसी बाह्य अन्य को काम समझकर जला दिया। बाद में वह काम के द्वारा की गई वेदनादशा को प्राप्त हुआ। सो ठीक ही है क्रोध के उदय से किसकी कार्यहानि नहीं होती है।

टीकार्थ—यह लौकिक कथानक है। शंकर ने क्रोध करके अपनी मूढ़ता से चित्त में स्थित कामदेव को नहीं समझकर वसन्त आगमन के छल से किसी बाहरी को कामदेव जानकर जला दिया। कामदेव के द्वारा जो बनाया गया है वह देव ही अनंग है, ऐसा बुद्धि में करके महादेव ने काम को जला

अबोध वश शिव ने मन में स्थित मनोज को ही भुला दिया।
अन्य वस्तु को 'काम' समझकर क्रोधित होकर जला दिया ॥
उसी क्रोध कृत घोर भयानक बुरी दशा को भुगत रहा।
क्रोधोदय से कार्य हानि भी किसकी ना हो? उचित रहा ॥२१६॥

अनवबुद्ध्य अविज्ञाय। किमपि बहिः कामदेवं वसन्तागमनव्याजेन। अनङ्गबुद्ध्या कामदेवेन यन्निर्मितं तद्देव एवानङ्गमिति बुद्धिविषये कृत्वा। दग्धं विनाशितं प्रज्वलितम्। स महादेवः। तेन कामदेवेन। कृतां विहिताम्। अवस्थां दशाम्। हि स्फुटम्। कथम्भूतम्? घोरां पराभवभूतामति- दुःखकरीम्। अवाप प्रापितवान्। अत एव सूक्तम्–कस्य जनस्य देवस्य मनुष्यस्य वा। क्रोधोदयात् क्रोधोदीरणायामेकत्वमापन्नात्। कार्यहानिः स्वकीयसुकृत्ये क्लेशः। न भवति अपितु सर्वेषां भवत्येवेति भावः। कोपावेशात् यः प्राक् परानपकरोति स हि बद्धवैरः पश्चात्तं सुकृत्यविहितकाले दुःखयति। यदि न बध्नाति वैरं तथापि प्रीतेर्विनाशोऽवश्यं स्यात्। असकृत्कृतकोपो विवेकविकलतां जनयति। इति क्रोधस्य दोषानवबुध्य तं परिहरेत्। उक्तञ्च–

''नास्ति क्रोधसमं पापं, नास्ति क्रोधसमो रिपुः।
क्रोधो मूलमनर्थानां तस्मात् क्रोधं विवर्जयेत्॥'' इन्द्रवज्रावृत्तम् ॥२१६॥

अथ मानकषायस्य हानिं प्रदर्शयन्नाह–

(वसन्ततिलका)

चक्रं विहाय निजदक्षिणबाहुसंस्थं
यत्प्राव्रजन्ननु तदैव स तेन मुञ्चेत्।
क्लेशं तमाप किल बाहुबली चिराय,
मानो मनागपि हतिं महतीं करोति ॥२१७॥

दिया। बाद में कामदेव ने शंकर को किसी अतिदुःखकारी अवस्था को प्राप्त कराया। इसलिए ठीक ही कहा है कि देव हो या मनुष्य, किसको क्रोध की उदीरणा में एकत्वभाव प्राप्त होने से अपने अच्छे कार्य में क्लेश नहीं होता है। अपितु सभी को होता है। जो कोई भी कोप करता है वह जड़बुद्धि या मूर्ख बन जाता है क्योंकि चैतन्य का उपयोग उस समय पुद्गल जड़ कर्म के द्वारा किए गए भाव में तन्मय हो जाता है। क्रोध के आवेश से जो पहले दूसरों का अपकार करता है वही बाद में वैर बाँधकर जब दूसरे के अच्छा श्रेष्ठ कार्य करने का समय आता है तब उसे दुःख देता है। यदि वैर न भी बाँधे तो भी प्रीति (प्रेम) का विनाश तो अवश्य ही होता है। बार-बार जो कोप करता है वह विवेकशून्यता को उत्पन्न करता है। इस तरह क्रोध के दोषों को जानकर उसे छोड़ दो। कहा भी है–''क्रोध के समान पाप नहीं है, क्रोध के समान कोई शत्रु नहीं है। क्रोध ही सब अनर्थों का मूल है इसलिए क्रोध छोड़ देना चाहिए।'' यहाँ इन्द्रवज्रा छन्द है ॥२१६॥

बाहुबली के निजी दाहिनी चारु बाहु पर चक्र लसा।
उसे तजा मुनि हुवा वनी में निसंग वन निर्वस्त्र बसा।
उसी समय, पर मुक्त हुवा ना सुचिर काल तक क्लेश सहा।
स्वल्प 'मान' भी महा हानि का दायक है वृषभेश कहा ॥२१७॥

अन्वयः—बाहुबली निजदक्षिणबाहुसंस्थं चक्रं विहाय यत् प्राव्रजत् तदा एव स तेन ननु मुञ्चेत्, तं क्लेशं चिराय किल आप, मनाक् अपि मानः महतीं हतिं करोति।

चक्रमित्यादि। बाहुबली भरतस्य भ्राता। निजदक्षिणबाहुसंस्थं भरतनिक्षिप्तचक्रं बाहुबलीकर-स्थितम्। निजस्य स्वकीयस्य दक्षिणो बाहुर्भुजस्तत्र सं समीचीनं स्थं तत् तथोक्तम्। चक्रं चक्ररत्नम्। विहाय त्यक्त्वा। यत् यदा। प्राव्रजत् दीक्षां प्राप्तवान्। तदा तत्काले। एवावधारणे। स बाहुबली। तेन दीक्षाव्रतेन तपसा च। ननु वितर्के। मुञ्चेत् मुक्तो भवेत्। 'मुच्लृ मोचने' इति वि० लि०। तं अनशनैकस्थानयोगत्रय-सम्बन्धिनम्। क्लेशं कायकष्टम्। चिराय वर्षपर्यन्तम्। किल निश्चयेन। आप प्रापत्। 'आप्लृ व्याप्तौ' इति धोर्लिङन्तरूपम्। ततः सत्यमेवोक्तम्—मनाक् अल्पः। अपि च। मानः मानकषायः। महतीं अधिकाम्। हानिं कार्यविलम्बम्। करोति विदधाति। यत्क्षणे स प्रव्रजितवान् तत्क्षण एव केवलज्ञानं न प्रादुर्भवत् च चिरेण तपस्यन्नपि, तस्य कारणं मानलेशस्य सद्भावः इत्यत्र निगदितम्। अपरशास्त्रेषु अपि तच्चित्ते तस्य पूजापेक्षिता च तस्यावनौ स्थितोऽहम्, च मानकषायस्य कालुष्यं चेत्यादिरूपेण मानलवस्य सिद्धिर्निर्दर्शिता। सा च सूनृतमेव सूत्राविरुद्धाचार्यवचनात्। ननु च भावप्राभृते तु तेषां भावश्रामण्याभावाद् द्रव्यलिङ्गत्वं

उत्थानिका—अब मान कषाय कृत हानि को दिखाते हुए कहते हैं–

अन्वयार्थ—**(बाहुबली)** बाहुबली ने **(निजदक्षिणबाहुसंस्थं)** अपनी दक्षिण भुजा पर स्थित **(चक्रं)** चक्र को **(विहाय)** छोड़कर **(यत्)** जो **(प्राव्रजत्)** दीक्षा धारण की थी **(तदा)** तब **(एव)** ही **(सः)** वे **(तेन)** संसार से **(मुञ्चेत्)** छूटे **(तं क्लेशं)** तथा उस क्लेश को **(चिराय)** चिरकाल तक **(किल आप)** भोगे **(मनाक्)** थोड़ा **(अपि)** भी **(मानः)** मान **(महतीं हतिं)** महान् हानि **(करोति)** करता है।

अर्थ—बाहुबली ने अपनी दक्षिण भुजा पर स्थित चक्र को फेंक कर जब दीक्षा धारण की तभी वे मुक्त हुए। किन्तु चिरकाल तक क्लेश भी पाते रहे। ठीक ही है, थोड़ा भी मान महान् हानि करता है।

टीकार्थ—भरत के भाई बाहुबली ने भरत के द्वारा फेंके गए चक्र को छोड़कर दीक्षा धारण की। वह चक्ररत्न जो बाहुबली के हाथ में आ गया था उसको भी छोड़ दिया। उस दीक्षा के व्रत से और तप से वे मुक्त हुए। किन्तु एक वर्ष पर्यन्त अनशन, एक स्थान संबन्धी तीनों योगों के कष्ट को भी प्राप्त हुए। इसलिए ठीक ही कहा है कि थोड़ा भी मान कषाय कार्य में विलम्ब उत्पन्न कर देता है। जिस समय वे दीक्षित हुए उसी समय उन्हें केवलज्ञान नहीं हुआ और बहुत समय तक तपस्या करके भी हुआ तो उसका कारण लेशमात्र मान का सद्भाव रहा। यह यहाँ कहा है। अन्य शास्त्रों में भी बाहुबली के चित्त में ''भरत की पूजा की'' इस अपेक्षा, ''भरत की भूमि पर मैं खड़ा हूँ'', इस अपेक्षा मान कषाय की कलुषता रूप से मान की सिद्धि दिखाई है। यह सच है क्योंकि सूत्र अविरुद्ध आचार्यों के वे वचन हैं।

शंका—भावपाहुड में बाहुबली को भाव श्रामण्य का अभाव दिखाया है, जिससे द्रव्यलिंगपना

संसूचितं तत्कथं सम्भवेत्? तन्न युक्तम्, तत्रापि तेषां भावश्रामण्यस्य परिपूर्णताया विकलतां द्रष्टौ सम्भाव्य तथोक्तम्। न चैवं कथितेऽपि तेषां द्रव्यलिङ्गिव्यपदेशः स्यात् प्रमत्ताप्रमत्तगुणस्थानेऽनवरतस्थिततत्वात्। न च तेषां सर्वावधिमनःपर्ययज्ञानादिदुष्करर्द्धीनामुपलब्धिरन्यथा भवेत्, आर्षे खलु महापुराणे सर्वर्द्धिसम्पन्नता प्रोक्तत्वात्। भावप्राभृतेऽपि यत् मानकषायेण चित्ते कलुषता प्रोक्ता साऽतिलवमात्रिकेति वेदितव्या यथाऽत्र 'मनागपि मानः' इत्य-भिधेयतयाऽभिहितम्। उक्तं च-''**देहादिचित्तसङ्गो माणकसाएण कलुसिओ धीरो। अत्तावणेण जादो बाहुबली कित्तियं कालं॥**'' वसन्ततिलकावृत्तम् ॥२१७॥

अथ श्लोकद्वयेन साम्प्रतं गर्वो न कर्तुमुचित इत्याख्यायते-

(शार्दूलविक्रीडित)

सत्यं वाचि मतौ श्रुतं हृदि दया शौर्यं भुजे विक्रमे
लक्ष्मीर्दानमनूनमर्थिनिचये मार्गे गतिर्निर्वृतेः।
येषां प्रागजनीह तेऽपि निरहंकाराः श्रुते-र्गोचराः
चित्रं सम्प्रति लेशतोऽपि न गुणास्तेषां तथाऽप्युद्धताः ॥२१८॥

सूचित होता है, किन्तु यह कैसे संभव है ?

समाधान—ऐसा नहीं है, वहाँ भी उन बाहुबली को भाव श्रामण्य की परिपूर्णता से होने वाली कमी को दृष्टि में रखकर उस प्रकार कहा है। इस प्रकार कहने पर भी उनके द्रव्यलिङ्ग का कथन नहीं किया है क्योंकि प्रमत्त-अप्रमत्त गुणस्थान में वे निरन्तर स्थित थे और उनको सर्वावधिज्ञान, मनःपर्यय ज्ञान आदि दुष्कर ऋद्धियाँ प्राप्त थीं जो अन्यथा (द्रव्यलिंग से) नहीं हो सकती हैं। आर्ष में महापुराण ग्रन्थ में उनकी सर्वऋद्धिसम्पन्नता कही गई है। भावपाहुड़ में भी जो मानकषाय से चित्त की कलुषता कही गई है उसकी भी अति थोड़ी मात्रा जानना चाहिए। जैसा कि यहाँ भी 'थोड़ा सा मान' कहकर कहा है। कहा भी है-''देह आदि चित्त के साथ मानकषाय से कलुषित धीर। बाहुबली ने आतापन से कितना ही काल व्यतीत कर दिया।'' यहाँ वसन्ततिलका छन्द है ॥२१७॥

उत्थानिका—अब दो श्लोकों से 'गर्व करना उचित नहीं है', यह कहा जाता है-

अन्वयार्थ—(येषां) जिनके **(प्राक्)** पूर्वकाल में **(इह)** संसार में **(वाचि)** वचनों में **(सत्यं)** सत्य था, **(मतौ)** मति में **(श्रुतं)** श्रुतज्ञान था **(हृदि)** हृदय में **(दया)** दया थी **(भुजे)** भुजाओं में **(शौर्य)** शौर्य था **(विक्रमो)** पराक्रम था **(लक्ष्मीः)** लक्ष्मी थी जिससे **(अर्थिनिचये)** याचक समूह में

दान पुण्य में धन जिनके मन में आगम करुणा उर में।
शौर्य बाहु में सत्य वचन में लक्ष्मी परम पराक्रम में॥
शिवपथ चलते तदपि मान बिन गुणी पूर्व में बहु मिलते।
अब यह विस्मय गुण बिन जीते किन्तु गर्व से हैं चलते ॥२१८॥

अन्वयः—येषां प्राक् इह वाचि सत्यं, मतौ श्रुतं, हृदि दया, भुजे शौर्यं, विक्रमे लक्ष्मीः, अर्थिनिचये अनूनं दानं, निर्वृतेः मार्गे गतिः, अजनि ते अपि निरहंकाराः, श्रुतेः गोचराः, चित्रं सम्प्रति गुणाः लेशतः अपि न, तथा अपि तेषां उद्धताः।

सत्यमित्यादि। येषां चक्रवर्तितीर्थंकरकामदेवबलदेवादीनां सम्यग्दृशाम्। प्राक् पुरा चतुर्थकाले। इह अस्मिन् लोके मध्ये। वाचि वचनेषु। सत्यं मृषाशून्यता। मतौ ज्ञाने। श्रुतं द्वादशाङ्गम्। हृदि हृदये चित्ते। पृषोदरादौ हृदयस्य हृद् आदेशात् ईप्। दया कारुण्यवृत्तिः सर्वप्राणिषु स्वात्मवच्च स्वात्मीयजनवत्। 'जीवेषु दयावण्णा माया जह पुत्तभंडेसु' इति निर्वचनात्। भुजे बाहुयुग्मे। शौर्यं शूरता अपरिहार्यविजयता इत्यर्थः। विक्रमे पराक्रमे। लक्ष्मीः धनसम्पदा। स्वविक्रमाद् धनार्जनं क्षात्रधर्मत्वात्। अर्थिनिचये याचकसमूहे। अर्थयते याचते सोऽर्थी। तेषां निचयः समूहस्तस्मिन्। अनूनं सम्पूर्णम्। दानं प्रदानम् वितरणं वा। किमिच्छकदानेनाशेषार्थिनां तोषकरण-सामर्थ्यमित्यर्थः। निर्वृतेः निःश्रेयसे। मार्गे वर्त्मनि। गतिर्गमनम्। अन्ते तपोवनाय प्रस्थानं कृतकृत्यत्वात्। यदुक्तमन्यत्रापि–

''शैशवेऽभ्यस्तविद्यानां यौवने विषयैषिणाम्।
वार्धके मुनिवृत्तीनां योगेनान्ते तनुत्यजाम्॥''

(अनूनं दानं) खूब दान था **(निर्वृत्तेः)** निर्वृत्ति से **(मार्गे)** मोक्षमार्ग में **(गतिः)** गति थी **(अजनि ते अपि निरंहकाराः)** वे भी अहंकार रहित हुए थे **(श्रुतेः गोचराः)** और शास्त्रों में पढ़े जाते हैं। **(चित्रं)** आश्चर्य है कि **(सम्प्रति)** वर्तमान में **(गुणाः)** गुण तो **(लेशितः अपि न)** थोड़े से भी नहीं है **(तथा अपि)** फिर भी **(तेषां)** उनको **(उद्धताः)** घमण्ड है।

अर्थ—इस संसार में पुराकाल में जिनके वचनों में सत्य था, जिनकी बुद्धि में श्रुतज्ञान था, जिनके हृदय में दया थी, भुजाओं में शौर्य व पराक्रम था, लक्ष्मी थी, धन चाहने वालों को बहुत दान देते थे, संन्यास लेने से मोक्षमार्ग की शरण थी, वे लोग भी अहंकार रहित थे, ऐसा शास्त्रों से जाना जाता है। आश्चर्य है कि आज गुणों का लेशमात्र सद्भाव भी नहीं है फिर भी उनके उद्धतपना देखा जाता है।

टीकार्थ—चक्रवर्ती, तीर्थंकर, कामदेव, बलदेव आदि सम्यग्दृष्टि मनुष्य पहले चतुर्थकाल में इस लोक में थे। उनके वचनों में कभी झूठ नहीं होता था, मति में द्वादशांग का ज्ञान रहता था, सभी प्राणियों में अपनी आत्मा के समान या अपने आत्मीय सम्बन्धियों की तरह उनके हृदय में करुणा वृत्ति रहती थी। कहा भी है–''जैसे माता अपने पुत्र में स्नेह को प्राप्त होती है ऐसे ही जीवों में दयावान् होते हैं।'' उनकी दोनों भुजाओं में शूरता थी अर्थात् विजय कभी उनसे छूटती नहीं थी। वे लोग धनसम्पदा प्राप्त करते थे। जो धन चाहते हैं उन्हें अर्थी कहते है। उन याचकों के समूह को सम्पूर्ण दान या धनादि का वितरण करते थे। किमिच्छक दान से सभी याचकों को सन्तुष्ट करने की उनमें क्षमता थी। मोक्षमार्ग में उनकी प्रवृत्ति होती थी। अन्त में वे तपोवन को प्रस्थान करते थे, क्योंकि वे सभी कार्यों से कृतकृत्य रहते थे। अन्यत्र भी कहा है–

अजनि सम्प्राप्तवान्। 'जनी प्रादुर्भावे' इति लुङन्तम्। ते महापुरुषाः। अपि विस्मये। निरहंकाराः सर्वसमर्था अपि गर्वोक्तिरहिताः। श्रुतेः गोचराः पुराणाख्यानकेषु श्रुताः। चित्रमाश्चर्यम्। सम्प्रति हुण्डावसर्पिणीसंज्ञके कलिकाले। गुणाः क्षमादयाज्ञानविनयादयः। लेशतोऽपि मनागपि न सन्ति। तथापि तेषां उद्धता अहंकारता। गुणा गुणानेवाकर्षन्ति गुडवत्। मिथो विरुद्धा अपि गुणा गुणिषु संतिष्ठन्ते धर्मिणि धर्मवत्। यथा–सत्ये वचनेऽपि शान्तः, मतौ श्रुतेऽपि मौनम्, भुजे शौर्येऽपि दया, विक्रमेऽपि दानं वैभवेऽपि निर्वृतिमार्गगमनम् इत्यादि। यदुक्तम्–''ज्ञाने मौनं क्षमा शक्तौ त्यागे श्लाघाविपर्ययः। गुणा गुणानुबन्धित्वात् तस्य सप्रसवा इव।'' शार्दूलविक्रीडितवृत्तम् ॥२१८॥

पुनश्चाह–

(मालिनी)

वसति भुवि समस्तं सापि सन्धारितान्यैः
उदरमुपनिविष्टा सा च ते वा परस्य।
तदपि किल परेषां ज्ञानकोणे निलीनं,
वहति कथमिहान्यो गर्वमात्माधिकेषु ॥२१९॥

''शैशव काल में विद्या का अभ्यास करने वाले, यौवन में विषय चाहने वाले और वृद्धावस्था में मुनि वृत्ति रखने वाले भी योग (समाधि) से अन्त में शरीर को छोड़ने वाले होते थे।''

ऐसे वे महापुरुष सर्वसमर्थ होकर भी गर्वोक्ति (घमण्ड की बातें) नहीं करते थे। ऐसा पुराण और कथानकों में सुना है। आश्चर्य है कि इस हुण्डावसर्पिणी नाम के कलिकाल में क्षमा, दया, ज्ञान, विनय आदि गुण तो थोड़े भी नहीं हैं फिर भी उनकी अहंकारता तो देखो। गुण गुणों को गुड़ के समान आकर्षित करते हैं। आपस में विरुद्ध गुण भी गुणी जनों में रहते हैं जैसे धर्मी में विरुद्ध धर्म रहते हैं। जैसे–सत्यवचन होने पर भी शान्त रहना, बुद्धि में श्रुतज्ञान होने पर भी मौन रहना, भुजाओं में शौर्य होने पर भी दया होना, पराक्रम होने पर भी दान देना, वैभव होने पर भी मोक्षमार्ग में गमन होना इत्यादि। कहा भी है–''ज्ञान होने पर भी मौन, शक्ति होने पर भी क्षमा, त्याग होने पर भी प्रशंसा नहीं चाहना इस तरह गुण गुणों का ही अनुबन्ध करने वाले होते हैं जो उनके स्वयं उत्पन्न हुए थे।'' यहाँ शार्दूलविक्रीडित छन्द है ॥२१८॥

भू पर सब रहते भू रहती वात वलय के आश्रय ले।
वात वलय त्रय आश्रित चिर से रहते नभ के आश्रय ले॥
ज्ञेय बना नभ पूर्ण ज्ञान के एक कोन में जब दिखता।
निज से गुरु हैं उनसे लघु फिर किस विध वह मद कर सकता? ॥ २१९॥

अन्वयः—भुवि समस्तं वसति सा अपि अन्यैः सन्धारिता, सा ते च वा परस्य उदरं उपनिविष्टा, परेषां ज्ञानकोणे तत् अपि किल निलीनं, कथं इह अन्यः आत्माधिकेषु गर्वं वहति?

वसतीत्यादि। भुवि पृथिव्याम् लोकत्रये वा। समस्तं सकलम्। पदार्थकदम्बकमिति प्रोक्तं विशेष्यम्। विशेषणमात्रेण विशेष्यवृत्तेः परिज्ञानात्। क्वचित् विशेष्येण विशेषणस्य परिज्ञानं गौणमुख्यकल्पतो भवति। अथवा समस्तमिति क्रियाविशेषणं विज्ञेयम्। वसति तिष्ठति। सा भूः। अपि तथा च। अन्यैः वातवलयत्रिकैः। अनूदितमपि कथं विज्ञातमिति चेन्न, अनुक्तमतिज्ञानाच्च सर्वनामपदशक्तेश्च सूत्रार्थस्यान्यथानुपपत्तेश्च। सन्धारिता आधारं कृत्वा सन्तिष्ठमानाः। सा च भूः। ते वातवलयाः। च समुच्चये। वा विकल्पे। परस्य अलोकाकाशस्य। उदरं गर्भे। उपनिविष्टा विराजिताः। अलोकाकाशः सर्वव्यापी। तस्य बहुमध्यदेशे लोकत्रयाः। ते च वातवलयाश्रिताः। अलोकाकाशस्य मध्ये लोकाकाशस्तिष्ठतीत्यर्थः। न चेदं विरुद्धमार्षे प्रोक्तत्वात्–''सव्वागासमणंतं तस्स य बहुमज्झदिसभागम्हि। लोगो संखपदेसो जगसेढि घणपमाणो हु॥''

उत्थानिका—पुनः कहते हैं–

अन्वयार्थ—**(भुवि)** पृथ्वी पर **(समस्तं)** सब पदार्थ **(वसति)** रहते हैं **(सा अपि)** वह पृथ्वी भी **(अन्यैः)** अन्यों के द्वारा **(संधारिता)** धारण की गई है **(सा ते च वा)** वह पृथ्वी और वे अन्य भी **(परस्य)** दूसरे के **(उदरं)** उदर में **(उपनिविष्टा)** स्थित हैं **(परेषां)** दूसरों के **(ज्ञानकोणे)** ज्ञानकोण में **(तत् अपि)** वह भी **(किल)** निश्चित ही **(निलीनं)** लीन हुआ है **(कथं)** कैसे **(इह)** इस संसार में **(अन्यः)** अन्य कोई **(आत्माधिकेषु)** अपने से अधिक होने वालों में **(गर्वं)** गर्व **(वहति)** धारण कर सकता है ?

अर्थ—इस पृथ्वी पर सब कुछ है। वह भी किसी और ने धारण की है। वह पृथ्वी और वे अन्य भी किसी के पेट में पड़े हैं। और वह पदार्थ भी किन्हीं के ज्ञान के एक कोने में पड़ा है। ऐसी स्थिति में इस संसार में कोई अपने से अधिक वाले के होने पर गर्व कैसे कर सकता है ?

टीकार्थ—इस पृथ्वी पर या तीन लोकों में समस्त पदार्थ रहते हैं वह पृथ्वी भी तीनों वातवलयों से घिरी है।

शंका—यहाँ वातवलय का नाम लिया नहीं है, फिर आपने बिना कहे कैसे जान लिया?

समाधान—अनुक्त मतिज्ञान होने से, सर्वनाम पद की ऐसी शक्ति होने से, सूत्रार्थ की अन्यथा सिद्धि नहीं होने से जाना है।

वे वातवलय भी अलोकाकाश के गर्भ में रहते हैं। अलोकाकाश सर्वव्यापी है। उसके बहु मध्य भाग में तीन लोक हैं। वे तीनों लोक वातवलय के आश्रित हैं। अलोकाकाश के बीच में लोकाकाश रहता है, यह अर्थ है। यह सब विरुद्ध भी नहीं है क्योंकि आर्ष में कहा गया है–

''सर्व आकाश अनन्त है उसके बहुमध्य दिशा भाग में लोक है। वह लोक असंख्यात प्रदेश वाला और जगश्रेणी के घन प्रमाण है।''

परेषां केवलज्ञानिनाम्। परः उत्कृष्टः केवलज्ञानी। तेषाम्। ज्ञानकोणे ज्ञानस्यैकदेशे। तत् उपर्युक्त-लोकालोकाकाशस्वरूपम्। अपि तथैव। किल निश्चयेन निलीनं समाहितम्। कथमिति प्रश्ने। इह भरतक्षेत्रे। अन्यः कोऽपि छद्मस्थः। आत्माधिकेषु स्वस्माद्गुणबहुलेषु। गर्वमहङ्कारम्। वहति धारयति। स्वस्मादधिकं गुणेषु कोऽपि न वर्तत इत्यहङ्कारं दधातीत्यर्थः। मालिनीवृत्तम् ॥२१९॥

मायातो हानिदर्शनार्थं निदर्शनद्वारेण निर्दिशति–

(शिखरिणी)

यशो मारीचीयं कनकमृगमायामलिनितं,
हतोऽश्वत्थामोक्त्या प्रणयिलघुरासीद्यमसुतः।
सकृष्णः कृष्णोऽभूत् कपटबटुवेषेण नितरा,
मपि च्छद्माल्पं तद्विषमिव हि दुग्धस्य महतः ॥२२०॥

अन्वयः—मारीचीयं यशः कनकमृगमायामलिनितं, यमसुतः 'अश्वत्थामा हतः' (इति) उक्त्या प्रणयिलघुः आसीत्, कृष्णः कपटबटुवेषेण नितरां सकृष्णः अभूत्, तत् छद्म अल्पं अपि महतः दुग्धस्य विषं इव हि।

पर यानी उत्कृष्ट जो केवलज्ञानी है। उन केवलज्ञानियों के ज्ञान में एक स्थान में यह उपर्युक्त लोक, अलोक आकाश का स्वरूप समाहित रहता है।

फिर इस भरतक्षेत्र में कोई पुरुष अपने से अधिक गुणों वाले के होने पर भी अहंकार कैसे धारण कर सकता है ? अपने से अधिक गुण वाले के होने पर कोई अहंकार धारण नहीं करता है यह भावार्थ है। यहाँ मालिनी छन्द है ॥२१९॥

उत्थानिका—अब माया से हानि दिखाने के लिए उदाहरण द्वारा कहते हैं–

अन्वयार्थ—**(मारीचीयं यशः)** मारीच का यश **(कनक-मृग-माया-मलिनितं)** स्वर्ण के हिरण की माया से मलिन हुआ **(यमसुतः)** युधिष्ठिर **(अश्वत्थामा हतः)** 'अश्वत्थामा मारा गया' **(उक्त्या)** इस कथन से **(प्रणयिलघुः)** अपनों में ही छोटे **(आसीत्)** हो गए थे **(कृष्णः)** कृष्ण **(कपटबहुवेषेण)** छल से बटुक का वेष धारण करने से **(नितरां)** स्पष्टतया **(सकृष्णः)** कालिमा सहित **(अभूत्)** हुए **(तत्)** वह **(छद्म अल्पं अपि)** थोड़ा कपट भी **(महतः दुग्धस्य)** बहुत दूध के लिए **(विषं इव)** विष के समान है।

मरीचिका यश सुवरण मृग की माया से ही मलिन हुवा।
तुच्छ युधिष्ठिर हुवा कहा जब अश्वथाम का मरण हुवा॥
कपट बटुक का वेषधार कर सुनो! श्याम घनश्याम बने।
अल्प छद्म भी महा कष्ट दे जहर मिला पय प्राण हने ॥२२० ॥

यश इत्यादि। मारीचीयं मारीचाय हितः मारीचीयः। 'ईयस्तु हिते' इतीय-स्प्रत्ययः। यशः गुणाः कीर्तिर्वा। यशसो विशेषणत्वात् मारीचीयमिति। कथम्भूतम्? कनकमृगमायामलिनितं स्वर्णहरिणमाया-वेषवशापकीर्तिगतम्। कनकेन स्वर्णेन निर्मितः कनकमृगस्तस्य माया वञ्चना तेन मलिनितं मलिनतां गतं निन्दितं वा यशो यत् तत्। जानकीहरणाय दशाननाज्ञातो मारीचिनाममन्त्रिणा कपटहरिणवेषेण रामस्य वञ्चना कृता तस्यैतद्दृष्टान्तम्। न केवलं तस्यापि तु रावणस्यापि। यमसुतः धर्मराजो ज्येष्ठपाण्डवो युधिष्ठिरोऽभिधीयते। 'अश्वत्थामा हतः' इति वाक्यं द्रोणाचार्यस्य सङ्ग्रामतो वैमुख्यार्थमुच्चरितं। अश्वत्थामा द्रोणाचार्यस्य पुत्रः आसीत्। स्वपुत्रवधं निशम्य स युद्धात् व्युपरमत्। धर्मराजः सत्यनिष्ठः इति विश्रुतिर्लोके प्रसरत्। वचनच्छलेन तेनोपर्युक्तकथनं भाषितं पश्चात् मन्दस्वनैः 'नरो वा कुञ्जरो वा' इत्युदितमिति मायातश्चतुरङ्गुलोपरिस्थितरथाश्वा महीं स्पर्शितवन्तः। तथा किं चाभवत्? प्रणयिलघुः प्रणयिषु स्नेहिजनेषु लघुः कनिष्ठः। स धर्मराजः। आसीत् अभवत्। इति द्वितीयं दृष्टान्तम्। कृष्णः प्रसिद्धः। कपटवटुवेषेण कपटेन वटुवेषो यस्य स तेन कृष्णेन। नितरामत्यन्तम्। सकृष्णः कालिमासहितोऽपयशसः पात्रमित्यर्थः। कृष्णेन कालिमावर्णेन सहितो यः स तथोक्तः। 'हेऽकाले' इति हसः। एतत् तृतीयं वृत्तान्तं वामनपुराणादागतम्। अभूत् अभवत्। तत् एतत्। छद्म माया। 'छद संवरणे' इति मन् 'सर्वधातुभ्यो मन्' इति

अर्थ—मारीच का यश, स्वर्णमृग की माया रचने से मलिन हुआ। 'अश्वत्थामा मारा गया' इस कथन से युधिष्ठिर अपने स्नेही जनों में लघु हो गए। बटुक का कपट वेष धारण करने से वे कृष्ण भी निश्चित ही कालिमा सहित हुए। इस कारण से थोड़ा-सा छल भी बहुत मात्रा में रखे दूध में विष कणिका के समान हानिकारक है।

टीकार्थ—सीता का हरण करने के लिए रावण की आज्ञा से मारीच नाम के मन्त्री ने मायावी मृग का वेष धारण किया और राम को ठगा था। इस दृष्टान्त से यह कहा है कि इसी कारण से मारीच की अपकीर्ति हुई। न केवल मारीच का यश मलिन हुआ किन्तु रावण का भी हुआ।

यम के पुत्र धर्मराज, ज्येष्ठ पाण्डव युधिष्ठिर कहलाते हैं। 'अश्वत्थामा हतः' यह वाक्य द्रोणाचार्य को संग्राम से विमुख करने के लिए कहा था। अश्वत्थामा द्रोणाचार्य का पुत्र था। अपने पुत्र का वध सुनकर द्रोणाचार्य ने युद्ध से विराम ले लिया। धर्मराज सत्यनिष्ठ है, यह ख्याति लोक में फैली थी। वचन छल से उन्होंने उपर्युक्त कथन कहा, बाद में धीरे स्वर में ''मनुष्य भी हो सकता है अथवा हाथी भी हो सकता है।'' यह भी कह दिया। माया से चार अंगुल ऊपर स्थित रथ के घोड़ों ने उसी समय भूमि को स्पर्श कर लिया। जिससे वे धर्मराज अपने स्नेही जनों मे ही कनिष्ठ (छोटे) हो गए। यह दूसरा दृष्टान्त है।

कृष्ण का उदाहरण प्रसिद्ध है। कपट से वटुक वेष धारण करने से कृष्ण का यश भी अपयश का पात्र हुआ। यह तीसरा दृष्टान्त 'वामन पुराण' से आया है। बहुत परिमाण वाला दूध भी विष की बूँद के कारण विष बन जाता है। उसी तरह थोड़ा-सा भी छल महान् हानि करता है।

वचनात्। अल्पं स्तोकम्। अपि स्फुटम्। महतः बहुपरिमाणस्य। दुग्धस्य गोक्षीरस्य। विषं हालाहलं। इव उपमायाम्। हि निश्चयेन। किमर्थं दृष्टान्तद्वारेणैतद् व्याख्यानमिति चेन्न, 'दृष्टान्तेन हि स्फुटायते मतिः' रिति नीतिमनुसर्त्य न दोषः। कायवाक्मनसां निकृते दृष्टान्तं क्रमशः प्ररूपणत्वाद्वा। शिखरिणीवृत्तम् ॥२२०॥

पुनरपि निकृतिदोषानुद्भावयन्नाह–

(अनुष्टुप्)

भेयं मायामहागर्तान्मिथ्याघनतमोमयात्।
यस्मिंल्लीना न लक्ष्यन्ते क्रोधादिविषमाहयः ॥२२१॥

अन्वयः—यस्मिन् लीनाः क्रोधादिविषमाहयः न लक्ष्यन्ते (तस्मात्) मायामहागर्तात् मिथ्याघन-तमोमयात् भेयम्।

भेयमित्यादि। यस्मिन् मायामहागर्ते। लीनाः पतिताः। क्रोधादिविषमाहयः क्रोधादिकषायकुटिल-भयङ्करसर्पाः। विषमाश्च तेऽहयः सर्पाः विषमाहयः। क्रोधादयः एव विषमाहयः क्रोधादिविषमाहयः। न प्रतिषेधवचनम्। लक्ष्यन्ते दृश्यन्ते। मायाचारे संयुक्तो क्रोधलोभापयशोमत्सरादिष्वपि प्रवर्तत इति न

शंका—दृष्टान्त के द्वारा किसलिए यह व्याख्यान दिया गया है ?

समाधान—क्योंकि 'दृष्टान्त से बुद्धि अच्छी चलती है।' इस नीति का अनुसरण करने में कोई दोष नहीं है। काय का छल, वचन का छल, मन का छल, इन तीन दृष्टान्तों से क्रमशः कहा है, यह भी जानना। यहाँ शिखरिणी छन्द है ॥२२०॥

उत्थानिका—पुनः माया के दोष दिखाते हुए कहते हैं–

अन्वयार्थ—(यस्मिन्) जिसमें **(लीनाः)** लीन हुए **(क्रोधादिविषमाहयः)** क्रोध आदि विषम सर्प **(न लक्ष्यन्ते)** दिखाई नहीं देते हैं **(मायामहागर्तात्)** इस मायारूपी महागर्त से **(मिथ्याघन-तमोमयात्)** जो मिथ्यात्वरूपी घनीभूत अन्धकार मय है **(भेयम्)** डरना चाहिए।

अर्थ—जिसमें रहने वाले क्रोध आदि विषम सर्प दिखाई नहीं देते हैं ऐसे मिथ्यारूप घने अन्धकार मय मायारूप महान् गड्ढे से डरना चाहिए।

टीकार्थ—मायारूपी बड़े गड्ढे में पड़े हुए क्रोध आदि कषाय वाले कुटिल भयंकर सर्प दिखाई नहीं देते हैं। जो मायाचार सहित है वह क्रोध, लोभ, अपयश, मात्सर्य आदि में भी प्रवृत्ति करता है,

---

माया का जो गर्त रहा है अतल अगम अति बड़ा रहा।
सघन सघनतम मिथ्यातम से ठसा ठसा बस भरा रहा ॥
जिसमें अलिसम काली काली कराल कषाय नागिन हैं।
झुक-झुक कर यदि तुम देखो तो नहीं दीखती अनगिन हैं ॥२२१॥

विचिन्तयति। तस्मात् इति शेषः। मायामहागर्तात् माया एव महान् विशालोगर्तस्तस्मात्। कथम्भूतात्? मिथ्याघनतमोमयात् मिथ्यात्वनिबिडतिमिरयुतात्। मिथ्या मिथ्यात्वं एव घनं तमस्तेन निवृत्तस्तस्मात्। भेयं भेतव्यम्। 'काऽपादाने' इति का सुष्ठु। अनुष्टुप्छन्दः ॥२२१॥

निकृतिरात्मवञ्चनमिति यो न मनुते तं सम्बोधयन्नाह—

प्रच्छन्नकर्म मम कोऽपि न वेत्ति धीमान्
ध्वंसं गुणस्य महतोऽपि हि मेति मंस्थाः।
कामं गिलन् धवलदीधितधौतदाहं
गूढोऽप्यबोधि न विधुं स विधुन्तुदः कैः ॥२२२॥

अन्वयः—कः अपि धीमान् मम प्रच्छन्नकर्म न वेत्ति, महतः गुणस्य ध्वंसं अपि (न वेत्ति) इति हि मा मंस्थाः, विधुं धवलदीधितधौतदाहं कामं गिलन् स विधुन्तुदः गूढः अपि कैः न अबोधि?

प्रच्छन्नेत्यादि। कः अपि धीमान् बुद्धिमान्। मम निजात्मनः। प्रच्छन्नकर्म प्रच्छन्नं गुप्तं तिरोहितं वा

ऐसा कोई नहीं सोचता है। किन्तु ऐसा विचार करके मिथ्यात्वरूपी घनीभूत अन्धकार वाले विशाल गर्त में गिरने से डरना चाहिए। यहाँ अनुष्टुप् छन्द है ॥२२१॥

उत्थानिका—छल स्वयं को ठगना है, ऐसा जो नहीं मानता है उसको सम्बोधन करते हुए कहते हैं—

अन्वयार्थ—(कः अपि धीमान्) कोई भी बुद्धिमान व्यक्ति **(मम)** मेरे **(प्रच्छन्नकर्म)** अविज्ञात कर्म को **(न वेत्ति)** नहीं जानता है **(महतः गुणस्य)** मेरे महान् गुणों के **(ध्वसं अपि)** नाश को भी **(इति)** नहीं जानता है इसप्रकार **(मां मंस्थाः)** मत मानो **(विधुं)** चन्द्रमा जो **(धवलदीधितिधौतदाहं)** धवल कान्ति से दाह दूर करता है **(कामं गिलन्)** उसको भी खूब लीलते हुए **(स विधुन्तुदः)** वह राहु **(गूढः)** गूढ़ **(अपि)** होकर भी **(कैः न अबोधि)** किससे नहीं जाना जाता है ? अर्थात् सभी के द्वारा देखा जाता है।

अर्थ—मेरे गुप्त कर्म कोई बुद्धिमान नहीं जानता है, मेरे महान् गुणों का नाश भी कोई नहीं जानता है, इस प्रकार तुम मत समझो। जो चन्द्रमा अपनी निर्मल किरणों से जगत् की दाह समाप्त करता है उसको भी पर्याप्तरूप से अपना ग्रास बनाता हुआ राहु छिपा होने पर भी किसके ज्ञान में नहीं आता है ? अर्थात् प्रत्येक व्यक्ति राहु को जान लेता है।

टीकार्थ—मेरे ढके हुए गुप्त कर्म यानी छल-कपट से किये हुए मेरे गुप्त पाप को कोई भी

भीतर के मम गुप्त पाप वह किसी सुधी से विदित नहीं।
शुचि गुण की वह महा हानि भी मत समझो यों उचित नहीं ॥
धवल धवलतम निजकिरणों से ताप मिटाता शांत अहो!
उस शशि को जब निगल रहा हो गुप्त राहु क्या ज्ञात न हो ॥२२२॥

तत्कर्म तत् गुप्तमायाचारपापम्। न प्रतिषेधे। वेत्ति जानाति। महतः विशालस्य । गुणस्य सुकृतस्य। ध्वंसं विनाशम्। अपि च तथा। न वेत्ति क्रियाऽत्रापि योज्या। इति एवं प्रकारेण। हि खलु। मा प्रतिषेधवचनम्। मंस्थाः जानीहि त्वं हे भव्य! 'मन ज्ञाने' इति धोर्लुङन्तस्य मध्यमपुरुषैकवचनम्। ''लुङ्लुङ्लुलङ्यट्'' इत्यनेनाडागमः। तेन अमंस्थाः इति रूपम्। 'न माङ् योगे' इति सूत्रेणाडागमस्य प्रतिषेधः। दृष्टान्तेन तदाह– विधुं चन्द्रम्। कथम्भूतम्? धवलदीधितिधौतदाहं श्वेत-किरणप्रक्षालिततापम्। धवलाः शुभ्रा निर्मलाश्च ते दीधितयः किरणास्तै धौतः प्रक्षालितो दाहो तापो येन स तम्। काममत्यर्थम्। क्रियाविशेषणमेतत्। गिलन् आत्मसात्कुर्वन्। 'गृ निगरणे' इति धोर्गिलतीति गिलन्। स तदोरूपं पुंलिंगे। विधुन्तुदः राहुः। विधुं तुदतीति विधुन्तुदः। ''विध्वरुस्तिलेषु तुदः'' इति खश्। गूढः परैरदृश्यः। अपि सम्भावनायाम्। कैः अपरैर्जनैः। न प्रतिषेधे। अबोधि विज्ञातः। 'बुध अवगमने' इति धोर्लुङन्तरूपं कर्मणि वाच्ये। अर्थात् सर्वैरपि विज्ञात इत्यर्थः। मायावी कुशल-तयाऽपराधं करोति तथापि तस्य दोषा जले तरलतैलवत् परेषां दृष्टिपथेऽवतरन्ति। एकदा कृतमायादोषः सर्वदाऽविश्वास्यः शकुनिमातुलवत्। प्रच्छन्नमपि कर्मात्माच्छादनं करोति तस्य विपाको हि तिर्यग्योनिरिति न विस्मर्तव्यम्। वसन्ततिलकावृत्तम् ॥२१२॥

अथ लोभपरिणतेर्हानिं दर्शयन्नाह–

वनचरभयाद् धावन् दैवाल्लताकुलबालधिः
किल जडतया लोलो बालव्रजेऽविचलं स्थितः।
बत स चमरस्तेन प्राणैरपि प्रवियोजितः
परिणततृषां प्रायेणैवंविधा हि विपत्तयः ॥२२३॥

बुद्धिमान् नहीं जानता है और मेरे विशाल पुण्य गुणों का नाश भी कोई नहीं जान सकता है। इस प्रकार तुम हे भव्य! मत विचार करो। अपनी शुभ्र निर्मल किरणों से जगत् के ताप को दूर करने वाले चन्द्रमा को भी अत्यधिक आत्मसात् करता हुआ वह राहु भले ही दूसरों के देखने में नहीं आता है किन्तु उसके इस कृत्य से वह किसके जानने में नहीं आता है ? अर्थात् सभी के ज्ञान में आता है। मायावी व्यक्ति अपनी कुशलता से अपराध करता है फिर भी उसके दोष जल में पड़े तरल तैल की तरह ऊपर-ऊपर तैरते हुए किसके देखने में नहीं आते हैं ? अर्थात् सभी देख लेते हैं। एक बार किया गया छल का दोष भी सभी के लिए शकुनि मामा की तरह अविश्वास के योग्य बना देता है। चोरी छिपे किया हुआ गलत कार्य-कर्म आत्मा को आच्छादित करता है उसी कर्म का फल तिर्यंचयोनि है, यह नहीं भूलना चाहिए। यहाँ वसन्ततिलका छन्द है ॥२२२॥

वनचर भय से चमरी भागी विधिवश उलझी पूँछ कहीं।
लता कुंज में बाल लोलुपी अचल खड़ी सुध भूल वहीं ॥
फलतः जीवन से धो लेती हाथ यही बस खेद रहा।
विपदाओं से घिरे रहें अति लोभी जन 'यह वेद' रहा ॥२२३॥

अन्वयः—चमरः धावन् वनचरभयात् दैवात् लताकुलबालधिः जडतया लोलः बालव्रजे किल अविचलं स्थितः, बत स तेन प्राणैः अपि प्रवियोजितः प्रायेण परिणततृषां एवंविधा हि विपत्तयः।

वनचरेत्यादि। चमरो मृगविशेषो मनोहरबालभारः। धावन् धावतीति धावन्। कस्मात् कारणात्? वनचरभयात् सिंहव्याघ्रभीतेः। दैवात् दुर्भाग्यात्। लता-कुलबालधिः शाखालताक्षुपसमूहबद्धपुच्छबालः। लतायाः कुलं समूहस्तत्र बाला धीयन्ते यस्य स तथोक्तः। 'कर्मण्यधिकरणे च' इत्यनेन किः प्रत्ययः। जडतया अज्ञानेन। जडता अज्ञानता तया। लोलो लम्पटः। बालव्रजे केशसमूहे। बालानां व्रजः सङ्घातस्तत्र। किल स्फुटम्। अविचलं अङ्गस्पन्दनेन विना। स्थितः स्थः स्यात्। बत खेदस्य विषयः। स चमरः। तेन वनचरेण। प्राणैः असुभिः। अपि तथा। प्रवियोजितः विमोचितः। स्वपुच्छलोलश्चमरो मौढ्यात् केशानां भङ्गो न भवेदिति भीत्या स्वप्राणभङ्गोऽपि न गणयति। प्रायेण बाहुल्येन। परिणततृषां प्रवृद्धतृष्णानाम्। परिणतं प्रकर्षप्राप्तं तृट् तृष्णा यस्य स परिणततृट् तेषाम्। एवंविधा इत्थंभूताः। हि निश्चयेन। विपत्तयः सङ्कटाः। भवन्ति इति शेषः। अयमेकः कथानकः। प्रतिप्राणि लोभमूर्तिः। सर्वत्यागिनोऽपि देहलोभिनो भवन्ति। ततो हे श्रमण! देहलोभ

उत्थानिका—अब लोभ परिणति की हानि को दिखाते हुए कहते हैं-

अन्वयार्थ—(चमरः) चमर गाय **(धावन्)** दौड़ती हुई **(वनचरभयात्)** वनचर प्राणी के भय से **(दैवात्)** दुर्भाग्य से **(लताकुलबालधिः)** उसकी पूँछ लताओं के समूह में उलझ गई **(जडतया)** जड़ बुद्धि से **(लोलः)** लुब्ध हुई **(बालव्रजे)** अपने केश समूह में **(किल)** वह निश्चित ही **(अविचलं स्थितः)** बिना हिले डुले खड़ी रही **(बत)** खेद है **(सः)** वह **(तेन)** उसी कारण से **(प्राणैः अपि)** प्राणों से भी **(प्रवियोजितः)** नष्ट हो गई **(प्रायेण)** प्रायः करके **(परिणततृषां)** तृष्णा युक्त प्राणियों को **(एवंविधा हि)** इस प्रकार की ही **(विपत्तयः)** विपत्तियाँ आती हैं।

अर्थ—सिंह आदि वन्य प्राणियों के भय से दौड़ती हुई चमर गाय दुर्भाग्य से लता झाड़ियों में बाल के उलझ जाने से उन बालों के मोह से, मूढ़ता से उसी स्थान पर खड़ी रही। खेद है कि वह उन बालों के मोह से अपने प्राण गँवा बैठी। प्रायः तृष्णा वाले जीवों को इस प्रकार से ही विपत्तियाँ आती हैं।

टीकार्थ—मनोहर बालों के भार को धारण करने वाला मृगविशेष चमर होता है। इसी को कुछ लोग चमर गाय कहते हैं। सिंह, व्याघ्र के डर से दौड़ते हुए दुर्भाग्य से उसकी पूँछ के बाल लताओं के झुरमुटों में उलझ जाते हैं। तो वह अपने अज्ञान से केशसमूह में आसक्ति रखते हुए अपने शरीर को हिलाता डुलाता नहीं है और वहीं निश्चल खड़ा रहता है। खेद की बात है कि वह चमर वनचर सिंहादि से मार दिया जाता है। अपनी पूँछ में आसक्त चमर अपनी मूर्खता से कि मेरे बाल टूट न जाएँ इस डर से अपने प्राणों का विनाश नहीं देख पाता है। प्रायः जिनकी तृष्णा बढ़ी हुई रहती है ऐसे जीव इस प्रकार के संकट में पड़ जाते हैं। यह तो एक कथानक है। संसार में प्रत्येक प्राणी लोभ की मूर्ति है। सर्वस्व त्याग करने वाले भी शरीर का लोभ तो करते ही हैं। इसलिए हे श्रमण! इस देह का लोभ भी

एव निशुम्भनीयो भवबीजत्वात्। हरिणीवृत्तम् ॥२२३॥

कषायविजयनायालमुतान्यामपि सामग्रीमासन्नभव्योऽपेक्षते इति चित्ताकुलतां व्यापादयन्नाह–

विषयविरतिः सङ्गत्यागः कषायविनिग्रहः,
शमयमदमास्तत्त्वाभ्यासस्तपश्चरणोद्यमः ।
नियमितमनोवृत्तिर्भक्तिर्जिनेषु दयालुता,
भवति कृतिनः संसाराब्धेस्तटे निकटे सति ॥२२४॥

अन्वयः—संसाराब्धेः तटे निकटे सति कृतिनः भवति–विषयविरतिः, सङ्गत्यागः, कषायविनिग्रहः, शमयमदमाः, तत्त्वाभ्यासः, तपश्चरणोद्यमः, नियमितमनोवृत्तिः, जिनेषु भक्तिः, दयालुता।

विषयेत्यादि। संसाराब्धेः पञ्चपरावर्तनरूपसंसारसागरस्य। संसार एव अब्धिः सागरः स तस्य। तटे तीरे। निकटे सामीप्ये। सति भवति। 'सति च' इत्यनेन सत्यर्थे तटे निकटे इति सप्तमी सुष्ठु। कस्य? कृतिनः पुण्यविपाकिनः। कृतं सुपुण्यं अस्यास्तीति कृती पुण्यवान्। तस्य निदानरहितपुण्यवतोऽन्यस्यामार्गत्वात्।

नष्ट करने योग्य है क्योंकि यही भव का बीज है। यहाँ हरिणी छन्द है ॥२२३॥

उत्थानिका—कषायों को जीतने की बात बहुत हुई। इसके अलावा और अन्य भी सामग्री है जो आसन्न भव्य को अपेक्षित है, इस प्रकार के चित्त की आकुलता को दूर करते हुए कहते हैं–

अन्वयार्थ–(संसाराब्धेः) संसार सागर के **(तटे निकटे सति)** तट के निकट होने पर **(कृतिनः)** पुण्यात्मा को **(भवति)** होता है **(विषयविरतिः)** विषयों से विरक्ति **(सङ्गत्यागः)** परिग्रह का त्याग **(कषायविनिग्रहः)** कषायों का रुकना **(शम-यम-दमाः)** शम, यम और दम **(तत्त्वाभ्यासः)** तत्त्वों का अभ्यास **(तपश्चरणोद्यमः)** तपश्चरण का प्रयत्न **(नियमितमनोवृत्तिः)** मनोवृत्ति का रुक जाना **(जिनेषु)** जिनेन्द्र देवों में **(भक्तिः)** भक्ति और **(दयालुता)** दयालुपना होता है।

अर्थ—विषयों से अरुचि, परिग्रह का त्याग, कषायों का निग्रह, शम, यम, दम से सहित, तत्त्व का अभ्यास, तपश्चरण में उद्यम, मनोवृत्ति का संयमित होना, जिनभक्ति और दयालुता संसार सागर के तट के निकट पहुँचे पुण्यात्मा के पास होती है।

टीकार्थ—श्रेष्ठ पुण्य वाले जीव को सुकृती कहते हैं क्योंकि वही निदान रहित पुण्यवाला मोक्षमार्गी है अन्य तो मार्ग से दूर हैं। अथवा कृती सम्यग्ज्ञानी को या कुशल को कहते हैं। पञ्च परावर्तन रूप संसार सागर का तीर (किनारा) निकट आजाने पर उस आसन्न सम्यग्दृष्टि कृती के पास

तत्त्व मनन यम दम शम पालन तप तपना मन वश करना।
कषाय निग्रह संग त्याग औ विषयों में ना फँस मरना।
दया, भक्ति जिन की करना ये भविक-जनों में प्रकट रहें।
भाग्य खुला बस समझो उनका भवदधि तट जब निकट रहे ॥२२४॥

अथवा कृती सम्यग्ज्ञानी कुशलो वा। तस्यासन्नसद्दृष्टेः। भवति अस्ति। किं तत्? विषयविरतिः विषयेषु मनोज्ञाऽमनोज्ञेषु मनसो विरतिर्विरामो मध्यस्थता वा। तत्कथं स्यात्? सङ्ग-त्यागः परिग्रहपरित्यजनम्। सङ्गो धनधान्यभूमिगृहादिस्तस्य त्यागो बुद्धौ अन्यस्वभावत्वादेतस्या स्वीकृतिः। सङ्गत्यागेन विना विषयविरतिर्न भवेदिति हेतुहेतु-मद्भावः। पुनश्च किम्? कषायविनिग्रहः क्रोधादीनां वशीकरणम्। क्रोधादिषु लोभः सर्वनिकृष्टः कषायस्तस्य विनिग्रहोऽवश्यमेव कार्यः। तेन विना सङ्गत्यागो न सम्भवेदिति। स च कथम्? शमयमदमाः तत्र शमः संवेगः, यमो यावज्जीवं व्रतत्वम्। दमो विषयाद् वैमुख्यम्। शमश्च यमश्च दमश्चेतरतर द्वन्द्ववृत्तेः शमयमदमाः कषायविनिग्रहस्य हेतवः। पुनश्च कथंभूतः? तत्त्वाभ्यासः भेदविज्ञानवृत्तिः। तत्त्वे जीवस्याजीवस्य वा स्वरूपेऽभ्यासः सामीप्यं तथोक्तः। येन विना शमयमदमेषु रुचिर्न जायते ततो हेतुत्वम्। तपश्चरणोद्यमः कायोत्सर्गोद्योगः। तपश्चरणं कायोत्सर्गो बाह्यतपस्सु चरमभेदः। स एव प्रत्यय-स्तत्त्वाभ्यासायाभ्यन्तरतपसे। नियमितमनोवृत्तिः चित्तस्य स्थैर्यम्। नियमिता गृहीता मनसो वृत्तिर्विषयो यत्र यस्य वा सा कायोत्सर्गनिमित्तम्। तस्य किं कारणम्? जिनेषु भक्तिः चतुर्विंशति-तीर्थकरेषु तथाभवनायान्तराशा। तत्कथम्? दयालुता करुणा। 'निद्रातन्द्रा...' इत्यादिना मत्वर्थे आलुः। तस्य भावो दयालुता 'तत्त्वौ भावे' इति वचनात्। सर्वजीवेषु दयार्द्रहृदयो तीर्थकृति भगवति भक्तिपरः स्यात् तस्योपकृति-प्रकर्षभावदर्शनात्। ततो जीवेषु दयालुताद्यो हेतुः सम्यग्दृष्टेरिति। हरिणीवृत्तम् ॥२२४॥

आवश्यकरूप से ये गुण होते हैं–मनोज्ञ और अमनोज्ञ पंचेन्द्रिय के विषयों से वह विराम अथवा मध्यस्थता धारण कर लेता है। यह कैसे होता है ? परिग्रह के त्याग से। धन, धान्य, भूमि, घर आदि परिग्रह हैं। ये परिग्रह मेरे आत्मस्वभाव से अन्य स्वभाव वाले हैं, इस प्रकार बुद्धि में इन परिग्रह की स्वीकृति नहीं होती है, यह कारण-कार्य का भाव है और क्या ? क्रोध आदि कषायों का वश में करना। इन क्रोध आदि कषायों में लोभ कषाय सबसे ज्यादा निकृष्ट है उसका निग्रह अवश्य ही करना चाहिए। लोभ कषाय को वश में किए बिना परिग्रह त्याग नहीं हो पाता है। वह कषाय भी कैसे वश में हो ? शम, दम, यम से। संवेग भाव शम है। जीवनपर्यन्त के लिए व्रत धारण करना यम है। विषयों से विमुख होना दम है। ये शम, यम, दम ही कषायों के निग्रह के कारण हैं। भेदविज्ञान की प्रवृत्ति होना तत्त्व का अभ्यास है। जीव और अजीव दो तत्त्व हैं। उनके स्वरूप में निकटता ही तत्त्वाभ्यास है। इस तत्त्व के अभ्यास के बिना शम, यम, दम में रुचि उत्पन्न नहीं होती है इसलिए तत्त्वाभ्यास भी शमादि के लिए हेतु (कारण) है। बाह्य तपों में अन्तिम भेदरूप कायोत्सर्ग तप ही तपश्चरण है। इस तप में उद्यम करना ही तत्त्व अभ्यास रूप अन्तरंग तप के लिए कारण है। जिस कायोत्सर्ग में या जिसमें मन की वृत्ति रुक जाती है ऐसी चित्त की स्थिरता कायोत्सर्ग के लिए कारण है। उस चित्त की स्थिरता का कारण भी क्या है ? चौबीसों तीर्थंकर जिनेन्द्र भगवान में भक्ति होना। भक्ति का अर्थ उन्हीं के जैसे होने की अंतरंग की प्रबलेच्छा। वह भक्ति कैसे आती है ? दयालुता, करुणा से। सभी जीवों में दया से आर्द्र हृदय ही तीर्थंकर भगवान की भक्ति में तत्पर होता है क्योंकि ऐसे जीव में ही उपकार के प्रकर्षभाव देखे जाते हैं। इसलिए जीवों में दयालुता आदि सम्यग्दृष्टि जीव होने के हेतु हैं। यहाँ हरिणी छन्द है ॥२२४॥

स संसारतीरे विराजमानः कथं राजते मुनिमहाराज इति व्यञ्जयन्नाह–

(मालिनी)

यमनियमनितान्तः शान्तबाह्यान्तरात्मा
परिणमितसमाधिः सर्वसत्त्वानुकम्पी।
विहितहितमिताशी क्लेशजालं समूलं,
दहति निहतनिद्रो निश्चिताध्यात्मसारः ॥२२५॥

अन्वयः—यमनियमनितान्तः, शान्तबाह्यान्तरात्मा, परिणमितसमाधिः, सर्वसत्त्वानुकम्पी, विहितहित-मिताशी, निहतनिद्रः, निश्चिताध्यात्मसारः, समूलं क्लेशजालं दहति।

यमनियमेत्यादि। यमनियमनितान्तः तत्र यमो यावज्जीवं व्रतं, नियमः परिमितकालव्रतम्। 'यमः सन्निव्युपे च' इति सूत्रात्। यमश्च नियमश्च यमनियमौ। तयोर्नितान्तमतिशयेन तत्परो यः सः। मूलोत्तरगुणेषु सदोद्यत इत्यर्थः। कथम्भूतः सः? शान्तबाह्यान्तरात्मा निरुद्धेन्द्रियमनोव्यापारः। बाह्यात्मा हृषीकाश्रितशरीरम्।

उत्थानिका—संसार के किनारे बैठे हुए वे मुनिमहाराज कैसे शोभते हैं, यह दिखाते हुए कहते हैं–

अन्वयार्थ—**(यमनियमनितान्तः)** यम, नियम में तत्पर **(शान्तबाह्यान्तरात्मा)** बाहर-भीतर से शान्त आत्मा **(परिणमित समाधिः)** समाधि में परिणत **(सर्वसत्त्वानुकम्पी)** सभी जीवों में दयावान् **(विहितहितमिताशी)** शास्त्र कथित, हित, मित भोजी **(निहतनिद्रः)** निद्रा को जीतने वाले **(निश्चिताध्यात्मसारः)** अध्यात्म के सार का निश्चय किए हुए **(समूलं)** जड़ सहित **(क्लेशजालं)** क्लेशों के समूह को **(दहति)** जलाते हैं।

अर्थ—यम-नियम में लगे रहने वाले, बाहर-भीतर शान्त आत्मा, समाधि में परिणमन करते हुए, सभी जीवों में दया भाव रखने वाले, शास्त्र कथित हित, मित भोजन करने वाले, निद्रा के उदय को जीतने वाले, अध्यात्म के सार का जिन्होंने निश्चय किया है, ऐसे मुनि समूल क्लेशजाल को जला देते हैं।

टीकार्थ—जीवन पर्यन्त के लिए लिया गया व्रत यम है। परिमित काल के लिए लिया गया व्रत नियम है। इन यम, नियम दोनों में अत्यधिक जो तत्पर है अर्थात् मूलगुण और उत्तरगुणों में सदा उद्यत रहते हैं, वे कैसे होते हैं ? इन्द्रिय और मन के व्यापार को रोकने वाले होते हैं। इन्द्रियों के आश्रित शरीर

सब जीवों पर करुणा रखते ध्यानन में नित निरत रहें।
अशन यथाविधि स्वल्प करें मुनि जितनिद्रक हैं विरत रहें॥
दृढ़तर संयम नियम पालते बाहर भीतर शांत रहें।
समूल दुख को नष्ट करें वे सार आत्म का ज्ञात रहे ॥२२५॥

अन्तरात्मा हृषीकेशः चित्तम्। शान्तःप्रास्तश्रान्तं गतो बाह्यान्तरमात्मा यस्य स जिनरूपसदृशः इत्यर्थः। तेन किम्? परिणमितसमाधिः ध्याननिलीनः। समः समता धीयतेऽस्मिन्निति समाधिः। 'गौ भोः किः' इत्यनेन किः। परिणमितस्तद्रूपतां गतः समाधौ यः स तथोक्तः। पुनश्च कथम्भूतः? सर्वसत्त्वानुकम्पी सकलप्राणिगणदया-भिभूतः। सर्वेषु च सत्त्वेषु जीवेषु एकेन्द्रियप्रभृतिपञ्चेन्द्रियेषु अनुकम्पा दयाऽस्यास्तीति स तथाभूतः। 'अतोऽनेकाचः' इत्यस्त्यर्थे इन्। पुनश्च किं विशिष्टः? विहितहितमिताशी आचारशास्त्रकथित-पथ्यपरिमितभोजी। विहितं यथा मूलाचारादिषु कथितं, हितं स्वाध्यायध्यानाविघ्नकरम्, मितं परिमितं। विहितहितमितमश्नातीत्येवंशीलः सः। 'शीलेऽजातौ णिन्' इति शीलार्थे णिन्। तेन किं? निहतनिद्रः निद्रालस्यजयी। निहता जिता निद्रा येन सः। 'स्त्र्युक्तपुंस्कादनूरेकार्थेऽडट् प्रियादौ स्त्रियाम्' इति सूत्रेण बसे पूर्वपदस्य पुंवद्भावः। स एव किम्? निश्चिताध्यात्मसारः अनुभूतशुद्धात्मस्वरूपः। निश्चितो निश्चयेऽनु-भूतोऽध्यात्मनः शुद्धात्मनः सारोऽभेदरत्नत्रय परिणतिः येन सः। समूलं मूलसहितं कर्मागमनं विनाक्षपण-मात्रात्। क्लेशजालं अष्टकर्मसमूहम्। दहति निर्जरति क्षपयति भस्मसात् करोति वा। मालिनीवृत्तम् ॥२२५॥

संसारतीरेऽनवरतं सन्तरन् स यातपार एवेत्यत्राह–

समधिगतसमस्ताः सर्वसावद्यदूराः
स्वहितनिहितचित्ताः शान्तसर्वप्रचाराः।
स्वपरसफलजल्पाः सर्वसङ्कल्पमुक्ताः,
कथमिह न विमुक्तेर्भाजनं ते विमुक्ताः ॥२२६॥

बाह्यात्मा है। इन इन्द्रियों का स्वामी चित्त हृषीकेश है, वही अन्तरात्मा है। जिनके बाह्य इन्द्रिय और अन्तरंग चित्त शान्त हुए हैं, वे जिनरूप के समान हैं। इससे क्या होता है ? वे ध्यान में लीन होते हैं। जिसमें समता धारण की जाती है उसे समाधि कहते हैं। जो समता स्वरूप को प्राप्त हैं वे ही समाधि से परिणत हैं। वे समस्त प्राणियों के समूह में दया से युक्त हैं। एकेन्द्रिय से पंचेन्द्रिय तक सभी जीवों में जो दयाभाव धारण करते हैं। जो **मूलाचार** में कहा है उसके अनुसार, स्वाध्याय और ध्यान में विघ्न न करें वे हितकर और परिमित भोजन करने वाले होते हैं। निद्रा, आलस्य को जीतने वाले हैं। जिन्होंने शुद्धात्मा का स्वरूप अनुभूत किया है। शुद्धात्मा का सार अभेद रत्नत्रय की परिणति है। वे ही कर्मों के आगमन के बिना कर्मक्षपण करने मात्र से अष्ट कर्मसमूह क्षय करते हैं, या उसकी निर्जरा करते हैं या उन्हें भस्मसात् करते हैं। यहाँ मालिनी छन्द है ॥२२५॥

निज हित में ही दत्त चित्त हैं सकल पाप से दूर रहें।
स्वपर भेदविज्ञान सहित हैं इन्द्रिय-विजयी शूर रहें॥
निज पर हित हो बोल बोलते मन में कुछ संकल्प नहीं।
शिव सुख भाजन क्यों ना हो मुनि अनल्प सुख हो अल्प नहीं ॥२२६॥

अन्वयः—(ये) समधिगतसमस्ताः सर्वसावद्यदूराः, स्वहितनिहितचित्ताः, शान्तसर्वप्रचाराः, स्वपरस-फलजल्पाः, सर्वसङ्कल्पमुक्ताः, ते विमुक्ता इह कथं न विमुक्तेः भाजनम्।

समधिगतेत्यादि। ये इति योज्यं यदो रूपं यत्तदोर्नित्यसम्बन्धात्। के ते इत्याह—समधिगतसमस्ताः सम् समीचीनतया अधिगतं परिज्ञातं समस्तं हेयोपादेयतत्त्वं सूत्रार्थभावसमुदितं च यैस्ते। अथवा समधिगतः प्राप्तः सं संसारं तस्यास्तं कूलं येन स ते। संसृतिकूलस्थिताः इत्यर्थः। तत्र कथम्भूतास्ते? सर्वसावद्यदूराः सकलहिंस्य-हिंसकभावरहिताः। सर्वसावद्याः महारम्भाः प्राणिगणघातका तेभ्यो दूरा ये ते। स्वहित-निहितचित्ताः स्वात्मलाभयुक्तमनसः। स्वस्य हितं स्वहितं तस्मिन् निहितः समाहितो युक्तो येषां चित्तं ते। 'आदहिदं कायव्वं' इति सूत्रे दत्तचित्ताः। शान्तसर्व-प्रचाराः गमनोपवेशनजल्पनशयन-स्वाध्यायादिप्रवृत्तिषु सहजाः। शान्तमुपाशान्तभावं गताः कामशरविकाररहितत्वात् येषां सर्वप्रचाराः सकलेन्द्रियप्रवृत्तयस्ते तथोक्ताः। अपरञ्च किम्? स्वपरसफलजल्पा स्वपरोपकारवचनमयूखाः। स्वपरयोः सफलः फल-सहितोऽनर्थकवचनेषु मौनत्वात् जल्पः प्रवचनो येषां ते। यथाऽन्योऽधिकशुल्कभयात् दूरसंचारयन्त्रे मितमावश्यकमात्रं प्रवदति तथा मुनिर्मनोविक्षेपभयात्। किं विशिष्टाश्च? सर्वसङ्कल्पमुक्ताः अशेषसङ्कल्प-

---

उत्थानिका—संसार के किनारे पर निरन्तर तैरते हुए वे संसार का पार पा लेते हैं, यह यहाँ कहते हैं—

अन्वयार्थ—(समधिगतसमस्ताः) जिन्होंने समस्त वस्तु समूह जान लिया हो **(सर्वसावद्य-दूराः)** सभी सावद्य से दूर है **(स्वहित-निहित-चित्ताः)** अपने हित में जिन्होंने चित्त लगा रखा है **(शान्तसर्वप्रचाराः)** सभी प्रचारों का शान्त किया है **(स्व-पर-सफलजल्पाः)** स्व पर के लिए सफल वचन वाले **(सर्वसंकल्प-मुक्ताः)** सभी संकल्पों से मुक्त **(ते)** वे **(विमुक्ताः)** विमुक्त जीव **(इह)** इस लोक में **(कथं)** कैसे **(न विमुक्तेर्भाजनम्)** मुक्ति के पात्र न होंगे ?

अर्थ—जिन्होंने समस्त पदार्थों को जान लिया है, सभी सावद्य (पाप) योग से दूर हैं, अपने हित में जो चित्त लगाये हैं, सभी इन्द्रियों का प्रचार शान्त है, स्वपर हितकारी वचन हैं, समस्त संकल्पों से मुक्त हैं, वे मुक्तजीव इस लोक में विमुक्ति के भाजन कैसे नहीं होंगे ? अर्थात् अवश्य होंगे।

टीकार्थ—सूत्र के अर्थ और भाव सहित समस्त हेयोपादेय तत्त्व को जिन्होंने जान लिया है अथवा संसार का किनारा पा लिया है जिन्होंने वे संसार के तट पर स्थित हैं। समस्त हिंस्य-हिंसक भाव से जो रहित हैं। प्राणियों के समूह का घात करने वाले महान् आरम्भ से जो दूर हैं। स्वात्मलाभ सहित जिनका मन है। अपने हित में जिनका चित्त लगा है वे ''आत्महित पहले करना चाहिए'' अर्थात् ''आदहिदं कादव्वं'' इस सूत्र में अपना चित्त लगाये हैं। गमन करना, बैठना, बोलना, शयन करना, स्वाध्याय आदि प्रवृत्तियों में जो सहज हैं। समस्त इन्द्रियों की प्रवृत्तियाँ काम के विकार रहित होने से शान्त हुई हैं। जो अनर्थक वचनों में मौन रहते हैं तथा स्व-पर के लिए उपकारी वचन बोलते हैं। जैसे अन्य कोई जीव अधिक पैसा लगेगा, इस भय से टेलीफोन से थोड़ी आवश्यक मात्र बोलता है उसी

विकल्पकल्पवृक्षच्छायारहिताः। तद्यथा वृक्षच्छायायामवतिष्ठमानः कोऽपि पथिको भुक्तिपानशयनासनं विचिन्तितक्षणे हि सम्प्राप्तवान्। पुनश्च भयात् व्याघ्रागमनं न भवेदिति सङ्कल्पमात्रे व्याघ्रः पुरः समागतः। पुनश्च चिन्तितं मम भक्षणो येन न स्यादिति विकल्पलवे स भक्षितश्च पञ्चतां गतः कल्पवृक्षस्याधः स्थितत्वात्, तथा हि चित्तमेतदप्रयोजनीभूतं बहुशो बहुवारं बहुधा विचिन्त्यात्मनो बहुहानिं विधत्ते तेन प्रबुद्धमतयोऽशेषसङ्कल्परहिता भवन्तीति। ते एवंभूतगुणाढ्या। विमुक्ता मोक्षंगताः। इह अस्मिन् काले। विमुक्ता इव साम्प्रत-मवतिष्ठन्ते। कथं केन कारणेन। न प्रतिषेधे। विमुक्तेरनन्तज्ञानदृशात्मकसुखरूपस्य। भाजनं पात्रं भविष्यन्तीति क्रियाशेषः। अन्यभवेऽवश्यं हि मुक्तिमुपलप्स्यन्त इत्यर्थः। विमुक्ता इव विमुक्ताः। 'देवपथादिभ्यः' इतीवार्थस्य कस्योस्। यद्वा विमुक्ता मुनयः, मुनेः पर्यायवाचित्वात् सुखिवत्। मालिनीवृत्तम् ॥२२६॥

एवं विधगुणनिचितोऽपि न प्रमादी भवेदिति प्रबोधयन्नाह-

(शार्दूलविक्रीडित)

दासत्वं विषयप्रभो-र्गतवतामात्मापि येषां पर-
स्तेषां भो गुणदोषशून्यमनसां किं तत्पुनर्नश्यति।
भेतव्यं भवतैव यस्य भुवनप्रद्योति रत्नत्रयं
भ्राम्यन्तीन्द्रियतस्कराश्च परितस्त्वां तन्मुहुर्जागृहि ॥२२७॥

प्रकार मुनिराज भी मन के विक्षेप के भय से थोड़ा आवश्यक बोलते हैं। समस्त संकल्प-विकल्प रूप कल्पवृक्ष की छाया से रहित हैं। जैसे कल्पवृक्ष की छाया में बैठे हुए किसी पथिक ने भोजन, पान, शयन, आसन को चिन्तन करते ही प्राप्त कर लिया। फिर भय से विचारता है कि कहीं व्याघ्र न आ जावे इस प्रकार संकल्प मात्र करने पर सामने व्याघ्र आकर खड़ा हो गया। पुनः उसने सोचा यह मुझे कहीं खा न ले, इस विकल्प को करते ही उसने उसे खा लिया और वह मर गया क्योंकि वह कल्पवृक्ष के नीचे बैठा था। उसी तरह यह चित्त अप्रयोजनीभूत बहुत बार, बहुत प्रकार से सोचकर अपनी हानि करता है इसलिए जाग्रत बुद्धि वाले सभी संकल्पों से रहित होते हैं। इस प्रकार के गुणों से भरे ये जीव मोक्ष जाते हैं और इस कलिकाल में भी मुक्त हुए के समान रहते हैं। ऐसे जीव अनन्तज्ञान, अनन्तदर्शन रूप, अनन्तसुख के पात्र कैसे नहीं हैं अर्थात् अन्य भव में अवश्य ही मुक्ति को प्राप्त करेंगे। अथवा मुनिराज ही विमुक्त इस शब्द से कहे हैं क्योंकि जैसे सुखी शब्द पहले मुनिराज का पर्यायवाची कहा है वैसे ही यहाँ 'विमुक्त' शब्द मुनि का पर्यायवाची जानना। यहाँ मालिनी छन्द है ॥२२६॥

दास बना है विषयों का जो जीवन जिसका परवशता।
दोष गुणन का बोध जिसे ना काफिर का फिर क्या नशता।
तीन रत्न त्रिभुवन को द्योतित करती हरती सब तम को।
तुमसे इन्द्रिय चोर घिरे हैं डरना जगना है तुमको ॥२२७॥

अन्वयः—भो येषां आत्मा अपि परः तेषां विषयप्रभोः दासत्वं गतवतां गुणदोषशून्यमनसां किं तत् पुनः नश्यति, यस्य भुवनप्रद्योति रत्नत्रयं (अस्ति) भवता एव भेतव्यं, त्वां परितः च इन्द्रियतस्कराः भ्राम्यन्ति तत् मुहुः जागृहि।

दासत्वमित्यादि। भो! हे श्रमण! येषां परेषां सागारानगाराणाम्। आत्मा परं तत्त्वम्। अपि साम्प्रतम्। परः पराधीनः मिथ्यात्वादिकर्मप्रत्ययैर्वशीवर्तित्वात्। तेषां जनानाम्। विषयप्रभोः पञ्चेन्द्रियविषयग्राम-स्वामिनः। विषयाः एव प्रभुः स्वामी यस्य तस्य। दासत्वं पराधीनताम्। गतवतां प्राप्तानाम्। पुनश्च कथम्भूतानाम्? गुणदोषशून्यमनसां हिताहितविवेकविकलानाम्। कथमिति चेत्? कोऽहं, कीदृग् गुणः, क्वत्यः किं प्राप्यः किं निमित्तकः इत्याद्यचिन्तनात्। किमिति प्रश्ने। तत् बहुमूल्यवस्तु। पुनः साम्प्रतमपि तथाऽचरणाद् यथा पूर्वे। नश्यति हानिर्भवेत्। न किमपीत्यर्थः। बहुमूल्यवस्त्वभावात्। यस्य श्रमणस्य। पार्श्वे इति शेषः। भुवनप्रद्योति लोकत्रयप्रकाशि। किं तत्? रत्नत्रयं सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रमनर्घवस्तु। अस्तीति

उत्थानिका—इस प्रकार के गुणों से भरे होने पर भी प्रमादी नहीं होना, यह समझाते हुए कहते हैं–

अन्वयार्थ—**(भो!)** भो जन! **(येषां)** जिनका **(आत्मा)** आत्मा **(अपि)** अभी **(परः)** पराधीन है **(तेषां)** जो **(विषयप्रभोः)** विषयरूपी स्वामी की **(दासत्वं)** दासता को **(गतवतां)** प्राप्त हैं **(गुण-दोषशून्यमनसां)** जो गुण, दोष से शून्य मन वाले हैं **(किं तत्)** उनका भला **(पुनः नश्यति)** अब क्या नष्ट होगा? **(यस्य)** जिनके पास **(भूवनप्रद्योति)** लोक प्रकाशक **(रत्नत्रयं)** रत्नत्रय है **(भवता एव)** ऐसे आपको ही **(भेतव्यं)** डरना है **(त्वां)** तुम्हारे **(परितः)** चारों ओर **(च इन्द्रियतस्कराः)** इन्द्रिय चोर **(भ्राम्यन्ति)** भ्रमण कर रहे हैं **(तत्)** इसलिए **(मुहुः)** बारम्बार **(जागृहि)** तुम जाग्रत रहो।

अर्थ—अरे! जिनका आत्मा पराधीन है जिनको विषयों की दासता प्राप्त है और जिनका मन गुण, दोष से शून्य है उनका क्या नष्ट होगा ? किन्तु जिसके पास लोक को प्रकाशित करने वाला रत्नत्रय है ऐसे आपको ही डरना है। आपके चारों ओर इन्द्रियरूपी लुटेरे भ्रमण कर रहे हैं इसलिए आप बार-बार जाग्रत रहो।

टीकार्थ—हे श्रमण! जिन गृहस्थों या श्रमणों का परम तत्त्व आत्मा अभी भी मिथ्यात्व आदि कर्म प्रत्ययों के वशीभूत होने से पराधीन है। जो पंचेन्द्रियों के विषय समूहरूपी स्वामी की दासता कर रहे हैं और जिनका मन अपने हित-अहित के विवेक से शून्य है। ''मैं कौन हूँ ? किस प्रकार से मेरे गुण हैं ? मैं कहाँ से आया हूँ ? मुझे क्या प्राप्त करना है? हित के क्या निमित्त हैं ?'' इत्यादि चिन्तन जिनके मन में नहीं आता है वे गुण, दोष के विचार से शून्य हैं। उनके लिए वर्तमान की बहुमूल्य वस्तु क्या है ? जिसकी उन्हें हानि होवे अर्थात् नष्ट होने लायक उनके पास कुछ है ही नहीं क्योंकि जैसा वे पहले आचरण करते थे वैसा ही अभी भी कर रहे हैं। किन्तु जिस श्रमण के पास तीन लोक को प्रकाशित करने वाले रत्नत्रय अर्थात् सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्र जैसे अनर्घ रत्न हैं उस श्रमण को

क्रियाध्याहार्या। भवता श्रमणेन। एवावधारणे। भेतव्यं आजीवितं तस्य विलोपो न भवेदिति भयं कर्तव्यम्। यदिति योज्यं नित्यसम्बन्धात्। यत् येन कारणेन। त्वां भवन्तम्। परितः सर्वतः। च तथा सर्वकाले। इन्द्रियतस्करा इन्द्रियाणि एव तस्कराश्चौरास्ते। भ्राम्यन्ति स्वैरमटन्ति। तत् तेन कारणेन। मुहुर्वारं वारं प्रतिक्षणम्। जागृहि त्वं जागरितो भव। 'जागृनिद्राक्षये' इति धोर्लोट्। अतिस्वात्मविश्वस्तो माऽभूत्। शार्दूलविक्रीडितवृत्तं ॥२२७॥

तज्जागरूकस्यापि श्रीगुरुरत्र शिक्षां प्रयच्छन्नाह–

(वसन्ततिलका)

रम्येषु वस्तुवनितादिषु वीतमोहो,
मुह्येद् वृथा किमिति संयमसाधनेषु।
धीमान् किमामयभयात्परिहृत्य भुक्तिं,
पीत्वौषधिं व्रजति जातुचिदप्यजीर्णम् ॥२२८॥

अन्वयः–रम्येषु वस्तुवनितादिषु वीतमोहः संयमसाधनेषु किम् इति वृथा मुह्येत्। किं धीमान् आमयभयात् भुक्तिं परिहृत्य औषधिं पीत्वा जातुचित् अपि अजीर्णं व्रजति?

जीवन भर डरना चाहिए कि कहीं उनका विलोप न हो जाए। उसका कारण यह है कि आपके चारों ओर इन्द्रियरूपी लुटेरे स्वच्छन्दता से भ्रमण कर रहे हैं इसलिए बार बार, प्रतिक्षण आप जागते रहो। अपने अति आत्मविश्वास में नहीं रहना। यहाँ शार्दूलविक्रीडित छन्द है ॥२२७॥

उत्थानिका–उस जागरुक को भी श्री गुरु यहाँ शिक्षा देते हुए कहते हैं–

अन्वयार्थ–**(रम्येषु)** रमणीय **(वस्तुवनितादिषु)** पदार्थ, स्त्री आदि में **(वीतमोहः)** मोह रहित होते हुए **(संयमसाधनेषु)** संयम के साधनों में **(किम्)** क्यों **(इति)** इस प्रकार **(वृथा)** व्यर्थ में **(मुह्येत्)** मोह करते हो **(किं)** क्या **(धीमान्)** बुद्धिमान **(आमयभयात्)** रोग के डर से **(भुक्तिं)** भोजन को **(परिहृत्य)** छोड़कर **(औषधिं)** औषधि **(पीत्वा)** पीकर **(जातुचित्)** कभी **(अपि)** भी **(अजीर्णं)** अजीर्णता को **(व्रजति)** प्राप्त होता है ?

अर्थ–तुम रमणीय पदार्थों, सुन्दरस्त्रियों आदि में मोह रहित हो गए हो फिर इन संयम के साधनों में इस तरह वृथा मोहित क्यों होते हो? क्या कोई बुद्धिमान् रोग के डर से भोजन छोड़कर औषधि का सेवन करके भी कभी अजीर्णपने को प्राप्त होता है ? अर्थात् नहीं होता है।

रम्य वस्तुयें वनितादिक को वीत-मोह बन त्याग दिया।
संयम साधक उपकरणों में वृथा भला क्यों राग किया ॥
मुझे बतादे रोग भीति से यदपि अशन ना खाता है।
औषध पी पी अजीर्णता को कौन सुधी वह पाता है ॥२२८॥

रम्येष्वित्यादि। रम्येषु मनोमनोज्ञेषु आह्लादकरेषु वा। केषु? वस्तुवनितादिषु वस्तु अचित्तपदार्थः। वनिता स्त्री। वस्तु च वनिता च वस्तुवनिते। ते चादौ येषु पुत्रपुत्रीभातृमित्रादिषु तेषु। वीतमोहः विगलितमोहः श्रमणः इति सम्बन्धः। संयमसाधनेषु पिच्छिकमण्डलुशास्त्रादिषु। किमिति प्रश्ने। इति दृश्यमानप्रकारेण। वृथा निष्फलम्। मुह्येत् मोहं गच्छेत्। एतदेवोदाहरति–किमिति प्रश्ने। धीमान् कोऽपि बुद्धिमान् जनः। आमयभयात् रोगभयात्। भुक्तिं अशनपानादिकम्। परिहृत्य परित्यज्य। औषधिं भैषजम्। पीत्वा आपीय। जातुचित् कदाचित्। अपि एवम्। अजीर्णमपक्वनिष्कासितम्। व्रजति गच्छति प्राप्नोतीत्यर्थः। देहप्रधानानि संयमसाधनानि बहूनि सन्ति। तानि भैषजवदुपयोगे नेतव्यानि। देहस्य भुक्तिः शयनमासनादि मात्रोचितकृतं हि लाभाय। लब्धप्रत्ययौषधमपि प्रतिदिनं सेव्यमानं यदि व्याधेरुपशमप्रकर्षतामासादयति तदैव सेव्यते धीमता नाऽन्यथेति मत्वा संयमसाधनमपि। उपकरणं साधनं निमित्तं कारणं हेतुरिति यावत्। साध्यतेऽनेन तत् साधनम्। साध्यं रागद्वेषयोर्हानिः। येन साधनेन तयोर्वृद्धिः स्यात्तानि नादुष्टानि। तथैव पिच्छिकमण्डलु–शास्त्रादीनामुपयोगो भैषजवत् कार्यः। तेषुचिद्रागः करोति न विरागतावृद्धिं विरागिणाम्। दृश्यते च खलु बाह्यद्रव्यक्षेत्रादिषु परिवर्तने सत्यपि नान्तरङ्गे परिवर्तनमन्तसि रागसंस्कारसद्भावात्। ततो रागहानिं चिकीर्षुः समूलमवधानेन संयमसाधनेषु प्रवर्तेदिति भावः। अन्यथा तु ''खात् पतितः खजूरे निबद्धः'' इति लौकिकोक्तिं चरितार्थं नयेत् ॥२२८॥

टीकार्थ—मन को आह्लाद उत्पन्न करने वाले मनोज्ञ अचित्त पदार्थों में और स्त्री आदि सचित्त पदार्थों में तथा पुत्र, पुत्री, भ्राता, मित्र आदि में भी तेरा मोह विगलित हो चुका है। हे श्रमण! अब इन पिच्छी, कमण्डलु, शास्त्र आदि संयम के साधनों में बिना वजह मोह क्यों करता है ? इसी को उदाहरण से कहते हैं–रोग न हो जाय इस भय से कोई बुद्धिमान् भोजन, पान आदि को छोड़कर दवाई खाने लगा। क्या उस दवा से ही उसे अजीर्ण होता है ? अर्थात् नहीं होता है। जो अन्न बिना पचे हुए शरीर से निकल जाता है वह अजीर्ण रोग कहलाता हैं।

देखो! देह की प्रधानता वाले अर्थात् देह जिसमें मुख्य है ऐसे संयम के साधन बहुत हैं। उन साधनों का औषधि की तरह उपयोग करना चाहिए। देह के लिए भोजन, शयन करना, आसन लगाना आदि उचित मात्रा में ही करना चाहिए, वही लाभ के लिए है। रोग के लिए रोजाना औषधि सेवन करने वाले को यदि रोग का उस औषधि से उपशमन बढ़ता दिखता है तभी बुद्धिमान् व्यक्ति उसका सेवन करता है, अन्यथा नहीं, ऐसा ही संयम के साधन में भी जानना। उपकरण, साधन, निमित्त, कारण, हेतु ये शब्द एकार्थवाची हैं। जिससे साध्य की सिद्धि हो वह साधन है। राग, द्वेष की हानि होना साध्य है। जिस साधन से साध्य की वृद्धि हो वे साधन दोषपूर्ण नहीं हैं। उसी प्रकार पिच्छी, कमण्डलु, शास्त्र आदि का उपयोग दवाई के समान करना चाहिए। संयम के साधनों में राग विरागियों की विरागता की वृद्धि नहीं करता है। बाह्य द्रव्य, क्षेत्र आदि में परिवर्तन होने पर भी अन्तरंग में परिवर्तन नहीं देखा जाता है क्योंकि अन्तस् में राग के संस्कार का सद्भाव रहता है। इसलिए समूल राग की हानि करने के इच्छुकजन को सावधानी के साथ संयम के साधनों में प्रवृत्ति करनी चाहिए, यह भाव है। अन्यथा ''आकाश से गिरे खजूर में अटके'' यह लौकिक कहावत ही चरितार्थ होगी ॥२२८॥

कियत्कालपर्यन्तमवधानमिति प्रश्ने समुत्तरयति–

तप:श्रुतमिति द्वयं बहिरुदीर्य रूढं यदा
कृषीफलमिवालये समुपलीयते स्वात्मनि।
कृषीबल इवोज्झित: करणचौरबाधादिभि:
तदा हि मनुते यति: स्वकृतकृत्यतां धीरधी: ॥२२९॥

अन्वय:—करणचौरबाधादिभि: उज्झित: कृषीबल इव यति: यदा बहि: उदीर्य रूढं कृषीफलं इव तप: श्रुतं द्वयं इति स्वात्मनि आलये समुपलीयते तदा हि धीरधी: (यति:) स्वकृतकृत्यतां मनुते।

तप इत्यादि। करणचौरबाधादिभि: इन्द्रियचौरविघ्नै:। करणान्येव चौरास्तै: कृता बाधास्ताभि:। अथवा कृषीफलस्य पक्षे चौरबाधादिभिस्तथा व्यवहार रत्नत्रयपक्षे करणबाधादिभिरिति योज्यम्। आदि शब्देनाकालवृष्टिव्याधिप्रचण्डवायुप्रवाहादिर्गृह्यते। उज्झित: त्यक्तो रहितो वा। कृषीबल: कृषक:। इव उपमायां। यति: श्रमण:। यदा कालपरिच्छित्तौ। बहि: बाह्ये। उदीर्य उत्पन्नो भूत्वा। रूढं प्रवृद्धिं गतम्।

उत्थानिका—कितने समय तक यह उपयोग लगाना है? ऐसा पूछने पर उत्तर देते हैं–

अन्वयार्थ—(करणचौर-बाधादिभि:) इन्द्रियरूपी चौरों की बाधा आदि से **(उज्झित:)** छूटे हुए **(कृषीवल: इव)** किसान के समान **(यति:)** मुनि **(यदा)** जब **(बहि: उदीर्य)** बाहर से उखाड़ कर **(रूढं कृषीफलं)** बोयी हुई फसल के **(इव)** समान **(तप: श्रुतं)** तप और श्रुत **(द्वयं)** दोनों को **(इति)** इस प्रकार **(स्वात्मनि आलये)** अपनी आत्मारूप घर में **(समुपलीयते)** ले आता है **(तदा हि)** तब ही **(धीरधी:)** धीर बुद्धि **(स्वकृतकृत्यतां)** अपने को कृतार्थ **(मनुते)** मानता है।

अर्थ—जैसे किसान खेत में बोई हुई फसल को बाहर से काटकर और चौरों की बाधा आदि से बचाकर जब अपने घर ले आता है तब अपने को कृतार्थ मानता है उसी तरह यति तप और श्रुत दोनों को बढ़ाता हुआ बाहर से हटाकर, इन्द्रियरूपी चोरों आदि से बचाकर जब अपनी आत्मा में लीन हो जाता है तब वह धीर बुद्धिवाला अपने को कृतकृत्य मानता है।

टीकार्थ—जैसे कृषि के फल (पकी फसल) के लिए चौर तथा आदि शब्द से अकाल में वर्षा, कीटादि लगने की व्याधि, प्रचण्ड हवा का बहना आदि बाधा उत्पन्न करते हैं, वैसे ही रत्नत्रय धारी मुनि को इन्द्रियों के विषय तथा आदि शब्द से वर्षा आदि ऋतु की प्रतिकूलताएँ, रोग आदि उत्पन्न होना, तीव्र हवा सहना आदि कारणों से व्यवहार रत्नत्रय का पालन करने में बाधा उत्पन्न होती है। जैसे किसान

चोरादिक से रक्षा करता कृषक समय पर कृषि करता।
फसल काट कर लाता तब वह धन्य मानता खुशि धरता।
तप श्रुत का साधन कर उस विध जब निज में अति थिति पाता।
इन्द्रिय तस्कर बाधा से बच कृतार्थ निज को यति पाता ॥२२९॥

कृषीबलं धान्यम्। इव उपमायाम्। तपः श्रुतं ध्यानाध्ययनम्। द्वयमुभयम्। इति एवं प्रकारम्। स्वात्मनि निश्चयेनात्मसात्कृति निश्चयरत्नत्रये। आलये गृहे कृषिपक्षे। समुपलीयते समुपनयते। 'लीङ् श्लेषणे' इति लट्। तदा तावति काले। हि स्फुटम्। धीरधीः अगाधबुद्धिमान्। धीरा धीः बुद्धिर्यस्य सः। यतिः कृषको वा इति योज्यम्। स्वकृत-कृत्यतां स्वस्य कृतं कृत्यं कार्यं स्वकृतकृत्यं तस्य भावस्ताम् स्वकार्यस्य निष्ठितमित्यर्थः। मनुते स्वीकरोति। व्यवहाररत्नत्रयेण परम्परया साध्यं शुद्धोपयोगलक्षणभूतैक-परिणतिभूत-निश्चयरत्नत्रयं ज्ञातव्यम्। व्यवहाररत्नत्रयेण निश्चयरत्नत्रयं साध्यत इति साध्यसाधक-सम्बन्धोऽवसेयः। मृतौ रत्नत्रयं समाराधितस्य परभवगमनार्थमेकतानमुपनीतस्य श्रमणस्य कृतकृत्यता स्यात्। सा चायुषो मध्येऽन्ते वा भवेत्। तावति काले सन्तताराधको धीरतामाधाय निष्प्रमादी भूयात्। आजन्म समाराधकोऽप्यन्ते मोमुह्यते यस्मादिति। कृषीबल इव भव्यः काले रत्नत्रयबीजमुप्त्वा गुणधान्यं संरक्ष्य स्वात्मालये पुरुषायत्ततया समुपनयेदिति तात्पर्यः। पृथ्वीच्छन्दः ॥२२९॥

पुनरपि तमेवार्थं दृढयन्नाह–

दृष्टार्थस्य न मे किमप्ययमिति ज्ञानावलेपादमुं
नोपेक्षस्व जगत्त्रयैकडमरं निःशेषयाशाद्विषम्।
पश्याम्भोनिधिमप्यगाधसलिलं बाबाध्यते वाडवः
क्रोडीभूतविपक्षकस्य जगति प्रायेण शान्तिः कुतः ॥२३०॥

बाहर खेत में वृद्धि को प्राप्त धान्य उत्पन्न करके जब अपने घर ले आता है तब धीर बुद्धिवाला वह किसान अपने कार्य को पूर्ण मानता है वैसे ही श्रमण ध्यान रूप तप और शास्त्र अध्ययन रूप श्रुत की फसल को बाहर बढ़ाता हुआ उसकी उत्पत्ति को अपनी आत्मा में निश्चय से प्रवेश करा लेता है तभी वह धीर बुद्धिमान् यति अपने को कृतकृत्य मानता है। व्यवहार रत्नत्रय परम्परा से साध्यभूत निश्चय रत्नत्रय होता है। यह निश्चय रत्नत्रय शुद्धोपयोग लक्षण वाला तथा सम्यग्दर्शन, ज्ञान,चारित्र की आत्मा में एकत्व परिणति रूप होता है, यह जानना चाहिए। व्यवहार रत्नत्रय से निश्चय रत्नत्रय साधा जाता है, इस प्रकार साध्य-साधक सम्बन्ध जानना चाहिए। अथवा रत्नत्रय की आराधना किए हुए श्रमण को मृत्यु के समय, परभव में गमन के लिए रत्नत्रय की एकत्व परिणति को प्राप्त करने से कृतकृत्यता होती है। तब तक निरन्तर आराधना करने वाला धैर्य को धारण करके निष्प्रमादी रहे। चूँकि जीवनपर्यन्त रत्नत्रय की आराधना करने वाला अन्त में मोह को प्राप्त हो जाता है इसलिए कृषक के समान भव्यजीव समय पर रत्नत्रय के बीज को बोकर गुण रूपी धान्य की रक्षा करके अपने पुरुषार्थ के बल से अपने आत्मालय में ले आवे, यह तात्पर्य है। यहाँ पृथ्वी छन्द है ॥२२९॥

नाच नचाता आशा रिपु है उसे मिटाओ व्रत असि से।
तत्त्व ज्ञात है ज्ञान गर्व से रहो उपेक्षित मत उससे ॥
अपार सागर जल, बाडव को देख! देखकर हिलता है।
शत्रु रहें यदि निकट उसे कब जीवन में सुख मिलता है ॥२३० ॥

अन्वयः—मे दृष्टार्थस्य न किमपि अयम् इति ज्ञानावलेपात् अमुं आशाद्विषं जगत्त्रयैकडमरं न उपेक्षस्व निःशेषय। पश्य! वाडवः अम्भोनिधिं अगाधसलिलं अपि बाबाध्यते। (यतः) जगति क्रोडीभूतविपक्षकस्य प्रायेण कुतः शान्तिः।

दृष्टार्थस्येत्यादि। मे मम। दृष्टार्थस्य परिज्ञाततत्त्वसारस्य। दृष्टः परिज्ञातः शास्त्राभ्यासगुरु-सान्निध्यचिन्तनव्याख्यानलेखनादिना अर्थः पदार्थजातो येन स तस्य। न किमपि अयं कर्तुं समर्थः आशाद्विट् इति भावः। इति एवं प्रकारेण। ज्ञानावलेपात् ज्ञानमदात्। ज्ञानस्यावलेपो मदो यस्य स तस्मात्। ''हेतौ सर्वाः प्रायः'' इति हेत्वर्थे का। अमुं तम्। आशाद्विषं तृष्णाशत्रुम्। कथम्भूतम्? जगत्त्रयैकडमरं लोकत्रयाद्वितीय-क्षोभकरम्। जगतां त्रयस्यैकमद्वितीयं डमरं भयं क्षोभो वा यस्मात्तम्। न निषिद्धार्थे। उपेक्षस्व उपेक्षां कुरु। प्रत्युतेति शेषः। निःशेषय निरवशेषेण शोषणं विधेहि। 'शिष असर्वोपयोगे' इति लोडन्तरूपं निःपूर्वम्। उपसर्गवशाद् धात्वर्थे परिवर्तनम्। यदुक्तम्—

''उपसर्गेण धात्वर्थो बलादन्यत्र नीयते। प्रहाराहारसंहार-विहारपरिहारवत्॥''

~~पश्य शृणु हे भव्य! वाडवः वडवानलः। अम्भोनिधिं महासमुद्रम्। कथम्भूतम्? अगाधसलिलं~~

उत्थानिका—पुनः उसी अर्थ को दृढ़ करते हुए कहते हैं—

अन्वयार्थ—(मे) मुझ **(दृष्टार्थस्य)** पदार्थ के द्रष्टा को **(न किमपि अयम्)** यह कुछ भी नहीं है। **(इति)** इस प्रकार **(ज्ञानावलेपात्)** ज्ञान के गर्व से **(अमुं)** इस **(आशाद्विषं)** इच्छा रूप शत्रु की **(जगत्त्रयैक डमरं)** जो तीन लोक की एक–अद्वितीय शत्रु है इसकी **(न उपेक्षस्व)** उपेक्षा मत करो **(निःशेषय)** इसे पूर्ण समाप्त करो **(पश्य)** देखो! **(वाडवः)** बड़वानल **(अम्भोनिधिं)** समुद्र के **(अगाधसलिलं)** अगाध जल को **(अपि)** भी **(बाबाध्यते)** बार–बार बाधा पहुँचाता है **(जगति)** संसार में **(क्रोडीभूतविपक्षकस्य)** विपक्ष का संग जिसको है उसे **(प्रायेण)** प्रायः **(कुतः शान्तिः)** शान्ति कैसे हो सकती है ?

अर्थ—तीन लोक को क्षुब्ध करने वाले एक आशारूपी शत्रु की इस प्रकार अपने ज्ञान के गर्व से उपेक्षा मत करो कि ''मैं तो सभी पदार्थों को जानने वाला हूँ। मेरे लिए यह कुछ भी नहीं है'', इसे पूर्ण समाप्त करो। देखो! समुद्र अपार जल धारण करता है किन्तु उसे क्षोभ कराने वाला बड़वानल उस समुद्र को बाधा पहुँचाता है। जब तक शत्रु पास में है तब तक इस जगत् में शान्ति से कैसे रह सकते हो ?

टीकार्थ—शास्त्र के अभ्यास से, गुरु के सान्निध्य से, चिन्तन करके, व्याख्यान करके, लेखन आदि के द्वारा मैंने सभी तत्त्वों का सार देख लिया है, जान लिया है। अब मेरे साथ वह तृष्णारूपी शत्रु कुछ नहीं कर सकता है भले ही तीन लोक में क्षोभ उत्पन्न करने वाला वह अद्वितीय हो। ज्ञान का ऐसा मद रखकर इस इच्छा शत्रु की उपेक्षा मत करो, उसे पूर्णरूप से सुखाओ। ''शिष असर्वोपयोगे'' धातु है। अर्थात् शिष धातु शेष अर्थ में है। यहाँ शिष धातु निः उपसर्ग पूर्वक शोषण अर्थ में है। उपसर्ग के कारण धातु अर्थ में परिवर्तन होता है। कहा भी है–''उपसर्ग से धातु अर्थ बलात् अन्यत्र ले जाया जाता है। जैसे कि हार में प्र उपसर्ग से प्रहार, आ उपसर्ग से आहार, सं उपसर्ग से संहार, वि उपसर्ग

अतलस्पर्शिजलम्। अपि आश्चर्ये। बाबाध्यते भृशं बाधते। 'बाधृ विलोडने' इति धोर्यङन्तरूपम्। धोर्यङ्भृशाभीक्ष्णेऽशुभ्रुचेः' इति भृशार्थे पौनःपुन्यार्थे वा यङ् । तस्य च 'यङ उप्' इत्युप्। अत इदं यङ्बन्तरूपम्। अत्र सुभाषते कारणं। यत इति शेषः। जगति लोके। क्रोडीभूतविपक्षकस्य अङ्कपतित-शत्रुसमूहस्य। क्रोडीभूतः परितो वेष्टितो विपक्षको विरोधी यस्य स तस्य। प्रायेण बाहुल्येन। कुतः शान्तिः न कुतोऽपीत्यर्थः। अतिगम्भीरो निधीनामाकरोऽपि पयोनिधि र्निजान्तस्थवडवानलेन क्वापि काले विक्षुभ्यति यथा तथैव श्रमणः प्रशान्ताशानलेनेति मत्वा यावदाशादाहस्याशेषतया क्षयो न जायेत तावन्न निश्चिन्तो भवेत्। तपः श्रुतं द्वयं हि महामदस्य कारणं निर्मोक्षस्य च स्यात्। कथमेकं हि वस्तु विरुद्धकार्यद्वयस्य जनकः स्यात्, प्रत्यनीकपक्षस्य भावाभावापेक्षातः। किमत्र प्रत्यनीकं द्वयस्य, इहपरलोकसम्बन्धिनी तृष्णा। सा च द्वयेनैतेन खलु प्रशान्तमुपगता क्रुद्धभुजङ्गवद् द्रव्यादिबहिर्निमित्तवशेन जागरिता दंशयते। तन्मदस्य निरासनाय बहुश्रुततपोनिष्ठवयोवृद्धानां सपर्या साधनीया। शार्दूलविक्रीडितवृत्तम् ॥२३०॥

समुद्रस्य मन्थनाय वाडवः प्रत्युत रत्नत्रयनाशाय रागकण एवालमित्याह–

स्नेहानुबद्धहृदयो ज्ञानचारित्रान्वितोऽपि न श्लाघ्यः।
दीप इवापादयिता कज्जलमलिनस्य कार्यस्य ॥२३१॥

से विहार, परि उपसर्ग से परिहार होता है। हे भव्य! देखो! जिसके तल का स्पर्श नहीं किया जा सकता ऐसे अगाध जल वाले महासमुद्र को बड़वानल हानि पहुँचाता है। विपक्ष से घिरे होने पर शान्ति कैसे हो सकती है ?

जिस प्रकार बहुत गहरा और अनेक निधियों का भण्डार समुद्र अपने भीतर स्थित बड़वानल से किसी भी समय क्षुब्ध हो सकता है उसी प्रकार शान्त बैठी हुई आशा की अग्नि से श्रमण क्षुब्ध हो सकता है। ऐसा जानकर जब तक आशा की दाह का पूर्णरूप से क्षय न हो जावे तब तक निश्चिंत मत होओ। तप और श्रुत ये दोनों ही महामद के भी कारण हैं और मोक्ष के भी कारण हैं।

शंका—दोनों का विरोधी कौन है ?

समाधान—इस लोक और परलोक सम्बन्धी तृष्णा।

वह तृष्णा तप और श्रुत के द्वारा प्रशान्त भाव को प्राप्त हो जाती है किन्तु द्रव्य आदि बाह्य निमित्त के कारण क्रोधित सर्प के समान पुनः जाग्रत होकर डस लेती है। उस मद का अभाव करने के लिए बहुत श्रुतज्ञान रखने वाले तपोनिष्ठ वयोवृद्ध साधुओं की सेवा करनी चाहिए। यहाँ शार्दूलविक्रीडित छन्द है ॥२३०॥

रागादिक कणिका से भी यदि जिसका मानस दूषित है।
स्तुत्य नहीं वह चरित बोध से यद्यपि जीवन भूषित है॥
पाप कर्म का बंधन जिससे चूँकि निरन्तर चलता है।
दीप उगलता कज्जल काला तेल जलाकर जलता है॥२३१॥

अन्वयः—स्नेहानुबद्धहृदयः ज्ञानचारित्रान्वितः अपि श्लाघ्यः न दीप इव कज्जलमलिनस्य कार्यस्य आपादयिता।

स्नेहेत्यादि। स्नेहानुबद्धहृदयः रागसमन्वितचित्तः। स्नेहेन रागेणान्यपक्षे तैलेन अनुबद्धं हृदयं यस्य सः श्रमणः। हेतुगर्भविशेषणमेतत्। कोऽसौ? ज्ञानचारित्रान्वितः सम्यक् प्रकारेण रत्नत्रयधारकः। अपि विस्मयार्थे। श्लाघ्यः प्रशंसनीयः। न निषेधे। स्यादिति शेषः। कथमिति चेदुदाहरन्नाह–दीपः प्रज्वलितप्रदीपः। इवौपम्यार्थे। कज्जलमलिनस्य कालिमानं बिभ्रतः पक्षेऽन्ये पापकर्म कुर्वतः। कार्यस्य फलस्य। आपादयिता कर्ता। श्रमणश्च दीपश्च। निर्मोहिनः जिनरूपधरस्य श्रमणस्य सधर्मिषु पांशक्रीडामित्रेषु अपि रागो न विसह्यः कथं पुनर्वनितादिषु व्यवहारिकपारमार्थिकनिन्दाद्वयस्य विषयत्वात्। यश्च संयमसाधनेषु स्वदेहेऽपि विरागतामादधानः शिष्यशिष्यासु मुह्यति सोऽपि न प्रशस्यो दुःकर्मणः कर्तृत्वात्। आर्याच्छन्दः ॥२३१॥

इदानीं रागपरिणतेः फलं दर्शयन्नाह–

उत्थानिका—समुद्र के मन्थन के लिए बाड़व अग्नि है किन्तु रत्नत्रय के नाश के लिए राग का एक कण ही पर्याप्त है, यह कहते हैं–

अन्वयार्थ—(स्नेहानुबद्धहृदयः) स्नेह सहित हृदय **(ज्ञान-चारित्रान्वितः)** ज्ञान, चारित्र सहित हुआ **(अपि)** भी **(श्लाघ्यः)** प्रशंसा योग्य **(न)** नहीं है **(दीप इव)** दीपक के समान **(कज्जलमलिनस्य)** काजल से मलिन **(कार्यस्य)** कार्य की–कर्मों **(अपादयिता)** उत्पत्ति करने वाला होता है।

अर्थ—ज्ञान, चारित्र युक्त होकर भी जिसका हृदय राग सहित होता है वह भी प्रशंसनीय नहीं होता है। वह दीपक के समान प्रकाश के साथ काजल भी उत्पन्न करने वाला है।

टीकार्थ—सम्यक् प्रकार से जो रत्नत्रय के धारक हैं उनके लिए राग से अनुबद्ध हृदय वाला होना प्रशंसनीय नहीं है। ''राग सहित हृदय'' यह हेतु से विशेषण पद है। अर्थात् यहाँ ज्ञान, चारित्र से संयुक्त (रागी)श्रमण भी प्रशंसनीय नहीं है, इसका कारण बताया है और वह कारण है–राग सहित होना। जैसे जलता हुआ दीपक कालिमा को धारण करता है उसी प्रकार श्रमण के लिए राग पापकर्म का बन्ध कराता है। जिनरूप धारण करने वाले निर्मोही श्रमण को साधर्मियों और अपने साथ खेले हुए मित्रों में भी राग करना रत्नत्रय धर्म में सहन योग्य नहीं है फिर स्त्री आदि में राग कैसे सह्य हो सकता है। क्योंकि स्त्री आदि का राग तो व्यवहार से भी निन्दा का विषय है और परमार्थ से भी निन्दित है। जो संयम के साधनों में और अपनी देह में भी विरागता को धारण करता है फिर भी अपने शिष्य–शिष्याओं पर मोहित होता है वह भी प्रशंसनीय नहीं है क्योंकि वह पापकर्म का बन्ध करने वाला है। यहाँ आर्याछन्द है ॥२३१॥

उत्थानिका—यहाँ राग परिणति का फल दिखाते हुए कहते हैं–

रतेररतिमायातः पुना रतिमुपागतः।
तृतीयं पदमप्राप्य बालिशो बत सीदसि ॥२३२॥

अन्वयः—बालिशः रतेः अरतिं आयातः पुनः रतिं उपागतः, तृतीयं पदं अप्राप्य बत सीदसि।

रतेरित्यादि। बालिशः बालोऽज्ञानी वा शुभोपयोगी श्रमणः। स च शुभोपयोगी खलु शुद्धोपयोगरत-श्रमणापेक्षया बालः प्रोच्यते; न सर्वथा, **प्रवचनसारे** द्विविधश्रमणस्य कथनात्। अध्यात्मापेक्षया बालसंज्ञा शुभोपयोगिश्रमणस्य। यथाचोक्तं **समयसारे**–

''परमट्ठम्मिय अठिदो जो कुणदि तवं वदं च धारेदि।
तं सव्वं बालतवं बालवदं विंति सव्वण्हू॥''

रतेः इष्टवनितावस्तुषु रमणात्। अरतिं विरतिम्। आयातः प्राप्तः। अशुभोपयोगात् प्रथमपदात् शुभोपयोगं द्वितीयपदं प्राप्तः इत्यर्थः। पुनः पश्चात्। रतिं त्यक्तेषु रागम्। उपागतः समायातः। तृतीयं पदं शुद्धोपयोगं रागद्वेषयोरभावात् समुत्पन्नात्मनो निराकुलसुखस्वादास्पदम्। अप्राप्य प्राप्तिं न कृत्वा। बत खेदविषयोऽयम्। सीदसि क्लिश्नासि। अत्रारते र्द्वितीयोऽर्थो द्वेषोऽप्य-वसेयः। द्वेषे प्रीत्यभावेऽपि कालुष्यं

अन्वयार्थ—(बालिशः) बाल पुरुष **(रतेः)** रति से **(अरतिं)** अरति को **(आयातः)** प्राप्त करता है **(पुनः)** पुनः **(रतिं उपागतः)** रति को प्राप्त होता है **(तृतीयं पदं)** तीसरे पद को **(अप्राप्य)** प्राप्त नहीं करके **(बत)** खेद है **(सीदसि)** दुःखी होता है।

अर्थ—अज्ञानी पुरुष रति से अरति को प्राप्त करता है और पुनः रति करने लगता है। खेद है कि तीसरे पद को प्राप्त नहीं करके वह दुःखी ही बना रहता है।

टीकार्थ—यहाँ शुभोपयोगी श्रमण को बाल या अज्ञानी कहा है। वह शुभोपयोगी शुद्धोपयोग में लीन श्रमण की अपेक्षा बाल कहा जाता है, सर्वथा नहीं क्योंकि **प्रवचनसार** में शुभोपयोगी और शुद्धोपयोगी दोनों प्रकार के श्रमणों का कथन किया है। अध्यात्म की अपेक्षा शुभोपयोगी की बाल संज्ञा है। ऐसा **समयसार** में भी कहा है–''परमार्थ में स्थित नहीं होता हुआ जो तप, व्रत को धारण करता है वह सब सर्वज्ञ देव ने बालतप और बालव्रत कहा है।''

इष्ट वनिता आदि पदार्थों में रमण करने से जो पहले विरक्ति को प्राप्त करता है अर्थात् अशुभोपयोग रूप प्रथम पद से शुभोपयोग रूप द्वितीय पद को प्राप्त करता है, यह अर्थ है। बाद में उन्हीं त्यक्त विषयों में राग करने लगता है क्योंकि तृतीय पद शुद्धोपयोग को प्राप्त नहीं करने के कारण खेद की बात है कि वह दुःखी होता है। शुद्धोपयोग राग, द्वेष के अभाव से उत्पन्न आत्मा के निराकुल

राग रंग से जब तू हटता रोष नियम से करता है।
रोष भाव को तजता फिर से राग रंग में ढलता है॥
किन्तु कभी ना रोष तोष तज लाता मन में समता है।
खेद यही बस अज्ञ दुखी हो भवकानन में भ्रमता है॥२३२॥

मनसि विद्यते तत्त्वज्ञानाभावात्। विरतौ तु विरागता तत्त्वज्ञानपुरस्सरीति भेदः। उभयस्मादरतेः प्रच्यवनं सम्भवति। विरतिमुपगम्यापि तीव्रतत्त्वरुच्यभावात् सूक्ष्मात्मतत्त्वे गमनरमणतयावस्थानं कालस्यादैर्ध्यात् सर्वतः खल्विन्द्रियविषयग्रामतस्करैः परीतत्वात् साधुः पुनरपि रतिमवाप्नोति। यदुक्तम्–

''यत्त्यागाय निवर्तन्ते भोगेभ्यो यदवाप्तये।
प्रीतिं तत्रैव कुर्वन्ति द्वेषमन्यत्र मोहिनः॥''

एतावता श्रमणस्य वृत्तेः कर्बुरतां कलितः। यथा गेहाश्रमे वृत्तिः क्वचित् पापात्मिका क्वचिद् धर्मात्मिका क्वचिद् द्वयवत् प्राक् प्रदर्शिता ग्रन्थकारैस्तथाऽत्र सन्यासाश्रमे क्वचिद्रतिरूपा क्वचिदरतिरूपा क्वचिद् द्वयवत्। 'एकान्तविरतिरूपा भवति मुनीनामलौकिकी वृत्तिः' इत्यादर्शिता सम्प्रति व्याहता स्यात्। द्वितीयेऽर्थे रागाद् द्वेषं द्वेषात् रागमिति घटीयन्त्रपरिभ्रमणवद् बालिशानां वृत्तिरुद्योतिता। अनुष्टुप्छन्दः ॥२३२॥

इति करम्बितवृत्तिं मा समाचर हे श्रमण! यतश्च–

तावद् दुःखाग्नितप्तात्मायःपिण्डः सुखसीकरैः।
निर्वासि निर्वृताम्भोधौ यावत्त्वं न निमज्जसि ॥२३३॥

सुख के आस्वाद का स्थान है।

यहाँ 'अरति' का दूसरा अर्थ द्वेष जानना चाहिए। द्वेष में प्रीति का अभाव रहता है किन्तु मन में कलुषता बनी रहती है क्योंकि उसके मन में तत्त्वज्ञान का अभाव होता है। विरति में वैराग्य भाव तत्त्वज्ञान पूर्वक होता है। यह अरति में और विरति में भेद है। अरति और विरति दोनों ही प्रकार से च्यवन संभव है। विरक्ति को प्राप्त करके भी तीव्र तत्त्व रुचि का अभाव होने से सूक्ष्म आत्म तत्त्व में उतरना और उसी में रमण करना नहीं हो पाता है क्योंकि अप्रमत्त दशा का काल थोड़ा होता है। तथा सभी ओर से इन्द्रिय समूह के चौरों से घिरा होने के कारण साधु पुनः रति करने लगता है। कहा भी है–

''जिस आत्मतत्त्व की प्राप्ति के लिए और जिस भाव के त्याग के लिए भोगों से दूर हुआ था मोही पुनः उसी विषय में प्रीति करने लगता है और आत्मतत्त्व में अप्रीति करने लगता है।''

इस कथन से श्रमण के चारित्र की परिणति चितकबरी बतायी है। ग्रन्थकार ने जैसे गृहस्थ के लिए कहा था कि उसकी वृत्ति कभी पापात्मक होती है, कभी धर्मात्मक होती है और कभी दोनों रूप होती है उसी प्रकार से संन्यास आश्रम में श्रमण की वृत्ति कभी रतिरूप, कभी अरतिरूप और कभी दोनों रूप होती है। ''एकान्त विरतिरूप मुनियों की अलौकिकी वृत्ति होती है'' यह आदर्श वर्तमान में व्याघात को प्राप्त होता है। अरति का दूसरा अर्थ द्वेष किया था, उस अर्थ में राग से द्वेष और द्वेष से राग होता है, इस तरह घटीयन्त्र के भ्रमण के समान अज्ञानी की वृत्ति दिखाई है। यहाँ अनुष्टुप् छन्द है ॥२३२॥

तपा लोह का गोला जिस विध जल कण से नहिं शांत बने।
पूर्ण रूप से उसे डूबा दो गहरे जल में शान्त बने॥
दुःख अनल में तप्त जीव की क्षणिक सौख्य से क्लांति नहीं।
मिटती, मिलती मोक्ष सिंधु में डूबे तो चिर शान्ति सही ॥२३३॥

अन्वयः—यावत् त्वं निर्वृताम्भोधौ न निमज्जसि तावत् दुःखाग्नितप्तात्मायःपिण्डः सुखसीकरैः (न) निर्वासि।

तावदित्यादि। यावत् प्रक्रमारम्भार्थे। त्वं हे श्रमण! निर्वृताम्भोधौ शश्वत् सुखसमुद्रे। निर्वृतिरात्मनः स्वायत्तं सुखं निःश्रेयसमिष्यते। निर्वृतिरेवाम्भोधिस्तत्र। न प्रतिषेधे। निमज्जसि ब्रुडसि निमग्नतां यासीत्यर्थः। तावत् प्रक्रमसमापनार्थे। दुःखाग्नितप्तात्मायःपिण्डः संसारदुःखानलदाहसन्तप्तलोहपिण्डवदात्मा। दुःखं संसृतिवासजनितक्लेशं तदेवाग्निस्तेन सन्तप्तः आत्मरूपायःपिण्डः स तथोक्तः। सुखसीकरैः सुखं सांसारिकमिन्द्रियमनोव्युत्पन्नमेव सीकराः सूक्ष्मवाष्पकणास्तैः सुखलवैरित्यर्थः। न पुनरपि योज्यम्। निर्वासि सुखीभवसि। दुःखाग्निना सन्तप्तोऽयमात्मायःपिण्डवदिन्द्रियप्रभवैः क्षणभङ्गुरैः तृप्तितापरूपैर्विपाक-कटुकैर्भुक्तमधुरैः सुखाभासितैः सुखशैत्यकणबिन्दवैः शश्वत्सुखशैत्यं प्रत्यात्मप्रदेशेषु शुद्धात्म-शीतल-सरोवरस्य शिखनखसमवेतं पूर्णतया निमज्जनं विना ना भविष्यति। अतः विरतेस्तु रतिः, रतेस्तु विरतिरिति नाटकं विरम्यताम्। एकदा बद्धसङ्कल्पः स्वात्ममात्रसुखमनुभूयतामिति भावः। अनुष्टुप्छन्दः ॥२३३॥

अथ मोक्षमहाप्रासादस्य प्राप्तेरुपायमुद्योतयन्नाह–

उत्थानिका—इस प्रकार की करम्बित वृत्ति का आचरण हे श्रमण! मत करो, क्योंकि–

अन्वयार्थ—**(यावत्)** जब तक **(त्वं)** तुम **(निर्वृताम्भोधौ)** निर्वृति के समुद्र में **(न निमज्जसि)** नहीं डूबते हो **(तावत्)** तब तक **(दुःखाग्नितप्तात्मायःपिण्डः)** दुःखाग्नि से तप्त आत्मारूपी लोह पिण्ड **(सुखसीकरैः)** सुख के शीतल कणों से **(न निर्वासि)** सुखी नहीं होता है।

अर्थ—जब तक तुम निर्वृति के समुद्र में नहीं डूबते हो तब तक दुःख अग्नि से तप्त लोहे का पिण्ड सुख के शीतल कणों से सुखी नहीं होता है।

टीकार्थ—हे श्रमण! आत्मा का स्वाधीन सुख निःश्रेयस है वही निर्वृति है। उस निर्वृति के समुद्र में जब तक तुम निमग्न नहीं होते हो तब तक संसार के दुःखों की अग्नि से जला, संतप्त आत्मा लोहपिण्ड में प्रविष्ट अग्नि के समान है। वह आत्मा इन्द्रियों और मन से उत्पन्न हुए सांसारिक थोड़े से सुख के द्वारा कैसे सुखी हो जैसे कि तप्त लोह पिण्ड थोड़े से शीतल जलकणों से कैसे ठण्डा हो। इन क्षणभंगुर, तृप्ति का ताप और देने वाले, विपाक में कटुक, खाने में मधुर, सुखाभास कराने वाले, सुख के शीतल बिन्दुकणों वाले इन्द्रिय सुखों से शुद्धात्म के शीतल सरोवर के प्रत्येक आत्मप्रदेश में सिर से लेकर पैर तक अर्थात् पूर्णतया डूबे बिना शाश्वत सुख की शीतलता नहीं होगी। इसलिए विरति से रति को प्राप्त होना और रति से फिर विरति को प्राप्त करना, यह नाटक अब रोक दो। एक बार संकल्पबद्ध होकर मात्र अपने आत्मा के सुख की अनुभूति करो, यह भाव है। यहाँ अनुष्टुप् छन्द है ॥२३३॥

उत्थानिका—अब मोक्ष महा महल की प्राप्ति का उपाय दिखाते हुए कहते हैं–

(अनुष्टुप्)

मुङ्क्षु मोक्षं सुसम्यक्त्वसत्यंकारस्वसात्कृतम्।
ज्ञानचारित्रसाकल्यमूल्येन स्वकरे कुरु ॥२३४॥

अन्वयः—सुसम्यक्त्वसत्यंकारस्वसात्कृतं मोक्षं ज्ञानचारित्रसाकल्यमूल्येन मङ्क्षुस्वकरे कुरु।

मङ्क्ष्वित्यादि। सुसम्यक्त्वसत्यंकारस्वसात्कृतं निर्मलसम्यग्दर्शनरूपसत्यापनमूल्यमात्रप्रदानेनात्मनः करणम्। सु सुष्ठु निर्मलं निर्दोषं च तत् सम्यक्त्वं तदेव सत्यंकारः सत्याकृतिः 'ब्याना' इति देशीयभाषायाम् मिथः शपथम्। 'क्लीबं सत्यापनं सत्यङ्कारः सत्याकृतिः स्त्रियामि' त्यमरः। 'सत्यागदास्तोः कारे' इत्यनेन सत्यशब्दे कारे द्यौ मुमागमात् निष्पद्यते। तेन स्वसात्कृतं आत्माधीनं कृतं तत्। किं तत्? मोक्षं मुक्तिधाम। लोके तु सत्यंकारे कृतेऽपि केनचित् कारणेन तद्वस्तु क्रेयं यदि न क्रीणाति तर्हि सत्यापनरूपेण प्रदत्तवित्तं विनश्यति पुनर्नात्मनः स्यात् प्रत्युतालौकिके मोक्षमार्गे सम्प्राप्तसम्यक्त्वेन स्वसात्कृतं सत्यंकारप्रदानेनैकदा विनष्टेऽपि तस्य मुक्ति र्नियामिकेति विशेषः। ज्ञानचारित्रसाकल्यमूल्येन सम्यग्ज्ञानचारित्रसकलमूल्यप्रदानेन। मङ्क्षु शीघ्रमव्ययपदम्। स्वकरे स्वहस्ते स्वात्मनः इत्यर्थः। कुरु विधेहि। हे भव्य! इति शेषः। ननु चात्र ज्ञानं दर्शनेन सह किं न कथितं तयोः सहभावित्वात्? नैष दोषः चारित्रदान-समर्थज्ञानस्य मुख्यत्वात्। दर्शनेन सह

अन्वयार्थ—(सुसम्यक्त्वसत्यंकार-स्वसात्कृतं) श्रेष्ठ सम्यक्त्व की शपथ से आत्मसात् किया हुआ **(मोक्षं)** मोक्ष **(ज्ञान चारित्रसाकल्यमूल्येन)** ज्ञान, चारित्र की पूर्णता के मूल्य से **(मंक्षु)** शीघ्र ही **(स्वकरे)** अपने हाथ में **(कुरु)** करो।

अर्थ—निर्मल सम्यक्दर्शन की शपथ से आत्मसात् किया हुआ मोक्ष ज्ञानचारित्र की पूर्णता का मूल्य देकर शीघ्र ही अपने हाथ में करो।

टीकार्थ—निर्मल सम्यग्दर्शनरूप ब्याना देकर इतने मूल्य मात्र को प्रदान करने से मोक्ष को अपना बना लो। लोक में तो ब्याना करने पर भी किसी कारण से उस खरीदने योग्य वस्तु को यदि वह नहीं खरीदता है तो फिर उसका ब्याना दिया गया धन उसे नहीं मिलता, वह अपना नहीं रहता है। किन्तु अलौकिक मोक्षमार्ग में प्राप्त हुए सम्यक्त्व से सत्यंकार (ब्याना) प्रदान करने से एक बार यदि वह विनष्ट भी हो जाता है तो भी उसकी मुक्ति नियामक हो जाती है। यह विशेष है। सम्यग्ज्ञान, सम्यक् चारित्र का पूर्ण मूल्य प्रदान करने से शीघ्र ही अव्यय पद मोक्ष की प्राप्ति होती है। इसलिए इस मोक्ष को अपने हाथ में करो।

शंका—यहाँ ज्ञान को दर्शन के साथ क्यों नहीं कहा क्योंकि ज्ञान, दर्शन दोनों का सहभाविपना है।

यद्यपि तुमने दिया बयाना समदर्शन का उचित हुवा।
मोक्ष सौख्य पर अमिट रूप से नाम आपका लिखित हुवा॥
निर्मल चारित विमल ज्ञान का सकल मूल्य अब देना है।
तुम्हें शीघ्र शाश्वत शिव सुख को निजाधीन कर लेना है॥२३४॥

यज्ज्ञानमुत्पन्नं भवति तत्तु सामान्यं। यच्च चरणार्थं प्रयोजयति तदेवात्र बहुमूल्यमधिकसामर्थ्य-सम्पदापेक्षित्वात्। अनुष्टुप्छन्दः ॥२३४॥

अथ निवृत्तिरेवाभ्यस्यतामिति संप्रेरयन्नाह–

(उपेन्द्रवज्रा)

अशेषमद्वैतमभोग्यभोग्यं निवृत्तिवृत्त्योः परमार्थकोट्याम्।
अभोग्यभोग्यात्मविकल्पबुद्ध्या निवृत्तिमभ्यस्यतु मोक्षकांक्षी ॥२३५॥

अन्वयः—अशेषं अद्वैतं, निवृत्तिवृत्त्योः परमार्थकोट्यां अभोग्यभोग्यं मोक्षकांक्षी अभोग्यभोग्यात्म-विकल्पबुद्ध्या निवृत्तिं अभ्यस्यतु।

अशेषमित्यादि। अशेषं सम्पूर्णं जगत्। कथम्भूतम्? अद्वैतं द्वित्वकल्पना-रहितम्। न चात्राद्वैते-नैकान्ताद्वैतवादस्य प्ररूपणा विद्यते अपि तु भोग्याभोग्यसम्बन्धिनीति। निवृत्तिवृत्त्योः निवृत्ती रागद्वेषयोः समाप्तिः, वृत्तिः रागद्वेषात्मिकी प्रवृत्तिः। निवृत्तिश्च वृत्तिश्च निवृत्तिवृत्ती तयोः। परमार्थकोट्याम् ज्ञानस्य

समाधान—यह कोई दोष नहीं है, क्योंकि यहाँ पर चारित्र प्रदान करने वाले ज्ञान की मुख्यता है। सम्यग्दर्शन के साथ जो ज्ञान उत्पन्न होता है वह तो सामान्य है। जो ज्ञान चारित्र के लिए जोड़ता है वही यहाँ बहुत मूल्य वाला है क्योंकि अधिक सामर्थ्य वाली सम्पदा की अपेक्षा चारित्र से ही होती है। यहाँ अनुष्टुप् छन्द है ॥२३४॥

उत्थानिका—अब निवृत्ति का ही अभ्यास करना चाहिए, यह प्रेरणा देते हुए कहते हैं–

अन्वयार्थ—(अशेषं) समस्त जगत् **(अद्वैतं)** एक रूप है **(निवृत्तिवृत्त्योः)** निवृत्ति और वृत्ति में **(परमार्थ कोट्यां)** परमार्थ की कोटि में **(अभोग्यभोग्यं)** अभोग्य और भोग्य है। **(मोक्षकांक्षी)** मोक्ष के आकांक्षी को **(अभोग्यभोग्यात्मविकल्पबुद्ध्या)** अभोग्य और भोग्यरूप विकल्प बुद्धि से **(निवृत्तिं)** निवृत्ति का **(अभ्यस्यतु)** अभ्यास करना चाहिए।

अर्थ—समस्त जगत् एक रूप है। परमार्थ से निवृत्ति की अपेक्षा जगत् अभोग्य है और प्रवृत्ति की अपेक्षा भोग्य है। मोक्ष का आकांक्षी अभोग्य और भोग्य जगत् में भेदविज्ञान से निवृत्ति का अभ्यास करे।

टीकार्थ—यह सम्पूर्ण जगत् एक रूप है, द्वैत की कल्पना से रहित है। इससे यह नहीं समझना कि यहाँ अद्वैत एकान्तमत के अद्वैतवाद की प्ररूपणा नहीं है अपितु भोग्य-अभोग्य सम्बन्धी नीति की बात है। राग, द्वेष की समाप्ति निवृत्ति है और रागद्वेषात्मक वृत्ति प्रवृत्ति है। ज्ञान की परम प्रकर्ष मर्यादा

यथार्थ में यह सकल विश्व ही एक रूप है योग्य रहा।
निवृत्ति वश तो अभोग्यमय है प्रवृत्ति वश है भोग्य रहा॥
भोग्य रहा हो अभोग्य या हो इस विध विकल्प तजना है।
मोक्ष सौख्य की प्यास तुम्हें यदि निर्विकल्प पन भजना है ॥२३५॥

परमप्रकर्षसीमनि। परमश्चासौ अर्थः परमार्थस्तस्य कोटिः सीमा तस्याम्। अभोग्यभोग्यं उपेक्षापेक्षार्हम्। यथा सकलनयनिरपेक्षे परमार्थविज्ञाने प्रत्यक्षीभूते समस्तमिदं विश्वं स्वस्वगुणपर्यायनिर्भरं ग्रहणविसर्गवृत्तिशून्यं भोग्याभोग्यकल्पनाशून्यं विलोक्यते स्वभावत एव। तथा हि निवृत्तेः निर्विकल्पवीतराग-स्वसंवेदन-चिन्मात्रावभासनस्य परमार्थकोट्यां निश्चयनयेनानुभूयमानायां समस्तमद्वैतमिदमभोग्यमवभासते। तथापि प्रवृत्तेः रागद्वेषमात्सर्यमदावेशादेः परमार्थकोट्यामतिशयेन व्यवहारनयेनानुभूयमानायां समस्तद्वैतमप्येदं भोग्यं परस्यात्मीयकरणमिति दृश्यते। मोक्षकांक्षी मोक्षं मुक्तिं काङ्क्षतीत्येवंशीलमस्य सः। 'शीलेऽजातौ णिन्' इति शीलार्थे णिन्। अभोग्यभोग्यात्मविकल्पबुद्ध्या किं भोग्यं किमभोग्यमिति भेदबुद्धिं विधायेत्यर्थः। किं नाम भोग्यम्? मनःक्षुत्पूर्तिः। न भुञ्जते खलु पुद्गलाः आत्मानं ज्ञानाभावात्। नात्मा हि भुङ्क्ते पुद्गलं तस्याविषयत्वात्। मनो निरुंध्यात्मा यदि पश्यति विश्वं तदा दर्शनज्ञानविकल्पमतिक्रम्य न स्यात् किञ्चित्। तेनायाति नात्र वस्तुतो भोग्यार्थं भोग्यं वस्तु। तस्मात् किं कार्यम्? निवृत्तिं रागद्वेषाभाववृत्तिम्। अभ्यस्यतु अभ्यासं करोतु। अभिपूर्वं 'असु क्षेपणे' इति धोर्लोडन्तरूपम्। यदुक्तम्-

''अचिन्त्यशक्तिः स्वयमेव देवश्चिन्मात्रचिन्तामणिरेष यस्मात्।
सर्वार्थसिद्धात्मतया विधत्ते ज्ञानी किमन्यस्य परिग्रहेण?॥''

उपेन्द्रवज्रावृत्तम् ॥२३५॥

में अर्थात् परमार्थ की अपेक्षा निवृत्ति में उपेक्षा की योग्यता है और प्रवृत्ति में अपेक्षा की योग्यता है। जिस प्रकार समस्त नयों से निरपेक्ष परमार्थ विज्ञान के प्रत्यक्ष हो जाने पर यह समस्त विश्व अपनी-अपनी गुणपर्यायों सहित, ग्रहण-त्याग की वृत्ति से शून्य, भोग्य-अभोग्य की कल्पना से रहित स्वभाव से ही देखा जाता है उसी प्रकार निवृत्ति से निर्विकल्प वीतराग स्वसंवेदन चैतन्यमात्र के अवभासन को परमार्थ की कोटि से, निश्चय से अनुभूति का विषय बनाने पर यह समस्त अद्वैत जगत् अभोग्य दिखाई देता है। फिर भी राग, द्वेष, मात्सर्य, मद, आवेश आदि प्रवृत्ति से अतिशयरूप से व्यवहारनय के अनुभव का विषय हो जाने पर यह समस्त द्वैत भी भोगने योग्य होता है। दूसरे के द्वारा अपना बनाया जाता है, यह देखा जाता है। क्या भोग्य है ? क्या अभोग्य है ? इस प्रकार भेदबुद्धि को बनाकर निवृत्ति का अभ्यास करो। मन की भूख की पूर्ति होना भोग्य है। पुद्गल कभी आत्मा को नहीं भोगते हैं क्योंकि पुद्गलों में ज्ञान का अभाव है और न आत्मा ही पुद्गलों को भोगता है क्योंकि आत्मा का वह विषय ही नहीं है।

मन को रोककर यदि विश्व को देखता है तब दर्शन, ज्ञान के विकल्प का उल्लंघन करके कुछ भी नहीं होता है। इससे सिद्ध होता है कि जगत् में वस्तुतः भोग्य कोई वस्तु नहीं है। इसलिए राग, द्वेष का अभाव होने की वृत्ति का अभ्यास करो। कहा भी है-''यह आत्मदेव स्वयं अचिन्त्य शक्ति वाला चूँकि चैतन्य मात्र चिन्तामणि है इसलिए सभी अर्थों की सिद्धात्मता से विद्यमान है। ज्ञानी को किसी अन्य वस्तु के परिग्रह से क्या ?'' अर्थात् कुछ भी प्रयोजन नहीं है। यहाँ उपेन्द्रवज्रा छन्द है॥२३५॥

कियन्तं कालं निवृत्तिं भावयेदित्याह–

(अनुष्टुप्)

निवृत्तिं भावयेद्यावन्निवृत्यं तदभावतः।
न वृत्तिर्न निवृत्तिश्च तदेव पदमव्ययम् ॥२३६॥

अन्वयः—यावत् निवृत्यं (अस्ति) (तावत्) निवृत्तिं भावयेत्। तत् अभावतः न वृत्तिः न निवृत्तिः च तद् एव अव्ययं पदम्।

निवृत्तिमित्यादि। यावत् यत्कालपर्यन्तम्। निवृत्यं निवृत्तियोग्यं परित्याज्यं कमपि वस्तु मनो-वाक्कायगत सम्बन्धम्। अस्ति तावदिति अध्याहार्यम्। निवृत्तिं निश्चयनयावलम्बनेन भेदविज्ञान-मूलात्मस्वभावपरिज्ञानात्मिकी वृत्तिर्निवृत्तिस्ताम्। भावयेत् चिन्तयेत् ध्यायेद्वा। तत् निवृत्यं। अभावतः अपरिज्ञानतः। न वृत्तिः न प्रवृत्तिः। न निवृत्तिः न व्यावृत्तिः। च समुच्चये। तत् परमात्मतत्त्वम्। एवावधारणे। अव्ययं शाश्वतिकम्। न विद्यते व्ययो यस्य तदव्ययमविनष्टमित्यर्थः। पदमवस्थालब्धिर्वा ॥२३६॥

किं नाम प्रवृत्तिः किं वा त्याज्यमिति पृष्टे प्राह–

उत्थानिका—कितने काल तक निवृत्ति की भावना करे, यह कहते हैं–

अन्वयार्थ—(यावत्) जब तक **(निवृत्यं)** निवृत्ति के योग्य वस्तु है **(तावत्)** तब तक **(निवृत्तिं)** निवृत्ति की **(भावयेत्)** भावना करे। **(तद् अभावतः)** उस वस्तु का अभाव होने से **(न वृत्तिः)** न वृत्ति **(न निवृत्तिः च)** और न निवृत्ति रहती है। **(तद् एव)** वह ही **(अव्ययं पदं)** अविनाशी पद है।

अर्थ—जब तक निवृत्ति करने योग्य वस्तु है तब तक निवृत्ति करना चाहिए। निवृत्ति योग्य वस्तु का अभाव होने से प्रवृत्ति और निवृत्ति कुछ नहीं रहती है। वही अव्यय मोक्षपद है।

टीकार्थ—भेदविज्ञान मूलक आत्म स्वभाव का परिज्ञान कराने वाली वृत्ति निवृत्ति है। उस निवृत्ति को तब तक करना चाहिए जब तक किसी भी वस्तु से मन, वचन, काय का सम्बन्ध जो छोड़ने योग्य है, पूर्ण छूट न जाए। उस वस्तु का तब तक चिन्तन या ध्यान करना चाहिए। पूर्ण निवृत्ति हो जाने पर परमात्मा तत्त्व ही रह जाता है। वही अव्यय, अविनश्वर पद या अवस्था है ॥२३६॥

उत्थानिका—क्या प्रवृत्ति है ? और क्या छोड़ने योग्य है? ऐसा पूछने पर कहते हैं–

त्याज्य वस्तुयें जब तक तुम नहिं तजते तब तक बुधजन से।
त्याग भावना अविरल भावो मन से वच से औ तन से ॥
तदुपरान्त ना प्रवृत्ति रहती निवृत्ति भी वह ना रहती।
अक्षय अव्यय वही निरापद-पद है जिनवाणी कहती ॥२३६॥

(अनुष्टुप् छन्द)

रागद्वेषौ प्रवृत्तिः स्यान्निवृत्तिस्तन्निषेधनम्।
तौ च बाह्यार्थसम्बद्धौ तस्मात्तान् सुपरित्यजेत् ॥२३७॥

अन्वयः—प्रवृत्तिः रागद्वेषौ स्यात्, तत् निषेधनं निवृत्तिः। तौ च बाह्यार्थसम्बद्धौ तस्मात् तान् सुपरित्यजेत्।

रागेत्यादि। प्रवृत्तिः प्रवर्तनम्। रागद्वेषौ रागश्च द्वेषश्च तौ। तत्र रागो मनोऽभिलाषः, द्वेषो मनोमालिन्यम्। आत्मनि समुत्पन्नौ रागद्वेषौ एव प्रवृत्तिरित्युच्यते। बाह्यमनोवाक्कायचेष्टायास्तन्मूलत्वात् प्रवृत्तिश्चेष्टेत्युपचर्यते कार्ये कारणोपचारात्। न च सर्वा हि योगत्रयचेष्टाः प्रवृत्तित्वेनेष्यन्तेऽत्र संसारप्रसङ्गात्। केवलिनां चेष्टात्रयं न भवकारणम्। ततो निश्चयेन रागद्वेषौ एव प्रवृत्तिरिति सुनिश्चितं भवति। तत् रागादि। निषेधनं वारणं निरोधनम् वा। निवृत्तिः वृत्तिविकलता। स्यादित्यत्रापि योज्यम्। तौ रागद्वेषौ। च समुच्चयेऽन्य मदखेदादीनाम्। बाह्यार्थसम्बद्धौ बहिरङ्गवस्तुनिर्भरौ। बाह्यपदार्थसङ्गतेनात्मनि तौ उत्पद्येत इत्यर्थः। ये चासंज्ञिनो बाह्यार्थन्यूनाः किं न तेषां तदुत्पत्तिरिति चेन्न, तेषामपि रागद्वेषप्रवृत्ति र्नियामिका स्यात्। तथापि नात्र

अन्वयार्थ—(प्रवृत्तिः) प्रवृत्ति **(रागद्वेषौ)** राग और द्वेष करना **(स्यात्)** है। **(तत् निषेधनं)** इनको रोकना **(निवृत्तिः)** निवृत्ति है। **(तौ च)** ये दोनों **(बाह्यार्थसंबद्धौ)** बाह्य पदार्थ से सम्बन्ध रखते हैं। **(तस्मात् तान् सुपरित्येजत्)** अतएव उन बाह्य पदार्थों को अच्छी तरह छोड़ना चाहिए।

अर्थ—राग और द्वेष करने का नाम ही प्रवृत्ति है। राग, द्वेष रुकने का नाम ही निवृत्ति है। राग और द्वेष ये दोनों बाह्य पदार्थों से जुड़े हैं इसलिए उन बाह्य पदार्थों को छोड़ दो।

टीकार्थ—मन की अभिलाषा राग है। मन की मलिनता द्वेष है। आत्मा में उत्पन्न हुए ये राग और द्वेष ही प्रवृत्ति कहे जाते हैं। बाहरी मन, वचन, काय की चेष्टायें रागद्वेष मूलक होती हैं। इसलिए मन, वचन, काय की चेष्टाओं को भी प्रवृत्ति, कार्य में कारण का उपचार करके कहा जाता है। यहाँ संसार का प्रसंग है इसलिए संसारियों को ही मन, वचन, काय तीनों योगों की चेष्टा प्रवृत्ति कही जाती है। केवली भगवान् की तीनों चेष्टायें संसार का कारण नहीं हैं। इसलिए निश्चय से राग, द्वेष ही प्रवृत्ति है, यह सुनिश्चित होता है। उन रागादि को रोकना ही प्रवृत्ति से रहित होना है, वही निवृत्ति है। 'च' शब्द से अन्य मद, खेद आदि का सम्बन्ध भी जानना। ये प्रवृत्तियाँ बाह्य पदार्थों पर निर्भर हैं। बाहरी पदार्थों की संगति से आत्मा में ये दोनों उत्पन्न होती हैं। यदि कहो कि जो असंज्ञीजीव हैं और जो बाहरी पदार्थों से रहित हैं क्या उनमें राग, द्वेष की उत्पत्ति नहीं होती है? तो ऐसा नहीं है, उनमें भी राग-द्वेष की प्रवृत्ति

राग द्वेष यदि मन में उठते प्रवृत्ति वह कहलाती है।
उनका निग्रह करना ही वह निवृत्ति यति को भाती है॥
बाह्य द्रव्य के बिना किन्तु वे रागादिक ना हो पाते।
सर्वप्रथम तुम बाह्य द्रव्य सब तजो भजो निज को तातैं ॥२३७॥

तेषां ग्रहणं संज्ञिजनप्रकरणात्। श्रमणानां बाह्यार्थरहितानामपि बाह्यार्थेनैव रागादेरुत्पत्तिरित्यत्रोक्तम्। प्रमत्ताप्रमत्तभावेषु विशुद्धिवशेनान्दोलायमानेषु मुनिषु प्रत्योदयागतकर्ममात्रविपाको न तन्मनश्चलितुं शक्नोति। विद्यन्ते प्रत्येकं कर्मणो बहूनि नो कर्माणि। तानि किल बाह्यार्थभूतानि प्रोक्तान्यत्र। तस्मात् कारणात्। तान् बाह्यार्थान्। सुपरित्यजेत् सुष्ठु प्रयत्नेन परिहरेदिति। तानि च बाह्यवस्तुनिबन्धनानि असंख्यातलोकप्रमितानि विकल्पस्थानानि वक्तुं न शक्यानि तेषामेव विषयत्वात्। लौकिकानामधः-गुणस्थानवर्तमानानां च क्वचिदलौकिकानां सचेतनानां संबन्धनं हि विकल्पकारकं प्रायेण स्यात्ततः तदपि वार्यम्। निवृत्तिकामो यतिस्तत्तद् वस्तु परिहरेद् येन जायन्ते चित्ते विकल्प-कल्लोलाः। यदुक्तम्-

''तं वत्थुं मोत्तव्वं जं पडि उप्पज्जदे कसायग्गि।
तं वत्थुमल्लिएज्जो जत्थोवसमो कसायाणं॥''

यदा वस्तुपरिहारो सम्भवेत् तदा तं प्रति कषायभावः परिहरेत् ॥२३७॥

निवृत्तिप्रधाने मोक्षपथे कथं प्रतिपदं वर्धितव्यमित्युपायं बाब्रवीति-

भावयामि भवावर्ते भावनाः प्रागभाविताः।
भावये भाविता नेति भवाभावाय भावनाः ॥२३८॥

नियम से होती है। फिर भी उनका यहाँ ग्रहण नहीं है क्योंकि यहाँ प्रकरण संज्ञी जीवों को समझाने का चल रहा है। श्रमण बाह्य पदार्थों से रहित होते हैं फिर भी उनको राग आदि की उत्पत्ति बाह्य पदार्थों के संबंध से होती है, यह यहाँ कहा है। विशुद्धि के कारण प्रमत्त-अप्रमत्त भावों में झूलने वाले मुनियों में उदय में आए प्रत्येक कर्म का विपाक मात्र भी उनके मन को चलायमान करने में समर्थ नहीं होता है। प्रत्येक कर्म के बहुत से नोकर्म (सहायक पदार्थ) होते हैं। वे नोकर्म बाह्य पदार्थ हैं उन्हें ही यहाँ कहा है। इस कारण से बाह्य पदार्थों का बड़े प्रयत्न से त्याग कर देना चाहिए। उन बाह्य वस्तुओं से संबन्ध रखने वाले असंख्यात लोक प्रमाण विकल्प स्थान हैं, उन्हें कहना भी संभव नहीं है क्योंकि वे विकल्प स्थान भी बाह्य पदार्थों को ही विषय बनाते हैं। लौकिक जीवों को, निचले गुणस्थान में रहने वालों को और कभी-कभी अलौकिक चर्या वालों को भी सचेतन पदार्थों का संबंध ही विकल्पकारक प्रायः होता है इसलिए उससे भी बचना चाहिए। निवृत्ति की इच्छा करने वाला यति उस-उस वस्तु से बचे जिससे चित्त में विकल्प की तरंगें उत्पन्न होती हैं। कहा भी है-''उस वस्तु को छोड़ देना चाहिए जिसके प्रति कषायाग्नि उत्पन्न होती है और उस वस्तु को मिलाना चाहिए जिसमें कषायों का उपशम होता है।'' जब वस्तु को छोड़ना संभव न हो तब उसके प्रति कषाय भाव को छोड़ दें ॥२३७॥

महा भयानक भव भँवरों में भ्रमित पड़ा मैं दुख पाता।
जिन भावों को भा न सका अब उन भावों को बस भाता॥
विषय भावना भा-भाकर ही बार-बार भव बढ़ा लिया।
उन्हें तजूँ निज भाव भजूँ है भवनाशक गुरु पढ़ा दिया ॥२३८॥

अन्वयः—भवावर्ते प्रागभाविताः भावनाः भावयामि, भाविताः न भावये, इति भवाभावाय भावनाः।

भावयामीत्यादि। भवावर्ते संसृतिसमुद्रभ्रमे। भव एव आवर्तः अगाधजले वलयितभ्रमस्तत्तस्मिन्। 'स्यादावर्तोऽम्भसां भ्रमः' इत्यमरः। आवर्तान् निर्गमनोऽतिदुष्करो यथा तथैव भवभ्रमणादिति भावः। प्रागभाविताः प्राक् अस्मात् पूर्वम्। अभाविताः न भाविता अभाविताः नञ् समासात्। कास्ताः? भावनाः अर्हत्श्रुतिगुरु-लिङ्गधर्मविषये अपूर्वभावाः। स्त्रीलिङ्गे शसन्तरूपम्। भावयामि भावनामङ्गीकुर्वे। तद्यथा—अहो सर्वत्र सुलभमपि तीव्रज्ञानदर्शनावरणोदयेन मिथ्यात्वाच्छादनेन पश्यन्नपि न दर्शितमर्हत्प्रतिबिम्बम्। सर्वार्थसिद्धिकरं यस्य दर्शनमात्रम्। साक्षादर्हद्रूपप्रदर्शकमेतद्दर्शनम्। चक्रवर्तिबलभद्रवासुदेवदेवौघाप्-सरःखचितानेकप्रकारर्द्धिगणसम्पन्नगणधरदेशकवादिकेवलिजिनक्रूराक्रूरपशुसमुदायैः सहानेकातिशय प्रातिहार्य-युक्तं समवसरणमपि नासाग्रदृष्टिकरणम्। महितोऽपि महता न प्रहर्षः। अमहितोऽपि न द्वेषः। शरद्मण्डल-मिवान्तर्बहिर्निर्मलम्। सर्वद्रव्याणां गुणपर्यायान् सर्वान् विजानन्नपि विहरति मौनेन। अनन्तशक्तिसम्पन्नोऽपि

उत्थानिका—निवृत्ति प्रधान इस मोक्षमार्ग में कैसे प्रत्येक पद पर बढ़ना चाहिए, यह उपाय कहते हैं—

अन्वयार्थ—(भवावर्ते) संसार के आवर्तों में **(प्रागभाविताः)** पहले नहीं भायी गई **(भावनाः)** भावनाओं को **(भावयामि)** मैं भाता हूँ **(भाविताः)** भायी हुई भावनाएँ **(न भावये)** नहीं भाता हूँ **(इति)** इस प्रकार **(भवाभावाय)** संसार के अभाव के लिए **(भावनाः)** भावनाएँ हैं।

अर्थ—संसार के भँवर में पड़ा हुआ मैं उन भावनाओं को करता हूँ जो पहले कभी नहीं की हैं और जिन भावनाओं को पहले किया था उनको मैं नहीं भाता हूँ। संसार के अभाव के लिए ये भावनाएँ हैं।

टीकार्थ—संसाररूपी समुद्र की भँवरों में गोते खाते हुए अब मैं उन भावनाओं को भाता हूँ जो मैंने पहले नहीं भायी हैं। यह संसार ही आवर्त है। गहरे जल में घुमावदार जो गड्ढे होते हैं उन्हें आवर्त कहते हैं। अर्हन्त भगवान्, गुरु, जिनलिंग और जिनधर्म के विषय में उत्पन्न हुए भाव अपूर्वभाव हैं। इन्हें मेरी आत्मा ने कभी इससे पहले नहीं किया है। उन्हीं भावों को मैं स्वीकार करता हूँ जो इस प्रकार हैं—

अहो! सर्वत्र अर्हन्त भगवान् के प्रतिबिम्ब सुलभ हैं किन्तु तीव्र ज्ञानावरण और दर्शनावरण के उदय के साथ मिथ्यात्व के आच्छादन से देखते हुए भी मैंने अर्हन्तों के प्रतिबिम्ब नहीं देखे। जिनका दर्शनमात्र ही समस्त अर्थों की सिद्धि करने वाला है। इस दर्शन से मानों साक्षात् अर्हन्तरूप का दर्शन किया हो। चक्रवर्ती, बलभद्र, वासुदेव, देवों के समूह, उनकी अप्सराओं के समूह, अनेक प्रकार की ऋद्धियों और गुणों से सम्पन्न गणधरदेव, उपाध्याय, वादी मुनि, केवली जिन, क्रूर और शान्त पशु समुदाय के साथ अनेक प्रातिहार्यों सहित समवसरण होते हुए भी उन भगवान् की दृष्टि नासाग्र है। महान् व्यक्तियों की पूजा से भी जिन्हें हर्ष नहीं। पूजित नहीं होने पर भी द्वेष नहीं है। जो शरदऋतु के चन्द्रमा के समान भीतर-बाहर निर्मल हैं। समस्त द्रव्यों की सभी गुण-पर्यायों को जानते हुए भी मौन

क्षमामहिमाधृत्। रक्ताधरोऽपि शमाधरः। चारुरुच्यापि चारुचिः। न ते रागांशसद्भावः पार्श्वे लोलाङ्गनाऽभावात्। न चासिचक्रादिशस्त्राधारणात् द्वेषानुमानः। दृष्टेष्टाविरोधिवाक्यप्रदानात् निर्मोहोऽनुमीयते। यदुक्तम्–

''रागोऽङ्गनासङ्गमतोऽनुमेयो द्वेषो द्विषद्दारणहेतिगम्यः।
मोहः कुवृत्तागमदोषसाध्यो नो यस्य देवः स स चैवमर्हन्॥''

तेषां गुणचिन्तने रक्तोऽहं भवामि। सर्वतोऽस्मिन् देशे विदेशे च स्वमूर्ध्ना कल्पितकथोपन्यास-हासव्यङ्गशृङ्गाररतिकामक्रीडा-आलोचनानिन्दाकूटनीतिकवितालेखपत्रिकापत्रसमाचारचित्रपटदर्शनाचर्चा-गोष्ठीबलात्कारात्याचारस्वैराचारसमलैंगिकविषमलैंगिगकोद्वाहाङ्गप्रदर्शनशीलभङ्गस्पर्धाप्रतिस्पर्धा-विनाशोपायचिन्तनपरवञ्चनाविधिगवेषणकुलशिक्षालोकाचारसंहितोल्लंघनवित्तार्जनमात्रोद्देशे विज्ञानायुध-वृद्धिमात्रसन्देशे या विद्यते स्वल्पापि नग्नभट्टारकर्हत्प्रणीता श्रुतिः सा प्रभूतनिबिड-तिमिरा-कुलितदेशे शश्वत्प्रकाशितार्चिवत् भव्यानां चेत्तश्चमत्करोति समुत्पादयति मोदं चाद्यापि इति मत्वा महापुण्यवानहं यतस्ततस्तत्रैव रुचिर्मननं चिन्तनं धारणं विनयावधानाद्यष्टविधाचारसहितेन प्रवृत्तोऽहं भवामि। महीव

से विहार करते हैं। अनन्त शक्ति से सम्पन्न होकर भी क्षमा महिमा को धारण करने वाले हैं। जिनके अधर लाल होते हुए भी शम भाव उनके अधरों पर है। मनोहर कान्ति से सहित होने पर भी उसमें अरुचि है। उनके अन्दर रागांश का सद्भाव भी नहीं है क्योंकि उनकी बगल में चंचल स्त्रियों का अभाव है। और उनके पास तलवार, चक्र आदि शस्त्र नहीं इसलिए द्वेष का अनुमान भी नहीं लगता है। प्रत्यक्ष और परोक्ष प्रमाण से अविरोधी वचन प्रदान करने से वे निर्मोह हैं। यह अनुमान प्रमाण से जाना जाता है। कहा भी है–

''स्त्रियों की संगति होने से राग का अनुमान लगता है। शत्रुओं के विनाश हेतु शस्त्र देखे जाने से द्वेष का अनुमान लगता है। दुश्चरित्र और आगम में दोष दिखने पर मोह का अनुमान होता है। जिनके अन्दर ये राग, द्वेष, मोह दोष नहीं हैं, वे देव है, वह ही अर्हन्त भगवान हैं।''

उनके गुणों के चिन्तन में इस तरह मैं लीन होता हूँ। देश-विदेश में सब ओर अपनी बुद्धि से कल्पित कथा, उपन्यास, हास्य, व्यंग्य, शृंगार, रति, काम-क्रीड़ा, आलोचना, निन्दा, कूटनीति, कविता, आलेख, पत्रिका, समाचार पत्र, चित्रपट (सिनेमा) देखना, उन्हीं की चर्चा, गोष्ठी, बलात्कार, अत्याचार, स्वच्छन्द प्रवृत्ति, समलैंगिक और विषम लैंगिकों के विवाह, अंगप्रदर्शन, शीलभंग, स्पर्धा, प्रतिस्पर्धा, किसी के विनाश के उपाय का चिन्तन, दूसरों को ठगने की विधि खोजना, कुल संहिता का उल्लंघन, शिक्षा संहिता का उल्लंघन, लोकाचार की संहिता (नियमों) का उल्लंघन, धन अर्जन मात्र का उद्देश्य और विज्ञान, अस्त्र-शस्त्र की वृद्धि मात्र का संदेश ही है। ऐसे में दिगम्बर अर्हत् भट्टारक द्वारा कही हुई जो थोड़ी भी श्रुति (शास्त्र) है वह इस बहुत घने अन्धकार से आकुलित देश में निरन्तर प्रकाशित किरण की भाँति भव्यजीवों के चित्त को आज भी चमत्कृत करती है और हर्ष उत्पन्न करती है, ऐसा मानकर 'मैं महापुण्यवान् हूँ' इसलिए इसी श्रुति में रुचि, उसी का मनन, चिन्तन, उसी को

सर्वंसहाः स्वपरकल्याणविधायका गात्रमात्रपरिग्रहाः सर्वकालं निरम्बराः शीलपताकोद्-धूलितकालदोषाः वारिवाहवन्निरपेक्षवचनप्रवाहाः सकलशान्तप्रचारेण शमिताङ्गनाकामदाहहृदया गगन-विहगवदनिश्चितविहारा भिक्षाटनशीलाः स्वनिर्मितमठालयतीर्थधामवसतिकानिवासाग्रहमुक्तचित्ता गुरव एव वर्या महार्हा तत्पदानुरक्तोऽहं भवामि। निर्ग्रन्थलिङ्गमिदं सर्वेषु च लिङ्गेषु सदानवद्यम्। जिनेन्द्रदेव-प्रतिरूपकम्। सर्वदुःखनिर्हरणसमर्थम्। विषयसुखेषु विरक्ततायाः प्रवचनम्। धारणमात्रेण जगच्छान्तिकरम्। वराका यद्वहनाय न समर्था भवन्ति परीषहकुठाराघातासहनात्तद् मयकावधारितम्। अकिञ्चनस्यापि सर्वैश्वर्यता। स्वाधीनवृत्तिकारणात् सर्वत्र सर्वदा निरपेक्षकम्। एतद्विशिष्टगुणोपेतममायया निवृत्तयेऽहं पौनःपुन्यं भावयामि। धर्मश्चाहिंसालक्षणो यस्य प्रभावाद् भारतवर्षो धर्मप्रधानदेशः स्वतन्त्रः सञ्जातः। सर्वकालेऽजेयोऽनेकान्तधर्मकेतुत्वात्। तस्मिन् द्वादशभावनातीर्थकृत्भावनादशधर्मद्वादशतपः परीषह-जयाद्युपदेशः स्वपरकल्याणायापूर्वोऽनुत्तरो हि वर्त्तते। शमदमयमोपेतः स भवार्णवपोतः। महद्भिरतिशय-पुण्यवद्भिरेवावधार्यः। एवं गुणविशिष्टं तमहं श्रद्दधे रोचये चिन्तये भावये वा। भाविताः याश्च भवपङ्क-

---

धारण करना, विनय अवधान आदि अष्ट प्रकार के ज्ञानाचार सहित मैं प्रवृत्त होता हूँ।

पृथ्वी के समान सबकुछ सहन करने वाले, स्वपर कल्याण को करने वाले, शरीर मात्र परिग्रह को धारण करने वाले, सभी ऋतुओं में निरम्बर, शील की पताका से कलिकाल के दोष को भी दूर कर देने वाले, मेघवर्षा के समान निरपेक्ष प्रवचनों के प्रवाह वाले, समस्त इन्द्रियों के शान्त प्रचार के द्वारा स्त्री सम्बन्धी कामदाह से हृदय को शान्त किये हुए, आकाश के पक्षी की तरह अनिश्चित विहारी, भिक्षा चर्या स्वभाव वाले, अपने लिए निर्मित मठ, आलय, तीर्थधाम, वसतिका में निवास के आग्रह से रहित चित्त वाले गुरु ही श्रेष्ठ हैं, महापूजनीय हैं, उनके चरणों में मैं अनुरक्त रहता हूँ। सभी लिंगों में यह निर्ग्रन्थ लिंग सदा निर्दोष है। जिनेन्द्रदेव का प्रतिरूप है। सभी दुःखों का विनाश करने में समर्थ है। विषयों से विरक्तभाव का यह प्रवचन है। यह लिंग धारण कर लेने मात्र से जगत् को शान्ति करने वाला है। दीन-हीन लोग इस लिंग को धारण करने में समर्थ नहीं होते हैं क्योंकि परीषहों के कुठाराघात को वे सहन नहीं कर पाते है। ऐसे उस लिंग को मैंने धारण किया है। अकिंचन को भी सभी ऐश्वर्यपना है। स्वाधीन वृत्ति करने से सर्वत्र सर्वकाल यह लिंग किसी की अपेक्षा नहीं रखता है। इतने विशिष्ट गुणों से सहित निर्ग्रंथ लिंग की बिना मायाचारी के मोक्ष के लिए पुनः पुनः मैं भावना करता हूँ।

अहिंसा लक्षण वाला धर्म है। जिस धर्म के प्रभाव से यह भारतवर्ष धर्मप्रधान देश स्वतन्त्र हुआ है। यह धर्म सभी कालों में अजेय है क्योंकि अनेकान्त धर्म की पताका सहित है। इस धर्म में बारह भावनायें, तीर्थंकर भावना, दशधर्म, बारहतप, परीषहजय आदि का उपदेश है जो स्वपर के कल्याण के लिए अपूर्व हैं और अनुत्तर हैं अर्थात् इस धर्म से श्रेष्ठ कुछ भी नहीं है। यह धर्म शम, दम, यम सहित है मानों संसार सागर से तरने के लिए नौका है। यह धर्म महान् और अतिशय पुण्यवालों के द्वारा अवधारण के योग्य है। इतने गुणों से विशिष्ट इस धर्म की मैं श्रद्धा करता हूँ, इसकी मैं रुचि करता हूँ

कलङ्कनिमग्नेन मयाऽनुष्ठिताः चिन्तिता धृता वा ताः। अहं ज्ञानी, रूपवान्, प्रभाववान्, तद्विपरीतवान् वास्मि। मत्प्रभावात् एवं घटितः। सर्वत्र प्रशंसितोऽहम्। मदाचार्यत्वेन विश्वेषामाचरणम्। अन्तर्गुप्तमाया न कोऽपि जानीते। सातरसर्द्धिगारव-युक्तताऽस्ति मम। या देहसुखस्याभिलाषा भूयः कृता। एते मदीयास्ते तु त्वदीयाः सन्ति। यतः अज्ञानमयजगति बहुशो मे कीर्तिराख्यातिश्च दिगन्तव्यापिनी बभूवः। पुनर्देहान्तरकारणान्न विज्ञाता तथापि तत्रैव पुनराशा। किं नाम शाश्वतमस्ति क्षणभङ्गुरेऽस्मिन् जगति, तत एता भावनाः। न भावये पुनर्न रोचयेऽनुभवामि वा। इति एवमुक्तप्रकारेण। भवाभावाय संसृतिबीजविनाशाय। भवस्य संसारस्या-भावस्तस्मै। भावनाः भाव्यं भावयेऽभाव्यं न भावये इत्यर्थः। यदुक्तं नियमसारेऽपि–

''मिच्छत्तपहुदिभावा पुव्वं जीवेण भाविया सुट्ठु।
सम्मत्तपहुदि भावा अभाविया होंति जीवेण ॥९०॥''

भाव्याभाव्यविभाजनं प्रतिक्रमणपाठानुसारेण नित्यमुद्युक्तेन भावेन भावयितव्यम्। यथा च तत्र प्रोक्तम्–''अभाविथं भावेमि भावियं ण भावेमि''। प्रतिक्रमणं तूपलक्षणं तेन प्रत्याख्याननियमालोचनादिकं नित्यं भावविशुद्ध्यर्थं भाव्यम्। एतदेव सर्वं स्वाध्याय-तपोध्यानरूपम्। यदुक्तम्–

इसका चिन्तन करता हूँ अथवा इस धर्म की मैं भावना करता हूँ।

अब जो भावनाएँ मैंने संसार के कीचड़ के कलंक में निमग्न होने से की हैं, उनका चिन्तन किया है और उन्हें धारण किया है, वे भावनाएँ हैं–मैं ज्ञानी हूँ, रूपवान हूँ, प्रभाववान हूँ या इसके विपरीत अज्ञानी, कुरूप, प्रभावहीन हूँ। मेरे प्रभाव से ही इस प्रकार घटित हुआ है। मैं सर्वत्र प्रशंसा पात्र हूँ। मेरे आचार्यत्व में सभी का आचरण होता है। मेरे अन्दर की माया कोई नहीं जानता है। मुझको सात गारव, रस गारव, ऋद्धि गारव से सहितपना है। जो देहसुख की अभिलाषा है वह भी बहुत बार की है। ये मेरे हैं, वे तेरे हैं, यह भावना भी की है। चूँकि इस अज्ञानमय संसार में बहुत बार मेरी कीर्ति, प्रसिद्धि दिगन्त व्यापिनी हुई है। नया जन्म ले लेने से वह मुझे अभी ज्ञात नहीं है फिर भी उसी में मेरी पुनः आशा उत्पन्न होती है। इस क्षणभंगुर जगत् में कौन-सी चीज शाश्वत है, इसलिए ये भावनायें अब मैं नहीं भाता हूँ, न इनमें रुचि करता हूँ, न इनका अनुभव करता हूँ। इस प्रकार संसार का अभाव करने के लिए जो भाने योग्य है उसको भाता हूँ और भाने योग्य नहीं है उसको नहीं भाता हूँ। **नियमसार** में भी कहा है–''मिथ्यात्व आदि भाव जीव ने पहले सुचिर काल तक भाये हैं और सम्यक्त्व आदि भाव जीव ने नहीं भाये हैं।''

क्या भाने योग्य है और क्या नहीं है, इसका और विभाजन प्रतिक्रमण पाठ के अनुसार नित्य प्रयत्नशील होकर भाव से भाना चाहिए। चूँकि उसी प्रतिक्रमणपाठ में इस प्रकार कहा है–''मैंने जो भावना नहीं की है उसकी भावना करता हूँ। जो भावना की है उसको नहीं करता हूँ। यह प्रतिक्रमण तो उपलक्षण है। इससे प्रत्याख्यान, नियम, आलोचना आदि सदैव भावविशुद्धि के लिए भाना चाहिए। ये सभी स्वाध्याय, तप और ध्यानरूप हैं।'' कहा भी है–

''वयणमयं पडिकमणं वयणमयं पच्चक्खाण णियमं च।
आलोयणा वयणमयं तं सव्वं जाण सज्झायं॥''

एतद् भेदरत्नत्रयात्मकं व्यवहारचारित्रमपि परित्यज्य निश्चयचारित्र रूपाभेदरत्नत्रयाय भावना कर्तव्या एकत्वपरिणतात्मभावनाया दुर्लभतमत्वात्। यदुक्तं समयसारेऽपि–

''सदुपरिचिदाणुभूदासव्वस्स वि कामभोगबंध कहा।
एयत्तस्सुवलंभो णवरि ण सुलहो विहत्तस्स ॥४॥''

''तन्निश्चयप्रतिक्रमणादिकेवलसन्तिसहावो सोहं इदि चिंतिए णाणी ॥'' नियमसार ९६

''आदा खुमज्जणाणे आदा मे दंसणे चरित्ते य।
आदा पच्चक्खाणे आदा मे संवरे जोगे ॥ १००॥''
''एगो मे सासदो अप्पा णाणदंसण लक्खणो।
सेसा मे बाहिरा भावा सव्वे संजोग लक्खणा ॥१०२॥''

अनुष्टुप्छन्दः ॥२३८॥

हेयाहेयमत्र विविच्यते–

शुभाशुभे पुण्यपापे सुखदुःखे च षट्त्रयम्।
हितमाद्यमनुष्ठेयं शेषत्रयमथाहितम् ॥२३९॥

''वचनमय प्रतिक्रमण, वचनमय प्रत्याख्यान, वचनमय नियम, वचनमय आलोचना इन सब को स्वाध्याय जानो।''

यह भेद रत्नत्रयात्मक व्यवहारचारित्र भी छोड़कर निश्चयचारित्ररूप अभेद रत्नत्रय के लिए भावना करनी चाहिए क्योंकि एकत्व से परिणत आत्मभावना दुर्लभ से भी दुर्लभतम है। कहा भी है– ''काम भोग और बंध की कथा तो सभी की सुनी हुई है, परिचित है, अनुभूत है किन्तु एकत्व विभक्त की प्राप्ति बहुत दुर्लभ है।'' समयसार ...(४)

निश्चय प्रतिक्रमण आदि करने के लिए इस प्रकार भावना करनी चाहिए–''मैं केवलज्ञान स्वभावी हूँ, केवलदर्शन स्वभाव और सुखमय हूँ। मैं केवल शक्ति स्वभाव वाला हूँ'' इस प्रकार की चिंतन करे। ''वास्तव में मेरे ज्ञान में आत्मा है, मेरे दर्शन में तथा चारित्र में आत्मा है, मेरे प्रत्याख्यान में आत्मा है, मेरे संवर में तथा योग में आत्मा है।'' ''ज्ञान दर्शन लक्षण वाला शाश्वत एक आत्मा मेरा है। शेष सब संयोग लक्षण वाले भाव मुझसे बाह्य है।'' यहाँ अनुष्टुप् छन्द है॥२३८॥

सुनो! शुभाशुभ पुण्य पाप औ सुख दुख छह त्रय युगल रहें।
प्रति युगलों में आदिम त्रय है हित कारण हैं विमल रहें॥
उनको तुम अपने जीवन में धारण कर लो सुख वर लो।
अशुभ पाप दुख शेष अहित हैं अहित हेतुवों को हर लो ॥२३९॥

अन्वयः—शुभाशुभे पुण्यपापे सुखदुःखे च षट्, आद्यं त्रयं हितं अनुष्ठेयं अथ शेषत्रयं अहितम्।

शुभाशुभ इत्यादि। शुभाशुभे पुण्योपार्जनहेतुभूतं व्रतादिकं शुभम्। पापोपार्जनहेतुकम- व्रतादिक-मशुभम्। शुभं च अशुभं च इतरेतरद्वन्द्ववृत्त्या शुभाशुभे। पुण्यपापे पुण्यं सद्वेद्यगोत्र- शुभायुर्नामसंज्ञम्। पापं च तद्विपरीतं। पुण्यं च पापं च पुण्यपापे। सुखदुःखे सुखं सातजनितम्। दुःखमसातवेद्यम्। सुखं च दुःखं च सुखदुःखे। चशब्दोऽत्रैतेषां समुच्चये। षट् सर्वे मिलित्वा षोढा भवन्ति। ननु च शुभं च पुण्यं च सुखं चेति त्रिकं शब्दमात्रेण भिन्नं भाति वाच्यभूतार्थस्यैकरूपात्। तन्न युक्तं भाति वाच्यार्थभिन्नत्वात्। शुभमिति योगोपयोगयोः क्रियाद्योतकमनुष्ठानरूपम्। पुण्यं तु तत्क्रियाजनितपुण्यकर्म यन्निबद्धमात्मनि। सुखं पुनस्तत्कर्मविपाकं फलत्वेन वेद्यमानमिति कारणकार्यनिबन्धनता परस्परं वेदितव्या। आद्यं त्रयं तत्रोक्तयुगलेषु आदेस्त्रिकं शुभं पुण्यं सुखं चेति। हितं भव्यानां पथ्यम्। अनुष्ठेयं यतो हितं ततः सेवनीय-मनुष्ठानयोग्यम्। अथानन्तरमवशेषमित्यर्थः। ''अथाऽथो च शुभे प्रश्ने साकल्यारम्भसंशये। अनन्तरेऽप्य-'' इति वि० लो०। शेषत्रयं अशुभं पापं दुःखं चेति। अहित-मपथ्यम्। यतोऽहितं ततो नानुष्ठेयमिति पारिशेषात् सिद्धं भवति। शुभाशुभानुष्ठानमेकरूपं कर्मबन्धनापेक्षया तदपि प्राथमिकैरेकरूपं न मन्तव्यम्। तत्र

उत्थानिका—हेय और अहेय का यहाँ विवेचन करते हैं—

अन्वयार्थ—(शुभाशुभे) शुभ-अशुभ में **(पुण्यपापे)** पुण्य-पाप में **(सुखदुःखे च)** और सुख दुःख में **(षट्)** छह में **(आद्यं त्रयं)** पहले के तीन **(हितं)** हित में **(अनुष्ठेयं)** अनुष्ठान करने योग्य हैं **(अथ)** और **(शेषत्रयं)** शेष तीन **(अहितम्)** अहित हैं।

अर्थ—शुभ-अशुभ में, पुण्य-पाप में, सुख-दुख में इन छहों में पहले के तीन हित और अनुष्ठान योग्य हैं तथा शेष तीन अहित करने वाले हैं।

टीकार्थ—पुण्य के उपार्जन के हेतुभूत व्रत आदि शुभ हैं। पाप के उपार्जन के हेतुभूत अव्रत आदि अशुभ हैं। सातावेदनीय, शुभगोत्र, शुभायु और शुभनाम पुण्य है। इससे विपरीत पाप है। साता जनित सुख है। असातावेदनीय दुःख है।

शंका—शुभ, पुण्य और सुख ये तीनों शब्द मात्र से भिन्न दिखते हैं क्योंकि इन शब्दों का वाच्यार्थ तो एक जैसा है।

समाधान—यह ठीक नहीं है क्योंकि वाच्यार्थ भिन्न है। शुभ, यह योग, उपयोग दोनों की क्रिया को प्रकाशित करने वाला अनुष्ठान है। उस शुभ क्रिया से उत्पन्न हुआ पुण्यकर्म जो आत्मा में बँधता है वह पुण्य है। इस पुण्य कर्म का विपाक फलरूप से वेदन करना सुख है। इस तरह तीनों (शुभ, पुण्य, सुख) की परस्पर में कारण-कार्य सम्बद्धता जाननी चाहिए। इन तीनों युगलों में प्रारम्भ के तीन शुभ, पुण्य, सुख ये भव्यों के लिए पथ्य हैं। अनुष्ठान करने योग्य हैं। चूँकि हितकारी हैं इसलिए सेवन करने योग्य हैं। शेष तीन अशुभ, पाप, दुःख, अहितकारी हैं, अपथ्य हैं। चूँकि अहितकारी हैं इसलिए अनुष्ठान योग्य नहीं है, यह पारिशेष न्याय से सिद्ध है। कर्मबन्ध की अपेक्षा शुभ-अशुभ अनुष्ठान एक

शुभमनुष्ठेयमशुभं तु परिहर्त्तव्यमिति भावः। अनुष्टुपृछन्दः ॥२३९॥

तदनन्तरं किं कर्त्तव्यमित्युच्यते–

तत्राप्याद्यं परित्याज्यं शेषौ न स्तः स्वतः स्वयम्।
शुभं च शुद्धे त्यक्त्वान्ते प्राप्नोति परमं पदम् ॥२४०॥

अन्वयः—तत्र अपि आद्यं परित्याज्यं, स्वतः स्वयं शेषौ न स्तः। च शुभं शुद्धे त्यक्त्वा अन्ते परमं पदं प्राप्नोति।

तत्रापीत्यादि। तत्र अपि शुभाशुभादियुगलेऽपि। आद्यं शुभं यच्चानुष्ठानरूपम्। परित्याज्यं मोक्तव्यम्। स्वतः स्वयं प्रयासेन विना। शेषौ पुण्यसुखपदार्थौ कर्मरूपेणावस्थितं पुण्यं न कार्यकारि। यदा तदुदयरूपेण विपाकमाप्नोति तदाऽपि नवकर्मबन्धनाभावात् निर्जरतीति द्वौ स्वयमेव विलीयेते कारणाभावे कार्याभावात्। च इति। शुभं आद्यम् शुभोपयोगम्। शुद्धे शुभाशुभविकल्पमुक्ते शुद्धात्मस्वभावे शुद्धोपयोगे। त्यक्त्वा परित्यज्य। परममुत्कृष्टमनन्तसुखमेघादिरूपंभाव मोक्षरूपम्। अन्ते आयुषः परिसाप्तौ परमं मोक्ष पदं

रूप हैं, फिर भी प्राथमिक अवस्था में एकरूप नहीं मानना चाहिए। उसमें शुभ अनुष्ठान योग्य है और अशुभ का परिहार करना चाहिए। यहाँ अनुष्टुप् छन्द है ॥२३९॥

उत्थानिका—उसके बाद क्या करना चाहिए, यह कहते है–

अन्वयार्थ—(तत्र) उसमें **(अपि)** भी **(आद्यं)** पहले का **(परित्याज्यं)** छोड़ने योग्य है **(स्वतः)** स्वतः **(स्वयं)** स्वयं **(शेषौ)** पुण्य और सुख **(न स्तः)** दोनों नहीं रहते हैं **(च शुभं)** शुभ को **(शुद्धे)** शुद्ध में **(त्यक्त्वा)** छोड़कर **(अन्ते)** अन्त में **(परमं पदं)** परमपद को **(प्राप्नोति)** प्राप्त करता है।

अर्थ—शुभ, पुण्य और सुख में भी प्रथम को (शुभ को) छोड़ना चाहिए। शेष बचे पुण्य और सुख दोनों तो स्वयं ही नहीं रहेंगे। इस प्रकार शुभ को छोड़कर और शुद्ध में ठहर कर जीव अन्त में परम पद मोक्ष को प्राप्त हो जाता है।

टीकार्थ—प्रथम शुभ अनुष्ठानरूप है। शुभ को भी छोड़ देना चाहिए। शुभ छूट जाने पर स्वयं प्रयास के बिना पुण्य और सुख पदार्थ ही छूट जाते हैं। जो पुण्य कर्मरूप से सत्ता में स्थित है, वह तो कुछ नहीं करता है। जब वही पुण्य उदयरूप से फल देता है तभी नवीन कर्मबन्ध का अभाव होने से निर्जरा को प्राप्त होता है इस प्रकार पुण्य और सुख दोनों स्वयं नष्ट हो जाते हैं क्योंकि कारण का अभाव होने पर कार्य का अभाव होता है। शुभ-अशुभ विकल्पों से मुक्त शुद्धात्म स्वभाव में अर्थात् शुद्धोपयोग

हित-कारक में भी आदिम सुख का तजना अनिवार्य रहा।
पुण्य और सुख स्वयं छूट ही जाते हैं सुन आर्य! महा ॥
इस विध शुभ को छोड़ शुद्ध में श्वास श्वास पर बस रमना।
अंत समय में अनंत पद पा अनन्त भव में ना भ्रमना ॥२४० ॥

स्थानम्। प्राप्नोति प्राप्तिं करोति। कृतव्रतादिशुभपरिकर्मा हि शुद्धेऽन्तेऽवस्थातुं शक्नोति, न चान्य इति तात्पर्यम्। यदुक्तम्–

''अव्रतानि परित्यज्य व्रतेषु परिनिष्ठितः।
त्यजेत्तान्यपि सम्प्राप्य परमं पदमात्मनः॥''

अनुष्टुप्छन्दः ॥२४०॥

अनादिबन्धनबद्ध आत्मा कथं बध्यते च कथं मुच्यते इति विधिं विवृणोति–

(शार्दूलविक्रीडित)

अस्त्यात्मास्तमितादिबन्धन – गतस्तद्बन्धनान्यस्त्रवैः
ते क्रोधादिकृताः प्रमादजनिताः क्रोधादयस्तेऽव्रतात्।
मिथ्यात्वोपचितात् स एव समलः कालादिलब्धौ क्वचित्
सम्यक्त्वव्रतदक्षताकलुषतायोगैः क्रमान् मुच्यते ॥२४१॥

में (इस शुभोपयोग को छोड़कर) अनन्तसुख, अनन्तज्ञान आदि रूप भावमोक्ष प्राप्त करता है और अन्त में आयु की समाप्ति में मोक्षरूप परमपद प्राप्त करता है। जिसने व्रत आदि शुभ परिकर्म किया है वही शुद्ध धर्म अर्थात् शुद्धोपयोग में स्थित होने में समर्थ होता है, अन्य नहीं, यह तात्पर्य है। कहा भी है–

''अव्रतों को छोड़कर व्रतों में लीन होते हुए उन व्रतों को भी आत्मा का परमपद प्राप्त कर छोड़ देना।'' यहाँ अनुष्टुप् छन्द है ॥२४०॥

उत्थानिका–अनादि बन्धनबद्ध आत्मा कैसे बँधता है और कैसे छूटता है, इस विधि का वर्णन करते हैं–

अन्वयार्थ–(आत्मा) आत्मा **(अस्ति)** है **(अस्तमितादिबन्धनगतः)** अनादि परम्परा बन्धन को प्राप्त है **(आस्त्रवैः)** आस्त्रवों के द्वारा **(तद्बन्धनानि)** कर्मबन्धन होते हैं **(ते)** वे आस्त्रव **(क्रोधादिकृताः)** क्रोध आदि से किये जाते हैं **(क्रोधादयः)** क्रोध आदि **(प्रमादजनिताः)** प्रमाद से उत्पन्न होते हैं **(ते)** वे प्रमाद **(अव्रतात्)** अव्रतों से **(मिथ्यात्वोपचितात्)** मिथ्यात्व से पुष्ट होते हैं **(स एव)** वह ही **(समलः)** कर्ममल सहित आत्मा **(क्वचित्)** कभी **(कालादिलब्धौ)** कालआदि लब्धि प्राप्त होने पर **(सम्यक्त्व व्रत दक्षता कलुषतायोगैः)** सम्यक्त्व, व्रत, कुशलता, अकलुषता, अयोग से **(क्रमात्)** क्रम से **(मुच्यते)** छूटता है।

जीव रहा चिर बंधन बंधित बंधन तनादि आस्त्रव से।
आस्त्रव कषाय वश वे कषाय प्रमाद के उस आश्रय से॥
वह मिथ्या अविरति वश अविरत कालादिक कारण पाते।
दृग व्रत प्रमाद बिन शम धारे योग रोध कर शिव जाते ॥२४१॥

अन्वयः—आत्मा अस्ति, अस्तमितादिबन्धनगतः, आस्रवैः तद्बन्धनानि, ते क्रोधादिकृताः, क्रोधादयः प्रमादजनिताः, ते अव्रतात् मिथ्यात्वोपचितात्, स एव समलः क्वचित् कालादिलब्धौ सम्यक्त्व-व्रतदक्षताकलुषतायोगैः क्रमात् मुच्यते।

अस्त्यात्मेत्यादि। आत्मा जीवपदार्थः। अस्ति विद्यते। स्वस्वरूपेणेति चार्वाकमतमपास्तम्। स च कथम्भूतः? अस्तमितादिबन्धनगतः अनादिबन्धनबद्धः। अस्तमितं विरहितं आदिर्बन्धनं यस्य स अस्तमितादिबन्धनस्तं गतः प्राप्तस्तथोक्तः। इति सांख्यमतं प्रत्याख्यातम्। आस्रवैः आस्रवन्ति कर्माणि यैस्ते मिथ्यात्वादयः आस्रवाः कथ्यन्ते। तैः। तेषु योगश्चरमः प्रत्ययः। योग एवास्रवो व्यापकत्वात्। अतः कायवाङ्मनोजनितात्मप्रदेश परिस्पन्दात्मको योगः। स एवास्रवस्तैरात्मा बध्यत इत्यर्थः। तद्बन्धनानि अष्टकर्मभिरनादिकालायातानि प्रकृतिस्थित्यनुभागप्रदेशरूपाणि। ते आस्रवाः। केन कृताः? क्रोधादिकृताः क्रोधा कषायाः षोडश आदिर्मुख्यं येषु ते क्रोधादयस्तैः कृताः तथोक्ताः। कषायसहितस्य साम्परायिकास्र-वस्य मुख्यत्वात् कषाया एवास्रवाः कथिताः। अथवा क्रोधः कषायः आदौ येषां ते कषाययोगा एव आस्रवाः संसारकारणत्वात्। अत्र क्रोधशब्दः सर्वकषायसङ्ग्रहार्थं युज्यते नामैकभेदेन सर्वेषामवगमात् युधिष्ठिरवत्। ते च कथमुत्पन्नाः? क्रोधादयः प्रमादजनिताः प्रमादमूलाः इत्यर्थः। 'मिथ्यात्वाविरतिप्रमादकषायोगा बन्धहेतवः'

अर्थ—आत्मा अनादिकाल से बन्धन को प्राप्त है। आस्रवों के द्वारा कर्मों का बन्ध होता है। वे आस्रव क्रोध आदि के द्वारा किए जाते हैं। क्रोध आदि प्रमाद से उत्पन्न होते हैं। वे प्रमाद अव्रतो और मिथ्यात्व से बढ़ते हैं। वह कर्ममल सहित आत्मा ही कभी काल आदि लब्धि को प्राप्त होने पर सम्यक्त्व, व्रत, प्रमादविजय, कषायरहित और योगरहित होकर क्रम से संसार से छूट जाता है।

टीकार्थ—आत्मा स्वस्वरूप से है, यह चार्वाकमत का निराकरण करने के लिए कहा है। आत्मा के लिए कर्म बन्धन होने का कोई प्रथम समय नहीं है। आत्मा अनादिकाल से कर्मबन्धन को प्राप्त है, इस कथन से सांख्यमत का निराकरण किया है क्योंकि सांख्यमत आत्मा को कर्मबंध से रहित सदा शुद्ध मानता है। जिनके द्वारा आत्मा में कर्म आते हैं वे मिथ्यात्व आदि कर्म आस्रव कहलाते हैं। उनमें योग अन्तिम प्रत्यय है। योग ही आस्रव है क्योंकि वह सभी प्रत्ययों के साथ व्यापक है। अतः काय, वचन और मन से उत्पन्न आत्मप्रदेशों में जो परिस्पंद है वह योग है। वह ही आस्रव है। उन आस्रवों से आत्मा बँधता है। अष्टकर्मों के द्वारा होने वाला वह बन्धन प्रकृति, स्थिति, अनुभाग और प्रदेशरूप है जो अनादिकाल से चला आ रहा है। वे आस्रव किसने बनाये? वे क्रोध आदि के द्वारा किए हुए हैं। क्रोध आदि सोलह कषाय मुख्य है। उन सोलह कषायों से सम्परायिक आस्रव होता है। इस आस्रव की मुख्यता से कषाय ही आस्रव हैं, यह कहा है। अथवा जिन आस्रव के कारणों में क्रोध कषाय प्रारम्भ में है उन कषायों का योग ही आस्रव है क्योंकि कषाय ही संसार की कारण हैं। यहाँ पर क्रोध शब्द सभी कषायों का संग्रह करने के लिए है। नाम के एक भेद से भी अन्य भेदों का ज्ञान हो जाता है जैसे युधिष्ठिर के कहने से अन्य पाण्डवों का भी सद्भाव जाना जाता है। वे क्रोध आदि कषाय कैसे उत्पन्न

इति सूत्रमवधृत्यैतद्व्याख्यानमवसेयम्। हितात् प्रमाद्यतीति प्रमादः। तेन जनिताः क्रोधादयस्तन्मूलाः। ते प्रमादाः। अव्रतात् अनन्तानुबन्ध्यप्रत्याख्यानप्रत्याख्यान-कषायजनिताविरतेः। कथम्भूतात्? मिथ्यात्वोप-चितात् मिथ्यात्वेनोपचितं पुष्टं तं तस्मात्। मिथ्यात्वेन पुष्टादव्रतादात्माऽनादिनाबद्ध इत्यर्थः। सः मिथ्यात्वाव्रतप्रमादकषाययोगयुक्तः। एवावधारणे। समलः कर्ममलपटलसहितः आत्मा। क्वचित् कालादि-लब्धौ काललब्धिरादौ येषु लब्धित्रयेषु सा तस्यां सत्यामित्यर्थः। सम्यक्त्वव्रतदक्षताकलुषतायोगैः तत्र सम्यक्त्वं सम्यग्दर्शनं येन मिथ्यात्वं मथ्यते। व्रतमहिंसादिपञ्चकम्। येनाविरति र्निवार्यते। दक्षता कुशलेषु कुशलता निष्प्रमादता। ययाऽप्रमत्तता भाव्यते। अकलुषता मनोनिर्मलता। ययोपशमक्षपकश्रेण्यामारोहणं जायते। च केवलज्ञानम्। अयोगो व्युपरतक्रिया-निवर्तिशुक्लध्यानम्। येन समुत्पद्येत सिद्धत्वम्। एवं यैः कारणैर्बन्धमनुभवति तद्विपरीतकारणैश्च भवति मोक्षभाक् प्राणीति सुप्रणीतम्॥ उक्तं च–

सुविशुद्धैश्चिदुद्गारैर्जीर्णमाख्यासि कश्मलम्।
अज्ञानादतिरागेण यद्विरुद्धं पुराहृतम्॥

शार्दूलविक्रीडितवृत्तम् ॥२४१॥

उत्कृष्टस्य तपसः फलमुत्कृष्टं न लभते केन कारणेनेत्याह–

हुई हैं ? वे क्रोध आदि कषाय प्रमाद से उत्पन्न हुई हैं और प्रमादमूलक हैं। ''मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग बन्ध के हेतु हैं।'' इस तत्त्वार्थसूत्र के इस सूत्र को ही मन में अवधारण करके यह व्याख्यान किया है, ऐसा जानना।

जो हित से बचाता है वह प्रमाद है। वे प्रमाद अनन्तानुबन्धी कषायजनित अविरति, अप्रत्याख्यान कषायजनित अविरति और प्रत्याख्यान कषायजनित अविरति वाले हैं तथा मिथ्यात्व से पुष्ट होते हैं। इसलिए आत्मा अनादिकाल से बँधा हुआ है। वह आत्मा मिथ्यात्व, अव्रत, प्रमाद, कषाय और योग सहित है। कर्ममल सहित वह आत्मा काल आदि लब्धि होने पर कर्ममल से छूटता है। सम्यग्दर्शन से मिथ्यात्व का नाश होता है। अहिंसा आदि पाँच व्रत हैं। इन व्रतों से अविरति रुक जाती है। कुशल कार्यों में कुशलता होना ही प्रमाद रहित होना है। इससे अप्रमत्तपना कहा है। मन की निर्मलता कलुषता से रहित होना है। अकलुषता से उपशम और क्षपकश्रेणी में आरोहण होता है। और केवलज्ञान भी होता है। व्युपरतक्रियानिवर्ति नाम का शुक्लध्यान अयोग है। जिससे सिद्धत्व की प्राप्ति होती है। इस प्रकार जिन कारणों से यह प्राणी बंध का अनुभव करता है उनके विपरीत कारणों से मोक्ष का पात्र होता है। यह इस काव्य में कहा गया है। कहा भी है–

''अज्ञान से और अतिराग से जो आत्मा पहले विपरीत चल रही थी वही चैतन्य से उत्पन्न उत्कृष्ट विशुद्धि के द्वारा कलुषता को नष्ट कर देती है। ऐसा हे भगवन्! आपने कहा है।'' यहाँ शार्दूलविक्रीडित छन्द है ॥२४१॥

उत्थानिका–उत्कृष्ट तप का फल उत्कृष्ट प्राप्त नहीं होता है इसका कारण कहते हैं–

(अनुष्टुप्)

ममेदमहमस्येति प्रीतिरीतिरिवोत्थिता।
क्षेत्रे क्षेत्रीयते यावत्तावत् काशा तपःफले ॥२४२॥

अन्वयः—मम इदं अहं अस्य इति प्रीतिः क्षेत्रे ईतिः इव उत्थिता यावत् क्षेत्रीयते तावत् तपःफले का आशा।

ममेदमित्यादि। मम अस्मच्छब्दस्य वान्तरूपम्। इदं दृश्यमानं कमपि वस्तु। अहं अस्मच्छब्दस्य वान्तरूपम्। अस्य इदंशब्दस्य रूपम्। इति एवं प्रकारः प्रत्ययः। प्रीतिः परवस्तुनि रतिः कथ्यते। क्षेत्रे आत्मप्रदेशे पक्षे सस्यक्षेत्रे। ईतिः व्याधिः। सा च सप्तविधा। यदुक्तम् –''अतिवृष्टिरनावृष्टिर्मूषकाः शलभाः शुकाः। स्वचक्रं परचक्रं च सप्तैता ईतयः स्मृताः'' एतेष्वेकतमापि यदि क्षेत्रे प्रविशति तदा महाविप्लवः तत्र स्यात्। इव औपम्यार्थे। उत्थिता प्रकटिता समुत्पन्ना वा। यावत् कालपरिच्छेदार्थे। क्षेत्रीयते राजायते। क्षेत्रिणमिवात्मानमाचरति सा। 'गौणादाचारे' इति क्यप्। तावत् कालपर्यन्तम्। तपःफले निर्ग्रन्थलिङ्ग-तपश्चरणे। का आशा तपःफलं मोक्ष इतीच्छा व्यर्थः। ईतिरिवोपद्रवकारिणी प्रीतिर्यावदात्मप्रदेशे वर्तते यथा–

अन्वयार्थ—(मम) मेरा **(इदं)** यह है **(अहं)** मैं **(अस्य)** इसका हूँ **(इति)** इस प्रकार **(प्रीतिः)** प्रीति **(क्षेत्रे)** खेत में **(ईतिः इव)** ईति के समान **(उत्थिता)** उठी हुई **(यावत्)** जब तक **(क्षेत्रीयते)** खेत में रहती हैं **(तावत्)** तब तक **(तपः फले)** तप के फल में **(का आशा)** क्या आशा हो ?

अर्थ—''यह मेरा है और मैं इसका हूँ'' इस प्रकार की प्रीति आत्मारूपी खेत में ईतिरोग की तरह जब तक फैली रहती है तब तक तप के फल में क्या आशा की जाये४१९ ? अर्थात् तप के फल की प्राप्ति नहीं है।

टीकार्थ—पर वस्तु में रति होना प्रीति कही जाती है। आत्मा के प्रदेश को भी क्षेत्र कहते हैं और खेती करने की भूमि को भी क्षेत्र (खेती) कहते हैं। ईति एक व्याधि (रोग) है जो सात प्रकार की होती है। कहा भी है–''अतिवृष्टि, अनावृष्टि, मूषक (चूहे), शलभ (टिड्डे), शुक (तोता), स्वचक्र और परचक्र'' ये सात ईतियाँ कहलाती हैं। इन ईतियों में से एक भी खेत में प्रविष्ट कर जाती है तो उस खेत का महाविनाश हो जाता है। उसी तरह ''यह कोई भी वस्तु मेरी है और मैं इसका हूँ।'' इस प्रकार मैं और मेरेपन की व्याधि जब तक आत्मा में रहती है तब तक निर्ग्रन्थ लिंग के इस तपश्चरण में तप के फल से मिलने वाले मोक्ष की इच्छा करना व्यर्थ है। जब तक ईति के समान उपद्रव करने वाली प्रीति

यह तन मेरा रहा, रहा मैं इसका, इसविध प्रीति रही।
तब तक तप फल शिवसुख, आशा वृथा रही यह नीति सही ॥
कृषक कृषी है करता पूरण खेत भरी है फसल खड़ी।
ईति भीति आदिक से यदि है घिरी, फलाशा विफल रही ॥२४२॥

एते मम भक्ता, बह्वी शिष्या च, मम वाक्पटुताऽचिन्त्या, चतुर्विधः संघो ममाज्ञानुवर्ती, मम देहो सर्वक्लेशसहनार्हः। चन्द्रकरा इवाह्लादकरा मे चिन्तनकणाः, मया सम्पादित-मुल्लेखितं काव्यं गद्यं विधानादि विश्रुतम्, सर्वेषां प्रियोऽहम्, इत्यादि बहुशः स्वकीय-स्वकीयक्षेत्रे सचित्ताचित्तमिश्रद्रव्य-निबन्धनप्रीत्या मोक्षफलमुत्सारितं दूरमिति भावः। यतश्चामी भावाः मुनेराश्रयेण, मुनित्वं मनुष्यपर्यायस्या-धारेण, मनुष्यत्वं देहमाश्रित्यास्ति। ततोऽहं मुनिरहं शरीरी अहं मनुष्य इत्यादिभावानौदयिकसंज्ञकानपि यावन्न शनैः शनै र्विस्मरेत्तावन्नात्मनो मुक्तेर्वार्ता। यदुक्तम्–

''कम्मे णोकम्मह्मि य अहमिदि अहकं च कम्मणोकम्मं।
जा एसा खलु बुद्धी अप्पडिबुद्धो हवदि ताव॥''

अनुष्टुप्छन्दः ॥२४२॥

अथ भवार्णवे भ्रान्तेः प्रत्ययः ''अहमिति अहकं च'' इत्येव स्यादिति प्ररूप्यते–

मामन्यमन्यं मां मत्वा भ्रान्तो भ्रान्तौ भवार्णवे।
नान्योऽहमहमेवाहमन्योऽन्योऽहमस्ति न ॥२४३॥

आत्म प्रदेशों में रहती है जैसे कि ये मेरे भक्त हैं, ये मेरी बहुत सी शिष्यायें हैं, मेरी वचनपटुता अचिन्त्य है, चार प्रकार का संघ मेरी आज्ञा में चलता है, मेरा देह सभी क्लेशों को सहन करने के योग्य है, मेरे चिन्तन बिन्दु चन्द्रमा की किरणों के समान सभी को आनन्द करते हैं, मेरे द्वारा सम्पादित या लिखे हुए काव्य, गद्य, विधान आदि प्रसिद्ध हैं। मैं सभी का प्रिय हूँ इत्यादि बहुत प्रकार से अपने-अपने क्षेत्र में सचित्त, अचित्त और मिश्रद्रव्य के कारण होने वाली प्रीति से मोक्षफल दूर कर दिया जाता है। चूँकि ये भाव मुनि के आश्रय से होते हैं, मुनित्व मनुष्य पर्याय के आधार से है। मनुष्यत्व शरीर के आश्रित है। इसलिए मैं मुनि हूँ, मैं शरीरी हूँ, मैं मनुष्य हूँ इत्यादि औदयिक भाव जब तक धीरे-धीरे विस्मरण को प्राप्त नहीं होते हैं तब तक आत्मा को मुक्ति की बात ही नहीं है। कहा भी है-''कर्म और नोकर्म में मैं यह हूँ और ये कर्म-नोकर्म मेरे हैं, इस प्रकार की बुद्धि जिसमें है वह अप्रतिबुद्ध (अज्ञानी) है।'' यहाँ अनुष्टुप् छन्द है ॥२४२॥

उत्थानिका—अब संसार सागर में भ्रमण का कारण ''मैं यह हूँ, ये मेरे हैं'' इस प्रकार कहते हैं–

अन्वयार्थ–(मां) मेरा **(अन्यं)** अन्य है **(अन्यं)** अन्य **(मां)** मेरे हैं **(मत्वा)** ऐसा मानकर **(भ्रान्तौ)** भ्रान्ति होने पर **(भवार्णवे)** संसार समुद्र में **(भ्रान्तः)** भ्रमण है **(न अन्यः)** मैं अन्य नहीं हूँ

तन ही मैं हूँ मैं ही तन है इसविध चिर से भ्रान्त रहा।
भवसागर में फलतः अब तक दुखित रहा है क्लान्त रहा ॥
अन्य रहा हूँ तन से तन भी मुझसे निश्चित अन्य रहा।
तन तो तन है मैं तो मैं हूँ शिवसुख दे चैतन्य महा ॥२४३॥

अन्वयः—मां अन्यं अन्यं मां मत्वा भ्रान्तौ भवार्णवे भ्रान्तः, न अन्यः, अहं अहं एव, अहं अन्यः, अन्यः अहं न अस्ति।

मामित्यादि। मां आत्मानं। अन्यं शरीरमनुपचरितासद्भूतव्यवहारनयविषयभूतञ्चोपचरितासद्-व्यवहारविषयभूतं वित्तादि। अन्यं यदुक्तम्। मामात्मानम्। मत्वा अभेदमत्या भिन्नद्रव्येष्वैकत्वं स्वीकृत्य। भ्रान्तौ मोहोद्रेकत्वापन्नबुद्धिर्भ्रान्तिः। तस्यां सत्याम्। क्व? भवार्णवे संसारसमुद्रे। भ्रान्तः भ्रमणं कृतः। तद्भ्रान्तेरुन्मूलनायेत्थं भाव्यमित्याह—न अन्यः अहमिति शेषः। अहं दृग्ज्ञप्तिस्वभाववानस्मि। अहं कालत्रयेऽपि तथैवास्मि। एवावधारणे। अहं आत्मा। अन्यः दृश्यमानपुद्गलपिण्डमयचराचरजगतो भिन्नः। अन्यः पृथग्भूतोऽयं द्रव्यसमूहः। अहं आत्मा। न अस्ति ॥२४३॥

ज्ञानिनामनुत्तरप्रज्ञाच्छेत्री कथमित्याह—

(शार्दूलविक्रीडित)

बन्धो जन्मनि येन येन निबिडं निष्पादितो वस्तुना
बाह्यार्थैकरतेः पुरा परिणतप्रज्ञात्मनः साम्प्रतम्।
तत्तत्तन्निधनाय साधनमभूद्वैराग्यकाष्ठास्पृशो
दुर्बोधं हि तदन्यदेव विदुषामप्राकृतं कौशलम् ॥२४४॥

अन्वयः—पुरा जन्मनि बाह्यार्थैकरतेः निबिडं बन्धः येन येन वस्तुना निष्पादितः साम्प्रतं परिणतप्रज्ञात्मनः वैराग्यकाष्ठास्पृशः तत् तत् तत् निधनाय साधनं अभूत्, विदुषां अप्राकृतं कौशलं अन्यत् एव, दुर्बोधं हि तत्।

(अहं अहं एव) मैं मैं हूँ **(अहं)** मैं **(अन्यः)** अन्य और **(अन्यः)** अन्य **(अहं)** मैं **(न अस्ति)** नहीं हैं।

अर्थ—मैं अन्य हूँ, अन्य मैं हूँ, ऐसा भ्रान्ति से मानकर संसार समुद्र में भ्रमण हुआ है। मैं अन्य नहीं हूँ। मैं मैं हूँ। मैं अन्य और अन्य मैं ऐसा नहीं है।

टीकार्थ—अनुपचरित असद्भूत व्यवहारनय का विषयभूत शरीर और उपचरित असद्भूत व्यवहारनय का विषयभूत धन आदि अन्य हैं, मैं आत्मा नहीं हैं। अभेदबुद्धि से इनको आत्मा मानकर और मोह के उद्रेक से उत्पन्न बुद्धि की भ्रान्ति होने पर ही संसार-समुद्र में भ्रमण किया है। उस भ्रान्ति के नाश के लिए इस प्रकार भावना करनी चाहिए—मैं अन्य नहीं हूँ। मैं दर्शन, ज्ञान स्वभाव वाला आत्मा हूँ। मैं तीनों कालों में उसी प्रकार का रहा हूँ। यह आत्मा अन्य दिखाई देने वाले पुद्गल पिण्डमय चराचर जगत् से भिन्न है। यह द्रव्यों का समूह अन्य है, भिन्न है। वह आत्मा नहीं है ॥२४३॥

बाहर कारण बाह्य वस्तु भी विगत काल में अन्ध हुवा।
पर पदार्थ में रत था तू तब दृढ़ दृढ़तम विधि बंध हुवा ॥
वही वस्तु वैराग्य ज्ञान वश विधि के क्षय में कारण है।
सुधी-जनों की सहज कुशलता अगम अहो अघमारण है ॥२४४॥

बन्ध इत्यादि। पुरा प्रज्ञालब्धेः प्राक्। जन्मनि संसारे। जन्म यत्र विद्यते स जन्मी संसारः कथ्यते तस्मिन्। बाह्यार्थैकरतेः स्वात्मनो भिन्नपदार्थेषु रममाणस्य संसारिजीवस्य विशेषणम्। निबिडं घनीभूतम्। बन्धस्य विशेषणम्। बन्धो बन्धनं भिन्नार्थद्वयस्यैकीभवनम्। येन येन आभीक्ष्ण्यार्थे द्विः। वस्तुना बाह्यवनितादेहगृहमित्रादिना। साम्प्रतं वर्तमानकाले। परिणतप्रज्ञात्मनः समुपलब्धस्वपरविवेकिनः। परिणता स्वरूपं प्राप्ता प्रज्ञा एव आत्मा यस्य तस्य। पुनश्च कथम्भूतस्य? वैराग्यकाष्ठास्पृशः निरुपरागपरिणाम-पराकाष्ठाप्राप्तस्य। वैराग्यस्य नीरागभावस्य काष्ठां स्पृशतीति वैराग्यकाष्ठास्पृक्। 'स्पृशोऽनुदके' इति क्विप्। तस्य। विशेषणद्वयेन वीतरागसम्यग्दृष्टेः श्रमणस्य ज्ञानवैराग्यशक्तेर्नियामकताऽऽख्याता। ''सम्यग्दृष्टेर्भवति नियतं ज्ञानवैराग्यशक्तिः'' इति वचनात्। तत् तत् तत् बाह्यवस्तुजनिताध्यवसानम्। निधनाय विनाशाय। साधनं कारणम्। अभूत् भवति। विदुषां भेदविज्ञानिनाम्। अप्राकृतं अलौकिकम्। प्रकृतं सामान्यं तस्य भावः प्राकृतं न प्राकृतमित्यप्राकृतम्। कौशलं नैपुण्यम्। अन्यत् अपूर्वम्। एवावधारणे। दुर्बोधं

उत्थानिका—ज्ञानियों की उत्कृष्ट प्रज्ञारूपी छैनी किस प्रकार की होती है, यह कहते हैं–

अन्वयार्थ—(पुरा) पहले **(जन्मनि)** संसार में **(बाह्यार्थैकरतेः)** बाह्य पदार्थों में एकरूप होकर राग करने से **(निबिडं)** घनीभूत **(बन्धः)** बन्ध **(येन येन वस्तुना)** जिस-जिस वस्तु से **(निष्पादितः)** किया है **(साम्प्रतं)** अब **(परिणतप्रज्ञात्मनः)** प्रज्ञा से परिणत आत्मा को **(वैराग्यकाष्ठास्पृशः)** वैराग्य की पराकाष्ठा को स्पर्श करने वाले मुझको **(तत् तत् तत् निधनाय)** उस उस उस वस्तु के निधन के लिए यानी बन्ध के विनाश के लिए **(साधन)** साधन **(अभूत्)** हुआ है **(विदुषां)** विद्वानों का **(अप्राकृतं)** विशिष्ट **(कौशलं)** कौशल **(अन्यत् एव)** अन्य की ही तरह का होता है **(दुर्बोधं हि तत्)** यह कोई नहीं जानता है।

अर्थ—बाह्य पदार्थों में ही रत रहते हुए पहले इस संसार में जिस-जिस वस्तु के द्वारा गहन बन्ध आत्मा ने किया है अब प्रज्ञा सहित और वैराग्य काष्ठा को छूने वाले आत्मा को उस उस बन्ध के नाश के लिए साधन मिला है। विद्वानों का यह विशिष्ट ज्ञान कौशल कुछ अलग ही है जो कोई नहीं जान सकता है।

टीकार्थ—प्रज्ञालब्धि प्राप्त होने से पहले इस संसार में अपनी आत्मा से भिन्न पदार्थों में रमण करने से घनीभूत बन्धन हुआ है। दो भिन्न पदार्थों का एकीभूत (एकमेक) हो जाना ही बन्धन है। स्त्री,देह, घर, मित्र आदि जिस-जिस बाहरी वस्तु से मुझे बंध हुआ अब स्व-पर विवेक ज्ञान को प्राप्त और राग रहित परिणामों की उत्कृष्टता को प्राप्त, बाह्य वस्तु से उत्पन्न होने वाले उन-उन अध्यवसायों (भावों) के विनाश के लिए साधन प्राप्त हैं। यहाँ प्रज्ञा से परिणत आत्मा और वैराग्य की पराकाष्ठा को छूना, इन दो विशेषणों के द्वारा वीतराग सम्यग्दृष्टि श्रमण की ज्ञान, वैराग्य शक्ति की नियामकता कही है। कहा भी है–''सम्यग्दृष्टि के पास ज्ञान, वैराग्य शक्ति नियम से होती है।'' इन वीतराग सम्यग्दृष्टि भेदविज्ञानी श्रमणों की निपुणता अलौकिक है, अपूर्व है। यह सामान्यजन के ज्ञान में नहीं

दुःखेन बोद्धुं शक्यं यत् तत्। हि तत् कौशलम्। पृथग्जनैरिति शेषः। ज्ञानवैराग्याभ्यां प्रतिसमयमवबुद्धमानः श्रमणः स्वान्तर्घटे हि प्रज्ञातीक्ष्णच्छेत्रीधारया 'अयमध्यवसायो वैभाविकः कर्मजनितः' अयं मे स्वभावो नास्ति, मम स्वभावस्तु चिद्रूपमात्रः' इत्यादिविधिना स्वात्मोत्थविभावभावान् पराभवन् स्वं वस्तु कलयति स्पृशति चेति। गेहाश्रमे विराजमानस्य भगवतः पुरुदेवस्य त्र्यशीतिलक्षपूर्वपर्यन्तमपीदं कौशलं न सम्प्राप्तं किं पुनः क्षुद्रजीवस्य वार्तेति चिन्त्या। शार्दूलविक्रीडितवृत्तम् ॥२४४॥

इदानीं बन्धमोक्षक्रमं प्ररूपयन्नाह–

(अनुष्टुप्)

अधिकः क्वचिदाश्लेषः क्वचिद्धीनः क्वचित् समः।
क्वचिद्विश्लेष एवायं बन्धमोक्षक्रमो मतः ॥२४५॥

अन्वयः—क्वचित् आश्लेषः अधिकः, क्वचित् हीनः, क्वचित् समः, क्वचित् विश्लेषः एव, अयं बन्धमोक्षक्रमः मतः।

अधिक इत्यादि। क्वचित् आश्लेषः बन्धः। अधिकः आप्रमत्तदशापर्यन्तम् रागोद्रेकात्। क्वचित्

आ सकती है। ज्ञान, वैराग्य शक्ति के द्वारा प्रतिसमय ज्ञानमय होता हुआ श्रमण अपनी अन्तरात्मा में प्रज्ञा की तीक्ष्ण छैनी की धार से 'यह अध्यवसाय वैभाविक है, कर्मजनित है', ''यह मेरा स्वभाव नहीं है, मेरा स्वभाव तो चिद्रूप मात्र है, इत्यादि विधि से अपनी आत्मा में उत्पन्न हुए विभाव-भावों को जीतते हुए आत्मवस्तु का अनुभव करता हुआ अपनी आत्मा का स्पर्श करता है।'' गृहस्थाश्रम में रहने वाले भगवान् ऋषभदेव को तेरासी लाख पूर्व तक यह कौशल प्राप्त नहीं हुआ, फिर किसी अन्य क्षुद्र जीव की क्या बात की जाये ? अर्थात् वर्तमान के किसी गृहस्थ को ऐसे भेदज्ञान की कुशलता की कोई बात ही नहीं है। यह चिन्तनीय है। यहाँ शार्दूलविक्रीडित छन्द है ॥२४४॥

उत्थानिका—अब यहाँ बन्ध और मोक्ष का क्रम कहते हैं–

अन्वयार्थ—(क्वचित्) कभी **(आश्लेषः)** बन्ध **(अधिकः)** अधिक होता है **(क्वचित्)** कभी **(हीनः)** कम होता है **(क्व चित्)** कभी **(समः)** बराबर होता है **(क्वचित्)** कभी **(विश्लेषः)** निर्जरा **(एव)** ही होती है **(अयं)** यह **(बन्धमोक्षक्रमः)** बन्ध, मोक्ष का क्रम **(मतः)** माना गया है।

अर्थ—कभी बन्ध अधिक होता है, कभी बन्ध कम होता है, कभी बन्ध, निर्जरा बराबर होती है, कभी केवल निर्जरा ही होती है। यह बन्ध, मोक्ष का क्रम माना गया है।

टीकार्थ—प्रमत्तदशा तक अर्थात् प्रथम से छठे गुणस्थान तक राग का उद्रेक होने से बन्ध अधिक

किसी जीव को अधिक अधिकतम विधि बंधन वह होता है।
किसी जीव को न्यून न्यूनतम कर्म बंध ही होता है॥
किन्तु निर्जरा किसी किसी को केवल होती ज्ञात रहे।
बंध मोक्ष का यही रहा क्रम यही बात जिननाथ कहें॥२४५॥

हीनः बन्धः स्यादप्रमत्तदशायामवधानमौख्यात्। क्वचित् समो बन्धमोक्षः समतैकतानत्वात् शुद्धोपयोगे। क्वचित् विश्लेषः निर्जरा। एवैकान्ततः क्षीणकषायस्य बन्धाभावात्। अयं एवं कथितः। बन्धमोक्षक्रमः अध्यात्मापेक्षया बन्धनिर्जराप्रक्रमः। मतः सम्मतः। सिद्धान्तापेक्षया तु मिथ्यात्वगुणस्थानेऽधिकः कर्मबन्धः। क्वचिदविरतसम्यग्दृष्ट्यादौ हीनः कर्मबन्धः। क्वचिन्मिश्रगुणस्थाने समः कर्मबन्धमोक्षः। क्वचित्क्षीण-कषायादौ मोक्ष एवेति मतः। अनुष्टुपृछन्दः ॥२४५॥

अथ को नाम योगी कस्य च निर्जरा एवेति निगदति–

(अनुष्टुप्)

यस्य पुण्यं च पापं च निष्फलं गलति स्वयम्।
स योगी तस्य निर्वाणं न तस्य पुनरास्त्रवः ॥२४६॥

अन्वयः—स योगी यस्य पुण्यं च पापं च निष्फलं स्वयं गलति तस्य निर्वाणं तस्य पुनः आस्त्रवः न।

यस्येत्यादि। स योगी अलौकिको यतिः। कथ्यते इति शेषः। अत्र लौकिकानां योगिनां प्रतिक्षेपः कृतः

होता है। कभी अप्रमत्त दशा में अर्थात् सप्तम गुणस्थान में सावधानी की मुख्यता होने से बन्ध थोड़ा होता है। कभी शुद्धोपयोग में समता की ही एक मात्र मुख्यता होने से वहाँ बन्ध और मोक्ष (निर्जरा) बराबर होते हैं। क्षीणकषायी जीव को बारहवें गुणस्थान में बन्ध का अभाव हो जाने से एकान्ततः निर्जरा ही होती है। यह बन्ध मोक्ष का क्रम अध्यात्म की अपेक्षा से स्वीकृत है। सिद्धान्त की अपेक्षा से तो मिथ्यात्व गुणस्थान में अधिक कर्मबन्ध है। कभी अविरत सम्यग्दृष्टि आदि में हीन बन्ध है। कभी मिश्रगुणस्थान में बन्ध, निर्जरा बराबर है। कभी क्षीणकषाय आदि गुणस्थान में निर्जरा ही स्वीकृत है। यहाँ अनुष्टुप् छन्द है ॥२४५॥

उत्थानिका—अब योगी कौन होता है और किसको निर्जरा ही होती है, यह कहते हैं–

अन्वयार्थ—**(स)** वह **(योगी)** योगी है **(यस्य)** जिसके **(पुण्यं च पापं च)** पुण्य और पाप **(निष्फलं)** फल रहित होते हुए **(स्वयं)** अपने आप **(गलति)** गल जाते हैं **(तस्य)** उसका **(निर्वाणं)** निर्वाण होता है **(पुनः)** फिर से **(तस्य आस्त्रवः न)** उसका आना नहीं होता है यानी उसके आस्त्रव नहीं होता है।

अर्थ—जिसके पुण्य और पाप दोनों ही बिना फल दिये अपने आप गल जाते हैं वह योगी है। उसका निर्वाण होता है और उसका फिर से संसार में आगमन नहीं होता है।

टीकार्थ—वह अलौकिक यति योगी है। यहाँ लौकिक योगियों का निराकरण किया है क्योंकि

गत जीवन में जिसने बाँधा पुण्य रहा औ पाप रहा।
बिना दिये फल वह यदि गलता तप का वह फल आप रहा ॥
वह शुचि उपयोगी है योगी उसे शीघ्र शिवधाम मिले ॥
पुनः कर्म का आस्त्रव नहिं हो ज्ञान ज्योति अभिराम जले ॥२४६॥

शरीरमात्रसाधकत्वात्। ये तु हठयोगानुलोम-विलोमप्राणायामकुम्भक पूरकरेचकविधिधश्वासोच्छ्वास-साधकपरकायप्रवेशकायक्लेशसहनमलभक्षणादिममनोवासनाजुगुप्साविजयशीतातापनादिनानाचेष्टा-प्रकारलोकरञ्जका परमात्मज्ञानशून्यास्ते नात्र योगित्वेन निगद्यन्ते परमार्थबाह्यत्वात्। किं पुनः स विशिष्यते? यस्य वीतरागस्य योगिनः। पुण्यं सुकृतकर्मविपाकजनितफलम्। च तथा। पापं असातवेदोदयजनितदुःखम्। च समुच्चये। निष्फलं फलानुभूतिं विना। स्वयं अप्रयासेन। गलति निर्जरति। तस्य निर्वाणं मोक्षः। भवतीति क्रियाशेषः। निर्विकारवीतरागस्वसंवेदनमात्रशुद्धात्मध्याने यो निलीनः स योगी कर्मफलमुदयागतं कटुकं वा मधुरं वा न जानाति न वेदयते च अपि तु शुद्धस्वभावनियतत्त्वादात्मानमेव जानाति वेदयते च पार्श्वनाथ-पाण्डवादिवत्। स एव यदा कदा शुद्धात्मध्यानरहितोऽपि प्रवर्त्तते तदापि योगीति नाम्ना प्रशस्यते कर्मफलस्यावगमन-वेदनभवनेऽपि हर्षविषादाभावात्। शश्वदेवं प्रवृत्तिनिवृत्तिदशायां प्रवर्तमानस्य भवति निर्वाणमेव। तस्य योगिनः। पुनः निर्वाणानन्तरम्। आस्रवः आगमनः संसृतौ। न प्रतिषेधे। स्यादिति। एवंविधस्य परमार्थपरिज्ञातस्य योगिनः क्वापि कालेऽवतारो नास्ति। परेषां तु क्वचित् कारणादस्ति लौकिकत्वात्। यदुक्तं तन्मते-

यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत।
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम्॥

अनुष्टुप्छन्दः ॥२४६॥

वे शरीर मात्र के साधक होते हैं। जो हठयोग, अनुलोम-विलोम प्राणायाम, कुंभक, पूरक, रेचक विधि से श्वासोच्छ्वास के साधक, परकाय में प्रवेश, काय-क्लेश सहना, मलभक्षण करना इत्यादि से मनोवासना पर विजय, घृणा पर विजय प्राप्त करते हैं तथा शीत, आतापन आदि नाना प्रकार की चेष्टा से लोक को लुभाते हैं वे परमात्म ज्ञान से शून्य हैं। वे यहाँ योगियों की गिनती में नहीं हैं क्योंकि वे परमार्थ से बाह्य हैं। फिर यहाँ योगी की क्या विशेषता है ? वीतरागी योगी का यह कथन है। अच्छे कर्म के फल से उत्पन्न हुआ पुण्य और असाता वेदनीय से उत्पन्न हुआ दुःखरूप पाप ये दोनों ही बिना प्रयास के उस योगी में फल की अनुभूति नहीं कराते हुए निर्जरित हो जाते हैं। उन योगी को मोक्ष होता है। वह योगी उदय में आए कर्मफल को चाहे वह कटुक फल वाला हो या मधुरफल वाला हो, उस कर्मफल को वह न तो जानता है और न उसका वेदन करता है अपितु शुद्ध स्वभाव में स्थित होने से मात्र अपनी आत्मा को ही जानता है और अनुभव करता है, जैसे पार्श्वनाथ और पाण्डव आदि मुनिराज थे। वह योगी जब कभी शुद्धात्मा के ध्यान से रहित होकर भी प्रवृत्ति करता है तब भी वह योगी नाम से प्रशंसा को प्राप्त होता है क्योंकि उसे कर्मफल का ज्ञान और अनुभव होने पर भी उसमें हर्ष, विषाद का अभाव होता है। इस तरह से निरन्तर प्रवृत्ति, निवृत्ति की दशा में रहने वाले को ही निर्वाण होता है। उस योगी को निर्वाण के बाद पुनः संसार में आना नहीं होता है। इस प्रकारके परमार्थ को जानने वाले योगी का किसी भी काल में अवतार नहीं होता है। अन्य का किसी कारणवश अवतार होता है क्योंकि

सूक्ष्मोऽपि दोषो नोपेक्षणीय इति प्रतिपाद्यते–

(अनुष्टुप्)

महातपस्तडागस्य सम्भृतस्य गुणाम्भसा।
मर्यादापालिबन्धेऽल्पामप्युपेक्षिष्ट मा क्षतिम् ॥२४७॥

अन्वयः—महातपस्तडागस्य गुणाम्भसा सम्भृतस्य मर्यादापालिबन्धे अल्पां अपि क्षतिं मा उपेक्षिष्ट।

महातप इत्यादि। महातपस्तडागस्य सम्यग्दर्शनज्ञानतपोभरितसरसः। सद्दर्शनज्ञानसंयुक्तस्य सकलवस्तुनि तृषारहितपरिणाम एव महातपः। यदुक्तं भावनाशतके–

''दृशान्वितं विदा युक्तं सत् तपो गीयते ह्यतः।
आशातीतं ह्यदो व्यक्तं पूतधीर्गीयते सतः॥''

तदेव तडागस्तथोक्तः। कमलसहितसर एव तडागोऽभिधीयते। 'पद्माकर-स्तडागोऽस्त्री' इत्यमरः। बहुपुष्कराणि तडागस्य शोभां विवर्धते तथा हि महातप इत्युक्तम्। पुनः कथम्भूतस्य? गुणाम्भसा गुणजलेन। गुणाः मूलोत्तररूपा एव अम्भो जलं तत्तेन। सम्भृतस्य समीचीनरूपेण भरितस्य। तेन निरतिचारपालनमेव

वह लौकिक है। जैसा कि उनके मत में कहा है–''हे भारत! जब-जब धर्म की ग्लानि होती है,तब अधर्म को हटाने के लिए अपनी आत्मा का मैं सृजन करता हूँ।'' यहाँ अनुष्टुप् छन्द है ॥२४६॥

उत्थानिका—सूक्ष्म दोष भी उपेक्षा योग्य नहीं है, यह समझाते हैं–

अन्वयार्थ–(महातपस्तडागस्य) महातप रूपी तालाब **(गुणाम्भसा)** गुणरूपी जल से **(संभृतस्य)** भरा हुआ है **(मर्यादापालिबन्धे)** उसकी प्रतिज्ञा रूपी पालि के बन्धन में **(अल्पां अपि)** थोड़ी भी **(क्षतिं)** क्षति की **(मा उपेक्षिष्ट)** उपेक्षा मत करो।

अर्थ—महातपरूपी तालाब में गुणरूपी जल भरा है। उसमें मर्यादा की पालि (बाँध) बँधी है। उसमें थोड़ा-सा भी छेद हो जाय तो उसकी उपेक्षा नहीं करना।

टीकार्थ—सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्तप से भरे हुए तालाब की सभी वस्तुओं में तृष्णा रहित परिणाम ही महातप है। जैसा भावनाशतक में कहा है–''सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान सहित ही तप समीचीन कहा गया है। वह तप आशा रहित है। स्पष्टरूप से इसीलिए सज्जन उसे पवित्रबुद्धि वाला कहते हैं।'' वह तड़ाग ही यहाँ कहा है। कमल सहित तालाब ही तड़ाग कहा जाता है। जैसे बहुत से फूल उस तालाब की शोभा बढ़ाते हैं, उसी प्रकार से महातप बढ़ाता है, यह कहा है। और कैसा है वह तालाब ? गुणरूपी जल से भरा है। मूलगुण और उत्तरगुणरूप जल जिसमें अच्छे ढंग से भरा है। इसलिए

महा सुतपमय विशाल सरवर नयन मनोहर वह साता।
उजल-उजलतम शान्त-शान्ततम गुणमय जल से लहराता ॥
नियमरूप जो बांध बँधी है किन्तु कभी वह ना फूटे।
रहो उपेक्षित मत उससे तुम नहिं तो जीवन ही लूटे ॥२४७॥

समीचीनत्वं विवररहितत्वात्। मर्यादापालिबन्धे व्रतजलस्य संयमनमेव मर्यादा सैव पालिबन्धः प्रदेशबन्धः स तस्मिन्। अल्पां मनः शुद्धिरूपामतिक्रमरूपाम्। अपि निश्चयेन। क्षतिं विनाशम् छिद्रं वा। मा उपेक्षिष्ट मा उपेक्षां कुर्वित्यर्थः। अत्र मा निषेधार्थे। 'ईक्षदर्शने' इति लुङ् । तडागस्य पालिबन्धे मनागपि क्षतिरतिहानि- कारिणी स्यात्तेनात्र तस्य दृष्टान्तं प्रदत्तं सरिद्विषये न सेति विशेषः। अनुष्टुप्छन्दः ॥२४७॥

पुनश्च गृहस्य दृष्टान्तेन तदेवार्थं दृढयन्नाह–

(वैतालीय)

दृढगुप्तिकपाटसंवृति-र्धृतिभित्तिर्मतिपादसम्भृतिः ।
यतिरल्पमपि प्रपद्य रन्ध्रं कुटिलैर्विक्रियते गृहाकृतिः ॥२४८॥

अन्वयः—गृहाकृतिः यतिः दृढगुप्तिकपाटसंवृतिः धृतिभित्तिः मतिपादसम्भृतिः अल्पं अपि रन्ध्रं प्रपद्य कुटिलैः विक्रियते।

इन मूल-उत्तर गुणों का निरतिचार पालन करना ही समीचीनपना है क्योंकि वह तालाब ही विवररहित है। मर्यादारूपी पालि के बन्धन में व्रतरूपी जल का संयमित रहना ही मर्यादा है। वह संयम ही उस स्थान का बाँध है। उस संयम में थोड़ी भी अतिक्रम रूपी मन की शुद्धि की हानि होना ही उस पालिबन्ध का विनाश अथवा छिद्र है। उस छिद्र की भी उपेक्षा मत करो। तालाब में पालि (बाँध) में थोड़ी भी क्षति होना बहुत हानि करने वाली होती है। इसलिए यहाँ तालाब का दृष्टान्त दिया है, नदी का नहीं क्योंकि नदी में यह विशेषता नहीं होती है। यहाँ अनुष्टुप् छन्द है॥२४७॥

उत्थानिका—पुनः घर का दृष्टान्त देकर उसी अर्थ को दृढ़ करते हैं–

अन्वयार्थ—(गृहाकृतिः) गृह की आकृति **(यतिः)** यति है। **(दृढ-गुप्ति-कपाट संवृतिः)** दृढ़ गुप्तिरूपी कपाट से ढका है **(धृतिभित्तिः)** धैर्यरूपी भित्ति है **(मतिपादसंभृतिः)** बुद्धिरूपी गाढ़ी नींव है **(अल्पं अपि)** थोड़ा भी **(रन्ध्रं)** छिद्र **(प्रपद्य)** पाकर **(कुटिलैः)** रागादि सर्पों से **(विक्रियते)** यह विकृत हो जाता है।

अर्थ—यति गृह की आकृति के समान है। यतिगृह दृढ़ गुप्तिरूपी कपाट से ढका है। यतिगृह में धैर्यरूपी दीवारें हैं। बुद्धिरूपी गहरी नींव है। इस घर में थोड़ा-सा भी छिद्र पाकर कुटिल रागादि सर्प इसे दूषित कर देते हैं।

मुनि का मुनिपद घर है जिसके सुदृढ़ गुप्तित्रय द्वार रहें।
मतिमय जिसकी नींव रही है धैर्य-रूप दीवार रहें॥
किन्तु कहीं भी दोष छिद्र यदि उसमें हो तो घुसते हैं।
राग-रोषमय कुटिल सर्प वे भय से मुनि-गुण नशते हैं॥२४८॥

दृढगुप्तीत्यादि। गृहाकृतिः गृहस्य आकृतिरिवाकृति र्यस्य सः। 'देवपथादिभ्यः' इतीवार्थस्य कस्योस्। यतिः यतते गुणपालनाय सः। कथम्भूतः? दृढगुप्तिकपाटसंवृत्तिः दृढाश्च ताः गुप्तयो मनोवाक्कायरूपा दृढगुप्तयः। ता एव कपाटानि तैः संवृतिः पिधानं स्यात्मनः सः। पुनश्च कथम्भूतः? धृतिभित्तिः धृतिः धैर्यम्। 'व्यवसायादचलनं धैर्यं विघ्ने महत्यपि' इति वचनात्। सैव भित्तिर्यस्य सः बसः। मतिपादसम्भृतिः मतिर्बुद्धिर्मतिज्ञानं वा त्रिशतादधिकषट्त्रिंशत्भेदभिन्नम्। सैव पादसम्भृतिर्गतापूरो नीवी वा यस्य सः। अल्पं मनाक्। अपि संभावनायाम्। रन्ध्रं छिद्रं दोषम्। प्रपद्य सम्प्राप्य। कुटिलैर्भुजङ्गैरिन्द्रिय-चौरैरित्यर्थः। विक्रियते दूष्यते विकृतिं नीयत इत्यर्थः। 'डुकृञ् करणे' इति धोर्विपूर्वं कर्मणि लट्। वैतालीयच्छन्दः ॥२४८॥

एवं यतिगृहे दोषभुजङ्गागमनाय परनिन्दामहाविवर इतीष्यते–

(अनुष्टुप्)

स्वान् दोषान् हन्तुमुद्युक्तस्तपोभिरतिदुर्धरैः।
तानेव पोषयत्यज्ञः परदोषकथाशनैः ॥२४९॥

अन्वयः–अतिदुर्धरैः तपोभिः स्वान् दोषान् हन्तुं उद्युक्तः, अज्ञः परदोषकथाशनैः तान् एव पोषयति।

टीकार्थ–जो गुणों का पालन करने के लिए यत्न करे वह यति है। यह यति एक घर की तरह है। जैसे घर किवाड़ से बन्द रहता है उसी प्रकार यति में दृढ़ गुप्तियाँ होती हैं जो मन, वचन, काय के भेद से तीन प्रकार की हैं। इन तीनों कपाटों से यति की आत्मा की रक्षा होती है। 'अपने निश्चय से कभी भी बड़े-बड़े विघ्न आने पर भी चलायमान नहीं होना धैर्य है।' यह कहा है। यह धैर्य ही यतिगृह की दीवारें हैं। जैसे घर दीवारों से मजबूत होता है वैसे ही यति धैर्य से दृढ़ होता है। जैसे घर की नींव मजबूत, गहरी होती है वैसे ही यति में मतिज्ञान तीन सौ छत्तीस (३३६) प्रकार का होता है, यह ही यति की मजबूत नींव के समान है। फिर भी जैसे घर में थोड़ा भी छिद्र प्राप्त कर सर्प, चोर आदि घुसकर उस गृह को बिगाड़ देते हैं ऐसे ही यति में थोड़ा-सा दोष पाकर इन्द्रियरूपी चोर उसकी आत्मा को दूषित कर देते हैं। यहाँ वैतालीय छन्द है ॥२४८॥

उत्थानिका–इस प्रकार यति के घर में दोषरूपी सर्प के आगमन के लिए परनिन्दा करना बड़ा छिद्र है, यह कहते हैं–

अन्वयार्थ–(अतिदुर्धरैः) अति कठोर **(तपोभिः)** तपों के द्वारा **(स्वान् दोषान्)** अपने दोषों

कठिन कठिनतर विविध तपों को तपता तापस बनकर है।
पूर्ण मिटाने निज दोषों को पूर्ण-रूप से तत्पर है॥
पर दोषों को अपना भोजन बना अज्ञ यदि जीता है।
निज दोषों को और पुष्ट कर रहता सुख से रीता है॥२४९॥

स्वानित्यादि। अतिदुर्धरैः देहमनोबहुक्लेशकरैरुग्रोपवासादिभिरित्यर्थः। तपोभिः द्वादशविधतापैः। स्वान् आत्मनीनान्। दोषान् मनोवाक्कायदुष्प्रणिधानानि। हन्तुं विनाशयितुं समीचीनं कर्तुं वा। उद्युक्तः उत्कर्षेण प्रयुक्तः। अज्ञः कर्मबन्धकारणं न जानाति सोऽविवेकी। परदोषकथाशनैः परस्यान्यस्य दोषाणां त्रुटीनां कथा चर्चा एव अशनानि मिष्टभोजनानि तैः परनिन्दाकथनाशनपुष्टिभिः। तान् दोषान् यान् तपोभिरुग्रैर्हन्ति। एव निश्चयेन। पोषयति पुष्टिमानयति। यद्वा परदोषकथाशनैर्दोषान् पोषयति स एवाज्ञ इत्यर्थोऽपि योज्यः। कथमत्र परदोषकथाया अशनत्वेनोपमितिरिति चेत्? नैष दोषः, अज्ञानां पुष्टिकारकत्वात्। यथाशनादिना देहस्य पुष्टिस्तथा परदोषवादेन मनसः कर्मबन्धोपचयात्। न पचति घृतवद्गुणगरिष्ठता जठरे दुष्टसारमेयस्य परेषाम्। का नाम निन्दा? स दोषीत्युक्तिः। किं न विज्ञः सम्यग्दृष्टिर्वा सत्यपि दोषे प्रवदति? न प्रवदति अपि तु वात्सल्यभावेनोपगुह्य तमेव प्रबोधयति। चिन्तयति च सः, अहो गुणाकराः खलु सर्वे प्राणिगणाः। संस्काराच्च कर्मोद्रेकाच्चाज्ञानाच्च तस्यैषा परिणतिः। स

का **(हन्तुं)** नाश करने के लिए **(उद्युक्तः)** तैयार हुआ **(अज्ञः)** अज्ञानी जीव **(परदोषकथाशनैः)** पर दोषों के कथन रूपी भोजन से **(तान्)** उन दोषों को **(एव)** ही **(पोषयति)** पुष्ट करता है।

अर्थ—अत्यन्त दुर्धर तपों के द्वारा अपने दोषों का नाश करने के लिए तैयार हुआ यति अज्ञ बनकर दूसरे के दोषों के कथन रूपी भोजन के द्वारा अपने उन्हीं दोषों की पुष्टि करता है।

टीकार्थ—शरीर और मन के लिए बहुत क्लेश पहुँचाने वाले उग्र उपवास आदि के द्वारा, बारह प्रकार के तपों के द्वारा अपने मन-वचन-काय सम्बन्धी दुष्प्रणिधान को दूर करने के लिए या उन्हें समीचीन करने के लिए जो उत्कृष्ट रूप से तैयार है किन्तु कर्मबन्ध किन कारणों से होता है, यह नहीं जानने से वह अज्ञ है। वह अविवेकी है। जिसके लिए दूसरे के दोषों की कथा उनकी कमियों की चर्चा करना ही मिष्ट भोजन के समान है और उसी से वह पुष्ट या आनन्दित होता है तो वह उन्हीं दोषों की पुनः पुष्टि करता है जिन्हें वह उग्र तपों से नष्ट करता है। अथवा जो परदोष के कथन रूपी अशन से अपने दोषों को और बढ़ाता है वह अज्ञ है। यह अर्थ जानना।

शंका—यहाँ पर-दोषों की कथा या कथन को भोजन से उपमा क्यों दी है ?

समाधान—यह कोई दोष नहीं है क्योंकि अज्ञों का पोषण (पेट भरना) इसी से होता है। जैसे भोजन से देहपुष्टि होती है उसी प्रकार दूसरों के दोष कहने से कर्मबन्ध की वृद्धि होने के कारण मन पुष्ट होता है। कुत्ते के जठर (पेट) में जैसे घी नहीं पचता है वैसे ही दुष्टों को दूसरे के गुणों की वृद्धि नहीं सहन होती है। अतः वे दूसरों की निन्दा करते हैं और उसी तरह का कर्म बाँध लेते हैं।

शंका—निन्दा किसे कहते हैं ?

समाधान–'वह दोषी है' यह कथन ही निन्दा है।

शंका—क्या कोई विज्ञ या सम्यग्दृष्टि दोषों के होने पर भी उन्हें नहीं कहता है ?

समाधान—नहीं कहता है किन्तु वात्सल्य भाव से उन दोषों का उपगूहन करके उसको समझाता

दोषवानिति वचनं व्रतिनो द्वितीयव्रतघातकम्। रविकिरण-निचयस्येव प्रकीर्णकेऽपि परदोषस्य कुवलये मूकीभवन्नास्ते वायसारातिवद्विज्ञः। न च भवति दोषाय गुरुः शिष्यस्य दोषोद्घाटकपटुर्हितार्थशीलत्वात्। स्थितीकरणकुशलै र्गुरोर्गुरुसंघनिन्दाभीतैश्च क्वचित् संघस्थजनदोषसूचना न स्यान्निन्दाऽनेकान्तात्। द्वेषमूला निन्दापरिणतिर्विद्वद्भिः परिहरणीया नीचैर्गोत्रस्यास्रवहेतुत्वात्। अनुष्टुप्छन्दः ॥२४९॥

क्वचित् कदाचिद्यदि दोषो भवेत् साधोर्न तथापि स निन्द्य इति प्ररूपयन्नाह–

(शार्दूलविक्रीडित)

दोषः सर्वगुणाकरस्य महतो दैवानुरोधात् क्वचि-
ज्जातो यद्यपि चन्द्रलाञ्छनसमस्तं दृष्टुमन्धोऽप्यलम्।
द्रष्टाप्नोति न तावतास्य पदवीमिन्दोः कलङ्कं जगद्,
विश्वं पश्यति तत्प्रभाप्रकटितं किं कोऽप्यगात्तत्पदम् ॥२५०॥

अन्वयः–महतः सर्वगुणाकरस्य क्वचित् दैवानुरोधात् यद्यपि चन्द्रलाञ्छनसमः दोषः जातः, अन्धः अपि तं दृष्टुं अलं तावता दृष्टा अस्य इन्दोः पदवीं न आप्नोति, जगत् विश्वंकलङ्कं पश्यति, किं कः अपि तत्प्रभाप्रकटितं तत्पदं अगात्।

है। और वह चिन्तन करता है कि–अहो! सभी प्राणिगण गुणों की खान हैं। फिर भी उनके संस्कारों के कारण, कर्म की उदीरणा के कारण और अज्ञान से उनकी ऐसी परिणति हो रही है। वह दोषवान् है, यह वचन व्रती के लिए उसके द्वितीय सत्य महाव्रत का घात करने वाला है। सूर्य की किरणों के समान इस पृथ्वी पर दोषों का फैलाव होने पर विज्ञ पुरुष उल्लू की तरह मूक बने हुए रहते हैं। शिष्य के दोषों को प्रकट करने वाले चतुर गुरु के लिए इस विषय में कोई दोष नहीं है क्योंकि उन गुरु का स्वभाव शिष्य के दोष कहकर भी उसका हित करने का है। जो स्थितीकरण करने में कुशल हैं, गुरु संघ की निन्दा से डरे हुए हैं उनके द्वारा संघस्थ को दोषों की सूचना देना निन्दा नहीं है क्योंकि इस विषय में एकान्त नहीं है। द्वेषमूलक जो निन्दा की परिणति है वह विद्वानों को छोड़ देनी चाहिए क्योंकि वह निन्दा नीच गोत्र के आस्रव का हेतु है। यहाँ अनुष्टुप् छन्द है ॥२४९॥

उत्थानिका–साधु को यदि क्वचित् कदाचित् दोष होता है तो भी वह निन्दा योग्य नहीं है, यह कहते हैं–

अन्वयार्थ–(महतः) महान् के **(सर्वगुणाकरस्य)** समस्त गुणों की खान के **(क्वचित्)** कभी

विधिवश शशि सम कलंक गुणगण-धारक को यदि है लगता।
मूढ़ अन्ध भी सहज रूप से उसको बस लखने लगता ॥
दोष देखकर भी वह उसकी महानता को कब पाता?।
स्वयं प्रकट शशि कलंक लख भी विश्व कभी शशि बन पाता ॥२५० ॥

दोष इत्यादि। महतः महाव्रतिनः। सर्वगुणाकरस्य मूलोत्तरगुणपरिपालितस्य रत्नत्रयभृतस्य। क्वचित् कस्मिन् काले। दैवानुरोधात् कर्मपरवश्यात्। यद्यपि चन्द्रलाञ्छनसमः चन्द्रबिम्बे कलङ्कसदृशः। दोषः त्रुटिः। जातः समुत्पन्नः। अन्धः मन्दबुद्धिः। यद्यपि न पश्यति अन्धस्तथापि व्यंगोक्तिरत्यन्तसंभावनायाम्। अपि आश्चर्ये। तं लाञ्छनम्। दृष्टुमवलोकयितुम्। अलं समर्थो भवति। तावता तथापि। दृष्टा कर्तृ। अस्य मुनेः। इन्दोः चन्द्रस्य। चन्द्रसमानमुनेरथवा मुनेश्चन्द्रस्य च। पदवीं पदम्। न निषेधे। आप्नोति प्राप्तिं करोति। तेनैवात्र सत्यं सुभाषितं–जगत् संसारः। विश्वं समस्तं कलङ्कं दोषम्। पश्यति घुरति भृशमवलोकयतीत्यर्थः। किमिति प्रश्ने। कः कश्चिज्जनः। अपिसम्भावनायाम्। तत्प्रभाप्रकटितं तत्तस्य चन्द्रस्य पक्षे मुनिनः प्रभा कान्तिर्मुनिपक्षे मनोनिर्मलता तया प्रकटितं प्रकाशितं तत्। प्रकटयति स्म प्रकटितः। ''मृदो ध्वर्थे णिज्बहुलं'' इति णिजन्तात्क्तः। तत्पदं मुनिपदं चन्द्रस्थानं च। अगात् प्राप्नुयात्। ''इण् गतौ'' इति धोर्लुङन्तरूपम्। स्वभावतः किल दोषान्वेषी जगत् पश्यति नितरां दोषं गुणसंघातेऽपि शुभ्रधवलितवासे नीलबिन्दु–वत्। तस्योपालम्भोऽत्र वर्तते–अयि लोकाः। दूरमाध्वं गुणास्तेषां किरणैकप्रभां प्राप्तुं किमलम्। उन्नतमनसः

(दैवानुरोधात्) भाग्य के कारण **(यद्यपि)** यद्यपि **(चन्द्रलाञ्छनसमः)** चन्द्रमा के कलंक समान **(दोषः)** दोष **(जातः)** उत्पन्न हुआ **(अन्धः अपि)** अन्धा भी **(तं दृष्टुं)** उस दोष को देखने में **(अलं)** समर्थ होता है **(तावता)** उससे **(द्रष्टाः)** दोष देखने वाला **(अस्य)** इस **(इन्दोः)** चन्द्रमा की **(पदवीं न आप्नोति)** पदवी नहीं पाता है **(जगत्)** संसार **(विश्वं)** सभी **(कलकं)** दोष को **(पश्यति)** देखता है **(किं)** क्या **(कः अपि)** कोई भी **(तत्प्रभाप्रकटितं)** उसकी प्रभा से विकसित **(तत्पदं)** उसके पद पर **(अगात्)** पहुँच गया।

अर्थ—कोई महान् हो और समस्त गुणों की खान हो और उसको पूर्व अर्जित कर्म के कारण दोष उत्पन्न हुआ हो। वह दोष यद्यपि चन्द्रमा में लगे चिह्न के समान हो तो भी अन्ध पुरुष भी उसे देख लेता है। उससे देखने वाला इस चन्द्रमा की या उस गुणवन्त की पदवी नहीं पा लेता है। यह संसार सभी के कलंक को देख लेता है किन्तु क्या कोई भी उसकी प्रभा से प्रकट हुए उस पद को पा पाया है ?

टीकार्थ—मूलोत्तर गुणों का पालन करने वाले, रत्नत्रय से संयुक्त महाव्रती को यदि कभी कर्म की पराधीनता से चन्द्रमा के बिम्ब में बने चिह्न समान कोई दोष या त्रुटि उत्पन्न हो जाय तो अन्ध भी उसे देख लेता है। यद्यपि अन्धे को चन्द्रमा का कलंक दिखता नहीं है फिर भी अत्यन्त संभावना दिखने में व्यंग्योक्ति की है। उस दोष को देख लेने पर भी वह देखने वाला उस मुनि की अथवा चन्द्रमा की या यूँ कहे कि चन्द्रमा समान उस मुनि की पदवी नहीं पा लेता है। इसलिए सत्य ही कहा जाता है कि यह संसार सभी दोषों को अच्छी तरह घूर कर देख लेता है। परन्तु क्या कोई व्यक्ति चन्द्रमा की प्रभा या मुनि के पद पर पहुँच सका है? अर्थात् नहीं पहुँच सका है। अर्थात् वह दोष देखने वाला क्या वहाँ जाकर दोष देख कर आया है कि उसके अन्दर और भी क्या है ? यह जगत् स्वभाव से ही दोषान्वेषी है। अनेक गुणों से समृद्ध होने पर भी इस संसार को जरा-सा भी दोष शीघ्र दिख जाता है जैसे चमकते

परेषामुपलब्धिं गणयन्ति चावगणयन्ति हानिम्। अतोऽनन्तरत्नप्रभवस्य श्रमणस्य न एको हि दोषः सौभाग्यविलोपी स्यात्। पश्य एकतः कृष्णः कुक्कुरस्य बीभत्सपूतिकलेवरस्य दिगन्तव्यापिर्दुर्गन्धिदेहे गुणमनाः पश्यति स्वर्णदन्तमन्यतस्तु गुणग्रामे पुत्रतुल्यरामेऽपि दोषान्वेषिणी कैकेयी मात्सर्यं धत्त इति यशःकीर्तिर्दुर्यशःप्राप्तिश्च परगुणदोषान्वेषणाज्जायते नीचोच्चताया विभागो वा। यदुक्तम्–

''वचनीयाद्धि भीरुत्वं महतां महनीयता।''

तथापि नैकान्ततः दुर्गुणबहुले कस्यचिदेकगुणस्य प्रशंसा प्रशस्या, तस्य हानिसम्भवनात्। यत्कार्यविषये प्रशंसा क्रियते तत्कार्ये तस्याधिकप्रवृत्तौ सत्यां हानिलाभौ विविच्य प्रवर्त्त्यताम् ॥२५०॥

विशुद्ध्या वर्धमानस्य योगिनो लक्षणमाचक्षते–

(अनुष्टुप्)

यद्यदाचरितं पूर्वं तत्तदज्ञानचेष्टितम्।
उत्तरोत्तरविज्ञानाद्योगिनः प्रतिभासते ॥२५१॥

हुए सफेद वस्त्र पर एक नीला बिन्दु तुरन्त देखने में आता है। ऐसे लोगों के लिए आचार्यदेव ने यहाँ उपालम्भ (उलाहना) दिया है कि अरे लोगो! उनके गुण तो दूर रहे किन्तु क्या उनके गुणों की किरण का थोड़ा भी प्रकाश प्राप्त करने में तुम समर्थ हो ? अरे! विशाल हृदय वाले दूसरों की उपलब्धि गिनते हैं और कमी पर ध्यान नहीं देते हैं। अतः जिसमें अनन्त रत्न उत्पन्न हुए हैं ऐसे श्रमण का एक दोष ही उसके सौभाग्य का लोप करने वाला नहीं हो जाता है। देखो! एक ओर कृष्ण दुर्गन्धित, सड़े शरीर वाले कुत्ते की सभी दिशाओं में व्याप्त दुर्गन्धित देह में गुणों में मन रखते हुए स्वर्ण का दाँत देख लेते हैं और दूसरी ओर गुणों के समूह, पुत्र के समान राम में भी दोषों को देखने वाली कैकेयी ईर्ष्या धारण करती है। इस तरह दूसरों के गुण देखने से यश कीर्ति, दूसरों के दोष देखने वाले को अपवाद की प्राप्ति स्वयं होती है तथा उसके नीच-उच्च होने का विभाजन भी इसी से होता है।

कहा भी है–''अपवाद (निन्दा) होने से डरना ही महान् पुरुषों की महानता है।'' फिर भी यह एकान्त नहीं है कि सभी की प्रशंसा ही की जाय। जिसमें दुर्गुण अधिक हैं तो उसके एक गुण की प्रशंसा करना भी प्रशंसनीय नहीं है क्योंकि ऐसा करने से उस गुण की हानि भी हो जाती है। जिस कार्य के विषय में प्रशंसा की जाती है उस कार्य में उस व्यक्ति की अधिक प्रवृत्ति होने पर उसे हानि होगी या लाभ होगा? ऐसा विचार-चिन्तन करके ही उसके एक गुण की प्रशंसा करनी चाहिए, सर्वथा नहीं, यह तात्पर्य है ॥२५०॥

विगत काल में जो कुछ हमने किया कराया मरण किया।
बिना ज्ञान अज्ञान भाव से प्रेरित हो आचरण किया॥
क्रम-क्रम से इस विध योगी को वस्तु तत्त्व प्रतिभासित हो।
ज्ञान भानु का उदय हुवा हो अँधकार निष्कासित हो ॥२५१॥

अन्वयः—योगिनः उत्तरोत्तरविज्ञानात् पूर्वं यत् यत् आचरितं तत् तत् अज्ञानचेष्टितं प्रतिभासते।

यद्यदित्यादि। योगिनः निवृत्तिपथगामिनः। उत्तरोत्तरविज्ञानात् अपूर्वापूर्वविशुद्धिवशात्। भेदविज्ञानेन नानाध्यानप्रत्ययानवलम्ब्य हीयमानविकल्पसन्ततेर्जायमानविशुद्धिकारणाद-पूर्वनिराकुलता प्रतिभासते। तेन किं भवति? पूर्वं पुरा प्रवृत्ति-बाहुल्यरागादिचेष्टितम्। यत् यत् स्वयमेव योगिनो ज्ञानगोचरीकृतम्। आचरितं अनुष्ठितम्। तत् तत् पुराकृतम्। अज्ञानचेष्टितं रागादिपरिणत्या परिणतम्। प्रतिभासते जानीते। अत्राज्ञानं नाम संज्वलनकषायगतरागादिपरिणमनं योगिविषयत्वात्। स्वगुणप्रशंसनं परनिन्दनञ्चाज्ञानादेवेति प्रतिभासनमपि योगिनाम्। मोहमहामदोन्मत्ते जगति तत्त्वज्ञानानभ्यासात् भूयो जायते मदोन्मत्तता स्वयं योगिनः सङ्कल्पविकल्प-विषयेऽहमिति मत्याऽनुषङ्गात्। पुनश्चाभ्यासवर्धनादेते मम स्वभावो न सन्ति तस्मान्निवारयति स्वमानसं यत्स्वयं पुनस्तत्रैव लगति। पुनरपि भेदाभ्यासोत्कर्षेण कर्मफलेषु शुभाशुभेषु हर्षविषादवीचिवञ्चितोऽनुभवति स्वकीयम् परकीयमुन्मत्तरूपेण। एवमभ्यासबलवृद्ध्या विश्वं चरा-

---

उत्थानिका—जो योगी आत्म विशुद्धि से बढ़ रहा है, उसका लक्षण कहते हैं–

अन्वयार्थ—(योगिनः) योगी को **(उत्तरोत्तरविज्ञानात्)** आगे-आगे भेदविज्ञान बढ़ने से **(पूर्वं)** पहले **(यत्-यत्)** जो-जो **(आचरितं)** आचरण किया है **(तत् तत्)** वह-वह उसे **(अज्ञानचेष्टितं)** अज्ञान के द्वारा की हुई चेष्टा **(प्रतिभासते)** दिखता है।

अर्थ—योगी को उत्तरोत्तर भेद ज्ञान बढ़ते जाने से उसने पहले जो-जो आचरण किया है उसे वह सब अज्ञान के द्वारा की गई चेष्टा दिखती है।

टीकार्थ—निवृत्ति (मोक्ष) पथ पर चलने वाले योगी को पहले की अपेक्षा अपूर्व-अपूर्व विशुद्धि बढ़ने से और भेदविज्ञान के द्वारा अनेक प्रकार के ध्यान के प्रत्ययों (निमित्तों) के आलंबन से उसके विकल्पों की परम्परा तो कम होती जाती है और विशुद्धि के कारण उत्पन्न होते जाते हैं जिससे उसे कोई अपूर्व-अद्‌भुत निराकुलता ही प्रतिभासित होती है। उससे क्या होता है ? जो उसने पहले प्रवृत्ति की अधिकता से राग आदि चेष्टायें की हैं वे जब-जब स्वयं उसी योगी के ज्ञान में आती हैं तो वह सब पहले किया गया क्रियाकलाप उसे अज्ञान चेष्टा मात्र प्रतीत होता है। यहाँ पर अज्ञान का मतलब संज्वलन कषाय सम्बन्धी राग आदि का परिणमन लेना है क्योंकि यहाँ योगी के लिए कथन है। अपने गुणों की प्रशंसा करना और दूसरों की निन्दा करना यह अज्ञान से ही होता है, यह भी योगियों को दिखता है। मोह के महामद से और तत्त्वज्ञान का अभ्यास नहीं होने के कारण स्वयं योगी को पहले खूब मदोन्मत्तता होती है क्योंकि संकल्प-विकल्प के विषय में-यह मैं हूँ, यह मैंने किया, इत्यादि बुद्धि से वह बँधता है। बाद में अभ्यास बढ़ने से ये संकल्प-विकल्प मेरे स्वभाव नहीं हैं, इसलिए उनसे अपने मन को दूर करता है, जिसमें मन बार-बार लगता है। बाद में और अधिक भेद अभ्यास बढ़ जाने से शुभ-अशुभ कर्मों के फलों में स्वयं को हर्ष-विषाद की लहरों से रहित हुआ अनुभव करता है और जो उसमें हर्ष-विषाद करते हैं उन्हें उन्मत्त रूप से देखता है। इस प्रकार भेदविज्ञान के अभ्यास के बल की वृद्धि होने से उसे यह चराचर (जीव-अजीवात्मक) विश्व भी जड़ दिखाई देने लगता है।

चरात्मकमचरमवभासते। यदुक्तम्–

''पूर्वं दृष्टात्मतत्त्वस्य विभात्युन्मत्तवज्जगत्।
स्वभ्यस्तात्मधियः पश्चात् काष्ठपाषाणरूपवत्॥''

अनुष्टुप्छन्दः ॥२५१॥

पुनरपि योगिनां ममत्वनिरासनायैव प्रवृत्तिः स्यादिति ब्रूते–

(हरिणी)

अपि सुतपसामाशावल्ली शिखा तरुणायते,
भवति हि मनोमूले यावन्ममत्वजलार्द्रता।
इति कृतधियः कृच्छ्रारम्भैश्चरन्ति निरन्तरं
चिरपरिचिते देहेऽप्यस्मिन्नतीव-गतस्पृहाः ॥२५२॥

अन्वयः—यावत् मनोमूले ममत्वजलार्द्रता हि भवति सुतपसां अपि आशावल्लीशिखा तरुणायते, इति कृतधियः अस्मिन् देहे चिरपरिचिते अपि अतीवगतस्पृहाः कृच्छ्रारम्भैः निरन्तरं चरन्ति।

कहा भी है–''आत्मतत्त्व को देखने वाले को पहले तो यह संसार उन्मत्त हुए के समान दिखता है बाद में अच्छी तरह बुद्धि में अभ्यास हो जाने से काष्ठ या पाषाणरूप जैसा दिखता है।'' यहाँ अनुष्टुप् छन्द है ॥२५१॥

उत्थानिका—योगियों की प्रवृत्ति ममत्व को समाप्त करने के लिए ही होती है, पुनः यह कहते हैं–

अन्वयार्थ–(यावत्) जब तक **(मनोमूले)** मन के मूल में **(ममत्व जलार्द्रता)** ममत्व रूपी जल की आर्द्रता **(हि)** निश्चय से **(भवति)** होती हैं **(सुतपसां)** श्रेष्ठ तपस्वियों की **(अपि)** भी **(आशावल्लीशिखा)** आशारूपी बेल की शिखा **(तरुणायते)** तरुणाई पर रहती है यानी लहलहाती है। **(इति)** इस प्रकार **(कृतधियः)** विवेकी को **(अस्मिन् देहे)** इस देह में **(चिरपरिचिते अपि)** चिरपरिचित होने पर भी **(अतीवगतस्पृहाः)** अत्यन्त इच्छा से रहित होते हुए **(कृच्छ्रारम्भैः)** कष्ट कारक आरम्भ में **(निरन्तरं)** निरन्तर **(चरन्ति)** प्रवृत्ति करते हैं।

अर्थ—श्रेष्ठ तपस्या करने वालों की भी इच्छारूपी बेल की शिखा तब तक बढ़ती जाती है जब तक उनके मन के अन्दर मूलभाग में ममतारूप जल की आर्द्रता बनी रहती है। ऐसा जानकर विवेकी

जिनके मन की जड़ वह ममता-जल से भींगी जब तक है।
महातपस्वी जन की आशा-बेल युवति ही तब तक है॥
अनशन आदिक कठिनी चर्या अतः करें वे बुधजन हैं।
चिर परिचित उस निजी देह से निरीह रहते निशिदिन है ॥२५२॥

अपीत्यादि। यावत् कालपर्यन्तम्। मनोमूले मनः एव मूलं मुख्यकारणं तत् तस्मिन्। ममत्वजलार्द्रता ममत्वं ममता परस्मिन्नात्मबुद्धिः तदेव जलं मूलसेचनाय तस्यार्द्रता जलसद्भावनं यत्र सा। हि स्फुटम्। भवति विद्यते। तावदिति योज्यं नित्यसम्बन्धात्। सुतपसां सु शोभनं तपः अस्यास्तीति सुतपास्तेषाम्। ''ओऽभ्रादिभ्यः'' इति मत्वर्थीयोऽत्यः। अपि निश्चितम्। आशावल्लीशिखा आशा तृषा एव वल्ली लता तस्याः शिखाऽग्रभागः सा। तरुणायते तरुणमिवात्मानमाचरति। इति कारणात्। कृतधियः परिष्कृतबुद्धयः। कृता परिष्कृता धीर्बुद्धिर्यस्य स ते। अस्मिन् देहे स्वकीये काये। चिरपरिचिते चिरेण परिचितः पोषणतोषणं नीतस्तस्मिन्। अपि विस्मये। अतीवगतस्पृहा अत्यन्तनिरभिलाषकाः। देह एव भवस्य कारणमिति मन्यमानास्तद्विषये वाञ्छारहिता भवन्ति। कृच्छ्रारम्भैः कष्टसाध्यैरनशनादिकायक्लेशकारितपोऽनुष्ठानैः। निरन्तरं सदा। चरन्ति प्रवर्त्तन्ते। हरिणीवृत्तम् ॥२५२॥

अथ दृष्टान्तद्वारेण तदेवार्थं दृढयन्नाह–

(रथोद्धता)

क्षीरनीरवदभेदरूपतस्तिष्ठतोरपि च देहदेहिनोः।
भेद एव यदि भेदवत्स्वलं बाह्यवस्तुषु वदात्र का कथा ॥२५३॥

अन्वयः—देहदेहिनोः अभेदरूपतः अपि तिष्ठतोः क्षीरनीरवत् यदि अलं भेद एव च भेदवत्सु बाह्यवस्तुषु अत्र वद का कथा।

जन चिरपरिचित इस देह में भी इच्छा से अत्यधिक दूर होते हैं और कष्ट साध्य तप में निरन्तर प्रवृत्ति करते हैं।

टीकार्थ—पर पदार्थ में आत्मबुद्धि ममता है। वह ममता ही जल है। जैसे जड़-मूल के सिंचन के लिए गीलापन चाहिए ऐसे ही मन के मूल में ममत्व भाव बना रहता है। श्रेष्ठ तप करने वालों की भी तृष्णा रूपी शिखा इस ममत्व के गीलेपन से तरुण सी बनी रहती है। जिनकी बुद्धि परिष्कृत हुई है वे पोषण-तोषण से बढ़ायी गई अपनी चिरपरिचित देह में भी अत्यन्त अभिलाषा से रहित हुए हैं। देह ही संसार का कारण है ऐसा मानने वाले वे उस देह के विषय में वाञ्छा रहित होते हैं। अनशन आदि कायक्लेशकारी तप विशेष जो कष्टकारी हैं उन कष्टसाध्य तप में वे श्रमण निरन्तर प्रवृत्ति करते हैं। यहाँ हरिणी छन्द है ॥२५२॥

उत्थानिका—अब दृष्टान्त के द्वारा उसी अर्थ को दृढ़ करते हुए कहते हैं–

क्षीर-नीर आपस में मिलकर एक रूप ही दिखते हैं।
यथार्थ में तो भिन्न-भिन्न ही लक्षण अपने रखते हैं।
उसी भाँति तन आतम भी हैं भिन्न-भिन्न फिर सही बता।
धन कण आदिक पूर्ण भिन्न हैं फिर इनकी क्या रही कथा ॥२५३॥

क्षीरनीरवदित्यादि। देहदेहिनोः देहः शरीरम्। देहोऽस्यास्तीति देही आत्मा। देहश्च देही च देहदेहिनौ तयोः। कथम्भूतयोः? अभेदरूपतः अभिन्नभावमापन्नात् व्यवहारनयेन संश्लेषसहितवस्तुसम्बन्ध-विषयकानुपचरितासद्भूताख्येन। अपि स्फुटम्। तिष्ठतोः तिष्ठतीति तिष्ठन्। शतृप्रत्ययः। तयोः। किंवत्? क्षीरनीरवत् क्षीरं दुग्धं, नीरं जलं तयोः सम्मिश्रणवत्। यथा क्षीरस्य नीरेण सर्वप्रदेशेषु अन्योन्यसम्बन्धतया परस्परमेकत्वं तथात्मनः शरीरत्रयेण सहेति। यदि तथापि। अलमत्यन्तम्। भेदो भिन्नत्वम्। एव निश्चयेन। च तर्हि। भेदवत्सु भेदोऽस्यास्तीति भेदवान् तेषु बाह्यवस्तुषु शिष्यमित्रकलत्रादिषु। अत्र मोक्षमार्गे। वद कथय हे भव्य! का कथा न कापि वार्ता भिन्नत्वात् विद्यत इत्यर्थः। रथोद्धताच्छन्दः ॥२५३॥

ततः किं कर्त्तव्यमित्याह–

(अनुष्टुप्)

तप्तोऽहं देहसंयोगाज्जलं वानलसङ्गमात्।
इति देहं परित्यज्य शीतीभूताः शिवैषिणः ॥२५४॥

अन्वयः—अहं देहसंयोगात् तप्तः वा जलं अनलसङ्गमात्, इति शिवैषिणः देहं परित्यज्य शीतीभूताः (भवन्ति)।

अन्वयार्थ—(देहदेहिनोः) देह और आत्मा के **(अभेदरूपतः)** अभेद रूप से **(तिष्ठतः अपि)** रहते हुए भी **(क्षीरनीरवत्)** दूध-पानी के समान **(यदि)** यदि **(अलं)** पर्याप्त **(भेद एव च)** भेद ही है तो **(भेद-वत्सु)** भेद वाली **(बाह्य वस्तुषु)** बाह्य वस्तुओं के सम्बन्ध में **(अत्र)** यहाँ **(वद)** बताओ **(का कथा)** क्या कहा जाए?

अर्थ—अभेद रूप से रहने वाले शरीर और आत्मा में भी यदि दूध-पानी के समान पर्याप्त भेद ही है तो यहाँ जिनमें प्रत्यक्ष भेद दिख रहा है ऐसी बाह्य वस्तुओं के विषय में तुम्हीं बताओ क्या कहें ?

टीकार्थ—संश्लेष सहित वस्तु के सम्बन्ध को विषय करने वाले अनुपचरित असद्भूत व्यवहार नय से अभिन्न (एकमेक) भाव को प्राप्त होने से शरीर और आत्मा में भी निश्चयनय से भेद ही है। किस तरह ? क्षीर-नीर के समान। जैसे दूध का जल के साथ सभी प्रदेशों में परस्पर अन्योन्य सम्बन्ध हो जाने से एकमेकपना आ जाता है। उसी प्रकार आत्मा का तीनों शरीरों (औदारिक, तैजस, कार्मण) के साथ होता है। तथापि दोनों में अत्यन्त भेद है। जिन बाह्य वस्तुओं में स्पष्टरूप भेद दिख रहा है ऐसे शिष्य, मित्र, स्त्री आदिकों में भिन्नपना रहता ही है। हे भव्य! तुम्हीं बताओ कि मोक्षमार्ग में उनकी क्या चर्चा की जाय? यहाँ रथोद्धता छन्द है ॥२५३॥

स्वभाव से जल यद्यपि शीतल अनल योग पा जलता है।
तप्त हुवा हूँ देह योग से सता रही आकुलता है॥
इस विध चिंतन बार- बार कर भव्य जनों ने तन त्यागा।
शान्त हुए विश्रान्त हुए हैं जिनमें अनन्त बल जागा ॥२५४॥

तप्त इत्यादि। अहमत्यन्तसौख्यात्मा। देहसंयोगात् शरीरसम्बन्धात्। तप्तः सन्तप्तः। वा उपमायाम्। ''वा स्याद्विकल्पोपमयोरेवार्थेऽपि समुच्चये'' इति वि॰ लो॰। जलं अनलसङ्गमात् अग्निसंयोगात् जलवदौष्ण्यम्। इति कारणेन। शिवैषिणः शिवं परमनिर्वाणमिच्छन्ति ते। यदुक्तम्–शिवस्य लक्षणम्–''शिवं परमकल्याणं निर्वाणं शान्तमक्षयं। प्राप्तं मुक्तिपदं येन स शिवः परिकीर्तितः॥'' इति श्लोककथितलक्षणेनान्यजटागङ्गाधृतां परिकल्पना नात्र कार्या। एतावता सिद्धात्मनां शिवत्वमुक्तम्। क्वचिदर्हतामपि शिवव्यपदेशः स्यात् यथा हि–''प्राणश्च क्षुत्पिपासे द्वे मनसः शोकमोहने। जन्ममृत्यू शरीरस्य षडवदरहितः शिवः॥'' अस्मिन् श्लोके कामक्रोधलोभा–सत्यमोहविषादाः षडवदा ज्ञातव्याः। कुतोऽवगम्यते? नाममालातः, यदुक्तं तत्र–''कामक्रोधश्च वै पूर्वे लोभोऽसत्यं च मध्यमे। अन्ते मोहो विषादश्च यस्य ज्ञेयः स षड्वदः'' इति वचनात्। क्वचित् शिवं भाववाचि–यथा ''शिवं श्रेयः शिवं सुखम्'' इति। देहं शरीरं सन्तापकारणत्वात्। परित्यज्य मोहभावमुदस्य देहविषयेऽन्यप्रकारेण परित्यजनासम्भवात्। शीतीभूताः निराकुलात्मस्वभावमुपगताः। प्राक् अशीतः सम्प्रति शीतः सम्पद्यमानः भवतीति शीतीभवति। शीतीभवति स्म शीतीभूतस्ते

उत्थानिका—इसलिए क्या करना चाहिए ? यह कहते हैं–

अन्वयार्थ—(अहं) मैं **(देहसंयोगात्)** देह के संयोग से **(तप्तः)** तप्त हुआ हूँ **(वा)** जैसे **(जलं)** जल **(अनलसङ्गमात्)** अग्नि के संयोग से होता है **(इति)** इस प्रकार **(शिवैषिणः)** मोक्ष चाहने वाले **(देहं)** देह को **(परित्यज्य)** छोड़कर **(शीतीभूताः)** शान्त होते हैं।

अर्थ—जैसे जल अग्नि के संयोग से तप्त होता है वैसे ही मैं देह के संयोग से तप्त हुआ हूँ। इस तरह विचार कर मोक्ष चाहने वाले देह को छोड़कर ही अत्यन्त शान्त हुए हैं।

टीकार्थ—मैं अत्यन्त सौख्यवाला आत्मा हूँ। वैसे ही मैं शरीर के संयोग के कारण सन्तप्त (दुःखी) हुआ हूँ जैसे जल स्वभाव से शीतल है फिर भी अग्नि के संयोग से उष्ण हो जाता है। यहाँ 'शिव' का लक्षण कहते हैं–''शिव परम कल्याण है, निर्वाण है, शान्त है, अविनाशी है और जिन्होंने मुक्ति पद प्राप्त किया है वे शिव कहे जाते हैं।'' इस कथन से अन्य जटा, गंगा को धारण करने वाले शिव की यहाँ परिकल्पना नहीं करनी चाहिए। इस श्लोक में कहे शिव के लक्षण से यहाँ सिद्धात्माओं को शिवत्व कहा है। कहीं पर अर्हन्तों को भी शिव नाम से कहा जाता है। जैसे–''भूख, प्यास दो प्राण हैं, शोक, मोह मन से हैं तथा शरीर की जन्म, मृत्यु और छह षडवद कहलाते हैं।'' इनसे रहित को 'शिव' कहा है।' इस श्लोक में काम, क्रोध, लोभ, असत्य, मोह और विषाद ये षडवद जानने चाहिए। कैसे जाना? नाममाला से। 'नाममाला' में कहा है–''पहले काम, क्रोध, मध्य में लोभ, असत्य और अन्त में मोह, विषाद जिसके हैं उसे षडवद जानना चाहिए।'' कहीं पर 'शिव' शब्द भाववाची है। जैसे–''शिव ही श्रेय यानी कल्याण है और शिव ही सुख है।'' इस तरह के शिव की जो इच्छा करते हैं यानी वे परम निर्वाण की इच्छा करते हैं। वे शरीर को सन्ताप का कारण होने से मोहभाव को छोड़कर देह के विषय में वर्तते हैं क्योंकि अन्य प्रकार से देह को छोड़ने का अभाव है। सिद्ध भगवान् निराकुल

तथोक्ताः। 'कृभ्वतिर्योगेऽभूततद्भावे सम्पद्यकर्तरि च्विः' इत्यनेन च्विः। भवन्तीति क्रियाध्याहार्या। आसंसारादयमात्मा देहार्थं तृप्तिं दायं दायं सन्तप्तोऽभूत्। यद्वा देहेन क्षुत्तृषाज्वरजरादि-विधिनाऽऽत्मा सन्तप्तः कृतः। तेनानलस्थानीयदेहेनात्रोपमितिर्विज्ञेया ॥२५४॥

अथात्मकोष्ठे सञ्चितमोहमलस्य वमनेन शुद्धो भवत्वित्याह–

(अनुष्टुप्)

अनादिचयसंवृद्धो महामोहो हृदि स्थितः।
सम्यग्योगेन यैर्वान्तस्तेषामूर्ध्वं विशुद्ध्यति ॥२५५॥

अन्वयः—यैः सम्यग्योगेन हृदि स्थितः महामोहः अनादिचयसंवृद्धः वान्तः तेषां ऊर्ध्वं विशुद्ध्यति।

अनादीत्यादि। यैः सम्यग्ज्ञानिभिर्जनैः। इति कर्तृ। केन कारणेन? सम्यग्योगेन सम्यक् समीचीनं यथाक्रमं योगः साधनापद्धतिः सम्यग्योगस्तेन। हृदि हृदये। स्थितः समासीनः। कोऽसौ? महामोहः महानुत्कटश्चासौ मोहः सः। ''आकारो महतः कार्यस्तुल्याधिकरणे पदे'' इति का० सूत्रात्। तकारस्याकारः। यसः। कथम्भूतः? अनादिचयसंवृद्धः अनादिना कालेन चयः उपचयः वृद्धिस्तेन संवृद्धः सन्ततं निरन्तरं प्ररूढो

आत्म स्वभाव को प्राप्त होते हैं। पहले जो तप्त थे वे अब शीतल हुए हैं। अनादि संसार से यह आत्मा देह के लिए तृप्ति देते हुए सन्तप्त हुआ हैं। अथवा देह से क्षुधा, तृषा, ज्वर, बुढ़ापा आदि विधि के द्वारा आत्मा संतप्त की गई है। इसलिए अग्नि स्थानीय देह की यहाँ उपमा जाननी चाहिए ॥२५४॥

उत्थानिका—अब आत्मा के कोठे में संचित हुए मोहमल का वमन करके से शुद्ध होओ, यह कहते हैं–

अन्वयार्थ—(यैः) जिन्होंने **(सम्यग्योगेन)** सम्यग्योग से **(हृदि)** हृदय में **(स्थितः)** स्थित **(महामोहः)** महामोह को **(अनादिचयसंवृद्धः)** जो अनादिकाल से इकट्ठा होने से बढ़ा हुआ है **(वान्तः)** उसे उगल दिया है **(तेषां)** उनका **(ऊर्ध्वं)** अग्रभाग **(विशुद्ध्यति)** विशुद्ध होता है।

अर्थ—हृदय में स्थित, अनादि काल से इकट्ठा होते आए बढ़े हुए महामोह को जिन्होंने सम्यग्योग से वमन कर दिया है उनका ऊपरी भाग विशुद्ध होता है।

टीकार्थ—समीचीनरूप से यथाक्रम से जो साधना पद्धति है वह सम्यग्योग है। अनादि काल से जो एकत्रित होने से बढ़ गया है अथवा अनादि का ही यह चय (कर्म मल) है ऐसा अर्थ करने से मोहकर्म और आत्मा दोनों का अनादिपना दिखाया है। हृदय में स्थित इस महामोह कर्म का जिन

समय समय पर समान बल ले वृद्धि पा रहा नहीं पता।
कब से बैठा मन में मदमय महामोह है यही व्यथा॥
समीचीन निज परम योग से उसका जिनने वमन किया।
भावी जीवन उनका उज्ज्वल उनको हमने नमन किया ॥२५५॥

वर्धितो वा यः स तथोक्तः। अथवा अनादिश्चासौ चयश्चानादिचयस्तेनात्ममोहकर्मणोरनादित्वं द्योतितम्। तेन संवृद्धस्तथोक्तः। इति कर्माभिधेयः। वान्तः वमनं कृतः। इति क्रिया। तेषां सम्यग्ज्ञानिनाम्। ऊर्ध्वं मस्तकमग्रभवे वा। विशुद्ध्यति विशुद्धिमवाप्नोति स्वस्थो भवतीत्यर्थः। यथौषधिसंयोगेन कोष्ठस्थ-मलनिष्कासनं न भवति यावत्तावत् शिरःपीडा तथा महामोह एवात्मकष्टकरः। यथा मलस्यापगमे स्वस्थता व्यावहारिकी तथा हि मोहापगमात् पारमार्थिकी जायत इति भावः। किं नश्यति रोगं वैद्यस्य ज्ञानमात्रम्। दर्शनचारित्रमोहमलाविद्धोऽयमात्मा रत्नत्रयभैषज्यज्ञानमात्रेण न विशुद्ध्यति अपि तु दर्शनचारित्रौषधि-सम्यक्सेवनात्। यदुक्तम्–

''पुव्वं सेवदि मिच्छामलसोहणहेदु सम्मभेसज्जं।
पच्छा सेवदि कम्मामयणासणचरिय-भेसज्जं ॥''

अनुष्टुप्छन्दः ॥२५५॥

केन कारणेन साधव एव सुखिनः सन्तीति कीर्त्यते–

(शार्दूलविक्रीडित)

एकैश्वर्यमिहैकतामभिमतावाप्तिं शरीरच्युतिं
दुःखं दुष्कृतिनिष्कृतिं सुखमलं संसारसौख्योज्झनम्।
सर्वत्यागमहोत्सवव्यतिकरं प्राणव्ययं पश्यतां
किं तद्यन्न सुखाय तेन सुखिनः सत्यं सदा साधवः ॥२५६॥

सम्यग्ज्ञानियों ने वमन किया है उनका मस्तक अथवा अगला भव विशुद्ध हो जाता है यानी आत्मा स्वस्थ हो जाता है। जैसे औषधि के संयोग से पेट में रुका मल जब तक नहीं निकलता है तब तक शिर में पीड़ा रहती है उसी प्रकार महामोह ही आत्मा को कष्ट देता है। जैसे मल के निकल जाने से व्यवहार से स्वस्थता कही जाती है उसी प्रकार मोह के दूर हो जाने से परमार्थ से आत्मिक स्वस्थता आती है। क्या वैद्य का रोग भी औषधि के ज्ञान मात्र से नष्ट होता है ? नहीं होता है। उसी प्रकार दर्शन और चारित्ररूपी मोहमल से युक्त आत्मा रत्नत्रय औषधि का ज्ञान होने मात्र से विशुद्ध नहीं होता है अपितु दर्शन और चारित्र की औषधि का अच्छी तरह सेवन करने से विशुद्ध होता है। कहा भी है– ''पहले मिथ्यामल के शोधन के लिए कारणभूत सम्यग्दर्शनरूप औषध का सेवन करता है बाद में कर्म रोग का नाश करने के लिए चारित्र की औषधि का सेवन करता है।'' यहाँ अनुष्टुप् छन्द है ॥२५५॥

भव सुख तजने को सुख गिनते विधि फल सुख को आपद है।
तन क्षय को मनवांछित मिलना निसंगपन को संपद है॥
दुख भी सुख भी सब कुछ सुख है जिन्हें साधु वे सही सुधी।
सब कुछ लूटे किन्तु मनावे मृत्यु महोत्सव तभी सुखी ॥२५६॥

अन्वयः—इह (येषां) एकतां एकैश्वर्यं, शरीरच्युतिं अभिमतावाप्तिं, दुष्कृतिनिष्कृतिं दुःखं, संसारसौख्योज्झनं अलं सुखं, प्राणव्ययं पश्यतां सर्वत्यागमहोत्सवव्यतिकरं (तेषां) किं तत् यत् न सुखाय तेन सत्यं सदा साधवः सुखिनः (सन्ति)।

एकैश्वर्यमित्यादि। इह अस्मिन् लोके। येषामिति अध्याहार्यम्। एकतां एकाकित्वम्। एकैश्वर्यं एकं महत् च तदैश्वर्यं चक्रवर्तित्वं तत्। चक्रवर्तिनां राजभोगवनितानिधिचक्रादि सुखाय न भवति पारतन्त्र्यात्। श्रमणानां वस्तुतोऽनुभूतिश्चक्रवर्तित्वस्य स्वातन्त्र्यात्। ''यदेतत्स्वच्छन्दं विहरणमकार्पण्यमशनं'' इति पूर्वोक्तत्वात्। यद्येवं न स्यात्तर्हि कथं चक्री अपि चक्रं विहाय प्रव्रजेत् स्वैरम्। अथवा एकः आत्मा तस्य भावः एकता ताम्। एकत्वभावनातो निश्चयतां गतामित्यर्थः। पुनश्च किम्? शरीरच्युतिं शरीरस्य च्युतिः प्रच्यवनं ताम् देहपरित्यजनमित्यर्थः। किं तत्? अभिमता-वाप्तिं अभिमतमभिलषितमिष्टं वा तस्यावाप्तिः प्राप्तिस्ताम्। देहपरित्याग एवेष्ट-वस्तुसमवायः इति धारणा। किमपरम्? दुष्कृतिनिष्कृतिं दुष्कृतिः दुःखं

उत्थानिका—किस कारण से साधु ही सुखी होते हैं, यह कहते हैं–

अन्वयार्थ—(इह) इस लोक में जिनका **(एकतां)** एकाकी रहना ही **(एकैश्वर्यं)** एकमात्र ऐश्वर्य है **(शरीरच्युतिं)** शरीर छूटना **(अभिमतावाप्तिं)** इच्छित पदार्थ की प्राप्ति है। **(दुष्कृतिनिष्कृतिं)** दुष्कर्म का निकलना (निर्जरा) **(दुःखं)** दुःख है **(संसार सौख्योज्झनं)** संसारसुख का छूटना **(अलं सुखं)** पर्याप्त सुख है **(प्राणव्ययं)** प्राणों का नाश **(पश्यतां)** देखने वालों को **(सर्वत्यागमहोत्सव-व्यतिकरं)** समस्त त्याग के महोत्सव का आयोजन है **(किंतत्)** उनके लिए ऐसा क्या है **(यत् न सुखाय)** जो सुख के लिए न हो **(तेन)** इसलिए **(सत्यं)** सत्य है **(साधवः)** साधु **(सुखिनः)** सुखी होते हैं।

अर्थ—जो एकाकीपन को एक अद्वितीय चक्रवर्तीपना मानते हैं, शरीरनाश को मनचाहे पदार्थ की प्रति मानते हैं। दुष्कर्म की निर्जरा और शुभ के उदय को दुःख मानते हैं, सांसारिक सुखों के सर्वथा परिहार को सुख मानते हैं, सर्व त्याग को महान् उत्सव मानते हैं, संग्रह को प्राणत्याग मानते हैं, जिनकी दृष्टि ऐसी हो जाती है उनके लिए ऐसा कौन सा पदार्थ है जो सुख का निमित्त न हो? सब ही सुख के कारण होते हैं। इस कारण साधु सदैव सुखी ही है, यह बात सत्य है।

टीकार्थ—इस संसार में जिनके एकाकीपना ही महा ऐश्वर्य यानी चक्रवर्तिपना है। चक्रवर्तियों को राजा सम्बन्धी भोग, स्त्री, निधियाँ, चक्र आदि सुख के लिए नहीं होते हैं क्योंकि वे परतन्त्र हैं। श्रमणों को चक्रवर्तित्व की वास्तविक अनुभूति है क्योंकि वे स्वतंत्र हैं। पहले भी कहा है कि–''जो यह स्वच्छन्द विहार है और दीनता रहित भोजन है।'' यदि इस प्रकार न हो तो चक्री भी चक्र को छोड़कर कैसे स्वच्छन्दता पूर्वक दीक्षा लेते। अथवा एक आत्मा है। उसका भाव एकता है उस एकत्व भावना से निश्चय रत्नत्रय को प्राप्त होता है, यह अर्थ है। देह का परित्याग ही इष्ट वस्तु का मिलना है, ऐसी उनकी धारणा है। दुःख पाप कर्म है। उन पाप कर्मों की निर्जरा ही दुःख है। उन श्रमणों को चूँकि दुःख

पापकर्म तेषां निष्कृति निर्जरा सा ताम्। कथम्भूतम्? दुःखं दुःखमात्रस्य निर्जरा यतः सुखप्रदायिनी ततः पुण्यकर्मजनितसुखमपि दुःखं मनुते कर्मपरवशात्। पुनः किम्? संसारसौख्योज्झनं संसारसौख्यं वैषयिकं तस्योज्झनं विमुञ्चनं तत्। किं तत्? अलं सुखं आत्यन्तिकं सुखम्। विषयसुखं सुखं नास्तीति बुद्धिरित्यर्थः। प्राणव्ययं प्राणानां व्ययो नाशस्तम्। पश्यतां पश्यतीति पश्यन् शतृत्यः। तेषाम्। सर्वत्यागमहोत्सवव्यतिकरं सर्वत्यागः सल्लेखनामरणं एव महोत्सवः परमकल्याणं तस्य व्यतिकरं सम्पादनमायोजनं वा तत्। मृतौ सत्यां महामहोत्सवायोजनवत् प्रसन्नचित्तम्। तेषामित्यत्र योज्यम्। किं तत् किं नाम वस्तु। यत् न सुखाय सुखार्थं न भवेदिति। तेन कारणेन। सत्यं वास्तवेनोक्तम्–सदाऽनवरतम्। साधवः आत्मानं साधयन्ति ते। सुखिनः निराकुलाः। सन्तीति क्रियाध्याहार्यम्। अत्र 'पश्यतां' इति सम्बन्धकारककर्तृविशेषणं प्रतिपदं सम्बन्धनीयम्। यथा–एकतामैश्वर्यं पश्यतां, शरीरच्युतिमभिमतावाप्तिं पश्यतामित्यादि ॥२५६॥

अथ कर्मोदयजनितदुःखमपि श्रमणं न बाधत इत्याह–

(शार्दूलविक्रीडित)

आकृष्योग्रतपोबलैरुदयगोपुच्छं यदानीयते
तत्कर्मस्वयमागतं यदि विदः को नाम खेदस्ततः।
यातव्यो विजिगीषुणा यदि भवेदारम्भकोऽरिः स्वयं
वृद्धिः प्रत्युत नेतुरप्रतिहता तद्विग्रहे कः क्षयः ॥२५७॥

मात्र की निर्जरा होगी तो सुख मिलेगा और वे पुण्य कर्मजनित सुख को भी दुःख मानते हैं क्योंकि वह सुख भी कर्म के परवश है। संसार-सुख का छूटना उनके लिए आत्यन्तिक सुख है। विषयसुख सुख नहीं है, ऐसी उनकी बुद्धि रहती है, यह अर्थ है। जो अपने प्राणों का नाश ही देखते रहते हैं उनको सर्वत्याग यानी सल्लेखना मरण ही महोत्सव है, परम कल्याण है, महोत्सव का आयोजन है। मरने पर उस महोत्सव के आयोजन से उनका चित्त प्रसन्न रहता है। ऐसी क्या वस्तु है जो उनके सुख के लिए न हो। इस कारण से सत्य ही कहा है–''आत्मा की जो साधना करते हैं वे साधु हैं। वे साधु निराकुल होते हैं। यहाँ 'पश्यतां' इस विशेषण का सम्बन्ध प्रत्येक पद से करना चाहिए।''जैसे–एकता और ऐश्वर्य को देखने वाले, शरीर च्युति और इष्ट प्राप्ति को देखने वाले इत्यादि ॥२५६॥

उत्थानिका–कर्मोदय जनित दुःख भी श्रमण को बाधा नहीं देते हैं, यह कहते हैं–

अन्वयार्थ–(उग्रतपोबलैः) उग्र तपोबल के द्वारा **(उदयगोपुच्छं)** उदय गोपुच्छा को **(आकृष्य)** आकर्षित करके **(यत् कर्म)** जो कर्म **(आनीयते)** लाया जाता है **(तत् यदि)** वह कर्म यदि

सुबुध उदय में असमय में ला तप से विधि को खपा रहे।
स्वयं उदय में विधि यदि आता खेद नहीं विधि कृपा रहे ॥
विजय भाव से रिपु से भिड़ने लड़ने भट यदि उद्यत हो।
खुद रिपु चढ़ आता तब फिर क्या हानि लाभ ही प्रत्युत हो ॥२५७॥

अन्वयः—उग्रतपोबलैः उदयगोपुच्छं आकृष्य यत् कर्म आनीयते तत् यदि स्वयं आगतं ततः विदः कः नाम खेदः। यदि आरम्भकः अरिः स्वयं भवेत् विजिगीषुणा यातव्यः प्रत्युत नेतुः अप्रतिहता वृद्धिः, तद्विग्रहे कः क्षयः।

आकृष्येत्यादि। उग्रतपोबलैः दुर्धरतपः एव बलं शक्तिस्तत् दुर्धरतपसः सामर्थ्यमित्यर्थः। तैः। यद्वा उग्रतप एव बलं सेना कर्मशत्रुहननायात्मराजानस्तत् तैः। 'स्थौल्यसामर्थ्यसैन्येषु बलं ना काकसीरिणोः' इत्यमरः। उदयगोपुच्छं उदयावलिबाह्य-स्थितनिषेकान् तपोबलादुदयावल्यां गोपुच्छाकारेण निषेचनं। आकृष्य अपकर्षणं कृत्वा। स्थित्यनुभागप्रदेशानामपकर्षणविधानेनोदीर्य इत्यर्थः। यत् असाताद्य-शुभकारकम्। कर्म पूर्वनिबद्धम्। आनीयते उत्कीर्यते बलादादीयत इत्यर्थः। तत् कर्म। यदि स्वयं आगतं सम्प्राप्तकालवशादुदयप्राप्तं। ततस्तर्हि। तस्मात्कारणाद्वा। विदः विवेकिनः। कः नाम खेदः चित्तक्षोभः न कोऽपीत्यर्थः। दृष्यान्तेनैतद्विषयं साधयन्नाह-यदि आरम्भकः विग्रहप्रारम्भकारकः। अरिः शत्रुः प्रतिपक्षी कर्म जीवपक्षे। स्वयमप्रयासेन। भवेत् स्यात्। तर्हि इति शेषः। विजिगीषुणा विजयेच्छुकेन शत्रुणा। विजेतुमिच्छन् विजिगीषुः। 'सन्भिक्षाशंस्विदिच्छादुः' इति सन्नन्तादुः। सहेत्यर्थः। भार्थे सहप्रयोगोऽनुक्तेऽपि ग्रहणात्। यातव्यः विग्रहितव्यः स्वयमग्रं गत्वा युद्धः कर्त्तव्यः। अर्हार्थे व्यः। प्रत्युत प्रतिविधाने। नेतुरात्मयोधस्य। अप्रतिहता सहजा। वृद्धिर्विजयः। स्यादिति शेषः। तद्विग्रहे तत्सकाशात्युद्धे। कः क्षयो हानिरिति।

(स्वयं) स्वयं **(आगतः)** आया हो **(ततः)** तो इससे **(विदः)** विद्वान् को **(कः नाम खेदः)** क्या खेद हो ? **(यदि)** यदि **(आरम्भकः)** युद्ध प्रारम्भ करने वाला **(अरिः)** शत्रु **(स्वयं भवेत्)** स्वयं होवे **(विजिगीषुणा)** तो शत्रु के साथ **(यातव्यः)** युद्ध करना चाहिए **(प्रत्युत)** ऐसा करने से **(नेतुः)** आप योद्धा की **(अप्रतिहता वृद्धिः)** सहज वृद्धि होगी **(तद्विग्रहे कः क्षयः)** उसके साथ युद्ध करने में क्या हानि होगी।

अर्थ—उग्र तप के बल से जो उदय में गोपुच्छा को खींचकर यानी कर्म उदय में लाकर विनष्ट किया जाता है वह कर्म यदि स्वयं आ जावे तो इससे विद्वान् को क्या खेद हो ? अर्थात् कुछ नहीं। यदि शत्रु स्वयं युद्ध का प्रारम्भ करे तो उस शत्रु के साथ युद्ध करना चाहिए। उससे प्रतियुद्ध करने में करने वाले को सहज ही विजय मिलेगी। उसके साथ युद्ध करने में क्या हानि है ?

टीकार्थ—दुर्धर तप ही बल, शक्ति है। अथवा उग्रतप ही बल सेना है। यह सेना ही आत्मराजा के कर्मशत्रु के नाश के लिए है। उदयावली के बाहर स्थित निषेकों को तप के बल से उदयावली में गोपुच्छा के आकार से निषेचन किया जाता है। यह अपकर्षण विधान से उदीरणा करके असाता आदि अशुभ करने वाले पूर्व में बँधे हुए कर्म बलपूर्वक उदय में लाये जाते हैं। यदि वही कर्म वर्तमान काल में स्वयं उदय को प्राप्त हों तो फिर विवेकी जीव के चित्त में क्या कोई क्षोभ होगा ? अर्थात् नहीं होगा। इसी विषय को दृष्टान्त से साधते हुए कहते हैं कि यदि युद्ध प्रारम्भ करने वाला शत्रु बिना प्रयास के स्वयं अपनी इच्छा से आए तो उसके साथ आगे बढ़कर युद्ध करना चाहिए। आगे बढ़कर युद्ध करने से स्वयं युद्ध करने वाले को सहज ही विजय होती है। उसके साथ युद्ध करने से कोई हानि नहीं है।

बाह्यान्तरतपोविशेषैर्योगी क्षपयति यानि कर्माणि तानि स्वयमेवोदयागतानि न भवन्ति क्षोभायतनानि प्रागेव सङ्कल्पबद्धकक्षत्वात्। शार्दूलविक्रीडितवृत्तम् ॥२५७॥

ये न क्षुभ्यन्ति तेषां वृत्तिः कथम्भूता भवतीति दिग्दर्शनार्थमाह–

(स्रग्धरा)

एकाकित्वप्रतिज्ञाः सकलमपि समुत्सृज्य सर्वंसहत्वाद्
भ्रान्त्याचिन्त्याः सहायं तनुमिव सहसालोच्य किञ्चित्सलज्जाः।
सज्जीभूताः स्वकार्ये तदपगमविधिं बद्धपल्यङ्कबन्धाः
ध्यायन्ति ध्वस्तमोहाः गिरिगहनगुहागुह्यगेहे नृसिंहाः ॥२५८॥

अन्वयः—(ये) सकलं अपि समुत्सृज्य सर्वंसहत्वात् एकाकित्वप्रतिज्ञाः, भ्रान्त्या अचिन्त्याः, सहसा तनुं सहायं इव आलोच्य किञ्चित् सलज्जाः, स्वकार्ये सज्जीभूताः (ते) नृसिंहाः बद्धपल्यङ्कबन्धाः ध्वस्तमोहाः गिरिगहनगुहागुह्यगेहे तदपगमविधिं ध्यायन्ति।

बाह्य और अभ्यन्तर तप विशेष के द्वारा योगी जिन कर्मों का नाश करता है वे कर्म स्वयं उदय में आ जाए तो उनसे योगी को क्षोभ नहीं होता है क्योंकि ऐसा करने का संकल्प तो अपने पहले से ही ले रखा था। यहाँ शार्दूलविक्रीडित छन्द है ॥२५७॥

उत्थानिका—जो क्षोभ नहीं करते हैं उनकी चर्या कैसी होती है, यह दिग्दर्शन कराने के लिए कहते हैं–

अन्वयार्थ–(सकलं अपि) समस्त को भी **(समुत्सृज्य)** छोड़कर **(सर्वंसहत्वात्)** सर्वंसह होने से **(एकाकित्व प्रतिज्ञाः)** वे एकाकीपने की प्रतिज्ञा वाले होते हैं **(भ्रान्त्या)** भ्रान्ति का **(अचिन्त्याः)** विषय नहीं होते हैं **(सहसा)** सहसा **(तनुं सहायं इव)** शरीर को सहायक के समान **(आलोच्य)** देखकर **(किंचित्)** कुछ **(सलज्जाः)** लज्जा सहित होते हैं **(स्वकार्ये सज्जीभूताः)** अपने कार्य में तत्पर **(नृसिंहाः)** वे नरसिंह **(बद्धपल्यङ्कबन्धाः)** पल्यंक आसन को लगाकर **(ध्वस्तमोहाः)** नष्टमोह होते हुए **(गिरि-गहन-गृहा-गुह्यगेहे)** पर्वत, गहन गुफा, एकान्त घर में **(तदपगमविधि)** उन कर्मों के विनाश की विधि का **(ध्यायन्ति)** ध्यान करते है।

अर्थ—सब कुछ छोड़कर सर्वंसह होने से वे एकाकीपने की प्रतिज्ञा किए हैं कभी भ्रान्ति का विषय नहीं बनते हैं, शरीर को सहायक की तरह विचारकर सहसा कुछ लज्जा सहित हो जाते हैं। अपने

सहे परीषह सकल संग तज एकाकी निर्भ्रान्त दमी।
तन भी शिव का कारण इस विध सोच लाज वश क्लान्त यमी ॥
निजी कार्यरत अकाय बनने आसन दृढ़ कर ध्यान करें।
गिरि कन्दर में अभय सिंह सम मोह रहित निज ज्ञान धरें ॥२५८॥

एकाकित्वेत्यादि। ये इति अध्याहार्यं कर्तृपदम्। सकलं समस्तवस्तुजातं सदेहत्वम् वा। अपि आश्चर्ये। समुत्सृज्य परित्यज्य। सर्वंसहत्वात् इति हेतोः। सर्वं सहते इति सर्वंसहः। ''नाम्नि तृभृवृजिधारितपिदमि सहां संज्ञायाम्'' इति सूत्रात् संज्ञायां खः। तस्य भावः सर्वंसहत्वम्। तस्मात्। सर्वंसहत्वं विना एकाकित्वाभावादिति हेतोः। ततस्ते–एकाकित्वप्रतिज्ञा असहायत्वसङ्कल्पाः। ''एकादाकिंश्चासाहाये'' इत्यसहायार्थे आकिन्। तस्य भावः एकाकित्वम्। तस्य प्रतिज्ञा सङ्कल्पो येषां ते। ''लिङ्गं ण परावेक्खो अपुणब्भवकारणं होदि'' इति वचनानुसरणात् सर्वकालासहायाः। पुनः कथम्भूताः? भ्रान्त्या भ्रान्तितया। अचिन्त्याः अविषयीकृताः। देहकर्मात्म–संसृतिमोक्षविषये सर्वदा भ्रान्तिरहिताः। स्वप्नेऽपि ये देहात्म–मध्येऽविपर्यस्ता भवन्तीत्यर्थः। किंभूतास्तथा? सहसा क्वचित् काले। तनुं शरीरम्। सहायं सहयात्रम्। मोक्षयात्रायां तनोः सहायत्वम्। ''सहायस्तु सयात्रे स्यात्'' इति शब्दार्णवः। यद्वा अयः पुण्यं तेन सह पुण्यसहितमात्मानम्। इव यथार्थे आलोच्य समीक्ष्य। किञ्चित् मनाक्। सलज्जाः सत्रपाः।''मन्दाक्षं ह्रीस्त्रपा व्रीडा लज्जा'' इत्यमरः। तया सहितः सलज्जः। 'वा नीचः' इति सहस्य सः। ते बसः। यात्रायां सहायो देह इति समीक्ष्य क्वचित् शयनासनाशनादिषु प्रवर्तनमपि त्रपाकरम्। अथवा शरीरमिव पुण्यसामग्रीमपि सहायमालोच्य लजन्ते इत्यर्थः। पुनः किंविशिष्टाः? स्वकार्ये स्वस्यात्मनः प्रयोजनीये कार्ये। सज्जीभूताः प्रगुणीभूताः अपूर्वपरिकराः। भवन्तीति शेषः। ते इति योज्यम्। नृसिंहाः नरेषु प्रधानाः। ''व्याघ्रादिभिरुप–मेयोऽतद्योगे'' इति नृशब्दस्योपमेयभूतस्य सिंहोपमानेन सह वृत्तिः सामान्ययोगे, व्याघ्रादेराकृतिगणत्वात्। नरः सिंहा इव नृसिंहाः। कथम्भूताः? बद्धपल्यङ्कबन्धाः पल्यङ्कासने समुपविष्टाः। अपरञ्च किम्? ध्वस्तमोहाः ध्वस्तो विनष्टो मोहो येषां ते निरीहा इत्यर्थः। गिरिगहनगुहागुह्यगेहे तत्र गिरयः पर्वताः, गहनगुहा भीमगुहा अथवा गहनं वनं, गुहा कन्दरा बिलम् वा। गुह्यगेहा अनिरीक्ष्यप्रदेशाः एकान्तालयाः। एतेषां समाहार–द्वन्द्ववृत्तेस्तथोक्तं तस्मिन्। तदपगमविधिं तस्य कर्मणः शरीरस्य वापगमो व्ययस्तस्य विधिस्तम्। ध्यायन्ति चिन्तयन्ति बद्धव्यवसाया भवन्तीत्यर्थः। स्रग्धरावृत्तम् ॥२५८॥

आत्महित के कार्य में सदा तैयार रहते हैं। पल्यंक आसन लगाकर मोह से रहित वे नरसिंह पर्वत, गहन, गुफा, एकान्त घर में कर्मों के नाश की विधि का ध्यान करते हैं।

टीकार्थ—जो समस्त वस्तु समूह को अथवा देहसहितपने को छोड़कर सबकुछ सहन करते हैं। सर्वंसह हुए बिना एकाकीपने का भाव नहीं बनता है। एकाकीपने की प्रतिज्ञा ही ''किसी की सहायता नहीं लेना'' इस बात का संकल्प है।''जिनलिंग परापेक्षी नहीं है यह जिनलिंग पुनर्भव का कारण नहीं है।'' 'प्रवचनसार' के इन वचनों के अनुसरण से वे सर्व की सहायता बिना रहते हैं। वे देह, कर्म, आत्मा, संसार और मोक्ष के विषय में सर्वदा भ्रान्ति रहित रहते हैं। स्वप्न में भी ऐसे ये मुनिराज देह और आत्मा के विषय में विपरीत भाव नहीं रखते हैं। मोक्ष की यात्रा में शरीर को सहायक, सह यात्री कुछ काल के लिए मानते हैं तो भी यह विचारकर लज्जित होते हैं। सहाय का दूसरा अर्थ–अय अर्थात् पुण्य। पुण्य सहित आत्मा को विचार करके कुछ सलज्ज होते हैं। यह शरीर मोक्षमार्ग की यात्रा में सहायक है ऐसा विचार कर कभी शयन, आसन, भोजन आदि में प्रवर्तन होना भी लज्जा करने वाला

इत्थंभूता मुनयो यत्र कुत्रापि संवसन्तो मम चित्तं पवित्रीकुर्वतामिति भावयन्नाह–

(शार्दूलविक्रीडित)

येषां भूषणमङ्गसङ्गतरजः स्थानं शिलायास्तलं
शय्या शर्करिला मही सुविहिता गेहं गुहा द्वीपिनाम्।
आत्मात्मीयविकल्पवीतमतयस्त्रुट्यत्तमो ग्रन्थयः
ते नो ज्ञानघना मनांसि पुनतां मुक्तिस्पृहा निस्पृहाः ॥२५९॥

अन्वयः—येषां भूषणं अङ्गसङ्गतरजः, स्थानं शिलायाः तलं, शय्या शर्करिला मही, गेहं सुविहिता द्वीपिनां गुहा, ते आत्मात्मीयविकल्पवीतमतयः त्रुट्यत्तमोग्रन्थयः, ज्ञानधनाः निस्पृहाः मुक्तिस्पृहा नः मनांसि पुनताम्।

है। अथवा शरीर के समान पुण्य सामग्री भी सहायक है, यह सोचकर लज्जा करते हैं। अपने आत्म प्रयोजन के कार्य में अपूर्व तैयारी के साथ रहते हैं। मनुष्यों में श्रेष्ठ वे नरसिंह मोहरहित निरीह होते हैं। पर्वत, भयंकर गुफा, गहन वन, कन्दरा अथवा बिलों में रहते हैं। वहाँ वे कर्म की अथवा शरीर रहित होने की विधि को संकल्प के साथ ध्याते हैं। यहाँ स्रग्धरा छन्द है ॥२५८॥

उत्थानिका—इस प्रकार के मुनिजन जहाँ कहीं भी रहते हैं वे मेरे चित्त को पवित्र करें, यह भावना करते हुए कहते हैं–

अन्वयार्थ—(येषां) जिनका **(भूषणं)** भूषण **(अङ्ग-सङ्गतरजः)** शरीर में लगी धूल है **(स्थानं)** स्थान **(शिलायाः तलं)** शिला का तल है **(शय्या)** शय्या **(शर्करिला मही)** बालू की धरती है **(गेहं)** घर **(सुविहिता)** अच्छी तरह बनी हुई **(द्वीपिनां)** सिंहों की **(गुहा)** गुफा है **(ते)** वे **(आत्मात्मीय-विकल्प-वीतमतयः)** मैं और मेरे के विकल्प से रहित बुद्धि वाले **(त्रुट्यत्तमोग्रन्थयः)** अन्धकार की ग्रन्थियों को तोड़ते हुए रहते हैं। **(ज्ञानधनाः निस्पृहाः)** ज्ञानधन वाले, निःस्पृह, **(मुक्तिस्पृहाः)** मुक्ति की इच्छा करने वाले **(नः)** हमारे **(मनांसि)** मन को **(पुनताम्)** पवित्र करें।

अर्थ—शरीर के साथ लगी धूलि ही जिनका आभूषण है, शिला तल ही जिनका आसन है, बालू वाली भूमि जिनकी शय्या है, व्याघ्रों की गुफा ही जिनका प्राकृतिक घर है वे 'मैं और मेरे' के विकल्पों से रहित बुद्धि वाले, अज्ञान अन्धकार की ग्रन्थियों को तोड़ते हुए, ज्ञान धन वाले, निरीह, मुक्ति के इच्छुक मेरे मन को पवित्र करें।

स्थान शिलातल जिनका भूषण निज तन पर जो धूल लगी।
रहें सिंह वह गुफा गेह हैं शय्या धरती शूलमयी ॥
यह मम यह मैं विकल्प छोड़े मोह ग्रन्थियाँ सब तोड़े।
शुद्ध करें मम मन को ज्ञानी निरीह शिव से मन जोड़े ॥२५९॥

येषामित्यादि। येषां मुनीनाम्। भूषणं मण्डनमलंकृतिर्वा। अङ्गसङ्गतरजः शरीरसम्बद्धजल्ल-मल्लादिकम्। अङ्गं शरीरम् तत्र सङ्गतं संलग्नं सम्बद्धं वा रजो धूलिकणस्तत्। तद्विविधम् जल्लमल्लादि-भेदेन। तत्र जल्लं घनीभूतं शरीरोपरिनिचितं कथ्यते रजः। मल्लं स्वेददिकमुच्यते। देहविषयेऽतीव-निःस्पृहताद्योतनार्थमेतत्। स्थानं षडावश्यकपरिपालनार्थं प्रदेशः। शिलायाः तलं पाषाणखण्डम्। येषामिति प्रतिपदं योज्यम्। शय्या शयनस्थानम्। शर्करिला शर्करायुक्ता। 'इलश्च देशे' इत्यनेन मत्वर्थे इलः। मही पृथ्वी। गेहं गृहम्। कथम्भूतम्? सुविहिता प्राकृता। द्वीपिनां व्याघ्राणाम्। 'शार्दूलद्वीपिनौ व्याघ्रे' इत्यमरः। गुहा कन्दरा। ते मुनयः। आत्मात्मीयविकल्पवीतमतयः 'तव मम' इति बुद्धिरहिताः। आत्मा स्वयं, आत्मीयः स्वकीयः। तयोर्विकल्पो भेदस्तस्मात् वीता रहिता मतिर्यस्य स तथोक्तस्ते। अयमात्मा अयं च मदीय इति सम्बन्धरहिताशयाः। उपलक्षणत्वादयम्। अयं परोऽयं च परकीयः इत्यपि सम्बन्धरहिताशया भवन्तीत्यर्थः। ते भवन्ति प्राकृता अपि सुसंस्कृताः स्वात्मसंस्कृतिपरत्वात्। ते भवन्ति संस्कृता अपि प्राकृताः प्रकृति-तत्त्वस्वात्मसात्कृतत्वात्। त एव परमार्थतया सन्त्युदारचरिताः। यदुक्तं-''अयं निजः परो वेति गणना लघुचेतसाम्। उदारचरितानां तु वसुधैव कुटुम्बकम्।'' पुनश्च कथम्भूताः? त्रुट्यत्तमोग्रन्थयः रागद्वेषाज्ञान-जनितविकल्पग्रन्थिभारविपन्ना। त्रुट्यत् खण्डयत् सत् तमः अज्ञानरूपान्धकारस्तस्य ग्रन्थयो बन्धनानि ते। पुनश्च किं विशिष्टाः? ज्ञानधनाः ज्ञानस्वरूपात्मा एव धनं निधिर्येषां ते। किंभूताः पुनश्च? निस्पृहाः निर्गता विनष्टा स्पृहा अभिलाषा सर्वस्मिन् विषये येभ्यस्ते। अपरञ्च किम्? मुक्तिस्पृहाः मोक्षाभिलाषिणः। मुक्तौ निबद्धा स्पृहा येषां ते। किमुक्तं भवति-ये मोक्षमात्रस्याभिलाषुकास्ते हि निःस्पृहास्ते हि ज्ञानधनास्तत्रैव रमणात्। ये हि व्यवहार-निश्चयनयाभ्यां कर्तृत्वभोक्तृत्वस्वामित्वतमोग्रन्थित्रयाणां प्राग् विज्ञाताः तेऽधुना

टीकार्थ—शरीर से सम्बद्ध जल्ल, मल्ल वाली रज जिन मुनियों का अलंकार है। यह शरीर से लगी रज दो प्रकार की होती है। शरीर पर इकट्ठी हुई घनीभूत धूलि होती है वह जल्ल कहलाती है। पसीना आदि मल्ल कहलाती है, उन मुनियों की शरीर के प्रति अत्यन्त निःस्पृहता होती है, यह कहा है। छह आवश्यकों का पालन करने के लिए स्थान पाषाणखण्ड होते हैं। कंकरीली पृथ्वी पर जो शयन करते हैं। जो स्वाभाविक बनी हुई सिंहों की गुफाएँ हैं वे जिनका घर है। वे मुनिराज 'तेरे मेरे' के विकल्प से रहित होते हैं। यह मैं हूँ, यह मेरा है, इसी तरह यह दूसरा है, यह दूसरे का है। वे मुनि ही संस्कृत होते हुए भी प्राकृत (स्वाभाविक) होते हैं क्योंकि उन्होंने प्रकृति के तत्त्वों को आत्मसात् कर लिया है। वे ही प्राकृत होते हुए भी संस्कृत होते हैं क्योंकि अपनी आत्मा के संस्कार में तत्पर रहते हैं। वे ही परमार्थ से उदार चरित्र वाले होते हैं। कहा भी है-''यह अपना अथवा पराया है, यह गिनती तो तुच्छ हृदय वाले करते हैं उदार चरित्र वालों को तो यह पृथ्वी ही कुटुम्ब है।''

वे मुनिराज रागद्वेषरूपी अज्ञान से उत्पन्न विकल्प ग्रन्थियों (बन्धनों) के भार से रहित होते हैं। ज्ञानस्वरूप आत्मा ही उनका धन है। सभी विषयों में जो इच्छा से रहित हैं किन्तु मुक्ति की अभिलाषा सहित है जो मोक्षमात्र की अभिलाषा करते हैं वे ही निःस्पृह होते हैं वे ही ज्ञानधन वाले होते हैं क्योंकि ज्ञानस्वरूप आत्मा में रमण उन्हीं का होता है। व्यवहार-निश्चयनय के द्वारा कर्तृत्व, भोक्तृत्व,

शुद्धनिश्चयस्य विशुद्धात्मद्रव्यं वैषयिकं वेद्यमानास्तमोग्रन्थित्रयं त्रुट्यन्ति। तद्यथा–परद्रव्यविषये यद्भावो मया कृतः, तस्य तत्समयेऽहं भोक्ता स्वामी च। ततः परनिमित्तेन आत्मनि रागादिभावासंभाविनी परिणतिरेवात्मात्मीयविकल्पवीतमतिरिति। नः अस्माकम्। मनांसि चेतांसि। पुनतां विशुद्धिं वर्धन्ताम्। उन्नत-मानसानां गुणस्मरणमुन्नतेः कारणमिति भावः। वीतराग सम्यग्दृशां शुद्धोपयोगप्रमुखात्मलीनानां मुनीनां प्रायशो विरलात् एषा प्रार्थना। शार्दूलविक्रीडितवृत्तम् ॥२५९॥

पुनरपि तेषां गुणान् प्रशंसयन्नाह–

(शार्दूलविक्रीडित)

दूरारूढतपोऽनुभावजनितज्योतिःसमुत्सपर्णै ,
रन्तस्तत्त्वमदः कथं कथमपि प्राप्य प्रसादं गताः।
विश्रब्धं हरिणीविलोलनयनैरापीयमाना वने
धन्यास्ते गमयन्त्यचिन्त्यचरितैर्धीराश्चिरं वासरान् ॥२६०॥

अन्वयः–(ये) दूरारूढतपोऽनुभावजनितज्योतिःसमुत्सपणै अदः अन्तस्तत्त्वं कथं कथमपि प्राप्य प्रसादं गताः, वने हरिणीविलोलनयनैः विश्रब्धं आपीयमानाः, ते धन्या, धीराः चिरं वासरान् अचिन्त्यचरितैः गमयन्ति।

स्वामित्व-रूपी अन्धकार की ग्रन्थियों के जो पहले ज्ञाता थे वे ही अब शुद्धनिश्चयनय के विषयभूत शुद्धात्मद्रव्य का अनुभव करते हुए तीनों ग्रन्थियों को तोड़ते हैं। वह इस प्रकार है–पर द्रव्य के विषय में जो मैंने भाव किया उसका उसी समय में भोक्ता और स्वामी होता हूँ। इसलिए पर निमित्त से आत्मा में राग आदि उत्पन्न नहीं होने वाली परिणति ही मैं और मेरे के कर्तृत्व, स्वामित्व से रहित होती है, ऐसे मुनिराज मेरे चित्त को पवित्र करें, मेरे चित्त की विशुद्धि को बढ़ावें। उन्नत मानस वालों का गुणस्मरण उन्नति का कारण होता है, यह भाव है। वीतराग सम्यग्दृष्टियों, शुद्धोपयोग की मुख्यता से आत्मा में लीन श्रमणों की प्रायः विरलता है इसलिए यह प्रार्थना है। यहाँ शार्दूलविक्रीडितछन्द है ॥२५९॥

उत्थानिका–पुनः उनके गुणों की प्रशंसा करते हुए कहते हैं–

अन्वयार्थ–(दूरारूढतपोऽनुभावजनितज्योतिः समुत्सर्पणैः) बहुत बढ़े हुए तप के प्रभाव से उत्पन्न ज्ञान ज्योति के फैलाव से **(अदः)** इस **(अन्तस्तत्त्वं)** अन्तरंग तत्त्व को **(कथं कथमपि)** जिस किसी भी तरह **(प्राप्य)** प्राप्त करके **(प्रसादं गताः)** प्रसन्न होते हैं। **(वने)** वन में **(हरिणी-**

जिनमें अतिशय तप बल से वर ज्ञान ज्योति वह उदित हुई।
किसी तरह भी निज को पाये तप्त चेतना मुदित हुई॥
चपल सभय मृग अचल अभय हो वन में जिनको लखते हैं।
धन्य साधु चिरकाल बिताते अचिन्त्य चारित रखते हैं ॥२६० ॥

दूरारूढेत्यादि। ये इति पदं योज्यम्। दूरारूढतपोऽनुभावजनितज्योतिःसमुत्सर्पणैः चिरकालवासित-तपःसामर्थ्यबलसमुत्पन्नज्ञानज्योतिः प्रसारैः। दूरारूढं परमप्रकर्षप्राप्तं तच्च तत्तपश्च तस्यानुभावः सामर्थ्यं तेन जनितं च तज्ज्योतिः परमार्थज्ञानं तस्य समुत्सर्पणैः विस्तरैः प्रसारैः वातैः। अदः तत्। अन्तस्तत्त्वं परमपारिणामिकभावगतात्मज्ञानम्। कथं कथमपि महता कष्टेन। आभीक्ष्ण्ये द्विः। प्राप्य अनुभाव्य। प्रसादं सत्यात्मसुखप्रसन्नताम्। गताः प्राप्ताः। एतेन परमपारिणामिक-भावस्यानुभवविधिः प्रोक्तः। प्रोक्तं च-

''एकोभावः स जयति सदा पंचमः शुद्धशुद्धः
कर्मारिति स्फुटितसहजावस्थया संस्थितो यः।
मूलं मुक्तेर्निखिलयमिनामात्मनिष्ठापराणां
एकाकारः स्वरसविसरापूर्णपुण्यः पुराणः ॥१६०॥'' नि.सा.टी.

पुनश्च कथम्भूताः? वने निर्जनारण्यस्थाने। हरिणीविलोलनयनैः मृगीचपलनेत्रैः। विश्रब्धं विश्वासपूर्वं यथास्यात्तथा। क्रियाविशेषणमेतत्। आपीयमानाः निश्छलतपःप्रभावसमुत्पन्न-निर्भयबुद्ध्या प्रेक्ष्यमाणाः। भवन्तीति क्रियाध्याहारः। ते मुनयः। धन्या जीवितसाफल्याः। धीराः श्रद्धानमात्रेण श्रद्धेयसुखं यः प्रेक्षते स धीरस्ते तथोक्ताः। चिरं बहुतरकालम्। वासरान् दिवसान्। अचिन्त्यचरितैः परेषां बुद्धेरगोचरत्वादचिन्त्यम्।

विलोल-नयनैः) हरिणी के चंचल नयनों के द्वारा **(विश्रब्धं)** विश्वास के साथ **(आपीयमानाः)** जो देखे जाते हैं **(ते धन्याः)** वे धन्य हैं **(धीराः)** ऐसे धीर पुरुष **(चिरं)** बहुत काल तक **(वासरान्)** दिनों को **(अचिन्त्यचरितैः)** अचिन्त्य चरित्र सहित **(गमयन्ति)** व्यतीत करते हैं।

अर्थ—जो अतिशय उत्कृष्ट तप की सामर्थ्य से उत्पन्न ज्ञान ज्योति के विकसित होने से इस अन्तरंग आत्मतत्त्व को किसी-किसी तरह से भी प्राप्त करके आनन्दित होते हैं और जो वन में हरिणी के चंचल नयनों से विश्वास के साथ बार-बार देखे जाते हैं, वे पुरुष धन्य हैं। ऐसे धीर मुनि ही अपने अचिन्त्यचरित्र के द्वारा बहुत काल तक दिनों को व्यतीत करते हैं।

टीकार्थ—चिरकाल से किए हुए तप की सामर्थ्य से उत्पन्न ज्ञान ज्योति के प्रसार से परम पारिणामिक भावगत आत्मज्ञानरूप अन्तरंग परम आत्मतत्त्व बहुत कष्ट से प्राप्त करके सच्चे आत्मिक सुख की प्रसन्नता को प्राप्त होते हैं। इस कथन से आचार्यदेव ने परमपारिणामिक भाव की अनुभव विधि बताई है। कहा भी है-

''जो कर्म की दूरी के कारण प्रकट सहजावस्थापूर्वक विद्यमान है, जो आत्मनिष्ठा में तत्पर सभी मुनियों की मुक्ति का मूल है, जो एकाकार है, जो निज रस के विस्तार से भरपूर होने के कारण पवित्र है, जो सनातन है, वह शुद्धों में भी शुद्ध एक पंचमभाव सदा जयवन्त हो।''

निर्जन अरण्य स्थान में हरिणी के चपल नेत्रों से विश्वास पूर्वक जो देखे जाते हैं। मुनि के निश्छल तप के प्रभाव से उत्पन्न निर्भय बुद्धि वाली हरिणी से जो देखे जाते हैं, उन्हीं का जीवन सफल है। श्रद्धामात्र से जो श्रद्धा योग्य सुख को देखते हैं वे धीर हैं। दूसरों की बुद्धि के अगोचर अचिन्त्य चारित्र

अचिन्त्यं च तच्च चरितं तत् तैः निर्विकल्पशुद्धात्मवीतरागभावलीनैरित्यर्थः। यद्वा शुद्धात्मतत्त्वप्राप्ता अचिन्त्याः साध्यभूताः कथ्यन्ते। तत्र चरितं चरणं संलग्नता येषां ते तथोक्तास्तैरिति। गमयन्ति यापनं कुर्वन्ति। शार्दूलविक्रीडितवृत्तम् ॥२६०॥

पुनश्चाह–

(शार्दूलविक्रीडित)

येषां बुद्धिरलक्ष्यमाणभिदयोराशात्मनोरन्तरं
गत्वोच्चैरविधाय भेदमनयोरारान्न विश्राम्यति।
यैरन्तर्विनिवेशिताः शमधनै-र्बाढं बहिर्व्याप्तय-
स्तेषां नोत्र पवित्रयन्तु परमाः पादोत्थिताः पांसवः ॥२६१॥

अन्वयः—आशात्मनोः अलक्ष्यमाणभिदयोः अन्तरं गत्वा अनयोः भेदं उच्चैः अविधाय येषां बुद्धिः आरात् न विश्राम्यति, यैः शमधनैः बहिर्व्याप्तयः बाढं अन्तर्विनिवेशिताः, तेषां पादोत्थिताः परमाः पांसवः अत्र नः पवित्रयन्तु।

ही निर्विकल्प शुद्धात्मा के वीतराग भाव में लीन श्रमणों को होता है। उस अचिन्त्य चारित्र से जो बहुत काल तक दिवसों को व्यतीत करते हैं। अथवा शुद्धात्म तत्त्व को प्राप्त, साध्यभूत चारित्र को ही यहाँ अचिन्त्य कहा है। उस आचरण में लीनता जिनकी है वे ही इस तरह बहुत काल व्यतीत करते हैं। यहाँ शार्दूलविक्रीडित छन्द है ॥२६०॥

उत्थानिका—पुनः कहते हैं–

अन्वयार्थ—(आशात्मनोः) आशा और आत्मा में **(अलक्ष्यमाणभिदयोः)** नहीं दिखाई देने वाले भेदों के **(अन्तरं)** अन्तर को **(गत्वा)** करके **(भेदं उच्चैः)** उत्कृष्ट भेद **(अविधाय)** किए बिना **(येषां)** जिनकी **(बुद्धिः)** बुद्धि **(आरात्)** तुरन्त **(न विश्रामयति)** विश्राम नहीं लेती है **(यैः)** जिन **(शमधनैः)** शमरूपी धन रखने वालों ने **(बहिर्व्याप्तयः)** बाहर की व्याप्ति को **(अन्तर्विनिवेशिता)** अन्तरंग में स्थापित की है **(तेषां)** उनके **(पादोत्थिताः)** चरणों से उड़ी हुई **(परमाः)** पवित्र **(पांसवः)** धूल **(अत्र)** इस संसार में **(नः)** हमको **(पवित्रयन्तु)** पवित्र करे।

अर्थ—इच्छा और आत्मा में नहीं दिखने वाले भेद में भी अन्तर को प्राप्त करके उत्कृष्ट भेद को किए बिना जिनकी बुद्धि नहीं रुकती है और जिन्होंने शमरूपी धन से चित्त की बाह्य वृत्तियों को अपने अन्तरंग में रोक लिया है उनके चरणों की उड़ी हुई परम धूलि हमको पवित्र करे।

आशा आतम में जो अन्तर अज्ञ जनों को ज्ञात नहीं।
उस अन्तर को ज्ञात किये बिन होते बुध विश्रान्त नहीं॥
बाह्य विषय से हटा मनस को निज में नियमित अचल रहें।
शम धन धारे उन मुनि पद रज मम मन को अति विमल करे ॥२६१॥

येषामित्यादि। आशात्मनोः आशा इच्छा मनोविकल्पः, आत्मा ज्ञानपरिणतिः। आशा चात्मा चाशात्मानं तयोः संयोगसिद्धस्वभावसिद्धभावयोरित्यर्थः। कथम्भूतयोः? अलक्ष्यमाणभिदयोः अलक्ष्यमाणा अदृश्यमाना च भिदा भेदोऽन्तरं वा सा तयोः। अविवेकिभिर्भेदविज्ञानशून्यैस्तयोर्भेद- विषयाविषयी- कृतत्वात्। यद्वा अलक्ष्यमाणा अनिश्चीयमाना भिदा व्यवहारज्ञैस्तयोरिति। अन्तरं भेदम्। गत्वा कृत्वा विज्ञाय। अनयोः आशात्मनोः। भेदं भेदविज्ञानम्। उच्चैः अतिशयेन। अविधाय अकृत्वा। येषां मुनीनाम्। बुद्धिर्मतिः। आरात् अवान्तरे। न प्रतिषेधार्थे। विश्राम्यति विश्रामं करोति। या खल्वनुभूतिर्भेदविज्ञानाभावात् संयोगसिद्धभावेषु सदाऽनिश्चीयमाना वर्त्तते सैव यावद् भेदविज्ञानरसिकैर्भिन्नतां नानीयते तावद् ते निःशङ्कतया नासते अन्यत्रसत्यनिष्ठसौख्यानुभवनाभावात्। एतावताऽऽत्मसौख्यैषिणामात्मसुखानुभवन- तीव्रोत्कटता शुद्धात्मानुभूति-रूपा प्रदर्शिता। 'यो यत्र रमते तस्मादन्यत्र स न जायते' इति निर्वचनादतीवा रुचिः सिद्धा। यैः श्रमणैः। शमधनैः शमः परमोपशान्तभाव एव धनं येषां ते तैः। यद्वा शम एव धनं निधिस्तं तैः करणभूतैः। शमस्य साधकतमस्य संसूचना प्रणीता। बहिर्व्याप्तयः बाह्यवस्तुविकल्पाः। बाढमत्यर्थम्। अन्तर्विनिवेशिताः अन्तरात्मस्वरूपे विनिवेशिताः प्रविष्टाः। बहिर्व्याप्तकाश्चित्तवृत्तयः सम्प्रति भवन्त्यन्त- र्व्याप्तयः। तेषां मुनीनाम्। पादोत्थिताः पादेनोत्थिताः उद्धूलिताः ताः। परमाः पवित्रीभूताः। पांसवः रजःकणाः। अत्र अस्मिन् क्षणे। नः अस्माकं। पवित्रयन्तु पवित्रं कुर्वन्तु। शार्दूलविक्रीडितवृत्तम् ॥२६१॥

टीकार्थ—इच्छा मन का विकल्प है। ज्ञान की परिणति आत्मा है। आत्मा और इच्छा में संयोग सिद्ध और स्वभाव सिद्ध सम्बन्ध है। इन दोनों के बीच का अन्तर दिखाई नहीं देता है। अथवा यूँ कहें कि व्यवहार मात्र को जानने वालों को इन आत्मा और इच्छा के बीच का भेद निश्चित नहीं होता है। इन दोनों में भेद को जानकर भेदविज्ञान की उत्कृष्टता जब तक नहीं हो जाती तब तक इन मुनियों की बुद्धि अन्य कहीं पर नहीं टिकती है। जो निश्चय से अनुभूति है वह भेदविज्ञान के अभाव से संयोगसिद्ध भावों में सदा बिना निश्चय के रहती है वही जब तक भेदविज्ञान के रसिकों द्वारा भिन्नता को प्राप्त नहीं की जाती है, तब तक वे निश्चिन्त होकर नहीं बैठते हैं क्योंकि उन्हें ज्ञात है कि अन्यत्र सत्यनिष्ठ सुख की अनुभूति का अभाव है। इस कथन से आत्मसुख चाहने वालों की आत्मसुख के अनुभव की तीव्र उत्कण्ठा दर्शायी है वह उत्कण्ठा शुद्धात्मा की अनुभूति रूप होती है। ''जो जहाँ रमण करता है वह वहाँ से अन्यत्र नहीं जाता है।'' इस वचन से उनकी अत्यधिक रुचि सिद्ध है। परम उपशान्त भाव ही जिनका धन है अथवा शमभाव की निधि के द्वारा बाह्य वस्तु सम्बन्धी विकल्पों में जाने वाली चित्तवृत्ति को अन्तरंग आत्म स्वरूप में प्रविष्ट करा दिया है अर्थात् भेदविज्ञान के समय चित्त की वृत्तियाँ बाहर से अन्तरंग में व्याप्त हो जाती हैं। उन मुनिराजों के चरणों से उठी हुई पवित्र धूलि इस क्षण हमको पवित्र करे। यहाँ शार्दूलविक्रीडित छन्द है ॥२६१॥

भावार्थ—भेदविज्ञान से रहित व्यवहार मात्र को जानने वालों को यह समझ नहीं आता है कि संयोग सिद्ध सम्बन्ध क्या है और स्वभाव सिद्ध सम्बन्ध क्या है ? वह एकान्ती आत्मा और इच्छा

इदानीं शुभशुद्धभावयोरनुसरणकृतान् प्रशंसयन्नाह–

(शार्दूलविक्रीडित)

यत्प्राग्जन्मनि सञ्चितं तनुभृता कर्माशुभं वा शुभं
तद्दैवं तदुदीरणादनुभवन् दुःखं सुखं वागतम्।
कुर्याद्यः शुभमेव सोऽप्यभिमतो यस्तूभयोच्छित्तये
सर्वारम्भपरिग्रहग्रहपरित्यागी स वन्द्यः सताम् ॥२६२॥

अन्वयः—तनुभृता प्राक् जन्मनि यत् कर्म अशुभं शुभं वा सञ्चितं तत् दैवं तत् उदीरणात् आगतं सुखं दुःखं वा अनुभवन् यः शुभं एव कुर्यात् सः अपि अभिमतः, यः तु सर्वारम्भपरिग्रहग्रहपरित्यागी उभयोच्छित्तये सः सतां वन्द्यः।

के बीच स्वभाव सिद्ध सम्बन्ध ही समझता है। इसके विपरीत जो भेदविज्ञान के अभिलाषी मुनि हैं उनकी बुद्धि जब तक भेदविज्ञान करके आत्मा और इच्छा को अलग-अलग नहीं अनुभूत कर लेती है तब तक उनकी बुद्धि अन्य किसी कार्य में नहीं लगती है, नहीं टिकती है। यह तात्पर्य है।

उत्थानिका—अब यहाँ शुभ-शुद्ध भावों का अनुसरण करने वालों की प्रशंसा करते हुए कहते हैं–

अन्वयार्थ—**(तनुभृता)** शरीरधारी के द्वारा **(प्राक्)** पिछले **(जन्मनि)** जन्म में **(यत् कर्म)** जो कर्म **(अशुभं शुभं वा)** अशुभ या शुभ **(सञ्चितं)** संचित हुआ है **(तत् दैवं)** वह दैव है **(तत् उदीरणात्)** उसकी उदीरणा से **(आगतं)** आने वाले **(सुखं दुःखं वा)** सुख वा दुःख का **(अनुभवन्)** अनुभव करता हुआ **(यः)** जो **(शुभं एव)** शुभ ही **(कुर्यात्)** करे **(सः अपि)** वह भी **(अभिमतः)** स्वीकृत है। **(यः तु)** और जो **(सर्वारम्भ परिग्रह-ग्रह-परित्यागी)** सर्व आरम्भ-परिग्रहरूप ग्रह का त्यागी है **(उभयोच्छित्तये)** शुभ-अशुभ दोनों के नाश के लिए **(सः)** वह **(सतां)** सज्जनों से **(वन्द्यः)** वन्दनीय है।

अर्थ—जीव ने पूर्व जन्म में जो शुभ या अशुभ कर्म उपार्जित किया है वह उसका भाग्य है। उस भाग्य की उदीरणा से जीव सुख-दुःख का अनुभव करता है। जो जीव शुभ को ही करे वह भी आदरणीय है और जो सभी आरम्भ परिग्रहरूप पिशाच को छोड़कर शुभ-अशुभ दोनों के नाश के लिए प्रयत्न करे वह भी सज्जनों से वन्दनीय है।

पूर्व जन्म में बँधा शुभाशुभ कर्म वही बस दैव रहा।
वही उदय में आता सुख-दुख पाता तू स्वयमेव अहा॥
स्तुत्य रहें शुभ करते केवल किन्तु वन्द्य वे मुनिजन हैं।
शुभाशुभों को पूर्ण मिटाने तजे संग धन परिजन हैं॥२६२॥

यत्प्रागित्यादि। तनुभृता देहधारिणा। तनुं शरीरं बिभर्ति स तनुभृत्। क्विप् प्रत्ययात्। तेन। प्राक् पुरा। जन्मनि काले संसारे वा। यत् कर्म पुद्गलवर्गणा-सङ्घातम्। अशुभं पापभावजनितम्। शुभं पुण्यभावजनितम्। वा समुच्चये विकल्पे वा। एकान्ततो न कोऽपि सञ्चिनोति कर्म शुभमशुभं वा प्रत्युतोभयात्मकं यतः। तत् सञ्चितं कर्म। दैवं भाग्यो विधि वोच्यते। लौकिकैस्तदीश्वरकृतमिति भण्यते। तत् कर्म। उदीरणात् बलादुदये दीयमानात्। आगतं उदयप्राप्तम्। सुखं सातादि। दुःखमसातादि। वा विकल्पे। अनुभवन् अनुभवं कुर्वन् वेदयन्नित्यर्थः। यः कश्चिद् जनः। शुभं शुभोपयोगम्। एवावधारणे। कुर्यात् करोति। सः जनः। अपि स्फुटम्। अभिमतः प्रशस्तो मान्यो वा। शमभावेन सुखदुःखादिकं वेदयन्नपि न खेदमृच्छति अपि तु शुभोपयोगं हि विदधाति सोऽपि जनो मोक्षमार्गी स्यात् विपाकविचयधर्मध्याने प्रवणाच्चाशुभोपयोगवञ्चनाच्च। यः कश्चिज्जनः। तु अवधारणे। सर्वारम्भपरिग्रह-ग्रहपरित्यागी-आरम्भा योगत्रयप्रवृत्तयः, परिग्रहाः तवेदं ममेदमिति बुद्धिविकल्पाः। सर्वे च ते आरम्भपरिग्रहाः सर्वारम्भपरिग्रहास्त एव ग्रहाः पिशाचास्तान् परि आ समन्तात् त्यजतीति स तथोक्तः। किमर्थम्? उभयोच्छित्तये शुभाशुभकर्मपरित्यागाय। शुभाशुभकर्मणामुच्छित्तिर्विनाशो वा तस्मै। तादर्थ्ये अप्। सः जनः। सतां साधूनां। वन्द्य वन्दनीयः। 'तृज्व्यश्चार्हे' इत्यर्हेऽर्थेव्यः। यश्च उभयकर्मविनाशाय शुद्धोपयोगे प्रयतते स बन्द्यः। शुद्धोपयोगे उभयकर्मणामास्रवाभावाच्च ज्ञानचेतनासंचेतनाच्चोभयकर्मविनाशनं कथ्यते। कथं सम्भवेत्तत्र

टीकार्थ—जो शरीर को धारण करे वह संसारी प्राणी है। इस संसारी प्राणी ने पहले इस संसार में पुद्गल वर्गणा के समूहरूप कर्म का बन्ध किया है। वह कर्म पाप भाव से उत्पन्न हुआ अशुभ और पुण्य भावों से उत्पन्न हुआ शुभ है। एकान्त से कोई भी शुभ या अशुभ कर्म का संचय नहीं करता है किन्तु शुभ-अशुभ दोनों कर्मों का करता है। वह संचित कर्म दैव, भाग्य और विधि कहलाता है। लौकिक लोग इसी को कहते हैं जो कुछ हुआ वह ईश्वर ने किया है। बलपूर्वक कर्म को उदय में लाना उदीरणा है। उदय को प्राप्त है वह आगत है। साता आदि सुख एवं असाता आदि दुःख का अनुभव करता हुआ, जो कोई शुभोपयोग करता है वह भी प्रशस्त और मान्य है। जो समभाव से सुख, दुःख आदि का वेदन करता हुआ भी खेद को प्राप्त नहीं होता है अपितु शुभोपयोग ही करता है वह आत्मा भी मोक्षमार्गी है क्योंकि वह विपाक विचय धर्मध्यान में प्रवण है और अशुभोपयोग से दूर है। तीनों योगों की प्रवृत्ति आरम्भ है। यह तेरा है, यह मेरा है, ऐसी बुद्धि का विकल्प परिग्रह है। ये आरम्भ और परिग्रह ही पिशाच हैं। शुभ-अशुभ कर्म के परित्याग के लिए जो सभी आरम्भ और परिग्रह छोड़ देता है वह वन्दनीय हैं। अर्थात् जो शुभ-अशुभ कर्म के विनाश के लिए शुद्धोपयोग में प्रवृत्ति करते हैं, वे वन्दनीय है। शुद्धोपयोग में दोनों कर्मों के आस्रव का अभाव होने से और ज्ञानचेतना का संचेतन करने से उभय कर्म का विनाश कहा जाता है।

शंका—उस शुद्धोपयोग में ज्ञान चेतना कैसे संभव है जब कि अर्हत् सिद्धों में ही वह संभव है।

समाधान—ऐसा नहीं है, विवक्षा के कारण यह भी कहा जाता है। चूँकि शुद्धोपयोग में

ज्ञानचेतना अर्हत्सिद्धेषु एव तत्सम्भवादिति चेन्न; विवक्षावशात् यतः शुद्धोपयोगे नैगमनयावलम्बनाज् ज्ञानचेतनामयीप्रवृत्तिरुच्यते श्रेण्यामुपशमक्षपणव्यपदेशवत्। यदुक्तम्–

''पापं तु देहात्मतया क्रियेत, पुण्यं तदन्तर्गतया श्रियेत।
अज्ञानसंचेतनिकेतिवृत्तिरुपर्यतो ज्ञानमयीप्रवृत्तिः॥'' ॥२६२॥

कर्मणामुभयेषामुच्छित्तये किं हेतुरित्यत्राह–

(शिखरिणी)

सुखं दुःखं वा स्यादिह विहितकर्मोदयवशात्
कुतः प्रीतिस्तापः कुत इति विकल्पाद्यदि भवेत्।
उदासीनस्तस्य प्रगलति पुराणं न हि नवं
समास्कन्दत्येष स्फुरति सुविदग्धो मणिरिव ॥२६३॥

नैगमनय का अवलम्बन लेने से ज्ञानचेतनामयी प्रवृत्ति कही जाती है। जैसा कि श्रेणी में उपशम और क्षपक का कथन किया जाता है। कहा भी है–

''देह और आत्मा की एकता से पाप किया जाता है, उनके अन्तर से पुण्य का आश्रय किया जाता है। अज्ञान चेतना की वृत्ति इन दोनों आस्रवों में होती है। इसके ऊपर ज्ञानमयी वृत्ति होती है।''॥२६२॥

उत्थानिका–दोनों कर्मों के नाश के लिए क्या हेतु है, यह कहते हैं–

अन्वयार्थ–(इह) इस संसार में **(विहित कर्मोदयवशात्)** किये हुए कर्म के उदय के कारण **(सुखं दुःखं वा स्यात्)** सुख या दुःख होता है **(कुतः प्रीतिः)** कैसी प्रीति ? **(कुतः तापः)** कैसा ताप **(इति)** इस प्रकार के **(विकल्पात्)** विकल्प से **(यदि)** यदि **(उदासीनःभवेत्)** उदासीन होवे **(तस्य)** उसके **(पुराणं)** पुराने कर्म **(प्रगलति)** गलते हैं **(नवं न हि समास्कन्दति)** नये कर्म नहीं बंधते है **(एषः)** यह आत्मा **(सुविदग्धः)** विवेकी हुआ **(मणिः इव)** मणि के समान **(स्फुरति)** प्रकाशमान होता है।

अर्थ–इस संसार में पूर्वोपार्जित कर्म के उदय से कभी सुख होता है तो कभी दुःख होता है। इस सुख में कभी प्रीति होती है, दुःख में खेद होता है। इन विकल्पों से उदासीन होकर जो पुराने कर्म को गलाते हैं और नये कर्म का बंध नहीं करते हैं वे विवेकी जीव मणि के समान प्रकाशित होते हैं।

सुख होता या दुख होता जब किया कर्म का स्वफल रहा।
हर्ष भाव क्यों खेद भाव क्यों करना, करना विफल रहा ॥
इस विध विचार, विराग यदि हो नया बँध ना फिर बनता।
पूर्व कर्म सब झड़े साधु तब मणि सम मंजुलतर बनता ॥२६३॥

अन्वयः—इह विहितकर्मोदयवशात् सुखं दुःखं वा स्यात्, कुतः प्रीतिः कुतः तापः इति विकल्पात् यदि उदासीनः भवेत् तस्य पुराणं प्रगलति, नवं न हि समास्कन्दति, एष सुविदग्धः मणिः इव स्फुरति।

सुखमित्यादि। इह अस्मिन् भवे। विहितकर्मोदयवशात् पूर्वोपार्जितकर्मोदयकारणात्। सुखं प्रशस्त-भावाः। दुःखमप्रशस्तभावाः। वा समुच्चये। स्यात् भवेत्। कुतः प्रीतिः प्रेम। कुतः तापः खेदः। इति विकल्पात् भेदज्ञानात्। यदि उदासीनः मध्यस्थः। भवेत् स्यात्। तस्य पुराणं पुरातनं कर्म। प्रगलति निर्जरति। नवमभिनवं नूतनं वा। न हि निषेधे। समास्कन्दति बध्नाति। एष उदासीनात्मा। सुविदग्धः विवेकी, मणिपक्षे अति-निर्मलः। मणिः रत्नविशेषः। इवोपमायाम्। स्फुरति प्रकाशवान् भवति। अयं तु विशेषः—सकलारम्भ-परिग्रहाभ्यां बुद्धिपूर्विकया विमुक्तः श्रमणो देशोनपूर्वकोटिकालपर्यन्तं किं करोतीत्यत्र निगदितम्। सप्ततत्त्वं श्रद्दधानः सोऽप्रमत्ततयाऽवतिष्ठमानो न किमपि करोति। कर्मबद्धात्माऽनुभवति सातासातं नोकर्म-साहाय्येनेति धारणावशात् तापप्रीत्योः कुतोऽवकाशः। तेन भवति स्वात्मविषये जागरूकः व्यवहारनिश्चय धर्मशुक्लध्यानविलंबनात्। स्वयमेवोदयागतकर्म निपतति पुनरपि न बध्नाति, कर्मविपाके रत्यरत्यभावात्। तस्मान्निर्मलमणिरिव संवरनिर्जरावानात्मा नितान्तं स्फुरति प्रतिकारविकाराभावात् धर्मशुक्लध्यानकरनि-करैरिति। शिखरिणीवृत्तम् ॥२६३॥

एषा वृत्तिर्विश्वेषामाश्चर्यभूमिरित्यत्र प्रवदति—

टीकार्थ—प्रशस्त भाव सुख है। अप्रशस्त भाव दुःख है। इन सुख, दुःख में प्रेम और खेद करने से क्या है ? इस भेदज्ञान से यदि उदासीन होवे, मध्यस्थ होवे तो उसके पुरातन कर्मों की निर्जरा होती है और नये कर्मों का बन्ध नहीं होता है। यह उदासीन आत्मा ही विवेकी है जो अतिनिर्मल मणि के समान प्रकाशमान् होता है। यहाँ विशेष यह है कि—सकल आरम्भ, परिग्रहों से बुद्धिपूर्वक छूटा हुआ श्रमण कुछ कम पूर्व कोटि काल तक क्या करता है ? वह कहते हैं। सात तत्त्वों का श्रद्धान करने वाला वह अप्रमत्तरूप से रहता हुआ कुछ नहीं करता है। ''कर्म से बद्ध आत्मा नोकर्म की सहायता से साता-असाता का अनुभव करता है।'' इस धारणा के कारण खेद और प्रेम में उसे अवकाश ही कैसे मिले? अर्थात् नोकर्म में खेद या प्रेम करने से क्या प्रयोजन ? जिस कारण से वह स्वात्मा के विषय में जागरुक होता है क्योंकि वह व्यवहार निश्चयरूप धर्म और शुक्लध्यान का आलंबन लेता है। उस योगी के स्वयं उदय में आए हुए कर्म छूट जाते हैं और पुनः नए कर्म नहीं बँधते हैं। क्योंकि कर्म के विपाक में उसके रति-अरति का अभाव होता है। इसलिए निर्मलमणि के समान संवर-निर्जरा करने वाला आत्मा सदैव प्रकाशित होता है क्योंकि धर्मध्यान और शुक्लध्यान की किरणों के समूह से कर्मोदय का प्रतिकार नहीं करता है। यहाँ शिखरिणी छन्द है ॥२६३॥

उत्थानिका—यह वृत्ति सभी के लिए आश्चर्य की भूमि है, यह कहते हैं—

(मालिनी)

सकलविमलबोधो देहगेहे विनिर्यन्
ज्वलन इव स काष्ठं निष्ठुरं भस्मयित्वा।
पुनरपि तदभावे प्रज्वल्त्युज्ज्वलः सन्
भवति हि यतिवृत्तं सर्वथाश्चर्यभूमिः ॥२६४॥

अन्वयः—देहगेहे सकलविमलबोधः ज्वलन इव विनिर्यन् स काष्ठं निष्ठुरं भस्मयित्वा पुनरपि तदभावे उज्ज्वलः सन् प्रज्वलति। यतिवृत्तं सर्वथा आश्चर्यभूमिः हि भवति।

सकलविमलेत्यादि। देहगेहे देह एव गेहं गृहं तत्र। परमौदारिकशरीर इत्यर्थः। कोऽसौ? सकलविमलबोधः सकलः सम्पूर्णमशेषद्रव्याणां त्रिकालभवगुणपर्याय-सङ्घातः। विमलः स्वच्छादर्शवत् पदार्थप्रतिभासहेतुत्वात् कथ्यते। सकलश्च विमलश्च सकलविमलम्। तच्चासौ बोधः ज्ञानं स केवलज्ञानमित्यर्थः। केवलज्ञाने सकलवस्तुकदम्बकमादर्शाभिमुखं तात्कालिकमिवावभाति। पूर्वोक्तोदासीन विधिना कर्मनिर्जराफलमेतत्। ज्वलनः अग्निः। इव उपमायाम्। विनिर्यन् विनिर्गच्छन् प्रादुर्भवन्नित्यर्थः। सः

अन्वयार्थ—(देहगेहे) देहरूपी शरीर में **(सकल-विमल-बोधः)** समस्त निर्मल ज्ञान **(ज्वलन इव)** अग्नि के समान **(विनिर्यन्)** निकलता हुआ **(स)** वह **(काष्ठं)** लकड़ी को **(निष्ठुरं)** निष्ठुररूप से **(भस्मयित्वा)** भस्म करके **(पुनरपि)** फिर **(तदभावे)** उस भस्म के अभाव में **(उज्ज्वलः सन्)** प्रकाश करता हुआ **(प्रज्वलति)** प्रकाशित होता है **(यतिवृत्तं)** यति का चरित्र **(सर्वथा)** सर्वथा **(आश्चर्यभूमिः)** आश्चर्य की भूमि **(हि)** ही **(भवति)** होता है।

अर्थ—जैसे लकड़ी को निष्ठुररूप से भस्म करके और फिर उस भस्म के अभाव में प्रकाश देते हुए अग्नि जलती रहती है उसी प्रकार शरीर की भस्म बन जाने पर भी आत्मा समस्त निर्मल ज्ञान अर्थात् केवलज्ञान के साथ प्रकाशित होता है। सच है यति का चरित्र सर्वथा आश्चर्य की भूमि होता है।

टीकार्थ—यहाँ देह से तात्पर्य परम औदारिक शरीर से है। यह शरीर ही घर है। सभी द्रव्यों की तीन काल में होने वाली गुण-पर्यायों का समूह निर्मल दर्पण के समान प्रतिभास का कारण है इसलिए इस ज्ञान को सकल और विमल कहा है। इस केवलज्ञान में समस्त वस्तुओं का समूह दर्पण के अभिमुख हुए के समान तत्काल के समान ही दिखता है। पहले कही गई उदासीन विधि से कर्म निर्जरा का यह फल है। यह ज्ञान ही अग्नि है और शरीर अचेतन होने से काष्ठ के समान है। जैसे बने वैसे

पूर्ण विमल निज बोध अनल वह देह गेह में जनम लिया।
यथा काष्ठ को अनल जलाता अदय बना तन भसम किया॥
हुई राख तन तदुपरांत भी उद्दीपित हो जलता है।
विस्मयकारक साधु चरित है पता न बल का चलता है॥२६४॥

अग्निः। काष्ठं काष्ठमिव काष्ठं। 'देवपथादिभ्य' इतीवार्थस्य कस्योस्। अचेतनशरीरमित्यर्थः। निष्ठुरं निर्दयतया यथा भवति तथा निःशेषविनाशः। भस्मयित्वा नाशयित्वा। केवलज्ञानेन सार्धं तृतीयचतुर्थ-शुक्लध्यानार्चिषा निःशेषकर्म-भस्मक्षणे हि नोकर्मशरीरस्य विलयात्। यदुक्तं–

कम्मस्साभावेण य णोकम्माणं पि जायइ णिरोहो।
णोकम्मणिरोहेण य संसारणिरोहणं होइ॥

पुनरपि तत्पश्चात्। तदभावे तस्य देहस्य अभावे विनाशे सति। उज्ज्वलः सन् शुद्धसिद्धात्मा भवन् सन्। प्रज्वलति स्वपरार्थं प्रकाशयति। अग्निरपि भस्मनोऽभावे सत्यपि प्रज्वलति वह्निमात्रेण। ततः सूक्तम्–यतिवृत्तं श्रमणचर्या। यतते मूलोत्तर-गुणार्थं स यतिः 'स्त्रियां क्तिः' इत्यनेन। यत्यते यतनं वा यतिः। भावे क्तिः। अत्र तूपशमक्षपकश्रेण्यारूढो यतिरिति ग्राह्यः। यदुक्तम्–"देशप्रत्यक्षवित्केवलभृदिहमुनिः स्याद्य षः प्रसृतर्द्धिरारूढः श्रेणियुग्मेऽजनि यतिरनगारोऽपरः साधुवर्गः। राजाब्रह्म च देवपरम इति ऋषिर्विक्रियाक्षीण-शक्तिप्राप्तो बुद्ध्यौषधीशो वियदयनपटुर्विश्ववेदी क्रमेण॥" तेनात्र क्षपकश्रेण्यारूढो यतिरेव विवक्षितः केवलज्ञानप्राप्तिसामर्थ्यात्। तस्य वृत्तं चर्या चरित्रम् वा तत्। सर्वथा सर्वप्रकारेण। आश्चर्यभूमिः विस्मय-स्थानं छद्मस्थैस्तेषां सुखज्ञानक्रियादेरगोचरत्वात्। हि स्फुटम्। भवति अस्ति। मालिनीवृत्तम् ॥२६४॥

अथ निर्वाणविषये विप्रतिपत्तिर्येषां तान् प्रत्याह–

निर्दयता से इस शरीर का निःशेष विनाश हो। केवलज्ञान के साथ तृतीय और चतुर्थ शुक्लध्यान की अग्नि से निःशेष कर्मों का जिस क्षण अभाव होता है उसी समय नोकर्मरूप शरीर का विलय हो जाता है। कहा भी है–

"कर्मों के अभाव से नोकर्मों का भी रुकना हो जाता है और नोकर्म के रुकने से संसार का रुकना होता है।"

देह का अभाव होने पर शुद्ध सिद्धात्मा होता हुआ वह स्व-पर पदार्थों को प्रकाशित करता है। अग्नि भस्म का अभाव हो जाने पर भी अग्निमात्र रहकर जलती रहती है। इसलिए ठीक ही कहा है–"देश प्रत्यक्षवाले या केवलज्ञान वाले यहाँ मुनि हैं, ऋद्धि सम्पन्न ऋषि हैं, दोनों श्रेणी में आरूढ़ यति कहलाते हैं दूसरे साधुवर्ग अनगार हैं। विक्रिया और अक्षीण ऋद्धि वाले राजऋषि हैं, बुद्धि और औषधि ऋद्धि के स्वामी ब्रह्मऋषि हैं, आकाश मार्ग से चलने में कुशल देवऋषि हैं और विश्व को जानने वाले परमऋषि है।"

इसलिए यहाँ क्षपक श्रेणी में आरूढ़ यति की ही विवक्षा है क्योंकि उन्हीं में केवलज्ञान प्राप्ति का सामर्थ्य है। छद्मस्थों के द्वारा उन यतियों के सुख, ज्ञान, क्रिया आदि नहीं समझे जा सकते हैं, इसलिए वे सर्वथा विस्मय के स्थान हैं। यहाँ मालिनी छन्द है ॥२६४॥

उत्थानिका–अब निर्वाण के विषय में जिनको विसंवाद है उनके लिए कहते हैं–

(अनुष्टुप्)

गुणी गुणमयस्तस्य नाशस्तन्नाश इष्यते।
अत एव हि निर्वाणं शून्यमन्यै विंकल्पितम् ॥२६५॥

अन्वयः—गुणी गुणमयः, तस्य नाशः तत् नाशः इष्यते, अत एव हि अन्यैः निर्वाणं शून्यं विकल्पितम्।

गुणीत्यादि। गुणी आत्मा। गुणा अस्य सन्तीति गुणी। गुणमयः गुणेन निवृत्तः। ''मयड्वैतयोर्-भक्ष्याच्छादनयोः'' इत्यनेन मयड्। अत्र मयट् प्रत्ययोऽभिन्नतां गुणगुणिनोः कथयति। तस्य गुणस्य। नाशः विनाशः। तत् गुणी। नाशः विनाशः। इष्यते सङ्गीर्यते। अतः अस्मात् कारणात् गुणनाशे गुणिनाश इति हेतुत्वात्। एव निर्धारणे। हि स्फुटम्। अन्यैः बौद्धनैयायिकादिभिः। निर्वाणं मोक्षस्य सिद्धात्मनः स्वरूपः। शून्यं सकलगुणोच्छेदनम्। विकल्पितं कृतम्। तद्यथा–नैयायिकाः बुद्ध्यादिविशेष-गुणानामत्यन्तोच्छेदोऽ-पवर्ग इति मन्यन्ते। बुद्ध्यादिविशेषगुणाभावे सदात्मसहचरगुणा अपि विनश्यन्ति, इत्यात्मा गुणशून्यत्वेन मोक्षेऽवतिष्ठते, ज्ञानादिगुणानामात्मनोऽत्यन्तभेदाभ्युपगमात्। सर्वगुणविमुक्त-स्यात्मनः स्वरूपेणावस्थानं मोक्षः शून्यात्मकः इति। बौद्धास्तु ज्ञानाादिगुणानामात्मनोऽत्यन्ताभेदाभ्युपगामनाज्ज्ञानक्षणपरम्परारूप-

---

अन्वयार्थ—(गुणी) गुणी **(गुणमयः)** गुणमय होता है। **(तस्य)** गुण का **(नाशः)** नाश **(तत् नाशः)** गुणी का नाश **(इष्यते)** कहा जाता है। **(अत एव हि)** इसलिए ही **(अन्यैः)** दूसरों ने **(निर्वाणं)** निर्वाण को **(शून्यं)** शून्य **(विकल्पितम्)** मान लिया है।

अर्थ—गुणी गुणमय होता है। उन गुणों का नाश ही गुणी का नाश है इसलिए ही दूसरों ने निर्वाण को शून्य मान लिया है।

टीकार्थ—गुणों से बना हुआ ही गुणी है। यहाँ गुणी को गुणमय कहा है। मयट् प्रत्यय गुण-गुणी की अभिन्नता को कहता है। गुणों से ही जो बना हो वह गुणी है। उन गुणों का विनाश गुणी का ही विनाश कहा जाता है। बौद्ध, नैयायिक आदि परवादियों ने मोक्ष का या सिद्धात्मा का स्वरूप सकल गुणों के नाश से शून्यरूप माना है। वह इस प्रकार है–नैयायिक आदि विशेष गुणों का अत्यन्त विनष्ट होना ही अपवर्ग मानते हैं। बुद्धि आदि विशेष गुणों का अभाव होने पर सदा आत्मा के साथ रहने वाले गुण भी नष्ट हो जाते हैं। इस प्रकार आत्मा गुण शून्य होकर मोक्ष में ठहरता है। क्योंकि ज्ञान आदि गुणों का आत्मा से अत्यन्त भेद उन्होंने स्वीकारा है। सभी गुणों से रहित आत्मा का स्वरूप से अवस्थान मोक्ष है जो शून्यात्मक है। बौद्ध ज्ञान आदि गुणों का आत्मा से अत्यन्त अभेद स्वीकार करते हैं किन्तु

गुणी रहा जो वही नियम से विविध गुणों का निलय रहा।
विलय गुणों का होना ही बस हुवा गुणी का विलय रहा॥
अतः 'मोक्ष' गुण गुणी विलय ही अन्य मतों का अभिमत है।
रागादिक की किन्तु हानि ही 'मोक्ष' रहा यह 'जिनमत' है॥२६५॥

स्यात्मनो धर्मित्वेन स्वीकुर्वन्ति। अत्र प्रतिविधीयते–यदि सुखबुद्धिधर्मादि–नवगुणानामतिशयेन विनाशो मोक्षः स्यात्तर्हि कः प्रेक्षापूर्वकारी मोक्षाय प्रयतेत। सर्वे हि प्रतिवादिनो निरतिशयसुखज्ञानादिप्राप्तिकामिनो भवन्ति। प्रवर्तन्ते च योग–साधनादिदुष्करप्रयत्नेषु ते सुखप्राप्त्यर्थम्। यदि तत्रापि सुखसंवेदनरहितः पुरुषः सम्पद्यते तदा संसृतिरेव वरीयसी। अतस्तत्कल्पितं मोक्षं न कोऽपि जिगीमिषुरिति। यदि हि ज्ञानादिधर्मेभ्यो जीवोऽभिन्न एव स्यात् तदा–''अयमात्मा एते ज्ञानादिगुणाः'' इति भेदबुद्धिर्न स्यात्। अस्ति च सा सर्वैः प्रतीयमानत्वात्। किञ्च ज्ञानादिसर्वगुणानामैक्यमपि भवेदेकान्ताभिन्नमते। ततः 'मम ज्ञानं मम सुखं मम दर्शनं च' इत्यादिभेदप्रतीतिर्ज्ञानादिगुणानां न स्यात्। या च प्रतीतिरत्रैव बाध्यते सा मोक्षविषये न कथमिति प्रत्यक्षानुमानाभ्यामेकान्तमतं प्रतिक्षिप्तं संक्षेपेण विशेषस्तु न्यायग्रन्थतो द्रष्टव्यम्। अनुष्टुप्छन्दः ॥२६५॥

अतो मुक्तावस्थायामात्मनः स्वरूपं प्ररूपयन्नाह–

(अनुष्टुप्)

अजातोऽनश्वरोऽमूर्तः कर्ता भोक्ता सुखी बुधः।
देहमात्रो मलैर्मुक्तो गत्वोर्ध्वमचलः प्रभुः ॥२६६॥

ज्ञान क्षण की परम्परा रूप आत्मा को धर्मीपने से स्वीकार करते हैं। यहाँ इन दोनों का प्रत्युत्तर देते हैं– यदि सुख, बुद्धि, धर्म आदि नौ गुणों का अतिशय विनाश ही मोक्ष है तो फिर कौन विचारवान् पुरुष मोक्ष के लिए प्रयत्न करेगा? सभी प्रतिवादी (अन्यमती) निरतिशय अर्थात् जिससे बढ़कर कुछ और न हो ऐसे सुख, ज्ञान आदि की प्राप्ति की इच्छा वाले ही होते हैं वे लोग योग साधन आदि दुष्कर प्रयत्नों में सुख प्राप्ति के लिए प्रवृत्ति करते हैं। यदि उन प्रयत्नों में भी पुरुष सुख संवेदन से रहित है तो फिर संसार ही श्रेष्ठ है इसलिए उनके द्वारा कल्पित मोक्ष में कोई भी जाने की इच्छा नहीं करेगा और यदि बौद्ध के कहे अनुसार ज्ञान आदि धर्मों से जीव अभिन्न ही है तो फिर ''यह आत्मा है और ये ज्ञान आदि गुण हैं।'' इस प्रकार भेदबुद्धि नहीं होनी चाहिए। किन्तु यह भेदबुद्धि सभी की प्रतीति में आती है। दूसरी बात यह है कि ज्ञान आदि समस्त गुणों का ऐक्य भी आपने माना है, क्योंकि ज्ञानादि गुणों का अभिन्नपना आप एकान्त से मानते हैं। इसलिए ''मेरा ज्ञान, मेरा सुख, मेरा दर्शन'' इत्यादि भेद प्रतीति ज्ञानादि गुणों की नहीं होना चाहिए। जो प्रतीति यहाँ बाधा को प्राप्त है वह मोक्ष के विषय में बाधित कैसे नहीं होगी? अर्थात् अवश्य होगी। इस तरह प्रत्यक्ष और अनुमान से एकान्त मत का यहाँ निराकरण संक्षेप से किया है विशेष रूप से न्याय ग्रन्थों से जानना। यहाँ अनुष्टुप् छन्द है ॥२६५॥

उत्थानिका–मुक्त अवस्था में आत्मा के स्वरूप का प्ररूपण करते हुए कहते हैं–

निज गुण कर्त्ता निज सुख भोक्ता अमूर्त सुख से पूर रहें।
केवलज्ञानी जनन दुःख से तथा मरण से दूर रहें॥
काय कर्म से मुक्त हुए प्रभु लोक शिखर पर अचल बसे।
अंतिम तन आकार जिन्होंका असंख्य देशी विमल लसे ॥२६६॥

अन्वयः—अजातः, अनश्वरः, अमूर्तः, कर्ता, भोक्ता, सुखी, बुधः, देहमात्रः, मलैःमुक्तः, उर्ध्वंगत्वा अचलः, प्रभुः।

अजात इत्यादि। अजातः पुनर्जन्मरहितः। सिद्धात्मनः पुनः संसारागमना-भावात्। न तथा, यदुक्तमन्यत्र–''ज्ञानिनो धर्मतीर्थस्य कर्तारः परमं पदम्। गत्वा गच्छन्ति भूयोऽपि भवं तीर्थनिकारतः॥'' पुनश्च कथम्भूतः? अनश्वरः मृत्युरहितोऽविनष्टस्वभावः। द्रव्यापेक्षयाऽनश्वरोऽपि पर्यायार्पणया प्रतिसमयं परिवर्तते। अमूर्तः रसरूपादिपुद्गल-गुणरहितः। यथा संसारावस्थायामात्मा परिलक्ष्यते न तथा मुक्तदशायाममूर्त्तत्वा-दिति। कर्ता कर्तृत्वमात्मनः गुणः। सिद्धात्मा स्वस्यात्मनोऽनन्तसुख-ज्ञानदर्शनादि-गुणानां कर्ता समिष्यते। भोक्ता भोक्तृत्वमपि गुणो जीवस्य। एतावता सांख्यमतं निरस्तम्। नित्यसत्तात्मकोऽप्यात्मा मुक्तौ सुखस्या-भोक्तृत्वमिति तन्मते स्वीकारात्। जैनास्तु सर्वदा हि भोक्ता आत्मेति। संसारदशायामिन्द्रिय-जनित-सुखदुःखादीनां भोक्ता, मोक्षे पुनरनन्ताव्याबाधसुखस्येति। सुखी सुखस्वरूपात्मकः स्वात्मसौख्यनिष्ठत्वात्। बुधः ज्ञानस्वरूपः केवलज्ञाननिष्ठत्वात्। देहमात्रः शरीर-परिमाणः। योगनिरोधकाले किञ्चिन्न्यून-शरीराकारधारणात् देहमात्रत्वम्। मलैः मुक्तः कर्मनोकर्मभाव-

---

अन्वयार्थ—(अजातः) जन्म से रहित **(अनश्वरः)** विनाश रहित **(अमूर्तः)** अमूर्त **(कर्ता)** कर्ता **(भोक्ता)** भोक्ता **(सुखी)** सुखी **(बुधः)** ज्ञान सहित **(देह मात्रः)** शरीर मात्र **(मलैः मुक्तः)** मलों से रहित **(ऊर्ध्वं गत्वा)** ऊपर जाकर **(अचलः)** निश्चल **(प्रभुः)** प्रभु हैं।

अर्थ—जन्म रहित, अविनश्वर, अमूर्त, कर्ता, भोक्ता, सुखी, ज्ञानी, देहमात्र आकार वाले, मलों से रहित, प्रभु ऊपर जाकर अचल हुए हैं।

टीकार्थ—सिद्धात्मा पुनः संसार में गमन का अभाव होने से पुनर्जन्म से रहित हैं इसलिए 'अजात' हैं। सिद्धात्मा मृत्यु से रहित, अविनष्ट स्वभाव वाले हैं। उस प्रकार नहीं जैसा कि अन्यत्र कहा है–''ज्ञानी धर्म तीर्थ के कर्ता जीव परम पद को प्राप्त करके तीर्थ उद्धार की इच्छा से पुनः भव को प्राप्त करते हैं।''द्रव्य की अपेक्षा अविनश्वर होकर भी पर्याय की मुख्यता से प्रति समय परिवर्तन करते हैं। इसलिए 'अविनश्वर' हैं। रस, रूप आदि पुद्गल के गुणों से रहित वह अमूर्त हैं। जैसे आत्मा संसार अवस्था में देखा जाता है वैसे ही मुक्त अवस्था में नहीं देखा जाता है क्योंकि सिद्धात्मा 'अमूर्त' होते हैं। कर्तापन यह आत्मा का गुण है। सिद्धात्मा अपनी आत्मा के अनन्त सुख, अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन आदि गुणों के कर्ता कहे जाते हैं। भोक्तापन यह भी जीव का गुण है। इस गुण से सांख्य मत का निराकरण होता है। सांख्य मत वाले मानते हैं कि आत्मा नित्य सत्ता स्वरूप है और मुक्ति में वह सुख का भोक्ता नहीं होता है। जैन दर्शन में आत्मा सर्वदा भोक्ता है। संसार दशा में इन्द्रिय से उत्पन्न सुख, दुःख आदि का भोक्ता है, मोक्ष में अनन्त अव्याबाध सुख का भोक्ता है। वह सिद्धात्मा अपने आत्मसुख में निष्ठ होने से सुखस्वरूप है। केवलज्ञान में निष्ठ होने से वह आत्मा ज्ञानस्वरूप है। शरीर परिमाण वाले सिद्धात्मा हैं। योग निरोध के काल में कुछ कम शरीर के आकार को धारण करने से देहमात्र वाले सिद्धात्मा हैं, यह कहा है। कर्म,नोकर्म और भाव कर्म इन तीनों मलों से रहित होने से सिद्धात्मा 'मल

कर्मभिस्त्रिभिर्मलैरहितः। ऊर्ध्वं लोकाग्रम्। गत्वा प्राप्तिं कृत्वा। अचलः निश्चलः। ''काले कल्पशतेऽपि च गते शिवानां न विक्रिया लक्ष्या'' इति वचनात्। प्रभुः स्वामी मोक्षैषिणाम्। यद्वा प्रभुः सर्वशक्तिमान्। इति सिद्धगुणस्तुतिः। अनुष्टुप्छन्दः ॥२६६॥

अथ सिद्धसुखस्यात्रापि प्रतीतिरिति न कथं परत्रेति युक्त्या प्रतिपाद्यते–

(अनुष्टुप्)

स्वाधीन्याद् दुःखमप्यासीत् सुखं यदि तपस्विनाम्।
स्वाधीनसुखसम्पन्ना न सिद्धाः सुखिनः कथम् ॥२६७॥

अन्वयः–यदि तपस्विनां दुःखं अपि सुखं स्वाधीन्यात् आसीत् कथं न सिद्धाः सुखिनः स्वाधीनसुखसम्पन्नाः?।

स्वाधीन्यादित्यादि। यदि चेत्। तपस्विनां श्रमणानाम्। तपोऽस्यास्तीति तपस्वी। 'विन्नस्माया-मेधास्रजः' इति मत्वर्थे विन्। तपसोऽसन्तत्वात्। तेषाम्। दुःखं कायक्लेशादिलक्षणम्। अपि स्फुटम्।

रहित' हैं। ऊपर लोकाग्र को प्राप्त करके वह निश्चल हुए हैं। कहा भी है–''कल्पकाल सैकड़ों भी बीत जाए किन्तु उन सिद्धात्माओं में कोई विकार नहीं आता है।'' सिद्धात्मा मोक्ष की इच्छा करने वालों के स्वामी हैं। अथवा सर्वशक्तिमान् प्रभु हैं। इस प्रकार सिद्धों के गुणों की स्तुति की है। यहाँ अनुष्टुप् छन्द है ॥२६६॥

उत्थानिका–अब सिद्धसुख की प्रतीति यहाँ भी है तो फिर परलोक में कैसे न होगी, यह युक्ति से समझाते हैं–

अन्वयार्थ–(यदि) यदि **(तपस्विनां)** तपस्वियों के **(दुःखं)** दुःख **(अपि)** भी **(सुखं)** सुख **(स्वाधीन्यात्)** स्वाधीनपने से **(आसीत्)** हुआ **(कथं)** फिर कैसे **(न सिद्धाः)** नहीं सिद्ध भगवान् **(सुखिनः)** सुखी हों जो **(स्वाधीन सुखसम्पन्नाः)** स्वाधीन सुख से सम्पन्न हैं।

अर्थ–यदि तपस्वियों को स्वाधीनता से दुःख भी सुख हो जाए तो फिर जो स्वाधीन सुख से सम्पन्न हैं, वे सिद्ध सुखी कैसे न हों ?

टीकार्थ–जिनके पास तप हो वे तपस्वी हैं। वे तपस्वी श्रमण होते हैं। वे श्रमण जो कायक्लेश आदि तप करते हैं वह दुःख भी उनके लिए आह्लाद उत्पन्न करने वाला होता है। किस कारण से ?

कर्म निर्जरा लक्ष्य बनाकर तप में अन्तर्धान रहें।
तब कुछ दुख निश्चित हो तापस किन्तु उसे सुख मान रहें॥
शुद्ध हुए फिर सिद्ध हुए हैं अविनश्वर सुखधाम हुए।
वे किस विध फिर सुखी नहीं हो, जिन्हें स्मरें कृत काम हुए ॥२६७॥

सुखमाह्लादकरम्। कस्मात् कारणात्? स्वाधीन्यात् स्वस्य कर्मनिर्जराकारणस्य आधीन्यमायत्तं यत्तत् तस्मात्। इति हेतुः। आसीत् स्यात्। कथं प्रश्नार्थे। न प्रतिषेधे। सिद्धाः स्वात्मोपलब्धिप्राप्ताः। सुखिनः निराकुलाः। कथम्भूताः? स्वाधीनसुखसम्पन्नाः स्वात्मोऽधीनमुत्पन्नंसुखं तेन सम्पन्नाः परिपूर्णाः। हेतुगर्भ-विशेषणमेतत्। किञ्च यदि मार्गे तपस्विनोऽपि निराकुलात्मसुखं सिद्धशुद्धबुद्धध्यानैकबलेन संवेदयन्ति किं न पुनर्मोक्षे स्वायत्तात्ममात्रवेदनादिति भावः। अनुष्टुप्छन्दः ॥२६७॥

अथ ग्रन्थस्योपसंहारमनाः तदर्थानुष्ठातृणां फलं प्रदर्शयन्नाह-

(मालिनी छन्द)

इति कतिपयवाचां गोचरीकृत्य कृत्यं
रचितमुचितमुच्चैश्चेतसां चित्तरम्यम्।
इदमविकलमन्तः सन्ततं चिन्तयन्तः
सपदि विपदपेतामाश्रयन्ते श्रियं ते ॥२६८॥

स्वाधीनता से। अपनी कर्मनिर्जरा करना ही एक कारण है। इस कारण के अधीन होने से वह स्वाधीन है। यही सुखी रहने का कारण है। अर्थात् वे दुःख पराधीन होकर नहीं सहते हैं किन्तु अपनी इच्छा कर्मनिर्जरा करने के लिए करते हैं, इसलिए उन्हें दुःख नहीं होता है। जो स्वात्मोपलब्धि को प्राप्त सिद्ध भगवान हैं फिर वे निराकुल कैसे नहीं होंगे अर्थात् वे अवश्य होंगे। उसका कारण यह है कि वे अपनी आत्मा से ही उत्पन्न सुख से परिपूर्ण हैं। दूसरी बात यह है कि यदि मोक्षमार्ग में तपस्वियों को भी यदि सिद्धों के शुद्ध-बुद्ध ध्यान के बल से निराकुल आत्मसुख का संवेदन होता है तो फिर मोक्ष में मात्र अपनी स्वाधीन आत्मा का संवेदन करने से सुख क्यों नहीं होगा ? अर्थात् अवश्य होगा। यहाँ अनुष्टुप् छन्द है ॥२६७॥

उत्थानिका—अब ग्रन्थ का उपसंहार करते हुए सिद्धि के लिए अनुष्ठान करने वालों को फल दिखाते हुए कहते हैं-

अन्वयार्थ—(इति) इस प्रकार **(कतिपयवाचां)** कुछ वचनों को **(गोचरीकृत्य)** विषय बनाकर **(कृत्यं)** यह कार्य **(उचितं)** जो कि उचित है **(रचितं)** रचा है। **(उच्चैः चेतसां)** उत्कृष्ट मन वालों के **(चित्तरम्यम्)** चित्त को रम्य है **(ये)** जो **(अविकलं)** पूर्णरूप से **(अन्तः)** अन्तरंग में **(सन्ततं)** निरन्तर **(चिन्तयन्तः)** चिन्तन करते हुए रहते हैं **(सपदि)** शीघ्र ही **(विपदपेतां)** विपत्ति रहित **(श्रियं)** लक्ष्मी

इस विध कतिपय शुभ वचनों का माध्यम मैंने बना लिया।
बुध मन रंजक कृत्य रचा है विषयों से मन बचा लिया ॥
शिव सुख पाने करते मन में इसका चिंतन अविकल है।
मिटे आपदा मिले संपदा उन्हें शीघ्र सुख निर्मल है ॥२६८॥

अन्वयः—इति कतिपयवाचां गोचरीकृत्य कृत्यं उचितं रचितं, उच्चैः चेतसां चित्तरम्यम्, ये (इदं) अविकलं अन्तः सन्ततं चिन्तयन्तः, सपदि विपदपेतां श्रियं ते आश्रयन्ते।

इतीत्यादि। इति एवं प्रकारेण। कतिपयवाचां स्वल्पवचनशब्दानाम्। गोचरीकृत्य भावार्थ-प्रतिबोधनार्थं विषयं कृत्वा। कृत्यं करणीयकार्यमनुष्ठेयम्। उचितं सम्यग्रीत्या। रचितं ग्रथितम्। उच्चैः चेतसां विशालहृदयानाम्। चित्तरम्यं मनोऽभिरमणीयम्। क्षुद्राणां रागादौ हि चित्तस्य रम्यता यतस्तत एवम्। ये इत्यध्याहार्यम्। इदं कतिपयवाक्। अविकलं सम्पूर्णम्। अन्तः स्वचित्ते। सन्ततमनवरतम्। चिन्तयन्तः चिन्तनं कुर्वन्तः। चिन्तनमुपलक्षणमात्रं तेन मननधारणप्रदानादिकमपि ग्राह्यम्। सपदि शीघ्रम्। विपदपेतां विपत्तिरहिताम्। विपत् विपत्तिस्तया अपेता रहिता या ताम्। ननु बहुब्रीहौ निष्ठान्तं पूर्वं निपतति ततोऽपेतविपदमिति स्यात्। नैष दोषो विकल्पात्। 'वाहिताग्न्यादिषु' बसः। इत्याहिताग्न्यादेश्चाकृति-गणत्वान्न पूर्वनिपातः। श्रियं श्रीः बाह्यान्तरङ्गात्मविभूतिः ताम्। ते जनाः। आश्रयन्ते प्राप्नुवन्ति। 'श्रिञ् सेवायाम्' इति धोर्लट्। मालिनीवृत्तम् ॥२६८॥

अथ गुरुनामस्मृतिद्वारेण ग्रन्थस्य समाप्तिं विदधन्नाह—

जिनसेनाचार्यपादस्मरणाधीनचेतसाम् ।
गुणभद्रभदन्तानां कृतिरात्मानुशासनम् ॥२६९॥

का **(ते)** वे **(आश्रयन्ते)** आश्रय करते हैं।

अर्थ—इस प्रकार कुछ शब्द रचना के माध्यम से यह उचित कृत्य किया गया है। उन्नत मन वालों के चित्त को यह कृति रमणीय है। जो इस पूरे ग्रन्थ का अपने मन में निरन्तर चिन्तन करते हैं वे शीघ्र ही विपत्ति रहित मोक्षलक्ष्मी को पा लेते हैं।

टीकार्थ—इस प्रकार थोड़े से इन वचन शब्दों का भावार्थ समझाने के लिए यह करणीय कार्य सम्यक् रीति से मैंने किया है। अर्थात् थोड़े से शब्दों में यह ग्रन्थ रचा है। विशाल हृदय वालों के मन को यह कृति बहुत अच्छी रमणीय है। इसका भी कारण यह है कि जो क्षुद्र जन हैं उनका चित्त तो रागादि में ही रमता है, इसलिए उनके चित्त की बात न कहकर विशाल हृदय वालों की बात कही है। इन वचनों के माध्यम से अपने चित्त में निरन्तर चिन्तन करने वाला जीव शीघ्र ही बाह्य और अन्तरंग आत्म वैभव को पा लेता है, वह वैभव ही विपत्ति रहित है। इस ग्रन्थ का चिन्तन तो उपलक्षण मात्र है किन्तु इनका मनन करना, इसके अर्थ को हृदय में धारण करना, इस ग्रन्थ को दूसरों को पढ़ाना आदि भी वही फल देने वाला है। यहाँ मालिनी छन्द है ॥२६८॥

परम पूत आचार्य दिगंबर वीतराग जिनसेन रहे,
जिनके पद की स्मृति में जिसका मानस रत दिन-रैन रहे॥
वही रहा गुणभद्र सूरि, कृति आतम अनुशासन जिनकी।
सुधा सिन्धु है पीते मिटती क्लान्ति सभी बस तन मन की ॥२६९॥

अन्वयः—गुणभद्रभदन्तानां जिनसेनाचार्यपादस्मरणाधीनचेतसां कृतिः आत्मानुशासनम्।

जिनसेनेत्यादि। गुणभद्रभदन्तानां गुणभद्रश्रमणानाम्। गुणेषु भद्रं कल्याणं गुणभद्रम्। भदन्तः पूज्यः। गुणभद्रं च भदन्तश्च गुणभद्रभदन्तम्। तदस्यास्तीति स तथोक्तस्तेषाम्। आदरार्थे बहुवचनम्। 'ओऽभ्रादिभ्यः' इति मत्वर्थीयोऽत्यः। श्लेषा-लङ्कारे कृतिकारेण स्वनामाङ्कितमिति वा। किं विशिष्टानाम्? जिनसेनाचार्यपाद-स्मरणाधीनचेतसां जिनाः कर्मारातीन् जयन्तीति तेषां सेना कुलपरम्परा तासु मध्ये आचार्यः तृतीयपरमेष्ठी तेषां पादस्मरणं चरणस्मृतिस्तस्याधीनं लग्नं चेतः चित्तं येषां ते तथोक्तास्तेषां वर्त्तमान-भट्टारकवर्धमानजिनशासननायकपरम्परायाताचार्यपरमेष्ठिचरणस्मरणलीनचित्तानाम्। यद्वा जिनसेनाचार्याः ग्रन्थकारिणां गुणभद्रभदन्तानां साक्षात् गुरवस्तेषां पादयोः चरणयोः स्मरणे स्मृतौ अधीनं चित्तं येषां ते तेषाम्। यद्वा जिनसेनाचार्याणां पादो वचनं तेषां स्मरणाधीनचेतो येषां तेषाम्। यदुक्तम्—

''आचार्यः पादमाचष्टे पादः शिष्यस्वमेधया।
तद्विद्यसेवया पादः पादः कालेन पच्यते॥''

एतेन गुरुवचनानुसारिजीवितं ध्वन्यते। कृतिः रचना। किं नामधेयम्? आत्मानुशासनं आत्मानं अनुशास्तीत्यन्वर्थसंज्ञम्। जयतादिति क्रियाध्याहार्यम्। अनुष्टुप्छन्दः ॥२६९॥

उत्थानिका—अब गुरु के नाम स्मरण द्वारा इस ग्रन्थ की समाप्ति करते हुए कहते हैं—

अन्वयार्थ—(गुणभद्रभदन्तानां) गुणभद्रभदन्त **(जिनसेनाचार्यपादस्मरणाधीन- चेतसां)** जो जिनसेन आचार्य के चरणों के स्मरण के अधीन चित्त वाले हैं उनकी **(कृतिः)** कृति **(आत्मानुशासनम्)** आत्मानुशासन है।

अर्थ—श्री जिनसेन आचार्य के चरणों का स्मरण करने में जिनका चित्त संलग्न है ऐसे गुणभद्रभदन्त की यह कृति आत्मानुशासन है।

टीकार्थ—गुणों में जो भद्र, कल्याणरूप हैं ऐसे गुणभद्र हैं। भदन्त अर्थात् पूज्य हैं। ये दोनों विशेषण अपने गुरु श्री जिनसेन आचार्य के लिए हैं और स्वनाम अंकित करने वाले भी हैं। श्लेषालंकार से कृतिकार ने अपना नाम यहाँ अंकित किया है। जिनसेनाचार्य का **प्रथम अर्थ**—कर्मशत्रुओं को जीतने वाले जिन है। उन जिनों की जो सेना अर्थात् परम्परा है उस परम्परा में जो आचार्य, तृतीय परमेष्ठी हैं उनके चरणों की स्मृति के अधीन जिनका चित्त वे गुणभद्र आचार्य हैं। इसका अर्थ यह हुआ कि वर्तमान में भट्टारक वर्धमान तीर्थंकर के जिनशासन में नायक परम्परा से आये सभी आचार्य परमेष्ठियों के चरणों के स्मरण में मेरा चित्त लीन है।

दूसरा अर्थ—जिनसेन आचार्य ग्रन्थकार गुणभद्र भदन्त के साक्षात् गुरु हैं। उनके चरणों की स्मृति के अधीन उनका चित्त है।

तीसरा **अर्थ**—जिनसेनाचार्य के पाद अर्थात् वचन। उनके वचनों के अधीन जिनका चित्त है ऐसे गुणभद्र भदन्त हैं। पाद यानी चरण और पाद श्लोक के एक पद को भी कहते हैं। कहा भी है—

अथान्तिमस्मरणम्–

(अनुष्टुप्)

ऋषभो नाभिसूनूर्यो भूयात्स भविकाय वः।
यज्ज्ञानसरसि विश्वं सरोजमिव भासते ॥२७०॥

अन्वयार्थ—यज्ज्ञान सरसि विश्वं सरोजं इव भासते स नाभिसूनुः ऋषभः वः भविकाय भूयात्।

यज्ज्ञान सरसि यस्य भगवतः ज्ञान सरोवरे विश्वं लोकालोकम्। सरोजं कमलम्। इव उपमायाम्। भासते प्रतीयते। स नाभिसूनुः नाभिराजस्य सूनुः पुत्रः ऋषभः अस्यावपर्सिणीकालखण्डस्याद्य तीर्थंकरः। वः युष्माकम्। भविकाय कल्याणाय भूयादिति आशीर्वादः। अनुष्टुप्छन्दः ॥२७०॥

टीकाकार की प्रशस्ति

विद्यादिसागर - मुनीन्द्र - कृपाविशुद्धं, चेतः सदाशयभृतं सुतरां मदीयम्।
तस्मादशेषकरणं सुकरं समस्ति, भक्तिः श्रुतस्य तिमिरं मतिजं हिनस्ति ॥१॥

''आचार्य एक पाद कहते हैं। दूसरा पाद शिष्य अपनी बुद्धि से समझ लेता है। तीसरा पाद उन गुरु की सेवा से प्राप्त होता है और चतुर्थपाद समय से पचता है अर्थात् प्राप्त होता है।''

इस अर्थ से गुरु वचनों के अनुसार चलने वाला गुणभद्रभदन्त का जीवन है। यह ज्ञात होता है। आत्मा को शिक्षा देना आत्मानुशासन है। इस कृति की यह अन्वर्थ संज्ञा है। अर्थात् जैसा नाम है वैसा ही गुण है। ऐसी यह कृति जयवन्त हो। यहाँ जयवन्त क्रिया का अध्याहार कर लेना चाहिए। यहाँ अनुष्टुप् छन्द है ॥२६९॥

उत्थानिका—अब यहाँ अन्तिम स्मरण है–

अन्वयार्थ—(यज्ज्ञानसरसि) जिनके ज्ञान सरोवर में **(विश्वं)** विश्व **(सरोजं इव)** कमल के समान **(भासते)** दिखता है **(स)** वे **(नाभिसूनुः)** नाभिपुत्र **(ऋषभः)** ऋषभनाथ **(वः)** तुम सब के **(भविकाय)** कल्याण के लिए **(भूयात्)** होवें।

अर्थ—जिनके ज्ञान सरोवर में यह विश्व कमल की भाँति दिखता है, वे नाभिराय के पुत्र ऋषभदेव तुम सब के कल्याण के लिए होवें।

टीकार्थ—जिन भगवान् के ज्ञान सरोवर में यह लोक अलोकरूपी समस्त विश्व कमल के समान प्रतीत होता है वे नाभिराजा के पुत्र जो इस अवसर्पिणीकाल खण्ड के प्रथम तीर्थंकर हैं तुम सब जीवों के कल्याण के लिए होवें। यह आशीर्वाद है। यहाँ अनुष्टुप् छन्द है ॥२७०॥

टीकाकार की प्रशस्ति

१. ''मेरा यह चित्त आचार्य गुरुवर श्री विद्यासागर मुनीन्द्र की कृपा से विशुद्ध है, सदैव सदाशय (समीचीन अभिप्राय) से भरा रहता है इसी कारण समस्त कार्य मेरे लिए सरल होते हैं और श्रुत की भक्ति मेरी बुद्धि में उत्पन्न होने वाले अन्धकार का नाश करती रहती है।''

आदीश्वरस्य जिनपस्य विशालचैत्यं प्रस्थापितं नवगृहे भुवनाद्वितीयम्।
द्विन्यूनषष्ठिगणना श्रमणीसुदीक्षा मन्ये विशुद्धचरितस्य गुरोर्विभूतिः ॥२॥
तीर्थे वरे कुण्डलपर्वताख्ये स्वस्त्याख्यका पूर्णकृता सुटीका।
युग्मत्रिपञ्चद्वयवर्षसूते, मोक्षाब्दके फाल्गुनमासि वीरे ॥३॥
वर्षायोगे बीनावाराग्रामे कृतः समारम्भः।
श्रीसमयपूज्यविमल - वीरसागरमुनीष्टभावने ॥४॥
स्वस्तिटीकां विधायेति भाषानुवादनं कृतम्।
निष्ठितं बडनगरे प्रणम्यवार्धिना मया ॥५॥

---

२. श्री आदिनाथ जिनेन्द्र भगवान् की विशाल मूर्ति नव जिनालय में प्रस्थापित हुई। वह जिनबिम्ब इस लोक में अद्वितीय है। और दो कम साठ अर्थात् अट्ठावन (५८) श्रमणी (आर्यिका) दीक्षा जो गुरु ने अभी एक साथ प्रदान की हैं उसे श्रीगुरु के विशुद्ध चारित्र की मैं विभूति समझता हूँ।

३. श्री कुण्डलगिरि तीर्थ (जिला दमोह मध्यप्रदेश) पर प्रवास के समय फाल्गुनमास में श्री वीर निर्वाण संवत् २५३२ (ई॰ सन् २००६) में यह 'स्वस्ति' नाम की आत्मानुशासन ग्रन्थ की टीका पूर्ण हुई है।

४. इस टीका का प्रारम्भ 'बीनाबारह' ग्राम में श्री गुरु के साथ (ई॰ २००६ में) चातुर्मास करते हुए श्री समयसागरजी, पूज्यसागरजी, विमलसागरजी और वीरसागरजी मुनिराज की इष्ट भावना से हुआ था।

५. इस प्रकार स्वस्ति टीका को करके इस टीका का हिन्दी अनुवाद गुरु आशीर्वाद से, गुरु चरणों से दूर रहते हुए, उज्जैन चातुर्मास के बाद शीतप्रवास में 'बड़नगर' में ४ जनवरी २०१४ को मुझ प्रणम्यसागर मुनि ने पूर्ण किया।

❑ ❑ ❑

परिशिष्ट-१
'स्वस्ति' टीकान्तर्गत गाथा/श्लोक ग्रन्थ सूची

सन्दर्भ	ग्रन्थ सूची	श्लोकटीका संख्या
अंकाना वामनो गतिः	जीवकाण्ड	१
कान्त्यैव स्नपयन्ति	समयसार कलश १/२४	१
दिव्येन ध्वनिना	समयसार कलश १/२४	१
प्राकारकवलिता	समयसार कलश १/२५	१
नित्यमविकार	समयसार कलश १/२६	१
क्षयाच्चरतिराग	पात्रकेसरी स्तोत्र-१०	१
अववादस्तु निर्देशो	अमरकोश	१
तालप्रलम्बन्यायेन		१
मंगलकारण हेदू		१
वक्तृप्रमाण्याद्		१
यस्याः पादे प्रथमे	आप्टे शब्दकोश	१
काकक्षिगोलक न्यायेन		२,२९
बुद्धिसुखदुःखेच्छा		२
गुणपुरुषान्तरोपलब्धौ		२
रूपवेदनासंज्ञा		२
येन प्रणीतं प्रथुधर्म	बृहत् स्वयंभूस्तोत्र ९	३
सासणमलिहंताणं	मुद्राराक्षस नाटक	३
व वा यथा तथैवैवं	अमरकोश	३
घनो मेघे....	अमरकोश	४
प्राज्ञमेधाविनौ	धनंजयनाममाला	५
प्राज्ञो हि जल्पतां		५
प्रज्ञागुप्त शरीरस्य		५
प्रज्ञया मानसं दुःखं		५
प्रज्ञावास्त्वेव पुरुषः		५
मतिरप्राप्ता विषया		५
यस्य नास्ति स्वयं	बृहद् द्रव्यसंग्रह टीका	५

मुखनि:सरणं	वि.प्र.	३९
तद्वद् प्रश्नविकल्पयो:	वि.प्र.	४१
जीर्णं जिनग्रहं बिम्बं		४१
सम्मादिट्ठिस्स वि	भगवती आराधना ७	४१
प्रमादा:सन्ति सर्वेऽपि		४१
चारित्रस्य न गन्धोऽपि		४१
हा विषादेऽपि	विश्वलोचन कोश	४२
चारित्रस्य न गन्धो	उत्तरपुराण	४१
मोहेन संवृत्तं ज्ञानं	इष्टोपदेश ७	४२
ननु प्रश्नेऽप्यनुनये	वि.प्र.	४२
भ्रान्तं देशमनेक		४२
घर्म: स्यादातपेग्रीष्मे	वि.प्र.	४३
समीपाभ्याशमासन्न	धनंजयनाममाला	४४
स्यात्सीम्नि काले	विश्वलोचन कोश	४४
पूतिकृमि		४४
यमकादौ भवैदेक्यं		४४
सिंधुरब्धौ नदे	विश्वलोचन कोश	४५
सपरं बाधासहियं	प्रवचनसार	४६
ततो भवानेव गति:	बृहत् स्वयंभूस्तोत्र ४/५	४६
लोल: सतृष्णचल	विश्वलोचन कोश	४७
संकल्प कल्पतरु	समयसार तात्पर्यवृत्ति टीका	४८
अङ्गोदेशेऽङ्गमन्तिके	विश्वलोचन कोश	४९
अङ्ग संबोधनेऽसंख्यं	विश्वलोचन कोश	४९
अघमंहश्च दुरितं	धनंजयनामा	५०
उरग: पन्नगो भोगी	अमरकोश	५१
अनागतेऽछिन रव:	अमर:	५२
ह्यो गते	अमर:	५२
व्यवसायातमनो	सिद्धिविनिश्चय	५३
प्रतीपदर्शिनी वामा	अमरकोश	५३
अपाङ्गौ नेत्रयोरत्तौ	अमरकोश	५३

परिशिष्ट-२
व्याकरण सूत्र

सूत्र	सन्दर्भ ग्रन्थ	श्लोकटीका संख्या
तादर्थ्ये	कातन्त्र व्याकरण	१,६१,१५८
यतोऽपैतिभ्य	कातन्त्र व्याकरण	२
तव ममऽसि	कातन्त्र व्याकरण	२
शीलेऽजातौ णिन्	शब्दार्णव चंद्रिका	२३५,२२५,१५५,११४,८४,२,४३,५३
कृञो हेतुताच्छील्या	कातंत्र व्याकरण	२
माङ्	शाकटायन व्याकरण	३
माङि लुङ्	जैनेन्द्र व्याकरण	६१,५९,३,२०,४०
तुमीच्छायां	शब्दार्णव चंद्रिका	४,१८२
सनन्तांशसिभिक्षायु:	कातन्त्र व्याकरण	४,५१
तदिति परोक्षायां		४
प्रज्ञाश्रद्धार्चाभ्यो ण:	शब्दार्णव चंद्रिका	५
तदस्यास्तीति	कातन्त्र व्याकरण	५,४९,१६,६२
नाम्नि तृभृवृजि.	कातन्त्र व्याकरण	५,२५८
उपसर्गे द: कि:	कातन्त्र व्याकरण	५
ओऽभ्रादिभ्य:	शब्दार्णव चंद्रिका	२५२,२००,१९५,१५१,१०४,६,२४,२६९
आतोऽनुपसर्गात्क:	कातन्त्र व्याकरण	६, १९५
तत्त्वौ भावे	कातन्त्र व्याकरण	६,१६३,२२४
मयऽभक्ष्याच्छादने	शब्दार्णव चंद्रिका	७
सर्वादीनि सर्वनामानि	कातन्त्र व्याकरण	९
हञोऽच् व्योऽनुद्यमन्यो:	कातन्त्र व्याकरण	१०
संख्याया: प्रकारे धा	कातन्त्र व्याकरण	१०, ३४
स्वीषद्दुसि कृच्छ्रा.	जैनेन्द्र व्याकरण	१३,८०
स्वरादिनिपातमव्ययं	लघु सिद्धान्त कौमुदी	५
वा नीच:	जैनेन्द्र व्याकरण	१५५,२१३,२५१
ममोङ्झयो मतोर्वोऽयवादे:	जैनेन्द्र व्याकरण	१४,५३,५४
इवे प्रतिकृतौ क:	जैनेन्द्र व्याकरण	१७

युष्मदस्मदोः पदं	कातंत्र व्याकरण	६०
दृग्दृशहक्षेषु सामानस्य	कातंत्र व्याकरण	६१
धूञ्प्रीञोर्नुग्वक्तव्यः	शब्दार्णव चंद्रिका	६४
धूञ्प्रीणोः		६४
पञ्चम्यास्तस्	कातंत्र व्याकरण	६५, १९७
तपः सहस्राभ्यां	जैनेन्द्र व्याकरण	६६
सहार्थेन	जैनेन्द्र व्याकरण	६७
रो रे लोपं	कातंत्र व्याकरण	६९
मृदो ध्वर्थे णिज्	शब्दार्णव चंद्रिका	७२
इप् तच्छ्रितातीन	जैनेन्द्र व्याकरण	७५
रलयोरभेदात्		७५
अन्योष्वपि दृश्यते		७५
यद्भावाद्भावगति	जैनेन्द्र व्याकरण	७६,१८५
अभूततद्भावे कृभ्व	कातंत्र व्याकरण	८१
तत्करोति तदाचष्टे		८३
यत्किं तत्सर्वैकान्यद्दा	शब्दार्णव चंद्रिका	८६
सुखादे	शाकटायन व्याकरण/शब्दार्णव चंद्रिका	६५
ब्रीह्यादिभ्यः	शब्दार्णव चंद्रिका	८६
व्याघ्रादिभिरुपमेयो	शब्दार्णव चंद्रिका	८७
सल्लटः	शब्दार्णव चंद्रिका	८७,९७
पुंवद्यजातीयदेशीये	जैनेन्द्र व्याकरण	८९
इयेन्मिङ् किंझादा	शब्दार्णव चंद्रिका	९१, १८५
तरप्तमपौ घः	लघु सिद्धान्त कौमुदी	९१
तरी झः	जैनेन्द्र व्याकरण	
नब्भावे क्तोऽभ्यादिभ्यः	शाकटायन व्याकरण	९३
भावे त्वतल्	शाकटायन व्याकरण	९५
परे मध्ये तया वा	जैनेन्द्र व्याकरण	९६
व्याङश्च रमः	जैनेन्द्र व्याकरण	९७
विसमाप्तौ क्तः	शब्दार्णव चंद्रिका व्याकरण	९८
सुप्सुपा	जैनेन्द्र व्याकरण	१००

गौणादाचारे	जैनेन्द्र व्याकरण	२४२
स्पृशोऽनुदके	कातंत्र व्याकरण	२४४
व्यवसायादचलनं		२४८
आकारो महतः कार्यः	कातंत्ररूपमाला	२५५
एकादाकिंश्चा	शाकटायन व्याकरण	२५८
इलश्च देशे	शाकटायन व्याकरण	२५९
स्त्रियां क्तिः	कातंत्र व्याकरण	२६४
मयड्वैतयोरभक्ष्या	जैनेन्द्र व्याकरण	२६५
विन्नस्माया मेधास्त्रजः	जैनेन्द्र व्याकरण	२६७
वाहिताग्न्यादिषु	शब्दार्णव चंद्रिकाव्याकरण	२६८

परिशिष्ट-३

मूलग्रन्थगत विशेष-शब्द सूची

शब्द	श्लोकसंख्या
अजाकृपाणीय	१००
अजीर्ण	२२८
अनशन	१९४
अन्तरात्मा-स्वात्मा	१९३
अन्धकवर्तकीय	१००
अन्धरज्जुवलन	४१
अयोग	२४१
अर्थदृष्टि	१४
अवगाढ़दृष्टि	१४
अव्रत	२४१
अश्वत्थामा	२२०
आखुबिडालिका	२१४
आचारसूत्र	१३
आज्ञासम्यक्त्व	१२
आराधना	१०
आस्रव	२४१
ईति	२४२
उत्पत्ति	१७२
उदयगोपुच्छ	२५७
उपदेशदृष्टि	१२
कनकमृग	२२०
कल्पवृक्ष	२२
कालादिलब्धि	२४१
कुटीप्रवेश	१०६
कृष्ण	२२०
कौमार ब्रह्मचारी	१०९
गजस्नान	४१
गति	४६
गुप्ति	२४८
गुरु	१४१
गेहाश्रम	४१
चिन्तामणि	२२
जिनसेन	२६९

परिशिष्ट-४
श्लोकानुक्रमणिका

परिशिष्ट-५

आत्मानुशासन में प्रयुक्त छन्दों का विवरण

१. अनुष्टुप्– इस छन्द का उपयोग निम्न श्लोकों में हुआ है– ४, ५, २२, २९, ३५, ३६, ३९, ४३, ४५, ५६, ६३, ६५, ६६, ६९, ७१, ७३, ७४, ७८, ७९, ८२, ८४, ८५, ९४, १०३, १०४, १०९, ११०, ११६, ११७, १२०–१२४, १३५, १३९, १४२, १४३, १४५, १४६, १५२–१५७, १६१–१६४, १६७, १७१, १७२, १७४–१७९, १८२–१८४, १८६–१८८, १९६–१९८, २०१, २०३, २०४, २०६–२१२, २२१, २३१–२३४, २३६–२४०, २४२, २४३, २४५–२४७, २४९, २५१, २५४, २५५, २६५–२६७, २६९।

२. शार्दूलविक्रीडित– ५, ७, ९, १०, २८, ३२, ३३, ३७, ३८, ४०–४२, ४४, ४८–५५, ५७–५९, ६१, ६२, ६४, ८१, ८७, ८९, ९०, ९१, ९६, १०२, ११२, १२५–१२८, १३०, १३४, १४१, १५०, १५९, १६०, १९३, २१४, २२७, २४१, २४४, २५०, २५६, २५७, २५९–२६२।

३. वसन्ततिलका– २६, ३१, ४७, ७७, ८३, ९३, ९५, ९८, १०१, १३२–१३३, १४०, १४८, १५१, १६६, १६८, १७३, १९१, १९५, २०२, २०५, २१६–२१८, २२२, २२८।

४. आर्या– १–३, ८, ११, १५, १६, १८–२१, २३–२५, २७, ३०, ८६, ९२, १०८, १८०, १८१।

५. शिखरिणी– ३४, ६७, ७२, ७६, ९७, १०५, ११५, ११८, ११९, १४७, १४९, १७०, २००, २२०, २६३।

६. हरिणी– ६, ६८, ७५, ८०, ११३, १२९, १५८, १६५, १८५, १९२, २२३, २२४, २३०, २५२।

७. मालिनी– ६०, १३६, १६९, २१३, २१९, २२५, २२६, २६४, २६८।

८. पृथ्वी– ११४, १३१, १३७, १४४, १८९, १९०, १९४, २२९।

९. स्रग्धरा– १२–१४, १३८, २१५, २५८।

१०. मन्दाक्रान्ता– ८८, ९९, १९९।

११. वंशस्थ– १००, १०६, १०७।

१२. उपेन्द्रवज्रा– २३५।

१३. वैताली– २४८।

१४. रथोद्धता– २५३।

१५. गीति– १६, १११।

सुवण्णिमसंजमोच्छववरिसे आइरिय विज्जासायर पसत्थिपत्तं

श्री-मूल-संघे स्वसमाधिमुख्ये श्री कुन्दकुन्दान्वय उत्तमेस्मिन्।
श्री शान्तिसिन्धु-र्भुवि भव्यबन्धु निरुद्धभट्टारक-राजपन्थ- ॥१॥
तत्पट्टेऽजनि वीरसागरसुधीः स्याद्वादरत्नाकरः
श्रीवीराधिपधर्म-केतुपवनः संसेव्यपादोत्पलः।
तत्पट्टेऽभवदागमार्थकुशलः सैद्धान्तिकस्तत्त्ववित्
श्रीमानाप्तपदद्वयस्य नितरां ध्याता शिवार्यो वरः ॥२॥
तस्य प्रथमः शिष्यो ज्ञानसागरश्चागमनेत्रो दिव्यः।
निस्पृहनिरीहचेता महाकविश्च जिनसेनसमः ॥३॥
विद्यार्णवस्तत्प्रथमोऽस्ति शिष्यो विख्यातनामा गुणिषु प्रमोदः।
दयाविशुद्धार्द्रमनो महार्यः सूरिप्रधानो महतां प्रसिद्धः ॥४॥

जिसमें अपनी आत्मा की समाधि मुख्य है, ऐसे श्रेष्ठ मूलसंघ श्री कुन्दकुन्द आचार्य की परम्परा में, भव्य जीवों के बन्धु आचार्य श्री शान्तिसागर जी इस धरातल पर हुए हैं, जिन्होंने भट्टारकों के राजमार्ग को रोक दिया है ॥१॥

उनके पट्ट पर श्री वीरसागर आचार्य हुए जो स्याद्वाद रत्नाकर थे, जो वीर भगवान् की धर्मध्वजा को फहराने के लिए वायु के समान थे और जिनके चरण कमल सभी से सेवा के योग्य थे। उनके पट्ट पर फिर आगम के अर्थ में निपुण, सैद्धांतिक तत्त्व को जानने वाले, श्रीमान् जिनेन्द्रदेव के चरण युगल को सदा ध्याने वाले श्रेष्ठ आचार्य श्री शिवसागरजी हुए हैं, उनके पट्ट पर श्री वीरसागर आचार्य हुए, जो स्याद्वाद रत्नाकर थे, जो वीर भगवान् की धर्मध्वजा को फहराने के लिए वायु के समान थे और जिनके चरण कमल सभी से सेवा के योग्य थे। उनके पट्ट पर फिर आगम के अर्थ में निपुण, सैद्धांतिक तत्त्व को जानने वाले, श्रीमान् जिनेन्द्रदेव के चरण युगल को सदा ध्याने वाले श्रेष्ठ आचार्य श्री शिवसागरजी हुए हैं ॥२॥

उनके प्रथम शिष्य आचार्य ज्ञानसागरजी हुए हैं, जो दिव्य, आगमचक्षु, निस्पृह और निरीह चित्त के धारक थे और जो जिनसेन आचार्य के समान महाकवि थे ॥३॥

उन आचार्य ज्ञानसागर जी के प्रथम शिष्य श्री विद्यासागर मुनि हैं। जिनका नाम संसार में विख्यात है, जो गुणी जनों में प्रमोद भाव धारण करते हैं, जिनका मन दया की विशुद्धि से भीगा है, जो महा आर्य हैं अर्थात् महापूज्य हैं, आचार्यों में प्रधान हैं और महान् व्यक्तियों में प्रसिद्ध हैं ॥४॥

अंतिमतित्थयर देवाहिदेव-सव्वण्हु-वीयरायभयवंत-वड्ढमाण-महावीर-तित्थपरंपरागदजिणसासणे आइरियकुंदकुंदपवाहिदसमणपरंपराए दक्खिणदेसियचरित्तचक्कवट्टिआइरियसंतिसायरेहिं जीविदाए समण परंपराए आइरियवीरसायर-सिवसायर-णाणसायर-पमुहाइरिय वड्ढिदाए जयोदयादिमहाकव्व रयणाए कालिदाससरिसस्स आइरियपट्टपदाणविहिणा महाकविणिरीहदियंबरणाणसायराइसियस्स पट्टे विराजमाणो अइरिओ सिरिविज्जासायरो सोहमाणो अत्थि।

जस्स देहजम्मो कण्णाटपदेसे 'बेलगाँव' जणपदे सदलगागामे विक्कमसंवच्छरस्स बेसहस्सतिगतमे (वि० सं० २००३) अस्सिणमासस्स सुक्कपक्खे पुण्णिमाए (तदणु दिणंके १० अक्टूबर १९४६ ई० तमे) गुरुवासरे रत्तीए मल्लप्पाजणगस्स सिरिमंतिजणणीए गब्भादो 'अट्टगे' कुले जादो।

राजट्ठाणपदेसस्स जयपुरणयरे खणियाजीखेत्ते विराजमाणेण आइरियदेसभूसणेण गिहीदबंभचेरवदो पुण मुणिणाणसायरेण विक्कमसंवच्छरस्स बेसहस्सपंचवीसतमे (वि० सं० २०२५) आसाढसुक्कपंचमीदिवसे (तदणु ३० जून १९६८ ई० तमे) सणिवासरे राजट्ठाणपदेसस्स अजमेरणयरे मुणिदिक्खाए दिक्खिदो। तदो विक्कमसंवच्छरस्स बेसहस्सएगुणतीसतमे (वि० सं० २०२९) मगसिरमासस्स किण्हपक्खे विदियाए (तदणु २२ नवम्बर १९७२ ई० तमे) सगाइरियपदं चत्ता णियासणे सगसिस्सं पदिट्ठय णसीरावादे (राजट्ठाणे) आइरियपदेण पदिट्ठिदो।

अंतिम तीर्थंकर देवाधिदेव सर्वज्ञ वीतराग भगवान् वर्धमान महावीर की तीर्थ परम्परा में चले आ रहे जिनशासन में, आचार्य कुन्दकुन्ददेव से प्रवाहित श्रमण परम्परा में दक्षिणदेशीय चारित्र चक्रवर्ती आचार्य शान्तिसागरजी के द्वारा जीवित हुई एवं आचार्य वीरसगरजी, आचार्य शिवसागरजी, आचार्य ज्ञानसागरजी इन प्रमुख आचार्यों के द्वारा वृद्धि को प्राप्त हुई, श्रमण परम्परा में जयोदय आदि महाकाव्य की रचना में कालिदास के समान महाकवि निरीह दिगम्बर आचार्य श्री ज्ञानसागरजी के पट्ट पर आचार्यपट्ट के प्रदान की विधि से आचार्य श्री विद्यासागर महाराज शोभायमान हैं।

जिनकी देह का जन्म कर्नाटक प्रदेश में बेलगाँव जिले के सदलगा ग्राम में विक्रम संवत् २००३ में अश्विन मास के शुक्ल पक्ष में पूर्णिमा को तदनुसार दिनांक १० अक्टूबर १९४६ ई० में गुरुवार को रात्रि में मल्लप्पा पिता तथा श्रीमन्ती माता के गर्भ से अष्टगे कुल में हुआ।

राजस्थान प्रदेश के जयपुर नगर के खानियाँ क्षेत्र में विराजमान आचार्य देशभूषणजी के द्वारा जिन्होंने ब्रह्मचर्य व्रत ग्रहण किया। फिर मुनि ज्ञानसागरजी से विक्रम संवत्सर २०२५ में आषाढ़ शुक्ला पंचमी के दिन तदनुसार ३० जून १९६८ ई० शनिवार को राजस्थान प्रदेश के अजमेर नगर में मुनि दीक्षा से दीक्षित हुए। तदनन्तर विक्रम संवत्सर २०२९ मगशिर मास के कृष्ण पक्ष की द्वितीया तदनुसार २२ नवम्बर १९७२ ई० में स्वआचार्य पद को छोड़कर अपने आसन पर अपने शिष्य को प्रतिष्ठित करके नसीराबाद राजस्थान में आप आचार्य पद से प्रतिष्ठित हुए।

दिक्खाकालादो पण्णासवासेसु समणसदगं भावणासदगं णिरंजणसदगं परीसहजयसदगं सुणीदिसदग चेदि चेंदण्णचंदोदओ धीवरोदयचंपूमहाकव्वं चेदि संकियभासाए, थुदिसदगं सव्वोदयसदगं पुण्णोदयसदगं सुज्जोदयसदगं दोहादोहणसदगं चेदि रट्ठभासाए रचिदं। सगरचियसंकियसदगाणां पज्जाणुवादेण सह इट्ठोवदेसो समणसुत्तं, समयसारकलसा (णिजामियपाण) दव्वसंगहो, अट्ठपाहुडं, णियमसारो, वारसाणुवेक्खा, सयंभूथुदी, देवागमथोत्तं, पत्तकेसरिथोत्तं, समाहितंतं, पंचत्थिकायो, जोगसारो, पवयणसारो, रयणकरण्डसावयायारं (रयणमंजूसा), समयसारो, अप्पाणुसासणं (गुणोदओ), सरूवसंबोहणं, भत्तिपाढो, कल्लाणमंदिरथोत्तं, एगीभावथोत्तं, गोम्मटेसथुदी इच्चेवमादिआगमगंथाणां पज्जाणुवादो रट्ठभासाए कदो।

हिंदीसाहित्ते बहुचच्चिद कालजयी 'मूकमाटी' महाकव्वस्स रयणा सव्वजगविक्खादा अत्थि। अणेयफुडकव्वरयणा हिंदी-कण्णाट-बंगला-संकिय-पागद-आग्लभासाए वि बहुभासाविदण्हुगुरुदेवेण कदा।

वीसाहियसदं मुणिदिक्खाए अट्ठपण्णास एलगदिक्खाए चउसट्ठिखुल्लयदिक्खाए बाहत्तरिअहियसदं अज्जिगादिक्खाए तिण्णि खुल्लियदिक्खाए सहस्सा बंभचेरवदधारयसावयसावियाओ दिक्खिदा ति सिससपरिवारो।

चिरं जिणसासणस्स पहावणट्ठं सिद्धोदय-तित्त्थखेत्तं णेमावरे (मज्झपदेसे) सव्वोदयतित्त्थखेत्तं अमरकण्डगे (मज्झपदेसे) कुण्डलपुरतित्त्थखेत्ते बड़ेबाबामंदिरस्स जिण्णोद्धारो (दमोहजणवदे मज्झपदेसे)

दीक्षाकाल से लेकर ५० वर्षों में श्रमणशतक, भावनाशतक, निरंजनशतक, परीषहजयशतक, सुनीतिशतक, चैतन्यचंद्रोदय, धीवरोदयचम्पू महाकाव्य इत्यादि ग्रन्थ संस्कृत भाषा में तथा स्तुतिशतक, सर्वोदयशतक, पुण्योदयशतक, सूर्योदयशतक, दोहादोहनशतक इत्यादि राष्ट्रभाषा हिन्दी में रचनाएँ की हैं। स्वरचित संस्कृत शतकों के पद्यानुवाद के साथ इष्टोपदेश, समणसुत्तं, समयसारकलश (निजामृतपान), द्रव्यसंग्रह, अष्टपाहुड, नियमसार, बारसाणुवेक्खा, स्वयंभूस्तोत्र, देवागमस्तोत्र, पात्रकेसरीस्तोत्र, समाधितंत्र, पंचास्तिकाय, योगसार, प्रवचनसार, रत्नकरण्डकश्रावकाचार (रयणमंजूषा), समयसार, आत्मानुशासन (गुणोदय), स्वरूपसंबोधन, भक्तिपाठ, कल्याणमंदिरस्तोत्र, एकीभावस्तोत्र, गोम्मटेशस्तुति इत्यादि आगमग्रन्थों का अनुवाद राष्ट्रभाषा हिन्दी में किया है।

हिन्दी साहित्य में बहुचर्चित, कालजयी कृति मूकमाटी महाकाव्य की रचना सर्व जगत् में विख्यात है। अनेक स्फुट काव्य रचनाएँ हिन्दी, कर्नाटक, बंगला, संस्कृत, प्राकृत, अंग्रेजी भाषा में भी बहुभाषाविद् गुरुदेव ने की हैं।

१२० मुनि दीक्षा, ५८ ऐलक दीक्षा, ६४ क्षुल्लक दीक्षा, १७२ आर्यिका दीक्षा, ३ क्षुल्लिका दीक्षा और हजारों ब्रह्मचर्य व्रत को धारण करने वाले श्रावक-श्रावकाएँ दीक्षित हुए हैं, यह आपका शिष्य परिवार है।

चिरकाल तक जिनशासन की प्रभावना के लिए सिद्धोदय तीर्थक्षेत्र नेमावर मध्यप्रदेश में, सर्वोदय तीर्थक्षेत्र अमरकंटक मध्यप्रदेश में, कुण्डलपुर तीर्थक्षेत्र बड़ेबाबा मंदिर का जीर्णोद्धार दमोह

'मढ़ियाजी' तित्थखेत्तं जबलपुरे (मज्झपदेसे) चंदगिरितित्थखेत्तं (छत्तीसगढ़े) सीयलधामतित्थं विदिसाए (मज्झपदेसे) रामटेकतित्थखेत्तं (महारट्ठे) बीणावारहा तित्थखेत्तं सागरे (मज्झपदेसे) पुण्णोदय-तित्थखेत्तं (हरियाणापदेसे) इच्चेवमादितित्थाणि गुरुदेवस्स मग्गदंसणे णिम्मिदाणि।

सव्वजीवाणं रोगमुत्तीए सह सुद्धोसहलाहो वि हवे त्ति भावणाए 'भग्गोदयतित्थखेत्तं' सागरे (मज्झपदेसे) ठवंतो, णारीसंकारसिक्खापवड्ढणुद्देसेण पडिहाट्ठलीणाणोदयविज्जापीठं जबलपुरे (मज्झपदेसे) डोंगरगढ-दि्ठदचंदिगिरिट्ठाणे (छत्तीसगढे) रामटेगे (महारट्ठे) इच्चादिट्ठाणेसु ठवंतो, देसकल्लाणभावणाए पसासणिय-पसिक्खणसंठाणं जबलपुरे (मज्झपदेसे) ठवंतो ''धम्मो दया विसुद्धो'' त्ति सुत्ताणुसारेण सयाहियं दयोदय-गोसालाणिम्माणपेरगो णियपरकल्लाणपरो सव्वजणपूजिदो जादो।

अणेयगुणगंभीरो विज्जासायरसूरिगुरू जयउ।
देसे हरिसो जादो सुवण्णिमदिक्खुच्छवे जस्स॥
॥ इति शुभं॥

मध्यप्रदेश में, मढ़िया तीर्थक्षेत्र जबलपुर मध्यप्रदेश में, चंद्रगिरि तीर्थक्षेत्र डोंगरगढ़ छत्तीसगढ़, शीतलधाम तीर्थ विदिशा मध्यप्रदेश, रामटेक तीर्थक्षेत्र नागपुर महाराष्ट्र तथा बीनाबारा तीर्थक्षेत्र सागर मध्यप्रदेश में, पुण्योदय तीर्थक्षेत्र हरियाणा में इत्यादि तीर्थ गुरुदेव के मार्गदर्शन में निर्मित हुए हैं।

सभी जीवों को रोगमुक्ति के साथ शुद्ध औषधि का भी लाभ हो इस भावना से भाग्योदयतीर्थ सागर मध्यप्रदेश में स्थापित हुआ है। नारी संस्कार की शिक्षा वृद्धि वृद्धिंगत इस उद्देश्य से प्रतिभास्थली ज्ञानोदय विद्यापीठ जबलपुर मध्यप्रदेश में, डोंगरगढ़ स्थित चंद्रगिरि छत्तीसगढ़ में, रामटेक महाराष्ट्र में इत्यादि स्थानों पर स्थापित है। देश की कल्याण की भावना से प्रशासनिक प्रशिक्षण संस्थान जबलपुर मध्यप्रदेश में स्थापित हुआ। ''धर्म दया से विशुद्ध है'' इस सूत्र के अनुसार शताधिक दयोदयगौशाला के निर्माण के प्रेरक, निज और पर कल्याण में तत्पर आप सर्वजन पूजित हुए हैं।

जिनके स्वर्णिम दीक्षा उत्सव पर देश में हर्ष व्याप्त है ऐसे अनेक गुणों से गंभीर श्रीविद्यासागर आचार्य गुरुदेव जयवंत हों।

॥ इति शुभं॥